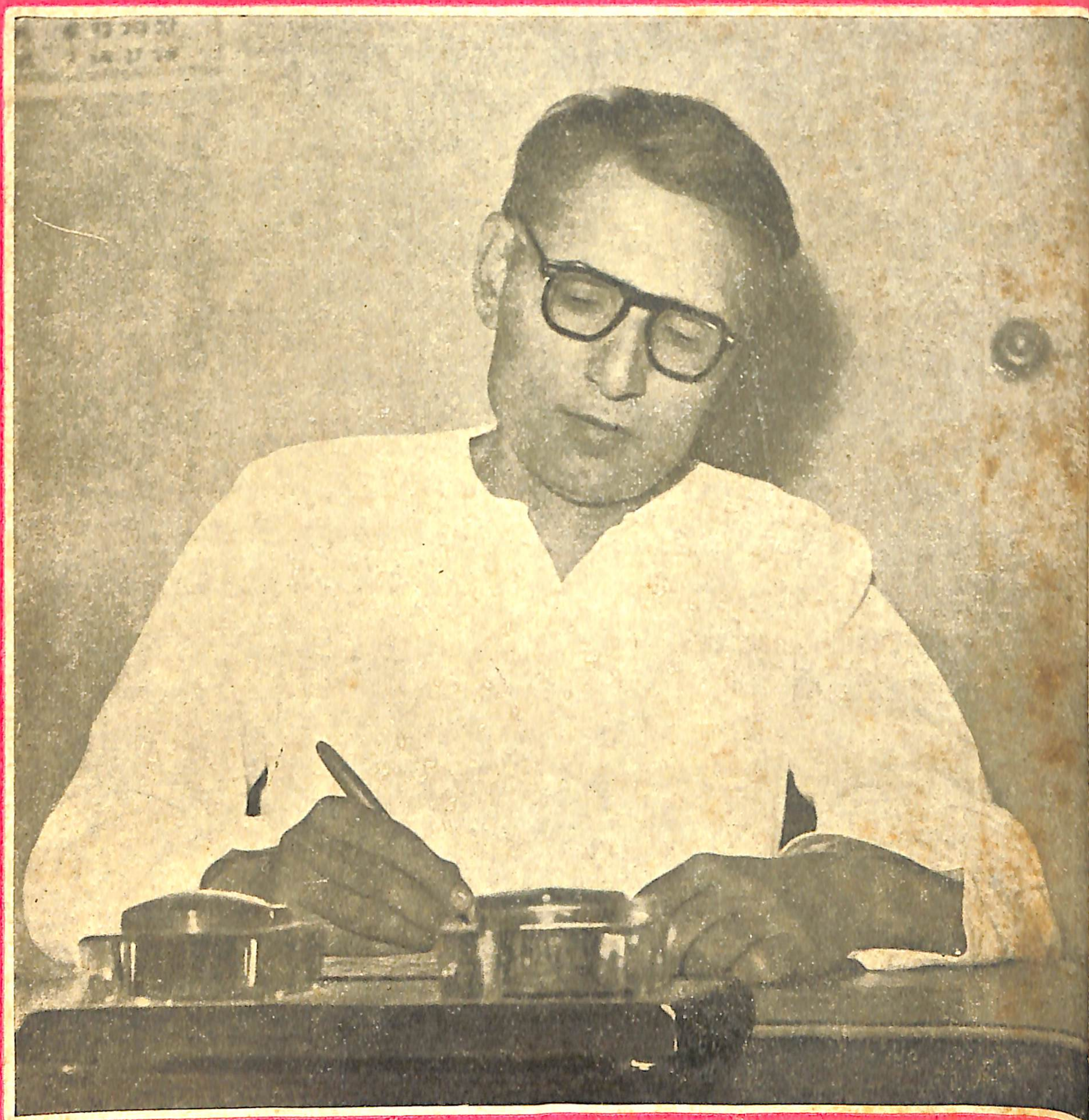
समाज-शास्त्र के मूल-तत्व

[ELEMENTS OF SOCIOLOGY]



सत्यव्रत सिद्धांतालंकार

समाज-शास्त्र के मूल-तत्व

[प्रथम तथा द्वितीय भाग]

विद्यामार्तण्ड
प्रोफ़ेसर सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

प्रकाशक
विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कं०

समाज-शास्त्र के मूल-तत्त्व

[प्रथम तथा द्वितीय भाग]

Dr. R.N. Saksena M.A., Ph.D., D.Litt., Director, Institute of Sociology, Agra University, in his FOREWORD says : *"The present book covers the whole field of Sociology and should serve as a Text-Book for all the students preparing for University Examinations in Sociology. It covers practically the whole syllabus laid down by the Universities for Degree as well as Post-graduate examinations. The author deserves to be congratulated on this venture. I feel fully confident that this book will be a definite contribution to the already existing literature in Hindi on the subject, and will prove of great help to the serious students of Sociology as well as to those who are interested in the study of the Fundamentals of Sociology."*

हमारे ग्रन्थ

[इंटरमीजियेट के लिए]

१. प्रारम्भिक समाजशास्त्र ३।।)
२. भारतीय-सामाजिक-संगठन ३)
३. समाजशास्त्र तथा बाल-कल्याण [होम-साइन्स के लिये] ४)
४. शिक्षा-मनोविज्ञान ५।।=)
५. शिक्षा-शास्त्र ४)

[बी० ए० तथा एम० ए० के लिए]

६. समाज-शास्त्र के मूल-तत्त्व १२।।)
७. समाज-कल्याण तथा सुरक्षा १२।।)
८. भारतीय जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ १२।।)
९. मानवशास्त्र १२।।)

[सर्व-साधारण के लिए]

१०. धारावाही हिन्दी में सचित्र एकादशोपनिषद् (मूल-सहित) १२)
११. ब्रह्मचर्य-सन्देश ४।।)
१२. आर्य-संस्कृति के मूल-तत्व ४)
१३. स्त्रियों की स्थिति ४)

विजयकृष्ण लखनपाल
एण्ड कम्पनी
विद्या-विहार
४—बलबीर एवेन्यू, देहरादून

अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, इलाहाबाद ने इस पुस्तक के अपने विषय की सर्वोत्तम पुस्तक होने के कारण लेखक को बारह सौ रुपए का मंगलाप्रसाद पारितोषिक तथा उत्तर-प्रदेश की सरकार ने डिग्री कालेजों के लिए इस विषय पर लिखी गयी सर्वोत्तम पुस्तक होने के कारण लेखक को एक हज़ार रुपए का पारितोषिक देकर सम्मानित किया है।

समाज-शास्त्र के मूल-तत्त्व

ELEMENTS OF SOCIOLOGY

[प्रथम तथा द्वितीय भाग]

●

अखिल-भारतीय-मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-विजेता

विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

'विद्या-विहार', बलबीर ऐवेन्यू,

देहरादून

●

(तृतीय वार संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण)

१९६०] तृतीय संस्करण [मूल्य १२॥)

प्रकाशक :
विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी,
'विद्या-विहार', ४-बलबीर ऐवेन्यू,
देहरादून

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
कनाट सरकस
नई दिल्ली

आर्य-संस्कृति के मूल-तत्व

लेखक——विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

[कुछ समालोचनाओं का सार]

"दैनिक-हिन्दुस्तान" (१० जनवरी १९५४)——

"हम तो यहाँ तक कहने का साहस रखते हैं कि भारत से बाहर जाने वाले सांस्कृतिक-मिशन के प्रत्येक सदस्य को इस पुस्तक का अवलोकन अवश्य करना चाहिए। लेखक की विचार-शैली, प्रतिपादन-शक्ति, विषय-प्रवेश की सूक्ष्मता डा० राधाकृष्णन से टक्कर लेती है। आज के देश के अंग्रेज़ीमय वातावरण में यदि इस पुस्तक का अंग्रेज़ी में अनुवाद करा दिया जाय तो पुस्तक विशेष रूप से लोक-प्रिय होगी।"

"नवभारत-टाइम्स" (१० दिसम्बर १९५३)——

"लेखक ने आर्य-संस्कृति के अथाह समुद्र में पैठ कर, उसका मन्थन करके, उसमें छिपे रत्नों को बाहर लाकर रख दिया है। भाषा इतनी परिमार्जित है कि पढ़ते ही बनती है। इस ग्रन्थ को अगर आर्य-संस्कृति का दर्शन-शास्त्र कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। हिन्दी के संस्कृति-सम्बन्धी साहित्य में इस ग्रन्थ का स्थान अमर रहने वाला है।"

"जनसत्ता" (१० जनवरी १९५४)——

"लेखक ने बड़ी परिमार्जित भाषा में भारतीय-संस्कृति के उन मूल-तत्त्वों का वर्णन किया है जो इसके आधार हैं। उन्होंने एक दार्शनिक और वैज्ञानिक की तरह 'आर्य-संस्कृति' का विश्लेषण कर दिया है, और उसके प्रत्येक तत्त्व को पाठक के सामने निखार कर रख दिया है। 'संस्कृति' के विषय में अनेक पुस्तकें हमने देखी हैं, परन्तु प्रो० सत्यव्रत जी की इस पुस्तक का स्थान अद्वितीय है। पुस्तक हिन्दी-साहित्य के मस्तक को ऊँचा करने वाली है। ऐसी पुस्तकों से ही देश का स्थिर साहित्य बनता है। प्रत्येक भारतीय को इस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए——यह हमारी हार्दिक इच्छा है।"

"साप्ताहिक-हिन्दुस्तान" (३ जनवरी १९५४)——

"हमारी सम्मति में आर्य-संस्कृति के सम्बन्ध में आज तक जो पुस्तकें लिखी गई हैं, उनमें प्रो० सत्यव्रत जी की लिखी इस पुस्तक का बहुत ऊँचा स्थान है। समग्र पुस्तक गहन विषयों को सरल भाषा में व्यक्त किये गये विचारों से भरी पड़ी है। आर्य-संस्कृति के सम्बन्ध में इस प्रकार की मार्मिक विवेचना करने वाली यह पहली पुस्तक हमारे देखने में आयी है। जो लोग आर्य-संस्कृति के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करना चाहें, उनका ज्ञान इस पुस्तक को पढ़े बिना अधूरा रहेगा। प्रत्येक पुस्तकालय के लिए इस पुस्तक का संग्रह करना पुस्तकालय की शोभा बढ़ायेगा। पुस्तक सुन्दर कागज़ पर छपी है, बढ़िया जिल्द है, मोनो टाइप है, यह सब-कुछ देखते हुए मूल्य भी उचित ही है।"

सजिल्द पुस्तक का दाम : चार रुपया।

ब्रह्मचर्य-संदेश

लेखक—विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

नवयुवकों को 'ब्रह्मचर्य' जैसे गम्भीर विषय पर, सरल-सुन्दर भाषा में जो-कुछ कहा जा सकता है, इस पुस्तक में कह दिया गया है। स्वर्गवासी स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी थी। स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज भारत-भूमि के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में 'ब्रह्मचर्य' को क्रियात्मक महत्त्व देने के लिए गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की थी। ऐसे महापुरुष ने इस पुस्तक की भूमिका इसीलिए लिखी थी क्योंकि उन्होंने पुस्तक के महत्त्व को देख लिया था। इस पुस्तक ने हिन्दी-साहित्य में अमर स्थान बना लिया है। पुस्तक के चार संस्करण समाप्त हो चुके हैं, पाँचवाँ संस्करण अब प्रकाशित हुआ है। पुस्तक की श्रेष्ठता इसी से सिद्ध है कि इसके गुजराती में दो स्वतन्त्र अनुवाद हो चुके हैं और एक अनुवाद अंग्रेज़ी भाषा में हुआ है।

खंडवा का 'कर्मवीर' पत्र लिखता है—"इस विषय पर हिन्दी में सब से अधिक प्रामाणिक, सब से अधिक खोजपूर्ण और सबसे अधिक ज्ञातव्य बातों से भरी हुई यही पुस्तक देखन में आयी है।"

दिल्ली का 'अर्जुन' लिखता है—"हम चाहते हैं कि प्रत्येक नव-युवक के हाथ में यह पुस्तक हो।"

लखनऊ की 'माधुरी' लिखती है—"भाषा परिमार्जित और वर्णन-शैली एकदम अछूती है। मालूम होता है कि कोई विज्ञानवेत्ता सांसारिक तत्त्व-विवेचना पर व्याख्यान दे रहा है। आजकल जितनी पुस्तकें इस विषय पर निकली हैं, उन सब में यह बढ़िया है।"

पुस्तक सचित्र तथा सजिल्द है। मूल्य : साढ़े चार रुपया।

शिक्षा-शास्त्र

लेखक—विद्यामार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम० ए,० बी० टी० (एम० पी०)

'शिक्षा' के सम्बन्ध में जितने आधुनिक विचार हैं, वे सब इस ग्रन्थ में, थोड़े-से में, अत्यन्त सरल तथा रोचक भाषा में दे दिये गये हैं। शिक्षा के सिद्धान्त (Principles of Education), शिक्षा की विधि (Method of Education), शिक्षा का विधान (Organisation of Education) तथा भारतीय-शिक्षा का आदि-काल से आज तक का इतिहास (History of Indian Education)—ये सब विषय इस ग्रन्थ में एक स्थान पर दे दिये गए हैं। इस पुस्तक की उपयोगिता इसी बात से स्पष्ट है कि शिक्षा-संस्थाओं में जहाँ-जहाँ 'शिक्षा' विषय पढ़ाया जाता है, वहाँ-वहाँ इस पुस्तक का सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

पुस्तक की भूमिका श्री सम्पूर्णानन्द जी की उस समय की लिखी हुई है जब वे शिक्षा-मन्त्री थे। सजिल्द पुस्तक का दाम : चार रुपया।

प्रारम्भिक-शब्द

(डा० रामनारायण सक्सेना, एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्.,
डायरेक्टर 'इन्स्टीट्यूट ऑफ़ सोशियोलौजी', आगरा)

अब तक हमारा ध्यान अन्य विज्ञानों की तरफ़ तो था, परन्तु 'समाज-शास्त्र' एक उपेक्षित विषय था। पिछले कुछ वर्षों से, धीरे-धीरे, सामाजिक-विज्ञानों की भिन्न-भिन्न शाखाओं के विद्वानों का ध्यान इस विषय की तरफ़ भी जाने लगा है, और 'समाज-शास्त्र' एक विषय के तौर से अपनी जगह बनाता जा रहा है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होती जा रही है, जिसमें समाज-शास्त्रियों के अलावा आम जनता भी इस शास्त्र में दिलचस्पी लेने लगी है, और देश के शासक, सामाजिक कार्य-कर्त्ता, लेखक, सम्पादक, अध्यापक, वक्ता—सभी लोग समाज-शास्त्र के तथ्यों तथा मूल-तत्त्वों को जानने के लिए उत्सुक होते जा रहे हैं। उक्त परिस्थिति में एक ऐसे ग्रन्थ की अत्यन्त आवश्यकता अनुभव हो रही थी जो समाज-शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों को स्पष्ट, सरल, सुन्दर तथा बद्धि-गम्य भाषा में व्यक्त करे। हिन्दी में तो अभी सामाजिक-विज्ञान-सम्बन्धी साहित्य की बहुत ही कमी है। प्रस्तुत-पुस्तक ने इस कमी को बहुत अंश तक दूर कर दिया है। इस पुस्तक में 'समाज-शास्त्र' के सभी विषयों का सुन्दर तथा सरल विवेचन किया गया है। वैसे तो पुस्तक समाज-शास्त्र से परिचय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले सभी पाठकों के लिए उपयोगी है, परन्तु विश्व-विद्यालयों के उन विद्यार्थियों के लिए तो, जो 'समाज-शास्त्र' का अध्ययन कर रहे हैं, यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी, क्योंकि इसमें बी० ए० तथा एम० ए० की पाठविधि के इस क्षेत्र के किसी विषय को छोड़ा नहीं गया, हर विषय की गहन तथा विशद विवेचना की गई है। समाज-शास्त्र के सभी विश्व-विद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए भी यह पुस्तक बड़ी आसानी से पाठ्य-पुस्तक (Text-book) का काम दे सकेगी।

पुस्तक के लेखक प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार एक प्रतिभाशाली सिद्ध-हस्त लेखक और उत्कृष्ट-कोटि के विद्वान् हैं। उन्होंने सामाजिक-विज्ञान की अन्य शाखाओं के सम्बन्ध में भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। 'समाज-शास्त्र के मूल-तत्त्व'-ग्रन्थ लिख कर उन्होंने जो हिन्दी-साहित्य की सेवा की है, उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दी में 'समाज-शास्त्र' पर अब तक जो साहित्य प्रकाशित हो चुका है, जो लगभग न के बराबर है, उसे देखते हुए यह पुस्तक निश्चित रूप से हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि का कारण बनेगी, और 'समाज-शास्त्र' का गहराई से अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों तथा इस शास्त्र के आधार-भूत तत्त्वों से परिचय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले जिज्ञासुओं—दोनों के लिए वरदान सिद्ध होगी।

—रामनारायण सक्सेना

भूमिका

संसार को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है--जड़ तथा चेतन। चेतन के फिर दो हिस्से हैं--मनुष्य 'स्वयं', तथा 'स्वयं' के अतिरिक्त चेतन के साथ सम्बन्ध रखने वाला 'सामाजिक-पर्यावरण'। 'सामाजिक-पर्यावरण' के भी फिर दो हिस्से हैं--'विशेष' तथा 'सामान्य'। संसार के इन हिस्सों की तरह मनुष्य के ज्ञान के भी यही विभाग किये जा सकते हैं। जड़-पदार्थों के सम्बन्ध में ज्ञान 'भौतिक-विज्ञान' कहलाता है, जिसमें ज्योतिष, रसायन-शास्त्र, भौतिक-विज्ञान, यन्त्र-विद्या आदि आ जाते हैं। चेतन-पदार्थों के सम्बन्ध में जिन विज्ञानों का मनुष्य के 'स्वयं' के साथ सम्बन्ध है, वे 'वैयक्तिक-विज्ञान' कहलाते हैं। 'वैयक्तिक-विज्ञानों' में मनोविज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र आदि गिने जाते हैं। वैयक्तिक के बाद मनुष्य के 'सामाजिक-पर्यावरण' में दो प्रकार के विज्ञान हैं--'विशेष-सामाजिक-विज्ञान' तथा 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान'। 'विशेष-सामाजिक-विज्ञान' में इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, विधान-शास्त्र आदि सब आ जाते हैं, क्योंकि ये समाज के विशेष-विशेष विषयों के विज्ञान हैं। इन सब के अतिरिक्त एक ऐसा विज्ञान भी है जो समाज के किसी विशेष विषय का अध्ययन नहीं करता, सब सामाजिक-विषयों का सामान्य-अध्ययन करता है। यह 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' ही 'समाज-शास्त्र' कहलाता है। 'समाज-शास्त्र' सब सामाजिक-विज्ञानों का सार है, उनका निचोड़ है, इसलिए यह विज्ञानों का भी विज्ञान है, मानो सामाजिक-विज्ञानों का मूर्धन्य है। जैसे हम 'भौतिक-विज्ञानों' द्वारा अपने चारों तरफ़ की भौतिक दुनियाँ की जानकारी हासिल करते हैं, जैसे 'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों' द्वारा संसार की भूत तथा वर्त्तमान घटनाओं एवं आर्थिक समस्याओं आदि की जानकारी हासिल करते हैं, वैसे 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' द्वारा उस दुनियाँ की जानकारी हासिल करना भी हमारा कर्त्तव्य है जिसे हम 'समाज' कहते हैं, वह 'समाज' जिसमें हम पैदा होते, जिसमें रहते, और जिसमें जीते-मरते हैं।

'समाज-शास्त्र' हमारे दिन-दिन के व्यवहार में, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, पठित-अपठित, धनी-निर्धन, उच्च-नीच--हर किसी के जीवन में काम आता है। जब हम तलाक पर बहस करते हैं, बेकारी की समस्या की चर्चा करते हैं, लड़के-लड़कियों की सह-शिक्षा पर विचार करते हैं, परिवार टूटेगा या रहेगा, राज्य को वैयक्तिक-स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करने का अधिकार है या नहीं, गृहोद्योग ठीक हैं या यन्त्रीकरण, संस्कृति तथा सभ्यता में क्या भेद है, धर्म का मनष्य-जीवन में

क्या स्थान है, धर्म-निरपेक्ष-राज्य का नारा कहाँ तक उचित है— आदि समस्याओं पर वाद-विवाद करते हैं, तब हम 'समाज-शास्त्र' के ही क्षेत्र में होते हैं। असल में, देखा जाय तो ये ही समस्याएँ मनुष्य को हर-समय घेरे रहती हैं, इसलिए 'समाज-शास्त्र' ही एक ऐसा विषय है जो मनुष्य को हर-समय मानो चिपटे हुए हैं। व्याख्याताओं के व्याख्यान, पत्रकारों के लेख, उपदेष्टाओं के उपदेश, बहस करने वालों की बहसें—सब 'समाज-शास्त्र' के किसी-न-किसी विषय को केन्द्र बनाकर चला करती हैं, इसलिए यह विज्ञान सब के काम का विज्ञान है, और इसका अध्ययन, मनुष्य जिस-किसी भी क्षेत्र में हो, उसे उस क्षेत्र में वैज्ञानिक-दृष्टि का विचारक बना देता है।

यह ठीक है कि 'समाज-शास्त्र' का अध्ययन-मात्र कुछ नहीं कर सकता। जिस समय भौतिक-विज्ञानों का आविष्कार होने लगा था, उस समय लोग समझने लगे थे कि अब संसार उन्नति के मार्ग पर चलकर न-जाने कहाँ-से-कहाँ पहुँच जायगा। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। आगे चलने के स्थान पर हम पीछे लौटे, उन्नति करने के स्थान पर भौतिक-आविष्कारों के सहारे हम एक-दूसरे का गला काटने लगे। सामाजिक-विज्ञानों के कारण भी समाज में काम कर रहे नियमों का ही पता चलेगा, इससे ज्यादा कुछ नहीं होगा। भौतिक-नियमों के ज्ञान से मनुष्य आगे भी बढ़ सकता है, इनका दुरुपयोग भी कर सकता है। सामाजिक-नियमों के ज्ञान से भी इनका सदुपयोग तथा दुरुपयोग दोनों हो सकते हैं। हिटलर तथा मुसोलिनी ने सामाजिक-नियमों के ज्ञान का दुरुपयोग किया, परन्तु क्योंकि किसी चीज़ का दुरुपयोग हो सकता है, इसीलिए तो वह बुरी नहीं हो जाती। विज्ञान ने उन्नति भी तो की है, और यह उन्नति भौतिक-नियमों के ज्ञान से की है। हमारा अन्तरात्मा भला हो, तो हम भी सामाजिक-विज्ञानों के ज्ञान से अपना ही नहीं, संसार का भला कर सकते हैं। इसी कारण जैसे हमारा अब तक भौतिक-विज्ञानों की तरफ़ ध्यान था, वैसे अब विद्वानों का सामाजिक-विज्ञानों, और उनमें भी खास कर 'समाज-शास्त्र' की तरफ़, ध्यान खिंचता चला जा रहा है।

युरोप में तो अनेक वर्षों से यह विषय विश्व-विद्यालयों में अन्य विषयों की तरह पढ़ाया जाता रहा है, परन्तु इधर कुछ वर्षों से भारत के विश्व-विद्यालयों ने भी इस विषय की तरफ़ ध्यान दिया है, और बी० ए० तथा एम० ए० की पाठविधि में इसका समावेश किया है। इस समय विद्यार्थियों को अपने विषय का अध्ययन करने के लिए बीसियों पुस्तकों के लिए दौड़-धूप करनी पड़ती है, कोई एक ऐसी पुस्तक नहीं है जो उनकी पाठविधि के हर पहलू पर प्रकाश डाले, और इस तरतीब और सिलसिले से डाले जिस तरतीब और सिलसिले से ये विषय उनकी 'समाज-शास्त्र' की पाठविधि में रखे हुए हैं। यह पुस्तक इस दृष्टि से लिखी गई है कि विद्यार्थियों की इस माँग को यह एकदम पूरा कर दे, और उन्हें एक ही पुस्तक में अपनी हर-बात का समाधान मिल जाय। पुस्तक को इस ढंग से लिखा गया है कि विद्यार्थियों के काम तो वह आये ही, साथ ही 'समाज-शास्त्र' की

जानकारी हासिल करने वाले अन्य पाठक भी इस पुस्तक का पूरा-पूरा लाभ उठा सकें।

पारिभाषिक-शब्दों की समस्या को हल करने के लिए हमने हिन्दी के साथ अंग्रेज़ी के शब्द हर-जगह दे दिये हैं। यह समय बीच का समय है। हिन्दी के शब्द बन रहे हैं, वे शब्द नये हैं, इसलिए उनके अर्थ उन शब्दों पर रूढ़ होने में कुछ समय लगेगा। अंग्रेज़ी भाषा में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध रूढ़ हो चुका है, इसलिए, इस बीच के युग में, हिन्दी-अंग्रेज़ी शब्दों को साथ-साथ रखने से विषय अधिक स्पष्ट होता दीखता है। जब विषय स्पष्ट हो जायगा, तब शब्द अपने-आप बनने लगेंगे। पुस्तक के अन्त में शब्दानुक्रमणिका अंग्रेज़ी से हिन्दी में दी गई है, हिन्दी से अंग्रेज़ी में नहीं। इसका यह कारण है कि हमारे साहित्य की जो अवस्था है, उसमें अध्यापक तथा विद्यार्थी अंग्रेज़ी के पारिभाषिक शब्दों से तो परिचित हैं, हिन्दी के पारिभाषिक शब्द, क्योंकि अभी वे बने ही नहीं, बन ही रहे हैं, अतः उनसे वे अपरिचित हैं। वे पुस्तक में जो विषय ढूँढना चाहें, अंग्रेज़ी के पारिभाषिक शब्दों के सहारे आसानी से ढूँढ सकते हैं।

पुस्तक लिखने में सभी पुस्तकों से सहायता ली गई है, इसलिए सब का एक-साथ आभार स्वीकार है।

हमारे मित्र, डा० रामनारायण सक्सेना, जो अब आगरा के समाज-शास्त्र के इन्स्टीट्यूट के डायरेक्टर हैं, 'समाज-शास्त्र' के माने हुए विद्वान् हैं। उन्होंने पुस्तक के 'प्रारम्भिक-शब्द' लिखे हैं, इसलिए उनका हार्दिक धन्यवाद है।

उत्तर-प्रदेश की सरकार ने उत्कृष्ट पाठ्य-पुस्तक के तौर पर इस ग्रन्थ पर एक हज़ार रुपया पारितोषिक देकर लेखक को सम्मानित किया है—इसके लिए लेखक उत्तर-प्रदेश सरकार का भी आभारी है। अखिल-भारतीय हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद ने इस पुस्तक को हिन्दी में समाज-शास्त्र की सर्वोत्तम पुस्तक घोषित कर लेखक को बारह सौ रुपये का मंगलाप्रसाद-पारितोषिक देकर सम्मानित किया है—इसके लिए लेखक सम्मेलन का भी आभार स्वीकार करता है।

यह हर्ष का विषय है कि यह पुस्तक अपने तृतीय-संस्करण के संशोधित तथा परिवर्धित रूप में पाठकों के सम्मुख आ रही है। इस संशोधित-संस्करण में हर पृष्ठ में चार पंक्तियाँ बढ़ा दी गई हैं, फिर भी पहले संस्करण की अपेक्षा १०० तथा द्वितीय संस्करण की अपेक्षा भी ४०-५० पृष्ठ बढ़ गये हैं। पाठकों ने इस पुस्तक को अपना कर लेखक का जो सम्मान किया है उसके लिए लेखक पाठकों का आभार मानता है।

विद्या-विहार,
बलबीर एवेन्यू,
देहरादून।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

विषय-सूची

[द्वितीय-भाग]

समाज-शास्त्र के मूल-तत्त्व

[प्रथम-भाग]

१. प्राथमिक-परिभाषाएँ--'समाज', 'समुदाय', 'समिति', 'संस्था', 'प्रथा', 'जन-रीतियां', 'रूढ़ियां' तथा 'निषिद्ध व्यवहार' (Primary concepts—Society, Community, Associations, Institutions, Customs, Folkways, Mores and Taboos).

२. समाज-शास्त्र का स्वरूप तथा विषय-क्षेत्र (Nature and Scope of Sociology).

३. समाज-शास्त्र का अन्य सामाजिक-विज्ञानों के साथ सम्बन्ध (Relation of Sociology to other Social Sciences).

४. समाज-शास्त्र के अध्ययन की पद्धतियां (Methods of Study of Sociology).

५. 'पर्यावरण' का क्या अर्थ है (Meaning of Environment).

६. भौगोलिक पर्यावरणों का समाज के जीवन पर प्रभाव (Geographic Conditions affecting the life of Society).

७. नागरिक तथा ग्रामीण जीवन में भेद (Contrasts of Urban and Rural life).

८. वंशानुसंक्रमण तथा पर्यावरण (Heredity and Environment).

९. प्राथमिक असभ्य-अवस्था से वर्तमान सभ्य-अवस्था तक विकास तथा परिवर्तन (Social Evolution and Change from Primitive to Civilized Society).

१०. सामाजिक-परिवर्तनों पर प्राणि-शास्त्रीय प्रभाव (Biological factors affecting Social Change).

११. सामाजिक-परिवर्तनों पर प्राविधिक अर्थात् यान्त्रिक प्रभाव (Technological factors affecting Social Change).

१२. सामाजिक-परिवर्तनों पर सांस्कृतिक-प्रभाव (Cultural factors affecting Social Change).

१३. प्रक्रिया, विकास, उन्नति तथा सभ्यता का अर्थ (Meaning of Process, Evolution, Progress and Civilization).

समाज-शास्त्र के मूल-तत्त्व

१

प्राथमिक-परिभाषाएँ

(PRIMARY CONCEPTS)

समाज-शास्त्र का प्रारंभ

मनुष्य शिक्षित हो, अशिक्षित हो, सभ्य हो, असभ्य हो--हर बात का वह कारण अवश्य जानना चाहता है। आज जिसे हम 'विज्ञान' कहते हैं, जब उसका उदय नहीं हुआ था, तब मनुष्य हर बात का कारण आध्यात्मिक-सत्ता को मानता था। सूर्य उदय क्यों होता है, बादल क्यों बरसते हैं, भूचाल क्यों आता है? इन सब का कारण कुछ-न-कुछ तो होना ही चाहिए। 'विज्ञान' के आविष्कार से पहले इन सब बातों का कारण ईश्वर की इच्छा मानी जाती थी। हर-एक बात का कारण आधिभौतिक नहीं, आध्यात्मिक था। जब से 'विज्ञान' का आविष्कार हुआ, तब से मनुष्य-समाज ने हर बात का कारण भौतिक-जगत् में ढूंढने का प्रयत्न शुरू किया। सूर्य उदय क्यों होता है? सूर्य इसलिए उदय नहीं होता कि यह ईश्वर की इच्छा है, सूर्य इसलिए उदय होता है क्योंकि पृथ्वी सूर्य के गिर्द घूम रही है, और घूमते-घूमते पृथ्वी का जो हिस्सा सूर्य के सामने आ जाता है वहाँ प्रकाश हो जाने के कारण उसे सूर्य का उदय होना कह दिया जाता है। वास्तव में सूर्य उदय नहीं होता, पृथ्वी का एक भाग घूमते-घूमते सूर्य के सामने आ जाता है। भौतिक-जगत् से संबंध रखने वाले इस प्रकार के विज्ञानों को 'भौतिक-विज्ञान' (Physical Sciences) कहा जाता है। ज्योतिष-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, भौतिक-शास्त्र, यन्त्र-विद्या आदि इसी प्रकार के विज्ञान हैं। परन्तु मनुष्य की समस्या केवल भौतिक-जगत् के साथ ही तो सम्बन्ध नहीं रखती। भौतिक-जगत् के अतिरिक्त चेतन-जगत् भी तो है। चेतन-जगत् में हमारा दो वस्तुओं से टाकरा होता है। एक तो 'मनुष्य' स्वयं है, दूसरा है--'समाज'। यह चेतन-जगत् क्या है, इसका सोचना-समझना किन नियमों के आधार पर होता है, अगर संसार में कार्य-कारण का नियम काम कर रहा है, तो मनुष्य की चेतन मानसिक-रचना में कार्य-कारण

के कौन-से नियम काम कर रहे हैं ? वर्त्तमान-विज्ञान ने मनुष्य के व्यक्तित्व, उसकी चेतना के संबंध में कई विज्ञानों को जन्म दिया जिन्हें मानसिक-विज्ञान (Mental Sciences) कहा जाता है। हमने अभी कहा कि चेतन-जगत् की पहली वस्तु जिससे हमारा टाकरा है 'व्यक्ति' है, दूसरी वस्तु 'समाज' है। हमें 'व्यक्ति' में काम कर रहे कार्य-कारण के नियमों को ही नहीं ढूंढना, 'समाज' में काम कर रहे कार्य-कारण के नियमों को भी ढूँढना है। समाज में काम कर रहे कार्य-कारण के नियमों को ढूँढते-ढूँढते वर्त्तमान-विज्ञान ने जिन विज्ञानों को जन्म दिया, उन्हें 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Sciences) का नाम दिया जाता है। 'सामाजिक-विज्ञान' में अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास आदि विज्ञान आ जाते हैं। समाज में कई आर्थिक-नियम काम कर रहे हैं, समाज में काम कर रहे कार्य-कारण के इन आर्थिक-नियमों के अध्ययन को अर्थशास्त्र का अध्ययन कहते हैं; समाज में कई राजनीति-संबंधी नियम काम कर रहे हैं, समाज में काम कर रहे कार्य-कारण के इन राजनीतिक-नियमों को राजनीति-शास्त्र कहते हैं; समाज में इतिहास की घटनाएँ भी किन्हीं कार्य-कारण के नियमों के आधार पर चल रही हैं, उन नियमों की सिलसिलेवार व्याख्या को इतिहास कहते हैं। मानसिक तथा भौतिक समस्याओं की अनुभूति मनुष्य को सब से पहले होती है, इसलिए मानसिक तथा भौतिक विज्ञानों का आविष्कार भी मनुष्य-समाज में पहले ही हुआ; सामाजिक-समस्याओं की अनुभूति कुछ बाद को होती है, इसलिए सामाजिक-विज्ञानों का अध्ययन बाद को हुआ।

परन्तु सामाजिक-विज्ञानों के अध्ययन कर लेने से ही मनुष्य की ज्ञान-लिप्सा समाप्त नहीं हुई। दिनोंदिन के अध्ययन के बाद यह अनुभव होने लगा कि 'सामाजिक-विज्ञान' को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। कुछ सामाजिक-विज्ञान तो ऐसे हैं जिन्हें 'विशेष-सामाजिक-विज्ञान' कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्र, राजनीति, इतिहास, धर्म-शास्त्र, विधान-शास्त्र 'विशेष-सामाजिक-विज्ञान' (Particular Social Sciences) हैं। 'विशेष' इसलिए क्योंकि ये समाज के एक विशेष पहलू का अध्ययन करते हैं। अर्थशास्त्र समाज के आर्थिक पहलू का, राजनीति-शास्त्र समाज के राजनैतिक पहलू का, इतिहास-शास्त्र समाज की घटनाओं के पहलू का अध्ययन करता है। ये शास्त्र समूचे समाज का अध्ययन नहीं करते, उसके एक भाग का अध्ययन करते हैं। इन 'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों' के अतिरिक्त एक ऐसा भी सामाजिक-विज्ञान है जिसे 'विशेष' न कहकर 'सामान्य सामाजिक-विज्ञान' (General Social Science) कह सकते हैं। इस 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' का काम समाज के किसी एक पहलू का अध्ययन नहीं, समाज के हर पहलू पर विचार करना है, समाज पर चौमुखा प्रकाश डालना है। इसका काम समाज की आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक—हर समस्या का अध्ययन करना है। इस 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' को ही दूसरे शब्दों में 'समाज-शास्त्र' (Sociology) कहा जाता है।

'समाज-शास्त्र' यद्यपि एक नवीन शास्त्र है, परन्तु इसका प्रारम्भ युरोप में प्लेटो (४२९–३४७ ई० पू०) के समय से समझा जा सकता है। सामान्य रूप से प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में 'समुदाय' (Community) की चर्चा की है—यह 'समुदाय' समाज-शास्त्र की ही वस्तु है। इस शास्त्र की विशेष रूप से चर्चा ऑगस्ट कोम्टे (१७९८–१८५७) ने की, और उसी ने पहले-पहल 'समाज-शास्त्र' (Sociology)—इस शब्द को गढ़ा। वह एक तरह से इस शास्त्र का पिता कहा जा सकता है। ऑगस्ट कोम्टे के बाद इस शास्त्र की चर्चा जेम्स स्टुअर्ट मिल तथा हर्बर्ट स्पेंसर ने की। १९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जर्मनी तथा इंग्लैण्ड में 'समाज-शास्त्र' की चर्चा और अधिक बढ़ी। यह देखा जाने लगा कि समाज में कई नियम काम कर रहे हैं, उन नियमों का अध्ययन किया जा सकता है, उनमें से कई मनोवैज्ञानिक नियम हैं, कई आर्थिक, कई राजनैतिक, कई नियमों का संस्कृति से सम्बन्ध है। होते-होते हमारा समय आ गया। आज यह समझा जाने लगा है कि 'समाज-शास्त्र' अन्य विज्ञानों की तरह एक शास्त्र है, और जिस प्रकार अन्य शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है, उसी प्रकार इस शास्त्र का भी अध्ययन किया जा सकता है। इस क्षेत्र में वर्त्तमान समय में जो कार्य हुआ है उसमें अमरीका के विद्वानों का सबसे अधिक हाथ है।

'समाज-शास्त्र' के प्राथमिक-शब्द

इससे पहले कि हम इस शास्त्र की अन्य किसी गहरी समस्या का वर्णन करें, यह आवश्यक है कि पुस्तक में जगह-जगह जिन शब्दों का प्रयोग किया जायगा उनको हम खोलकर समझ लें। प्रत्येक विज्ञान के अपने कुछ पारिभाषिक शब्द होते हैं, उन शब्दों को समझे बिना उस विज्ञान को समझना कठिन हो जाता है। 'भौतिक-विज्ञान' (Physics) के अपने शब्द हैं, उन शब्दों को समझे बिना भौतिक-विज्ञान को कैसे समझ सकते हैं? 'अणु' शब्द का अर्थ है—'सूक्ष्म', परन्तु 'भौतिक-विज्ञान' (Physics) में इसका अर्थ होगा—वह सूक्ष्मतम भौतिक-तत्त्व जिससे भौतिक-पदार्थ बनते हैं, जिसे अंग्रेजी में 'एटम' कहा जाता है। इसी प्रकार 'प्राणि-शास्त्र' (Biology) के 'कोष्ठ' (Cell), 'जीवन' (Life) आदि अपने शब्द हैं। 'प्राणि-शास्त्र' को समझने के लिए इन प्राथमिक, आधार-भूत शब्दों का समझना आवश्यक है। 'समाज-शास्त्र' के जो प्राथमिक, मूल-शब्द हैं, उन्हें ठीक-ठीक समझे बिना इस शास्त्र को भी समझना कठिन है। वे शब्द हैं—'समाज' (Society), 'समुदाय' (Community), 'समिति' (Association), 'संस्था' (Institution), 'प्रथा' (Custom), 'जन-रीतियाँ' (Folkways), 'रूढ़ियाँ' (Mores) तथा 'निषिद्ध-व्यवहार' (Taboos)।

'समाज-शास्त्र' के प्राथमिक शब्दों की व्याख्या क्यों ज़रूरी है?

'समाज-शास्त्र' के जिन शब्दों का हमने अभी उल्लेख किया है उनका ठीक-ठीक अर्थ समझ लेना इसलिए आवश्यक है कि वे शब्द आम बोलचाल की

भाषा से लिये गए हैं। दूसरे विज्ञानों में ऐसा नहीं होता। उनके शब्द बिल्कुल अपने नये बने होते हैं। बोलचाल में शब्दों का उतना बंधा हुआ अर्थ नहीं लिया जाता जितना किसी 'विज्ञान' में या 'शास्त्र' में लिया जाता है। इसलिए जब हम किसी 'शास्त्र' में ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जो आम बोलचाल में प्रयुक्त होते हैं, तब हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम यह स्पष्ट कर दें कि हमारे 'शास्त्र' में इन शब्दों का यही अर्थ होगा, और कोई दूसरा अर्थ नहीं होगा। जब हम 'समाज' शब्द का प्रयोग करें, अथवा 'समुदाय', 'समिति', 'संस्था' आदि शब्दों का प्रयोग करें, तो हमारे और सुनने वाले के मन में एक ही चित्र खिंचे, ऐसा न हो कि 'समाज' कहने पर हमारे मन में 'आर्यसमाज' और दूसरे के मन में 'मानव-समाज' का चित्र खिंचे।

इसके अतिरिक्त 'समाज-शास्त्र' एक ऐसा विज्ञान है जिसके मूल-तत्त्वों को हम न देख सकते हैं, न पकड़ सकते हैं, न तराज़ू में तोल सकते हैं, न प्रयोग-शाला की परीक्षा-नली में डालकर उनका विश्लेषण कर सकते हैं। 'समाज-शास्त्र' का काम मनुष्य का मनुष्य के साथ जो सामाजिक संबंध है--कहीं सहयोग है, कहीं असहयोग है, कहीं प्रेम है, कहीं द्वेष है--इसी का तो अध्ययन करना है। इन सम्बन्धों को नापा नहीं जा सकता, तोला नहीं जा सकता, सूक्ष्म-वीक्षण-यंत्र द्वारा परखा नहीं जा सकता। 'समाज-शास्त्र' की परीक्षण-शाला तो रोज-मर्रा का संसार है। ये सामाजिक-सम्बन्ध जो देखे नहीं जा सकते, छूये नहीं जा सकते, नापे-तोले नहीं जा सकते, अयथार्थ नहीं हैं, यथार्थ हैं। इन सम्बन्धों के लिए--ईर्ष्या, द्वेष, मित्रता, प्रेम--इन्हीं के लिए हम जीते हैं, मरते हैं--इन्हीं के लिए हमारा जीवन है। ईर्ष्या-द्वेष, मैत्री-प्रेम की तरह 'समाज', 'समुदाय', 'समिति', 'संस्था'--ये भी न पकड़े जा सकते हैं, न परीक्षा-नली में डाले जा सकते हैं, परन्तु मनुष्य के जीवन में इतने यथार्थ हैं, इतने सत्य हैं, जितनी यथार्थ या जितनी सत्य कोई भी वस्तु हो सकती है। यह आवश्यक हो जाता है कि 'समाज-शास्त्र' के इन मूल-तत्त्वों को अगर भौतिक-विज्ञानों के तत्त्वों की तरह नापा-तोला नहीं जा सकता, तो कम-से-कम इतने स्पष्ट तौर पर समझ लिया जाय जिससे इनके विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति न रहे। इसलिए हम यहाँ इन पारिभाषिक शब्दों का विवेचन करेंगे।

१. समाज (Society)

'समाज'-शब्द का क्या अर्थ है ?

जिन शब्दों की हमने व्याख्या करनी है उनमें से सबसे पहला शब्द 'समाज' है। 'समाज' से हमारा क्या अभिप्राय है? एरिस्टोटल ने कहा था कि मनुष्य एक सामाजिक-प्राणी है। यह सामाजिक-प्राणी, अर्थात् मनुष्य, अबतक के अपने करोड़ों वर्षों के इतिहास में क्या करता रहा है? उसने एक संगठन बनाया, अच्छा बनाया या बुरा बनाया, परन्तु ऐसा संगठन बनाया जिसमें हमें किन्हीं बातों की आजादी है, किन्हीं बातों की बन्दिश है, कुछ हमारे कर्त्तव्य समझे जाते हैं, कुछ हमारे अधिकार समझे जाते हैं, कुछ में हम स्वतन्त्र हैं, कुछ में परतन्त्र हैं।

इस संगठन में हम कैसे रहें, कैसे न रहें, कैसे दूसरों के साथ बर्तें—इन सब बातों की व्यवस्था बनी हुई है। इस व्यवस्था में समय-समय पर परिवर्त्तन भी होता रहता है—अगर किसी बात को अनुभव से बुरा समझा जाता है, तो उसे छोड़ दिया जाता है, अच्छी बातों को ले लिया जाता है—इस प्रकार हम एक-दूसरे के साथ बरतते जाते हैं, एक प्रकार के व्यवहार को जन्म देते हैं, वह ठीक नहीं जँचता तो दूसरे प्रकार के व्यवहार की रचना कर डालते हैं—यह सारा सिलसिला, यह एक-दूसरे के साथ जो व्यवहार का 'सम्बन्ध' (Relationship) है, जो परिस्थितियों के अनुसार सदा बदलता चला जा रहा है, एक-सा नहीं बना रहता, यह संबन्ध मनुष्यों के जिस संगठन में पाया जाय, उसे इस शास्त्र में 'समाज' (Society) कहा जाता है।

'समाज'-शब्द की परिभाषाएँ

भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'समाज' की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं :—

[क] थौमस हॉब्स की व्याख्या—"मानव-समाज के अपने ही अनिरुद्ध स्वभाव के परिणाम से बचने के लिए मनुष्य ने जो साधन बनाया है उसे 'समाज' कहते हैं।"

[ख] एडम स्मिथ की व्याख्या—"मानव-समाज के पारस्परिक सम्बन्धों में बचत के कृत्रिम उपाय का नाम 'समाज' है।"

[ग] मैक आइवर की व्याख्या—"समाज—इस शब्द में हर तरह का तथा हर अंश का वह सम्बन्ध आ जाता है जो मनुष्यों तथा किन्हीं भी अन्य सामाजिक प्राणियों द्वारा एक-दूसरे के साथ स्थापित किये जाते हैं।"

[घ] गिडिंग्स की व्याख्या—"समाज वह संगठन है जिसमें भाग लेने वाले व्यक्ति एक-दूसरे के साथ व्यावहारिक-संबंधों में बंधे रहते हैं।"

[क] "Society is a means for the protection of men against the consequences of their own untrammelled natures."—*Thomas Hobbs.*

[ख] "Society is an artificial device of mutual economy." —*Adam Smith.*

[ग] "Society includes every kind and degree of relationship entered into by men—and any other Social creatures—with one another."—*MacIver.*

[घ] "Society is the union itself, the organisation, the sum of formal relations, in which associating individuals are bound together. "—*Giddings.*

[ङ] जिन्सबर्ग की व्याख्या—"समाज व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं जो किन्हीं ख़ास संबंधों या ख़ास व्यवहारों द्वारा आपस में बंधे होते हैं। जो व्यक्ति उन संबंधों तथा व्यापारों से नहीं बंधे होते वे उस समाज में भी नहीं गिने जाते।"

[च] राइट की व्याख्या—"समाज का अर्थ सिर्फ़ व्यक्तियों का समूह ही नहीं है; समूह में रहने वाले व्यक्तियों के आपस में जो संबंध हैं, उन संबंधों के संगठित रूप को समाज कहते हैं।"

'समाज' के मुख्य-तत्त्व क्या हैं ?

ऊपर हमने 'समाज' के संबंध में जितनी भी व्याख्याएँ लिखीं सब में एक बात ध्यान देने की है। इन सब व्याख्याओं में 'समाज' का अर्थ करते हुए 'संबंध' (Relationship)-शब्द पर जोर दिया गया है। 'समाज' व्यक्तियों के पारस्परिक 'संबंधों' की उपज है—यह बात उक्त सभी लेखकों की आधारभूत बात है। इसके अतिरिक्त 'समाज' में अन्य भी कुछ बातों का समावेश है। 'समाज' कहने से क्या-क्या तत्त्व आ जाते हैं, इनका हम संक्षेप से वर्णन करेंगे। 'समाज' के आधारभूत छः तत्त्व हैं जो निम्न हैं :—

(१) 'समाज' एक 'अमूर्त्त' वस्तु है—'समाज' के संबंध में जान लेने की पहली बात यह है कि अगर 'समाज' उक्त प्रकार के 'संबंध' (Relationship) का नाम है, तो यह स्पष्ट है कि 'समाज' कोई प्रत्यक्ष, स्थूल वस्तु नहीं है। 'समाज' जीव-धारियों की उस अवस्था का नाम है जिसमें उनका आपस में एक-दूसरे के साथ 'संबंध' स्थापित हो जाता है। इस दृष्टि से 'समाज' की सत्ता 'मूर्त्त' (Concrete) नहीं, 'अमूर्त्त' (Abstract) है; हम प्रत्यक्ष रूप में नहीं दिखा सकते कि 'समाज' यह वस्तु है। जहाँ 'सामाजिक-सम्बन्ध' (Social relationship) व्यवस्थित रूप में मौजूद हो, वहीं 'समाज' की सत्ता को स्वीकार करना होगा। यह जरूरी नहीं कि 'सामाजिक-सम्बन्ध' अच्छे ही हों, अच्छे हों या बुरे हों, 'समाज' की सत्ता को स्वीकार करने के लिए 'सामाजिक-सम्बन्ध' का होना आवश्यक होगा। जहाँ लड़ाई-झगड़े होते हैं वहाँ एक प्रकार का 'सामाजिक-सम्बन्ध' है, अतः वहाँ भी 'समाज' की सत्ता है; जहाँ प्रेम है वहाँ दूसरे प्रकार का 'सामाजिक-सम्बन्ध' है, अतः वहाँ भी 'समाज' की सत्ता है।

[ङ] "A Society is a collection of individuals united by certain relations or modes of behaviour which mark them off from others who do not enter into those relations or who differ from them in behaviour."—*Ginsberg*.

[च] "It is not a group of a people, it is the system of relationship that exists between the individuals of the groups." —*Wright*.

'समाज' के जिस स्वरूप का यहाँ हमने वर्णन किया उसे 'समाज-सामान्य' (General conception of society) कहा जा सकता है। 'समाज' का यह रूप 'विशेष' (Particular) नहीं, 'सामान्य' (General) रूप है, 'स्थूल' (Concrete) नहीं, 'सूक्ष्म' (Abstract) रूप है--यह 'समाज' का ऐसा रूप है जो किसी देश वा काल से बंधा नहीं है--यह 'समाज' का अति विस्तृत सार्वत्रिक रूप है, जो न देखा जा सकता है, न छुआ जा सकता है, जिसे केवल अनुभव किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त 'समाज'-शब्द का एक दूसरा संकुचित रूप भी है। जब हम 'समाज' (Society)-शब्द के स्थान में 'एक-समाज' (A Society)-शब्द का प्रयोग करते हैं, तब हम 'समाज' के 'अमूर्त्त' (Abstract or Indefinite) रूप से 'मूर्त्त' (Concrete or Definite) रूप की तरफ़, 'सूक्ष्म' रूप से 'स्थूल' रूप की तरफ़, 'अदृश्य' से 'दृश्य' रूप की तरफ़, 'सामान्य' से 'विशेष' रूप की तरफ़ चले आते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम 'आंग्ल-समाज', 'जर्मन-समाज', 'रशियन-समाज', 'हिन्दू-समाज' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब अमूर्त्त के स्थान में मूर्त्त, अदृश्य के स्थान में दृश्य, सूक्ष्म के स्थान में स्थूल की तरफ़ आने का प्रयास कर रहे होते हैं, तब हम देश-काल में 'समाज' को बाँध देते हैं, यद्यपि तब भी उतने स्थूल रूप पर नहीं पहुँच पाते जितने स्थूल रूप पर 'भौतिक-विज्ञान' (Physics) या 'रसायन-शास्त्र' (Chemistry) आदि में हम पहुँच जाते हैं। इसका कारण यही है कि 'समाज'-शब्द को हम कितना ही 'स्थूल' (Concrete) बनाने का प्रयत्न क्यों न करें, क्योंकि 'समाज' की भावना 'सामाजिक-संबंधों' (Social relations) से उत्पन्न होती है, और 'संबंध' (Relations) देखने की वस्तु नहीं हैं, अतः 'समाज', अन्ततोगत्वा, अमूर्त्त तथा सूक्ष्म वस्तु का ही नाम रह जाता है।

(२) सामाजिक-सम्बन्ध का अर्थ है--'एक दूसरे का ज्ञान'--'समाज' के संबंध में जानने की दूसरी बात क्या है? हमने अभी कहा था कि वह 'सामाजिक-सम्बन्ध' जो पर्यावरणों के अनुसार परिवर्त्तित हो रहा है--'समाज' है, परन्तु प्रश्न उठता है कि 'सामाजिक-सम्बन्ध' से हमारा क्या अभिप्राय है? हम बैठे लिख रहे हैं। मेज पर चारों तरफ़ पुस्तकें पड़ी हुई हैं। मेज का और पुस्तकों का भी एक-दूसरे के साथ 'सम्बन्ध' है, मेज ने पुस्तकों को थाम रखा है, परन्तु इस 'सम्बन्ध' को 'सामाजिक-सम्बन्ध' नहीं कहा जा सकता। मेज को पता नहीं कि पुस्तक उस पर पड़ी है, पुस्तक को पता नहीं कि वह मेज पर पड़ी है--दोनों को एक-दूसरे की सत्ता का ज्ञान नहीं है। 'सामाजिक-सम्बन्ध' वहीं माना जा सकता है जहाँ एक-दूसरे की सत्ता का 'ज्ञान' हो, उसकी 'प्रतीति' (Awareness) हो, उस 'ज्ञान', उस 'प्रतीति' से 'व्यवहार' (Behaviour) की सम्भावना हो। कुर्सी और पुस्तक का एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध तो है, परन्तु उन्हें एक-दूसरे का ज्ञान नहीं, और ज्ञान नहीं तो उनके एक-दूसरे के साथ किसी प्रकार के 'व्यवहार' की भी सम्भावना नहीं पैदा होती--अतः उनके 'सम्बन्ध' को 'सामाजिक-सम्बन्ध' नहीं कहा जा

सकता। जहाँ एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध का 'ज्ञान', उसकी 'प्रतीति' नहीं, वहाँ 'सामाजिक-सम्बन्ध' नहीं, और जहाँ 'सामाजिक-सम्बन्ध' नहीं, वहाँ 'समाज' भी नहीं। गिडिंग्स (Giddings) का यही मत है।

जिन्सबर्ग (Ginsberg) ने इस व्याख्या में आपत्ति उठायी है। उनका कहना है कि यह ज़रूरी नहीं है कि 'सामाजिक-सम्बन्ध' वहीं हो जहाँ, जिनका 'सम्बन्ध' है, उन्हें उस सम्बन्ध का 'ज्ञान' हो, 'प्रतीति' हो। कभी-कभी इंग्लैण्ड के, या किसी और देश के, बाज़ार-भावों का प्रभाव ऐसा ज़बर्दस्त हो सकता है कि हमारे देश के एक कोने में बैठे हुए एक मजदूर की आर्थिक कठिनाई उग्र हो उठे, और उसे बिल्कुल कुछ पता ही न हो कि यह उथल-पुथल क्यों हो गई, इस उथल-पुथल के कारणों को जानने के लिए बड़े-बड़े पण्डितों को मग़ज़पच्ची करनी पड़े। परन्तु इस आक्षेप का यह उत्तर दिया जा सकता है कि भले ही गाँव के एक कोने में बैठे हुए मजदूर को इंग्लैण्ड के बाज़ार-भावों में गड़बड़ आ जाने का 'ज्ञान' न हो, परन्तु जिस शृंखला में से होते-होते यह सारी गड़बड़ गाँव तक पहुँची, उसका अगर विश्लेषण किया जाय, तो पता चलेगा कि इंग्लैण्ड की गड़बड़ का 'ज्ञान' आगे-आगे बढ़ता चला गया है। इंग्लैण्ड की गड़बड़ का 'ज्ञान' बम्बई-कलकत्ता पहुँचा, बम्बई-कलकत्ते से दिल्ली पहुँचा, दिल्ली से देहरादून पहुँचा, देहरादून में जिस दुकानदार ने दाम बढ़ा दिया उसके पास पहुँचा, और दुकानदार से जिस मजदूर ने चीज़ पहले से बहुत महंगे दामों में ख़रीदी उस तक पहुँचा। आख़िर, मजदूर इतना तो पूछता ही है कि क्यों भाई, पहले दियासलाई एक पैसे में आती थी, अब उसी चीज़ के दो पैसे क्यों माँगते हो। दुकानदार कह देगा, दिल्ली का बाज़ार गर्म हो गया है, इसलिए माँगता हूँ। दिल्ली का बाज़ार गर्म क्यों हो गया? क्योंकि बम्बई का गर्म हो गया! बम्बई का गर्म क्यों हो गया? क्योंकि इंग्लैण्ड में गड़बड़ी मच गई। जहाँ 'समाज' है, वहाँ 'सामाजिक-सम्बन्ध' रहता है, जहाँ 'सामाजिक-सम्बन्ध' है, वहाँ उस 'सम्बन्ध' का कुछ-न-कुछ 'ज्ञान', कुछ-न-कुछ 'प्रतीति' (Awareness) रहती ही है।

(३) 'सामाजिक-सम्बन्ध' अनेक प्रकार के हो सकते हैं परन्तु उनका आधार 'समान वस्तु' तथा 'समान-स्वार्थ' (Common objects and common interests) हैं—अब हम 'समाज' के सम्बन्ध में जानने की तीसरी बात पर आते हैं। 'सामाजिक-सम्बन्ध' कई प्रकार के होते हैं। कई सम्बन्ध हमें एक-दूसरे के निकट लाते हैं, कई एक-दूसरे से दूर ले जाते हैं। जो निकट लाते हैं, वे मित्रता के सम्बन्ध हैं, जो दूर ले जाते हैं, वे शत्रुता के सम्बन्ध हैं। हम एक-दूसरे के निकट क्यों आते हैं, और एक-दूसरे से दूर क्यों जाते हैं? यह इसलिए कि कोई वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनमें हम दूसरों के साथ अपने को साझीदार समझते हैं। अगर उस साझीदारी में दूसरे हमारा सहयोग देते हैं, तो हमारा उनके साथ मैत्री का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, अगर वे हमारा सहयोग देने के स्थान में विरोध करते हैं, तो हमारी उनके साथ शत्रुता हो जाती है। एक मकान है, देश है, व्यापार है—

कुछ लोग उस मकान में, ज़मीन में, व्यापार में हमारा भी हिस्सा समझते हैं-- जिनके साथ मकान में हमारा हिस्सा है वे हमारे कुनबे के हैं, जिनके साथ देश में हम साझीदार हैं वे हमारे देश-भाई हैं, हम-वतन हैं, जिनके साथ व्यापार में हमारा हिस्सा है, वे हमारे पार्टनर हैं, इन सब के साथ हमारा सहयोग का, मैत्री का सम्बन्ध है। कई ऐसे भी हैं जिनके साथ हमारा असहयोग का, द्वेष का सम्बन्ध है। जो हमारे भाई थे वे ही हमारा अपने मकान में हिस्सा साबित न हो सके इसके लिए हमसे मुकदमेबाजी करते हैं, जो हमारे देश के नहीं वे फौजें लेकर हम पर हमला करते हैं, जो हमारी तरह का ही व्यापार करते हैं वे हमारा व्यापार मारने के लिए हमसे सस्ते दामों पर चीज़ें बेचने लगते हैं--इन सब के साथ हमारा सहयोग का सम्बन्ध नहीं रह सकता। सहयोग-असहयोग, मैत्री-द्वेष आदि की भावना तभी उठती है जब जिनका सहयोग अथवा असहयोग एवं मैत्री अथवा द्वेष उठ खड़ा हुआ है, उनके स्वार्थ एक ही वस्तु के लिए हों। देश एक ही वस्तु है—हमारा स्वार्थ है कि यह हमारे हाथ में रहे, दूसरों का स्वार्थ है कि यह उनके हाथ में चला जाय, जो इस कार्य में हमारा सहयोग देंगे वे हमारे मित्र, हितू, जो सहयोग नहीं देंगे वे हमारे शत्रु। जब हम 'सामाजिक-सम्बन्ध'--इस शब्द का प्रयोग करते हैं, तब ये सब सम्बन्ध, अनुकूल-प्रतिकूल, जिनका हमने ऊपर वर्णन किया, इस शब्द में समा जाते हैं।

ये सम्बन्ध 'आर्थिक' हो सकते हैं, 'राजनैतिक' हो सकते हैं, 'सांस्कृतिक' हो सकते हैं, बिल्कुल कोरे 'वैयक्तिक' हो सकते हैं, 'अनुकूल' हो सकते हैं, 'प्रतिकूल' हो सकते हैं। जब हम समाज में रहते हैं तब हमारे एक-दूसरे के साथ अनन्त प्रकार के 'सामाजिक-सम्बन्ध' हो सकते हैं। ध्यान में रखने की बात यही है कि कितने ही प्रकार के सम्बन्ध क्यों न हों, वे 'सामाजिक-सम्बन्ध' तभी कहलायेंगे जब हमारे और दूसरों के, जिनके साथ हमारे 'सामाजिक-सम्बन्ध' का प्रश्न उपस्थित हुआ है, स्वार्थ की चीज़ कोई एक ही वस्तु हो। जहाँ कोई ऐसी वस्तु नहीं होगी जिसके विषय में हमारा दूसरे के साथ अनुकूल या प्रतिकूल सम्बन्ध स्थापित हो, वहाँ 'सामाजिक-सम्बन्ध' कैसे बन सकेगा? बम्बई में एक मकान है, हमारी उस मकान में कोई दिलचस्पी नहीं है, इसलिए उस मकान के मालिकों के साथ, जहाँ तक उस मकान की मिलकियत का प्रश्न है, हमारा कोई 'सामाजिक-सम्बन्ध' नहीं ह, इसलिए नहीं है क्योंकि वह मकान हमारे और उनके लिए अपने-अपने स्वार्थ की वस्तु नहीं है। इसके विपरीत, बम्बई में एक दूसरा घराना है जो उसी मकान का हकदार है। बम्बई के इन दो घरानों का क्योंकि एक ही मकान के लिए स्वार्थ लड़ रहा है, इसलिए इन घरानों का पारस्परिक सम्बन्ध 'सामाजिक-सम्बन्ध' की श्रेणी के अन्तर्गत है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'सामाजिक-सम्बन्ध' (Social relationship) तभी उत्पन्न होता है जब कोई ऐसी वस्तु हो, ऐसा स्वार्थ हो, जो उन लोगों के लिए समान हो, जो उसको पाने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। 'समान-वस्तु तथा समान-स्वार्थ' (Common object and common

interest) 'सामाजिक-सम्बन्ध' के लिए आवश्यक है। जहाँ इस प्रकार का 'समान-वस्तु और समान-स्वार्थ' का 'सामाजिक-सम्बन्ध' होगा, वहाँ 'समाज' की सत्ता को मानना पड़ेगा।

(४) 'समाज' में समानता और भिन्नता' (Likeness and difference) अन्तर्निहित हैं—'समाज' का चौथा तत्त्व 'समानता तथा भिन्नता' है। वह कैसे ? हम देख आये हैं कि 'समाज' का अभिप्राय है—'सम्बन्ध'। 'सम्बन्ध' के अन्दर दो विरोधी भाव आ जाते हैं। 'ऊपर' का सम्बन्ध है 'नीचे' से, 'अधिक' का सम्बन्ध है 'कम' से, 'अपूर्ण' का सम्बन्ध है 'पूर्ण' से, 'समान' का सम्बन्ध है 'असमान' से—ये सब विरोधी सम्बन्ध ही तो हैं ! 'समाज' की इकाई 'परिवार' है—'परिवार' एक छोटे-से-छोटा 'समाज' है, परन्तु 'परिवार' को हम 'समाज' क्यों कहते हैं ? 'परिवार' में 'समानता' है—जो स्त्री और पुरुष अपने को एक-दूसरे के समान अनुभव करते हैं, वे ही तो विवाह करके 'परिवार' बनाते हैं; परन्तु अगर वे 'समान' ही हों, 'भिन्न' न हों, तब क्या वे विवाह करेंगे ? स्त्री और पुरुष का मेल ही भिन्नता के कारण है। अगर सब समान हों, स्त्री-पुरुष की भिन्नता न हो, तो विवाह जैसी कोई चीज नहीं हो सकती। क्या कोई पुरुष पुरुष के साथ और स्त्री स्त्री के साथ विवाह करती है ?

हम सब भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु भिन्न होते हुए भी हमें इस बात की चेतना है, प्रतीति है, अनुभव है कि हम एक-से हैं—इसीलिए तो हम एक-दूसरे से मिलते हैं, यह चेतना न हो, तो हम आपस में क्यों मिलें ? यह चेतना जितनी बढ़ती जाती है, व्यापक होती जाती है, उतना ही 'सामाजिक-सम्बन्ध' या 'समाज' का क्षेत्र भी बढ़ता जाता है। ऐसा समय आ सकता है जब हम विश्व भर के मानव-समाज को अपना-सा समझने लगें, तब हमारा 'समाज' का क्षेत्र इतना विशाल हो जायगा, जितना मानव-समाज का क्षेत्र। तब हम काले-गोरे का, ऊँच-नीच का, धनी-निर्धन का, छूत-अछूत का कोई भेद नहीं करेंगे, तब विश्व ही एक समाज हो जायगा, और इस विशाल-दृष्टि से देखने वाला किसी एक शहर का नहीं, विश्व का नागरिक होगा। ऐसा भी समय आ सकता है जब यह 'समानता' की दृष्टि मनुष्य तक ही नहीं, पशु-पक्षियों तक भी चली जाय—वह दृष्टि जिसमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना का उदय हो जाय। यह दृष्टि 'समानता के सम्बन्ध' (Relation of likeness) को देखने की दृष्टि है, और इसी दृष्टि से मनुष्य प्रथम-समाज, अर्थात् 'परिवार' को जन्म देता है। परन्तु जैसा पहले कहा गया, 'समाज' की भावना को उत्पन्न करने के लिए केवल 'समानता' काफ़ी नहीं है। 'समानता' के साथ 'भिन्नता' का होना भी आवश्यक है। स्त्री-पुरुष की जो लैंगिक भिन्नता है, उसी से तो विवाह होता है। जब भिन्नता समानता का आश्रय लेती है, तब दोनों में आदान-प्रदान होता है, और इस आदान-प्रदान से 'समाज' की गाड़ी आगे चलती है। 'समाज' में समान-व्यक्ति अपनी तरह-तरह की विषमताओं के कारण ही मिलते हैं। परिवार में स्त्री-पुरुष मिलते हैं—उनकी

विषमता प्राणि-शास्त्र-सम्बन्धी है—एक पत्नी है, दूसरा पुरुष है; व्यापार में एक धनी परन्तु क्रिया-हीन और दूसरा निर्धन परन्तु क्रिया-शील व्यक्ति मिलते हैं—उनकी विषमता आर्थिक तथा सामर्थ्य-सम्बन्धी है। इसी प्रकार शक्ति, सामर्थ्य, रुचि आदि विषमताओं के कारण मनुष्य-मनुष्य का मेल होता है, इस मेल से आदान-प्रदान होता है, और 'समाज' आगे-आगे कदम बढ़ाता जाता है। इसी 'समानता और भिन्नता' के कारण 'श्रम-विभाग' (Division of labour) का उदय होता है जिसमें, क्योंकि हर-एक व्यक्ति हर काम को नहीं कर सकता, इसलिए आदान-प्रदान के लिए कुछ काम एक तरह के लोग करते हैं, दूसरा काम दूसरी तरह के लोग करने लगते हैं। इस 'श्रम-विभाग से 'समाज' उन्नति के पथ पर चल पड़ता है। इसलिए, समाज के आधार-भूत तत्त्वों में 'समानता' तथा 'भिन्नता' का सम्बन्ध आवश्यक है।

(५) 'समाज' में 'भिन्नता' मुख्य नहीं, 'समानता' मुख्य है—'समाज' का पाँचवाँ तत्त्व भिन्नता होते हुए भी समानता की मुख्यता है। 'समाज' में जिस 'समानता' और 'भिन्नता' का हमने वर्णन किया उसमें 'समानता' का मुख्य स्थान है, 'विषमता' का गौण स्थान है। 'श्रम-विभाग' (Division of labour) क्यों होता है? यह विभाग, यह कार्यों की भिन्नता इसलिए होती है क्योंकि मानव-समाज की एक-सी आवश्यकताएँ हैं, सबने खाना है, पीना है, रहने के लिए कोई आश्रय ढूंढना है, इन एक-सी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए वे कामों को बाँट लेते हैं—यह बाँटना, यह कामों की भिन्नता, एकता और समानता को लाने के लिए है, उन स्वार्थों को पूर्ण करने के लिए है जो सब मनुष्यों के समान हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग व्यापार के लिए इकट्ठा होते हैं—वे भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य 'भिन्नता' नहीं, 'समानता' है, इसलिए यह कहना असंगत नहीं कि यद्यपि 'समाज' की गाड़ी 'समानता तथा भिन्नता' से चलती है, तो भी इस प्रवाह में 'भिन्नता' गौण तथा 'समानता' मुख्य है, भिन्नता समानता को लाने के लिए है।

(६) 'समाज' में मनुष्य का स्थान—'समाज' के जिन पाँच तत्त्वों का हमने निरूपण किया उनसे भी ज्यादा 'समाज' का आधार-भूत छठा तत्त्व तो 'मनुष्य' स्वयं है। मनुष्य के बिना 'समाज' क्या है? मनुष्य ही तो 'समाज' को बनाता है। मनुष्य 'समाज' को क्यों बनाता है? इसलिए, क्योंकि मनुष्य स्वभाव से सामाजिक-प्राणी है। मनुष्य 'समाज' के बिना नहीं रह सकता। इसीलिए अगर किसी को कड़ी सजा देनी हो, तो उसे इकला बन्द कर देते हैं। जो मनुष्य इकले रहने लगते हैं, वे प्रायः पागल हो जाते हैं।

वैसे तो 'समाज-शास्त्र' में पशु-पक्षी भी आ जाते हैं, उनका भी अपना-अपना 'समाज' होता है, वे भी मनुष्य की तरह इकले न रहकर मिलकर रहते हैं। 'मृगाः मृगैः संगमनुव्रजन्ति गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरंगैः—मृग मृगों के साथ, गौ गौओं के साथ, घोड़े घोड़ों के साथ रहते हैं। 'समान-शील-व्यसनेषु सख्यम्'—

एक-से शील-स्वभाव वाले मिलकर रहना पसन्द करते हैं--भले ही वे मनुष्य हों, पशु हों, पक्षी हों, परन्तु जिस 'समाज-शास्त्र' का हम विवेचन करने बैठे हैं, उसमें हम मानव-समाज तक ही अपने को परिमित रखेंगे--सम्पूर्ण प्राणि-जगत् को अपने अध्ययन का विषय नहीं बनायेंगे।

२. समुदाय (Community)

'समुदाय'-शब्द का क्या अर्थ है ?

हमारी परिभाषाओं में 'समाज' के बाद 'समुदाय' (Community)-शब्द है। 'समुदाय'-शब्द का क्या अर्थ है ? हमने देखा था कि 'समाज' प्राणियों के एक-दूसरे के साथ एक 'अमूर्त्त-सम्बन्ध' (Abstract relationship) का नाम है, ऐसा सम्बन्ध जो सत्य है, यथार्थ है, समझ में आ जाता है, परन्तु जिसे हम पकड़ कर दिखा नहीं सकते कि यह रहा वह 'सम्बन्ध'। यह 'समाज' (Society) जिन व्यक्तियों से बनता है, जब हम उन व्यक्तियों का वर्णन करने लगते हैं, जब मनुष्य के मनुष्य के साथ 'सम्बन्ध' का नहीं, परन्तु जिन व्यक्तियों का 'सम्बन्ध' है, उनका वर्णन करने लगते हैं, तब 'समुदाय' (Community)-शब्द का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ, एक गाँव में जितने व्यक्ति रहते हैं वे सब मिलकर एक 'समुदाय' (Community) बनाते हैं, इसी प्रकार शहर के लोग, जाति, उप-जाति के लोग मिलकर इकट्ठे रहने लगते हैं--उन्हें हम 'समुदाय' (Community) कहते हैं। इनका आपस का 'सम्बन्ध' हमारे भीतर यह ज्ञान उत्पन्न करता है कि ये 'समाज' (Society) हैं, परन्तु ये स्वयं--ये गाँव, शहर, जातियाँ--'समाज' नहीं, 'समुदाय' (Community) कहलाते हैं। 'समाज' ये तभी कहलायेंगे जब हम 'सम्बन्ध' की दृष्टि से विचार करेंगे, जब इनके 'एकत्रण' की दृष्टि से विचार करेंगे तब ये 'समुदाय' कहलायेंगे। 'समुदाय' (Community) में लोग इस तरह रहते हैं कि उनका जीवन एक-दूसरे से कटा नहीं होता। एक-सा उनका जीवन होता है, एक-से उनके रीति-रिवाज होते हैं, जीवन की एक-सी व्यवस्था होती है, एक-से नियमों में वे बंधे रहते हैं। 'समुदाय' (Community) की आधार-भूत बात यह है कि मनुष्य दिन-रात अपने सम्पूर्ण जीवन को उस 'समुदाय' में बिता सकता है--न बिताना चाहे तो दूसरी बात है। उसी में पैदा होना, उसी में रहना, उसी में मर जाना--ऐसा जिस सामाजिक संगठन में हो सके वही 'समुदाय' है। जिस गाँव, शहर, जाति, उप-जाति में हम पैदा हुए, उसी में जीवन बिताकर, उसी में मर जाते हैं--समाज के ये संगठन ही 'समुदाय' (Community) कहलाते हैं।

'समुदाय'-शब्द की परिभाषाएँ

भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'समुदाय' (Community)-शब्द की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं :--

[क] मैक आइवर की व्याख्या--"जब किसी समूह के सदस्य, चाहे वह समूह छोटा हो या बड़ा, इस प्रकार एक-साथ रहते हैं कि उनका एक-साथ रहना किसी विशेष प्रयोजन या विशष स्वार्थ से ही नहीं होता अपितु उनके साथ-साथ रहने की आधार-भूत बातें भी सब एक-सी होती हैं, तब हम उस समूह को 'समुदाय' (Community) कहते हैं।"

[ख] लुमले की व्याख्या--"समुदाय (Community) का अभिप्राय लोगों के किसी स्थान पर स्थिर रूप से इकट्ठा रहने का नाम है--ऐसे लोग जिनके हित समान हों या भिन्न हों, और जिनके हितों को पूरा करने के लिए भिन्न-भिन्न संस्थाएँ बनी हुई हों।"

[ग] मैन्ज़र की व्याख्या--"वह समाज जो किसी निश्चित भौगोलिक स्थान पर रहता है, उसे 'समुदाय' (Community) कहा जा सकता है।"

[घ] ऑगबर्न तथा निमकॉफ़ की व्याख्या--"एक सीमित क्षेत्र में सामाजिक-जीवन के सम्पूर्ण संगठन को 'समुदाय' (Community) कहा जा सकता है।"

'समुदाय' के मुख्य-तत्त्व क्या हैं ?

ऊपर हमने 'समुदाय' के सम्बन्ध में जितनी व्याख्याएँ दी हैं उनके आधार पर तथा उनके अलावा भी 'समुदाय' के विषय में जानने के मुख्य-तत्त्व निम्न हैं :--

(१) 'समुदाय' के आधारभूत दो तत्त्व--'स्थानीयता' (Locality) तथा 'एक-भावना' (Community sentiment)--(क) 'समुदाय' का सदा किसी एक 'स्थान' (Locality) से सम्बन्ध होता है। गाँव, शहर किसी एक जगह बसे होते हैं, अतः वे 'समुदाय' कहलाते हैं। प्राचीन-काल में भारत में 'स्थान' के कारण कई 'समुदाय' बने थे, जो पीछे जात-बिरादरी बन गए। 'सारस्वत'-ब्राह्मणों का समुदाय था जो सरस्वती नदी पर बसा हुआ था, 'सरयू-पारीण' वे थे जो सरयू नदी के पार बसे हुए थे। अब जो दो नदियों के बीच के हिस्से में बसते हैं, वे

[क] "Whenever the members of any group, small or large, live together in such a way that they share, not this or that particular interest, but the basic conditions of a common life, we call that group a community."—*MacIver*.

[ख] "A community may be defined as a permanent local aggregation of people having diversified as well as common interest and served by a constellation of institutions."—*Lumley*.

[ग] "A Society that inhabits a definite geographic area is known as a community."—*Manzer*.

[घ] "A community may be thought of as the total organisation of social life within a limited area."—*Ogburn and Nimkoff*.

'दो-आबा' के रहने वाले कहलाते हैं। ये सब 'समुदाय' एक 'स्थान' पर रहने के कारण बने हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कई ऐसे 'समुदाय' भी होते हैं, जो किसी एक स्थान से बँधे नहीं रहते। फिरन्दर समुदायों का यही हाल है, परन्तु वे भी चाहे 'स्थान' बदलते रहें, किसी-न-किसी 'स्थान' पर रहते ही हैं, कुछ दिन इस 'स्थान' पर, तो कुछ दिन दूसरे 'स्थान' पर। (ख) इसके अलावा 'समुदाय' का दूसरा तत्त्व है 'एक-भावना'। किसी एक स्थान पर एक-साथ रहने का परिणाम यह होता है कि ऐसे लोगों में 'एक-भावना', 'एकात्मता' (Community sentiment) उत्पन्न हो जाती है। वे लोग एक-जैसे त्यौहार मनाते हैं, एक-दूसरे के सुख-दुःख में साथ देते हैं, और उन्हें यह अनुभव होता है कि परिवार उनका भले ही अलग-अलग हो, परन्तु फिर भी वे एक ही गाँव के, या एक ही शहर के, या एक ही देश के रहने वाले हैं। अगर कोई पंजाबी किसी मद्रासी को इंग्लैण्ड में मिल जाय, तो एक-दूसरे से परिचित न होते हुए भी उनमें यह 'एक-भावना' जोर कर जाती है। उस समय उनमें इस भावना का उदय होना 'समुदाय-भावना' (Community sentiment or Social coherence) का उदय होना है। इस दृष्टि से 'समुदाय-भावना' के लिए 'एक-स्थान' पर रहना इतना आवश्यक नहीं है, जितना 'एकात्मता' का अनुभव करना। यह हो सकता है कि कुछ लोग एक ही 'स्थान' में रहते हों, परन्तु वे दूसरों के साथ 'एकात्मता' न अनुभव करते हों। अंग्रेज भारत में रहते थे परन्तु भारतीयों के साथ किसी प्रकार की 'एकात्मता' नहीं अनुभव करते थे। ऐसी हालत में वे यहाँ के 'समुदाय' (Community) के हिस्से नहीं कहे जा सकते थे। उनका 'समुदाय' इंग्लैण्ड में था, जहाँ उनकी 'एकात्मता' की भावना थी। एक ही गाँव में कई व्यक्ति ऐसे भी हो सकते हैं, जो रहते तो उस गाँव में हैं, परन्तु गाँव की किसी बात में उन्हें दिलचस्पी नहीं, वे मानो सबसे कटे हुए हैं। ऐसे लोगों में 'एकात्मता' की भावना की कमी है--परन्तु ऐसे लोग इने-गिने ही हो सकते हैं, अगर सभी ऐसे बन जाँय, तो 'समुदाय' (Community) उत्पन्न ही नहीं हो सकता। 'समुदाय' का उत्पन्न होना तो जरूरी है, हम अपनी गर्ज़ के लिए 'समुदाय' को उत्पन्न करते हैं--इसलिए ऐसे व्यक्तियों को जो 'समुदाय' में रहते हुए 'समुदाय' से अलग रहने का प्रयत्न करते हैं, लोग घृणा की दृष्टि से देखते ह।

(२) 'समुदाय' के भीतर 'समुदाय' (Communities within communities)--'एक समुदाय' (Community) का यह अभिप्राय नहीं है कि उसके भीतर दूसरा 'समुदाय' (Community) नहीं हो सकता। बम्बई एक बड़ा भारी शहर है--जो लोग बम्बई में रहते हैं उनका एक ही 'स्थान' (Locality) है, और वे सब एक-दूसरे से 'एकात्मता' (Community sentiment) का अनुभव करते हैं। यह एक बड़ा 'समुदाय' है। परन्तु इस 'समुदाय' के भीतर अन्य 'समुदाय' भी तो हैं। पारसी पारसियों के साथ, गुजराती गुजरातियों के साथ, पंजाबी पंजाबियों के साथ एकात्मता अनुभव करते हैं, अतः इन सब के 'समुदाय' अलग-अलग हैं, और ये 'समुदाय' के भीतर 'समुदाय' हैं।

इसी प्रकार पारसी, गुजराती और पंजाबियों में जो व्यापारी लोग हैं, वे भिन्न-भिन्न 'समुदायों' के होते हुए भी व्यापार के नाते, एक हित, एक स्वार्थ होने के कारण अपने को 'व्यापारी-समुदाय' (Business community) कहते हैं। भारत के विभाजन के बाद से एक नवीन 'समुदाय' उत्पन्न हो गया है। जो लोग पंजाब से विस्थापित होकर भारत में आ बसे हैं वे भारत में जगह-जगह बिखर गए हैं—कोई दिल्ली, कोई बम्बई, कोई कलकत्ता जा पहुँचा है। इन सब विस्थापितों के एक प्रकार के हित हैं, ये सब एक-सी चोट खाये हुए हैं, इन सब में 'एक-भावना' है, अतः शरणार्थीमात्र का एक 'शरणार्थी-समुदाय' (Refugee community) है। भारत के विशाल 'समुदाय' में यह एक छोटा बिखरा-बिखरा 'समुदाय' है, बिखरा-बिखरा इसलिए क्योंकि सब शरणार्थी एक ही जगह तो नहीं हैं। शरणार्थियों में भी अपने-अपने 'समुदाय' हैं—कोई मुलतान से आये हैं, कोई रावलपिंडी से, काई कोहाट से, कोई लाहौर से। ये लोग कहीं भी रहें, जब तक एक-दूसरे से अपना सम्बन्ध बनाये हुए हैं, तब तक इनका अपना एक पृथक् छोटा-छोटा 'समुदाय' है। जब इनको यहाँ रहते सालों बीत जायेंगे, जहाँ ये लोग आ बसे हैं, वहीं अपने जीवन की जड़ फेंक देंगे, यहीं वालों के सुख-दुःख में अपने को घुला-मिला देंगे, तब ये यहीं के अन्य 'समुदायों' के अंग बन जायेंगे।

(३) छोटे-से बड़े समुदाय की तरफ़—कोई समय था जब बहुत छोटे-छोटे 'समुदाय' होते थे। सौ-दो-सौ व्यक्तियों का एक 'समुदाय' था, और वह काफ़ी था। 'समुदाय' की सब जरूरियात आपस में ही पूरी हो जाती थीं। आपस म ही जरूरियात पूरी करने का कारण यह था कि यातायात के साधन थे नहीं, न सड़कें थीं, न रेलगाड़ियाँ थीं, करते तो क्या करते? अब समय बदल गया है, दूर-दूर तक जाने के साधन निकल आये हैं। ऐसी अवस्था में अब यह आवश्यक नहीं रह गया कि 'समुदाय' की सब जरूरियात एक ही जगह से पूरी कर ली जाँय। पहले गाँव और शहर दूसरे गाँवों और शहरों पर अपने जीवन के लिए निर्भर नहीं रहते थे, परन्तु अब जो काम गाँव में पूरा हो जाय, वह गाँव में, नहीं तो शहर में पूरा हो जाता है। विज्ञान की वर्त्तमान सुविधाओं के कारण हम एक-दूसरे पर ज्यादा निर्भर रहने लगे हैं। इस प्रकार ज्यों-ज्यों हम अपनी जरूरियात के लिए दूसरों पर निर्भर होने लगे हैं, त्यों-त्यों हमारा दूसरों से सम्पर्क बढ़ता जा रहा है, उनके साथ हमारी 'एकात्मता की भावना' (Community sentiment) भी बढ़ती जा रही है। इसका परिणाम यह है कि हम एक छोटे 'समुदाय' का अंग होते हुए भी एक बड़े 'समुदाय' का भी अंग होते जा रहे हैं, और धीरे-धीरे मानव-समाज के एक 'विशाल-समुदाय' का विकास होता जा रहा है। 'समुदाय' (Community) विकास के मार्ग पर चलते-चलते 'एक-जातीयता' (One nation) तथा इससे भी आगे बढ़ कर 'एक-विश्व' (One world) के विचार को जन्म दे रहा है। यह विचार उत्पन्न हो रहा है कि हम सब विश्व की एक

मानव-जाति के अंग हैं--'समंजन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'--सब अमृत-पुत्र एक होकर रहें--यह भावना जड़ पकड़ती जा रही है। 'संयुक्त राष्ट्र-संघ' (United Nations Organisation) इसी भावना का प्रतीक है। विश्व के एक राष्ट्र में परिणत हो जाने का यह अभिप्राय नहीं होगा कि गाँव, शहर, देश--ये छोटे-छोटे 'समुदाय' नहीं रहेंगे। ये तो रहेंगे। क्यों रहेंगे ? क्योंकि सभ्य-समाज को विकास के लिए छोटे तथा बड़े दोनों दायरों की जरूरत है। छोटे दायरे में, अपने गाँव और अपने शहर में जो दोस्ताना सम्बन्ध बन सकते हैं, जो दिन-रात की चुहल-बाज़ियाँ और गप्पे लड़ सकती हैं, जो तू-तू, मैं-मैं और लड़-झगड़ कर फिर बगलगीर होना हो सकता है, वह-सब केवल विश्व का नागरिक बने रहने से थोड़े-ही हो सकता है। परन्तु हाँ, बड़े दायरे से हमारा सम्बन्ध होना हमारे विकास के लिए जरूरी है। जब हमारा सम्बन्ध एक बड़े दायरे से, बड़े समुदाय से होता जाता है, तब हमें अपने विकास के मौके बहुत अधिक मिलने लगते हैं, हमें अपना जीवन पहले से अधिक पूर्ण अनुभव होने लगता है। छोटा तथा बड़ा दायरा, छोटा 'समुदाय' तथा बड़ा 'समुदाय' दोनों मनुष्य के लिए आवश्यक हैं, परन्तु मनुष्य के विकास की दिशा छोटे 'समुदाय' में रहते हुए बड़े 'समुदाय' के साथ एकात्मता अनुभव करना है।

(४) छोटे दायरे क्यों टूट रहे हैं--हम अपनी आँखों के सामने देख रहे हैं कि विश्व के छोटे-छोटे दायरे टूटते जा रहे हैं, उनकी जगह बड़े दायरे बनते जा रहे हैं। जात-बिरादरी का शिकंजा ढीला पड़ता जा रहा है, मत-मतान्तर के कारण जो संकुचितपन आ जाता है, वह कम होता जा रहा है, लोग जात-बिरादरी छोड़ कर, मत-मतान्तर की पर्वा न कर, मनुष्य-मात्र को एक 'समुदाय' समझने की तरफ़ कदम बढ़ा रहे हैं, मानव मानव-मात्र के लिए, अपने गाँव या शहर के मानव के लिए ही नहीं, तड़पन अनुभव करने लगा है, विकास इसी दिशा की तरफ़ जा रहा है--इस सब का कारण क्या है ? इसका एक कारण तो यह है कि यातायात के साधन बढ़ गए हैं, हम अब तक जिन लोगों को जानते भी न थे उनके बीच में हम इन साधनों से पहुँचने लगे हैं, उनके साथ 'एकात्मता' अनुभव करने लगे हैं। यह 'यान्त्रिक-कारण' (Technical reason) है। दूसरा कारण 'आर्थिक' (Economic) है। इस युग में क्योंकि 'औद्योगिक-उन्नति' (Industrial development) के कारण बड़े-बड़े शहरों में बड़ी-बड़ी मिलें खड़ी हो गई हैं, इसलिए उनमें काम करने के लिए मज़दूर घर-बार छोड़ कर शहरों में जा बसते हैं। कोई कहीं का, कोई कहीं का--वे ऊँच-नीच का भेद-भाव भूल कर एक आर्थिक-सूत्र में अपने को बँधा पाते हैं, उनमें 'एकात्मता' की भावना उत्पन्न हो जाती है, वे समझने लगते हैं कि वे किसी भी गाँव के, किसी भी शहर के, किसी भी जात-बिरादरी के क्यों न हों, सब का मूल-प्रश्न रोटी है, और इस प्रश्न को हल करने के लिए जिन भी मुसीबतों का सामना करना पड़े, उनको हल करने के लिए वे सब एक हैं--चाहे वे इस गाँव के हों या उस गाँव के, इस शहर के हों या उस शहर के,

इस देश के हों या उस देश के ! छोटे-छोटे दायरों के टूटने और बड़े-बड़े दायरों के बनने का तीसरा कारण 'सांस्कृतिक' (Cultural) है। राजनीति के धुरन्धर पण्डित—एक देश को दूसरे देश से लड़ाने वाले भले ही देश-भक्ति की दुहाई देकर, 'देश खतरे में है' का नारा बुलन्द कर मनुष्य को मनुष्य से अलग करने का प्रयत्न करें, परन्तु विचार, कला, विज्ञान ऐसे पक्षी हैं जो किसी देश की परिधि और सीमा को स्वीकार नहीं करते, वे स्वतन्त्र उड़ते हैं, और सब देशों में अपना बसेरा बना लेते हैं।

जॉन स्टुअर्ट मिल ने जब 'लिबर्टी' ग्रन्थ को लिखा था तब कौन उसके विचारों को भारत में आने से रोक सकता था ? गैलिलियो और ब्रूनो के वैज्ञानिक आविष्कार अपने ही देश की सम्पत्ति कैसे रह सकते थे ? रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीत क्यों न विश्व-भर में संगीत का प्रवाह बहाते ? विचार, संगीत, कला, विज्ञान—यही तो संस्कृति है—यह संस्कृति मनुष्य को छोटे-छोटे 'समुदायों' में सदा के लिए कैद नहीं रहने दे सकती। जो राष्ट्र अपने देश-वासियों को अपनी छोटी-छोटी खिड़कियों से बाहर नहीं झाँकने देते, उन्हें लोह-पट (Iron-curtain) के भीतर कैद रखते हैं, वे भूल में हैं, क्योंकि आज के मानव-समाज को छोटे-छोटे दायरों में कोई बन्द नहीं रख सकता—समाज के विकास का जो प्रवाह अनादि-काल से बह रहा है, यह कैद उसके साथ मेल नहीं खाती।

'समुदाय' तथा 'समाज' में भेद
(DIFFERENCE BETWEEN COMMUNITY AND SOCIETY)

(क) समाज में एकता ज़रूरी नहीं समुदाय में एक-सूत्रता ज़रूरी है—'समुदाय' तथा 'समाज' में भेद है। जैसा हम देख चुके हैं, 'समाज' (Society) के अन्तर्गत वे सब 'सम्बन्ध' (Relations) आ जाते हैं जो मनुष्य मनुष्य के साथ बनाता है। 'सामाजिक-सम्बन्धों' की संगठित रचना का नाम 'समाज' (Society) है। 'समुदाय' (Community) में भी सामाजिक-सम्बन्धों का संगठन होता है, परन्तु 'समुदाय' (Community) में ये सामाजिक-सम्बन्ध एक-से होते हैं, 'समुदाय' के सब व्यक्ति परस्पर 'एकात्मता' (Common sentiment) अनुभव करते हैं, उनका रहन-सहन, उनके रीति-रिवाज एक-से होते हैं। 'समाज' (Society) में 'संगठन' का अंश तो है, परन्तु यह जरूरी नहीं है कि वह 'संगठन' समाज के व्यक्तियों को एकता के सूत्र में ही पिरोये। एक-दूसरे के बड़े-बड़े दुश्मन भी 'समाज' के ही अंग हैं। रूस और अमरीका एक-दूसरे के विरोधी हैं, दोनों 'समाज' (Society) कहे जा सकते हैं, परन्तु दोनों का एक 'समुदाय' (Community) नहीं है—'समुदाय' (Community) अमरीका वालों का अलग है, रूस वालों का अलग है। 'समुदाय' में उसके जो अंग हैं, उनका एक हित, एक स्वार्थ (Common interest) होना आवश्यक है; 'समाज' में उसके जो अंग हैं, उनके भिन्न-भिन्न हित, भिन्न-भिन्न स्वार्थ हो सकते हैं।

(ख) 'समाज' अमूर्त्त तथा 'समुदाय' मूर्त्त है—'समाज' तथा 'समुदाय' में दूसरा भेद यह है कि 'समाज', जैसा हम पहले कह आये हैं, एक अमूर्त्त, अदृश्य वस्तु है। क्योंकि 'समाज' मनुष्य-समाज के आपसी 'सम्बन्धों' का नाम है, और 'सम्बन्ध' देखने की वस्तु नहीं हैं, इसलिए यह अदृश्य वस्तु है। 'समुदाय' अदृश्य नहीं, दृश्य है, अमूर्त्त नहीं, मूर्त्त है—इसलिए मूर्त्त है क्योंकि जबतक 'समुदाय' किसी निश्चित स्थान पर, निश्चित भू-भाग पर नहीं रहता, तब तक वह 'समुदाय' नहीं कहा जा सकता। 'समाज' के लिए निश्चित स्थान पर रहना आवश्यक नहीं है। मद्रासी दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई—सब जगह रह सकते हैं, जहाँ ये रहेंगे वहाँ इनका 'समाज' होगा, परन्तु उस मद्रासी का 'समुदाय' वहीं होगा जहाँ उसकी बिरादरी के लोग रहते होंगे, भिन्न-भिन्न शहरों में उसके 'समाज' के लोग रहते हुए भी उसके 'समुदाय' के लोग एक ही जगह पर, एक ही स्थान पर रहेंगे।

क्या आश्रम, विहार, जेल, शरणार्थी, जाति आदि 'समुदाय' हैं?
(समुदाय के मध्यवर्ती उदाहरण—BORDER-LINE CASES)

इसमें सन्देह नहीं कि गाँव, शहर आदि—ये 'समुदाय' (Community) हैं, क्योंकि ये एक 'स्थान' (Locality) पर बसे होते हैं, और इनमें बसने वालों का 'समान-हित' (Common interest) होता है। परन्तु वर्तमान-युग में ऐसे दृष्टान्त भी सामने आ जाते हैं जिनके विषय में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वे क्या हैं। उदाहरणार्थ :—

(क) आश्रम, विहार, जेल—प्राचीन-काल के ब्रह्मचर्याश्रम, ईसाई पादरी-पादरिनों के निवास-गृह (Monasteries), श्री अरविंद के पांडेचेरी जैसे साधनाश्रम, बौद्ध-भिक्षुओं के विहार तथा जेल आदि जहाँ सब लोग एक ही स्थान पर रहते हैं, एक-सा जीवन व्यतीत करते हैं, एक-दूसरे के सुख-दुःख में सदा शरीक होते हैं—इन्हें 'समुदाय' (Community) कहा जायगा या नहीं? कई लोग इन संगठनों को 'समुदाय' (Community) का नाम देना इसलिए नहीं पसन्द करेंगे क्योंकि इन संगठनों का कार्य अत्यन्त संकुचित है। परन्तु नहीं, संगठन का कार्य तो 'समुदाय' (Community) के छोटे-बड़े होने के साथ-साथ संकुचित तथा विस्तृत होता ही रहेगा। क्योंकि ये संगठन एक 'स्थान' (Locality) पर बसे हैं, और क्योंकि इनमें 'एकात्म-भावना' (Common sentiment) काम कर रही है, इसलिए इन्हें 'समुदाय' (Community) कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। इनके छोटे-बड़े होने का इनके 'समुदाय' (Community) कहलाने पर कोई असर नहीं पड़ सकता।

(ख) शरणार्थी—इसी प्रकार 'शरणार्थियों' (Refugees) तथा अन्य बाहर से आये हुए उन 'आगन्तुकों' (Immigrants) को भी हम 'समुदाय' (Community) के अन्तर्गत ही कहेंगे जो हमारे देश में आकर जगह-जगह बिखर

गए, परन्तु जहाँ भी वे हैं, अपनी ही भाषा बोलते हैं, अपने ही रीति-रिवाज़ पर चलते हैं, और अपने लोगों के सुख-दुःख में अपना सुख-दुःख समझते हैं। शरणार्थियों के 'समुदाय' बड़े विलक्षण हैं। एक तो उनका वह 'समुदाय' है, जो उनका अपनी जात-बिरादरी वालों के साथ है। यह 'समुदाय' भारत में आने के बाद चारों तरफ़ बिखरा हुआ है। एक ही बिरादरी के कुछ लोग दिल्ली, कुछ बम्बई और कुछ कलकत्ता चले गए हैं। दूसरा इनका 'समुदाय' अपने उन शहर वालों का है, जो भारत में आकर एक ही जगह बस गये हैं। तीसरा 'समुदाय' शरणार्थी-मात्र है। जो भी शरणार्थी है वह दूसरे शरणार्थी से एकात्मता अनुभव करता है, और चुनावों में उसी को वोट देता है, चाहे उसे वह जानता हो या न जानता हो। चौथा 'समुदाय' वह अभी उत्पन्न कर रहा है। जहाँ आ बसा है वहाँ के संगठनों में घुसने का प्रयत्न कर रहा है, वहाँ के जीवन में अपने को घुला-मिला कर एक नये 'समुदाय' को जन्म दे रहा है।

(ग) जाति—'जाति' समुदाय है या नहीं? जाति में 'एकात्मता' की भावना तो पायी जाती है, परन्तु जाति के लोग एक ही भू-भाग पर नहीं बसे होते, कोई पंजाब में है तो कोई उत्तर-प्रदेश में, इसलिए इसे 'समुदाय' नहीं कहा जा सकता। अगर किसी जगह एक ही जात-बिरादरी के लोग एक ही जगह बसे हों, उनका समान हित हो, तो वह 'समुदाय' कहलायेगा।

समूह, वर्ग (श्रेणी), जाति, प्रजाति, राष्ट्रीयता, राष्ट्र का समुदाय से भेद

'समुदाय' पर लिखते हुए इससे मिलते-जुलते संगठनों में भेद समझ लेना आवश्यक है। 'समुदाय' से मिलते-जुलते संगठन हैं—समूह, वर्ग, जाति, प्रजाति, राष्ट्रीयता तथा राष्ट्र। समुदाय का इनसे क्या भेद है?

(क) समूह (Group)—पेड़ों का झुण्ड 'समूह' नहीं कहलाता, झुण्ड कहलाता है। 'झुण्ड' में शारीरिक निकटता चाहिए, 'समूह' के लिए शारीरिक निकटता के साथ 'सामाजिक-सम्बन्ध' भी चाहिए। गिलिन-गिलिन के अनुसार 'समूह' में कम-से-कम दो व्यक्ति होने चाहिएँ, अधिक-से-अधिक कितने भी हो सकते हैं, 'समुदाय' में दो व्यक्ति होने से 'समुदाय' नहीं बनता, इसमें अधिक व्यक्ति ही होने चाहिएँ।[1] इसीलिए 'समूह' को 'समुदाय' कह सकते हैं, 'समुदाय' को 'समूह' नहीं कह सकते।

(ख) वर्ग (श्रेणी) (Class)—ऑगबर्न तथा निमकॉफ़ के अनुसार 'वर्ग' भी 'समूह' का नाम है, परन्तु इसमें 'समूह' के व्यक्तियों की सामाजिक-स्थिति

---

1. "A group is any collection of two or more individuals, who are in social interaction, that is, who have social relation with each other, who are in a position to stimulate each other psychologically and to respond to each other."—*Gillin and Gillin.*

एक-समान होती है।[1] 'समुदाय' में व्यक्तियों की एक-समान स्थिति होना आवश्यक नहीं। 'वर्ग' जन्म से नहीं होता।

(ग) जाति (Caste)—कूले के कथनानुसार जब 'वर्ग' वंश-परम्परा से चलने लगता है तब उसे 'जाति' कह देते हैं।[2] इस दृष्टि से 'वर्ग' तथा 'जाति' दोनों एक प्रकार के समूह हैं, परन्तु वर्ग 'कर्म' पर आश्रित है, जाति 'जन्म' पर आश्रित है। वर्ग तथा जाति—इन दोनों में सामाजिक-स्थिति एक-समान होती है, परन्तु सामाजिक-स्थिति का आधार दोनों में जुदा-जुदा है।

(घ) प्रजाति (Race)—क्रोबर के कथनानुसार प्रजाति का विचार एक प्राणि-शास्त्रीय विचार है, यह वह समूह है, जो वंशानुसंक्रमण के या प्रजननिक तत्त्वों से बनता है।[3] जाति तथा प्रजाति—ये दोनों 'जन्म' पर आश्रित हैं, परन्तु जाति के विषय में विवाद बना रहता है कि यह जन्म पर आश्रित है या बदल भी सकती है, प्रजाति के विषय में यह विवाद नहीं। कभी-कभी 'जाति'-शब्द का प्रयोग 'प्रजाति' के अर्थ में कर दिया जाता है, परन्तु 'प्रजाति'-शब्द का प्रयोग 'जाति' के अर्थ में नहीं किया जाता।

(ङ) राष्ट्रीयता (Nationality)—लार्ड ब्राइस का कथन है कि राष्ट्रीयता एक ऐसे जन-समूह को कहते हैं जो भाषा, साहित्य, विचार, प्रथाओं, परम्पराओं से एक-सूत्रता में बंधा होता है। दूसरे जन-समूह की भाषा, उसका साहित्य, उसकी प्रथा आदि इसे दूसरे जन-समूह की राष्ट्रीयता से पृथक् करती है।[4] संक्षेप में, जिस समूह की समान संस्कृति होती है, उसकी राष्ट्रीयता भी एक होती है। राष्ट्रीयता का आधार समूह की समान-संस्कृति है।

(च) राष्ट्र (Nation)—लार्ड ब्राइस का कथन है कि जब समूह को बाँधने वाली सांस्कृतिक एकता होती है तब राष्ट्रीयता का उदय होता है, जब

1. "A social class is the aggregate of persons having essentially the same social status in a given society."—*Ogburn and Nimkoff.*

2. "When a class is somewhat strictly hereditary we may call it a caste."—*Cooley.*

3. "A race is a valid biological concept. It is a group united by heredity ; a breed or genetic strain or sub-species." —*Kroeber.*

4. "A nationality is a population held together by certain ties, as, for example, language and literature, ideas, customs and traditions, in such a way as to feel itself coherent unity distinct from other populations held together by like ties of their own." —*Lord Bryce.*

समूह को बाँधने वाली राजनैतिक एकता होती है, तब राष्ट्र का उदय होता है।[1]

ऊपर जो-कुछ लिखा गया है उसे गणित के समीकरणों में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है :

समूह = शारीरिक निकटता + सामाजिक-सम्बन्ध ।

समुदाय = समूह + निश्चित भू-भाग + सामुदायिक-भावना ।

वर्ग = समूह + समान सामाजिक-स्थिति (कर्म-परक) ।

जाति = समूह + समान सामाजिक-स्थिति (मुख्यत: जन्म-परक) ।

प्रजाति = समूह + समान जन्म-स्थिति (केवल जन्म-परक) ।

राष्ट्रीयता = समूह + समान-संस्कृति (भाषा, धर्म, प्रथा, परम्परा आदि) ।

राष्ट्र = समूह + समान राजनीति ।

३. समिति (Association)

'समिति'-शब्द का क्या अर्थ है ?

मनुष्य जो चाहता है उसे पूर्ण करने के लिए तीन उपायों का सहारा ले सकता है :—

(क) या तो वह किसी की सहायता के बिना, स्वतंत्र रूप से, अपने-आप जो-कुछ चाहता है, उसे पूरा करे। यह उपाय सामाजिक उपाय नहीं है।

(ख) दूसरा उपाय यह है कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जो उसके शत्रु हों, उनसे लड़े ताकि कोई उसके कार्य में बाधक न हो, और वह अपना काम पूरा कर सके। कुत्ते को टुकड़े की जरूरत है, वह दूसरे कुत्ते पर लपकता है ताकि निश्चिन्त होकर वह टुकड़ा खा सके। लड़ाई-झगड़े का यह उपाय उद्देश्य की सिद्धि का बहुत लम्बा रास्ता है। इसके अतिरिक्त यह रास्ता समाज के निर्माण का नहीं, समाज के विनाश का है। इस मार्ग से जिन लोगों को हम अपना सहयोगी बना सकते हैं, उन्हें बिना मतलब के अपना शत्रु बना लेते हैं।

(ग) तीसरा उपाय 'सहयोग का मार्ग' (Co-operative pursuit) है। इस मार्ग पर चलते हुए हम सहकारिता के मार्ग पर चलते हैं, समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने ही उद्देश्य को सिद्ध नहीं करता, दूसरे के उद्देश्य को सिद्ध करने में भी हाथ बटाता है, और इस प्रकार दूसरे की सहायता करता हुआ अपनी सहायता भी कर लेता है।

'सहयोग' के उक्त मार्ग को जब हम अपनाते हैं, तब तीन बातें हो सकती हैं :—

---

1. "A nation is a nationality which has organised itself into a political body."—*Lord Bryce.*

(क) या तो हमारा सहयोग 'आकस्मिक' हो। एक बुढ़िया बोझ लिये जा रही थी, थक गई, सुस्ताने लगी, अब आराम करके बोझ को फिर सिर पर लेना चाहती है, किसी के हाथ लग जाने का सहारा ताक रही है। हम पास से निकले तो एक हाथ से सहारा दे दिया—यह आकस्मिक सहयोग है, इस सहयोग का 'समिति' (Association) से सम्बन्ध नहीं।

(ख) या हमारा सहयोग भाई-चारे के नाते, एक रीत के नाते हो। गाँव का एक किसान दूसरे की मदद कर देता है, यह भाई-चारे का, रीत का सहयोग है, इसका भी 'समिति' (Association) से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(ग) तीसरा सहयोग वह है जिसमें हमें इस बात का विचार नहीं होता कि हम एक 'स्थान' (Locality) के रहने वाले हैं, न ही इस बात का विचार होता है कि हमारा जिनके साथ सहयोग हो रहा है उनके साथ सब बातों में हमारी 'एकात्मता' या 'एक-भावना' (Community sentiment) है—ये विचार तो 'समुदाय' (Community) में पाये जाते हैं—इस तीसरे प्रकार के सहयोग में किन्हीं खास-खास उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए व्यक्ति एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, और इस बात को स्पष्ट तौर पर जानते हुए सम्बन्ध स्थापित करते हैं कि हमने अमुक उद्देश्य को सिद्ध करना है। जब इस प्रकार का मेल है, तब उस मेल को, उस सहयोग को 'समिति' (Association) कहते हैं।

'समिति'-शब्द की परिभाषाएँ

उक्त बातों को ध्यान में रख कर भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'समिति' (Association) की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं जिनमें से कुछ निम्न हैं :—

[क] मैकग्राइवर की व्याख्या—"किसी एक या अनेक स्वार्थों को पूर्ण करने के लिए, दूसरों के सहयोग के साथ जब सोच-विचार कर कोई संगठन बनाया जाता है, तब उसे 'समिति' (Association) कहते हैं।"

[ख] जिन्सबर्ग की व्याख्या—"किसी निश्चित उद्देश्य या किन्हीं निश्चित उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए जब कुछ सामाजिक प्राणी एक-दूसरे के साथ मिलकर एक संगठन की रचना करते हैं, तब उस संगठन को 'समिति' (Association) कहते हैं।"

[क] "Any organisation deliberately formed for the collective pursuit of some interest or set of interests which the members of it share is termed an Association."—*MacIver*.

[ख] "A group of social beings related to one another by the fact that they possess or have instituted in common organisation with a view to securing a specific end or specific ends."—*Ginsberg*.

'समिति' के मुख्य तत्त्व क्या हैं ?

ऊपर जो-कुछ कहा गया है उसे सम्मुख रखते हुए 'समिति' के आधार-भूत तत्त्व निम्न कहे जा सकते हैं :—

(क) हम पहले देख चुके हैं कि 'समाज' मनुष्यों के अमूर्त्त सम्बन्धों का नाम है। इसके विपरीत 'समुदाय' अमूर्त्त न होकर मूर्त्त, अदृश्य न होकर दृश्य है। समुदाय की तरह 'समिति' भी मूर्त्त तथा दृश्य है, अमूर्त्त तथा अदृश्य नहीं।

(ख) 'समाज' तथा 'समुदाय' की सोच-विचार कर स्थापना नहीं की जाती, वे स्वयं बनते रहते हैं, उनका स्वतः विकास होता है। 'समिति' की हम सोच-विचार कर स्थापना करते हैं, उसके नियम बनाते हैं, और उन नियमों के अनुसार 'समिति' को चलाते हैं।

(ग) 'समिति' की स्थापना करने से पहले उसके कुछ उद्देश्य निश्चित कर लिये जाते हैं। किसी समिति का उद्देश्य व्यापार करना है, किसी का उद्देश्य नाटक खेलना है, किसी का उद्देश्य कुछ और है, बिना निश्चित उद्देश्यों के कोई 'समिति' नहीं बनती।

(घ) 'समिति' के उद्देश्य क्योंकि निश्चित होते हैं, इसलिए उन उद्देश्यों को मानने वाले ही 'समिति' के सदस्य हो सकते हैं। अगर कोई किसी 'समिति' का सदस्य है, और कालान्तर में उन उद्देश्यों को नहीं मानता, तो वह उस 'समिति' से अलग हो जाता है। 'समिति' का सदस्य रहना या न रहना मनुष्य की अपनी इच्छा पर निर्भर है।

(ङ) क्योंकि 'समिति' किन्हीं निश्चित उद्देश्यों को लेकर बनती है, इसलिए उन उद्देश्यों के पूर्ण होने पर 'समिति' भी समाप्त हो जाती है। उद्देश्य पूर्ण होने पर भी 'समिति' अगर बनी रहती है, तो उसमें जान नहीं रहती, वह नाम मात्र की रहती है।

'समाज' तथा 'समिति' में भेद

(DIFFERENCE BETWEEN SOCIETY AND ASSOCIATION)

(क) 'समाज' क्योंकि मनुष्यों के सामाजिक-सम्बन्धों का परिणाम है, वह अदृश्य तथा अमूर्त्त है; 'समिति' क्योंकि मनुष्यों के आपस में किन्हीं निश्चित उद्देश्यों से मिलकर काम करने का परिणाम है, इसलिए 'समिति' दृश्य तथा मूर्त्त है।

(ख) 'समाज' मानव-समाज के स्वतः विकास का परिणाम है, इसलिए 'समाज' को हम बनाते नहीं हैं, इसका स्वतः विकास होता है; 'समिति' क्योंकि किन्हीं निश्चित उद्देश्यों को सामने रख कर बनाई जाती है, इसलिए इसका स्वतः विकास नहीं होता, इसे बनाया जाता है।

(ग) 'समाज' मनुष्य के जीवन का आवश्यक भाग है, 'समाज' के बिना मनुष्य का जीवन सम्भव नहीं; 'समिति' मनुष्य के जीवन का आवश्यक अंग नहीं,

मनुष्य चाहे तो 'समिति' का सदस्य बने, चाहे तो न बने, 'समाज' के सम्बन्ध में ऐसा नहीं हो सकता।

(घ) 'समाज' स्थिर वस्तु है, 'समिति' अस्थिर वस्तु है, 'समिति' रहे, न रहे, 'समाज' सदा बना रहता है।

'समुदाय' तथा 'समिति' में भेद
(DIFFERENCE BETWEEN COMMUNITY AND ASSOCIATION)

(क) 'समुदाय' (Community) तब पैदा होता है, जब किन्हीं 'समान-हितों' (Common interests) के लोग संगठित होते हैं; 'समिति' (Association) तब पैदा होती है, जब किन्हीं 'विशेष-हितों' (Particular interests) के लिए लोग संगठित होते हैं। गाँव, शहर, जाति, देश--ये सब 'समुदाय' (Community) हैं, परन्तु व्यापार के लिए एक कम्पनी, शिक्षा के प्रचार के लिए एक कमेटी, क्रिकेट, हॉकी या फुटबाल के टूर्नामेंट संगठित करने के लिए एक क्लब--ये सब 'समिति' (Association) हैं। 'समिति' (Association) के विषय में हम पूछ सकते हैं कि किस विशेष उद्देश्य के लिए उसकी स्थापना हुई है--शिक्षा का प्रचार करने के लिए, लोगों में तैरने का शौक पैदा करने के लिए, या किसी अन्य उद्देश्य के लिए? 'समुदाय' (Community) के विषय में ऐसा कोई प्रश्न नहीं उत्पन्न होता। 'समुदायों' (Communities) की कोई स्थापना थोड़े ही करता है--वे तो इतिहास के एक लम्बे-चौड़े रास्ते से होकर विकास के मार्ग पर स्वयं आगे-आगे बढ़ते चले जा रहे हैं।

(ख) 'समिति' (Association) का निर्माण तब होता है, जब उसका निर्माण करने वाले, लोगों को अपनी तरफ़ खींचने के लिए, कोई 'विशेष-स्वार्थ' (Specific interests) उनके सामने रख सकें। किसी क्लब के सदस्य हम तब तक रहेंगे जब तक वह उस विशेष उद्देश्य की पूर्त्ति करती है, अगर पूर्त्ति नहीं करती, तब क्यों उसका कोई सदस्य रहेगा? 'समुदाय' (Community) के साथ ऐसी बात नहीं है। 'समुदाय' (Community) में तो हम पैदा होते हैं, उसी में जीते-मरते हैं; 'समिति' को हम छोड़ सकते हैं, 'समुदाय' को छोड़ना टेढ़ी खीर है।

(ग) हम पहले कह चुके हैं कि 'समुदाय' (Community) के भीतर भी 'समुदाय' (Communities) हो सकते हैं। बम्बई शहर एक 'समुदाय' है, उसमें पारसी, पंजाबी, गुजराती, मराठे--ये अवान्तर 'समुदाय' हैं। इन 'समुदायों' में अनेकानेक 'समितियाँ' (Associations) हो सकती हैं। पहले तो बम्बई में ही अनेक 'समितियाँ' हो सकती हैं--कहीं क्रिकेट-क्लब है, कहीं डाक्टरों का, कहीं व्यापारियों का अपने-अपने मतलब से संगठन बना हुआ है। फिर, पारसियों में, पंजाबियों में, गुजरातियों में, मराठों में अपने-अपने संगठन बने हुए हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति एक 'समुदाय' (Community) का होता

हुआ, अनेक, कभी-कभी बीसियों 'समितियों' (Associations) का सदस्य हो सकता है।

(घ) 'समिति' (Association) का कार्य अपने पदाधिकारियों द्वारा होता है। ऐसी कोई 'समिति' नहीं हो सकती जिसके कोई निर्वाचित या अनिर्वाचित कार्य-कर्त्ता अथवा पदाधिकारी न हों। 'समुदाय' (Community) के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके कार्य-कर्त्ता अवश्य हों ही--हो भी सकते हैं, नहीं भी हो सकते हैं। 'समिति' (Association) का कार्य अपने उन पदाधिकारियों द्वारा होता है, जो 'समिति' (Association) के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस दृष्टि से 'समिति' की अपनी ही एक कानूनी स्थिति हो जाती है। 'समिति' (Association) के पास रुपया आता है, चन्दे के तौर पर या किसी अन्य तरह से। 'समिति' (Association) की अपनी सम्पत्ति हो सकती है, जायदाद हो सकती है। इस सम्पत्ति को भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी इच्छा से इस्तेमाल नहीं कर सकते--इसका उपयोग उन्हीं 'विशेष-हितों' (Specific interests) के लिए हो सकता है जिनके लिए इस संगठन की रचना की गई है। 'समिति' (Association) के भिन्न-भिन्न व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से कुछ नहीं कर सकते, वे सब मिल कर 'एक'-सत्ता बनते हैं, अलग-अलग वे कुछ नहीं हैं, और उन सब के मिलने से जो 'एक'-सत्ता उत्पन्न होती है, उसकी कानून में अपनी स्वतंत्र स्थिति मानी गई है। 'समिति' (Association) के अलग-अलग सदस्यों के कोई अधिकार नहीं, परन्तु इन सदस्यों के 'संगठित-संघ' (Corporation) के अधिकार हैं। यह 'समिति' (Association) 'समिति' के तौर पर जमीन ख़रीद सकती है, मुकदमे कर सकती है--वह सब कानूनी कार्यवाही कर सकती है, जो एक व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से कर सकता है। 'समिति' का मानो कानूनी व्यक्तित्व उत्पन्न हो जाता है, यह सब-कुछ 'समुदाय' (Community) के सम्बन्ध में नहीं होता।

'समिति' के मध्यवर्ती उदाहरण (BORDER-LINE CASES)—
'परिवार' तथा 'राष्ट्र'

जैसे 'समुदाय' (Community) पर लिखते हुए हमने 'आश्रम'-'विहार'-'जेल'-'शरणार्थी' आदि पर विचार किया था, वैसे 'समिति' (Association) पर लिखते हुए भी कई संगठन हमारे सामने ऐसे आ जाते हैं जिनके विषय में विचार करना आवश्यक है कि वे 'समिति' (Association) के अन्तर्गत हैं, या नहीं। उदाहरणार्थ, दो मुख्य 'सामाजिक-संगठन' ऐसे हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है कि वे 'समिति' (Association) के अन्तर्गत आते हैं, या नहीं आते? वे संगठन हैं--'परिवार' (Family) तथा 'राष्ट्र' (State)। इन दोनों पर हम क्रमशः विचार करेंगे :--

(क) परिवार 'समिति' है--'समाज' के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में 'परिवार' का रूप कुछ ऐसा पाया जाता है कि इसे 'समुदाय' (Community)

के अन्तर्गत समझा जा सकता है। इस अवस्था में 'परिवार' ही इसके सदस्यों का आदि और अन्त होता है, वे इसी में पैदा होते, इसी में जीते-मरते ह। उस अवस्था में 'परिवार' उनके जीवन को इस प्रकार घेरे होता है कि उसके बाहर उनके लिए कुछ नहीं होता।

परन्तु हम 'समाज' के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में नहीं हैं। आज 'परिवार' का रूप 'समुदाय' (Community) का न रहकर 'समिति' (Association) का हो गया है। दो व्यक्ति--स्त्री तथा पुरुष--एक विशेष लक्ष्य को सम्मुख रखकर विवाह करते हैं। उनका उद्देश्य है--सन्तान उत्पन्न करना। कइयों का उद्देश्य होता है--रोटी पकाने वाली का बन्दोबस्त करना। जो लोग विवाह को एक 'दैवीय-संस्कार' (Sacrament) समझते हैं, उनके लिए तो 'परिवार' एक 'समुदाय' (Community) ही है, परन्तु आजकल तो विवाह एक 'सामाजिक-साझेदारी' (Social contract) समझा जा रहा है--इस दृष्टि से 'परिवार' एक प्रकार की 'समिति' (Association) है, जो उस विशेष उद्देश्य के पूरा न होने पर जिसके लिए यह सहयोग है, तोड़ा भी जा सकता है। इसी विवाह-विच्छेद को तलाक़ कहते हैं।

परन्तु 'परिवार' में जो नये प्राणी जन्म लेते हैं, उनके लिए 'परिवार' फिर एक प्रकार के 'समुदाय' (Community) का रूप धारण कर लेता है--जब तक वे बच्चे रहते हैं, वे 'परिवार' को ही अपने जीवन का सब-कुछ समझते हैं। बालक के लिए 'परिवार' ही वह 'समुदाय' (Community) है, जो उसे समाज के विशाल 'समुदाय' (Community) के लिए तैयार करता है। धीरे-धीरे यह 'परिवार', जो उसके लिए एक प्रकार का 'समुदाय' (Community) था, ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों उसके लिये 'समिति' (Association) का रूप धारण करता जाता है--वह 'परिवार' को अपने जीवन का आदि और अन्त समझना छोड़कर, अपने एक नये 'परिवार' को जन्म देने के लिए कदम बढ़ा देता है। इस प्रकार वही 'परिवार' जो बच्चे के लिए 'समुदाय' (Community) था, उसी बच्चे के बड़ा होकर युवक हो जाने पर, 'समिति' (Association) का रूप धारण कर लेता है।

(ख) राष्ट्र भी 'समिति' है--'राष्ट्र' (State) को भी प्रायः 'समुदाय' (Community) समझा जाता है, परन्तु 'राष्ट्र' भी 'परिवार' की तरह 'समुदाय' (Community) नहीं है, 'समिति' (Association) है। 'राष्ट्र' (State) को 'समुदाय' (Community) समझा जाता रहा है, परन्तु इसके अत्यन्त भयंकर परिणाम निकले हैं। सबसे भयंकर परिणाम तो यह रहा है कि जो लोग 'राष्ट्र' (State) और 'समुदाय' (Community) को एक समझते रहे हैं, वे यह कहते रहे हैं कि 'राष्ट्र' (State) का हित, और 'समुदाय' (Community) का हित एक ही है। क्योंकि ये दोनों एक ही वस्तु हैं इसलिए 'राष्ट्र' (State) को 'समुदाय' (Community) की हर

बात में हस्तक्षेप करने का अधिकार है। परिणाम यह होता है कि 'राष्ट्र' (State) अपनी सीमाओं से आगे निकल जाता है, और मनुष्य के मनुष्य के साथ निर्बाध सम्बन्ध में रुकावट बनकर खड़ा हो जाता है। एक रूसी अमरीकन को शत्रु समझता है। क्यों समझता है? क्योंकि 'राष्ट्र' (State) का यह तकाजा है कि जो उसी राष्ट्र का नहीं हैं, जिसके हम हैं, वह हमारा शत्रु है। परन्तु क्या ऐसा नहीं हो सकता कि दूसरे राष्ट्र का मानव हमारे अपने राष्ट्र के मानव के समान हमारा हितू हो, हम उसके साथ वैसी ही 'एकात्मता' अनुभव करें जैसी अपने राष्ट्र के मानव के साथ अनुभव करते हैं? परन्तु 'राष्ट्र' (State) को 'समुदाय' (Community) मानने का विचार हमारी इस विचार-धारा में बाधक बन जाता है——इसलिए बाधक बन जाता है क्योंकि 'राष्ट्र' तो वहीं तक सीमित है जहाँ तक हमारा देश सीमित है, परन्तु यह जरूरी नहीं कि 'समुदाय' की भावना भी देश की सीमा तक ही सीमित रहे। इसके अतिरिक्त 'राष्ट्र' (State) को 'समुदाय' (Community) मानने से एक दूसरा भी भयंकर परिणाम उत्पन्न हो जाता है। 'राष्ट्र' (State) अपने को इतना समर्थ और शक्तिशाली मानने लगता है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता का बिल्कुल अपहरण कर डालता है। 'राष्ट्र' (State) की यह माँग होने लगती है कि वह जिस ढाँचे में ढालना चाहे उसी में हर व्यक्ति को ढालने का उसे पूर्ण अधिकार है। इसी से राज्य के असीम-प्रभुत्व को मानने वाले 'एकाधिकारवादी' (Totalitarian)-राष्ट्र उत्पन्न हो जाते हैं। अगर 'राष्ट्र' को अन्य 'समितियों' (Associations) की तरह एक 'समिति' (Association) माना जाय, तब तो यह मानना पड़ेगा कि जैसे अन्य 'समितियाँ' (Associations) हमने 'विशिष्ट-उद्देश्यों' (Particular interests) को पूर्ण करने के लिए बनायी हैं, वैसे मानव-समाज ने ही 'राष्ट्र' (State) को भी अपने 'विशिष्ट-उद्देश्यों' को पूर्ण करने के लिए बनाया है। 'राष्ट्र' (State) उन 'विशिष्ट-उद्देश्यों' को पूर्ण करता है तो ठीक, नहीं तो 'राष्ट्र' (State) का ढाँचा बदल देना होगा। इस विचार-सरणी में व्यक्ति की स्वतंत्रता बनी रहती है, क्योंकि मानव-समाज के 'विशिष्ट-उद्देश्यों' को पूर्ण करने के लिए ही 'राष्ट्र' बना है।

'राष्ट्र' (State) को हम 'समुदाय' (Community) नहीं कह सकते, इसे 'समिति' (Association) ही कहना चाहिए——इसके निम्न कारण हैं:——

(i) दो राष्ट्रों में एक समुदाय रह सकता है, एक समुदाय में दो राष्ट्र नहीं रह सकते——एक 'राष्ट्र' जहाँ समाप्त हो जाता है, दूसरा 'राष्ट्र' वहाँ प्रारम्भ होता है। 'समुदाय' (Community) में ऐसा नहीं होता। दो भिन्न-भिन्न 'राष्ट्रों' (States) में एक ही 'समुदाय' (Community) रह सकता है। जहाँ हिन्दुस्तान समाप्त होता है वहाँ पाकिस्तान शुरू होता है——ये दोनों 'राष्ट्र' (State) हैं, परन्तु हिन्दू और मुसलमान पाकिस्तान में भी रह सकते हैं,

हिन्दुस्तान में भी--ये दोनों 'समुदाय' (Communities) हैं। 'राष्ट्र' (State) में 'समुदाय' (Community) रहता है, 'समुदाय' (Community) में 'राष्ट्र' (State) नहीं रहता।

(ii) समुदाय ने राष्ट्र को बनाया, राष्ट्र ने समुदाय को नहीं--'समुदाय' (Community) पहले था, 'राष्ट्र' (State) पीछे हुआ। 'समुदाय' (Community) ने 'राष्ट्र' (State) को बनाया। लोग पहले एक जगह पर इकट्ठे रहते थे, उनमें एकात्मता की भावना थी--परन्तु राजनैतिकता अभी उनमें उत्पन्न नहीं हुई थी। जब 'समुदाय' (Community) में राजनैतिक-भावना का उदय हुआ--यह अधिकार इसका, यह मेरा--इन अधिकारों पर जो आघात पहुँचायेगा उसे दण्ड मिलेगा--दण्ड देने का अधिकार किसके पास होगा--इन विचारों का जब जन्म हुआ, तब 'राष्ट्र' (State) की भावना जगी, इसलिए 'राष्ट्र' (State) को 'समुदाय' (Community) नहीं कहा जा सकता, इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'समुदाय' ने अपने राजनैतिक-हितों की रक्षा के लिये 'राष्ट्र' को बनाया।

अगर 'राष्ट्र' (State) 'समुदाय' (Community) नहीं, तो क्या है ? इसका उत्तर यही है कि 'राष्ट्र' एक प्रकार की 'राजनैतिक-समिति' (Political association) का नाम है। जैसे अन्य 'समितियाँ' (Associations) किन्हीं विशेष-विशेष उद्देश्यों, हितों, स्वार्थों के लिए बनायी जाती हैं, वैसे 'राष्ट्र' (State) भी एक विशेष, 'निश्चित-उद्देश्य' (Particular interest) के लिए बनाया जाता है--इसीलिए यह 'समिति' (Association) है, 'समुदाय' (Community) नहीं।

'राष्ट्र' एक 'समिति' (ASSOCIATION) है, परन्तु अन्य 'समितियों' (ASSOCIATIONS) से भिन्न है

हमने अभी देखा कि 'राष्ट्र' को हम 'समुदाय' (Community) नहीं कह सकते, 'समिति' (Association) कह सकते हैं। 'राष्ट्र' अन्य 'समितियों' के समान ही एक 'समिति' (Association) है--क्योंकि यह एक ख़ास उद्देश्य से बनायी जाती है--परन्तु फिर भी अन्य समितियों से इसमें कुछ भिन्नता है। वह भिन्नता निम्न है :--

(क) राष्ट्र ही मृत्यु-दण्ड दे सकता है--'राष्ट्र' ही एक ऐसी 'समिति' (Association) है, जो राष्ट्र के किसी व्यक्ति को जेलखाने में डाल सकती है, देश-निकाला दे सकती है, मृत्यु-दण्ड तक दे सकती है। दूसरी समितियाँ छोटा-मोटा दण्ड दे सकती हैं, जुर्माना कर सकती हैं, सदस्यता से हटा सकती हैं, परन्तु मृत्यु-जैसा भारी दण्ड नहीं दे सकतीं।

(ख) राष्ट्र से कोई अलग नहीं हो सकता--अन्य 'समितियों' (Associations) के सदस्य सदस्यता से त्याग-पत्र देकर उनसे अलग हो सकते हैं, परन्तु

'राष्ट्र' एक ऐसी 'समिति' (Association) है, जिससे कोई त्याग-पत्र देकर अलग नहीं हो सकता।

(ग) राष्ट्र व्यापक है--जितनी व्यापकता 'राष्ट्र' में है, वह अन्य 'समितियों' (Associations) में नहीं है। इसका काम एक खास प्रकार की व्यवस्था को अपनी दण्ड-नीति से कायम रखना है। यह स्वयं एक 'समिति' है, परन्तु 'राष्ट्र' की अन्य समितियों के लिए भी विधि-विधान बना सकती है।

४. संस्थाएं (Institutions)

'संस्था'-शब्द का क्या अर्थ है ?

हमने पहले कहा था कि मानव-समाज के कुछ 'समान-हित' (Common interests) होते हैं, और कुछ 'विशेष-हित' (Particular interests) होते हैं। 'समान-हितों' को दृष्टि में रखकर जो संगठन बनते हैं, वे 'समुदाय' (Community) कहलाते हैं, 'विशेष-हितों' को दृष्टि में रखकर जो संगठन बनते हैं, वे 'समिति' (Association) कहलाते हैं। परन्तु इन हितों, इन स्वार्थों, इन उद्देश्यों को पाने के लिए, इन्हें कागज पर ही न रखकर क्रिया में उतारने के लिए, इन्हें मूर्त्त-रूप देने के लिए कुछ साधनों का आश्रय लिया जाता है, कुछ तरीके, कुछ प्रणालियाँ, कुछ रास्ते निकाले जाते हैं। विशेष-विशेष हितों को पूर्ण करने के ये तरीके, ये साधन, ये प्रणालियाँ ही 'संस्था' (Institution) कहलाती ह। उदाहरणार्थ, 'परिवार' का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति, प्रजा-पालन आदि है--यह 'परिवार' का 'हित' (Interest) है। 'परिवार' एक 'समिति' (Association) है। अपने 'हित' को 'परिवार' कैसे पूर्ण करे, इसका क्या साधन है ? इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए 'विवाह', 'घर' आदि साधन बनाये गए हैं। 'परिवार' को 'समिति' (Association) कहा जायगा, तो 'परिवार' के उद्देश्य को पूर्ण करने वाले साधन--'विवाह'-'घर' आदि को 'संस्था' (Institution) कहा जायगा। 'राष्ट्र' (State) एक 'समिति' (Association) है। इसका उद्देश्य है--प्रजा का सुशासन हो, सब को अपनी उन्नति का समान अवसर मिले, कोई किसी के अधिकार को दबा न सके। इस उद्देश्य को पूर्ण करने के क्या साधन हैं ? एक साधन तो यह है कि सब अपना-अपना मत दें, और जिसको समझें कि वह उनके हितों की सब से अधिक रक्षा कर सकता है उसके हाथ में शासन-सूत्र दे दें--यह चुनाव-प्रणाली है। राष्ट्र को 'समिति' (Association) कह सकते हैं, तो चुनाव-प्रणाली को 'संस्था' (Institution) कह सकते हैं। इसी प्रकार 'राष्ट्र' द्वारा संसद्, परिषद्, विधान, विधान-सभा--इन सब का निर्माण होता है। ये सब राष्ट्र के साधन हैं, इसलिए 'संस्थाएँ' (Institutions) हैं।

'संस्था'-शब्द की परिभाषाएँ

भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'संस्था' (Institution) की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं :--

[क] कूले की व्याख्या—"किसी निरन्तर बनी रहने वाली आवश्यकता या इच्छा की पूर्ति के लिए, जब सामूहिक-व्यवहार के रूप में, कोई व्यवस्थित संगठन सामाजिक-विरासत में चल पड़ता है, तब उसे 'संस्था' (Institution) कहते हैं।"

[ख] समनेर की व्याख्या—"संस्था में दो बातें होती ह—विचार तथा विचार को क्रियात्मक रूप देने वाला ढाँचा।"

'संस्था' के मुख्य-तत्त्व क्या हैं ?

(क) विशेष-हित—'संस्था' मानव-समाज के 'सामान्य-हित' को नहीं, अपितु किसी 'विशेष-हित' को सम्मुख रख कर बनाई जाती है।

(ख) संस्था बनाई जाती है—'संस्था' अपने-आप नहीं बन जाती, इसको सोच-समझ कर, विचारपूर्वक 'विशेष-हित' को क्रिया में परिणत करने के लिए बनाया जाता है।

(ग) ढाँचा—'संस्था' के निर्माण में कोई-न-कोई विचार तो आधार में बैठे काम कर ही रहे होते हैं, परन्तु उन विचारों को क्रियात्मक जामा पहनाने के लिए संस्था का कोई-न-कोई ढाँचा भी बनाना पड़ता है। विचार तथा विचार का ढाँचा मिलकर संस्था बनती है।

(घ) समूह की इच्छा-पूर्ति—'संस्था' का निर्माण किसी एक-आध व्यक्ति की इच्छा या उद्देश्य को पूरा करने के लिए नहीं होता, 'संस्था' का निर्माण मानव-समूह की, एक नहीं अनेक मनुष्यों की इच्छाओं या उद्देश्यों को पूरा करने के लिए होता है।

(ङ) दीर्घकाल के परीक्षण के बाद स्थायीपन—समाज में कोई भी संगठन तब तक स्थिर तौर पर 'संस्था' का रूप नहीं धारण कर सकता जब तक पर्याप्त समय तक मानव-समाज उसका परीक्षण करके उसे अपना नहीं लेता। 'परिवार' तथा 'राष्ट्र' को हम 'समिति' कह आये हैं। 'परिवार' एक 'समिति' है, इसने अपने 'विशेष-हितों' को पूरा करने के लिए 'विवाह', 'घर' आदि 'संस्थाओं' को जन्म दिया है; 'राष्ट्र' एक 'समिति' है, इसने अपने 'विशेष-हितों' को पूरा करने के लिए 'परिषद्', 'मतदान' आदि 'संस्थाओं' को जन्म दिया है। परन्तु इन 'संस्थाओं' को जन्म देने के बाद इन्हें अपनाने में मानव-समाज ने इनके सम्बन्ध में सदियों तक परीक्षण किया है और उस परीक्षण में क्योंकि ये 'संस्थाएँ' सफल सिद्ध

[क] "An institution is a complex integrated organisation of collective behaviour established in the social heritage and meeting some persistent need or want."—*Cooley*.

[ख] "An institution consists of a concept (idea, notion, doctrine or interest) and a structure."—*Sumner*.

हुई हैं इसलिए मनुष्य ने इन 'संस्थाओं' को अपना लिया है, जब ये असफल सिद्ध होंगी तब इन्हें त्याग दिया जायगा।

'संस्था' तथा 'समिति' में भेद
(DIFFERENCE BETWEEN INSTITUTION AND ASSOCIATION)

(१) समिति संस्था का निर्माण करती है—'समिति' का निर्माण किसी खास उद्देश्य को, किसी 'विशेष-हित' (Particular interest) को सामने रख कर होता है। वह 'समिति' (Association) ही अपने उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए किसी 'संस्था' (Institution) का निर्माण करती है।

(२) परिवार, राष्ट्र आदि समितियाँ हैं, घर-विवाह-संसद् आदि संस्थाएं हैं—'परिवार' को 'समिति' (Association) कह सकते हैं; 'परिवार' के 'हितों' (Interests) को पूरा करने के लिए 'विवाह'-'घर' आदि को 'संस्थाएँ' (Institutions) कह सकते हैं। 'राष्ट्र' एक 'समिति' (Association) है, उसके 'हितों' (Interests) को पूरा करने के लिए विधान-संसद्-परिषद्-लोकसभा आदि बनाये गये हैं, जो 'संस्थाएँ' (Institutions) हैं। 'आर्य-समाज' एक 'समिति' (Association) है, उसके उद्देश्यों को पूरा करने के लिए सन्ध्या-हवन-साप्ताहिक सत्संग आदि 'संस्थाएँ' (Institutions) हैं।

(३) समिति संगठन का और संस्था संगठन की कार्य-प्रणाली के रूप का नाम है—'समिति' (Association) एक 'संगठित-समूह' (Organised group) को कहते हैं, 'संस्था' (Institution) उस 'संगठित-समूह' की अपने हितों को पूर्ण करने की 'कार्य-प्रणाली के रूप' (Form of procedure) को कहते हैं। 'परिवार' एक 'संगठित-समूह' है, परन्तु 'विवाह' इस 'संगठित-समूह' के उद्देश्य को पूर्ण करने की जो 'कार्य'-प्रणाली—तरीका—(Procedure) है, उसका एक 'रूप' (Form) है।

'संस्था' के मध्यवर्ती उदाहरण (BORDER-LINE CASES)

कई उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिनमें यह निश्चय करना पड़ता है कि उस शब्द को हम 'समिति' (Association) के अर्थ में प्रयुक्त कर रहे हैं, या 'संस्था' (Institution) के अर्थ में? उदाहरणार्थ, जब हम 'अस्पताल'-'यूनिवर्सिटी'-'पार्लियामेंट' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, तब उनसे हमारा अभिप्राय 'समिति' (Association) होता है, या 'संस्था' (Institution)? अगर हम ध्यान दे देखें, तो ज्ञात होगा कि कभी हम इन शब्दों का 'समिति' के अर्थ में प्रयोग करते हैं, कभी 'संस्था' के अर्थ में। 'अस्पताल'-शब्द का प्रयोग हम डॉक्टरों, नर्सों तथा अन्य सेवकों के सम्बन्ध में कर सकते हैं—वे सब लोग जो 'रोगी-परिचर्या' के 'विशेष-हित' को सम्मुख रखकर एकत्रित हुए हैं। इस रूप में यह शब्द 'समिति' (Association) के अर्थ में प्रयुक्त होगा। परन्तु इस शब्द का प्रयोग हम उस इमारत के लिए भी कर सकते हैं जिसमें रोगी रखे जाते हैं,

डाक्टरों की उस श्रेणी के लिए भी कर सकते हैं जो रोगियों की सेवा के लिए तैयार की जाती है। इस रूप में यह शब्द 'संस्था' (Institution) के अर्थ में प्रयुक्त होगा। 'यूनिवर्सिटी'-शब्द का प्रयोग भी दोनों रूपों में हो सकता है। एक तो चान्सलर, वायस-चान्सलर, प्रोफ़ेसर आदि की श्रेणी है जिसका काम विद्या-दान है। इस अर्थ में 'यूनिवर्सिटी'-शब्द का प्रयोग एक 'समिति' (Association) के अर्थ में है। परन्तु 'यूनिवर्सिटी' उस इमारत को भी कहते हैं जहाँ विद्यार्थी लोग आकर पढ़ते हैं, परीक्षा-प्रणाली, डिग्री आदि देना सब यूनिवर्सिटी करती है। इस अर्थ में यह शब्द एक 'संस्था' (Institution) के लिए प्रयुक्त हो रहा है। इसी प्रकार 'पार्लियामेंट'-शब्द का जब एक 'संगठन-विशेष' (Organised group) के अर्थ में प्रयोग होगा, तब यह 'समिति' (Association) होगी, जब उस 'प्रणाली' (Form of procedure) के अर्थ में प्रयोग होगा, जो प्रणाली उस 'संगठन-विशेष' के हितों को क्रिया में परिणत कर रही है, तब यह 'संस्था' (Institution) कहलायगी।

संस्था' (INSTITUTION) के निर्माण में 'समिति' (ASSOCIATION) तथा 'समुदाय' (COMMUNITY) का संबंध

यह हमने देखा कि 'समिति' (Association) अपने हितों को पूरा करने के लिए 'संस्थाओं' (Institutions) का निर्माण करती है, परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि 'समुदाय' (Community) द्वारा 'संस्थाओं' (Institutions) का निर्माण नहीं होता। 'समिति' तथा 'समुदाय' दोनों ही संस्थाओं का निर्माण करते रहते हैं। उदाहरणार्थ, बड़े-बड़े त्यौहार किसने चलाये? वसन्त-पञ्चमी, होली, दसहरा, दिवाली——ये सब 'समुदायों' (Communities) द्वारा चलाये हुए त्यौहार हैं। ये त्यौहार 'संस्था' (Institutions) ही तो हैं। 'समुदाय' (Community) तथा 'समिति' (Association) की निर्माण की हुई 'संस्थाओं' (Institutions) में एक भेद होता है। वह भेद यह है कि 'समुदाय' (Community) जिन 'संस्थाओं' (Institutions) को चलाते हैं, वे आप-से-आप चलते हैं, आश्चर्य होता है कि ये कैसे इतना विशाल रूप धारण किये हुए हैं। कुम्भ के मेले को किसने नहीं देखा? यह 'समुदाय' (Community) का एक पर्व है। लाखों आदमी बिना बुलाये इकट्ठे हो जाते हैं। 'समिति' (Association) की 'संस्थाएँ' (Institutions) आप-से-आप नहीं खड़ी होतीं, उन्हें खड़ा करना पड़ता है——परन्तु धीरे-धीरे देरतक चलते रहने पर अगर उनमें अपनी कुछ जान होती है, तो वे भी खड़ी हो जाती हैं।

'समिति' (ASSOCIATION) 'संस्था' (INSTITUTION) तथा 'विशेष-हित' (SPECIAL INTERESTS) का संबंध

'समिति' अपने 'विशेष-हितों' को सामने रखकर 'संस्थाओं' का निर्माण करती है। कौन-सी 'समिति' किस 'विशेष-हित' को लेकर चलती है——इस बात को चित्र रूप में निम्न तौर पर प्रकट किया जा सकता है :——

'समिति' (Association)	'संस्था' (Institution)	'विशेष-हित' या 'विशेष-प्रयोजन' जिसके लिए 'संस्था' बनाई गई (Special Interests or purposes)
१. परिवार	विवाह, घर, जायदाद, विरासत आदि	सन्तानोत्पत्ति, पितृ-भावना, गृह-निर्माण
२. यूनिवर्सिटी	प्रोफ़ेसरों के व्याख्यान, परीक्षा-पद्धति, डिग्री आदि	विद्याध्ययन, आजीविका का प्रश्न हल करना आदि
३. व्यापार	हिसाब-किताब, बही-खाता, कम्पनी आदि	द्रव्य-लाभ, पैसा पैदा करना
४. ट्रेड-यूनियन	स्ट्राइक, पिकेटिंग आदि	वेतन-वृद्धि, मजदूरों की स्थिति सुधार
५. राजनैतिक दल	राजनैतिक दल का विधान, पार्टी से निकाल देना, पार्टी के नेता आदि	हुकूमत, देश का शासन अपनी पॉलिसी के अनुसार चलाना आदि
६. राष्ट्र	विधान, भिन्न-भिन्न शासन-प्रणालियाँ	शासन में व्यवस्था रखना, अव्यवस्था न होने देना आदि

'संस्था' (INSTITUTION) की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता

'समिति' द्वारा 'संस्था' किसी 'विशेष-हित', किसी 'विशेष-प्रयोजन' के लिए बनायी जाती है। 'संस्थाओं' का इन हितों को पूरा करने में विशेष प्रभाव पड़ता है। यूनिवर्सिटी का 'विशेष-प्रयोजन' विद्या देना है, और यूनिवर्सिटी में रहकर विद्या पढ़ने से वहाँ के वातावरण का विद्यार्थी पर अच्छा प्रभाव भी पड़ता है। जो लड़के यूनिवर्सिटी में नहीं रहते, उनमें और घर पर रहकर पढ़ने वाले लड़कों में अन्तर पड़ जाता है। 'संस्थाओं' का प्रभाव बड़ा प्रबल होता है। महात्मा गांधी के आश्रम में और डा० मुंजे के नासिक के सैनिक-विद्यालय में पढ़े हुए विद्यार्थियों में कितना बड़ा अन्तर पाया जाता है? एक अहिंसा को जीवन का आधार बनाता है, तो दूसरा किसी प्रकार भी किसी से न दबना अपना लक्ष्य बनाता है। कैसर के समय जर्मनी में जो युवक तैयार होते थे, वे समझते थे कि उन्होंने संसार में शासन करना है––वे विश्व-युद्ध के सपने लेने के बग़ैर रह ही नहीं सकते थे। इन लोगों में आधार-भूत कोई भेद है क्या? सभी एक-से मनुष्य हैं, परन्तु अपने-अपने देश की 'संस्थाएँ' उन्हें एक-दूसरे से इतना भिन्न बना देती हैं।

परन्तु एक समय आता है जब 'संस्था' (Institution) उस लक्ष्य को खो बैठती है जिसके लिए इसकी स्थापना हुई थी। 'संस्था' तभी तक उपयोगी है, जब तक वह लक्ष्य को पूरा करती रहे, जहाँ वह लक्ष्य से हटी, वहीं, या तो लक्ष्य को पुनरुज्जीवित करने से उसकी उपयोगिता बनी रह सकती है, या 'संस्था'

को खत्म कर देना आवश्यक हो जाता है। महात्मा गांधी ने अपने आश्रम को बनाया, परन्तु उसकी उपयोगिता न देखकर उन्होंने उसे समाप्त कर दिया। महा-पुरुष ऐसा ही करते हैं। दूसरे लोग 'संस्था' की उपयोगिता न रहने पर भी, यह देखकर भी कि 'संस्था' जिस प्रयोजन के लिए बनाई गई थी उसे पूरा नहीं कर रही, उस मरी 'संस्था' से भी चिपटे रहते हैं। वे इसलिए 'संस्था' से चिपटे रहते हैं क्योंकि उससे उनका कोई निजी स्वार्थ सिद्ध होता है, उनकी अपनी प्रतिष्ठा बढ़ती मालूम पड़ती है, उन्हें 'संस्था' से कुछ रुपया-पैसा मिलता है--नहीं तो वे भी जानते हैं कि 'संस्था' की अब उपयोगिता नहीं रही।

समाज के कर्ण-धारों का कर्त्तव्य है कि जिन 'संस्थाओं' का वे निर्माण करें, उनके सम्बन्ध में समय-समय पर पड़ताल करते रहें--यह देखते रहें कि जिन 'विशिष्ट-उद्देश्यों' के लिए ये बनायी गई थीं, उन्हें ये पूरा कर रही हैं या नहीं। अगर नहीं कर रहीं, तो जिन कारणों से वे अपने उद्देश्य से विचलित हो गई हों उन्हें दूर करना चाहिए, अगर तब भी 'संस्था' में सुधार होता न दीख पड़े, तो उसे समाप्त कर देना चाहिए, और किसी नवीन 'संस्था' का निर्माण करना चाहिए। ऐसा करें तो अच्छा है, नहीं तो समाज में यह प्रक्रिया अपने-आप भी होती रहती है।

समाज, समुदाय, समिति, संस्था का पारस्परिक भेद

हमने ऊपर 'समाज' (Society), 'समुदाय' (Community), 'समिति' (Association) तथा 'संस्था' (Institution)--इन चार का वर्णन किया। इन चारों को ठीक-ठीक समझने के लिए इनके पारस्परिक भेद को भी हमने स्पष्ट किया। इनके भेद को समझने के लिए इनके निम्न छः भेदों को समझना चाहिए :--

१. समाज तथा समुदाय में भेद (Difference between Society and Community)
२. समाज तथा समिति में भेद (Difference between Society and Association)
३. समाज तथा संस्था में भेद (Difference between Society and Institution)
४. समुदाय तथा समिति में भेद (Difference between Community and Association)
५. समुदाय तथा संस्था में भेद (Difference between Community and Institution)
६. समिति तथा संस्था में भेद (Difference between Association and Institution)

इन भेदों को हम यथा-स्थान दर्शा आये हैं, फिर भी इन्हें निम्न प्रकार और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है :

समाज तथा समुदाय में भेद

समाज (Society)	समुदाय (Community)
(क) समाज के अंगों के हित भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।	(क) समुदाय के अंगों के हित एक ही होते हैं, भिन्न नहीं हो सकते।
(ख) समाज का भू-भाग निश्चित होना आवश्यक नहीं।	(ख) समुदाय का भू-भाग निश्चित होता है।
(ग) यह अमूर्त्त है।	(ग) यह मूर्त्त है।

समाज तथा समिति में भेद

समाज (Society)	समिति (Association)
(क) समाज मनुष्यों के सम्बन्धों का परिणाम है इसलिए अमूर्त्त है।	(क) समिति मनुष्यों के किन्हीं उद्देश्यों का परिणाम है इसलिए उद्देश्य पूरा करने के लिए यह मूर्त्त है।
(ख) समाज का स्वतः विकास होता है।	(ख) समिति का विकास किया जाता है।
(ग) समाज के बिना मनुष्य नहीं रह सकता।	(ग) समिति के बिना वह रह सकता है।
(घ) समाज स्थिर वस्तु है।	(घ) समिति अस्थिर वस्तु है।

समाज तथा संस्था में समानता तथा भिन्नता

समाज (Society)	संस्था (Institution)
समानता	
(क) समाज अमूर्त्त है।	(क) संस्था भी अमूर्त्त है।
(ख) समाज का स्वतः विकास होता है	(ख) संस्था का भी स्वतः विकास होता है।
(ग) यह स्थिर वस्तु है।	(ग) संस्था भी अपेक्षाकृत स्थिर ही है।
भिन्नता	
(क) यह सामाजिक-सम्बन्धों से बनता है, इसे बनाया नहीं जाता।	(क) यह विशेष-हितों को लक्ष्य में रखकर उनकी पूर्त्ति के लिए बनायी जाती है।
(ख) यह सामाजिक-सम्बन्धों का योग है।	(ख) यह विशेष-हितों, स्वार्थों, नियमों, व्यवस्थाओं का योग है।

समुदाय तथा समिति में समानता तथा भिन्नता

समुदाय (Community)	समिति (Association)
समानता	
(क) समुदाय में मनुष्यों का समूह होता है।	(क) इसमें भी मनुष्यों का समूह होता है।

(ख) समुदाय मूर्त्त है।	(ख) समिति भी मूर्त्त है।
(ग) इसमें सहयोग तथा संगठन जरूरी है।	(ग) समिति में भी सहयोग, तथा संगठन जरूरी है।

भिन्नता

(क) इसमें समान-हित से लोग इकट्ठे होते हैं।	(क) इसमें विशेष-हित से लोग इकट्ठे होते हैं।
(ख) समुदाय को हम छोड़ नहीं सकते।	(ख) समिति को हम छोड़ सकते हैं।
(ग) समुदाय के भीतर समुदाय हो सकते हैं।	(ग) समिति के भीतर समिति नहीं होती।
(घ) समुदाय की कानूनी सत्ता नहीं है।	(घ) समिति की कानूनी सत्ता हो जाती है।
(ङ) इसका विकास होता है।	(ङ) इसका निर्माण होता है।
(च) इसमें व्यक्ति पैदा होता है।	(च) इसका किसी विशेष-उद्देश्य से वह सदस्य बनता है।
(छ) इसकी सदस्यता अनिवार्य है।	(छ) इसकी सदस्यता अपनी इच्छा पर है।
(ज) यह स्थायी संगठन है।	(ज) यह अस्थायी संगठन है।
(झ) समुदाय समिति से अपने कार्य कराता है।	(झ) समिति समुदाय का काम करती है।

समुदाय तथा संस्था में भेद

समुदाय (Community)	संस्था (Institution)
(क) समुदाय संस्था का निर्माण करता है।	(क) संस्था समुदाय का निर्माण नहीं करती।
(ख) समुदाय के भीतर अनेक संस्थाएँ हो सकती हैं।	(ख) संस्था के भीतर समुदाय नहीं हो सकते।
(ग) समुदाय बड़ा है।	(ग) संस्था छोटी है।

समिति तथा संस्था में समानता तथा भिन्नता

समिति (Association)	संस्था (Institution)
समानता	
(क) इसका निर्माण किया जाता है।	(क) संस्था का भी निर्माण किया जाता है।
(ख) विशेष-हितों के लिये इसका निर्माण करते हैं।	(ख) इसका निर्माण भी विशेष-हितों के लिये किया जाता है।

भिन्नता

(क) समिति अपने हितों को पूर्ण करने के लिए संस्था का निर्माण करती है।	(क) संस्था समिति का निर्माण नहीं करती।
(ख) समिति एक संगठित-समूह का नाम है।	(ख) संस्था उस संगठित-समूह के अपने हितों को पूर्ण करने के साधन का नाम है।
(ग) समिति संस्था की अपेक्षा कम स्थायी है।	(ग) संस्था समिति की अपेक्षा अधिक स्थायी है।

ऊपर हमने 'समाज', 'समुदाय', 'समिति' तथा 'संस्था'--इन पारिभाषिक शब्दों का अध्ययन किया। ये सब किसी-न-किसी प्रकार के 'सामाजिक-सम्बन्ध' हैं। इन्हीं सम्बन्धों से 'समाज' टिका हुआ रहता है। इन सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए कुछ सामाजिक-नियन्त्रणों की आवश्यकता है। ये नियन्त्रण क्या हैं? ये हैं--'प्रथा' (Custom), 'जन-रीतियाँ' (Folkways), 'रूढ़ियाँ' (Mores) तथा 'निषिद्ध-व्यवहार' (Taboos)। अब हम इनका अध्ययन करेंगे।

५. प्रथा (Custom)

जब कोई 'व्यक्ति' किसी काम को बार-बार करता है, तब उस व्यक्ति को उस काम की 'आदत' (Habit) पड़ जाती है।

जब कोई 'समाज' किसी काम को बार-बार करता है, तब उस काम को समाज की 'आदत' न कहकर 'प्रचलन' (Usage) कहते हैं।

जब कोई 'समाज' किसी काम को बार-बार करता है, और उसे करना उचित समझता है, उसे न करना अनुचित समझता है, तब उसे 'आदत' या 'प्रचलन' न कहकर 'प्रथा' (Custom) कहते हैं।

परिवार हमारे समाज में एक 'समिति' है। इसका विशेष-प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति, पितृ-भावना, गृह-निर्माण आदि है जिसके लिए विवाह, घर, जायदाद आदि 'संस्थाएँ' बनी हुई हैं। विवाह के सम्बन्ध को टिकाऊ बनाने के लिए, इस पर नियन्त्रण रखने के लिए कई 'प्रथाएँ' बनी हुई हैं। उदाहरणार्थ, जब विवाह होता है तब 'मिलनी' की एक 'प्रथा' है, किसी समाज में यह हो सकती है, किसी समाज में नहीं भी हो सकती। इस 'प्रथा' के रूप भी हर बिरादरी में भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि विवाह 'प्रथा' न होकर 'संस्था' है, और मिलनी 'संस्था' न होकर 'प्रथा' है। 'प्रथा' का काम 'संस्था' को सुदृढ़ करना है, 'प्रथा' के ईंट-गारे से 'संस्था' के भवन की नींव मजबूत बनाई जाती है।

'समिति' (Association) तथा 'संस्था' (Institution) के नियमों का पालन करने के लिए 'प्रथा' का बड़ा महत्त्व है। समाज का जो सालों से चलन रहा है, छोटों का बड़ों के साथ सामना हो जाने में, पढ़ने-लिखने में, विवाह-शादी

में, वह सब चलन 'प्रथा' कहलाता है। 'प्रथा' (Custom) तथा 'कानून' (Law) में फ़रक है। 'प्रथा' की बात हमारी रग-रग में घुसी होती है, वह मानो हमारा अपना आपा होती है, 'कानून' की बात दण्ड के भय से मानी जाती है। जब 'कानून' भी लोगों की रग-रग में घुस जाय, तब वह भी 'प्रथा' का रूप धारण कर लेता है। आदि-समाज में 'कानून' तो था नहीं, 'कानून' की जगह 'प्रथा' उस समाज का शासन करती थी। वर्त्तमान समाज में धीरे-धीरे 'प्रथा' का स्थान कानून लेता जा रहा है। हम इस पुस्तक के अगले एक अध्याय में 'प्रथा तथा कानून' पर विशेष प्रकाश डालेंगे।

६. जन-रीतियाँ (Folkways)

समनेर (W. G. Sumner) ने 'प्रथा' को दो भागों में बाँटा है :—'जन-रीतियाँ' (Folkways) तथा 'रूढ़ियाँ' (Mores)। 'जन-रीतियों' की मैक आइवर[1] ने व्याख्या करते हुए लिखा है कि "जन-रीतियाँ समाज के व्यवहार के वे ढंग हैं जिन्हें समाज ने स्वीकृत किया हुआ है।" ग्रीन[2] ने 'जन-रीतियों' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "कार्य करने की वे सब रीतियाँ जो एक समाज या समूह में समान रूप से पायी जाती हैं, जो एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को देती है, जन-रीतियाँ कहलाती हैं।" 'जन-रीतियाँ' हर समाज की अपनी-अपनी होती हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दू चौके में बैठकर खायगा, ईसाई मेज़-कुर्सी पर खायगा; भारत में धोती-कुर्त्ता पहना जायगा, युरोप में कोट-पैंट पहनी जायगी। खाने-पीने का ढंग, कपड़े पहनने का तरीका—ये सब 'जन-रीतियाँ' हैं और अपने-अपने समाज के जीवन को नियन्त्रित करती रहती हैं।

'जन-रीतियों' की उत्पत्ति दो तरह से हो सकती है। या तो कोई रीति किसी समाज में बाहर से, किसी दूसरे समाज से ली जाती है, या समाज का कोई सदस्य काम करने के किसी नये ढंग को अपनी सूझ-बूझ से निकाल लेता है, उसका आविष्कार करता है, और अगर वह ढंग लोगों को पसन्द आ जाता है, तो वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चल पड़ता है किन्तु यह किसी को पता नहीं होता कि वह कब चला, किसने चलाया। 'जन-रीतियों' की निम्न विशेषताएँ हैं :—

(क) 'जन-रीति' अपने समाज के व्यक्तियों को यह बतलाती है कि किसी विशेष परिस्थिति में किस प्रकार बरतना चाहिए।

(ख) यद्यपि हर देश की, हर समाज की 'जन-रीतियाँ' पृथक्-पृथक् होती हैं, तथापि हर देश तथा समाज में 'जन-रीति' का काम समाज के व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करना है।

---

1. "The folkways are the recognised or accepted ways of behaving in society."—*MacIver*.

2. "Those ways of acting that are common to a society or group and are handed down from one generation to the next are known as folkways."—*Green*.

(ग) 'जन-रीतियों' में 'स्थिरता' का तत्त्व रहता है, परन्तु 'जन-रीतियाँ' क्योंकि अपने समय की आवश्यकताओं की उपज होती हैं इसलिए आवश्यकता बदल जाने पर 'जन-रीतियाँ' बदलती भी रहती हैं, इसलिए इनमें 'अस्थिरता' का तत्त्व भी आता रहता है। कभी स्त्रियाँ सिर पर चादर ओढ़ती थीं, अब साड़ी पहनने लगी हैं, पहली रीति बदलती जा रही है।

७. रूढ़ियाँ (Mores)

जिन 'जन-रीतियों' के साथ निश्चित रूप से यह विचार जुड़ जाय कि ये समाज के लिए हितकर हैं, लाभकारी हैं, कल्याण करने वाली हैं, इनके अनुसार न चलना समाज के लिए अहितकर है, ऐसी जन-रीतियाँ ही 'रूढ़ियाँ' कहलाती हैं। हम लिख आये हैं कि समनेर (Sumner) ने 'प्रथा' को दो भागों में बाँटा है--'जन-रीतियाँ' तथा 'रूढ़ियाँ'। समनेर का कथन है कि रूढ़ियाँ ऐसी लोकप्रिय रीतियाँ, रिवाज या परम्पराएँ हैं जिनके साथ जनता का यह निर्णय जुड़ा रहता है कि वे समाज-कल्याण में सहायक हैं। व्यक्ति इन रीतियों के अनुसार चलता है, परन्तु उसे अपने आचरण को इन रीतियों के अनुसार चलाने में कोई बाह्य-शक्ति बाधित नहीं करती। मैक आइवर[1] ने 'रूढ़ियों' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "जब लोक-रीतियों के साथ समूह के कल्याण का, यह बात सही है और यह बात ग़लत है--यह विचार जुड़ जाता है तब लोक-रीति ही रूढ़ि बन जाती है।" ग्रीन[2] ने 'रूढ़ियों' की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "रूढ़ि लोक-रीति की अपेक्षा अधिक निश्चित, अधिक ठीक और अधिक उचित समझी जाती है। लोक-रीति का भंग करने पर समाज दण्ड नहीं देता, परन्तु रूढ़ि का भंग करने पर समाज व्यक्ति को दण्ड देता है, रूढ़ि का भंग निश्चित रूप से अनुचित समझा जाता है।" किस प्रकार का पल्ला लेना चाहिए--यह जन-रीति है, परन्तु विधवा को सिर मुँडाना चाहिए--यह हिन्दुओं में रूढ़ि है।

रूढ़ियों के साथ दो प्रकार के विचार जुड़े रहते हैं--'विधि' (Positive) तथा 'निषेध' (Negative)--ऐसा करना चाहिए या ऐसा नहीं करना चाहिए। 'ऐसा करना चाहिए'--यह विचार जिन रूढ़ियों के साथ जुड़ जाता है उन्हें हम 'सदाचार' (Morals) कहते हैं; 'ऐसा नहीं करना चाहिए'--यह विचार जिन रूढ़ियों के साथ जुड़ जाता है उन्हें हम 'निषिद्ध-व्यवहार' (Taboos) कहते हैं। उदाहरणार्थ, पर-स्त्री को माता के समान समझना चाहिए--यह 'सदाचार' है,

---

1. "When the folkways have added to them conceptions of group-welfare, standards of right and wrong, they are converted into mores."—*MacIver*.

2. "Common ways of acting which are more definitely regarded as right and proper than the folkways and which bring greater certainty and severity of punishment if violated are the mores."—*Green*.

प्याज़ नहीं खाना चाहिए---यह 'निषिद्ध-व्यवहार' है। अंकगणित के समीकरण की परिभाषा में रूढ़ि=जन-रीति+उचित होने का विचार+उपयोगिता+समूह की स्वीकृति।

समाज-शास्त्र में अंग्रेज़ी के 'मोर्स' (Mores)-शब्द का प्रयोग करने वाले अमरीकन समाजशास्त्री विलियम ग्राहम समनेर (W. G. Sumner---१८४०-१९१०) थे। इस शब्द का बहु-वचन में ही प्रयोग होता है। 'मोर्स' अर्थात् 'रूढ़ियों' की निम्न-लिखित विशेषताएँ हैं :---

(क) हमारे वैयक्तिक-व्यवहार का बड़ा हिस्सा रूढ़ियों द्वारा प्रभावित होता है---हम अपने निजी व्यवहार में जो-कुछ करते हैं वह समाज में प्रचलित रूढ़ियों के आधार पर करते हैं। हिन्दुओं में विधवा ोने पर स्त्री विवाह नहीं करती, कर ले तो माता-पिता समझते हैं कि उनकी नाक कट गई, आबरू मट्टी में मिल गई। उच्च-वर्गों में माता-पिता कर्ज़ लेकर भी लड़की के विवाह पर वर-पक्ष को दहेज़ देते हैं, न दें तो उन्हें नीची नज़र से देखा जाता है।

(ख) रूढ़ियाँ व्यक्ति को तबाह भी कर दें तब भी वह उन्हें नहीं छोड़ता---रूढ़ियों में इतना बल होता है कि अगर व्यक्ति तबाह भी होता हो तब भी वह इन्हें छोड़ने को तैयार नहीं होता। हिन्दुओं में बाल-विवाह की प्रथा थी, विधवा विवाह का निषेध था। बाल-विवाह के कारण सन्तान कमज़ोर होती थी, परन्तु क्योंकि यह रूढ़ि चली आ रही थी, रूढ़िवादी इसे छोड़ने को अब भी मुश्किल से तैयार होते हैं। विधवा को विवाह न करने देने से गुप्त-व्यभिचार, अवैध-सन्तान आदि अनेक समस्याएँ अपने समाज में मौजूद हैं, परन्तु विधवा-विवाह की कानून द्वारा आज्ञा मिल जाने पर भी लोग रूढ़ि के दास होने के कारण विधवा-विवाह नहीं करते।

(ग) रूढ़ियाँ व्यक्ति को अपने समूह का अंग बना देती हैं---इसमें सन्देह नहीं कि रूढ़ि का काम व्यक्ति पर सामाजिक-चलन का दबाव डालना है, परन्तु समाज के प्रति अपने को इस प्रकार अनुकूल बनाने का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति अपने समूह रूपी शरीर का मानो एक अंग बन जाता है, और समाज का अभिन्न अंग बन जाने के कारण सन्तोषप्रद तथा सुखमय जीवन व्यतीत करता है। अगर वह रूढ़ियों के अनुसार नहीं चलता तो उसका जीवन समाज में संघर्षमय बना रहता है, जहाँ जाता है लोग उस पर अंगुली उठाते हैं।

(घ) रूढ़ियाँ समाज को सुदृढ़ बनाती हैं---समाज में भिन्न-भिन्न जातियों, वर्गों आदि की अपनी-अपनी रूढ़ियाँ होती हैं। जो जाति, समाज या वर्ग अपने को सुदृढ़ बनाने में जितना प्रयत्नशील होता है, उतना ही अपनी रूढ़ियों के पालन पर बल देता है। रूढ़ियाँ किसी भी वर्ग को एक-सूत्र में बाँधने का ज़बर्दस्त साधन हैं। रूढ़ियों के पालन में जितनी शिथिलता होगी, समाज का संगठन उतना ढीला होता जायगा।

(ङ) रूढ़ियों का बल कानून से प्रबल होता है---संस्कृत में एक कहावत है---'शास्त्राद् रूढिः बलीयसी'---अर्थात् शास्त्र की अपेक्षा भी रूढ़ि का बल अधिक

होता है, दूसरे शब्दों में कानून में उतना बल नहीं जितना बल रूढ़ि में पाया जाता है। १८५६ में श्रीयुत ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्न से हिन्दू-समाज में विधवा-विवाह को वैध घोषित कर दिया गया था परन्तु अभी तक रूढ़ि के कारण इस समाज में विधवा-विवाह प्रचलित नहीं हुआ। असल में, रूढ़ि का बल कानून से अधिक है, कभी-कभी किसी प्रबल रूढ़ि को कानून घोषित कर देना पड़ता है और कई कानून रूढ़ि के प्रबल होने के कारण काग़ज़ी-कानून ही बन कर रह जाते हैं।

(च) रूढ़ियाँ अनुचित भी उचित प्रतीत होती हैं और समय के साथ बदलती रहती हैं--अनेक बातें जिन्हें हम अपने समाज में अनुचित कहते हैं दूसरे समाज की रूढ़ि तथा प्रथा के कारण उचित मानी जाती हैं। उदाहरणार्थ, अनेक पतियों से विवाह करना हमारे समाज में अनुचित प्रतीत होता है, परन्तु देहरादून के जौनसार बावर इलाके में यह उचित माना जाता है। एक ही समाज में जो बात एक समय में उचित मानी जाती है, वही बात उसी समाज में दूसरे समय में अनुचित मानी जाने लगती है। उदाहरणार्थ, कभी सती-प्रथा, बाल-विवाह, अस्पृश्यता आदि रूढ़ियाँ हिन्दू-समाज में उचित मानी जाती थीं, आज इन्हें अनुचित माना जाने लगा है। दूसरे शब्दों में, देश तथा काल के भेद से रूढ़ियाँ उचित को अनुचित और अनुचित को उचित बना देती हैं।

८. निषिद्ध-व्यवहार या निषेध (Taboos)

हमने देखा कि जिन 'जन-रीतियों' (Folkways) को समाज अच्छा कह कर चुन लेता है, वे 'रूढ़ि' (Mores) कहलाती हैं। कई ऐसी भी 'जन-रीतियाँ' होती हैं जिन्हें समाज बुरा कह कर छोड़ देता है, उन्हें निषिद्ध अथवा त्याज्य समझता है। ऐसी निषिद्ध 'जन-रीतियों' को 'निषिद्ध-व्यवहार' (Taboo) कहा जाता है। भाई-बहिन की शादी प्रायः सभी जगह एक 'निषिद्ध-व्यवहार' है।

संक्षेप में प्रथा, कानून, जन-रीति, रूढ़ि तथा निषेध का आपसी सम्बन्ध निम्न है :

(क) प्रथा (Custom)--बड़ी-बड़ी बातों का नियन्त्रण करने वाले वे नियम जो समाज में अपने-आप बिना किसी भय से चलते हैं।

(ख) कानून (Law)--बड़ी तथा छोटी बातों का नियन्त्रण करने वाले वे नियम जो समाज में अपने-आप नहीं, परन्तु दण्ड के भय से चलते हैं।

(ग) जन-रीति (Folkways)--छोटी-छोटी बातों का नियन्त्रण करने वाले वे नियम, जो अच्छे हों या बुरे हों, परन्तु चलन के कारण समाज में अपने-आप चले आ रहे हैं।

(घ) रूढ़ि (Mores)--बड़ी तथा छोटी बातों का नियन्त्रण करने वाले वे नियम जिन्हें समाज ने अच्छा समझ कर अपने-आप अपनाया हुआ है ?

(ङ) निषेध (Taboo)--बड़ी तथा छोटी बातों का नियन्त्रण करने वाले वे नियम जिन्हें समाज ने अपने-आप निषिद्ध करार दिया है।

प्रश्न

१. 'समाज'-शब्द का क्या अर्थ है? इसकी व्याख्या कीजिये।
२. 'समाज' में 'समानता' और 'भिन्नता' (Likeness and difference) अन्तर्निहित हैं—इसे स्पष्ट कीजिये।
३. 'समुदाय' (Community) शब्द का क्या अर्थ है? इसके आधारभूत तत्त्व क्या हैं?
४. 'समुदाय' (Community) तथा 'समाज' (Society) में क्या भेद है?
५. आश्रम, विहार, जेल, शरणार्थी—ये क्या 'समुदाय' (Community) हैं, नहीं तो क्या हैं?
६. 'समिति' (Association) तथा 'संस्था' (Institution) के लक्षण करते हुए इनके भेद को स्पष्ट कीजिये और प्रत्येक के दृष्टान्त दीजिये।
७. क्या 'परिवार' तथा 'राष्ट्र' को 'समुदाय' (Community) कहा जा सकता है? नहीं, तो क्यों?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. 'समुदाय' से आप ठीक-ठीक क्या समझते हैं? 'समुदाय' (Community) तथा 'समाज' (Society) में क्या अन्तर है?
—आगरा, १९५३

२. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो:
(क) 'समिति' (Association)—राजपूताना, १९५३
(ख) 'रूढ़ियाँ' (Mores)—राजपूताना, १९५५
(ग) 'लोक-रीतियाँ' (Folkways)—आगरा, १९५१; राजपूताना, १९५७।

३. निम्न में क्या भेद है?
(क) 'समिति' तथा 'संस्था' (Association and Institution);
(ख) 'समिति' तथा 'समुदाय' (Association and Community);
(ग) 'संस्था' तथा 'समुदाय' (Institution and Community)　—आगरा, १९५७।

४. 'हमारा सम्बन्ध समिति से है, संस्था से नहीं'—इसकी व्याख्या कीजिये।—राजपूताना, १९५६; आगरा, १९५७।

२

समाज-शास्त्र का स्वरूप तथा विषय-क्षेत्र

(NATURE AND SCOPE OF SOCIOLOGY)

१. समाज-शास्त्र का स्वरूप
(Nature of Sociology)

समाज-शास्त्र क्या है? 'समाज' और 'शास्त्र'—इन दो शब्दों से 'समाज-शास्त्र'—शब्द बना है। 'समाज' के 'शास्त्र', अर्थात् 'समाज' के 'विज्ञान' को 'समाज-शास्त्र' कहते हैं। परन्तु प्रश्न होता है—'समाज' क्या है, और 'विज्ञान' क्या है?

भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'समाज-शास्त्र' की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं :—

[क] मैक आइवर की व्याख्या—"समाज-शास्त्र का प्रतिपाद्य-विषय 'सामाजिक-सम्बन्ध'—यह है।"

[ख] गिडिंग्स की व्याख्या—"समाज को समग्र रूप से देखने पर उसका शृंखलाबद्ध तथा व्यवस्थित वर्णन समाज-शास्त्र का विषय है।"

[ग] जिन्सबर्ग की व्याख्या—"समाज-शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय मानवीय पारस्परिक क्रियाओं तथा पारस्परिक सम्बन्धों का एवं इन सम्बन्धों के कारणों तथा परिणामों का अध्ययन करना है।"

[घ] दुरखीम की व्याख्या—"मानव-समाज अपने विचारों और अपनी धारणाओं को सामूहिक रूप से किस प्रकार समाज में बनाये रखता है—इस प्रक्रिया का नाम समाज-शास्त्र है।"

[क] "The subject-matter of Sociology is social relationship as such."—*MacIver*.

[ख] "Sociology is the systematic description and explanation of society viewed as a whole."—*Giddings*.

[ग] "Sociology is the study of human inter-actions and inter-relations, their conditions and consequences."—*Ginsberg*.

[घ] "Sociology is the science of collective representation."
—*Durkheim*.

[ङ] सिमल की व्याख्या--"मनुष्यों के पारस्परिक-सम्बन्धों का स्वरूप क्या है--इसका अध्ययन करने वाला विज्ञान समाज-शास्त्र है।"

'समाज' के विषय में हम प्रथम-अध्याय में काफ़ी लिख आये हैं, फिर भी 'समाज-शास्त्र के स्वरूप' के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए फिर से उक्त परिभाषाओं को सम्मुख रखते हुए 'समाज' पर कुछ लिखना आवश्यक जान पड़ता है। 'समाज' क्या है ? 'समाज' की उक्त परिभाषाएँ तभी सार्थक हो सकती हैं जब उसमें निम्न तीन बातें हों :--

'समाज' क्या है ?--उसकी तीन बातें

(क) व्यक्तियों की अनेकता (Plurality of individuals)--एक व्यक्ति से 'समाज' नहीं बनता, 'समाज' बनने के लिए व्यक्तियों की अनेकता आवश्यक है। अनेक व्यक्तियों के होने का अर्थ है--'समूह' (Group) का होना। 'समूह' हो तो 'समाज' बने, 'समूह' न हो, एक ही व्यक्ति हो, तो 'समाज' नहीं बन सकता।

(ख) पारस्परिक-सम्बन्ध (Relationship or Association or Correlation)--'समाज' अनेक व्यक्तियों के मिलने से बनता है, परन्तु अगर उन अनेक व्यक्तियों का आपस का कोई 'सम्बन्ध' न हो, तब भी 'समाज' नहीं बनता, 'समाज' बनाने के लिए जैसे 'अनेकता' आवश्यक है, वैसे उन अनेक व्यक्तियों में कोई-न-कोई 'पारस्परिक-सम्बन्ध' भी आवश्यक है। इस 'सम्बन्ध' का रूप क्या होता है ? यह 'सम्बन्ध' एक प्रकार का 'कार्य-कारण' का 'सम्बन्ध' होता है। माता-पुत्र के 'सम्बन्ध' को लीजिये। यह कैसा 'सम्बन्व' है ? माता आज्ञा देती है, पुत्र आज्ञा का पालन करता है; बच्चा रोता है, माता उसे दूध पिलाती है। माता और पुत्र आपस में जिन सम्बन्धों से बरतते हैं, वे सम्बन्ध कार्य-कारण के नियम से बँधे हुए हैं। ऐसा नहीं होता कि बच्चा रोता रहे, और माँ पत्थर की होकर पास बैठी रहे। अगर ऐसा करती है, तो उसका भी कोई-न-कोई कारण होता है। इसी प्रकार गुरु-शिष्य, लेखक-पाठक, देनेवाला-लेनेवाला, स्वामी-भृत्य, राजा-प्रजा--ये सब 'सम्बन्ध' हैं। इन सम्बन्धों में एक प्रभावित करता है, दूसरा प्रभावित होता है। संसार के सब सम्बन्धों में कर्त्ता-कर्म, प्रभावक-प्रभावित, कारण-कार्य--यह सूत्र पिरोया हुआ है। अगर किसी 'समूह' में अनेक व्यक्ति हों, परन्तु कोई किसी पर किसी प्रकार का प्रभाव न डाल रहा हो, 'समूह' में होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र एक इकाई हो, तो वहाँ 'समाज' नहीं कहा जा सकता।

हमने अभी कहा था कि 'पारस्परिक-सम्बन्ध' जहाँ नहीं होगा, वहाँ 'समाज' भी नहीं होगा। 'पारस्परिक-सम्बन्ध' (Relationship or Associaton)

[ङ] "Sociology is the science of the forms of human inter-relations."—*Simmel.*

को अभी और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। 'पारस्परिक-सम्बन्ध' की इकाई कहाँ है, यह शुरू किस बिन्दु से होता है, कब हम कह सकते हैं कि अब 'सम्बन्ध' आरम्भ हुआ? अगर एक ही व्यक्ति हो, तब तो पारस्परिक-सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता, इसका पहले-पहल प्रश्न तब उठता है, जब एक के स्थान पर दो व्यक्ति हों। एक के स्थान पर दो व्यक्ति हुए नहीं कि 'पारस्परिक-सम्बन्ध' का प्रश्न उठा नहीं। परन्तु सिर्फ़ दो व्यक्ति होने से ही तो 'सम्बन्ध' नहीं पैदा हो जाता। 'सम्बन्ध' तो तब पैदा होता है जब उन दो में से कोई एक प्रभाव डालना शुरू कर दे। किस पर शुरू कर दे? उसी, दूसरे पर। अगर दो होने पर भी कोई किसी पर कोई प्रभाव नहीं डाल रहा, तो वहाँ 'समाज' नहीं होगा। अगर एक के स्थान पर दोनों ने एक-दूसरे पर प्रभाव डालना शुरू कर दिया, तब तो 'सम्बन्ध' और आगे बढ़ गया--'एक' के स्थान पर 'दो' क्रिया-शील हो गए। हम तो यह देख रहे थे कि 'सम्बन्ध' की इकाई क्या है, किस बिन्दु से सम्बन्ध पहले-पहल शुरू होता है। जैसे कोई प्राणि-शास्त्र का विद्यार्थी यह जानना चाहे कि जीवन की पहली इकाई क्या है, वह बिन्दु क्या है जब संसार में पहले-पहल जीवन उत्पन्न हुआ, तो वह जीवन के 'प्रारम्भिक-कोष्ठ' (Cell) तक पहुँच जाता है, इसी प्रकार हम यह जानना चाहते हैं कि वह बिन्दु क्या है जहाँ हम यह कह सकें कि अब 'समाज' शुरू हुआ। इसका उत्तर यही है कि जब एक से दो होंगे, और उन दो में से किसी भी एक में दूसरे के प्रति कोई 'ज्ञान', कोई 'प्रतीति' (Awareness), कोई 'सम्बन्ध' पैदा होगा, तभी 'समाज' का विचार उत्पन्न होगा, उससे पहले नहीं। माता ने बच्चे को जन्म दिया। माता के हृदय में बच्चे के प्रति एक 'प्रतीति' उत्पन्न हुई। बच्चे को तो माता का अभी कोई ज्ञान नहीं है। माता में बच्चे के प्रति जिस समय 'प्रतीति' उत्पन्न हुई, उसी समय 'समाज' का आधार-भूत विचार उत्पन्न हो गया। इसके बाद जब बच्चे में भी माता के प्रति 'प्रतीति' पैदा हुई--एक ही व्यक्ति में 'प्रतीति' सीमित न रहकर दोनों में जाग उठी, तब तो 'समाज' का विचार और आगे बढ़ गया। यह 'प्रतीति' बढ़ते-बढ़ते अनेक व्यक्तियों में समा गई। यह एक-दूसरे से 'सम्बन्ध', यह 'प्रतीति' ही 'समाज' का मूल-तत्त्व है। यह 'प्रतीति' मित्र-भाव की हो सकती है, शत्रु-भाव की भी हो सकती है, परन्तु जहाँ कोई प्रतीति ही नहीं, कोई सम्बन्ध ही नहीं, वहाँ 'समाज' का विचार भी नहीं माना जा सकता। इसी कारण अगर कोई मनुष्य रात को किसी दूसरे मनुष्य से अनजाने टकरा जाय, तो ऐसे ही है जैसे किसी खम्भे से टकरा गया। उस समय दो मनुष्यों के होने पर भी 'समाज'-शब्द का प्रयोग नहीं होगा; हाँ, अगर जान-बूझ कर कोई दूसरे से टकरा जाय, तो 'समाज'-शब्द का प्रयोग होगा, इसलिए होगा क्योंकि 'समाज' वहीं होगा जहाँ 'सामाजिक-सम्बन्ध' होगा, जहाँ 'ज्ञान'-पूर्वक 'सामाजिक-सम्बन्ध' होगा।

(ग) सामाजिक-क्रिया (Social activity)--'अनेकता' भी हो, 'सम्बन्ध' भी हो, परन्तु अनेक व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध से अगर कोई

'सामाजिक-क्रिया' न पैदा हो, तब भी 'समाज' नहीं बन सकता। अनेक व्यक्तियों के पारस्परिक-सम्बन्ध से एक ऐसी क्रिया उत्पन्न हो जानी चाहिए, जो उनके सम्बन्ध के टूट जाने पर न रह सके——तभी कहा जा सकता है कि 'समाज' की उत्पत्ति हुई।

तो फिर 'समाज'-शब्द का क्या लक्षण हुआ? 'समाज' अनेक व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं जिसमें वे एक पारस्परिक-सम्बन्ध में बँध जाते हैं, और यह सम्बन्ध उनमें एक ऐसी सामाजिक-क्रिया उत्पन्न कर देता है, जो वे अलग-अलग तो नहीं कर सकते, परन्तु उनके पारस्परिक-सम्बन्ध से वह क्रिया उत्पन्न हो जाती है, और उनके मिले रहने तक ही वह क्रिया जारी रहती है।

'समाज' के उदाहरण क्या हैं? रामायण-महाभारत में जिन देवों-दानवों का वर्णन है, वे-सब 'समाज' हैं, युरोप की जिन जंगली जातियों का वहाँ की इतिहास की पुस्तकों में ज़िक्र आता है, वे-सब 'समाज' हैं, वर्त्तमान समय के उन्नत देश, उन्नत जातियाँ भी 'समाज' हैं, क्रिकेट-क्लब, नाट्य-मण्डली, विद्यालय-महाविद्यालय——जहाँ-जहाँ अनेक मनुष्य पारस्परिक किसी प्रकार के सम्बन्ध के कारण किसी भी क्रियाशीलता में लगे हुए हैं, वे सब 'समाज' हैं।

हमने कहा था कि 'समाज' के 'विज्ञान' को 'समाज-शास्त्र' कहते हैं। हमने देखा कि 'समाज' क्या है। अब हमने यह देखना है कि 'शास्त्र'——अर्थात् 'विज्ञान' क्या है। इन दोनों के स्वरूप को हमने समझ लिया, तो 'समाज-शास्त्र के स्वरूप' (Nature of Sociology) को अपने-आप समझ लिया।

'शास्त्र'——अर्थात्, 'विज्ञान' क्या है?

'विज्ञान' (Science) का काम 'तथ्यों' (Facts) का इस प्रकार का वर्णन करना है जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि उनका आपस में कार्य-कारण का क्या सम्बन्ध है। रसायन-शास्त्र जल का वर्णन करते हुए बतलाता है कि हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के मिलने से जो पदार्थ उत्पन्न होता है, वह जल है। इस वर्णन में तथ्यों को इस प्रकार स्पष्ट कर दिया गया है जिससे जल के कारण का पता चल जाता है। न्यूटन ने देखा कि सेव पृथ्वी पर आ गिरा। न्यूटन ने उसके कारण का पता लगाया, और इस परिणाम पर पहुँचा कि गुरुत्वाकर्षण-शक्ति द्वारा हर-एक पदार्थ ऊपर से नीचे आ जाता है। विकास का सिद्धान्त क्या है? एक प्राणी उत्पन्न होता है, पर्यावरण के कारण उसमें परिवर्त्तन आ जाते हैं। सर्दी में रहने वाले प्राणियों के बाल बढ़ जाते हैं——ये प्राणी फिर ऐसे ही प्राणियों को जन्म देने लगते हैं जिनके पैदायिश से ही बाल बढ़े होते हैं। प्राणी जो-कुछ है, वह पिछले पर्यावरणों का परिणाम है, और इस समय जैसे पर्यावरण हैं, उनसे आने वाले प्राणी का रूप बन रहा है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि 'विज्ञान' का काम तथ्यों तथा घटनाओं से उस सम्बन्ध को ढूँढ निकालना है जिससे यह पता चले कि यह घटना ऐसी ही क्यों है, यह तथ्य ऐसा ही क्यों है, दूसरी तरह का क्यों नहीं है? 'विज्ञान' इस बात का युक्ति-युक्त उत्तर दे सकता है कि गर्मी के बाद वर्षा क्यों होती

है, वर्षा के बाद सर्दी क्यों होती है, पृथ्वी सूर्य के गिर्द क्यों घूमती है। यह 'क्यों', यह 'कार्य-कारण के सम्बन्ध का ढूँढना', यह सब बातों का पूर्वापर-सम्बन्ध का पता लगाना ही 'विज्ञान' कहाता है। 'विज्ञान' क्योंकि इस प्रकार के सम्बन्धों का पता लगा लेता है, यह पता लगा लेता है कि कौन-सा 'कारण' है जिससे कोई 'कार्य' पैदा हुआ, इसलिए यह घटना-चक्र पर अधिकार भी प्राप्त कर सकता है, घटना-चक्र को जैसा-चाहे वैसा चला भी सकता है। जबतक हमें यही नहीं पता कि किस चीज़ का क्या कारण है, तब तक हम उसे अपने अधिकार में, अपने वश में कैसे कर सकते हैं? अपने वश में तो किसी चीज़ को तभी किया जा सकता है जब उसके कारण का पता हो। 'विज्ञान' का काम हर वस्तु के कारण को ढूँढ निकालना है, और कारण ढूँढ लेने के बाद उसका वह रूप स्पष्ट तौर पर आँखों के सामने ला रखना है जिससे पता चले कि वह वस्तु कैसे उत्पन्न हुई, उसका विकास कैसे हुआ, उसके विकास के कारण क्या हैं, और किन कारणों से घिरी हुई वह किधर जा रही है, उसका आगे क्या रूप होने वाला है?

'विज्ञान' जब किसी घटना-क्रम, या किन्हीं तथ्यों का वर्णन करने लगता है, तो उस वर्णन को तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है:—

वैज्ञानिक-वर्णन के तीन भाग

(क) 'वर्णन' (Description)—पहले तो उस वस्तु-विशेष का मोटा-मोटा वर्णन कर दिया जाता है। 'वनस्पति-शास्त्र' (Botany) के विषय में विचार करना हो, तो साधारण तौर पर बता दिया जायगा कि भिन्न-भिन्न वनस्पतियों के सम्बन्ध में विचार करने वाले शास्त्र को वनस्पति-शास्त्र कहते हैं, मोटे तौर पर वनस्पतियों के अमुक-अमुक विभाग हैं—इत्यादि।

(ख) 'व्याख्या' (Explanation)—वर्णन के बाद उसी की विशेष तौर पर, मोटे तौर पर नहीं, व्याख्या की जाती है। 'वनस्पति-शास्त्र' में बताया जायगा कि वनस्पति पर परिस्थिति का क्या प्रभाव पड़ता है; पृथ्वी, जल प्रकाश आदि से वनस्पति में क्या-क्या परिवर्त्तन आ जाते हैं; वृक्ष में जड़ का, तने, पत्ते आदि का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है—इत्यादि।

(ग) 'मूल्यांकन' (Evaluation)—इस प्रकार वर्णन करने के बाद उन वस्तुओं का क्या फ़ायदा, क्या नुकसान है, यह बताया जायगा। पत्तों की खाद बन जाती है, किसी वृक्ष की जड़ दवाई का काम करती है, किसी की जहर होती है—वनस्पति-शास्त्र का अध्ययन करते हुए इस प्रकार के हानि-लाभ का पता लगाना उस शास्त्र के मूल्य को आँकना है, इसलिए वैज्ञानिक-वर्णन के इस तीसरे हिस्से को 'मूल्यांकन' (Evaluation) कहते हैं।

हमने देखा कि किन्हीं 'तथ्यों तथा घटनाओं' (Facts and Phenomena) का वैज्ञानिक-वर्णन करना हो, तो 'वर्णन'-'व्याख्या'-'मूल्यांकन'—ये तीन बातें उसके विषय में बतानी होंगी। परन्तु तथ्यों तथा घटनाओं (Facts

५

and Phenomena) की कौन-कौन-सी समस्याएँ हैं, कौन-कौन-से पहलू हैं जिन पर इन तीन दृष्टियों से प्रकाश डाल दिया जाय, तो वे तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं? प्रत्येक 'विज्ञान' के इस प्रकार के तथ्य, इस प्रकार की घटनाएँ, इस प्रकार की समस्याएँ चार हैं:--

प्रत्येक 'विज्ञान' की चार समस्याएँ होती हैं

प्रो० हेज़ (Hayes) का कथन है कि प्रत्येक विज्ञान की चार समस्याएँ होती हैं--'मुख्य-समस्या', 'मुख्य-समस्या के घटक-तत्त्व', 'प्रभावक-तत्त्व' तथा 'परिणाम'। इन चारों की व्याख्या निम्न है:--

(क) 'मुख्य-समस्या' (Problem-facts)--किसी विज्ञान की मुख्य-समस्या क्या है--इसका मोटे तौर से 'वर्णन' कर देना, फिर उसकी विस्तृत 'व्याख्या' कर देना, फिर इस मुख्य-समस्या का 'मूल्य-आँकना'--ये तीनों वर्णन जब हो जायेंगे तब उस 'विज्ञान' की मुख्य-समस्या का रूप हमारे सामने विशद रूप में प्रकट हो जायगा।

(ख) मुख्य-समस्या के 'घटक-तत्त्व' (Elemental facts that compose the Problem-fact)--मुख्य-समस्या का वर्णन करने के बाद हमें उन तत्त्वों का वर्णन करना होगा जिनसे मुख्य-समस्या बनती है। 'वनस्पति-शास्त्र' का वर्णन करते हुए हमें जड़, तना, पत्ते का वर्णन तो करना ही है, परन्तु साथ ही कार्बन, आक्सीजन, पृथ्वी, जल, वायु--इन सब तत्त्वों का भी वर्णन करना है क्योंकि यद्यपि ये स्वयं मुख्य-समस्या नहीं हैं, तो भी मुख्य-समस्या को बनाने वाले ये 'घटक-तत्त्व' तो हैं। जो चीज़ दूसरी चीज़ को घटे, अर्थात् बनाये, उसे 'घटक' कहते हैं; इन 'घटक-तत्त्वों' का 'वर्णन', इनकी 'व्याख्या' तथा इनका 'मूल्यांकन' करना 'वनस्पति-शास्त्र' के पूरे रूप को समझने के लिए आवश्यक हो जाता है।

(ग) 'प्रभावक-तत्त्व' (Conditioning-facts)--हमारी जो 'मुख्य-समस्या' होती है, उस पर दूसरी समस्याओं का प्रभाव पड़ता रहता है, और वह भी दूसरी समस्याओं को प्रभावित करती रहती है। 'वनस्पति-शास्त्र' (Botany) की अनेक समस्याओं को समझने के लिए 'प्राणि-शास्त्र' (Biology) का सहारा लेना पड़ता है, इतिहास की अनेक बातों को समझने के लिए अर्थ-शास्त्र का सहारा लेना पड़ता है। अगर हम 'वनस्पति-शास्त्र' का 'मुख्य-समस्या' के तौर पर वर्णन कर रहे हैं, और इसमें 'प्राणि-शास्त्र' का सहारा लेते हैं, तो उस समय 'वनस्पति-शास्त्र' के लिए 'प्राणि-शास्त्र' एक 'प्रभावक-तत्त्व' (Conditioning fact) बन जाता है। 'प्रभावक-तत्त्वों' का भी वर्णन-व्याख्या-मूल्यांकन--ये तीनों करना आवश्यक है जिससे विषय अत्यन्त स्पष्ट हो जाय।

(घ) 'परिणाम' (Resultant-facts)--किसी 'विज्ञान' की 'मुख्य-समस्या', उसके 'घटक-तत्त्व' तथा 'प्रभावक-तत्त्व'--इन पर विचार करने के बाद कुछ 'परिणाम' निकलते हैं। इन 'परिणामों' का वर्णन-व्याख्या-मूल्यांकन--ये

तीनों कर चुकने के बाद उन 'तथ्यों तथा घटनाओं' (Facts and Phenomena) एवं उस 'विज्ञान' का जिसका हम वर्णन कर रहे हैं, स्वरूप बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

समाज-शास्त्र की चार समस्याएँ और उनका तीन प्रकार का वैज्ञानिक वर्णन

हमने कहा था, 'समाज-शास्त्र' एक 'विज्ञान' है। हमने देखा, 'समाज' किसे कहते हैं, हमने यह भी देखा कि 'विज्ञान' किसे कहते हैं, और देखा कि 'विज्ञान' किस प्रक्रिया से किसी विषय का वर्णन करता है। 'समाज-शास्त्र' पर उक्त प्रक्रिया कैसे घटती है--अब हमारे लिए यह देखना बाकी रह गया है। हमने अभी देखा था कि प्रत्येक 'विज्ञान' की चार समस्याएँ होती हैं--'मुख्य-समस्या', 'घटक-तत्त्व', 'प्रभावक-तत्त्व' तथा 'परिणाम'। 'समाज-शास्त्र' की भी ये चार समस्याएँ हैं, और इन्हीं चारों समस्याओं को सुलझाना 'समाज-शास्त्र का स्वरूप' (Nature of Sociology) है। हमने देखना है कि 'समाज-शास्त्र' की ये चार समस्याएँ क्या हैं ?

(क) समाज-शास्त्र की 'मुख्य-समस्या' (Problem of Sociology) --जैसे 'वनस्पति-शास्त्र' वह शास्त्र है, जो 'वनस्पति' का वर्णन करे, वनस्पति ही उसकी मुख्य-समस्या है, उसी प्रकार 'समाज-शास्त्र' की मुख्य-समस्या 'समाज' है। 'समाज' का वर्णन (Description), 'समाज' की व्याख्या (Explanation) तथा 'समाज' का मूल्यांकन (Evaluation) ही समाज-शास्त्र की 'मुख्य-समस्या' है।

(ख) समाज-शास्त्र के 'घटक-तत्त्व' (Elemental facts of which Sociology is composed)--जैसे 'वनस्पति-शास्त्र' के घटक-तत्त्व जड़, पत्ते, तना, कार्बन, ऑक्सीजन, पृथ्वी, जल, वायु हैं, वैसे 'समाज-शास्त्र' के घटक-तत्त्व, वे तत्त्व जिनसे 'समाज-शास्त्र' बनता है, प्रथा-रीति-रिवाज, संघ-संस्थाएँ आदि हैं। परन्तु रीति-रिवाज-संस्था आदि के आधार में भी मनुष्य के मानसिक विचार हैं। जैसे विचार होंगे वैसा समाज बन जायगा। अच्छे विचार होंगे, तो अच्छा, बुरे विचार होंगे, तो बुरा, प्रेम के विचार प्रबल होंगे, तो शान्ति-मय, द्वेष के विचार होंगे, तो लड़ने-झगड़ने वाला 'समाज' उठ खड़ा होगा। इसलिए 'समाज-शास्त्र' (Sociology) की रचना करने वाले आधार-भूत तत्त्व 'मनोविज्ञान' (Psychology) के तत्त्व ही हैं। जो लोग 'समाज-शास्त्र' और 'मनोविज्ञान-शास्त्र' में भेद नहीं कर सकते, वे इसी लिए भेद नहीं कर सकते क्योंकि वे 'मुख्य-समस्या' और 'घटक-तत्त्व' में भेद करना भूल जाते हैं। अगर वे इस प्रकार के भेद को करना सीख जाँय, तो उनके मन में स्पष्ट हो जाय कि 'समाज-शास्त्र' में 'मनोविज्ञान' का क्या स्थान है। इस प्रकार 'मनोविज्ञान' का 'समाज-शास्त्र' के अध्ययन में घटक-तत्त्व के रूप में 'वर्णन', उसकी 'व्याख्या' तथा उसका

'मूल्यांकन' करने से 'समाज-शास्त्र' के साथ 'मनोविज्ञान' का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

(ग) समाज-शास्त्र के 'प्रभावक-तत्त्व' (Conditioning facts of Sociology)—'समाज-शास्त्र' की मुख्य समस्या क्या है, उस समस्या को जन्म देने वाले 'घटक-तत्त्व' क्या हैं—ये दो बातें जान लेने के बाद तीसरा प्रश्न उपस्थित होता है, और वह यह कि 'समाज-शास्त्र' किन तत्त्वों से प्रभावित होता है। वैसे तो किसी शास्त्र के जो 'घटक-तत्त्व' हैं, वे भी उस शास्त्र को प्रभावित ही करते हैं, परन्तु 'घटक-तत्त्व' तो उस शास्त्र का आधार-भूत तत्त्व होता है, 'प्रभावक-तत्त्व' आधार-भूत नहीं होता। 'समाज-शास्त्र' के जो 'प्रभावक-तत्त्व' हैं, वे चार हैं :—

(i) 'भौगोलिक प्रभावक-तत्त्व' (Geographic conditioning factors of Social Change)—किसी देश की भौगोलिक-स्थिति का सामाजिक-परिवर्त्तन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। वहाँ का जल-वायु कैसा है, धरती उपजाऊ है या बंजर, पानी की सुविधा है या नहीं, पानी मीठा है या कठोर, किस प्रकार के पेड़-फूल-पत्ती हैं—इन सब भौगोलिक-पर्यावरणों का समाज के विकास पर प्रभाव पड़ना है, इसलिए 'समाज-शास्त्र' में भूगोल-भूगर्भशास्त्र आदि 'प्रभावक-तत्त्व' के रूप में सहायक सिद्ध होते हैं।

(ii) 'प्राविधिक या यान्त्रिक प्रभावक-तत्त्व' (Technological conditioning factors of Social Change)—'भौगोलिक' तथा 'यान्त्रिक' में यह भेद है कि 'भौगोलिक' तो वह है जो प्रकृति में पाया जाता है, प्राकृतिक है; 'यान्त्रिक' प्राकृतिक नहीं, मनुष्य द्वारा बनाया हुआ है। नदी का रूप 'भौगोलिक' (Geographic) है, नहर का रूप 'यान्त्रिक' (Technic) है; गुफा का रूप 'भौगोलिक' है, मकान-घर का रूप 'यान्त्रिक' है; पहाड़ी के दर्रों का रूप 'भौगोलिक' है, सड़कों-रेलों का रूप 'यान्त्रिक' है; जंगल में घूम रहे जानवरों का रूप 'भौगोलिक' है; पालतू जानवरों का रूप 'प्राविधिक' या 'यान्त्रिक' है। 'समाज-शास्त्र' के विकास में सभ्यता के इस 'यान्त्रिक' रूप का बड़ा भारी असर है, अतः यान्त्रिक-सभ्यता से सम्बन्ध रखने वाले सब तत्त्व—गाँव, शहर, कल-कारखाने, सड़क, रेल, सम्पत्ति—ये सब 'समाज-शास्त्र' के लिए 'प्रभावक-तत्त्व' (Conditioning factors) हैं।

(iii) 'प्राणि-शास्त्रीय प्रभावक-तत्त्व' (Biological conditioning factors of Social Change)—'समाज' में स्त्री-पुरुष हैं, स्त्री-पुरुष की कौन-कौन-सी बातें सन्तान में संक्रान्त होती हैं, यह सब जानना आवश्यक है। कुछ संक्रान्त होती हैं, कुछ संक्रान्त नहीं होतीं। यह विषय 'पर्यावरण तथा वंशानु-संक्रमण' (Environment and Heredity) का है। हमारा 'समाज' आज जो-कुछ है, वह वही है जो हमारे माता-पिता ने अपने संस्कारों के रूप में हमें दिया है, आगे का 'समाज' जो-कुछ होगा वह वही होगा, जो हम अपनी सन्तान को

देंगे। यह तीसरा तत्त्व है जो समाज-शास्त्र तथा उसके विकास को प्रभावित करता है। इस विकास का अध्ययन करते हुए 'लिंग-भेद' (Sex), 'प्रजाति' (Race), 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) आदि का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

(iv) 'सामाजिक प्रभावक-तत्त्व' (Social and Cultural conditioning factors of Social Change)––जहाँ 'समाज-शास्त्र' के विकास, इसकी प्रगति, इसके स्वरूप आदि का निर्धारण करने पर भौगोलिक (Geographic), यान्त्रिक (Technic) तथा प्राणि-शास्त्रीय (Biological) प्रभाव पड़ते हैं, वहाँ 'समाज' स्वयं भी 'समाज' को प्रभावित करता रहता है। सामाजिक-विकास की प्रक्रियाओं में जो भी कदम हम उठाते हैं, उस पर पिछले सामाजिक-विकास की छाप होती है। क्योंकि हम पिछला विकास कर चुके होते हैं इसी लिए अगला विकास हो सकता है, हम पिछली मंजिल तक न पहुँच चुके होते, तो अगली मंजिल के लिए कदम उठ ही नहीं सकता। बच्चे जो-कुछ करते हैं उस पर माता-पिता का प्रभाव पड़ता है, विद्यार्थी जो-कुछ पढ़ते हैं, उस पर अध्यापक का प्रभाव पड़ता है, अनुयायी जो-कुछ करते हैं, उस पर नेता का प्रभाव पड़ता है, मज़दूर-वर्ग जो-कुछ करता है, उस पर मालिक का प्रभाव पड़ता है, प्रजा जो-कुछ करती है, उस पर शासकों का प्रभाव पड़ता है। 'समाज-शास्त्र' पर प्रभाव डालने वाला चौथा तत्त्व 'समाज' ख़ुद है––'समाज' ही 'समाज' को बदलता रहता है।

'समाज-शास्त्र' के उक्त चारों 'प्रभावक-तत्त्वों' (Conditioning factors) का 'वर्णन'-'व्याख्या'-'मूल्यांकन' करने से इस शास्त्र की ठीक-ठीक वैज्ञानिक व्याख्या हो जाती है। इन सब का इस पुस्तक में भिन्न-भिन्न अध्यायों में विस्तारपूर्वक वर्णन होगा।

(घ) समाज-शास्त्र के 'परिणाम' (Resultant facts of Sociology)––जब हमने देख लिया कि 'समाज-शास्त्र' की 'मुख्य-समस्या' क्या है, इस शास्त्र के 'घटक-तत्त्व' क्या हैं, 'प्रभावक-तत्त्व' क्या हैं, तब 'समाज-शास्त्र' का स्वरूप हमारे सामने स्वयं स्पष्ट हो गया। इस स्वरूप के आधार पर हमें 'समाज-शास्त्र' के कुछ परिणाम निकालने होंगे। 'समाज' की किन अवस्थाओं का परिणाम 'एक-तन्त्र शासन' है, किनका परिणाम 'जन-सत्ता-वाद' है; किनका परिणाम 'व्यक्तिवाद' है, किनका परिणाम 'समाजवाद' है; किनका परिणाम 'शान्ति' है, किनका परिणाम 'युद्ध' है; किनका परिणाम 'परिवार का संगठन' है, किनका परिणाम 'विवाह-विच्छेद' है––इन सब समस्याओं पर अपने परिणामों का 'वर्णन' करना, उनकी 'व्याख्या' करना, और उन परिणामों का 'मूल्यांकन' करना, यह 'समाज-शास्त्र' का काम है।

'समाज' तथा 'विज्ञान'––इन दो शब्दों का हमने ऊपर जो-कुछ विवेचन किया है उसे समझ लेना 'समाज-शास्त्र के स्वरूप' को समझ लेना है।

२. समाज-शास्त्र का विषय-क्षेत्र व उद्देश्य
(Scope or Aim of Sociology)

हमने यह तो देखा कि 'समाज-शास्त्र' का क्या 'स्वरूप' है, अब दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि इस शास्त्र का 'विषय-क्षेत्र' क्या है। इस सम्बन्ध में समाज-शास्त्रियों में दो विचार-धाराएँ हैं--एक विचार-धारा 'विशेषात्मकता' (Specialism or Particularism) की विचार-धारा है, दूसरी है 'समन्वयात्मक' (Synthetic) विचार-धारा। हम इन दोनों का क्रमशः वर्णन करेंगे।

(क) 'समाज-शास्त्र' का विषय-क्षेत्र 'विशेषात्मकता' है
(SPECIALISM IS THE SCOPE OF SOCIOLOGY)

हमने 'समाज-शास्त्र के स्वरूप' का वर्णन करते हुए कहा था कि प्रत्येक 'विज्ञान' के सम्मुख चार समस्याएँ होती हैं: 'मुख्य-समस्या' (Problem facts), 'समस्या के घटक-तत्त्व' (Elemental facts), 'प्रभावक-तत्त्व' (Conditioning facts) तथा 'परिणाम' (Resultant facts)। 'समाज-शास्त्र' के 'विषय-क्षेत्र' (Scope) के सम्बन्ध में एक पक्ष तो यह कहता है कि इस शास्त्र का क्षेत्र सिर्फ़ 'मुख्य-समस्या' (Problem facts) तक अपने को सीमित रखना है, 'समस्या के घटक-तत्त्व' (Elemental facts) तथा 'समस्या के प्रभावक-तत्त्वों' (Conditioning facts) की उलझन में पड़ना इसका काम नहीं। जैसे 'वनस्पति-शास्त्र' की अपनी 'मुख्य-समस्या' है, 'प्राणि-शास्त्र' की अपनी 'मुख्य-समस्या' है, 'अर्थ-शास्त्र' की अपनी 'मुख्य-समस्या' है, वैसे 'समाज-शास्त्र' की भी अपनी 'मुख्य-समस्या' है। 'वनस्पति-शास्त्र' की 'मुख्य-समस्या' क्या है? इसकी समस्या है--'वनस्पति-शास्त्र' के वे सिद्धान्त जिन पर इस शास्त्र का आधार है। उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना ही 'वनस्पति-शास्त्र' का विषय-क्षेत्र है। यही बात 'प्राणि-शास्त्र' तथा अन्य विज्ञानों के विषय में कही जा सकती है। इसी प्रकार 'समाज-शास्त्र' का विषय-क्षेत्र उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है जो इस शास्त्र की नींव में पड़े हुए हैं। उदाहरणार्थ, 'प्रतियोगिता' (Competition) एक सिद्धान्त है, जिस पर 'समाज' खड़ा हुआ है। एक आदमी दूसरे से आगे निकलना चाहता है, दूसरा उसे आगे नहीं बढ़ने देता। इस भावना से एक प्रकार का सामाजिक-व्यवहार उत्पन्न हो जाता है। इस सिद्धान्त का 'समाज' में अध्ययन करना 'समाज-शास्त्र' का 'विषय-क्षेत्र' है। 'प्रतियोगिता' (Competition) की तरह 'श्रम-विभाग' (Division of labour), 'श्रेणी-विभाग' (Class division), 'नेतृत्व' (Leadership), 'आज्ञा-पालन' (Obedience) आदि अनेक सिद्धान्त हैं, जो यद्यपि राजनीति-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, धर्म-शास्त्र आदि भिन्न-भिन्न शास्त्रों में पाये जाते हैं, परन्तु मुख्य तौर पर यही समाज-शास्त्र के विषय हैं, ये समाज-शास्त्र की 'मुख्य-समस्यायें' (Problem facts) हैं। इस पक्ष का यह कहना है कि इस शास्त्र

को अपने को इन्हीं समस्याओं तक सीमित रखना चाहिए। इस प्रकार इन समस्याओं के साथ अपने को बाँध लेने से ही यह शास्त्र एक विशेष-शास्त्र (Special or Particular Science) का रूप धारण कर सकता है, नहीं तो, सब विज्ञानों की बातें करने से, कुछ मनोविज्ञान की बातें, कुछ प्राणि-शास्त्र की, कुछ भूगर्भ-शास्त्र की, कुछ इतिहास की, कुछ अर्थ-शास्त्र की—मतलब यह कि सब शास्त्रों की खिचड़ी पकाने से तो 'समाज-शास्त्र' का अपना कोई निश्चित, कोई विशेष रूप ही नहीं रहता। 'समाज-शास्त्र' की सीमाओं को बाँध देने से ही यह एक खास, एक विशेष-शास्त्र बन सकता है, नहीं तो 'समाज-शास्त्र' चूँ-चूँ का मुरब्बा हो जाता है, और कुछ नहीं रहता।

सिमल का 'विशेषात्मक'-दृष्टिकोण
(SPECIALISM OF SIMMEL)

'समाज-शास्त्र' के इस 'विशेषात्मक' (Specialistic) दृष्टि-कोण के मानने वालों के मुखिया जर्मन समाज-शास्त्री सिमल (Simmel) हैं। उनका कथन है कि यह बात तो ठीक है कि समाज-शास्त्र का काम 'सामाजिक-सम्बन्धों' (Social relations) का वर्णन करना है, परन्तु 'सामाजिक-सम्बन्ध' दो रूपों में पाया जाता है। एक तो 'सामाजिक-सम्बन्ध' का वह रूप है जिसे हम 'सूक्ष्म-रूप' (Abstract form) कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, प्रतिस्पर्धा, श्रम-विभाग, श्रेणी-विभाग, नेतृत्व, आज्ञा-पालन आदि 'सामाजिक-सम्बन्ध' के 'सूक्ष्म-रूप' (Abstract form) हैं। दूसरा 'सामाजिक-सम्बन्ध' का वह रूप है जिसे हम 'स्थूल-रूप' (Concrete form) कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम राजनीति-शास्त्र का अध्ययन करते हुए अमरीका तथा रूस की 'प्रतिस्पर्धा' को देखते हैं, तब 'सूक्ष्म-प्रतिस्पर्धा' का ही, राजनीति के आयने में, उसके छलछलाते 'स्थूल-रूप' का दर्शन कर रहे होते हैं। 'राज-भक्ति' एक 'सूक्ष्म'-तत्त्व है, परन्तु जब ईरान के बादशाह के देश से भाग जाने के बाद, उसके भक्त, ईरान के प्रधान-मंत्री डा० मुसद्दिक को पकड़ लेते हैं, सैंकड़ों का खून बहा देते हैं, तब सूक्ष्म राज-भक्ति हमारी आँखों के सामने स्थूल, साकार बन कर खड़ी हो जाती है। ऐसे ही अन्य 'सूक्ष्म-तत्त्वों' के, भिन्न-भिन्न विज्ञानों में, 'स्थूल' दर्शन हो सकते हैं। भिन्न-भिन्न विज्ञानों में समाज-शास्त्र के जो 'सूक्ष्म' सिद्धान्त काम कर रहे हैं, उन सिद्धान्तों को उन विज्ञानों में से निकाल कर अलग कर लेना, फिर उन विज्ञानों के झमेले में न पड़ कर उन 'सूक्ष्म'-सिद्धान्तों का स्वतंत्र रूप से वर्णन करना—सिमल के मत में यही समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र है, अन्यथा समाज-शास्त्र की अपनी स्वतंत्र सत्ता, इसकी अपनी खासियत कुछ नहीं रहती, दूसरे शास्त्रों में ही यह चोंचें मारता रहता है।

इस दृष्टि से 'समाज-शास्त्र' (Sociology) तथा अन्य 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) में क्या भेद है ? सिमल का कहना है कि 'समाज-शास्त्र' भी उन्हीं विषयों का वर्णन करता है जिनका वर्णन अन्य 'सामाजिक-

विज्ञान'--इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र--आदि करते हैं, परन्तु भेद यह है कि सिम्मल की 'विशेषात्मक-दृष्टि' (Specialism) के अनुसार समाज-शास्त्र स्वतन्त्र रूप से उन 'सूक्ष्म'-सामाजिक-सिद्धान्तों (Abstract Sociological ideas) का विवेचन करता है जिनका विवेचन 'स्थूल'-रूप (Concrete form) में अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र आदि विज्ञान करते हैं। समाज-शास्त्र का 'विषय-क्षेत्र' (Scope) 'सूक्ष्म'-सामाजिक-सिद्धान्तों (Abstract social conceptions) का स्वतंत्र रूप से वर्णन करना है ।

वीरकांद्त का 'विशेषात्मक'-दृष्टिकोण
(SPECIALISM OF VIERKANDT)

एक दूसरे जर्मन समाज-शास्त्री श्रीयुत् वीरकांद्त (Vierkandt) हैं, जिनके विचार सिमल के विचारों से मिलते-जुलते हैं। इनका कहना यह है कि समाज-शास्त्र का काम 'समाज' के उन तत्त्वों को ढूँढ निकालना है, जो समाज-शास्त्र के लिए 'मूल-तत्त्व' (Irreducible categories) कहे जा सकते हैं । मनुष्य का मनुष्य के साथ जब सम्बन्ध पैदा होता है तब लज्जा, प्रेम, द्वेष, सहकारिता, प्रतिस्पर्धा, दब्बूपन, अधिकार की भावना, लालसा आदि अनेक प्रकार के मानसिक-सम्बन्ध प्रकट होते हैं। ये मानसिक-सम्बन्ध जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य के साथ जोड़ते हैं, समाज-शास्त्र के आधार-भूत मूल-तत्त्व हैं। 'प्रेम' एक मानसिक-तत्त्व है, द्वेष, लज्जा, लालसा--ये सब भी मानसिक-तत्त्व हैं। ये मानसिक-तत्त्व ही तो समाज को बनाते हैं । 'समाज' की भावना ही तब पैदा होती है, जब हम किसी से प्रेम करने लगते हैं, किसी से द्वेष करने लगते हैं, किसी से सहयोग, किसी से असहयोग, किसी से लज्जा, किसी से शंका, किसी से भय करने लगते हैं। ये लज्जा, प्रेम, द्वेष, सहकारिता, प्रतिस्पर्धा आदि जो मानव-समाज को खेल खिला रहे हैं--ये मनुष्य को मनुष्य के साथ बाँधने वाले मानसिक-बन्धन (Physical bonds)--यही समाज-शास्त्र का विषय-क्षेत्र है । इन विषयों का वर्णन करने के लिए समाज-शास्त्र को मनोविज्ञान का सहारा लेने के अतिरिक्त इधर-उधर भागने की जरूरत नहीं। उदाहरणार्थ, 'श्रम-विभाग' एक सिद्धान्त है जिसका आधार सहयोग है। समाज-शास्त्र का काम सहयोग के मानसिक-तत्त्व पर आश्रित इस 'श्रम-विभाग' का वर्णन कर देना मात्र है, अर्थ-शास्त्र के साथ होड़ करना नहीं। अर्थ-शास्त्र के लिए तो 'श्रम-विभाग' एक 'मुख्य-समस्या' (Problem fact) है, समाज-शास्त्र के लिए ऐसी बात नहीं है । अगर समाज-शास्त्र 'श्रम-विभाग' को 'मुख्य-समस्या' मानकर चल पड़े, तो अर्थ-शास्त्र और समाज-शास्त्र में क्या भेद रहे ? इसी प्रकार 'संस्कृति' के सम्बन्ध में विचार करते हुए समाज-शास्त्र का यह काम नहीं है कि जो काम इतिहास का है वह काम समाज-शास्त्र करने लगे, और संस्कृति के विकास का विस्तृत विवेचन प्रारम्भ कर दे । समाज-शास्त्र के 'विषय-क्षेत्र' को बहुत विस्तृत बना देने से यह शास्त्र एक अनिश्चित-सा

वन जाता है, इसलिए आवश्यक है कि इसे इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, धर्म आदि में भटकने से रोका जाय, और इसका विषय-क्षेत्र निश्चित कर दिया जाय। वीरकांद्त ने 'समाज-शास्त्र' के विषय-क्षेत्र की जो सीमा निर्धारित की है, उसका निर्देश ऊपर कर दिया गया है--उसके मत में समाज-शास्त्र का काम 'समाज' के उन मूल-तत्वों को ढूँढ निकालना है, जो मनुष्य का मनुष्य के साथ सामाजिक-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाले ये मूल-तत्त्व 'मानसिक-तत्त्व' हैं--लज्जा, प्रेम, द्वेष, सहकारिता आदि--और इन्हीं के कारण मनुष्य के मनुष्य के साथ जो सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं, प्रेम के कारण परिवार का, द्वेष के कारण युद्ध का, सहकारिता के कारण अन्य प्रकार का, इन्हीं सब का विवेचन करना समाज-शास्त्र का विषय-क्षेत्र है।

(ख) समाज-शास्त्र का विषय-क्षेत्र 'समन्वयात्मक' है
(SYNTHETIC VIEW OF SOCIOLOGY)

अभी हमने दर्शाया कि 'विशेषात्मकता' (Specialism) के मानने वाले समाज-शास्त्र का विषय-क्षेत्र वैसा ही निश्चित तथा परिमित कर देना चाहते हैं, जैसा 'प्राकृतिक-विज्ञानों' (Natural Sciences) तथा 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) का है। अर्थात्, जैसे 'प्राकृतिक-विज्ञानों'--रसायन-शास्त्र (Chemistry), भौतिकी (Physics) आदि--का निश्चित क्षेत्र है, और जैसे 'सामाजिक-विज्ञानों'--इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र आदि--का भी निश्चित क्षेत्र है, वैसे समाज-शास्त्र का भी क्षेत्र इनके मत में निश्चित होना ही ठीक है। इसके विपरीत 'समन्वयात्मक'-दृष्टिवाले विद्वानों का कहना है कि अगर सिमल के कथनानुसार समाज-शास्त्र सिर्फ़ 'सूक्ष्म-सिद्धान्तों' (Abstract principles) को लेकर चले--अगर सिर्फ़ श्रम-विभाग, श्रेणी-विभाग, सहकारिता आदि का वर्णन तो करे, परन्तु 'प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों' (Natural and Social Sciences) में उतरकर उनकी पड़ताल न करे, तो इस विज्ञान का मूल्य ही क्या रह जाता है? उदाहरणार्थ, अगर 'प्रतियोगिता' (Competition) के सिद्धान्त का समाज-शास्त्र अध्ययन करता है, और अर्थ-शास्त्र की बारीकियों में प्रवेश करके उसका पूरा-पूरा अध्ययन नहीं करता, या इतिहास में जब-जब भिन्न-भिन्न देशों में प्रतियोगिता चली उसका विवेचन नहीं करता, तो सिर्फ़ 'प्रतियोगिता' के ऊपर एक सूखा-सा निबन्ध लिख देना किस काम का? 'आधीनता' (Subordination) एक 'सामाजिक-सम्बन्ध' (Social relation) है। क्या समाज-शास्त्र के ग्रन्थ में इस पर एक नीरस-सा भावात्मक (Abstract) निबन्ध लिख दिया जाय, या पिता और पुत्र में आधीनता का क्या स्वरूप है, राजा और प्रजा में आधीनता का क्या स्वरूप है, मज़दूर और मालिक में आधीनता का क्या स्वरूप है, पृथ्वी और सूर्य में आधीनता का क्या स्वरूप है--इस सब का विवेचन किया जाय? 'समन्वयात्मक-दृष्टि' (Synthetic

view) का प्रतिपादन करने वाले विद्वानों का कहना है कि समाज-शास्त्र को अपना विषय-क्षेत्र संकुचित, परिमित तथा सीमित न बनाकर व्यापक और विस्तृत बनाना होगा, तभी यह समाज-शास्त्र कहला सकेगा। अन्य विज्ञानों से पृथक् होकर तो समाज-शास्त्र कुछ रहता ही नहीं है। सब विज्ञानों के मेल से समाज-शास्त्र बनता है। समाज-शास्त्र में सब विज्ञान आकर एकीभूत हो जाते हैं, इसमें सबका 'समन्वय' (Synthesis or Correlation) हो जाता है, इसलिए समाज-शास्त्र एक विज्ञान ही नहीं, 'विज्ञानों का विज्ञान' (Science of sciences) है, और सभी विज्ञान इसके विषय-क्षेत्र में आ जाते हैं।

'विशेषात्मक'-दृष्टिकोण (Specialism) का अन्य विज्ञानों में एक बड़ा भारी दुष्परिणाम देखा जा रहा है। भूगोल-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र आदि तो अपने विषय तक ही अपने को सीमित रखते हैं—इनकी तो 'विशेषात्मक'-दृष्टि ही है। परन्तु इस दृष्टि का परिणाम क्या हो रहा है? इसका परिणाम यह हो रहा है कि इन विज्ञानों की दृष्टि अपने ऊपर इतनी केन्द्रित होती जाती है कि ये यही समझने लगे हैं कि संसार में जो-कुछ होता है, इन्हीं के दृष्टि-कोण से होता है। भूगोल की दृष्टि यह हो चली है कि इतिहास में जो-कुछ हुआ, भूगोल की दृष्टि से हुआ। भारतवर्ष पर मुहम्मद ग़ौरी के हमले क्यों हुए? क्योंकि भारत की जलवायु गर्म थी—इसलिए यहाँ के लोग कमज़ोर हो गए, पेशावर की तरफ़ पहाड़ी दर्रे थे—उनसे आक्रान्ता आ सकते थे। बस वे आये, और ये पराजित हुए। भूगोल ही जातियों का भाग्य निश्चित कर देता है—यह 'भौगोलिक भाग्य-निर्णय-वाद' (Geographical determination) का सिद्धान्त इसलिए उठ खड़ा हुआ क्योंकि भूगोल के विद्वानों की दृष्टि सिर्फ़ भूगोल पर इतनी अटक गई कि उन्हें सिवाय इसके कुछ दीखना ही बन्द हो गया। यही दूसरों का हाल है। प्राणि-शास्त्र के विद्वान् कहते हैं कि मानव-समाज जो-कुछ है, उसे प्राणि-शास्त्र ही बनाता है—इसे 'प्राणि-शास्त्रीय भाग्य-निर्णय-वाद' (Biological determination) कह सकते हैं। कई लोग कहते हैं कि मनुष्य-समाज वही-कुछ बनता जाता है, जो आजकल के यान्त्रिक-साधन उसे बनाते जाते हैं—यह 'यान्त्रिक भाग्य-निर्णय-वाद' (Technological determination) है। ये संकुचित दृष्टियाँ इसी लिए उत्पन्न होती हैं क्योंकि हम सब दृष्टियों का समन्वय करने के स्थान पर उन-उन विज्ञानों को इतना अलग-अलग बनाये हुए हैं कि वे दूसरे विज्ञान की दृष्टि को तुच्छ समझते हैं। ऐसी अवस्था में अन्य विज्ञानों की विशेषात्मक-दृष्टि की तरह समाज-शास्त्र की अपनी पृथक् विशेषात्मक-दृष्टि पैदा करना कितनी भारी भूल होगी। यह एक अलग 'समाज-शास्त्रीय भाग्य-निर्णय-वाद' (Sociological determination) पैदा हो जायगा। इन सब बातों पर विचार करके समाज-शास्त्र के लिए सही दृष्टि वही है जिसमें सब दृष्टियों का 'समन्वय' (Correlation or Synthesis) हो, जिसमें सब दृष्टियों का स्वतन्त्र रूप न दिखाकर सब का पारस्परिक-सम्बन्ध (Inter-relation) दिखाया गया हो।

दुरख़ीम का 'समन्वयात्मक'-दृष्टिकोण
(SYNTHESIS OF DURKHEIM)

समाज-शास्त्र के जिस 'समन्वयात्मक'-दृष्टिकोण का अभी उल्लेख किया गया इसके मुख्य समर्थक फ्रांस के विद्वान् श्रीयुत् दुरख़ीम (Durkheim) हैं। उनका कथन है कि समाज-शास्त्र को तीन भागों में बाँटा जा सकता है :—

(i) सामाजिक स्वरूप-शास्त्र (Social Morphology)
(ii) सामाजिक क्रिया-शास्त्र (Social Physiology)
(iii) सामान्य समाज-शास्त्र (General Sociology)

(i) 'सामाजिक स्वरूप-शास्त्र' (Social Morphology)—इसमें वे सब विषय आ जाते हैं, जिनका आधार भौगोलिक है। उदाहरणार्थ, किसी देश की 'जन-संख्या' (Population,), जनसंख्या का 'परिमाण' (Volume), अर्थात् वह कितनी है, जन-संख्या का 'घनत्व' (Density), अर्थात् एक स्थान पर कितनी घनी आबादी है, जन-संख्या का 'वितरण' (Local distribution), अर्थात् कहाँ-कहाँ कितनी बँटी हुई है—ये सब विषय 'सामाजिक स्वरूप-शास्त्र' (Social Morphology) अर्थात् समाज के स्वरूप के अन्दर आ जाते हैं।

(ii) 'सामाजिक क्रिया-शास्त्र' (Social Physiology)—इसमें वे सब विषय आ जाते हैं जिन्हें 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Sciences) कहा जाता है। धर्म, नीति, अर्थ, भाषा, कानून आदि सब समाज-शास्त्र से सम्बद्ध हैं, अतः धर्म का समाज-शास्त्र (Sociology of Religion), नीति का समाज-शास्त्र (Sociology of Morals), अर्थ का समाज-शास्त्र (Sociology of Economic Life), भाषा का समाज-शास्त्र (Sociology of Language), कानून का समाज-शास्त्र (Sociology of Law)—ये सब विषय 'सामाजिक -क्रिया-शास्त्र' (Social Physiology) में आ जाते हैं।

(iii) 'सामान्य समाज-शास्त्र' (General Sociology)—इसका काम यह पता लगाना है कि भिन्न-भिन्न सामाजिक-विज्ञान (Special Social Sciences)—इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र आदि—जिन भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का अपने-अपने क्षेत्र में विवेचन करते हैं, क्या उनके आधार में कोई 'सामान्य-सिद्धान्त' अर्थात् 'सामान्य-नियम' (General laws) काम कर रहे हैं? अगर कर रहे हैं, तो वे 'सामान्य-नियम' क्या हैं? समाज-शास्त्र का यह भाग दार्शनिक भाग है, परन्तु क्योंकि यह दार्शनिक विवेचन तभी सम्भव है जब समाज-शास्त्र के भिन्न-भिन्न भाग—धर्म का समाज-शास्त्र, अर्थ का समाज-शास्त्र, कानून का समाज-शास्त्र तथा अन्य समाज-शास्त्र—अपना पूरा-पूरा तथा गहरा विवेचन करें, इसलिए समाज-शास्त्र के इस दार्शनिक विवेचन के लिए उक्त भिन्न-भिन्न विवेचन को दुरख़ीम अत्यन्त आवश्यक मानता है।

हौब-हाउस का 'समन्वयात्मक'-दृष्टिकोण
(SYNTHESIS OF HOB-HOUSE)

दुरखीम की तरह इंग्लैण्ड के समाज-शास्त्री हौब-हाउस ने भी 'समन्वयात्मक'-दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है। हौब-हाउस का कथन है कि विविध सामाजिक-शास्त्रों का समन्वय ही समाज-शास्त्र है। वह कहता है कि समाज-शास्त्री को दो प्रकार का अध्ययन करना चाहिए :—

(क) प्रथम अध्ययन तो समाज-शास्त्र के उस अंग का अध्ययन है जिसका वह विशेष तौर पर मनन कर रहा है। उदाहरणार्थ, अगर वह अर्थ-शास्त्र का अध्ययन कर रहा है, तो उसे अर्थ-सम्बन्धी उन सिद्धान्तों का विशेष ध्यान रखना है जिनका समाज के विकास के साथ निकट का सम्बन्ध है, अगर इतिहास का अध्ययन कर रहा है, तो इतिहास की उन घटनाओं पर विशेष ध्यान देना है जिनका समाज के निर्माण में विशेष रूप से हाथ रहा है। अर्थ-शास्त्र अथवा इतिहास के अध्ययन में समाज-शास्त्री प्रत्येक शास्त्र के मुख्य अंग को पकड़ लेता है।

(ख) समाज-शास्त्री का द्वितीय अध्ययन तब प्रारम्भ होता है, जब वह भिन्न-भिन्न सामाजिक-विज्ञानों (Social Sciences) के मुख्य अंगों को पकड़ लेने के बाद उन केन्द्रीय-कल्पनाओं (Central conceptions) को भी निकाल लेता है जिनके इर्द-गिर्द सब सामाजिक-विज्ञान चक्कर काटते हैं। ये केन्द्रीय-कल्पनाएँ वे स्थिर विचार हैं जो भिन्न-भिन्न विज्ञानों में भिन्न-भिन्न रूप धारण करते रहते हैं। इन केन्द्रीय-कल्पनाओं तक पहुँचने के लिए भिन्न-भिन्न विज्ञानों के आन्तरिक-सम्बन्ध का जानना आवश्यक है। यह जानना आवश्यक है कि अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्त किस प्रकार इतिहास में, इतिहास के निर्णय किस प्रकार राजनीति में, और राजनीति के तत्त्व किस प्रकार मनोविज्ञान में ओत-प्रोत हैं। समाज-शास्त्र की यही दृष्टि 'समन्वयात्मक'-दृष्टि है।

(ग) समाज-शास्त्र की यथार्थ-दृष्टि—विशेषात्मक तथा समन्वयात्मक

समाज-शास्त्र के उद्देश्य अथवा विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध में जिन दो दृष्टियों का ऊपर उल्लेख किया गया है उन पर ज़रा गहराई से विवेचन किया जाय, तो स्पष्ट हो जायगा कि इन दोनों दृष्टि-कोणों में बहुत बड़ा भेद नहीं है। अगर हम समाज-शास्त्र में सिमल तथा वीरकांद्त के कथनानुसार 'भावात्मक' (Abstract) 'सामाजिक-सम्बन्धों' (Social relations) का ही वर्णन करें, तो भी यह आवश्यक होगा कि उनको भिन्न-भिन्न विज्ञानों में घटाकर दिखलाएँ ताकि यह स्पष्ट हो जाय कि ये सिद्धान्त कोरी गप्पबाज़ी नहीं, अपितु वास्तव में ये सिद्धान्त अन्य विज्ञानों में मूर्त्त-रूप में पाये जाते हैं। इसलिए 'विशेषात्मकता' (Specialism) तथा 'समन्वयात्मकता' (Synthesis) दोनों दृष्टियों के समाज-शास्त्र में साथ-साथ चलने से ही यह शास्त्र अपने को एक पूर्ण-शास्त्र कह सकता है, अन्यथा नहीं।

प्रो हेज० (Hayes) का कथन है कि प्रत्येक विज्ञान की चार समस्याएँ होती हैं—'मुख्य-समस्या' (Problem facts), मुख्य-समस्या के 'घटक-तत्त्व'

(Elemental facts), 'प्रभावक-तत्त्व' (Conditioning facts) तथा 'परिणाम' (Resultant facts)। ये चार समस्याएँ किसी एक विज्ञान की नहीं, सब विज्ञानों की होती हैं। अगर यह बात ठीक है, तो समाज-शास्त्र की भी यही चार समस्याएँ होनी चाहियें। समाज-शास्त्र की 'मुख्य-समस्या' है—'समाज' तथा 'सामाजिक-सम्बन्ध'। इस समस्या के 'घटक-तत्त्व' वे 'मानसिक-सम्बन्ध' (Psychical bonds) हैं जिनसे सारा सामाजिक-व्यवहार चलता है। ये मानसिक-सम्बन्ध हैं—प्रेम, द्वेष, ईर्ष्या, लज्जा, प्रतिस्पर्धा, सहयोग आदि। ये न हों, तो समाज बनता ही नहीं। इसलिए समाज-शास्त्र जब अपनी 'मुख्य-समस्या' के 'घटक-तत्वों' का विवेचन करने लगता है, तब इसका मनोविज्ञान के क्षेत्र में चले जाना स्वाभाविक है। प्रत्येक विज्ञान की तीसरी समस्या है——'प्रभावक-तत्त्व'। प्रत्येक विज्ञान को अन्य जो भी विज्ञान प्रभावित करते हैं, उन विज्ञानों की चर्चा करना भी आवश्यक हो जाता है। समाज-शास्त्र को अन्य सभी विज्ञान प्रभावित करते हैं। भौतिकी, रसायन आदि 'प्राकृतिक-विज्ञान' (Natural Sciences) तथा इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति, कानून आदि 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Sciences)—ये सब समाज-शास्त्र को प्रभावित करते हैं, इसलिए इनको भी यह शास्त्र नहीं छोड़ सकता। इसी लिए 'समाज-शास्त्र' का अध्ययन करते हुए हमें भौगोलिक, आर्थिक, यांत्रिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, वंश-परम्परा तथा पर्यावरण आदि सभी प्रभावक-तत्त्वों पर विचार करना होता है। हम इस पुस्तक में इन सभी विषयों पर अलग-अलग अध्यायों में विचार भी करेंगे। अन्त में, प्रत्येक विज्ञान अपने कुछ परिणाम निकालता है—समाज-शास्त्र के भी अपने कुछ परिणाम हैं, इनको समाज-शास्त्र का दर्शन कहा जा सकता है। प्रो० हेज (Hayes) के इस दृष्टि-कोण को सामने रखते हुए 'विशेषात्मकता' (Specialism) तथा 'समन्वयात्मकता' (Synthesis or Correlation or Inter-relation) का मसला अपने-आप हल हो जाता है। सब विज्ञानों का, और सब के साथ समाज-शास्त्र का भी 'विशेषात्मक' अध्ययन आवश्यक है, परन्तु उस अध्ययन को सार्थक बनाने के लिए उसका 'समन्वयात्मक' अध्ययन और भी अधिक आवश्यक है।

संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि शुरू-शुरू में मनुष्य का अध्ययन प्रारम्भिक अवस्था का था, इसलिए उसने 'समाज' का अध्ययन नहीं किया, परन्तु 'समाज' के भिन्न-भिन्न पहलुओं का, भिन्न-भिन्न अंगों का अध्ययन किया। 'समाज' के आर्थिक पहलू के अध्ययन से अर्थ-शास्त्र का जन्म हुआ, समाज के राजनैतिक पहलू के अध्ययन से राजनीति का जन्म हुआ, समाज की ऐतिहासिक घटनाओं के संकलन के द्वारा इतिहास का जन्म हुआ, कानूनी पहलू के अध्ययन से स्मृति-शास्त्र का जन्म हुआ, परन्तु ये सब अध्ययन 'समाज' के एक-एक पहलू के, एक-एक अंग के अध्ययन थे, इनसे 'समाज' का समग्र रूप आँखों के सामने नहीं खड़ा होता था। ठीक ऐसे अवसर पर एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता थी जो सब

पहलुओं को मिलाकर, सब का 'समन्वय' करके, 'समाज' के समग्र-रूप को हमारे सामने रख दे। चार अंधों की कहानी प्रसिद्ध है। उनके सामने हाथी पड़ गया। किसी ने टाँग पकड़ी, किसी ने कान पकड़ा, किसी ने सूँड पकड़ी। जिसने जो-कुछ पकड़ा, उसने हाथी का वही वर्णन कर डाला। असली, यथार्थ-वर्णन तो इन सबके दृष्टि-कोणों को मिलाने से बनता है। इसी प्रकार समाज-शास्त्र का समग्र-रूप तभी प्रकट होता है जब एक-एक विज्ञान के रूप को समाज-शास्त्र न समझ कर सबके सम्मिलित स्वरूप को समाज-शास्त्र समझा जाय। यही कारण है कि अन्य 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Sciences) पहले पैदा हुए हैं, समाज-शास्त्र पीछे पैदा हुआ है, पीछे इसलिए हुआ है क्योंकि अन्य सामाजिक-विज्ञानों ने जो परिणाम निकाले हैं, उन सब के मिलने से ही तो 'समाज-शास्त्र' का जन्म हुआ है।

प्रश्न

१. 'समाजशास्त्र का लक्षण कीजिये।
२. 'पारस्परिक-सम्बन्ध' (Relationship अथवा Association) से समाज-शास्त्र में आप क्या समझते हैं?
३. 'विज्ञान' क्या है, 'वैज्ञानिक-वर्णन' किसे कहते हैं, प्रत्येक विज्ञान की चार 'समस्याएँ' क्या होती हैं—यह दर्शाकर सिद्ध कीजिये कि समाज-शास्त्र भी एक ऐसा विज्ञान है जिसकी चार समस्याएँ हैं। समाज-शास्त्र की वे चार समस्याएँ क्या हैं?
४. 'मनोविज्ञान समाज-शास्त्र का घटक-तत्त्व (Elemental fact) है'—इस कथन की व्याख्या कीजिये।
५. समाज-शास्त्र के 'प्रभावक-तत्त्व' (Conditioning facts) क्या हैं, उनका संक्षिप्त वर्णन कीजिये।
६. समाज-शास्त्र के स्वरूप का वर्णन कीजिये।
७. सिमल तथा वीरकांद्त का 'विशेषात्मक'-दृष्टिकोण (Specialism) क्या है?
८. दुरखीम तथा हौब-हाऊस का 'समन्वयात्मक'-दृष्टिकोण (Synthesis) क्या है?
९. 'विशेषात्मक' तथा 'समन्वयात्मक'-दृष्टिकोणों को एक-सूत्र में मिलाने का क्या समाधान दिया जा सकता है?
१०. समाज-शास्त्र के उद्देश्यों एवं उसके विषय-क्षेत्र का प्रतिपादन कीजिये।

३

समाज-शास्त्र का अन्य सामाजिक-विज्ञानों के साथ सम्बन्ध

(RELATION OF SOCIOLOGY TO OTHER SOCIAL SCIENCES)

सब विज्ञानों का काम कार्य-कारण के नियम का पता लगाना है। जो-कुछ है वह क्यों है, उसका कारण क्या है? कोई समय था जब मनुष्य हर-एक प्रश्न का उत्तर देते हुए कह देता था--इसका कारण ईश्वर है, परन्तु अब मनुष्य इतने मात्र से सन्तुष्ट नहीं होता। ईश्वर स्वयं तो आकर हर बात में हस्त-क्षेप नहीं करता रहता। अगर वह है, तो वह भी किन्हीं नियमों से ही तो इस महान् विश्व को चला रहा है। सब नियमों का आधार-भूत नियम, जिसमें सब नियम समा जाते हैं, कार्य-कारण का नियम है, और प्रत्येक विज्ञान अपने क्षेत्र में इसी नियम की खोज कर रहा है। स्थूल-पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानों को, जो नियमों की खोज कर रहे हैं, हम तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं—'प्राकृतिक-विज्ञान', 'विशेष-सामाजिक-विज्ञान' तथा 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' अर्थात् 'समाज-शास्त्र'।

(१) प्राकृतिक-विज्ञान--वे विज्ञान जो प्राकृतिक-पदार्थों में कार्य-कारण के नियम को ढूँढ रहे हैं, उन्हें हम 'प्राकृतिक-विज्ञान' (Natural Sciences) कहते हैं। भौतिकी, रसायन, इंजीनियरिंग आदि 'प्राकृतिक-विज्ञान' हैं।

(२) विशेष-सामाजिक-विज्ञान--वे विज्ञान जो मनुष्य के मनुष्य के साथ जो सम्बन्ध हैं, उन सब सम्बन्धों का अध्ययन करने के स्थान में, किसी एक सम्बन्ध का, सम्बन्ध-विशेष का अध्ययन करते हैं, उस विशेष सम्बन्ध के कार्य-कारण की खोज करते हैं, उन्हें हम 'विशेष सामाजिक-विज्ञान' (Special Social Sciences) कहते हैं। 'अर्थ-शास्त्र' मनुष्य के आर्थिक पहलू को खोजता है, 'इतिहास' मनुष्य की घटनाओं का सम्बन्ध जोड़ता है, 'मनोविज्ञान' मनुष्य के मन का पता लगाता है, 'सामाजिक-मनोविज्ञान' मनोविज्ञान की ही एक शाखा है, 'राजनीति-शास्त्र' मनुष्य के झगड़े क्यों होते हैं, इस बात को ढूँढ निकालता है। ये सब विज्ञान समाज की किसी एक समस्या, उसके लिए किसी एक पहलू, एक प्रश्न का समाधान करते हैं, समग्र समाज को लेकर नहीं चलते--इसलिए इन्हें 'विशेष सामाजिक-विज्ञान' (Special Social Sciences) कहा जाता है।

(३) सामान्य-सामाजिक-विज्ञान अर्थात् समाज-शास्त्र––ऐसा भी विज्ञान हो सकता है जो मनुष्य की सिर्फ़ एक समस्या को लेकर न चले, भिन्न-भिन्न 'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों' ने जो समस्याएँ प्रस्तुत की हैं, उन सब को इकट्ठा कर ले; मनुष्य या मनुष्यों की समस्याओं (Man's problems) को नहीं, समग्र मानव-जाति, समग्र मानव-समाज (Mankind as a whole) की समस्याओं को हल करने के नियमों का पता लगाये। ऐसा विज्ञान 'विशेष-सामाजिक-विज्ञान' नहीं कहलायेगा क्योंकि वह किसी 'विशेष' समस्या को लेकर नहीं खड़ा हुआ, वह 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' (General Social Science) कहलायेगा। १९वीं सदी में दूसरे विज्ञान प्रकट हुए हैं, १९वीं के अन्त और बीसवीं सदी के शुरू में यह 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' (General Social Science) प्रकट हुआ है, जिसे 'समाज-शास्त्र' (Sociology) कहा जाता है।

१. 'समाज-शास्त्र' एक 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' है
(Sociology is a General Social Science)

हमने अभी कहा है कि समाज-शास्त्र एक 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' है। 'सामान्य'-शब्द इसलिए लगा दिया क्योंकि मनुष्य के किसी 'एक' प्रश्न को न लेकर यह विज्ञान उसके 'सभी' प्रश्नों को लेकर चलता है। 'सभी', अर्थात् 'सामान्य'। परन्तु जब हम कहते हैं कि समाज-शास्त्र का काम मनुष्य के 'सभी' प्रश्नों पर विचार करना है, तब हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि परमात्मा से लेकर मच्छर तक सब-कुछ इस शास्त्र के अध्ययन का विषय है। हमारा कथन इतना ही है कि अन्य 'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों' (Special Social Sciences) की अपेक्षा यह अधिक व्यापक है। 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' अर्थात् 'समाज-शास्त्र', तथा 'विशेष-सामाजिक-विज्ञान'––इन दोनों के अध्ययन के विषय तो एक ही हैं, भेद इतना ही है कि 'विशेष-सामाजिक-विज्ञान' जिन विषयों का अलग-अलग अध्ययन करते हैं, उन्हीं को 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान', अर्थात् 'समाज-शास्त्र' मिला लेता है, उनका समन्वय कर लेता है। वैसे जितने भी 'सामाजिक-विज्ञान' हैं, चाहे 'विशेष' हों या 'सामान्य', सभी के अध्ययन का विषय 'मनुष्य' तथा 'मनुष्य की समस्याएँ' हैं। 'विशेष'-सामाजिक-विज्ञान का विषय मनुष्य की विशेष-विशेष समस्याएँ हैं, 'सामान्य'-सामाजिक-विज्ञान, अर्थात् 'समाज-शास्त्र' का विषय उन सब विशेष-विशेष समस्याओं का समन्वय है, अर्थात् उन सब समस्याओं पर एक ही जगह पर विचार करना है।

'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों' को 'विज्ञान' क्यों कहते हैं ?

विशेष-'सामाजिक-विज्ञानों' (Special Social Sciences) को तो देर से 'विज्ञान' (Sciences) माना जाता रहा है। इसके दो कारण हैं:––

(क) भावात्मक-विचार (Abstract ideas)––पहला कारण तो यह है कि कोई विद्या 'विज्ञान' तब कहलाती है जब उसमें 'भावात्मक-विचारों'

(Abstract ideas) के रूप में सोचा जा सके। उदाहरणार्थ, अर्थशास्त्र म 'भावात्मक-विचारों' (Abstract ideas) में सोचा जा सकता है। अर्थ, सम्पत्ति (Wealth) आदि 'भावात्मक'-विचारों की तरह राजनीति-शास्त्र में 'राष्ट्र', 'राज्य' (State, Kingdom) आदि 'भावात्मक'-विचार हैं। इसलिए 'अर्थ-शास्त्र', 'राजनीति-शास्त्र' आदि 'विज्ञान' की श्रेणी में गिने जाते हैं।

(ख) यथार्थ तथा शुद्ध नियम (Exact laws)—दूसरा कारण यह है कि कोई विद्या 'विज्ञान' तब कहलाती है जब उसमें कुछ ऐसे 'नियमों' (Laws) का पता लगे, जो शुद्ध हों, यथार्थ हों, झट-झट बदलते न हों। अर्थशास्त्र (Economics) में 'पूर्त्ति तथा माँग' (Law of Supply and Demand) का पता लगा, यह एक यथार्थ तथा शुद्ध नियम है, इसलिए अर्थ-शास्त्र को 'विज्ञान' माना जाता है। यह यथार्थ तथा शुद्ध नियम कैसे है? अनुभव बतलाता है कि जब किसी वस्तु की माँग बढ़ जाती है तब उसकी पूर्त्ति भी उसी तेज़ी से होने लगती है। इसी प्रकार किसी वस्तु की माँग बढ़ने पर उसके दाम बढ़ जाते हैं, माँग घट जाने पर दाम घट जाते हैं। ये सब अर्थ-शास्त्र के यथार्थ तथा शुद्ध नियम हैं। इन्हीं के कारण यह 'विशेष-सामाजिक-विज्ञान' कहलाता है। इसी प्रकार जितने 'विशेष-सामाजिक-विज्ञान' (Special Social Sciences) हैं, सबके अपने-अपने यथार्थ तथा शुद्ध नियम हैं, इस कारण ये सब 'विज्ञान' माने जाते हैं।

प्राकृतिक-विज्ञानों को विज्ञान क्यों कहते हैं?

जैसे 'विशेष सामाजिक-विज्ञानों' (Special Social Sciences) को 'विज्ञान' कहते हैं, वैसे उससे भी अधिक निश्चय के साथ 'प्राकृतिक-विज्ञानों' (Natural Sciences) को 'विज्ञान' कहते हैं।

'प्राकृतिक-विज्ञानों'—भौतिकी, रसायन आदि—को विज्ञान इसलिए कहते हैं क्योंकि इनमें निम्न बातें पायी जाती हैं:

(क) समस्या का निर्धारण (Formulation of the Problem),
(ख) अवलोकन तथा परीक्षण (Observation and Experiment),
(ग) वर्गीकरण (Classification),
(घ) पूर्व-कल्पना, उप-कल्पना या परीक्षणात्मक नियम (Hypothesis or Empirical generalisations),
(ङ) तथ्यों की जाँच (Verification),
(च) अखंड नियमों का प्रतिपादन (Formulation of inviolable laws),
(छ) भविष्यवाणी (Prediction),
(ज) नियमों की शुद्धता तथा यथार्थता (Exactitude of laws),
(झ) प्रयोगशाला-पद्धति का उपयोग (Use of laboratory method).

'प्राकृतिक-विज्ञानों' में पायी जाने वाली इन नौ बातों का अभिप्राय समझने के लिये इनके विषय में थोड़ा-बहुत जानना आवश्यक है।

(क) समस्या का निर्धारण (Formulation of the Problem)—जब हम किसी विज्ञान का अध्ययन करते हैं तब हमें उस विज्ञान की 'मुख्य-समस्या' को जानना होता है। अर्थशास्त्र की मुख्य-समस्या अर्थ है, धन है; वनस्पति-शास्त्र की मुख्य समस्या पेड़-पौधे हैं, प्राणि-शास्त्र की 'मुख्य-समस्या' जीवन है।

(ख) अवलोकन तथा परीक्षण (Observation and Experiment)—'मुख्य-समस्या' का निर्धारण करके फिर हमें उसकी जाँच-पड़ताल करनी होती है, देखना होता, अवलोकन करना होता है। अवलोकन के दो रूप हैं—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। प्रत्यक्ष अवलोकन का अर्थ है—अपनी इन्द्रियों से देखना; परोक्ष अवलोकन का अर्थ है—इन्द्रियों से देखने के स्थान में किसी अन्य साधन से देखना। उदाहरणार्थ, वनस्पति-शास्त्र का अध्ययन करते हुए हम जड़ी-बूटियों का 'प्रत्यक्ष-अवलोकन' करते हैं, रसायन-शास्त्र का अध्ययन करते हुए भी हम अणुओं का इन्द्रियों से सूक्ष्म-वीक्षण-यंत्र के द्वारा 'प्रत्यक्ष-अवलोकन' ही करते हैं। कई बातों का हम इन प्रत्यक्ष-अवलोकनों से अनुमान कर लेते हैं, वे 'परोक्ष-अवलोकन' हैं। 'प्राकृतिक-विज्ञानों' में 'प्रत्यक्ष-अवलोकन' का ही सहारा लिया जाता है, 'परोक्ष-अवलोकन' का नहीं।

'प्रत्यक्ष-अवलोकन' के दो रूप हैं—'स्वाभाविक' (Spontaneous) तथा 'नियन्त्रित' (Controlled)। घटनाओं का अपने स्वाभाविक पर्यावरण में अध्ययन 'स्वाभाविक प्रत्यक्ष-अवलोकन' है। उदाहरणार्थ, हम जंगल में जाकर जिन पर्यावरणों में जड़ी-बूटियाँ उगी हुई हैं, उनमें उनका अध्ययन करते हैं, इसमें वस्तु का अपने स्वाभाविक-पर्यावरण में अध्ययन किया जाता है। जब हम पर्यावरण को अपने-आप बना कर, कृत्रिम पर्यावरण में किसी घटना का अध्ययन करते हैं, तब यह अध्ययन 'नियन्त्रित प्रत्यक्ष-अवलोकन' कहलाता है। उदाहरणार्थ, हम एक गमले में मटर का बीज बोते हैं, उसे गर्मियों के दिनों में भी बर्फ़ आदि के द्वारा किसी ठंडी जगह पर रख कर उसके फूटने आदि का अवलोकन करते हैं। यह अवलोकन स्वाभाविक-पर्यावरण में न होकर कृत्रिम-पर्यावरण में किया गया है, इसलिए 'नियन्त्रित' है। प्रत्यक्ष-अवलोकन का पहला रूप 'अवलोकन' (Observation) तथा दूसरा रूप 'परीक्षण' (Experiment) कहलाता है।

(ग) वर्गीकरण (Classification)—प्राकृतिक-तथ्यों का अवलोकन करने के बाद विज्ञान का काम इन तथ्यों का 'वर्गीकरण' है—एक तरह के तथ्य एक कोटि में डाल दिये जाते हैं, दूसरी तरह के दूसरी कोटि में। उदाहरणार्थ, भौतिकी-शास्त्र में ठोस, द्रव तथा गैस—इन तीन वर्गों में भौतिक-तत्त्वों को बाँट दिया जाता है।

(घ) पूर्व-कल्पना, उप-कल्पना या परीक्षणात्मक-नियम (Hypothesis or Empirical generalisations)—जब किन्हीं तथ्यों का संग्रह करके उनका 'वर्गीकरण' कर लिया जाता है, तब 'वर्गीकरण' का उद्देश्य क्या होता है? इसका उद्देश्य होता है इस 'वर्गीकरण' से किन्हीं 'नियमों' (Laws) तक पहुँचना।

परन्तु नियमों तक तो तभी पहुँचा जा सकता है, अगर इस वर्गीकरण के आधार पर पहले कोई 'कल्पना' बनाई जाय। यह 'कल्पना' क्योंकि 'नियम' के निर्धारण से पहले की जाती है, परीक्षणात्मक-स्तर पर होती है, अभी निश्चित-नियम तक हम नहीं पहुँचे होते, इसलिए इस कल्पना को 'पूर्व-कल्पना' (Hypothesis) या 'परीक्षणात्मक-नियम' (Empirical generalisation) कहते हैं।

(ङ) तथ्यों की जाँच (Verification)--यह 'पूर्व-कल्पना' या 'परीक्षणात्मक-नियम' तबतक 'नियम' (Definite laws) की श्रेणी में नहीं गिने जाते जबतक इनकी पूरी-पूरी जाँच नहीं हो जाती। पूर्व-कल्पना जब व्यापक रूप से सब जगह सत्य सिद्ध होती है, तब उसे 'नियम' (Law) का नाम दिया जाता है। वृक्ष से सेव गिरा। इसकी 'पूर्व-कल्पना' यह है कि पृथ्वी सेव को अपनी तरफ़ खेंचती है, परन्तु इस 'पूर्व-कल्पना' को जब सब जगह निरीक्षण-परीक्षण से ठीक पाया जाय, इसकी जाँच-पड़ताल कर ली जाय, तब इसे 'नियम' कहा जाता है।

(च) अखंड नियमों का प्रतिपादन (Formulation of inviolable laws)--प्राकृतिक-विज्ञानों में 'पूर्व-कल्पना' की छान-बीन करने के बाद अखण्ड नियमों का प्रतिपादन किया जाता है--अखण्ड, निश्चित नियम, ऐसे नियम जो कभी टूट नहीं सकते।

(छ) भविष्यवाणी (Prediction)--जब हम किसी निश्चित-नियम पर पहुँच जाते हैं, तब उसके आधार पर भविष्यवाणी भी कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, चांद या सूर्य ग्रहण कब होगा, अमावस और पूर्णिमा कब पड़ेगी--यह सब नक्षत्रों के यथार्थ नियमों को जान कर भविष्यवाणी के तौर पर कहा जा सकता है, और क्योंकि ये भविष्यवाणियाँ यथार्थ-नियमों के आधार पर की जाती हैं, इसलिये अक्षरशः सत्य सिद्ध होती हैं।

(ज) नियमों की शुद्धता तथा यथार्थता (Exactitude of laws)--प्राकृतिक-विज्ञानों को 'विज्ञान' इसलिए कहा जाता है क्योंकि उनमें नियम बिलकुल शुद्ध तथा यथार्थ होते हैं। रसायन-शास्त्री कहेगा कि उद्जन के दो अणु तथा ओषजन का एक अणु मिलकर जल बनता है, यह नहीं कहेगा कि उद्जन के दो के लगभग तथा ओषजन का एक के लगभग अणु मिलकर जल बनता है। विज्ञान के नियम शुद्ध तथा यथार्थ होने चाहिएँ।

(झ) प्रयोगशाला-पद्धति का उपयोग (Use of laboratory method)--प्राकृतिक-विज्ञानों में प्रयोगशाला का इस्तेमाल किया जाता है। उसमें मेज लगी होती है, यन्त्र होते हैं, परीक्षण-नलिकाएँ होती हैं, तराजू होती हैं, रासायनिक द्रव होते हैं। प्रत्येक 'विज्ञान' में इनका या इन जैसी अन्य वस्तुओं का होना आवश्यक है, अन्यथा विज्ञान विज्ञान ही क्या हुआ।

'समाज-शास्त्र' को भी 'विज्ञान' क्यों न माना जाय ?

प्रश्न यह है कि क्या 'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों' (Special Social Sciences) तथा 'प्राकृतिक-विज्ञानों' (Natural Sciences) की तरह

'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' (General Social Science) अर्थात् 'समाज-शास्त्र' (Sociology) की विद्या को भी 'विज्ञान', अर्थात् 'सायन्स' माना जाना चाहिए या नहीं ?

विशेष-सामाजिक-विज्ञानों की तरह समाज-शास्त्र को भी विज्ञान माना जाना चाहिये

हम देख आये हैं कि 'भावात्मक-विचार' तथा 'यथार्थ एवं शुद्ध नियम'— इन दो बातों के कारण 'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों'—अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र आदि—को 'विज्ञान' माना जाता है। 'समाज-शास्त्र' की क्या स्थिति है ?

(क) भावात्मक-विचार—किसी विद्या के 'विज्ञान' माने जाने की पहली शर्त्त यह है कि उसमें विचारों की 'भावात्मकता' (Abstractions) हो। इस दृष्टि से सिमल आदि कई जर्मन लेखक, जिनका ज़िक्र किया जा चुका है, कहते हैं कि समाज-शास्त्र का काम समाज के भिन्न-भिन्न सम्बन्धों का निरीक्षण करके कुछ ऐसे सम्बन्ध, कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ पता लगा लेना है, जो 'भावात्मक' (Abstract) हों, और फिर इन सम्बन्धों, इन प्रवृत्तियों का वर्णन कर देना है। अगर यह बात ठीक है, तो जिस हद तक यह विद्या अपने को इस प्रकार के भावात्मक-वर्णन में बाँधे रखती है, उस हद तक अन्य 'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों' की तरह यह 'विज्ञान' है।

परन्तु असल में तो 'समाज-शास्त्र' की विद्या 'भावात्मक-वर्णन' करने की विद्या नहीं है। समाज-शास्त्र का काम 'भावात्मक-विचार' करना (Abstract thinking) नहीं, इसका काम तो अन्य शास्त्रों के 'भावातमक'-विचारों को समाज में घटाना है। समाज-शास्त्र भावात्मक नहीं, क्रियात्मक विद्या है। परन्तु क्या क्रियात्मक होने से यह 'विज्ञान' नहीं रहती ? यह तो वह 'विज्ञान' है, जो अन्य 'विज्ञानों' का अध्ययन करता है, और उन विज्ञानों का अध्ययन करने के बाद उनके 'भावात्मक'-विचारों को मनुष्य-जीवन में घटाता है। अन्य सामाजिक-विज्ञान जहाँ समाप्त होते हैं वहाँ समाज-शास्त्र शुरू होता है। अन्य सामाजिक-विज्ञान 'भावात्मक-विचारों' (Abstractions) पर लाकर हमें छोड़ देते हैं, समाज-शास्त्र इन 'भावात्मक-विचारों' को पकड़ लेता है, और पकड़ कर मानव-समाज में घटाना शुरू करता है। क्योंकि वह 'भावात्मक-विचारों' को मानव-समाज में घटा देता है, इससे उसका 'विज्ञान' होना कैसे ख़त्म हो सकता है ? स्पष्ट है कि अगर 'विशेष-सामाजिक-शास्त्र' (Special Social Sciences) 'विज्ञान' कहे जा सकते हैं, तो उनका समन्वय करने वाला, उनके परिणामों को लेकर आगे चलने वाला 'समाज-शास्त्र' हर हालत में 'विज्ञान' कहा जा सकता है।

(ख) यथार्थ तथा शुद्ध नियम—किसी विद्या के 'विज्ञान' माने जाने की दूसरी शर्त्त यह है कि उसमें कुछ ऐसे नियमों का पता लगे, जो यथार्थ हों, शुद्ध हों, अनिश्चित न हों। इसमें संदेह नहीं कि समाज-शास्त्र कुछ नियमों का पता

लगाता है, परन्तु अन्य 'विशेष-सामाजिक'-विज्ञानों और 'समाज-शास्त्र' में यह भेद है कि अन्य विज्ञानों के नियम यथार्थ होते हैं, समाज-शास्त्र के नियम काँटे पर तुले हुए नहीं होते। जब हम कहते हैं--'समाज-शास्त्र के नियम'--तब हमारा क्या मतलब होता है ? हमारा मतलब होता है--ऐसे नियम जो समाज में काम कर रहे हैं। 'समाज' में ईंट-पत्थर तो हैं नहीं, 'समाज' में तो 'मनुष्य' हैं। जो नियम निष्प्राण प्रकृति में काम करेंगे, अणुओं, परमाणुओं में काम करेंगे, वे अखंड होंगे। गुरुत्वाकर्षण का नियम अखण्ड इसलिए है, क्योंकि यह प्राणहीन प्रकृति में काम कर रहा है। मनुष्य-समाज में जो नियम काम करेंगे, वे अणुओं, परमाणुओं में नहीं, मनुष्यों में करेंगे, और इसलिए उनका सम्बन्ध मनुष्य की मानसिक-रचना के साथ होगा। मनुष्य का मन बदल सकता है, अब एक विचार आया, मन ने पलटा खाया तो वह विचार बदल गया। इसलिए समाज-शास्त्र के नियम अन्य शास्त्रों की तरह यथार्थ, शुद्ध तथा अखण्ड नहीं कहे जा सकते, इसलिए नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनका आधार मनुष्य की 'मानसिक-प्रवृत्तियाँ' (Mental tendencies) हैं, जो एक दिशा में काम करती हैं, परन्तु उस दिशा में जाने से अपने को रोक भी सकती हैं। किसी देश की ऐसी अवस्थाएँ हो सकती हैं, कि समाज-शास्त्र के नियमों के आधार पर हम कह दें कि अब लड़ाई छिड़ने वाली है, परन्तु क्योंकि समाज-शास्त्र के नियमों का आधार 'मनुष्य' हैं, 'मनुष्य की मानसिक-प्रवृत्तियाँ' हैं, इसलिए सब कारणों के उपस्थित होने पर भी लड़ाई रुक सकती है, इसलिए रुक सकती है क्योंकि जो मानवीय-कारण लड़ाई पैदा करने वाले थे, उनके विरोधी दूसरे मानवीय-कारण उपस्थित हो गए, या इसलिए रुक सकती है कि जो लड़ने वाले थे उन्होंने लड़ाई के सब कारणों के होने पर भी अपना विचार ही बदल लिया। परन्तु क्योंकि समाज-शास्त्र के नियम यथार्थ, शुद्ध तथा अखण्ड नहीं हैं, क्या इसलिए इसे 'विज्ञान' न कहा जाय ? इसके नियम यथार्थ, शुद्ध तथा अखण्ड न होने पर भी यह 'विज्ञान' है, इसलिए 'विज्ञान' है क्योंकि 'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों' तथा 'प्राकृतिक-विज्ञानों' की तरह समाज-शास्त्र भी 'समस्या का निर्धारण' (Formulation of the problem), 'अवलोकन तथा परीक्षण' (Observation and Experiment), 'वर्गीकरण' (Classification), 'पूर्व-कल्पना' (Hypothesis), 'तथ्यों की जाँच' (Verification) तथा 'नियम-निर्धारण' (Formulation of Laws) --इन प्रक्रियाओं में से गुजर कर ही अपने परिणामों पर पहुँचता है। किसी 'नियम' पर पहुँचने की जो प्रक्रिया है--वह सारी प्रक्रिया समाज-शास्त्र में भी होती है, भेद इतना ही है कि क्योंकि समाज-शास्त्र में 'मनुष्य', 'मनुष्य की प्रवृत्ति'-जैसा एक तत्त्व है जो बदल सकता है, गणित, रसायन, भौतिकी आदि 'प्राकृतिक-विज्ञानों' में यह तत्त्व नहीं है, इसलिए समाज-शास्त्र के परिणाम 'नियम' (Laws) कहलाते हुए भी बदल सकते हैं, अन्य शास्त्रों के परिणाम भी 'नियम' कहलाते हैं, परन्तु बदलते नहीं। जिसे अन्य शास्त्रों में 'नियम' (Law) कहते हैं,

उसे 'समाज-शास्त्र' में 'प्रवृत्ति' (Tendency) कहते हैं, 'प्रवृत्ति' इसलिए कहते हैं और 'नियम' इसलिए नहीं कहते क्योंकि यह बदल भी सकती है। परन्तु क्योंकि समाज-शास्त्र में 'नियम' को 'प्रवृत्ति' कहते हैं, सिर्फ़ इतनी बात से क्यों समाज-शास्त्र को 'विज्ञान' न कहा जाय? अगर नियमों के बदलने के कारण ही 'समाज-शास्त्र' विज्ञान नहीं है, तो 'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों' के नियमों को भी गणित आदि की तरह का बिलकुल शुद्ध तथा यथार्थ नहीं कहा जा सकता। ऐसी हालत में सिर्फ़ 'प्राकृतिक-विज्ञान' ही विज्ञान कहे जा सकेंगे, अन्य कोई विज्ञान विज्ञान नहीं कहलायेगा।

प्राकृतिक-विज्ञानों की तरह समाज-शास्त्र को भी विज्ञान माना जाना चाहिये

हम देख आये हैं कि 'समस्या का निर्धारण', 'अवलोकन तथा परीक्षण', 'वर्गीकरण', 'पूर्व-कल्पना', 'तथ्यों की जाँच', 'अखण्ड नियमों का प्रतिपादन', 'भविष्यवाणी', 'नियमों की शुद्धता तथा यथार्थता' एवं 'प्रयोगशाला-पद्धति के उपयोग' के कारण प्राकृतिक-विज्ञानों को 'विज्ञान' कहा जाता है। इस सम्बन्ध में 'समाज-शास्त्र' की क्या स्थिति है?

(क) समस्या का निर्धारण (Formulation of the Problem)—अगर किसी शास्त्र के 'विज्ञान' कहलाने के लिए 'समस्या का निर्धारण' आवश्यक है, तो समाज-शास्त्र में भी 'समस्या का निर्धारण' होता है। जैसे अर्थ-शास्त्र की समस्या धन है, वनस्पति-शास्त्र की समस्या पेड़-पौधे हैं, वैसे समाज-शास्त्र की समस्या 'सामाजिक-सम्बन्ध' हैं।

(ख) अवलोकन तथा परीक्षण (Observation and Experiment)—जैसे अन्य शास्त्रों में 'प्रत्यक्ष' तथा 'परोक्ष' अवलोकन एवं परीक्षण किया जाता है, वैसे समाज-शास्त्र में भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष अवलोकन एवं परीक्षण किया जाता है, इसलिए यह 'विज्ञान' है। उदाहरणार्थ, समाज-शास्त्र में अनेक सामाजिक-समस्याओं को समझने तथा सुलझाने के लिए 'साक्षात्कार' या 'भेंट' की जाती है। यह 'प्रत्यक्ष-अवलोकन' है। कभी-कभी 'प्रश्नावली' भेजी जाती है जिसका उत्तर मँगवाया जाता है। यह 'परोक्ष-अवलोकन' है। 'प्रत्यक्ष-अवलोकन' के हमने दो भाग किये थे—स्वाभाविक तथा नियन्त्रित। जब हम किसी जन-जाति के लोगों के बीच जाकर रहते हैं, उनके रीति-रिवाजों को उनके बीच रह कर अध्ययन करते हैं, तब यह 'स्वाभाविक प्रत्यक्ष-अवलोकन' है, जब हम किसी बालक को किन्हीं ख़ास-ख़ास पर्यावरणों में रखकर उस पर उन पर्यावरणों का प्रभाव देखना चाहते हैं, तब यह 'नियन्त्रित प्रत्यक्ष-अवलोकन' हो जाता है। अकबर ने कुछ बच्चों को एकान्त में रखकर यह जानना चाहा था कि बिना सिखाये वे कोई भाषा बोल सकते हैं, या नहीं। यह 'नियन्त्रित प्रत्यक्ष-अवलोकन' था। जन-जातियों में जाकर उनके रीति-रिवाजों का अध्ययन 'अवलोकन' (Observation)

का उदाहरण है, अकबर का बच्चों को एकान्त में रखना 'परीक्षण' (Experiment) का उदाहरण है, क्योंकि इसमें पर्यावरण का नियन्त्रण किया गया है।

(ग) वर्गीकरण (Classification)--'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों' तथा 'प्राकृतिक-विज्ञानों' की तरह समाज-शास्त्र में भी तथ्यों तथा घटनाओं का वर्गीकरण किया जाता है। उदाहरणार्थ, अपराध को 'बालापराध'-'किशोरापराध'-'युवापराध'--इन तीन भागों में बाँटा जाता है। 'बालापराध' का 'पारिवारिक-पर्यावरण' के साथ क्या सम्बन्ध है--इसे जानने के लिए परिवार को भिन्न-भिन्न वर्गों में बाँटा जायगा। ऐसा परिवार जिसमें पिता है, माता नहीं है; ऐसा परिवार जिसमें माता है, पिता नहीं है; ऐसा परिवार जिसमें बच्चे को विमाता के साथ रहना पड़ रहा है; ऐसा परिवार जिसमें पति-पत्नी का तलाक हुआ है। इन भिन्न-भिन्न प्रकार के परिवारों में बालक के अपराध करने की प्रवृत्ति पर क्या प्रभाव पड़ता है--यह सब-कुछ जानने के लिए परिवार का उक्त प्रकार का वर्गीकरण करके किसी तथ्य को ठीक तरह से समझा जा सकता है।

(घ) पूर्व-कल्पना, उप-कल्पना या परीक्षणात्मक नियम (Hypothesis or Empirical generalisation)--जब हम परिवार का बालक के अपराध की दृष्टि से वर्गीकरण करते हैं, तब एक अस्थायी-कल्पना कर लेते हैं। वह कल्पना यह है कि अगर परिवार में विच्छेद है, पिता है माता नहीं, माता है पिता नहीं, विमाता है या परिवार में तलाक हुआ है, तो बालक की अपराध करने की प्रवृत्ति जाग उठती है। अन्य विज्ञानों की तरह समाज-शास्त्र में भी इस प्रकार की पूर्व-कल्पनाएँ या परीक्षणात्मक-नियम कल्पित कर लिये जाते हैं. अतः यह अन्य विज्ञानों की तरह एक 'विज्ञान' है।

(ङ) तथ्यों की जाँच (Verification)--हमने यह पूर्व-कल्पना की कि विगठित-परिवार में बालक अपराधी मनोवृत्ति का हो जाता है। जैसे अन्य विज्ञानों में उस-उस विज्ञान की पूर्व-कल्पना की जाँच-पड़ताल होती है, उसे भिन्न-भिन्न अवसरों पर घटा कर परखा जाता है, वैसे समाज-शास्त्र में भी उक्त कल्पना को भिन्न-भिन्न परिवारों में घटा कर देखा जायगा। अगर सब जगह यह कल्पना ठीक उतरेगी, तो इस कल्पना को 'समाज-शास्त्र' का नियम समझ लिया जायगा।

(च) यथार्थ तथा अखंड नियमों का प्रतिपादन (Formulation of exact and inviolable laws)--हम पहले लिख आये हैं कि 'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों'--अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, इतिहास आदि--में यथार्थ तथा शुद्ध नियमों तथा 'प्राकृतिक-विज्ञानों'--रसायन, भौतिकी आदि--में अखण्ड, अटल नियमों का प्रतिपादन होता है। कई लोगों का कहना है कि क्योंकि 'समाज-शास्त्र' में न तो यथार्थ तथा शुद्ध नियमों का प्रतिपादन होता है, न अखण्ड, अटल नियमों का प्रतिपादन होता है, इसलिए यह 'विज्ञान' नहीं है।

जहाँ तक 'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों' का सम्बन्ध है, कहा जाता है कि उनमें यथार्थ तथा शुद्ध नियम काम करते हैं, 'समाज-शास्त्र' में यथार्थ नियम काम नहीं

करते। उदाहरणार्थ, माँग तथा पूर्त्ति का नियम अर्थशास्त्र में काम करता है। यह यथार्थ तथा शुद्ध नियम है। अगर माँग बढ़ेगी तो दाम भी बढ़ेगा, माँग घटेगी तो दाम भी घटेगा। परन्तु क्या यह नियम सर्वथा, सदा यथार्थ है? कल्पना कीजिये कि मुझे मकान बनवाने के लिये राजों की जरूरत है। काम करने के लिए १० राज आ गये, मुझे ५ की जरूरत है, बाकी ५ को काम करने के लिए कोई जगह नहीं। अर्थशास्त्र के नियमानुसार क्योंकि १० मजदूरों की माँग नहीं है, ५ की माँग है, इसलिए इनकी मजदूरी के दाम घट जायेंगे। कुछ अंश तक यह ठीक है, परन्तु अगर इन मजदूरों से काम कराने वाला गांधीवादी है, तो वह यों सोचेगा कि किसी को उसकी आवश्यकता से कम वह क्यों दे? मनुष्य को उतना तो मिलना ही चाहिए जितने से उसका तथा उसके बाल-बच्चों का पेट भर सके। यह सोच कर अगर वह इन पाँच राजों को अपेक्षित मजदूरी से भी कुछ ज्यादा मजदूरी दे तो क्या आश्चर्य है। ऐसी अवस्था में अर्थशास्त्र का यथार्थ तथा शुद्ध नियम कहाँ गया। असल में जिस भी विज्ञान में मनुष्य बीच में आ पड़ता है, उसमें यथार्थता तथा शुद्धता हो ही नहीं सकती क्योंकि मनुष्य का मन जिस बात को आज सही मानता है उसी बात को कल ग़लत भी मान सकता है। यही कारण है कि किसी भी ऐसे विज्ञान में जिसमें मनुष्य से हमें वास्ता पड़ता है एक, यथार्थ, शुद्ध नियम नहीं रह सकता। अगर 'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों' में एक, यथार्थ, शुद्ध नियम नहीं रह सकता, और फिर भी वे 'विज्ञान' माने जाते हैं, तो 'समाज-शास्त्र' क्यों 'विज्ञान' नहीं माना जा सकता?

जहाँ तक 'प्राकृतिक-विज्ञानों' का सम्बन्ध है, कहा जाता है कि उनमें अखंड, अटल नियम काम करते हैं, समाज-शास्त्र में अखण्ड नियम काम नहीं करते। उदाहरणार्थ, गुरुत्वाकर्षण का अखण्ड नियम है, सब देशों और कालों में यह काम करता है, कहीं टूटता नहीं, इसलिए भौतिकी एक 'विज्ञान' है, 'समाज-शास्त्र' के नियम अखण्ड नहीं, इसलिए वह विज्ञान नहीं। कुछ अंश तक तो यह बात ठीक है कि 'प्राकृतिक-विज्ञानों' के नियम अखण्ड होते हैं, परन्तु यह बात सोलह-आने सही नहीं है। ऋतु-विज्ञान को विज्ञान माना जाता है, उसके आधार पर आज वर्षा होगी, कल भूचाल आयेगा आदि बातें कही जाती हैं, परन्तु ये बातें सदा ही सत्य नहीं उतरतीं। इसके अतिरिक्त दूसरी बात ध्यान रखने की यह है कि 'प्राकृतिक-विज्ञान' का सम्बन्ध बेजान चीज़ों से है। उनकी अपनी कोई इच्छा नहीं होती, उनकी अपनी कोई मानसिक-प्रवृत्ति नहीं होती। दीवार पर ईंट फेंकी जायगी तो दीवार से टकरायेगी ही, दीवार ईंट से बचकर अलग तो नहीं जा खड़ी होगी। मनुष्य पर अगर ईंट फेंकी जायगी, तो वह एक तरफ़ को हट सकता है, ईंट को बीच में रोक सकता है और बहुत-कुछ कर सकता है। 'प्राकृतिक-विज्ञान' विज्ञान ही ऐसा है जिसमें जड़-तत्त्वों के कारण नियम अखंड ही रहेगा, 'समाज-शास्त्र' विज्ञान ही ऐसा है जिसमें चेतन-तत्त्व के कारण नियम अखंड नहीं रहेगा। क्योंकि नियम अखंड नहीं, इससे उस शास्त्र के 'विज्ञान' होने में क्या

आपत्ति आ गई? तीसरी बात यह है कि 'प्राकृतिक-विज्ञान' में प्रत्येक घटना बड़ी सरल होती है, इसलिए अटल नियम भी वहाँ निकल आता है। उद्जन तथा ओषजन मिलेंगे तो पानी बनेगा, पेड़ सेव से गिरेगा तो गुरुत्व-शक्ति से नीचे आ पड़ेगा। 'समाज-शास्त्र' की घटनाएँ इतनी सरल नहीं होतीं, उनमें अनेक तत्त्व मिले होते हैं, जानदार-बेजानदार, जानदारों में अनेक जानदार। उदाहरणार्थ, भारत में जन-संख्या बढ़ रही है, पश्चिम के अनेक देशों में घट रही है। इसका क्या कोई सरल कारण है? भारत में गर्भ-निरोधक उपायों का प्रयोग नहीं होता, युरोप में होता है; भारत में ग़रीबी अधिक होने के कारण यौन-सुख के अलावा विलास के दूसरे साधन कम हैं, युरोप में अधिक हैं; भारत में शिक्षा के अभाव के कारण सन्तति-निग्रह की तरफ़ लोगों का ध्यान नहीं जाता, युरोप में हर-एक शिक्षित है इसलिए इस दिशा में सोचता है; भारत में संयुक्त परिवार-प्रथा अधिक है इसलिए कोई अपनी जिम्मेदारी नहीं समझता, युरोप में वैयक्तिक-परिवार होने के कारण हर-एक व्यक्ति जहाँ तक अपनी जिम्मेदारी निभा सकता है, वहीं तक परिवार को बढ़ाता है। जिस विज्ञान के एक विषय में इतने विषम-तत्त्व काम कर रहे हों, उसमें अटल नियम कहाँ दिखाई दे सकते हैं? अगर जो विचार आज युरोप में काम कर रहे हैं, वे अपने देश में काम करने लग जायें, तो जन-संख्या कैसे बढ़ सकती है? फिर भारत तथा युरोप के विषय में जन-संख्या के सम्बन्ध में अटल नियम कैसे बन सकता है?

(छ) भविष्यवाणी (Prediction)—'प्राकृतिक-विज्ञानों' के नियम हर देश-काल में अखण्ड होते हैं, इसलिए इन नियमों के आधार पर भविष्य-वाणी की जा सकती है, परन्तु समाज-शास्त्र के नियम अखण्ड नहीं होते, इसलिए इनके आधार पर भविष्य-वाणी नहीं की जा सकती। कई लोगों का कहना है कि इसी कारण समाज-शास्त्र को 'विज्ञान' नहीं कहा जा सकता। समाज-शास्त्र के 'विज्ञान' न होने पर यह आपत्ति ठीक नहीं। अगर समाज-शास्त्र में किसी प्रकार के नियम ही न बनाये जा सकते, तब तो इस प्रकार की आपत्ति हो सकती थी, परन्तु समाज-शास्त्र के नियम प्राकृतिक-विज्ञानों के नियमों जैसे नहीं हैं—यह क्या आपत्ति हुई? इसका तो इतना ही अर्थ हो सकता है कि दोनों विज्ञानों के नियमों के प्रकार में भेद है, अर्थात् सामाजिक-नियम और प्रकार के होते हैं, प्राकृतिक-नियम दूसरे प्रकार के होते हैं, इसका यह अर्थ तो नहीं होता कि सामाजिक-नियम होते ही नहीं। प्राकृतिक-नियमों के आधार पर भविष्य-वाणी की जा सकती है, सामाजिक-नियमों के आधार पर नहीं—इसका एक कारण है। प्राकृतिक घटनाओं में यह स्पष्ट होता है कि कौन-सी बात कारण है, कौन-सी कार्य है। जब कारण-कार्य का सम्बन्ध निश्चित हो, तब कारण को देख कर कार्य के विषय में निश्चित रूप से कहा जा सकता है। सामाजिक-घटनाओं में कारण-कार्य का नियम तो काम करता है, परन्तु प्राकृतिक-नियमों जैसा स्पष्ट कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। उदाहरणार्थ, ग़रीब आदमी शराब पीने

लगता है और शराब पीने वाला ग़रीब हो जाता है; मध्य-युग में यन्त्रों के अभाव के कारण दास-प्रथा चल रही थी, परन्तु दास-प्रथा के कारण यन्त्रों के आविष्कार की ज़रूरत भी नहीं थी। परन्तु इसका यह अभिप्राय तो नहीं कि समाज-शास्त्र में भविष्य-वाणी नहीं कर सकते, तो इस शास्त्र में कोई नियम ही नहीं हैं। इस शास्त्र में नियमों की सत्ता होने के कारण यह 'विज्ञान' है।

(ज) नियमों की शुद्धता तथा यथार्थता (Exactitude of laws)--इस विषय में हम 'च' में काफ़ी लिख आये हैं, इसलिए यहाँ कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं।

(झ) प्रयोगशाला पद्धति का प्रयोग (Use of laboratory method)--'प्राकृतिक-विज्ञान' इसलिए 'विज्ञान' कहलाते हैं क्योंकि उनमें निरीक्षण-परीक्षण के लिए प्रयोग-शालाएँ होती हैं, 'समाजशास्त्र' में इस प्रकार की कोई प्रयोग-शाला नहीं होती, इसलिए यह 'विज्ञान' कैसे कहला सकता है? परन्तु क्या यह आपत्ति ठीक है? 'समाज-शास्त्र' के 'विज्ञान' होने पर यह आपत्ति ठीक नहीं। क्यों?

(i) अनेक विज्ञानों में प्रयोग-शालाएँ नहीं----अनेक प्राकृतिक-विज्ञान ऐसे हैं जिनमें प्रयोग-शालाएँ नहीं, फिर भी वे 'विज्ञान' कहलाते हैं। उदाहरणार्थ, भू-गर्भ शास्त्र में उन प्राचीन युगों का अध्ययन किया जाता है जिन्हें 'हिम-युग' कहते हैं, जब भूमि के किन्हीं भागों में हिम-ही-हिम थी। इनका अध्ययन किन प्रयोगशालाओं में होता है? १९५८ में सब देशों के वैज्ञानिकों ने 'अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष' (International Geophysical Year) मनाया और पृथ्वी से ५ मील ऊपर के वायु-मण्डल का अध्ययन किया। इस उद्देश्य से वे लोग ध्रुवीय-प्रदेशों में गये, पृथ्वी से ५ मील ऊपर किसी प्रयोगशाला का निर्माण तो नहीं किया। प्रयोगशालाएँ बनीं, परन्तु जिस प्रदेश का ज्ञान प्राप्त करना था वहाँ प्रयोग-शाला नहीं बन सकती थी, जहाँ प्रयोग-शाला बनी वहाँ वह प्रदेश नहीं आ सकता था।

(ii) सब विज्ञानों की प्रयोगशाला अपने-अपने ढंग की होती है--प्रयोग-शाला का अगर यह अर्थ है कि भौतिकी-रसायन जैसे विज्ञानों की-सी प्रयोगशाला, तब तो समाज-शास्त्र के पास प्रयोग-शाला नहीं, परन्तु प्रयोग-शाला का यह अर्थ कहाँ तक ठीक है? ज्योतिष-शास्त्र की प्रयोग-शाला रसायन-शास्त्र की प्रयोग-शाला से भिन्न होती है, रसायन-शास्त्र की प्रयोग-शाला मनोविज्ञान-शास्त्र से भिन्न होती है। इसी प्रकार समाज-शास्त्र की प्रयोग-शाला अन्य विज्ञानों से भिन्न है। समाज-शास्त्र की प्रयोग-शाला सारा-का-सारा मानव-समाज है--आदि-समाज तथा वर्त्तमान-समाज। आज प्रत्येक देश में आदि-समाज की जो जन-जातियाँ हैं, उनके रीति-रिवाज़ों, प्रथाओं, उनके सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक विचारों, परम्पराओं का अध्ययन जीती-जागती मानव-समाज की प्रयोग-शाला में ही हो सकता है। इसी प्रकार वर्त्तमान-समाज के

रीति-रिवाज़, उसकी प्रथा आदि का अध्ययन भी वर्त्तमान समाज के बीच में रह कर किया जाता है। यह सारा-का-सारा आदि-समाज तथा वर्त्तमान-समाज समाज-शास्त्र की प्रयोगशाला है।

(iii) प्रयोग-शाला का उद्देश्य यथार्थ-अवलोकन की एक प्रणाली-मात्र है---प्रयोग-शाला का अर्थ यह समझा जाता है कि एक बड़ा भवन हो, मेज़ें-कुर्सियाँ लगी हों, अनेक यंत्र हों, परन्तु यह धारणा ग़लत है। प्रयोग-शाला की ये सब वस्तुएँ किसी उद्देश्य से एकत्रित की जाती हैं। वह उद्देश्य क्या है? वह उद्देश्य है---यथार्थ-अवलोकन करना। अगर यह बात ठीक है, तो प्रयोग-शाला यथार्थ-अवलोकन का एक साधन मात्र है, एक प्रणाली-मात्र है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रयोग-शाला से कोई विज्ञान विज्ञान नहीं कहलाता, यथार्थ-अवलोकन से, निरीक्षण-परीक्षण की पद्धति का इस्तेमाल करने से कोई विज्ञान विज्ञान कहलाता है। क्योंकि समाज-शास्त्र प्रयोग-शाला न होने पर भी निरीक्षण-परीक्षण का प्रयोग करता है, इसलिए यह 'विज्ञान' है।

(iv) अनेक प्राकृतिक-नियम बिना प्रयोगशालाओं के आविष्कृत हुए ---यह कहना कि 'प्राकृतिक-नियमों' के आविष्कार प्रयोग-शालाओं में ही हो सकते हैं, अन्यत्र नहीं, ग़लत है। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का आविष्कार किस प्रयोग-शाला में किया था? यूनानी विद्वान् आर्किमेडीज़ जब स्नान कर रहा था तब जल में उसे अपनी अंगूठी हल्की प्रतीत हुई और इससे आपेक्षिक-गुरुता के नियम का आविष्कार हुआ, प्रयोग-शाला में नहीं। अगर प्रयोग-शालाओं के बाहर प्राकृतिक-नियमों का निरीक्षण-परीक्षण से पता लगाने के कारण 'प्राकृतिक-विज्ञान' विज्ञान कहला सकते हैं, तो 'समाज-शास्त्र' बिना प्रयोग-शाला के निरीक्षण-परीक्षण का सहारा लेने के कारण विज्ञान क्यों नहीं कहला सकता?

(v) समाज-शास्त्र की अपने ढंग की प्रयोग-शाला है---हम कह आये हैं कि प्राचीन तथा नवीन मानव-समाज सारा-का-सारा समाज-शास्त्र की प्रयोग-शाला है। इसके अतिरिक्त समाज-शास्त्र के अध्ययन के लिये भी कमरे, मेज़-कुर्सियाँ बनाई तथा लगाई जाती हैं। इन कमरों में प्राकृतिक-विज्ञानों के उपकरणों की तरह व्यक्ति से साक्षात्कार, बात-चीत, प्रश्नावली का उत्तर, विचार-विमर्श, जन्म-दर, मृत्यु-दर, आदि पर विचार---ये सब अपने ढंग की प्रयोग-शाला है।

समाज-शास्त्र के पता लगाये नियमों का महत्त्व

भौतिकी-विज्ञान, रसायन-शास्त्र, प्राणि-शास्त्र आदि विज्ञानों ने जिन नियमों का पता लगाया उनसे चारों तरफ़ एक हलचल मच गई। १४वीं, १५वीं तथा १६वीं शताब्दी में युरोप में जो 'पुनर्जागरण' (Renaissance) हुआ, जो बढ़ते-बढ़ते १९वीं शताब्दी की 'औद्योगिक-क्रान्ति' (Industrial Revolution) का रूप धारण कर गया, उस-सब का श्रीगणेश विज्ञानों द्वारा ही तो हुआ। आज जो एक बिलकुल नवीन सभ्यता उठ खड़ी हुई है---सब काम मशीन से होने लगा है---यह 'विज्ञान' का ही प्रताप है। जैसे इन विज्ञानों ने एक नवीन-युग उत्पन्न

कर दिया है, वैसे समाज-विज्ञान भी एक नवीन-युग उत्पन्न करेगा। जब पहले-पहल समाज-शास्त्र ने अन्य विज्ञानों की तरह अपने नियम पता लगाने शुरू किये थे, तब मानव-समाज उसी तरह भौंचक्का देखने लगा था जैसे कभी अन्य विज्ञानों के परिणामों के कारण यह भौंचक्का हो गया था। कोम्टे (Comte) के अनुयायियों में से एक श्री बकल (Buckle) ने जब यह कहा कि गेहूँ के दाम में बढ़ती-घटती का सम्बन्ध सीधा विवाहों की संख्या पर निर्भर करता है, तब लोग आँखें फाड़-फाड़ कर देखने लगे। जब उसने यह कहा कि आत्म-घात, नाजायज बच्चे और गुम होने वाले पार्सलों की संख्या लगभग वही रहती है जो पहले थी, तो लोगों को और भी आश्चर्य हुआ। १९५७ के मार्च मास में भारत में लोक-सभा तथा विधान-सभाओं के चुनाव हुए। चुनाव के दौरान में गेहूँ का भाव एकदम गिरा। गेहूँ के भाव गिरने का असर फ़ौरन चुनाव पर पड़ा और कांग्रेसी उम्मीदवारों को वोट अधिक मिलने लगे। गेहूँ का भाव चढ़ता जाता तो कांग्रेसी उम्मीदवार हारते जाते, गेहूँ का भाव गिरता जाता तो कांग्रेसी उम्मीदवार जीतते जाते-- यह एक समाज-शास्त्रीय नियम है जिसे चुनाव के दिनों में आसानी से परखा जा सकता है। गेहूँ के भाव का कांग्रेस को वोट मिलने पर इसलिए असर हुआ क्योंकि कांग्रेस सत्तारूढ दल है, यह सत्तारूढ न होता तो गेहूँ के भाव गिरने का कांग्रेस को वोट मिलने पर कोई असर न होता। हमारे कहने का मतलब इतना ही है कि जैसे अन्य विज्ञानों ने एक क्रान्ति की है, वैसे समाज-शास्त्र भी एक क्रान्ति कर रहा है। आज संसार का सबसे बड़ा प्रश्न ही यह है कि यद्यपि आराम की हर-एक चीज़ इन्सान के पास है तब भी वह क्यों तड़पता फिरता है? हक्सले ने ठीक कहा था कि अगर अपने विकास में मनुष्य आगे-आगे बढ़ता हुआ जहाँ आ खड़ा हुआ है उससे आगे न बढ़ा, तो क्या ही अच्छा हो कि कोई नक्षत्र इस पृथ्वी से टकरा कर इसे अपनी हस्ती से मिटा दे। अगर खेती के अच्छे साधनों के प्रयोग से दुगुनी खेती हो सकती है, तो समाज-शास्त्र के द्वारा मनुष्य को पहले से ज्यादा सुखी क्यों नहीं बनाया जा सकता? मनुष्य में अपनी प्रवृत्तियों को बदलने का असीम सामर्थ्य है। दो नस्लों में हम किसी देश को क्या-से-क्या बना सकते हैं। हमारे देखते-देखते नाज़ी जर्मनी, फैसिस्ट इटली क्या-कुछ नहीं बन गये हैं, और देखते-देखते कैसे मट्टी में मिल गये! रूस की आज से २५ साल पहले क्या हालत थी? जापान किस तरह सितारे की तरह आसमान में चमका था? भारत आज स्वतन्त्र होने के बाद क्या-कुछ नहीं बन सकता? हमें समाज-शास्त्र के नियमों को, उसकी प्रक्रिया को समझने की जरूरत है, फिर हम अपने समाज को कुछ-का-कुछ बना सकते हैं। हर-एक विज्ञान उन कारणों का पता लगाता है जिनको अपने हाथ में कर लेने से परमात्मा और भाग्य का सहारा लेकर बैठ रहने की जरूरत नहीं रहती, उन कारणों पर अपना वश प्राप्त कर लेना काफ़ी होता है, फिर मनचाहा परिणाम निकलता है। आज समाज-निर्माण के आधार-भूत कारणों का पता लगाकर समाज-शास्त्री मनचाहा संसार बनाने का स्वप्न ले रहा है।

२. 'समाज-शास्त्र' तथा 'विशेष-सामाजिक-विज्ञान' (Sociology and Special Social Sciences)

'विशेष-सामाजिक-विज्ञान'——इस शब्द में 'विशेष'-शब्द दिया गया है। इसे स्पष्ट करना आवश्यक है। कोई विज्ञान 'विशेष'-विज्ञान क्यों कहलाता है? हम किसी विज्ञान को 'विशेष'-विज्ञान इसलिए कहते हैं क्योंकि यह अपने विषय का 'विशेष' अध्ययन करता है, और इसी कारण अपने को अपने 'विशेष'-क्षेत्र में ही सीमित रखता है। इसका काम यह नहीं है कि अन्य विज्ञानों ने अपने क्षेत्र में जो निष्कर्ष निकाले हैं उन पर नुकताचीनी करे, इसका काम तो अन्य 'विशेष'-विज्ञानों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, उन्हें जैसे-का-तैसा ले लेना है। प्रत्येक 'विशेष'-विज्ञान, जिसका हम इस प्रकरण में वर्णन करेंगे, इसी धारणा को लेकर चलता है। अर्थ-शास्त्र को इस बहस में नहीं पड़ना कि लोग अफ़ीम क्यों खाते हैं, इसका खाना अच्छा है, या बुरा। अर्थ-शास्त्र तो इस बात को मानकर चलेगा कि लोग अफ़ीम खाते हैं। अर्थ-शास्त्र का प्रश्न यह होगा कि अगर बहुत लोग खाते हैं, और कम पैदा होती है, तो इसका दाम बढ़ जायगा, अगर कम लोग खाते हैं, बहुत पैदा होती है, तो इसका दाम घट जायगा। इसी प्रकार अन्य 'विशेष'-विज्ञान (Special Sciences) अपने को अपने क्षेत्र में ही सीमित रखते हैं, दूसरे विज्ञानों के तथ्यों को लेकर चलते हैं, उन तथ्यों की बहस में नहीं पड़ते। फिर भी सब विज्ञानों का आपसी सम्बन्ध है। समाज-शास्त्र 'विशेष' नहीं, 'सामान्य'-विज्ञान है, और इसका भी अन्य 'विशेष'-विज्ञानों' के साथ सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध क्या है, हमें यही जानना है।

इससे पहले कि हम 'समाज-विज्ञान' (Sociology) तथा 'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों' (Special Social Sciences) के भेद पर कुछ लिखें, यह आवश्यक जान पड़ता है कि पहले 'प्राकृतिक-विज्ञानों' (Natural Sciences) तथा 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) के भेद को स्पष्ट कर दिया जाय।

'प्राकृतिक' तथा 'सामाजिक-विज्ञानों' में भेद (DIFFERENCE BETWEEN NATURAL AND SOCIAL SCIENCES)

प्रायः समझा जाता है कि 'प्राकृतिक-विज्ञानों' तथा 'सामाजिक-विज्ञानों' में यह भेद है कि 'प्राकृतिक-विज्ञान'——भौतिक-विज्ञान (Physics), रसायन-शास्त्र (Chemistry) आदि——अप्राणि-जगत् (In-animate things) पर विचार करता है, 'सामाजिक-विज्ञान'——अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, आचार-शास्त्र, कानून, समाज-शास्त्र आदि——प्राणि-जगत् (Animate beings) पर विचार करता है। परन्तु यह बात नहीं है। 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Sciences) भी अप्राणि-जगत् पर विचार कर सकते हैं, और 'प्राकृतिक-विज्ञान' (Natural Sciences) भी प्राणि-जगत् के विषयों पर विचार कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, पहाड़ अप्राणि-जगत् का पदार्थ है। पहाड़ के सम्बन्ध में प्राकृतिक-विज्ञानों में से भू-गर्भ शास्त्र तो यह विचार करेगा कि आदि-काल में पृथ्वी की पपड़ी किस तरह

से सुकड़ी, किस तरह पहाड़ बन गये, वनस्पति-शास्त्र उस समय की वनस्पतियों की चर्चा करेगा, परन्तु ये ही शास्त्र इस बात पर भी विचार शुरू कर सकते हैं कि जब पहाड़ बन गए, और पहाड़ों पर मनुष्य के लिए रहना कठिन हो गया, तो वह उन स्थानों को छोड़ कर दूसरे स्थानों पर जाने लगा। यह दृष्टि प्राणि-जगत् की दृष्टि है, परन्तु इसकी चर्चा अप्राणि-जगत् का विचार करने वाला भू-गर्भ शास्त्र कर सकता है। इसी प्रकार एक दूसरा उदाहरण लीजिये। मनुष्य तो प्राणी है, परन्तु रसायन-शास्त्र उसी के शरीर में जो रासायनिक-क्रियाएँ हो रही हैं, उनका अध्ययन कर सकता है, यद्यपि रसायन-शास्त्र 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Science) नहीं, 'प्राकृतिक-विज्ञान' (Natural Science) है। असल में, सारा भेद दृष्टिकोण का है, दोनों प्रकार के विज्ञान एक ही विषय की विवेचना कर सकते हैं, परन्तु दृष्टि दोनों की अपनी-अपनी होगी। रसायन-शास्त्र की दृष्टि रासायनिक होगी, अर्थ-शास्त्र की दृष्टि आर्थिक होगी, परन्तु दोनों समाज-शास्त्र की दृष्टि से भी चाहें तो विचार कर सकते हैं, उस समय इनकी दृष्टि समाज-शास्त्रीय कही जायगी। इसी प्रकार अन्य शास्त्रों की दृष्टि वही होगी जिस पहलू को लेकर वे विज्ञान उत्पन्न हुए हैं, परन्तु अपने-अपने विज्ञान की दृष्टि से विचार करते हुए वे चाहें तो समाज-शास्त्र की दृष्टि से भी विचार कर सकते हैं।

फिर भी 'प्राकृतिक-विज्ञानों' (Natural Sciences) तथा 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) में निम्न भेद हैं :—

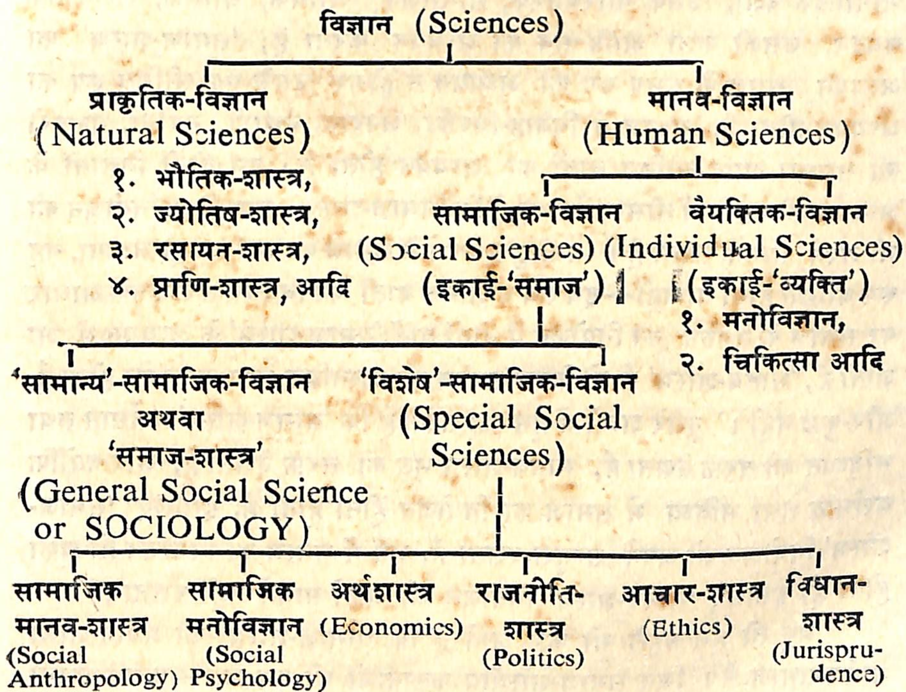
(क) दोनों विज्ञानों के दृष्टिकोणों में भेद है। 'प्राकृतिक-विज्ञान' (Natural Sciences) प्राकृतिक-पदार्थों में जो नियम काम कर रहे हैं, उनका पता लगाते हैं, और अगर 'सामाजिक-विज्ञानों' में दख़ल देते हैं तब भी सिर्फ़ अपने भौतिक-नियम पता लगाने के लिए ही देते हैं। 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Sciences) उन पदार्थों का विवेचन करते हैं जिनका किसी तरह का भी 'मनुष्य' या मनुष्य के 'सामाजिक-व्यवहार' के साथ कोई सम्बन्ध होता है। दोनों की 'कल्पना' (Theory) अलग-अलग है। 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) की कल्पना अप्राणि-जगत् अथवा प्राणि-जगत् में से किसी पर भी विचार करती हुई मनुष्य को अपने विचार का केन्द्र मान कर चलती है, 'प्राकृतिक-विज्ञान' (Natural Sciences) मनुष्य को केन्द्र मान कर नहीं चलते।

(ख) 'प्राकृतिक-विज्ञानों (Natural Sciences) के जो मूल-तत्त्व हैं उनका पारस्परिक-सम्बन्ध केवल भौतिक होता है, 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) के मूल-तत्त्वों का सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक होता है। रसायन-शास्त्र के मूल-तत्त्व हाइड्रोजन-ऑक्सीजन आदि हैं, इनका आपस का सम्बन्ध सिर्फ़ भौतिक है, इसमें मानसिक-सम्बन्ध को कहीं स्थान नहीं। समाज-शास्त्र के मूल-तत्त्व मनुष्य हैं, मनुष्य की मानसिक-अवस्थाएँ हैं, रुचियाँ हैं, प्रवृत्तियाँ हैं। इन सब का आपसी सम्बन्ध ईंट-पत्थर या अणुओं-परमाणुओं का-सा नहीं, इनका सम्बन्ध तो बहुत गहरा है, और बहुत चकरा देने वाला है।

(ग) 'प्राकृतिक-विज्ञानों' (Natural Sciences) के मूल-तत्त्वों का विश्लेषण करके उन्हें अलग-अलग किया जा सकता है, 'सामाजिक-विज्ञानों' के मूल-तत्त्वों का विश्लेषण करके उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। कार्बन, नाइट्रोजन को हम अलग-अलग करके दिखा सकते हैं, परन्तु मनुष्य के भावों, उद्वेगों, उसकी प्रेरणाओं को अलग-अलग करके नहीं दिखाया जा सकता।

यद्यपि 'प्राकृतिक-विज्ञानों' (Natural Sciences) तथा 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) में उक्त भेद हैं, तो भी दोनों विज्ञानों की अन्वेषण की पद्धति एक-सी है, दोनों 'निरीक्षण'-'तुलना'-'वर्गीकरण' तथा 'नियम-निर्धारण' की वैज्ञानिक पद्धति से अपने परिणामों पर पहुँचते हैं। विश्व की वास्तविक-सत्ता क्या है—इसी बात की तो दोनों प्रकार के विज्ञान खोज कर रहे हैं, एक अपने दृष्टि-कोण से भौतिक-सत्ताओं को खोजता-खोजता आगे बढ़ता है, दूसरा अपने दृष्टिकोण से मानसिक तथा सामाजिक-सत्ताओं को खोजता-खोजता आगे बढ़ता है।

'विज्ञानों' का मोटा-सा पारस्परिक-सम्बन्ध निम्न चित्र से स्पष्ट हो जायगा। 'विज्ञान' की दो शाखाएँ हैं—'भौतिक-विज्ञान' तथा 'सामाजिक-विज्ञान'। 'सामाजिक-विज्ञान' में 'समाज' को इकाई मान कर चल सकते हैं, या 'व्यक्ति' को। इस चित्र में जब हम 'समाज' को इकाई मानकर चलते हैं, तब 'सामाजिक-विज्ञान' उत्पन्न हो जाते हैं—अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, आदि; जब 'व्यक्ति' को इकाई मान कर चलते हैं, तब 'वैयक्तिक-विज्ञान' उत्पन्न हो जाते हैं—मनोविज्ञान, चिकित्सा आदि।



जितने 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Sciences) हैं उन सब का लक्ष्य मनुष्य के 'सामाजिक-कार्यों तथा सामाजिक-व्यवहारों' (Social activities and Social behaviour) का वर्णन करना है। इस वर्णन में कोई विज्ञान किसी पहलू पर प्रकाश डालता है, कोई किसी पहलू पर। अब हम इन भिन्न-भिन्न 'सामाजिक-शास्त्रों' (Special Social Sciences) का 'समाज-शास्त्र' (General Social Science or Sociology) से क्या सम्बन्ध है, इस बात का विवेचन करेंगे।

३. समाज-शास्त्र तथा मानव-शास्त्र

(क) दोनों में समानता तथा असमानता—'मानव-शास्त्र' (Anthropology) का समाज-शास्त्र के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। इस संबंध का रूप है इन दोनों की समानता तथा असमानता। दोनों में समानता यह है कि दोनों का विषय-क्षेत्र मानव-समाज है। दोनों में असमानता यह है कि मानव-शास्त्र का विषय-क्षेत्र आदिम-समाजों का, जन-जातियों का अध्ययन है, समाज-शास्त्र का विषय-क्षेत्र सभ्य-समाज है। इन दोनों की अध्ययन की पद्धतियों में भी असमानता है। मानव-शास्त्री जन-जातियों का अध्ययन करने के लिए महीनों, वर्षों, उनमें जाकर रहता है, समाज-शास्त्र के अध्ययन के लिए अधिकतर प्रश्नावलियों तथा साक्षात्कार से काम लिया जाता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों विज्ञानों के अध्ययन की पद्धति में दूसरा भेद यह है कि 'मानव-शास्त्र' समाज के समग्र रूप का अध्ययन करता है, जिस समाज का अध्ययन करना होता है, उसकी भौगोलिक दशा, उसके पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक संगठन, उसकी कला आदि सब का अध्ययन करता है; 'समाज-शास्त्र' का अध्ययन समाज के समग्र रूप का अध्ययन न होकर उसके एक सीमित रूप का अध्ययन होता है, समाज में विवाह-विच्छेद, अपराध, बेकारी, ग़रीबी, मजदूरों की समस्या आदि सीमित बातों का अध्ययन होता है। इन दोनों विज्ञानों के अध्ययन की पद्धति में तीसरा भेद यह है कि 'समाज-शास्त्र' सामाजिक-नियोजन को भी अपने सामने रखता है। क्या-कुछ करने से समाज का क्या रूप हो जायगा, वह रूप वांछित होगा या नहीं—इन सब दार्शनिक बातों का विवेचन तथा इनके आधार पर समाज के संगठन का नियोजन ये दोनों बातें 'समाज-शास्त्र' के अध्ययन में आ जाती हैं, 'मानव-शास्त्र' में तो केवल समाज की वास्तविक दशा का वर्णन होता है, और-कुछ नहीं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'समाज-शास्त्र' वर्त्तमान तथा भविष्यत् की तरफ़ देखता है, मानव-शास्त्र भूत की तरफ़ देखता है, और क्योंकि वर्त्तमान तथा भविष्य में समाज का नियोजन होना होता है, इसलिए 'समाज-शास्त्र' नियोजन को अपने सम्मुख रखता है, भूत में समाज का नियोजन हो चुका होता है, इसलिए 'मानव-शास्त्र' नियोजन को अपने सामने नहीं रखता।

यह तो हम पहले भी कह आये हैं कि 'समाज-शास्त्र' की प्रयोग-शाला मानव-समाज है। जिन समाज-शास्त्रीय कल्पनाओं की हम जाँच-पड़ताल करना

चाहते हैं, उन्हें जन-जातियों में जाकर देखते हैं और इससे उनके सही या ग़लत होने का अन्दाज़ लगाते हैं। उदाहरणार्थ, बहु-पति-विवाह के क्या परिणाम हैं—इस बात की जाँच-पड़ताल घर-बैठे उतनी अच्छी नहीं हो सकती जितनी देहरादून के जौनसार बावर इलाके में जाकर हो सकती है जहाँ यह प्रथा प्रचलित है। जौनसार बावर में जाकर इस प्रथा की पड़ताल करना एक समाज-शास्त्रीय घटना को मानव-शास्त्र की प्रयोग-शाला में क्रियात्मक रूप से परखना है। इस दृष्टि से समाज-शास्त्र का अन्य सब विज्ञानों की अपेक्षा मानव-शास्त्र से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि कभी-कभी समाज-शास्त्र तथा मानव-शास्त्र में भेद करना ही कठिन हो जाता है।

(ख) मानव-शास्त्रीय खोजों का समाज-शास्त्र पर प्रभाव—**मानव-शास्त्र की अनेक खोजों का समाज-शास्त्र पर प्रभाव पड़ा है जिससे समाज-शास्त्रियों के सोचने की दिशा बदल गई है। उदाहरणार्थ,**

(i) नस्ल का विचार—**पहले समाज-शास्त्री यह समझते थे कि कुछ नस्लें जन्म से बुद्धि में प्रखर होती हैं, कुछ बुद्धिहीन होती हैं। मानव-शास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न नस्लों का अध्ययन करके यह परिणाम निकाला कि नस्लों की भिन्नता का बुद्धि पर कोई विशेष प्रभाव नहीं है, संसार की कोई भी नस्ल शुद्ध रक्त की नहीं है, बुद्धि पर 'पर्यावरण' का प्रभाव पड़ता है। अब समाज-शास्त्री इसी बात का प्रतिपादन करते हैं।**

(ii) अपराधों के आनुवंशिक होने का विचार—**पहले समाज-शास्त्री समझते थे कि अपराध की प्रवृत्ति वंश-परम्परा से चलती है, परन्तु मानव-शास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न पर्यावरणों में जन-जातियों का अध्ययन करके समाज-शास्त्रियों की इस धारणा को बदल दिया है। मानव-शास्त्रियों का अध्ययन सिद्ध करता है कि मनुष्य के अपराधी होने में पर्यावरण का बहुत बड़ा हाथ है। अब समाजशास्त्री भी इसी बात का प्रतिपादन करते हैं।**

(iii) पर्यावरण तथा आनुवंशिकता का पारस्परिक-सम्बन्ध—**कोई समय था जब आनुवंशिकता को समाज-शास्त्र में बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता था। हर बात का समाधान वंश के आधार पर दिया जाता था। मानव-शास्त्र के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि मुख्य वस्तु पर्यावरण है, आनुवंशिकता उतनी मुख्य नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य के निर्माण में आनुवंशिकता का कोई महत्त्व नहीं। महत्त्व है, परन्तु अच्छी आनुवंशिकता को लेकर भी अगर व्यक्ति सामाजिक-जीवन से कट जाता है, तो वह आनुवंशिकता धरी रह जाती है।**

(iv) सामाजिक-मानवशास्त्र से सांस्कृतिक-समाजशास्त्र का विकास—**मानव-शास्त्र की एक शाखा 'सामाजिक-मानवशास्त्र' (Social anthropology) कहलाती है। इसका काम जन-जातियों के सामाजिक-जीवन का अध्ययन करना है। इसके अध्ययन के परिणामस्वरूप जन-जातियों की संस्कृति के अनेक पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ, मानव-शास्त्र में जन-जातियों के अध्ययन से**

यह पता चला है कि प्रत्येक समाज की अपनी विशिष्ट संस्कृति होती है। भारत की संस्कृति आध्यात्मिकता-प्रधान है, युरोप की संस्कृति भौतिकता-प्रधान है। किसी जाति में कन्या के कुमारीपन पर बल दिया जाता है, किसी में इस पर बल न देकर भोजन-सामग्री की चिन्ता पर बल दिया जाता है। मानव-शास्त्र के जन-जातियों की संस्कृतियों के इस अध्ययन से समाज-शास्त्र की एक नई शाखा का विकास हुआ है जिसे 'सांस्कृतिक समाज-शास्त्र' (Cultural sociology) कहते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि मानव-शास्त्र तथा समाज-शास्त्र में क्या समानता है, क्या असमानता है, और ये दोनों कैसे एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

४: समाज-शास्त्र तथा अर्थ-शास्त्र

'अर्थ-शास्त्र' (Economics) 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) में से एक है। यह 'विज्ञान' इसलिए है क्योंकि इसमें 'भावात्मक-विचार' (Abstractions) हैं। इसका मुख्य 'भावात्मक-विचार' (Abstract idea) है—'सम्पत्ति' (Wealth)। 'अर्थ-शास्त्र' का विज्ञान 'सामाजिक' इसलिए कहलाता है क्योंकि 'सम्पत्ति' का मनुष्य से, अर्थात् समाज से सम्बन्ध है। और, यह 'विशेष-सामाजिक-विज्ञान' इसलिए कहलाता है क्योंकि यह समाज के सम्पत्ति-सम्बन्धी 'विशेष' पहलू पर ही अपने को सीमित रखता है, सब पहलुओं को अपना विषय-क्षेत्र नहीं बनाता।

हमने अभी कहा, अर्थ-शास्त्र का मुख्य भावात्मक-विचार 'सम्पत्ति' है। 'सम्पत्ति' कई तरह की हो सकती है। आजकल के अर्थ-शास्त्री किसी व्यक्ति की कार्य-निपुणता को भी 'सम्पत्ति' के अन्दर गिनने लगे हैं, परन्तु अर्थ-शास्त्र अपने विषय का क्षेत्र केवल उस 'सम्पत्ति' को बनाता है जो 'उत्पन्न' की जा सकती है, जिसे 'अदल-बदल' सकते हैं, जिसे हम 'बाँट' सकते हैं। इन तीनों प्रक्रियाओं को अर्थ-शास्त्र की परिभाषा में 'उत्पादन' (Production), 'विनिमय' (Exchange) तथा 'वितरण' (Distribution) कहते हैं। अर्थ-शास्त्री यह तो कहता है कि जिस वस्तु की माँग ज्यादा होगी उसका उत्पादन भी अधिक होगा, जिसका उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो जायगा उसका दाम घट जायगा, परन्तु वह यह जानने का प्रयत्न नहीं करता कि जिस वस्तु की माँग ज्यादा हो गई है, उससे समाज का भला हो रहा है, या सत्यानाश हो रहा है। अगर अफ़ीम की माँग बढ़ रही है, तो उसकी पैदावार ज्यादा हो जायगी—अर्थ-शास्त्र तो अपने को यहाँ तक सीमित रखता है, परन्तु ज्यादा अफ़ीम खाकर चीनी लोगों ने अपने को तबाह कर लिया था, अंग्रेज़ों ने सिर्फ़ अफ़ीम से रुपया कमाने के लिए अपनी आत्मा को बेच दिया था, मनुष्य होते हुए मनुष्य को नरक में पहुँचा दिया था—ये-सब विश्लेषण करना 'अर्थ-शास्त्र' का नहीं, 'समाज-शास्त्र' का काम है। 'अर्थशास्त्र' अपना नियम बता कर अलग हो गया, उस नियम को समाज में घटते हुए देखकर मानव-समाज की क्या अवस्था हो जाती है, यह देखना समाज-शास्त्र का काम हो

गया। हमने एक आदमी से कहा कि हमारी एक हज़ार पुस्तकों की जिल्द बँधनी है, पचास रुपया सैंकड़े पर तुमसे बँधवायेंगे, सौ जिल्दें बँधवाने के बाद हमें दूसरा आदमी चालीस रुपया सैंकड़े पर जिल्द बाँधने वाला मिल गया। अर्थ-शास्त्र का नियम यह है कि जहाँ सस्ता काम होगा मनुष्य उधर चला जायगा। हमने पहले आदमी को छोड़ कर दूसरे से जिल्दें बँधवानी शुरू कर दीं--परन्तु हमारी 'बात' कहाँ गई, हमने पहले को जो ज़बान दी थी, उसका क्या हुआ? अर्थ-शास्त्र को इससे कोई मतलब नहीं है कि हमने किसको क्या वचन दिया था। उसकी दृष्टि से सारा प्रश्न 'माँग' और 'माँग को पूरा करने' (Demand and supply) का है। परन्तु समाज-शास्त्र इस प्रश्न को यहीं नहीं छोड़ सकता। इसमें सन्देह नहीं कि अब हम को सस्ता रेट मिल गया, परन्तु वचन भी तो कुछ होता है। हो सकता है हमें वचन-भंग करने पर चीज़ सस्ती मिलने लगे, पर वह अन्त में महँगी पड़े। एक मज़दूर ने ऐसी ही बात पर अपने मालिक का सिर उतार लिया था। आर्थिक दृष्टिकोण मानव-समाज का एक पहलू है, उसी पहलू के साथ मिला हुआ, उसी की बग़ल में, परन्तु उससे बिलकुल अलग, सामाजिक-पहलू खड़ा है।

५. समाज-शास्त्र तथा आचार-शास्त्र

हमने पुस्तकों की जिल्द बँधवानी थी। हमने एक जिल्दसाज़ से रेट सस्ता करके बात पक्की कर ली, परन्तु बात पक्की करने के बाद दूसरे से रेट सस्ता मिलने पर अपने वचन को तोड़ दिया। वचन तोड़ना हमारा एक सामाजिक-व्यवहार है--और इस सामाजिक-व्यवहार का विवेचन समाज-शास्त्र करेगा। परन्तु, वचन तोड़ने में एक बड़ा भारी सिद्धान्त भी तो उलझा हुआ है। मनुष्य के 'आचार' का माप-दण्ड क्या होना चाहिए, उचित क्या है, अनुचित क्या है, ठीक क्या है, ग़लत क्या है--ये सब बातें 'आचार-शास्त्र' (Ethics) के अन्तर्गत हैं। अर्थ-शास्त्र का काम 'साधनों' (Means) का विवेचन करना है--किन साधनों से हम अपनी आर्थिक-समस्याओं को हल करें, आचार-शास्त्र का काम 'साधनों की शुद्धि' (Purity of means) का प्रश्न है--जिन साधनों से हम अपना उद्देश्य पूर्ण करते हैं वे शुद्ध हैं या अशुद्ध, झूठ से हम अपना उद्देश्य सिद्ध करते हैं या सच से, बेईमानी से काम निकालते हैं या ईमानदारी से? आचार-शास्त्र बतलाता है कि उचित साधनों से उद्देश्य सिद्ध करना ठीक है, अनुचित साधनों से नहीं। जहाँ उद्देश्य शुद्ध हो, वहाँ साधन भी शुद्ध ही होना चाहिए। कई लोग कहते हैं, उचित-अनुचित कुछ नहीं, सब समझ का फेर है, जिसे लोगों ने उचित मान लिया वह उचित, जिसे अनुचित मान लिया वह अनुचित। परन्तु ऐसी बात तो नहीं दीखती। बुड्ढी माँ को, जो किसी काम की नहीं, मार देना कोई उचित नहीं कहता। उसे जान से मार देना क्यों अनुचित है? वह समाज के किस काम आने वाली है? नहीं, उचित-अनुचित का भेद सिर्फ़ मानने-न-मानने पर आश्रित नहीं है, कई बातें ऐसी जान पड़ती हैं जो अपने-आप में उचित हैं, और कुछ बातें

ऐसी हैं जो अपने-आप में अनुचित हैं। 'आचार-शास्त्र' (Ethics) यही कहता है। आचार-शास्त्र के इस निष्कर्ष को समाज-शास्त्र समाज में देखने का प्रयत्न करता है। समाज में तरह-तरह के रीति-रिवाज, प्रथाएँ-मान्यताएँ हैं। समाज-शास्त्र उनका अध्ययन करता है, और पता लगाता है कि उचित-अनुचित के विषय में आचार-शास्त्र का विचार कहाँ तक युक्ति-संगत है, समाज की प्रगति कहाँ तक आचार-शास्त्र के मन्तव्य की पुष्टि करती है? 'आचार-शास्त्र' अपना माप-दण्ड दे देता है, उस पर वह अटल खड़ा हो जाता है, समाज-शास्त्र उस माप-दण्ड की समाज के व्यवहार में परीक्षा करता है।

६: समाज-शास्त्र तथा मनोविज्ञान

मनोविज्ञान प्राणी की मानसिक-अवस्थाओं का अध्ययन करता है। राग-द्वेष-ईर्ष्या-प्रतिस्पर्धा आदि मानसिक-अवस्थाएँ हैं। ये मानसिक-अवस्थाएँ वे 'तत्त्व' (Elements) हैं, जो हैं तो मनोविज्ञान के विषय, परन्तु ये तत्त्व ही समाज-शास्त्र की रचना करते हैं। जैसा हम पहले कह आये हैं, प्रत्येक 'विज्ञान' की चार-समस्याएँ होती हैं--'मुख्य-समस्या' (Problem facts), 'घटक-तत्त्व' (Elemental facts), 'प्रभावक-तत्त्व' (Conditioning facts) तथा 'परिणाम' (Resultant facts)। मनोविज्ञान का काम समाज-शास्त्र को 'घटक-तत्त्व' दे देना है। जैसे रसायन-शास्त्र के घटक-तत्त्व हाइड्रोजन-ऑक्सीजन आदि हैं, वैसे समाज-शास्त्र के घटक-तत्त्व प्राणी के राग-द्वेष आदि मानसिक-तत्त्व हैं। ये मानसिक-तत्त्व मनोविज्ञान में तो 'मुख्य-समस्या' होते हैं, क्योंकि मनोविज्ञान ने सिर्फ़ इन्हीं का अध्ययन करना होता है, परन्तु समाज-शास्त्र में ये तत्त्व 'मुख्य-समस्या' न होकर 'घटक-तत्त्व' हो जाते हैं। इन घटक-तत्त्वों--राग-द्वेष आदि मानसिक-अवस्थाओं का पारस्परिक-सम्बन्ध ही समाज को समाज बनाता है। इस प्रकार जैसे 'मनोविज्ञान' (Psychology) समाज-शास्त्र के साथ मिला-जुला है, वैसे 'सामाजिक-मनोविज्ञान' (Social Psychology) का भी समाज-शास्त्र के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। 'मनोविज्ञान' (Psychology) तो उन मानसिक-अवस्थाओं का अध्ययन करता है, जो 'समाज-शास्त्र' (Sociology) के लिए 'घटक-तत्त्व' (Elemental facts) का काम करती हैं, 'सामाजिक-मनोविज्ञान' (Social Psychology) उस मानसिक-परिस्थिति, मानसिक-पर्यावरण (Mental environment) का अध्ययन करता है, उस सामाजिक-परम्परा का अध्ययन करता है जिससे मनुष्य जन्म से ही घिरा रहता है, और जिससे हर क्षण प्रभावित रह कर ही वह अपना हर तरह का सामाजिक-व्यवहार करता है। जैसे व्यक्ति समग्र रूप से काम करता है, हाथ अलग, टाँग अलग काम नहीं करती, सब अंग मिल कर काम करते हैं, वैसे समाज भी समग्र-रूप से एक होकर काम करता है, समूह के सब व्यक्ति अलग-अलग काम नहीं करते, व्यक्ति की तरह समूह में भी एक 'सामूहिक-मन' (Group-mind) है या नहीं--

इत्यादि समस्याओं का अध्ययन 'सामाजिक-मनोविज्ञान' (Social Psychology) का काम है। ऊपर हमने जो विवेचन किया उससे स्पष्ट हो जाता है कि मनोविज्ञान (Psychology) समाज-शास्त्र के लिए 'घटक-तत्त्व' (Elemental facts) का काम देता है, और 'सामाजिक-मनोविज्ञान' (Social Psychology) समाज-शास्त्र के लिए 'प्रभावक-तत्त्व' (Conditioning facts) का काम देता है।

७. समाज-शास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र

जिस दिन मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध स्थापित हुआ, उसी दिन 'सामाजिकता' उत्पन्न हो गई, क्योंकि 'समाज' का अभिप्राय ही यही है--'सामाजिक-सम्बन्ध उत्पन्न हो जाना'। परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि उसी दिन राज्य की भावना भी उत्पन्न हो गई? राज्य तो तब उत्पन्न होता है जब पहले समाज मौजूद होता है। यह हो सकता है कि समाज हो, और राज्य न हो। समाज जैसे परिवार, संघ आदि को उत्पन्न करता है, वैसे सुरक्षा की भावना राज्य को उत्पन्न करती है। यह भी हो सकता है कि मानव-समाज में इतनी उन्नति हो जाय कि कोई किसी के अधिकार को हड़पने के लिए आँख उठाकर न देखे, और राज्य नष्ट हो जाय, समाज बना रहे। इन दोनों शास्त्रों में यह मौलिक भेद होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि समाज राज्य को उत्पन्न करता है, और राज्य समाज को बदलता रहता है। राज्य के कानून क्या हैं? सामाजिक कानूनों से राज्य ही तो लगातार समाज को बदलता रहता है। आज हिन्दू-कोड के सुधार द्वारा राज्य ने हिन्दू-समाज को बदल दिया है--इससे समाज और राज्य का सम्बन्ध स्पष्ट है।

८. समाज-शास्त्र तथा इतिहास

इतिहास भी अन्य 'सामाजिक-विज्ञानों' की तरह एक 'विशेष-सामाजिक-विज्ञान' है। इसका काम मानव-समाज की सदियों से चली आ रही घटनाओं का श्रेणी-बद्ध उल्लेख करना है। जो मसाला इतिहास ने संगृहीत कर दिया उसे लेकर समाज-शास्त्र का काम वर्त्तमान और भविष्यत् का चित्र खींचना, और समाज को आगामी आने वाली ग़लतियों से बचाना है। पीछे की कहानी इतिहास लिखता है, इतिहास की लिखी कहानी को हाथ में लेकर, आगे का रास्ता समाज-शास्त्र बतलाता है। हम अब तक किस रास्ते से चले, क्या ठोकरें खायीं, कहाँ हमारा रास्ता बिलकुल साफ़ था, कहाँ ऊबड़-खाबड़ था--ये सब बातें मालूम न हों, तो कैसे पता चले कि अब किन बातों से हमें सावधान रहना है। इस दृष्टि से इतिहास तथा समाज-शास्त्र एक दूसरे के अत्यन्त निकट हैं। ज्यों-ज्यों समाज-शास्त्र की तरफ़ विद्वानों की दृष्टि पड़ रही है, त्यों-त्यों इतिहास के अध्ययन के प्रकार पर भी नया प्रकाश पड़ता जा रहा है। समय था जब कौन राजा किस सन् में गद्दी पर बैठा, किस का पुत्र था, किस का पिता था—यही-कुछ रट लेना इतिहास समझा जाता था, अब इसे कोई इतिहास नहीं कहता। अब इतिहास में समाज-

शास्त्र की दृष्टि काम कर रही है। तारीखें रटा देने का काम ही इतिहास नहीं है, इतिहास है घटनाओं का इस प्रकार खोजपूर्ण सिलसिलेवार उल्लेख करना जिससे उस समय ये घटनाएँ क्यों घटीं, क्या ग़लतियाँ हुईं, इन सब बातों पर भी प्रकाश पड़े। नये इतिहास इसी दृष्टि-बिन्दु से लिखे जाने चाहिएँ। यह दृष्टि समाज-शास्त्र की दृष्टि है।

९. समाज-शास्त्र तथा प्राणि-शास्त्र

कभी समझा जाता था कि भिन्न-भिन्न योनियाँ एकदम इस सृष्टि में पैदा हो गईं—मनुष्य, गाय, बैल—सब योनियाँ एक-साथ प्रकट हुईं। ज्यों-ज्यों प्राणी की उत्पत्ति पर विचार होने लगा, यह समझ आने लगा कि भिन्न-भिन्न योनियों की एक-साथ उत्पत्ति नहीं हुई, परन्तु जीवन-तत्त्व एक है, वही धीरे-धीरे विकसित होकर भिन्न-भिन्न योनियों का रूप धारण करता गया है। प्राणि-शास्त्र (Biology) के इस विचार को विकास-वाद कहा जाता है, और इसका प्रतिपादन डार्विन तथा एलफ्रेड रसल वालेस ने स्वतंत्र रूप से एक-साथ किया। परन्तु अगर जीवन-तत्त्व एक है, तो यह इतनी भिन्नता कहाँ से आयी, एक से अनेक कैसे हो गया? इसका उत्तर डार्विन ने यह दिया कि पर्यावरण प्राणी में परिवर्त्तन लाता जाता है। प्राणी में अपने भीतर एक शक्ति है, जिसके अनुसार जैसे पर्यावरण में वह अपने को पाता है उसका मुकाबिला करने की उसमें साधन और शक्ति पैदा हो जाती है। सर्दी में बाल पैदा हो जाते हैं, दौड़ना-ही-दौड़ना पड़े, तो खुर पैदा हो जाते हैं। जो इस प्रकार अपने को पर्यावरण के अनुकूल नहीं बना सकते, वे नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति अपना परीक्षण करती-करती उन प्राणियों का चुनाव करती जाती है जो जीवन के संघर्ष में टिक सकते हैं, बाकी को नष्ट करती जाती है। विकासवाद के इस सिद्धान्त को 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural Selection) का सिद्धान्त कहते हैं। इन चुने हुए प्राणियों में प्रकृति के साथ अपने को अनुकूल बनाने से जो शक्ति उत्पन्न हो जाती है, वह वंश-परम्परा से सन्तान-से-सन्तान में संक्रान्त हो जाती है। पहले जिस शक्ति को प्राप्त करने के लिए प्राणी को कशमकश करनी पड़ती थी, वह शक्ति उसकी सन्तान को विरासत में मिल जाती है। 'पर्यावरण' प्राणी में परिवर्त्तन करता है, वे परिवर्त्तन 'वंश-परम्परा' द्वारा माता-पिता से सन्तान में संक्रान्त हो जाते हैं—यह प्रश्न 'वंश-परम्परा तथा पर्यावरण' (Heredity and Environment) का है, और इसमें सब से बड़ा प्रश्न यह है कि कौन-से गुण सन्तान में जाते हैं, कौन-से नहीं जाते?

इस प्रकरण में हमें प्राणि-शास्त्र के सिद्धान्तों की खोज के अन्दर नहीं जाना, इतना ही बताना है कि प्राणि-शास्त्र के विकास-वाद के वे सब सिद्धान्त, जिनका हमने ऊपर वर्णन किया है, समाज-शास्त्र के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। अगर प्रकृति सबल प्राणियों का चुनाव करके निर्बलों को नष्ट कर देती है, तो मनुष्य-समाज में निर्बल व्यक्तियों को क्या स्थान है? अगर निर्बल व्यक्तियों को कोई

स्थान नहीं, तो मनुष्य में स्वभाव से दया, सहानुभूति आदि कोमल भावनाएँ क्यों निहित हैं? अगर हमें दया भी करनी है, सहानुभूति भी दिखानी है, तो निर्बल व्यक्तियों की संख्या लगातार बढ़ती ही न जाय, निकम्मे-निठल्ले, भीख माँगने वाले हाथ में भिक्षा-पात्र लेकर दर-दर न फिरने लगें, इसका क्या इलाज है? अगर डार्विन का सिद्धान्त ठीक है, तो क्या मान्य भी है? क्या इस सिद्धान्त को मानते हुए 'समाज-कल्याण' के विचार को पाला-पोसा जा सकता है? क्या जो सिद्धान्त पशुओं में, कीट-पतंगों में चल रहा है, वही मानव-समाज में चलना आवश्यक है? इसके अतिरिक्त अगर वंश-परम्परा से कुछ गुण माता-पिता से सन्तान में जाते हैं, तो कौन-से गुण जाते हैं? क्या वे ही जाते हैं जिनका असर रुधिर में पड़ जाता है, जिनका आधार शारीरिक है, या वे भी जाते हैं जो मानसिक होते हैं? हम पेड़ों, पशुओं की नस्ल सुधारते हैं—क्या मनुष्य की नस्ल को भी सुधारा जा सकता है? भारत के प्राचीन आर्यों ने मनुष्य की नस्ल का सुधार करने के लिए सोलह संस्कार चलाये थे—उनका प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से क्या महत्त्व है? ये सब प्रश्न हैं, जो प्राणि-शास्त्र के खजाने से लेकर समाज-शास्त्र अपना ताना-बाना बुनने लगता है।

१०. समाज-शास्त्र तथा विधान-शास्त्र

विधान-शास्त्र (Jurisprudence) का काम समाज के कानून बनाना है। जो लोग कानून तोड़ते हैं, उन्हें क्या दण्ड देना चाहिए, ताकि समाज में आपाधापी न मच जाय? इस शास्त्र का समाज-शास्त्र के साथ जो सम्बन्ध है उसी को सम्मुख रखते हुए समाज-शास्त्र के ग्रन्थों में 'सामाजिक-विघटन' (Social disorganisation) पर विचार किया जाता है। इस पुस्तक में भी इस विषय पर एक अध्याय में विचार होगा। एक आदमी भूखा है, वह चोरी कर लेता है। मूलतः, यह प्रश्न उस व्यक्ति का इतना नहीं है जितना उस समाज का है जिसमें एक व्यक्ति को न काम मिलता है, न खाने को मिलता है। समाज-शास्त्र इस प्रश्न को 'बेकारी की समस्या' (Problem of Unemployment) के रूप में देखता है। ग़रीबी, बेकारी, कानून का तोड़ना आदि समस्याएँ विधान से तो सम्बन्ध रखती ही हैं, परन्तु साथ ही समाज-शास्त्र से भी ये उतना ही गहरा सम्बन्ध रखती हैं। इन सब पर अपने-अपने स्थान पर हम इस पुस्तक में विचार करेंगे।

११: सामाजिक-दर्शन

'विज्ञान' (Sciences) तथा 'दर्शन' (Philosophy) में भेद है। 'विज्ञान' का आधार निरीक्षण-परीक्षण (Observation and Experiment) होता है, 'दर्शन' का आधार तर्क तथा कल्पना (Theory) होता है। 'विज्ञान' जो-कुछ दीखता है उसका विवेचन करता है, 'दर्शन' संसार की भौतिक-सत्ता क्या है, वस्तु का परमार्थ रूप क्या है, जो दीखता है वह नहीं, अपितु जो इसका असली रूप है, वह क्या है—इन बातों का विवेचन करता है।

इस दृष्टि से अन्य विज्ञानों की तरह समाज-शास्त्र के भी दो रूप हैं। एक रूप तो वह है जिस रूप में यह समाज का--अच्छा हो, बुरा हो,--जो रूप निरीक्षण-परीक्षण के अन्दर आ जाता है, उसका वर्णन करता है। परन्तु इसका एक दूसरा रूप भी है। वह रूप यह है कि समाज जिस किसी संगठन की भी रचना करता है, परिवार, बिरादरी, राज्य, समुदाय--इन सब का लक्ष्य क्या है? क्या जो-कुछ है वही ठीक है, या समाज के भीतर एक लक्ष्य को निखारते जाना, मानव-समाज का जिसमें भला हो उस लक्ष्य को उभारते जाना, जिन संस्थाओं से संसार को लाभ है, उनको बढ़ावा देते जाना--यह हमारा लक्ष्य है? समाज-शास्त्र के दोनों पहलू हैं। एक पहलू तो सिर्फ़ मनुष्य के सामाजिक-सम्बन्धों का वर्णन करता है। समाज-शास्त्र का यह रूप एक 'विज्ञान' (Science) है। दूसरा पहलू सिर्फ़ सम्बन्धों का ही वर्णन नहीं करता, उसमें उचित-अनुचित को भी देखता है, यह भी बतलाता है कि मानव-समाज का भला किसमें है, बुरा किसमें है। यह 'दर्शन' (Philosophy) है। मनुष्य-समाज सहयोग से नहीं चलेगा, एटम-बम्ब और हाईड्रोजन-बम्ब बनाता जायगा, तो एक दिन कोई-न-कोई देश इन घातक शस्त्रों का प्रयोग करके दूसरे को भस्म करने का प्रबल प्रयत्न जरूर करेगा--इस सारी प्रक्रिया का अध्ययन 'समाज-शास्त्र' (Sociology) 'दर्शन' की हैसियत से करता है, वह मानव-समाज को चेतावनी देकर कह उठता है कि इस मार्ग पर चलने से मनुष्य-समाज का भला नहीं है, गाड़ी का काँटा बदलो, असहयोग के स्थान में सहयोग से काम लो। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि जैसे अन्य सामाजिक-'विज्ञानों' के निष्कर्षों को समाज-'शास्त्र' ले लेता है, और लेकर उनका आपस में सम्बन्ध जोड़ कर अपने परिणाम निकालता है, वैसे इन सामाजिक-'विज्ञानों' के निष्कर्षों को सामाजिक-'दर्शन' भी ले लेता है, और उनसे मनुष्य-समाज का हित किस में है, हानि किस में है--इस प्रकार के निष्कर्ष निकालता है।

समाज-'शास्त्र' के साथ सामाजिक-'दर्शन' न हो, तो क्या हानि है? हानि यह है कि उस अवस्था में हम सिर्फ़ सामाजिक घटनाओं और उनके आपसी सम्बन्धों का अध्ययन करेंगे। लड़ाई हुई, यह एक सामाजिक घटना है, दास-प्रथा है, यह एक दूसरी सामाजिक घटना है। परन्तु इन घटनाओं से संसार आगे बढ़ा या पीछे हटा, मनुष्य का भला हुआ या बुरा हुआ, मनुष्य क्या करे जिससे ऐसी दुर्घटनाएँ न घटें--यह 'सामाजिक-दर्शन' का काम है। सामाजिक-'दर्शन' की दृष्टि से हम न देखें, सिर्फ़ सामाजिक-'विज्ञान' की ही दृष्टि से देखें, तो कह सकते हैं, समाज ने ही तो युद्ध को उत्पन्न किया, समाज ने ही दास-प्रथा को जन्म दिया--फिर ये बुरे क्यों? परन्तु नहीं, सामाजिक-'दर्शन' इन घटनाओं को और आगे तक देखता है--दूरतक, वहाँ तक जहाँ तक सिर्फ़ 'विज्ञान' (Science) नहीं देख सकता, किन्तु 'दर्शन' (Philosophy) देख सकता है।

प्रश्न

१. स्थूल-पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञानों को किन तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है ?

२. 'विज्ञान' किसे कहते हैं, यह दर्शाकर सिद्ध कीजिये कि 'समाज-शास्त्र' विज्ञान है।

३. समाज-शास्त्र के नियमों का क्या महत्त्व है ?

४. 'प्राकृतिक' (Natural) तथा 'सामाजिक' (Social) विज्ञानों में क्या भेद है ?

५. 'प्राकृतिक' तथा 'सामाजिक'-विज्ञानों में क्या समानता है ?

६. समाज-शास्त्र को 'सामान्य-सामाजिक-शास्त्र' (General Social Science) तथा अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र आदि को 'विशेष सामाजिक-शास्त्र' (Special Social Science) क्यों कहते हैं ?

७. समाज-शास्त्र का मानव-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, आचार-शास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति-शास्त्र, इतिहास, प्राणि-शास्त्र तथा विधान-शास्त्र से सम्बन्ध दिखाइये।

८. 'विज्ञान' तथा 'दर्शन' में क्या भेद है ? समाज-शास्त्र का 'विज्ञान' की हैसियत से और 'दर्शन' की हैसियत से क्या रूप है। 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Science) तथा 'सामाजिक-दर्शन' (Social Philosophy) में क्या भेद है ?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. समाज-शास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध बताइये। शिक्षा-सम्बन्धी योजना में समाज-शास्त्र का क्या स्थान है ? (आगरा, १९५०)

२. क्या समाज-शास्त्र विज्ञान है ? है, तो कैसे, नहीं है तो कसे ?

या

क्या 'वैज्ञानिक-पद्धति' का प्रयोग मानव-समाज के अध्ययन के लिए अनुपयुक्त है ?—(आगरा, १९५४)

३. समाज-शास्त्र कैसे विज्ञान हो सकता है जब कि इसमें प्रयोगशाला का उपयोग कभी-कभी या बिल्कुल नहीं होता ? (आगरा, १९५५)

४

समाज-शास्त्र के अध्ययन की पद्धतियाँ
(METHODS OF STUDY OF SOCIOLOGY)

समाज-शास्त्र में वैज्ञानिक-पद्धति के प्रयोग की कठिनाइयाँ

हमने देखा कि 'समाज-शास्त्र' एक विज्ञान है। 'समाज-शास्त्र' का अध्ययन भी वैज्ञानिक-पद्धतियों द्वारा ही होता है, परन्तु प्राकृतिक-विज्ञानों में जिन पद्धतियों का प्रयोग होता है उनका समाज-शास्त्र में प्रयोग होना कठिन है। इस सम्बन्ध में जो कठिनाई है, वह निम्न है :—

(क) प्रयोग-शाला का अभाव—प्राकृतिक-विज्ञानों के लिए हम प्रयोग-शाला का निर्माण कर सकते हैं, समाज-शास्त्र के लिए प्रयोग-शाला नहीं बनायी जा सकती। समाज-शास्त्र की प्रयोग-शाला अगर कोई है तो सारा संसार है, और अगर नहीं है तो कहीं नहीं है।

(ख) कारण-कार्य के निश्चित सम्बन्ध का अभाव—प्राकृतिक-विज्ञानों की घटनाएँ निश्चित होती हैं। आग में हाथ डालेंगे, तो जल जायगा, पहाड़ पर से पत्थर फेंकेंगे, तो नीचे गिरेगा, दिन के बाद रात होगी, रात के बाद दिन होगा। समाज-शास्त्र में ऐसे निश्चित नियम नहीं होते, इसलिए किसी प्राकृतिक माप-दण्ड से उन्हें मापा नहीं जा सकता।

(ग) अचेतन तथा जड़ तत्त्व का अभाव—सबसे बड़ी बात यह है कि प्राकृतिक-विज्ञानों के तत्त्व, उनकी सत्ताएँ जड़ होती हैं, जिन पर, जैसा परीक्षण चाहें कर सकते हैं। समाज-शास्त्र की इकाई मनुष्य है, जो जड़ नहीं, चेतन है। प्राकृतिक-पदार्थों की जड़ इकाइयों में बाहर के प्रभाव से परिवर्त्तन होता है, परन्तु समाज-शास्त्र की चेतन इकाई मनुष्य पर, बाहर के साथ भीतर से, मनुष्य की चेतना से भी प्रभाव पड़ता रहता है, दूसरे मनुष्यों के सम्पर्क से भी प्रभाव पड़ता रहता है। मनुष्य चाहे तो स्वयं ही अपने विचार को बदल सकता है। इस कारण भी प्राकृतिक-विज्ञानों को जिस सुगमता से मापा-तोला जा सकता है, मनुष्य से सम्बन्ध रखने वाले समाज-शास्त्र को उस सुगमता से नहीं मापा-तोला जा सकता।

(घ) राग-द्वेष का अभाव—समाज-शास्त्र मनुष्यों का शास्त्र है, और उसकी विवेचना भी मनुष्य ही करता है। मनुष्य में राग-द्वेष तो रहते ही हैं। जब हम किसी प्राकृतिक-विज्ञान का अध्ययन करते हैं, तब राग-द्वेष नहीं होता। पानी का विश्लेषण करके जब हम ऑक्सीजन और हाइड्रोजन निकालते हैं, तब न

प्रेम में होते हैं, न द्वेष में। बिलकुल निस्संग तथा निष्काम-वृत्ति से, तटस्थता से यह अध्ययन होता है, परन्तु जब हम रूस के कम्युनिज्म का अध्ययन करने लगते हैं, तब अगर हम भी कम्युनिस्ट हैं, तो यही सोचकर करते हैं कि यह सर्वोत्तम राज्य-व्यवस्था है, और अगर नहीं हैं, तो इसकी आलोचना साथ-साथ करते जाते हैं। इसलिए समाज-शास्त्री के लिए आवश्यक है कि ऐसी पद्धति से अपने विषय का अध्ययन करे जिससे ज्यादा-से-ज्यादा तटस्थ-भावना से काम ले सके। फिर भी अपने विचारों को मनुष्य कहाँ तक छोड़ सकता है, और इसलिए समाज-शास्त्र में बिलकुल शुद्ध वैज्ञानिक विवेचन कर सकना कठिन हो जाता है।

इन सब कठिनाइयों के बावजूद समाज-शास्त्र का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव है, और किया जा रहा है। आजकल इस शास्त्र के अध्ययन में जो वैज्ञानिक-पद्धतियाँ प्रयोग में लायी जा रही हैं, हम उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ देंगे।

समाज-शास्त्र के अध्ययन की पद्धति की आधार-भूत समस्या क्या है ?

हम इस पुस्तक में जगह-जगह लिख आये हैं कि समाज-शास्त्र का काम मानव-समाज के पारस्परिक-सम्बन्धों का अध्ययन करना है। 'मानव-समाज के पारस्परिक-सम्बन्ध का अध्ययन'––इसका क्या अर्थ है ? इसका अर्थ यह है कि मनुष्य-समाज में एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ, एक समाज का दूसरे समाज के साथ, एक संस्था का दूसरी संस्था के साथ, एक परिवार का दूसरे परिवार के साथ, या समाज का परिवार के साथ जो सम्बन्ध है, उसमें कोई नियम काम कर रहा होता है। समाज-शास्त्र का काम इस नियम का पता लगाना है। समाज-शास्त्र के अध्ययन की वही पद्धति होगी जिसके प्रयोग से हम इन नियमों का पता लगा सकेंगे। निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि मनुष्य-समाज में जो सम्बन्ध हैं, उनमें कोई 'पारस्परिक-सम्बन्ध का नियम' (Law of Interrelation or Correlation) होता है।

(क) किसी देश में केन्द्रीय-सरकार की स्थिरता का सम्बन्ध उस देश की आम जनता की शिक्षा के साथ जुड़ा होता है। जनता जितनी ज्यादा शिक्षित होगी उतनी केन्द्रीय सरकार की स्थिरता की सम्भावना ज्यादा रहेगी।

(ख) विशेष-विशेष सामाजिक-वर्गों (Social classes) का विशेष-विशेष राजनैतिक-संस्थाओं (Political institutions) के साथ कुछ सम्बन्ध होता है। भारत में ब्राह्मण-वर्ग के लोग मुख्य-मन्त्री अधिक संख्या में हैं––यह एक प्रकार का सम्बन्ध दीख पड़ता है जिसकी समाज-शास्त्री पड़ताल कर सकता है।

(ग) खास-खास धार्मिक-विचारों या धार्मिक-रीतियों का खास-खास बुद्धि-स्तर के लोगों के साथ खास-खास सम्बन्ध है। जितना बुद्धि-स्तर नीचा होगा उतनी देवी-देवताओं की, भूत-प्रेत की भावना प्रबल होगी, जितना बुद्धि-स्तर ऊँचा होता जायगा उतनी यह भावना कम होती जायगी।

(घ) एक ही समय में एक जाति की जो सामाजिक अवस्था होगी उसका प्रतिबिम्ब दूसरी जाति की सामाजिक अवस्था पर भी पड़ेगा—एक जाति की सामाजिक अवस्था का दूसरी जाति की तत्कालीन सामाजिक अवस्था के साथ सम्बन्ध होता है। अंग्रेज़ों को नकटाई लगाते देखकर भारतीय भी इसे लगाने लगे।

(ङ) विश्व के सब देशों की एक-दूसरे पर निर्भरता बढ़ती जा रही है।

(च) संसार में भिन्न-भिन्न प्रकार के आर्थिक संगठन (Economic structures) हैं। इन आर्थिक संगठनों का सामाजिक संगठनों (Social structures) के साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध है। आर्थिक संगठन का परिवार के साथ, लोक-तंत्र, प्रजा-तंत्र, समाजवादी, कम्युनिस्ट आदि भिन्न-प्रकार की सरकारों के साथ, सम्पत्ति की समस्या, युद्ध, श्रेणी-वर्ग आदि सब सामाजिक संगठनों के साथ किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध है।

(छ) समाज के वर्गों की रचना (Class structure) का सम्बन्ध आर्थिक-रचना (Economic structure) के साथ है। कभी एक वर्ग ऐसा था जिससे बेगार ली जाती थी, तब समाज की आर्थिक-रचना जैसी थी वैसी तब नहीं रह सकती जब बेगार करने वाला वर्ग समाज में कोई न हो।

(ज) परिवार के स्वरूप का आर्थिक-व्यवस्था के साथ सम्बन्ध है। जहाँ संयुक्त-परिवार-प्रथा है, वहाँ जो आर्थिक-व्यवस्था होती है, वह विभक्त-परिवार-प्रथा से भिन्न होती है, जहाँ सब भाइयों में एक ही भाई शादी करता है वहाँ आर्थिक-व्यवस्था उस परिवार से भिन्न होती है जहाँ सब भाई अलग-अलग शादी करते हैं। इन दोनों प्रकार के परिवारों में धार्मिक तथा सदाचार के विचारों में भी अन्तर होता है। एक प्रकार के परिवार में दूसरे भाई की स्त्री के साथ सम्बन्ध पाप है, दूसरे प्रकार के परिवार में इस प्रकार के सम्बन्ध की खुली छट है।

(झ) आर्थिक कारणों का संगठित युद्धों के साथ सम्बन्ध है। कोई देश जब आर्थिक दृष्टि से तंग आ जाता है तब युद्ध पर आमादा हो जाता है, जो देश सब तरह से समृद्ध हैं, उनके दिमाग़ में युद्ध का विचार कम आता है।

(ञ) लड़ाई में कोई देश युद्ध-बन्दियों को दास बनाकर रखेगा, कोई उनका वध कर देगा, कोई उन्हें मुक्त कर देगा, या अपने देश में बसने की छूट दे देगा—इन सब बातों का आर्थिक कारणों के साथ सम्बन्ध है।

(ट) किसी देश की आर्थिक-व्यवस्था के साथ इस बात का सम्बन्ध है कि देश में उच्च-वर्ग के लोगों की श्रेणी पैदा होती है या मध्य-वर्ग के लोगों की श्रेणी, देश में सर्व-व्यापी दास-प्रथा प्रचलित होती है, या मज़दूर श्रेणी के लोग बढ़ते जाते हैं।

(ठ) जनता की जागृति के साथ-साथ शासन-व्यवस्था में परिवर्त्तन आ जाने का सम्बन्ध है। जनता में जागृति हो और शासन में तदनुकूल परिवर्तन न हो, तो इसके साथ देश में क्रान्ति हो जाने का सम्बन्ध है।

(ड) औद्योगिक संगठन का समाज की सुव्यवस्था या अव्यवस्था के साथ सम्बन्ध है।

(ढ) उद्योगीकरण (Industrialization) तथा पूँजीवाद (Capitalism) का कुछ-न-कुछ पारस्परिक सम्बन्ध है।

(ण) जितना 'शहरी-करण' (Urbanization) बढ़ेगा उतना 'परिवार' का संगठन शिथिल होगा—इन दोनों का कुछ-ऐसा-सा सम्बन्ध दीखता है।

(त) 'श्रेणी-विभाजन' (Class differentiation) और 'युद्ध' का परस्पर सम्बन्ध मालूम पड़ता है।

(थ) वीबर (Weber) ने यह स्थापना की थी कि किसी समुदाय (Community) के सदाचार-सम्बन्धी क्रियात्मक विचारों तथा उसके आर्थिक संगठन का एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध होता है।

(द) टायलर (Tyler) ने आदिम जातियों के अध्ययन के बाद यह स्थापना की थी कि जिन जातियों में घर-जँवाई रखने की प्रथा है उनमें सास के अपने जँवाई से कुछ अलग-से रहने की भी प्रथा है। इन दोनों प्रथाओं का कुछ सम्बन्ध है।

हमने ऊपर जो दृष्टान्त दिये उनका उद्देश्य यह दर्शाना है कि समाज-शास्त्र का काम इसी प्रकार के 'पारस्परिक-सम्बन्धों' (Correlations) को खोजना है।

'हम पद्धति' या 'विधि' (METHOD) से क्या-क्या बातें जानना चाहते हैं ?

हमने इतने दृष्टान्त इसलिए दिये, जिससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाय कि मनुष्य-समाज में जो सम्बन्ध पाये जाते हैं, जिन सम्बन्धों का अध्ययन करना समाज-शास्त्र का काम है, वे निरे सम्बन्ध ही नहीं, एक खास प्रकार के सम्बन्ध होते हैं, उन सम्बन्धों में कुछ नियम, कुछ एक-दूसरे पर निर्भरता, आश्रयिता, या कुछ एक प्रकार का अनुपात-सा पाया जाता है। कुछ ऐसा मालूम पड़ता है कि यह होगा तो यह भी होगा, यह नहीं होगा तो यह भी नहीं होगा। समाज-शास्त्र के अध्ययन की विधि में, पद्धति में ऐसा-कुछ होना चाहिए जिससे कौन-सा सम्बन्ध कहाँ तक दूसरे से बँधा हुआ है, किस अंश तक दूसरे पर निर्भर है, किस अनुपात में निर्भर है—इन सब बातों का उस विधि से पता चल जाय। ऊपर के दृष्टान्तों में जो बातें हम जानना चाहते हैं, वे संक्षेप में निम्न हैं :—

(क) घटनाओं का पारस्परिक-सम्बन्ध—इन दृष्टान्तों में से हर दृष्टान्त में जिन दो बातों का सम्बन्ध दर्शाया गया है वह 'पारस्परिक-सम्बन्ध' (Correlation) कहलाता है। हम जिस विधि का प्रयोग करें उससे यह पता चल जाना चाहिए कि यह 'पारस्परिक-सम्बन्ध' (Correlation) किस 'रूप' (Form) का है। अगर अशिक्षा के साथ राज-प्रथा का सम्बन्ध है, तो राज-प्रथा का रूप जन-सत्तावाद नहीं हो सकता, क्योंकि जन-सत्तावाद तो वहीं होगा जहाँ की जनता जागरूक हो, शिक्षित हो। अशिक्षितों में या तो राजा राज कर सकता है, या उनमें से ही किसी एक आदमी की सत्ता चल सकती है। वहाँ एक-सत्तावाद चल सकता है, जन-सत्तावाद या प्रजातंत्र नहीं।

(ख) पारस्परिक-सम्बन्ध की मात्रा--दो बातों का पारस्परिक-सम्बन्ध किस 'रूप' का है--यह जानने के साथ-साथ हम यह भी जानना चाहेंगे कि इस सम्बन्ध में जो अदला-बदली है, कमी-ज्यादती है, परिवर्त्तन है, उसकी क्या 'मात्रा' (Degree) है। एक शब्द में, हम यह जानना चाहेंगे कि हमने सब-कुछ अध्ययन करने के बाद 'सम्बन्धों' (Correlations) का जो 'रूप' निर्धारित किया, उसमें किस-किस मात्रा में परिवर्त्तन पाया जाता है--'परिवर्त्तन की सीमा' (Extent or limit of variation) क्या है ? अशिक्षा के साथ एकसत्ता-वाद चल सकता है, परन्तु अशिक्षित जनता किस मात्रा तक एकसत्ता को बर्दाश्त कर सकती है, और किस सीमा पर आकर वह भी बौखला उठती है ?

(ग) पारस्परिक-सम्बन्धों का सहचारी या असहचारी होना--हम यह भी जानना चाहेंगे कि कौन-से सम्बन्ध एक-साथ रह सकते हैं--कौन-से सम्बन्धों का साथ बनता है, कौन-सों का साथ नहीं बनता। उदाहरणार्थ, गिंडोये की देश-भक्ति का कुछ अर्थ नहीं है--इन दोनों में कोई 'सहचारिता' (Compatibility) नहीं है। 'सामाजिक-सम्बन्धों' के विषय में हम यह जानना चाहेंगे कि वे सम्बन्ध 'सहचारी' (Compatible) हैं, या 'असहचारी' (Incompatible) हैं, एक-साथ रह सकते हैं, या एक-साथ नहीं रह सकते।

(घ) सम्बन्धों की शृंखला--हम इन विधियों से यह भी जानना चाहेंगे कि जिन सामाजिक-सम्बन्धों का हम अध्ययन कर रहे हैं, जिन सामाजिक-परिवर्त्तनों का विवेचन कर रहे हैं, उनमें किस अंश तक नियम-बद्धता, सुशृंखलता (Order) है ?

(ङ) सम्बन्धों का एक-दूसरे पर प्रभाव--हमें यह भी जानना है कि जिन दो सम्बन्धों का हम अध्ययन कर रहे हैं, उनमें से एक में परिवर्त्तन होने पर क्या दूसरे में भी परिवर्त्तन आ जाता है ? उदाहरणार्थ, अगर हम यह कहते हैं कि आर्थिक-व्यवस्था का सामाजिक-व्यवस्था से सम्बन्ध है, तो वह सम्बन्ध तभी माना जा सकता है अगर आर्थिक-व्यवस्था में परिवर्त्तन कर दिया जाय, तो सामाजिक-व्यवस्था में अपने-आप परिवर्त्तन आ जाय, नहीं तो इनका सम्बन्ध ही क्या ?

(च) सम्बन्धों का कारण-कार्य भाव--इन सम्बन्धों में यह जानना भी आवश्यक है कि कौन-सा सम्बन्ध कारण है, कौन-सा कार्य है ? अगर इनका आपस का कारण-कार्य (Cause and effect) का सम्बन्ध नहीं है, तो क्या सिर्फ़ यही सम्बन्ध है कि ये दोनों एक-साथ रहते हैं ? यह हो सकता है कि दो इस प्रकार के सम्बन्ध हों, जो एक-दूसरे के न कार्य हों, न कारण हों, परन्तु फिर भी दोनों सम्बन्ध समाज में साथ-साथ दीख पड़ते हों। जिस विधि का हम समाज-शास्त्र में प्रयोग करें उससे यह बात भी स्पष्ट हो जानी चाहिए।

(छ) सम्बन्धों की विस्तार-सीमा--समाज में जो भिन्न-भिन्न परिवर्त्तन हो रहे हैं उनमें एक परिवर्त्तन के अन्तर्गत कहाँ तक दूसरे परिवर्त्तन स्वयं आ जाते हैं ? क्रांति से अगर किसी देश का मुख्य-मन्त्री बदला गया, तो विदेशों में उसके निश्चित

किये हुए राजदूत स्वयं त्याग-पत्र दे देते हैं। क्यों दे देते हैं? क्योंकि मुख्य-मन्त्री क्रांति से बदला गया है। क्रांति का अभिप्राय है, जो विचार-धारा मुख्य-मन्त्री की थी, उससे बिलकुल विपरीत विचारों के लोगों ने राज्य-सत्ता को छीन लिया। मुख्य-मंत्री ने उन्हीं लोगों को विदेशों में राजदूत बनाकर भेजा होगा जो उसी की विचार-धारा के होंगे। इसलिए जब क्रांति द्वारा राज बदलता है, तो अन्य अनेक परिवर्त्तन उसके अन्तर्गत आवश्यक हो जाते हैं। हमारी विधि से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि यह सामाजिक-परिवर्त्तन कैसा है? साधारण है, या असाधारण--ऐसा असाधारण कि क्या इसका असर चतुर्दिक् है, सर्व-व्यापी है?

संक्षेप में, हम अपनी विधि से यह जानना चाहेंगे कि इन सम्बन्धों का आपस का क्या रिश्ता है, कारण-कार्य का रिश्ता है, एक-दूसरे के साथ रहने भर का रिश्ता है, हल्का-सा रिश्ता है, गहरा रिश्ता है, एक का दूसरे पर क्या असर पड़ता है, जंगली जातियों में इन रिश्तों का एक-दूसरे पर क्या असर था, आज की सभ्य जातियों में इनका क्या असर है?

अब हम उन पद्धतियों का, विधियों (Methods) का वर्णन करेंगे जिनके द्वारा समाज-शास्त्र उन गहन प्रश्नों को हल करने का प्रयत्न करता है जिनका वर्णन हमने अभी किया। इनमें सब से पहली विधि 'प्रतिकूल-निगमन' की विधि है। 'प्रतिकूल-निगमन' तथा 'वैज्ञानिक-विधि' में भेद है जो निम्न विवरण से अपने-आप स्पष्ट हो जायगा :--

१. 'प्रतिकूल-निगमन' तथा 'वैज्ञानिक'-पद्धति
('Inverse Deductive' and 'Scientific Method')

संसार में वस्तुएँ बिखरी पड़ी हैं, और एक-एक वस्तु का हम ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो सारी उम्र बीत जाय, और हम वस्तुओं को गिनते ही रहें। परन्तु हम ऐसा नहीं करते। संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं, इनका आपस का कुछ सम्बन्ध-सा है, उस सम्बन्ध के अनुसार हम उन्हें एक-एक श्रेणी में बाँट लेते हैं। जो वस्तुएँ एक तरह की हैं वे एक तरफ़, जो दूसरी तरह की हैं, वे दूसरी तरफ़, जो तीसरी तरह की हैं, वे तीसरी तरफ़--इत्यादि। इस प्रकार का वर्गीकरण करते-करते हमें ऐसा लगने लगता है कि एक तरह की वस्तुओं में भी कुछ आपसी सम्बन्ध है--कुछ कार्य हैं, कुछ कारण हैं। वस्तुओं का अलग-अलग श्रेणियों में 'वर्गीकरण' (Classification) करने के बाद हम हर श्रेणी में एक 'नियम' (Law) ढूँढना शुरू करते हैं--एक ही श्रेणी में भी कौन-सी बात है, जो सब में समान पायी जाती है? इस प्रक्रिया से हमें हर वस्तु का अलग-अलग ज्ञान लेने की जरूरत नहीं रहती, ज्ञान पाने का गुर हमारे हाथ आ जाता है। यह गुर प्राप्त होता है--'आगमन-पद्धति' से।

'आगमन-पद्धति' (INDUCTIVE METHOD)

एक ही 'वर्गीकरण' की भिन्न-भिन्न वस्तुओं को देखकर हम किस प्रकार किसी नियम पर पहुँचते हैं? हम देखते हैं, राम मर गया, लक्ष्मण मर गया, राम-

लक्ष्मण के जितने भाई थे सब मर गए। ये सब--राम, लक्ष्मण, उनके भाई--मनुष्य थे। राम भी मनुष्य था, और मर गया, लक्ष्मण भी मनुष्य था, और मर गया, उनके भाई भी मनुष्य थे, और मर गये। यह सब हमें 'निरीक्षण' और 'परीक्षण' (Observation and Experiment) से मालूम हुआ। अब हम इस 'निरीक्षण' और 'परीक्षण' के आधार पर मनुष्य मात्र के सम्बन्ध में एक 'नियम' पर पहुँच जाते हैं। वह नियम है--'मनुष्य मरण-धर्मा' है। अब हम जिस-जिस मनुष्य को देखेंगे, उस पर यह 'निरीक्षण' और 'परीक्षण' करने नहीं बैठ जायेंगे कि यह मनुष्य भी मरेगा या नहीं। मनुष्य को देखते ही हम कह देंगे कि जैसे और मर गये वैसे यह भी किसी समय मर जायगा। संसार का अनुभव ऐसा ही कहता है। इस प्रकार 'निरीक्षण-परीक्षण' के आधार पर जब हम किसी सचाई पर पहुँचते हैं, तब इस प्रक्रिया को 'तर्क-शास्त्र' (Logic) में 'आगमन-पद्धति' (Inductive method) कहा जाता है। 'आगमन' इसलिए कि इस नियम का अनेक निरीक्षणों और परीक्षणों, अनेक दृष्टान्तों को देखकर 'आगमन' (Induction), अर्थात् 'आना' हुआ। प्रत्येक विज्ञान में जो 'नियम' (Laws) काम कर रहे हैं, उन नियमों को हम इसी प्रकार पता लगाते हैं--विज्ञान के इन नियमों को 'आगमन' (Inductions) कहा जाता है।

'आगमन-पद्धति' से जिन 'नियमों' का हम पता लगाते हैं, वे दो तरह के हो सकते हैं। एक तो वे 'नियम' जो 'नियम' (Laws) घोषित किये जा सकते हैं, जिनमें कोई अपवाद नहीं देखा गया। दूसरे वे 'नियम' जो अभी 'नियम' घोषित नहीं किये जा सकते, जो 'नियम' बनने के रास्ते में हैं, अभी पूरी तरह से नियम नहीं बने, जो अभी 'निरीक्षण'-'परीक्षण' की प्रक्रिया में से गुजर रहे हैं। ऐसे नियमों को 'परीक्षणात्मक-नियम' (Empirical generalisations या Hypothesis) कहते हैं। इन्हें 'परीक्षणात्मक' इसलिए कहते हैं क्योंकि यह तो ठीक है कि इन नियमों का अभी तक अपवाद नहीं मिला, परन्तु क्या मालूम अभी अगले ही दृष्टान्त में यह नियम टूट जाय, और इसका अपवाद मिल जाय--ये अभी परीक्षण के रास्ते में जो हैं।

'निगमन-पद्धति' (DEDUCTIVE METHOD)

अभी जिन 'नियमों' (Laws--Inductions) तथा 'परीक्षणात्मक-नियमों' (Empirical laws, Empirical generalisations, Empirical Inductions) का हमने वर्णन किया, उन्हीं पर सब विज्ञानों का ढाँचा खड़ा है। जो 'नियम' (Laws) घोषित किये जा चुके हैं, उन 'नियमों' (Inductions) को आधार बनाकर, 'भौतिक-विज्ञानों' (Physical Sciences), अर्थात् भौतिक-शास्त्र, गणित-शास्त्र, यंत्र-विद्या, ज्योतिष आदि का ढाँचा खड़ा किया जाता है। इन भौतिक-विज्ञानों के जो अगले बड़े-बड़े और छोटे-छोटे परिणाम निकाले जाते हैं, वे इन्हीं प्रारम्भिक-'नियमों' (Inductions) के आधार पर ही

होते हैं जिनका 'निरीक्षण-परीक्षण' द्वारा पहले हमने पता लगाया हुआ है। इन भौतिक-विज्ञानों में हम नये सिरे से नियमों को पता लगाने का प्रयत्न नहीं करते, इन नियमों को तो हम 'आगमन-पद्धति' से पहले पता लगा चुके होते हैं। भौतिक-विज्ञानों के दृष्टान्तों में उन पहले 'आगमन-पद्धति' से पता लगाये हुए नियमों का नये-नये पर्यावरणों पर 'निगमन' होता है। इसलिए भौतिक-विज्ञानों के दृष्टान्तों में 'आगमन-पद्धति' न लगाकर 'निगमन-पद्धति' लगती है। तीर आसमान में छोड़ा जायगा, तो वह गोलाई लिये हुए उतरेगा, सीधा नहीं गिरेगा---ऐसा हम कहते हैं। ऐसा क्यों कहते हैं ? इसका कारण यही है कि 'गुरुत्वाकर्षण' (Gravitation) के कारण वह गिरता है, वायु की 'प्रतिरोध-शक्ति' (Resistance of air) उसे गिरने नहीं देती, परन्तु यह रोक बहुत जबर्दस्त नहीं है, इसलिए वायु का दबाब जहाँ-जहाँ कम होता जाता है, उस रास्ते से तीर उतरता जाता है---यह टेढ़ा रास्ता ही उसका उतरने का गोलाई का रास्ता है। इस दृष्टान्त में पृथ्वी की 'गुरुत्व-शक्ति' (Gravitation), वायु की 'प्रतिरोध-शक्ति' (Resistance) आदि 'नियमों' (Inductions) का हम पहले दूसरे दृष्टान्तों से 'आगमन-विधि' (Inductive method) द्वारा पता लगा चुके हैं, इसलिए वर्त्तमान दृष्टान्त में हम इस 'नियम' पर पहुँचते हैं कि आसमान में फेंका तीर गोलाई से उतरेगा। यह तो हमने परिणाम निकाल लिया कि अगर वायु में तीर फेंका जायगा, तो पृथ्वी की गुरुत्व-शक्ति और वायु की प्रतिरोध-शक्ति के कारण गोलाई के रास्ते से उतरेगा, परन्तु हमारा यह परिणाम ठीक है, या ग़लत---इसकी क्या कसौटी है ? इसकी कसौटी यह है कि या तो हम तीर फेंक कर देख लें, या तीर न हो, तो कोई हल्की-सी चीज फेंक कर ही देख लें। अगर तीर आसमान में फेंकने पर गोलाई के रास्ते से उतरे तब हम समझेंगे कि हमने जो नतीजा निकाला था वह ठीक था, इसलिए ठीक था क्योंकि हमने उसे 'परीक्षण' से मिला कर देख लिया।

नतीजे पर पहुँचने के जिस तरीके का हमने अभी वर्णन किया वह तरीका पहले तरीके से भिन्न है। पहले तरीके को हमने 'आगमन-विधि' (Inductive method) कहा था, यह दूसरा तरीका 'निगमन-विधि' (Deductive method) कहलाता है। 'आगमन-विधि' में हमने बहुत-से दृष्टान्त इकट्ठे कर लिये थे---राम भी मरा, लक्ष्मण भी मरा, उनके भाई भी मरे। इन दृष्टान्तों से हमारे इस 'नियम' (Induction) का 'आगमन' हुआ कि 'सब मनुष्य मरते हैं।' हमने अभी जिस दूसरे तरीके का वर्णन किया है उसमें और पहले तरीके में भेद यह है कि पहले तरीके में तो हमने पहले बहुत-से दृष्टान्त देखे थे, तब नियम निकाला था, इस दूसरे तरीके में हम बहुत-से दृष्टान्तों को लेकर नहीं चले। हम तो उन नियमों को मानकर चले हैं जो उसी प्रकार के दृष्टान्तों से कभी के निकल चुके हैं। यह ठीक है कि जब गुरुत्व-शक्ति का नियम पहले-पहल निकला था, तब 'आगमन-विधि' (Inductive method) से ही निकला था, परन्तु जब हम तीर किस रास्ते से उतरेगा यह सोच रहे हैं, तब यह 'नियम' मानकर चल रहे हैं कि पृथ्वी में

'गुरुत्व-शक्ति' है, और वायु में 'प्रतिरोध-शक्ति' है। तब हम इन नियमों का, जिनका हमें पहले-से ज्ञान हो चुका है, किन्हीं दृष्टान्तों से 'आगमन' (Induction) नहीं करते, परन्तु किन्हीं दृष्टान्तों पर 'निगमन' (Deduction) करते हैं, उन दृष्टान्तों पर इन नियमों को घटाते हैं। वर्त्तमान दृष्टान्त में, हमने पृथ्वी की 'गुरुत्व-शक्ति' और वायु की 'प्रतिरोध-शक्ति' को जानते हुए तीर के सम्बन्ध में विचार किया,और एक काल्पनिक परिणाम निकाला कि अगर तीर आसमान में फेंका जायगा तो इसे गोलाई में गिरना चाहिए, और इस परिणाम को तीर या कुछ और फेंक कर तजर्बा करके भी देख लिया कि वास्तव में ऐसा होता है या नहीं। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि 'निगमन-पद्धति' (Deductive method), 'आगमन-पद्धति' (Inductive method) से भिन्न है। एक तरह से उससे उल्टी है। 'आगमन' (Inductive) में हम दृष्टान्तों से 'नियम' (Law) पर पहुँचते हैं, 'निगमन' (Deductive) में हम पहले से 'आगमन' द्वारा जाने हुए नियमों को लेकर चलते हैं, और यह देखने के लिए कि हमारा परिणाम ठीक है या नहीं, उसे दृष्टान्तों पर घटाते हैं। 'आगमन' (Inductive) में 'दृष्टान्त' पहले हैं, 'नियम' पीछे; 'निगमन' (Deductive) में 'नियम' पहले हैं, 'दृष्टान्त' पीछे। 'आगमन' (Inductive) दृष्टान्तों से नियम निकाल कर विज्ञान को दे देता है, और 'निगमन' (Deductive) उन नियमों को लेकर अपने भिन्न-भिन्न परिणाम निकालता रहता है, और वे परिणाम ठीक हैं या नहीं इस बात को परखने के लिए उन्हें दृष्टान्तों के ऊपर घटा कर देख लेता है। इस 'निगमन-पद्धति' (Deductive method) का प्रयोग 'भौतिक-विज्ञानों' (Physical Sciences) के लिए किया जाता है, अतः इसे 'भौतिक-पद्धति' (Physical method) या 'वैज्ञानिक-पद्धति' (Scientific method) भी कहा जाता है। अब हम देखेंगे कि समाज-शास्त्र में कौन-सी पद्धति काम करती है।

'निगमन-पद्धति' (DEDUCTIVE METHOD) के दो भेद—
'अनुकूल'-निगमन तथा 'प्रतिकूल'-निगमन-पद्धति

'निगमन-पद्धति' (Deductive Method) के दो भेद हैं। एक तो 'अनुकूल निगमन-पद्धति' (Direct Deductive Method), दूसरी 'प्रतिकूल निगमन-पद्धति' (Inverse Deductive Method)। जिस 'निगमन-विधि' (Deductive method) का हमने अभी उल्लेख किया है, वह 'अनुकूल-निगमन-विधि' (Direct Deductive Method) है। यह 'भौतिक-विज्ञानों' (Physical Sciences) में बर्ती जाती है और 'वैज्ञानिक-विधि' कहलाती है। दूसरी 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' (Inverse Deductive method) है, जो 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) में बर्ती जाती है। इतिहास, राजनीति-शास्त्र, अर्थशास्त्र—इन सब विज्ञानों में 'वैज्ञानिक-विधि' नहीं, परन्तु 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) बर्ती जाती है। 'समाज-शास्त्र' में भी इसी 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' का प्रयोग होता है। अब हमने यह देखना है कि यह 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' क्या है?

'प्रतिकूल-निगमन-पद्धति' (INVERSE DEDUCTIVE METHOD) क्या है ?

हमने कहा था कि 'आगमन' (Induclive) तथा 'निगमन' (Deductive) में यह भेद है कि 'आगमन' (Inductive) दृष्टान्तों से नियम निकालता है, और 'निगमन' (Deductive) इन नियमों से शुरू करके उन्हें दृष्टान्तों पर घटाकर देखता है। परन्तु 'नियम' भी तो दो तरह के होते हैं--एक तो वे नियम (Laws) जो 'निरीक्षण' तथा 'परीक्षण' से 'नियम' घोषित किये जा चुके हैं, दूसरे वे 'नियम' (Laws) जो अभी परखे जा रहे हैं, जिन पर 'निरीक्षण' तथा 'परीक्षण' हो रहा है--जिन्हें 'नियम' न कहकर हमने 'परीक्षणात्मक-नियम' (Empirical generalisations) कहा था।

'आगमन-विधि' (Inductive method) दृष्टान्तों को देख कर निरीक्षण-परीक्षण द्वारा 'नियमों' तथा 'परीक्षणात्मक'-नियमों--इन दो का पता लगाती है। 'अनुकूल-निगमन-विधि' (Direct Deductive Method) का आधार ये 'नियम' (Laws) होते हैं; 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) का आधार ये 'परीक्षणात्मक-नियम' (Empirical generalisations) होते हैं। समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, इतिहास आदि 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) में हम 'भौतिक-शास्त्र' (Physical Sciences) की तरह के किन्हीं निश्चित-'नियमों' (Laws) को आधार बना कर नहीं चल सकते, क्योंकि 'सामाजिक-विज्ञानों' में 'मनुष्य' एक ऐसा तत्त्व है, जो स्वतंत्र-कर्त्ता होने के कारण उस प्रकार की निश्चितता नहीं उत्पन्न होने देता जैसी भौतिक-विज्ञानों में हो सकती है। इसी लिए सामाजिक-विज्ञानों का आधार जो नियम हैं, वे 'परीक्षणात्मक-नियम' (Empirical generalisations) ही हो सकते हैं, 'निश्चित-नियम' (Definite laws) नहीं हो सकते, और इसी लिए सामाजिक-विज्ञानों की विधि निश्चित-नियमों की, अर्थात् 'वैज्ञानिक-विधि' (Inductive या Deductive method) न होकर 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' (Inverse Deductive method) है--ऐसी विधि जिसमें हम अपने निर्णयों को किन्हीं निश्चित दृष्टान्तों से नहीं परख सकते।

इन 'परीक्षणात्मक-नियमों' (Empirical generalisations) के आधार पर हम कुछ परिणाम निकालते हैं। जैसे हमने भौतिक-विज्ञान में 'नियम' के आधार पर, अर्थात् पृथ्वी की 'गुरुत्व-शक्ति' और वायु की 'प्रतिरोध-शक्ति' के आधार पर, यह परिणाम निकाला था कि आसमान में फेंका हुआ तीर गोल रास्ते से गिरेगा, इसी प्रकार हम सामाजिक-विज्ञान में 'परीक्षणात्मक-नियम' के आधार पर, इस 'परीक्षणात्मक-नियम' के आधार पर कि 'जहाँ राजा अत्याचार करता है वहाँ क्रांति हो जाती है', यह परिणाम निकालते हैं कि अमुक देश में अत्याचार हो रहा है, अतः वहाँ क्रांति हो जायगी। इस अंश तक 'अनुकूल-निगमन-विधि' (Direct Deductive Method) और 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) में यह समानता है कि दोनों कुछ माने हुए नियमों से चले हैं,

ऐसे नियमों से जिन्हें ये इस समय सिद्ध करने नहीं बैठे, परन्तु जो नियम सिद्ध हो चुके हैं, जिन नियमों को ये मानकर चले हैं। भेद इतना है कि इनमें से 'भौतिक-विज्ञान' का आधार 'अनुकूल-निगमन' (Direct deduction) ऐसे नियमों से चला है जो 'निश्चित-नियम'(Definite laws) हैं, 'सामाजिक-विज्ञान' का आधार 'प्रतिकूल-निगमन' (Inverse deduction) ऐसे नियमों से चला है जो 'निश्चित' न होकर 'परीक्षणात्मक-नियम' (Empirical generalisations) हैं।

इससे अगले कदम में दोनों विधियाँ एक-दूसरे से उलट जाती हैं। 'अनुकूल-निगमन-विधि' (Direct Deductive Method) तो जो परिणाम निकालती है, उसे दृष्टान्त पर घटा कर अपन परिणाम की सत्यता सिद्ध कर लेती है। तीर गोल रास्ते से उतरेगा, तीर फेंक कर देख लो--हाथ कंगन को आरसी क्या? 'भौतिक-विज्ञान' में, जहाँ निश्चित-नियमों को हम आधार बनाते हैं, ऐसा किया जा सकता है, परन्तु 'सामाजिक-विज्ञान' में तो हमारे आधारभूत नियम ही अभी पूरे नियम कहलाने के दर्जे पर नहीं हैं, फिर उन परीक्षणात्मक-नियमों से निकले परिणामों को किस प्रकार परखा जाय? कैसे हम समझें कि इन कच्चे नियमों से जो परिणाम हम निकाल रहे हैं, वे ठीक हैं? इन परिणामों को इन-जैसे दृष्टान्तों के साथ मिला कर तो देखा नहीं जा सकता कि ये ठीक हैं या नहीं, क्योंकि जब ये परिणाम स्वयं अधकचरे नियमों पर आश्रित हैं, तब इस कोटि के जितने भी दृष्टान्त मिलेंगे सभी अधकचरे नियमों पर ही आश्रित होंगे। हाँ, यह हो सकता है कि इन परिणामों की तुलना उन परिणामों से की जाय, जो इनसे ऊँचे, इनसे महान्, इनसे अधिक व्यापक हैं, जिनको मनुष्य का स्वभाव कहता है कि हाँ, ये ठीक हैं। अगर उन व्यापक परिणामों से 'सामाजिक-विज्ञानों' के परिणाम मेल खाते हैं, तो इन्हें ठीक समझा जायगा, नहीं मेल खाते, तो इन्हें ग़लत समझा जायगा। उदाहरणार्थ, हमने समाज-शास्त्र में यह परिणाम निकाला कि रूस में क्रान्ति इसलिए हुई क्योंकि ज़ार का अत्याचार सीमा का उल्लंघन कर गया। परन्तु इस परिणाम की सत्यता को परखा कैसे जाय? इसके परखने का तरीका मिल महोदय ने यह बताया कि मनोविज्ञान की सचाई क्या कहती है, मनुष्य का स्वभाव क्या है, इससे मिलाकर अपने परिणाम को परख लो। उसके साथ यह मेल खा जाय तो ठीक, नहीं तो तुम्हारा परिणाम ग़लत। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह अत्याचार के प्रति विद्रोह करता है। अगर इस बात में किसी को सन्देह नहीं कि अत्याचार के प्रति विद्रोह करना मनुष्य का जन्म-सिद्ध स्वभाव है, जीव-जन्तु, पशु, कीट, पतंग, मनुष्य सभी में यह पाया जाता है, मनोविज्ञान (Psychology) इसकी पुष्टि करता है, प्राणि-शास्त्र (Biology) इसकी पुष्टि करता है, तब हम समाज-शास्त्र के अपने परिणाम को मनुष्य-स्वभाव के इस परिणाम के साथ मिला कर देख लेते हैं। अगर यह उसके साथ ठीक बैठता है तो हमारा परिणाम ठीक ही है, भले ही हम अपने परिणाम पर 'परीक्षणात्मक-नियमों' (Empirical generalisations) से पहुँचे हों, 'निश्चित-नियमों' (Definite laws) से नहीं।

इस दृष्टि से 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' को भी 'वैज्ञानिक-विधि' कहा जा सकता है, क्योंकि जैसे भौतिक-विज्ञान अपने परिणामों की परख 'वैज्ञानिक-नियमों' से करते हैं वैसे समाज-शास्त्र अपने परिणामों की परख 'व्यापक-नियमों' से करता है।

इस पद्धति को 'प्रतिकूल' (INVERSE) क्यों कहा गया ?

हमने देखा कि 'निगमन-विधि' (Deductive method) के हमने दो भाग किये जिनमें से एक विधि को हमने 'अनुकूल-निगमन-विधि' (Direct Deductive method) और दूसरी को 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) कहा। इनमें से 'अनुकूल' (Direct)-विधि 'भौतिक-शास्त्रों' (Physical Sciences) में काम आयी, 'प्रतिकूल' (Inverse)-विधि 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) में तथा 'समाज-शास्त्र' (Sociology) में काम आयी। यह 'अनुकूल' और 'प्रतिकूल' क्या है ?

हमने देखा था कि 'अनुकूल-निगमन-विधि' (Direct Deductive Method) में हम 'नियम' से चले, और एक 'परिणाम' का पता लगाकर, हमने 'दृष्टान्त' के साथ उसको मिलाया। दृष्टान्त के साथ जब वह मेल खा गया, तो हमने परिणाम को ठीक समझा। आसमान में तीर फेंका जायगा, तो वह गोलाई से उतरेगा--यह परिणाम हमने निकाला। इस परिणाम के आधार 'गुरुत्व-शक्ति' तथा 'प्रतिरोध-शक्ति'--ये नियम थे। इस परिणाम की सत्यता को परखने की जरूरत हुई, तो आसमान में तीर फेंक कर देख लिया और परिणाम को दृष्टान्त के साथ मिला कर उसकी जाँच कर ली। परन्तु 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) में परिणाम को दृष्टान्त के साथ मिलाकर उसकी जाँच नहीं की जाती। दृष्टान्त के साथ तुलना करने के स्थान में, दृष्टान्त से उलटी, प्रतिकूल चीज, अर्थात् एक 'व्यापक-नियम' के साथ उसकी तुलना की जाती है। 'रूस की राज्य-क्रांति ज़ार बादशाह के अत्याचारों के कारण हुई'--इसकी परख हम किसी दृष्टान्त के साथ तुलना करके नहीं करते, अगर दृष्टान्त के साथ तुलना करें, तो जैसा यह परिणाम कच्चा है, वैसा ही क्योंकि इस सम्बन्ध का हर दृष्टान्त कच्चा होगा, इसलिए हमारा परिणाम भी पक्का न होकर कच्चा ही होगा। इसीलिए दृष्टान्त के साथ तुलना करने के स्थान में हम इस परिणाम की मनोविज्ञान तथा प्राणि-शास्त्र की इस आधारभूत सचाई के साथ तुलना करते हैं कि मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह अत्याचार को बर्दाश्त नहीं करता। एक दृष्टान्त के साथ अपने परिणाम को परखने के स्थान में हमने अपने परिणाम से भी अधिक व्यापक-सत्य के साथ उसको परखा। 'दृष्टान्त' के साथ परखना, और एक 'व्यापक-नियम' के साथ परखना--ये दोनों एक-दूसरे से प्रतिकूल विधियाँ हैं, इसलिए समाज-शास्त्र की विधि को 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) कहा गया है। समाज-शास्त्र अपने परिणामों को भिन्न-भिन्न दृष्टान्तों के साथ नहीं, परन्तु अन्य विज्ञानों के माने हुए परिणामों, उनके तथ्यों के साथ परखता रहता है। अगर मनोविज्ञान, प्राणि-विज्ञान, अर्थ-शास्त्र, राजनीति-

शास्त्र, इतिहास उन परिणामों की पुष्टि करते हैं जिन पर समाज-शास्त्र पहुँचा है, तो उन परिणामों की सत्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता। समाज-शास्त्र के अध्ययन करने की यही सबसे मुख्य विधि है। इस विधि के अनुसार अगर समाज-शास्त्र के किसी विषय पर लिखना हो, तो पहले 'आगमन-विधि' (Induction) के अनुसार तथ्यों का संग्रह करना होगा, और संग्रह करने के बाद कुछ 'परीक्षणात्मक-नियम' (Empirical generalisations) निकालने होंगे, और अन्त में इन 'परीक्षणात्मक-नियमों' को 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) से पुष्ट करना होगा, 'दृष्टान्तों' से पुष्ट न कर ऐसे 'व्यापक-नियमों' से पुष्ट करना होगा जो अन्य विज्ञानों में माने हुए हों।

'प्रतिकूल-निगमन-पद्धति' से अध्ययन का उदाहरण

अब कल्पना कीजिये कि हमने उक्त पद्धति से समाज-शास्त्र की किसी समस्या का अध्ययन करना है। इस अध्ययन में उक्त पद्धति किस प्रकार काम देगी? हम यह जानना चाहते हैं कि हिन्दी को दूसरे प्रान्तों के लोग अपनाने के लिए तैयार हैं या नहीं। इस समस्या पर उक्त विधि से विचार करने के लिए पहले हमें कुछ 'परीक्षणात्मक-नियम' (Empirical generalisations) बनाने होंगे। परन्तु ये 'परीक्षणात्मक-नियम'—ये हमारे 'परिणाम' किन्हीं बातों के नतीजे के तौर पर ही तो बनेंगे। वे बातें क्या होंगी जिनके परिणाम के रूप में हम इन 'परीक्षणात्मक-नियमों' पर पहुँचेंगे। वे बातें होंगी हमारी खोज, हमारी छान-बीन। हम हिन्दी के विषय में एक 'प्रश्नावली' (Questionnaire) बनायेंगे। इस 'प्रश्नावली' को बनाकर हम भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोगों से मिलेंगे, हो सकेगा तो भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जाकर रहेंगे, वहाँ के लोगों के विचारों को जानने का प्रयत्न करेंगे, अगर मिल नहीं सकेंगे, प्रान्तों में जा भी नहीं सकेंगे, तो प्रश्नावली को भेज कर भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोगों की सम्मतियाँ मँगवायेंगे। यह सब क्या होगा? यह सब 'आगमन' (Induction) होगा, इस 'आगमन' से हम कुछ 'परीक्षणात्मक-नियमों' (Empirical generalisations) का निर्धारण करेंगे। हमारे ये निर्धारण, ये निश्चय पक्के नहीं कहे जा सकेंगे, ये तो हमने भिन्न-भिन्न लोगों के सम्पर्क में आकर अपने विचार बनाये। अब इन्हें परिपक्व रूप देने के लिए यह देखना होगा कि आदर्श रूप में देश का भला किस में है, व्यापक-नियम क्या हैं, ऐसे नियम जिनके अनुसार चलना, हम चाहें-न-चाहें, हमारा कर्त्तव्य है। हमारी प्रश्नावली और हमारी खोज का यह परिणाम निकला कि अन्य प्रान्तों के कुछ लोग हिन्दी के पक्ष में हैं, कुछ विपक्ष में हैं, परन्तु अधिक संख्या हिन्दी को अपनाना चाहती है। व्यापक-नियम यह बतलाता है कि देश में एक भाषा हो जाने से देशवासियों में एक-सूत्रता, आत्मीयता की भावना जाग जाती है। हमारा हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का विचार इस व्यापक-विचार से मेल खाता है कि राष्ट्रों की भाषा एक ही होनी चाहिए। ऐसी हालत में समाज-शास्त्र की इस समस्या पर हम अपना स्पष्ट रूप से मत दे सकेंगे कि हिन्दी को भारत के अन्य

प्रान्तों की भी भाषा बना देना चाहिए। समाज-शास्त्र की समस्याओं का इसी विधि से अध्ययन करना 'प्रतिकूल-निगमन-पद्धति' कहलाता है।

'आगमन', 'अनुकूल-निगमन' तथा 'प्रतिकूल-निगमन' में भेद

'आगमन-विधि' (Inductive method) तथा 'अनुकूल' एवं 'प्रतिकूल' निगमन-विधि (Direct Deductive Method and Inverse Deductive Method)—इन तीनों की पारस्परिक तुलना करने से हमें 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) का विषय और अधिक स्पष्ट हो जायगा।

यहाँ पर नीचे हम इन तीनों विधियों की तुलना करने का एक चित्र दे रहे हैं जिससे 'आगमन-विधि' (Inductive Method) और 'निगमन-विधि' (Deductive method) का ही भेद नहीं स्पष्ट हो जायगा, अपितु 'अनुकूल-निगमन-विधि' (Direct Deductive Method) तथा 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) का भेद भी स्पष्ट हो जायगा।

आगमन-विधि' (Inductive Method)	'अनुकूल-निगमन-विधि' Direct Deductive)	'प्रतिकूल-निगमन-विधि' (Inverse Deductive)
--	--	--
१. 'दृष्टान्तों' से प्रारम्भ करते हैं।	१. 'दृष्टान्तों से नहीं, 'नियमों' से प्रारम्भ करते हैं।	१. 'दृष्टान्तों से नहीं, 'नियमों' से भी नहीं, 'परीक्षणात्मक-नियमों' से प्रारम्भ करते हैं।
[Examples]	[Laws]	(Empirical laws)
२. 'नियम' से समाप्त करते हैं।	२. 'नियमों' से परिणाम—'निगमन'——निकालते हैं।	२. 'परीक्षणात्मक-नियमों' से परिणाम—'निगमन' ——निकालते हैं।
[आगमन–Induction]	[निगमन–Deduction]	[निगमन–Deduction]
३. भौतिक-विज्ञानों के 'नियम' (Laws) तथा सामाजिक-विज्ञानों के 'परीक्षणात्मक - नियम' (Empirical laws) इसी विधि से प्राप्त होते हैं।	३. परिणाम को दृष्टान्तों से परखते हैं। (Verification)	३. परिणामों को दृष्टान्तों से नहीं, परन्तु अन्य विज्ञानों के व्यापक-नियमों से मिलाकर परखते हैं। [Verification]
४. किसी भी नियम के पता लगाने की यह विधि है।	४. भौतिक-विज्ञानों की यह विधि है जिसे 'वैज्ञानिक - विधि' कहते हैं।	४. सामाजिक - विज्ञानों तथा 'समाज-शास्त्र' की यह विधि है जिसे 'प्रतिकूल - निगमन-विधि' कहते हैं।

२. ऐतिहासिक-विधि (Historical Method)

जिस 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) का हमने अभी उल्लेख किया है, इसे 'ऐतिहासिक-विधि' (Historical Method) भी कहते हैं। यह इसलिए क्योंकि इतिहास के सम्बन्ध में प्रायः इसी विधि का प्रयोग होता है--दृष्टान्त इकट्ठे किये जाते हैं, और परिणाम निकाले जाते हैं। परन्तु कई विद्वान् 'ऐतिहासिक-विधि'--इस नाम से एक पृथक् विधि का उल्लेख करते हैं जिसमें जीवन-चरित्र, आत्म-चरित आदि आ जाते हैं। उनका कहना है कि व्यक्तियों की जीवनियों से बड़े-बड़े सामाजिक-तथ्य प्रकट होते हैं। जैसे भौतिक-शास्त्र के पास मापने के लिए फ़ुट-रूल है, रसायन-शास्त्र के पास परीक्षण करने के लिए प्रयोग-नलिका है, प्राणि-शास्त्र के पास खोज के लिए क्षुद्र-वीक्षण यन्त्र है, वैसे समाज-शास्त्र के पास मानवीय समस्याओं की खोज के लिए, उनके रूप को समझने के लिए व्यक्तियों के अपने विषय में लिखे हुए आत्म-चरित हैं, या ऐसे जीवन-चरित्र हैं, जो दूसरों ने लिखे हैं, परन्तु जिनमें व्यक्ति की जीवनी की सब समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। महात्मा गांधी के लिखे आत्म-चरित से मानव-समाज के अनेक मौलिक-प्रश्नों पर प्रकाश पड़ता है, चर्चिल के लिखे संस्मरणों से गत महायुद्ध की अनेक सामाजिक-समस्याएँ सुलझ जाती हैं।

'आत्म-चरित' और 'जीवनियों' के अतिरिक्त 'इतिहास' भी जो इन्हीं दो-का-सा वर्णन है, समाज-शास्त्र की समस्याओं को काफ़ी छूता है। जार्ज हावर्ड (George Howard) ने ऐतिहासिक-विधि पर विशेष बल दिया है। वे इतिहास को 'भूत समाज-शास्त्र', और समाज-शास्त्र को, 'वर्त्तमान-इतिहास' का नाम देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि 'आत्म-चरित', 'जीवन-चरित्र' तथा 'इतिहास' का अध्ययन समाज-शास्त्र को समझने की एक विधि कही जा सकती है, परन्तु यह समझ रखना चाहिए कि यह विधि अत्यन्त सीमित है--इस विधि से समाज-शास्त्र की बहुत थोड़ी, परिमित समस्याओं पर ही प्रकाश पड़ सकता है।

३. वैयक्तिक-जीवन के अध्ययन की विधि (Case-study method)

ऐतिहासिक-विधि से मिलती-जुलती वैयक्तिक-जीवन के अध्ययन की विधि है। इसमें भी व्यक्ति की जीवनी का अध्ययन किया जाता है। समाज-शास्त्र के कई लेखक 'ऐतिहासिक विधि' तथा 'जीवनी के अध्ययन की विधि' को एक ही विधि कहते हैं, फिर भी इन दोनों में थोड़ा-बहुत भेद है। 'ऐतिहासिक-विधि' में मुख्यतः परोक्ष-रूप में व्यक्ति के चरित्र का अध्ययन किया जाता है, 'वैयक्तिक-विधि' में मुख्यतः प्रत्यक्ष-रूप में व्यक्ति के जीवन का अध्ययन होता है। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों विधियों में अध्ययन व्यक्ति के ही जीवन का किया जाता है।

किसी भी वस्तु का अध्ययन दो प्रकार से किया जा सकता है--'परिमाण' या 'संख्या' (Quantity) की दृष्टि से तथा गुण (Quality) की दृष्टि से।

परिमाणात्मक या संख्यात्मक-अध्ययन को 'संख्यात्मक-अध्ययन की विधि' (Quantitative method) तथा गुणात्मक-अध्ययन को 'गुणात्मक-अध्ययन की विधि' (Qualitative method) कह सकते हैं। समाज-शास्त्र में 'संख्यात्मक-अध्ययन' को 'सांख्यिकी' (Statistical method) कहते हैं—इसका वर्णन हम आगे करेंगे। समाज-शास्त्र में 'गुणात्मक-अध्ययन' के लिए 'वैयक्तिक-जीवन के अध्ययन की विधि' (Case-study method) का प्रयोग होता है। इस दृष्टि से 'सांख्यिकी' तथा 'जीवन के अध्ययन की विधि' एक-दूसरे की पूरक हैं।

वैयक्तिक-जीवन के अध्ययन की क्या विधि है? वैयक्तिक-अध्ययन या तो आमने-सामने, एक-दूसरे से साक्षात्कार कर के किया जाता है, या अगर व्यक्ति सम्मुख नहीं होता, कहीं दूसरी जगह पर होता है, तो प्रश्नावली बना कर भेजी जाती है। आमने-सामने, साक्षात्कार के समय भी प्रश्न तो तैयार किये ही जाते हैं, इन प्रश्नों को 'अनुसूची' (Shedule) कहा जाता है, जो प्रश्न दूसरी जगह भेजे जाते हैं उन्हें 'प्रश्नावली' (Questionnaire) कहा जाता है।

'साक्षात्कार' (Interview) के द्वारा समाजशास्त्री अनेक बातें जानने का प्रयत्न करता है, परन्तु साक्षात्कार करना आसान काम नहीं है, इसकी अपनी ही 'प्रविधि' (Technique) है, इस 'प्रविधि' को सीखना पड़ता है, इसमें निपुणता प्राप्त करनी पड़ती है। 'प्रश्नावली' के द्वारा समाजशास्त्री अप्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है, दूर बैठे व्यक्ति के उत्तरों को पढ़ कर उसके सम्बन्ध में जानने का प्रयत्न करता है। कभी-कभी जीवनियाँ तथा घनिष्ठ मित्रों के लिखे गये पत्र भी वैयक्तिक-जीवन के अध्ययन में बहुत सहायक सिद्ध होते हैं, क्योंकि जीवनी तथा पत्रों में मनुष्य जिस प्रकार अपने उद्गारों को सहज रूप में प्रकट करता है, उस प्रकार साक्षात्कार तथा प्रश्नावलियों के उत्तरों में प्रकट नहीं कर सकता।

४. गणनात्मक-विधि या सांख्यिकी (Statistical Method)

गणनात्मक-विधि का समाज-शास्त्र में बहुत प्रयोग होता है, विशेषतः ऐसे प्रश्नों के सम्बन्ध में तो बहुत ही प्रयोग होता है जिनमें माप-तोल, संख्या आदि का सवाल हो। उदाहरणार्थ, हमारे देश की जन-संख्या देश के विभाजन के बाद कितनी बढ़ी; हर रोज़ कितने बच्चे पैदा होते हैं, कितने मरते हैं; जहाँ तलाक की प्रथा है वहाँ विवाह के एक महीने बाद कितने तलाक होते हैं, एक वर्ष बाद कितने होते हैं; हमारे देश का दूसरे देशों के साथ जो व्यापार है, उसमें आयात कितना है, निर्यात कितना है—ये सब प्रश्न गणना-विधि से ही हल किये जाते हैं, और इस विधि का समाज-शास्त्र में दिनोंदिन प्रचार बढ़ता जाता है। प्रो० गिडिंग्स (Giddings) पहले समाज-शास्त्री थे जिन्होंने विद्वानों का ध्यान इस शास्त्र में गणना के महत्त्व की तरफ़ खींचा। जैसा हम ऊपर कह आये हैं, यह 'संख्यात्मक-अध्ययन-विधि' (Quantitative method) है, और वैयक्तिक-अध्ययन-विधि, जो 'गुणात्मक-अध्ययन-विधि' (Qualitative method) है, उसकी पूरक है।

५. स्थाली-पुलाक या पर्यवेक्षण-विधि (Sample-Survey Method)

कई बातों में गणना के आधार पर किसी परिणाम पर पहुँचना इसलिए कठिन हो जाता है क्योंकि उस विषय में सारे देश की गणना कर सकना कठिन है। उदाहरणार्थ, देश में कितने बेकार व्यक्ति हैं--इसकी गणना कठिन है। ऐसे तथा इसी तरह के मामलों में देश के कुछ भाग चुन लिये जाते हैं और उन भागों की गणना के आधार पर परिणाम निकाल लिया जाता है। इसे समाज-शास्त्र की परिभाषा में 'स्थाली-पुलाक-पर्यवेक्षण' (Sample-Survey or Social Survey) कहते हैं। 'स्थाली-पुलाक' का अर्थ है--पतीली में पकते हुए चावलों में से एक-आध देख कर यह पता चल जाता है कि चावल पके हैं या नहीं। इसी प्रकार कुछ बातों की एक स्थान पर परीक्षा कर लेने पर उस सम्बन्ध में सामान्य-नियम का पता चल जाता है। 'स्थाली-पुलाक'-विधि में एक बहुत बड़ी संख्या के स्थान पर एक सीमित संख्या का अध्ययन किया जाता है, जो सुगम कार्य है। समाज-शास्त्र में आजकल इस प्रकार का अध्ययन बहुत प्रचलित है। शरणार्थियों की समस्याओं का अध्ययन, हिन्दू-मुसलमानों की समस्याओं का अध्ययन आदि प्रश्नों पर इसी विधि से विचार किया जाता है।

६. समाज-मिति (Sociometry)

समाज-शास्त्र के कई प्रश्न गणना के अन्दर आ जाते हैं, उन पर गणनात्मक-विधि से विचार होता है, परन्तु कई प्रश्न ऐसे हैं जिनमें गणना कुछ काम नहीं देती। उदाहरणार्थ, ईर्ष्या, श्रेणी-संघर्ष, अर्थात् मजदूर-मालिक में तना-तनी आदि, सामाजिक-सहयोग, अर्थात् किस अंश तक कोई समाज विषम-परिस्थितियों में अपने मानसिक संतुलन को खो नहीं बैठता--इन सब प्रश्नों पर गणना-विधि से तो कोई प्रकाश नहीं पड़ता। फिर क्या किया जाय? इन बातों को मापना 'समाज-मिति' (Sociometry) का काम है। इनको कैसे मापा जाय? इसके लिए समाज-शास्त्रियों ने माप-दण्ड कायम किये हैं। कोई जाति सहयोग के निर्धारित माप-दण्ड के जितना निकट होती है, उतनी ही उस जाति में सहयोग की मात्रा है, जितना वह निर्धारित माप-दण्ड से दूर होती है उतनी ही उस जाति में सहयोग की कमी है। श्री मोरेनो (Moreno) मुख्य समाज-शास्त्री थे जिन्होंने विद्वानों का ध्यान इस शास्त्र में इस पद्धति की तरफ़ खींचा। उनका कहना था कि 'गणनात्मक-विधि' से गणना का तो पता लग जाता है, बाहर की बातें स्पष्ट हो जाती हैं, मनुष्य-समाज के अन्दर की, उनकी मन की बातें तो मनुष्यों की गणना कर लेने से स्पष्ट नहीं होतीं, गणना कर लेने से यह तो स्पष्ट हो जायगा कि देश में कितने बेकार हैं, परन्तु यह तो स्पष्ट नहीं होगा कि वे क्यों बेकार हैं। इस अन्दर की बात का पता लगाने के लिए समाज-शास्त्र को 'समाज-मिति' का आश्रय लेना होगा। इस दृष्टि से श्री मोरेनो ने कुछ ऐसे 'पैमाने' (Scales), कुछ ऐसे माप-

दण्ड बनाये जिनसे समाज के आपस के सम्बन्धों, समाज के विचारों, उसकी धारणाओं को मापा जा सके, समाज की आन्तरिक प्रक्रियाओं का, उसके राग-द्वेष का सिर्फ़ वर्णन ही न किया जा सके, अपितु इन पैमानों से उसे नापा-तोला भी जा सके। असल में, समाज-मिति एक तरह से 'गणना-विधि' (Statistical method) की पूरक है, अथवा यह भी कह सकते हैं कि यह विधि 'गणना-विधि' (Statistics) तथा 'आदर्श-कल्पना-विधि' (Ideal-Type Method) के मेल से उत्पन्न हुई है।

७. 'आदर्श-कल्पना' के विश्लेषण की विधि (Method of Ideal-type Analysis)

इस पुस्तक के दूसरे अध्याय में 'समाज-शास्त्र का विषय-क्षेत्र' क्या है--यह लिखते हुए हमने सिमल तथा वीरकांद्त के विचार लिखे थे। हमने बतलाया था कि ये जर्मन सामाज-शास्त्री इस शास्त्र को अन्य 'सामाजिक-विज्ञानों' की तरह एक 'विशेष-शास्त्र' (Special Science) मानते हैं, और जैसे अन्य 'सामाजिक-विज्ञानों' के पास 'भावात्मक-विचार' (Abstractions) हैं, वैसे समाज-शास्त्र में भी 'भावात्मक-विचारों' (Abstractions) की उन्होंने कल्पना की है। इसी कल्पना को स्थूल रूप देने के लिए इन विद्वानों ने एक विशेष विधि निकाली है, जिसे 'आदर्श-कल्पना-विश्लेषण-विधि' (Method of Ideal-Type Analysis) कहा जाता है। इस विधि के अनुसार विद्यार्थी एक सामाजिक-समस्या को ले लेता है, या जिस सामाजिक-दृष्टि-बिन्दु का अध्ययन करना चाहता है, उसे ले लेता है, और उस समस्या, या उस दृष्टि-बिन्दु का विश्लेषण करता-करता उसके सम्बन्ध में एक आदर्श-कल्पना को रच डालता है। उदाहरणार्थ, 'मित्रता' के सम्बन्ध में विद्यार्थी ने सामाजिक गवेषणा करनी है। वह 'मित्रता' का विश्लेषण करेगा--क्या अमुक भाव मित्रता कहला सकता है--इत्यादि-इत्यादि। इस विश्लेषण को करते-करते वह एक 'आदर्श-मित्र' की कल्पना करेगा--ऐसा मित्र जिसमें मित्रता के सब विश्लिष्ट-गुण समा जाँय। इसके बाद भिन्न-भिन्न मित्रता के दृष्टान्तों को लेकर 'आदर्श-मित्र' से उनकी तुलना की जायगी, और यह पता लगाया जायगा कि कौन-सा मित्र 'आदर्श-मित्र' के कितना निकट है। जो जितना अधिक निकट होगा उसका उतना ही अधिक मूल्यांकन होगा। स्पेंग्लर (Spengler) ने इस प्रकार के आदर्श के छः विभाग किये हैं, जो निम्न हैं :—

१. आदर्श विचारात्मक-व्यक्ति (Theoretical Ideal Type)
२. आदर्श आर्थिक-व्यक्ति (Ideal Economic Type)
३. आदर्श कलात्मक-व्यक्ति (Ideal Aesthetic Type)
४. आदर्श सामाजिक--व्यक्ति (Ideal Social Type)
५. आदर्श राजनैतिक-व्यक्ति (Ideal Political Type)
६. आदर्श धार्मिक-व्यक्ति (Ideal Religious Type)

इस प्रकार की आदर्श-कल्पना करके समाज में जिस-जिस प्रकार के व्यक्ति पाये जाँय, उनकी इन आदर्श व्यक्तियों से तुलना करके, प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य आँका जा सकता है। इस विधि में यह दोष है कि जो आदर्श-कल्पना हम करते हैं वह दूसरे पुरुष की आदर्श-कल्पना से भिन्न हो सकती है, हमारे अपने भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव हमारी आदर्श-कल्पनाओं को अपने रंग में रंग सकते हैं, और यह हो सकता है कि जिस कल्पना को हम 'आदर्श-कल्पना' समझे बैठे हैं वह वास्तव में 'आदर्श-कल्पना' न हो।

८. सामुदायिक-अध्ययन पद्धति (Community-Study Method)

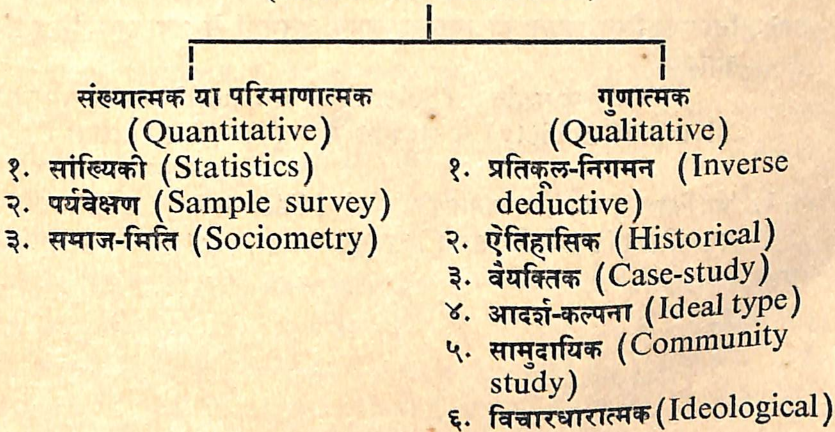
मान लीजिये कि हमने गणना-पद्धति के आधार पर यह पता लगाया कि अहमदाबाद में मजदूरों की हड़तालें भारत के अन्य सब शहरों से ज्यादा होती हैं, ऋषिकेश में सब से कम होती हैं। इस पता लगाने का तब तक कोई महत्त्व नहीं है, जब तक हम अहमदाबाद तथा ऋषिकेश का सामुदायिक-अध्ययन नहीं करते, यह नहीं पता लगाते कि अहमदाबाद में किस तरह के लोग हैं, वहाँ किस तरह का समुदाय रहता है और ऋषिकेश में किस तरह के लोग रहते हैं, वहाँ किस तरह का समुदाय है। अहमदाबाद में तो मिलें हैं इसलिए वहाँ मज़दूर हैं, वहाँ हड़तालें भी हैं; ऋषिकेश में तो कोई मिलें नहीं, वहाँ तो साधु रहते हैं, वहाँ हड़तालें कैसे होंगी? हड़तालों के सम्बन्ध में जाँच करनी हो, तो अहमदाबाद, बम्बई, जमशेदपुर, टाटानगर--इनको लेना होगा; आश्रमों के विषय में जाँच करनी हो, तो ऋषिकेश, हरिद्वार, बनारस, गया--इन को लेना होगा। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी सामाजिक-समस्या पर विचार करने के लिए वहाँ की समस्या को वहाँ के समुदाय के जीवन से अलग करके विचार नहीं किया जा सकता। गणनात्मक-विधि में तो सिर्फ़ गणना के आधार पर विचार किया जाता है, शहर के सामुदायिक-जीवन के प्रकाश में गणनात्मक-विधि में विचार नहीं किया जाता। यह दोषपूर्ण ढंग है। गणना के आधार पर निकाले गए निष्कर्षों का महत्त्व समुदाय के जीवन के अध्ययन के बिना कुछ नहीं है। हड़तालों पर विचार करता हुआ यह कोई नहीं कह सकता--देखिये, ऋषिकेश के लोग कितने शान्तिप्रिय हैं, वहाँ बीस साल में भी एक भी हड़ताल नहीं हुई, जब कि अहमदाबाद में रोज़ एक-न-एक हड़ताल हुआ करती है। हड़ताल वहीं तो होगी जहाँ मिलें होंगी, मज़दूर होंगे। 'सामुदायिक-अध्ययन-विधि' का यह अर्थ है कि किसी भी सामाजिक-समस्या का अध्ययन करते हुए समुदाय से काट कर उस समस्या का अध्ययन न किया जाय, अपितु समस्या का अध्ययन समुदाय की पृष्ठ-भूमि में किया जाय, समुदाय में बैठ कर किया जाय क्योंकि समस्या समुदाय से पृथक् नहीं है, समुदाय का अभिन्न अंग है।

९. विचार-धारात्मक विधि (Ideological Method)

प्रत्येक समाज की संस्थाओं तथा समाज के स्वरूप में समय-समय पर जो परिवर्त्तन होते हैं, उनमें उस समय की विचार-धाराओं (Ideologies) का बड़ा

भारी असर होता है। महात्मा गांधी ने अपने समय में अहिंसा तथा सत्य की जिस विचार-धारा को जन्म दिया था उससे अपने समाज में कुछ ख़ास तरह के व्यक्ति और संस्थाएँ उत्पन्न हो गईं। उन संस्थाओं का अध्ययन करते हुए महात्मा गांधी की विचार-धारा को कैसे भुलाया जा सकता है? युरोप में सबसे ग़रीब और सबसे पिछड़ा हुआ देश रूस आज संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली देशों में है। रूस का अध्ययन करते हुए समाजवाद तथा कार्ल मार्क्स की विचार-धारा को कैसे भुलाया जा सकता है? असल में, समाज-शास्त्र के किसी समय का भी अध्ययन करना हो--भूत, वर्त्तमान, भविष्यत्--हर समय पर तत्कालीन विचार-धारा का एक अमिट प्रभाव होता है। आज भारतवर्ष की जो भी समस्या है उसे धर्म-निरपेक्षता (Secularism) की दृष्टि से ही समझा जा सकता है क्योंकि इसी दृष्टि से आज के समाज की रचना हो रही है। यह धर्म-निरपेक्षता हमारी पिछली धर्मान्धता की प्रतिक्रिया है--वह धर्मान्धता जिसने पागलपन में लाखों निरपराधों का ख़ून बहाया। समाज में इस प्रकार विचारों की प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं। 'विचार-धारात्मक-विधि' समाज-शास्त्र में दिनोंदिन अपना स्थान बनाती जा रही है और किसी भी समाज-शास्त्र की समस्या का अध्ययन करते समय उस समय की मुख्य विचार-धारा को यह विधि पकड़ने का प्रयत्न करती है।

ऊपर हमने समाज-शास्त्र के अध्ययन की जिन मुख्य-मुख्य पद्धतियों का वर्णन किया उन्हें मोटे तौर पर दो भागों में बाँटा जा सकता है--'संख्यात्मक-विधियाँ' तथा 'गुणात्मक-विधियाँ'। संख्यात्मक-विधियों में सांख्यिकी, पर्यवेक्षण, समाज-मिति आ जाती हैं, गुणात्मक-विधियों में प्रतिकूल-निगमन, ऐतिहासिक, वैयक्तिक, आदर्श-कल्पना, सामुदायिक-विधि तथा विचारधारात्मक-विधि आ जाती हैं। 'संख्यात्मक' तथा 'गुणात्मक' को एक-दूसरे का पूरक कहा जा सकता है। इसे चित्र में यों प्रकट कर सकते हैं:



प्रश्न

१. समाज-शास्त्र में वैज्ञानिक-पद्धति के प्रयोग करने में क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं ?
२. समाज-शास्त्र के अध्ययन की 'पद्धति' (Method) की आधार-भूत समस्या क्या है ?
३. कुछ उदाहरण देकर समझाइये कि समाज-शास्त्र जिस 'पारस्परिक-सम्बन्ध' का अध्ययन करता है उसका स्वरूप क्या है ?
४. समाज-शास्त्र के अध्ययन की 'विधि' (Method) से हम समाज-शास्त्र की क्या-क्या बातें जानना चाहते हैं ?
५. 'आगमन-पद्धति', 'अनुकूल-निगमन-पद्धति' तथा 'प्रतिकूल-निगमन-पद्धति' का वर्णन करते हुए इनका भेद स्पष्ट कीजिये।
६. समाज-शास्त्र में 'प्रतिकूल-निगमन-पद्धति' का प्रयोग होता है। किस प्रकार होता है, इसे उदाहरण देकर समझाइये ।
७. 'प्रतिकूल-निगमन-पद्धति' (Inverse Deductive Method) को 'प्रतिकूल' (Inverse) क्यों कहा जाता है ?
८. 'ऐतिहासिक-विधि' (Historical method) का वर्णन कीजिये।
९. 'आदर्श-कल्पना-विश्लेषण-विधि' (Method of Ideal-Type Analysis) क्या है ?
१०. 'गणनात्मक-विधि' (Statistical method) की व्याख्या कीजिये।
११. 'समाज-मिति' (Sociometry) में 'आदर्श-कल्पना-विश्लेषण-विधि' (Ideal-Type) तथा 'गणनात्मक-विधि' (Statistical method) मिले हुए हैं--इस बात को स्पष्ट कीजिये।
१२. 'वैयक्तिक जीवन के अध्ययन की विधि' (Case-study method) क्या है ?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. किसी वर्त्तमान भारतीय सामाजिक-आन्दोलन के अध्ययन की रूप-रेखा बनाइये। इसमें यह भी बतलाइये कि आप किन समस्याओं को अपने सामने रखेंगे, किस प्रकार की सामग्री इकट्ठी करेंगे और इस अध्ययन से आप किस परिणाम की आशा करेंगे। (आगरा, १९५१)

२. निम्न-लिखित कथन की व्याख्या अपने अनुभवों से उदाहरण देते हुए कीजिये :

"वैज्ञानिक-पद्धति (Scientific method) मानव-समाज (Human Society) के अध्ययन में प्रयुक्त नहीं हो सकती।"
(आगरा, १९५४)

३. 'वैयक्तिक जीवन के अध्ययन की विधि' (Case-study method) पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (राजपूताना, १९५५; आगरा, १९५६)

५

'पर्यावरण' का क्या अर्थ है ?

(MEANING OF ENVIRONMENT)

समाज-शास्त्र मनुष्य के सामाजिक-सम्बन्धों का अध्ययन करता है। 'मनुष्य के सामाजिक-सम्बन्ध'--इसका विश्लेषण करें, तो दो बातें इसमें आ जाती हैं। एक है 'मनुष्य', दूसरा है उसका अपने को छोड़ कर दूसरों के साथ 'सम्बन्ध'--एक वह ख़ुद है, और दूसरा वह सब-कुछ है, जो वह ख़ुद नहीं है। उसे छोड़ कर जो-कुछ है, वह सब 'पर्यावरण' (Environment) कहलाता है। 'पर्यावरण' 'परि' तथा 'आवरण'--इन दो से बना है। 'परि' का अर्थ है--चारों ओर से, 'आवरण' का अर्थ है--ढकना। 'पर्यावरण' हमें चारों ओर से ढक लेता है, इसलिए इसे 'पर्यावरण' कहते हैं।

'पर्यावरण' (ENVIRONMENT) का 'प्राणी' (ORGANISM) से सम्बन्ध है

'पर्यावरण' (Environment) मनुष्य के साथ ही जुड़ा हुआ नहीं है, जड़-चेतन सभी के साथ 'पर्यावरण' जुड़ा हुआ है। जड़-जगत् में सूर्य-चन्द्र-आकाश-तारे-जल-वायु--सब में अपने को छोड़ कर बाकी सब उसका 'पर्यावरण' (Environment) है। सूर्य के लिए स्वयं सूर्य तो 'पर्यावरण' (Environment) नहीं हो सकता, परन्तु चन्द्र-आकाश-तारे-वनस्पति-पशु-पक्षी-मनुष्य--सब उसके 'पर्यावरण' हैं। इसी प्रकार चन्द्र के लिए चन्द्र तो स्वयं 'पर्यावरण' नहीं है, बाकी सब उसका 'पर्यावरण' है। जब हम समाज-शास्त्र में 'पर्यावरण'-शब्द का प्रयोग करते हैं, तब हम सूर्य के लिए जैसे चन्द्रमा, आकाश, तारे आदि 'पर्यावरण' हैं, या चन्द्रमा के लिए सूर्य आदि 'पर्यावरण' हैं, वैसे व्यापक-'पर्यावरण' की बात नहीं कर रहे होते। समाज-शास्त्र में 'पर्यावरण'-शब्द का इतना व्यापक प्रयोग नहीं होता। तो फिर इस शब्द का प्रयोग कैसे होता है ? इस शास्त्र में 'पर्यावरण'-शब्द का प्रयोग तब होता है जब चेतन की दृष्टि से बात हो रही हो, जहाँ किसी का जीवन हो। बीज को बो दें तो वह फूट पड़ता है, उग आता है--इसमें किसी प्रकार का जीवन दीख पड़ता है। यहाँ 'बीज', और 'बीज का पर्यावरण'-शब्द का प्रयोग होगा। पशु-पक्षी-मनुष्य में तो जीवन है ही। 'पर्यावरण'-शब्द का प्रयोग पशु-पक्षी-मनुष्य में जीव की दृष्टि से होता है। 'बीज' और 'बीज का पर्यावरण', 'पशु' और 'पशु का पर्यावरण', 'मनुष्य' और 'मनुष्य' का पर्यावरण',

--इस प्रकार का प्रयोग हम इसलिए करते हैं क्योंकि बीज, पशु, मनुष्य में किसी-न-किसी प्रकार का जीवन दीखता है; 'सूर्य' और 'सूर्य' का पर्यावरण', 'जल' और 'जल का पर्यावरण'--इस प्रकार का प्रयोग हम इसलिए नहीं करते क्योंकि सूर्य-जल आदि में जीवन नहीं दीखता। 'पर्यावरण' का 'जीवन' के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'प्राणी' (Organism) की उपस्थिति में ही 'पर्यावरण' (Environment)-शब्द का प्रयोग होता है, 'प्राणी' न हो, चेतन न हो, तो जड़ के मुकाबिले में उसके अतिरिक्त दूसरी जड़ वस्तु के लिए 'पर्यावरण'-शब्द का प्रयोग हम प्रायः नहीं करते।

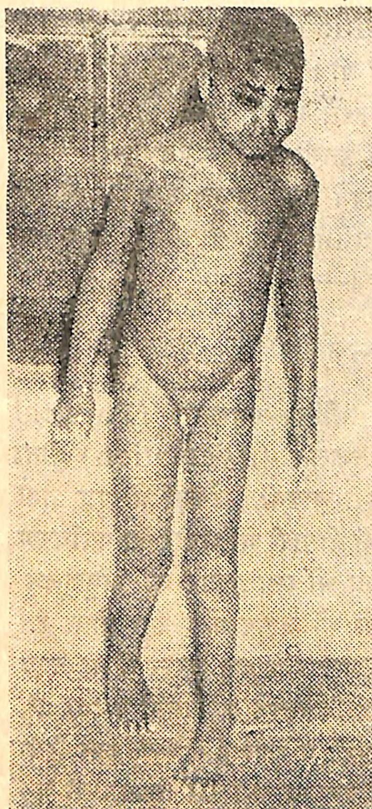
'पर्यावरण' के उदाहरण

(क) वनस्पति तथा पर्यावरण--बीज का पर्यावरण धरती है। आम की गुठली को हम ज़मीन में बो देते हैं। वर्षा, गर्मी, नमी आदि अनुकूल पर्यावरण पाकर वह फूट आती है, ज़मीन में दूर-दूर उसकी जड़ें जा पहुँचती हैं, आसमान में तना बढ़ता चला जाता है, सूर्य की रोशनी पाकर पत्तों में हरियाली छिटक जाती है। 'बीज' अपने 'पर्यावरण' के साथ ऐसा रल-मिल जाता है कि अगर इसे इस 'पर्यावरण' से अलग कर लिया जाय, अगर जड़ें ज़मीन खोद कर नंगी कर दी जाँय, पानी न पड़ने दिया जाय, सूर्य का प्रकाश रोक लिया जाय, तो पेड़ सूख जाता है। ख़ास बात यह है कि इस 'पर्यावरण' में, जिस चीज़ का बीज है, उसी चीज़ का पेड़ उठ खड़ा होता है। आम की गुठली से आम का, बेर की गुठली से बेर का पेड़ निकलता है। बहुत बढ़िया खाद मिली है, इसलिए बेर की गुठली से अंगूर की बेल निकल पड़े--ऐसा नहीं होता। हाँ, अच्छी खाद मिलेगी, तो आम का पेड़ बढ़िया आम होगा, रद्दी खाद मिलेगी, तो बढ़िया गुठली से भी घटिया पेड़ होगा। कोई पेड़ एक ख़ास ज़मीन में होगा, दूसरी ज़मीन में नहीं होगा। हरी छाल का केला बम्बई में होगा, देहरादून में नहीं होगा, सेब काश्मीर में होगा, हरिद्वार में नहीं होगा, लखनऊ का खरबूज़ा जैसा वहाँ होगा वैसा दूसरी जगह नहीं होगा। जल-वायु का बीज पर ज़बर्दस्त असर होगा।

(ख) पशु तथा पर्यावरण--पेड़ों की तरह पशुओं का भी 'पर्यावरण' से विशेष सम्बन्ध है। यह तो ठीक है कि पेड़ों की तरह वे ज़मीन में गड़े नहीं होते, और इसलिए जितना ज़मीन का, जल-वायु का पेड़ों पर असर है, उतना पशुओं पर नहीं, परन्तु जीव-जन्तु-पशु-पक्षी भी 'पर्यावरण' से बँधे हुए हैं। कपड़े की जूँ सिर में, और सिर की जूँ कपड़े में नहीं रहती; शेर रेगिस्तान में, और ऊँट पहाड़ की गुफाओं में नहीं रहता। शेर के लिए जंगल ही अनुकूल 'पर्यावरण' है, ऊँट के लिए रेगिस्तान ही अनुकूल 'पर्यावरण' है। अगर इन प्राणियों को अपने-अपने 'पर्यावरण' से अलग कर दिया जाय, तो इनके लिए जीना कठिन हो जाय।

(ग) मनुष्य तथा पर्यावरण--पेड़ों तथा पशु-पक्षियों की तरह मनुष्य भी 'पर्यावरण' का दास है। अनुकूल पर्यावरण में मनुष्य का विकास होता है,

प्रतिकूल पर्यावरण में उसका विकास नहीं हो पाता। ऐसे दृष्टान्त मौजूद हैं, जिनमें मनुष्य अपने सामाजिक-पर्यावरण से अलग रहा। अलग रहने का परिणाम यह हुआ कि उसका किसी प्रकार का विकास ही नहीं हो पाया। १९२० की घटना है कि भारत के एक ईसाई पादरी श्री सिंह को शिकार करते समय दो लड़कियाँ भेड़ियों की गुफाओं में मिलीं। पादरी महोदय दोनों को घर ले आये--एक की आयु आठ वर्ष, और दूसरी की आयु साढ़े-आठ वर्ष थी। पहली का नाम उन्होंने अमला और दूसरी का नाम कमला रखा। दोनों लड़कियाँ पशुओं की तरह हाथों तथा पैरों से चलती थीं, उन्हीं की तरह जीभ बाहर निकाल कर हाँफती थीं, दिन को सोती, रात को इधर-उधर फिरती थीं, नंगी रहती थीं। अमला तो जल्दी मर गई, परन्तु कमला १७ वर्ष तक जिन्दा रही। जबतक उसका मानव-समाज के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं था, वह पशु ही बनी रही, सम्पर्क में आने के बाद धीरे-धीरे कपड़े पहनना, खड़े होकर चलना, कुछ-कुछ बोलना सीख गई। पशु भी 'पर्यावरण' से सीखता है, परन्तु पशु तथा मनुष्य के सीखने में अन्तर है। श्रीयुत् तथा श्रीमती कैल्लौग (Kellogg) ने एक चिपांझी को अपने नौ महीने के बच्चे के साथ पाला। दोनों साथ-साथ खाते, पीते, रहते और सोते। चिपांझी दरवाजा खोलना, काँटे से खाना, गिलास से पानी पीना आदि तो लड़के से जल्दी सीख गया, परन्तु बोलना न सीख सका। कैल्लौग का बच्चा ठीक समय पर बोला, और सब काम सीख गया। पिछले दिनों लखनऊ में एक बच्चे की बहुत चर्चा चली थी जिसे 'रामू' का नाम दिया गया। उसके बाद 'जंगलिया'-नाम से एक और बच्चे की चर्चा चली थी। इन दोनों बच्चों को बचपन में कोई जानवर उठा ले गया, वे वहीं पले और जानवरों के साथ रहने के कारण वे उन्हीं के अनुसार चलते, उनके अनुसार जीभ से पानी पीते थे। 'पर्यावरण' से प्राणी वहीं तक जा सकता है जहाँ तक उसकी आन्तरिक-शक्ति है, ठीक इस तरह जैसे अच्छी खाद से अच्छा आम पैदा किया जा सकता है, परन्तु आम से जामुन नहीं लिये जा सकते।



जंगलिया (एक जंगली बालक)

'पर्यावरण' अनुकूल भी हो सकता है, प्रतिकूल भी

'पर्यावरण' दोनों तरह का होता है--अनुकूल भी, प्रतिकूल भी। पौधों को ठीक

खाद मिले, गर्मी-नमी-पानी आदि ठीक मात्रा में मिलते रहें, वह बढ़ता रहता है; पशु-पक्षी को भोजन मिलता रहे, सुरक्षा रहे, तो जीवित रहता है; मनुष्य भी अनुकूल 'पर्यावरण' में पनपता है; परन्तु अगर वृक्ष-पशु-पक्षी-मनुष्य को भोजन न मिले, इनकी सुरक्षा का प्रबन्ध न हो सके, प्रतिकूल पर्यावरण उत्पन्न हो जाय, तो या ये कमज़ोर हो जाते हैं, या मर जाते हैं। प्रतिकूल-पर्यावरणों में जीने की जद्दोजहद करने को 'जीवन-संग्राम' (Struggle for existence) कहते हैं। जीवन के इस संग्राम में जो बलिष्ठ है वह बच रहता है, जो कमज़ोर है वह पर्यावरणों के थपेड़े खाता हुआ खत्म हो जाता है--'बलशाली की विजय' (Survival of the fittest) प्रकृति का नियम है जो वनस्पति, पशु, मनुष्य, सब पर लागू हो रहा है।

'पर्यावरण' के साथ 'अनुकूलन' (ADAPTATION)

परन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रतिकूल पर्यावरण में 'प्राणी' (Organism) नष्ट ही हो जाय। यह हो सकता है कि वह अपने शरीर में ऐसे परिवर्त्तन करता रहे जिनके कारण वह प्रतिकूल-पर्यावरण में भी बचा रहे। 'विकास-वाद के सिद्धान्त' (Theory of Evolution) में इस प्रकार शरीर के अंगों के बदल जाने को 'परिवर्तन का सिद्धान्त' (Theory of variation) कहते हैं। विकासवादी कहते हैं कि पहले जीराफ़ की गर्दन लम्बी नहीं थी। जब उसे ऊँचे-ऊँचे पेड़ों के पत्ते खाने के लिए गर्दन को लगातार ऊँचा करते रहना पड़ा, तो भिन्न-भिन्न सन्ततियों में बढ़ते-बढ़ते हज़ारों-लाखों सालों में इतनी लम्बी गर्दनवाला जानवर पैदा हो गया। इस प्रकार प्रकृति के साथ अपने को अनुकूल बनाते रहने को 'अनुकूलन का सिद्धान्त' (Theory of adaptation) कहा जाता है। 'अनुकूलन' (Adaptation) तीन तरह का हो सकता है :--

तीन प्रकार का 'अनुकूलन'

(क) भौतिक-अनुकूलन--एक तो शुद्ध 'भौतिक-अनुकूलन' (Physical adaptation) है। हम चाहें, न चाहें, यह 'अनुकूलन' (Adaptation) होता रहता है। सूर्य की गर्मी से चमड़ी काली पड़ती जायगी, फेफड़ों में शुद्ध हवा जायगी तो वे फैलेंगे, बलिष्ठ होंगे। इस दृष्टि से बीमारी भी शरीर का पर्यावरण के साथ 'अनुकूलन' (Adaptation) है, मृत्यु भी एक प्रकार का 'अनुकूलन' (Adaptation) है। बीमारी में शरीर रोग को बाहर फेंक रहा होता है। फोड़ा क्या है? शरीर में जो विजातीय-द्रव्य है, मवाद है, वह शरीर में तो जज़्ब हो नहीं सकता, शरीर जब उस मवाद को बाहर निकालने का प्रयत्न करता है, वह फोड़ा कहलाता है। ज्वर भी इसी प्रकार की प्रक्रिया है। मृत्यु क्या है? शरीर का जब कोई भी अंग 'पर्यावरण' के साथ सम्बन्ध नहीं रख सकता, तो वह अपने सारे हथियार नीचे रख देता है। यह 'पर्यावरण' के साथ 'अनुकूलन'

नहीं तो क्या है ? इस प्रकार की 'भौतिक-अनुकूलन' (Physical adaptation) की प्रक्रिया वृक्ष-पशु-मनुष्य में इनके अनजाने चलती रहती है, इस पर हमारा कोई बस नहीं है। यह जन्म-जात है।

(ख) जीवन-सम्बन्धी-अनुकूलन—दूसरा 'अनुकूलन' 'जीवन-सम्बन्धी-अनुकूलन' (Biological adaptation) है। एक पेड़ एक जगह हो सकता है, दूसरी जगह नहीं; मछली पानी में ही जीवित रह सकती है, पानी से बाहर नहीं; शेर जंगलों और कन्दराओं में ही रह सकता है, रेगिस्तान में नहीं; ऊँट रेगिस्तान में ही रह सकता है, समुद्र में नहीं। ये सब 'जीवन-सम्बन्धी-अनुकूलन' (Biological adaptation) हैं। मछली अपने-आप को ख़ुश्क जमीन के अनुकूल नहीं बना सकती; ऊँट अपने को समुद्र में रहने के अनुकूल नहीं बना सकता। 'भौतिक-अनुकूलन' (Physical adaptation) और 'जीवन-सम्बन्धी-अनुकूलन' (Biological adaptation) दोनों जन्म-जात हैं, सीखे नहीं जाते।

(ग) सामाजिक-अनुकूलन या सामञ्जस्य—तीसरा है 'सामाजिक-अनुकूलन' या 'सामाजिक-सामञ्जस्य' (Social adaptation or adjustment)। क्योंकि 'समाज' का विचार मनुष्य में ही सीमित है, इसलिए 'सामाजिक-अनुकूलन' (Social adaptation) मनुष्य में ही हो सकता है। 'सामाजिक-अनुकूलन' (Social adaptation) का अर्थ क्या है ? हमने अभी देखा था कि 'भौतिक-अनुकूलन' (Physical adaptation) और 'जीवन-सम्बन्धी-अनुकूलन' (Biological adaptation) दोनों जन्म-जात हैं, सीखे नहीं जा सकते, परन्तु 'सामाजिक-अनुकूलन' में या तो हम अपने को प्रतिकूल पर्यावरण के अनुकूल बना लेते हैं, या प्रतिकूल पर्यावरण को ही बदल कर उसे अपने अनुकूल बना लेते हैं। यह जन्म-जात नहीं, अपने बस की चीज है, सीखी-सिखायी जा सकती है। 'पर्यावरण' को बदल कर अपने अनुकूल बना लेने को 'पर्यावरण-परिवर्तन' (Adjustment) कहते हैं, अपने को ही बदल कर पर्यावरण के अनुकूल बना लेने को 'आत्म-परिवर्त्तन' (Accommodation) कहते हैं। सब प्राणियों में मनुष्य ही ऐसा है जो 'पर्यावरण' को बदल सकता है, अन्य प्राणियों के लिए पर्यावरण इतना जबर्दस्त है कि वे अपने को जितना बदल कर जी सकें जीते हैं, नहीं तो पर्यावरण उनको समाप्त कर देता है। मनुष्य की दृष्टि से पर्यावरण के तीन भागों में से दो भाग हमारे विचार के लिए काफ़ी हैं—'भौतिक' तथा 'सामाजिक'।

मनुष्य के 'पर्यावरण के दो प्रकार—
'भौतिक' (प्रकृति-रचित) तथा 'सामाजिक' (मनुष्य-रचित)

मनुष्य के लिए 'भौतिक-पर्यावरण' (Physical environment) है—पहाड़, नदी, नाले, पहाड़ों के दर्रे, समुद्र, जल-वायु आदि। इन 'भौतिक-पर्यावरणों' का मनुष्य की सभ्यता पर शुरू-शुरू में बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। ये पर्यावरण प्रकृति में बने-बनाये हैं, इनके बनाने में मनुष्य को प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इनका असर वृक्ष-पशु-पक्षी पर भी है। 'सामाजिक-पर्यावरण' (Social

environment) मनुष्य के लिए निराली वस्तु है। यह प्रकृति का बनाया हुआ नहीं, मनुष्य का बनाया हुआ है--इसे 'मनुष्य-रचित' (Man-made) कहा जाता है। नदी 'भौतिक-पर्यावरण' है, नहर 'मनुष्य-रचित पर्यावरण' है; जंगल 'भौतिक-पर्यावरण' है, बाग़-बग़ीचे 'मनुष्य-रचित-पर्यावरण' है। 'भौतिक' (Physical) को 'प्राकृतिक' (Natural) भी कहते हैं। हर्बर्ट स्पेंसर ने 'भौतिक' को 'अनैन्द्रियिक-पर्यावरण' (In-organic environment) तथा 'जीवन-सम्बन्धी' (Biological) को 'ऐन्द्रियिक-पर्यावरण' (Organic environment) कहा है। 'सामाजिक-पर्यावरण' (Social environment) को 'मनुष्य-रचित' (Man-made) कहते हैं। क्योंकि 'मनुष्य-रचित-पर्यावरण' ही का दूसरा नाम 'संस्कृति' है, अतः 'सामाजिक-पर्यावरण' को 'सांस्कृतिक-पर्यावरण' (Cultural environment) भी कहा जा सकता है। संस्कृति से जो समाज-परम्परा चली आ रही है, जो सांस्कृतिक-पर्यावरण सन्तान-से-सन्तान को उत्तराधिकार के तौर पर, दायभाग के तौर पर मिल रहा है, उसे 'सामाजिक-दायभाग' (Social heritage) कहा जा सकता है।

'मनुष्य-रचित सामाजिक-पर्यावरण' के दो प्रकार-- 'बाह्य' और 'आभ्यन्तर'

अभी हमने 'पर्यावरण' के दो भाग किये थे--'प्रकृति-रचित' तथा 'मनुष्य-रचित'। इनमें से 'मनुष्य-रचित-पर्यावरण' के भी दो प्रकार हैं--'बाह्य' (Outer) तथा 'आभ्यन्तर' (Inner)। 'मनुष्य-रचित बाह्य-पर्यावरण' के दृष्टान्त हैं--घर, शहर, रेल, हवाई-जहाज--वह सब-कुछ जिसे हम 'भौतिक-सभ्यता' (Material civilization) कहते हैं। 'मनुष्य-रचित आभ्यन्तर-पर्यावरण' के दृष्टान्त हैं--हमारा समाज, हमारी संस्थाएँ, हमारी सामाजिक-परम्परा, हमारा रहने-सहने का ढंग, हमारा सामाजिक-जीवन, वह सब-कुछ जिसे हम 'सामाजिक-दायभाग' (Social heritage) कह सकते हैं। 'बाह्य' तथा 'आभ्यन्तर' में यह भेद है कि 'मनुष्य-रचित बाह्य-पर्यावरण' हमारे मिट जाने पर भी बना रहता है, मुसलमानों का राज चला गया किन्तु उनकी खड़ी की हुई इमारतें आज भी खड़ी हैं; पुरातन ईजिप्ट नहीं रहा, परन्तु उन लोगों के बनाये हुए 'पिरैमिड' अब भी मौजूद हैं। 'मनुष्य-रचित आभ्यन्तर-पर्यावरण' हमारे मिटने के साथ ही मिट जाता है, मुसलमानों के राज के जाने के साथ उनके समाज के रीति-रिवाज भी चले गये। जो हमने ले लिये वे अब हमारी सामाजिक-रचना के हिस्से हो गये, मुसलमानों के न रहे, इसलिए हमारा समाज जब तक रहेगा तब तक वे रहेंगे, हमारा समाज नष्ट हो जायगा, तो वे भी नष्ट हो जायेंगे, अगर कोई दूसरे उन्हें ले लेंगे, तब वे उनकी सामाजिक-रचना के अंग हो जायेंगे। 'बाह्य-पर्यावरण' को 'सभ्यता' (Civilization) कहा जाता है, 'आभ्यन्तर-पर्यावरण' को 'संस्कृति' (Culture) कहते हैं।

पर्यावरण की व्याख्या

भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'पर्यावरण' की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं जिनमें से कुछ यहाँ दी जा रही हैं :

[क] रौस की व्याख्या--"पर्यावरण किसी भी उस बाह्य शक्ति को कहते हैं, जो हमें प्रभावित करती है।"

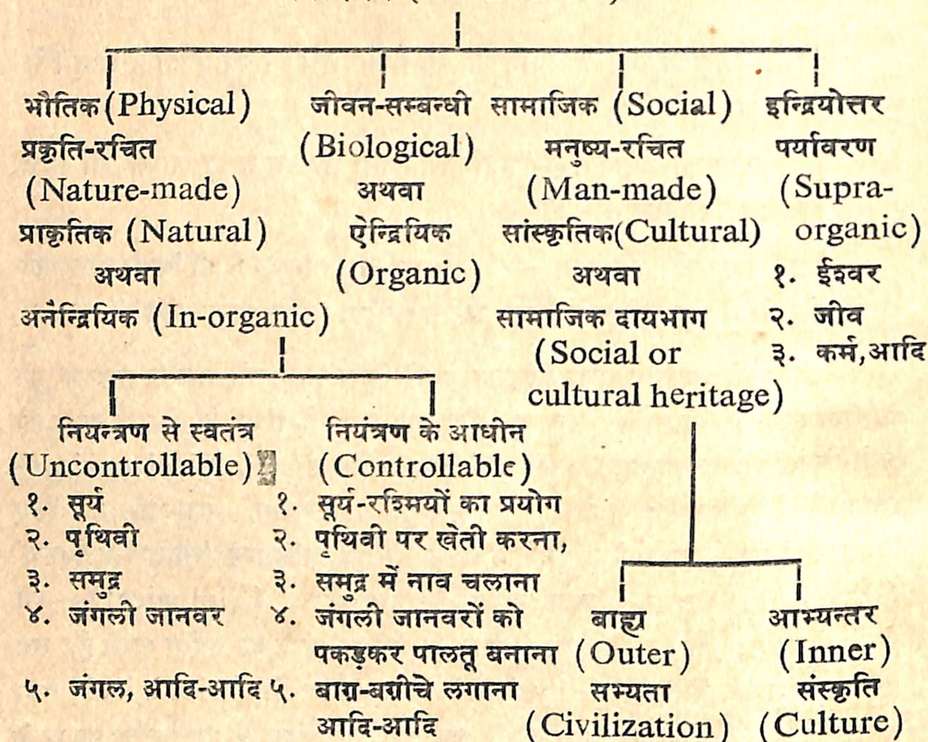
[ख] जिस्बर्ट की व्याख्या--"पर्यावरण वह सब-कुछ है जो किसी वस्तु को चारों ओर से घेरे हुए होता हो तथा उस पर सीधा प्रभाव डालता हो।"

ऊपर जो व्याख्या तथा विवरण हमने दिया है, उससे अब 'पर्यावरण' की व्याख्या स्पष्ट हो जाती है। जब हम पौधे-वृक्ष आदि के लिए 'पर्यावरण'-शब्द का प्रयोग करते हैं, तब हमारा अभिप्राय 'भौतिक-पर्यावरण' (Physical environment) से होता है; जब हम जीव-जन्तु, कीट-पतंग, पशु-पक्षी के लिए 'पर्यावरण'-शब्द का प्रयोग करते हैं, तब हमारा अभिप्राय 'भौतिक-पर्यावरण' (Physical) तथा 'जीवन-सम्बन्धी-पर्यावरण' (Biological)--इन दो से होता है; जब हम मनुष्य के लिए 'पर्यावरण'-शब्द का प्रयोग करते हैं, तब हमारा अभिप्राय 'भौतिक' (Physical), 'जीवन-सम्बन्धी' (Biological) तथा 'सामाजिक' (Social)--इन तीनों पर्यावरणों से होता है। इन तीन प्रकार के पर्यावरणों के साथ अनुकूलता रखने को 'अनुकूलन' (Adaptation) कहते हैं--'पर्यावरण के साथ अनुकूलन' जीवित रहने का गुर है। मनुष्य के पर्यावरणों में 'सामाजिक-पर्यावरण' मुख्य है। 'सामाजिक' कहने में 'बाह्य' तथा 'आभ्यन्तर' दोनों पर्यावरण आ जाते हैं । 'बाह्य-सामाजिक-पर्यावरण' (Outer Social Environment) को 'सभ्यता' (Civilization), तथा 'आभ्यन्तर-सामाजिक-पर्यावरण' (Inner Social environment) को 'संस्कृति' (Culture) कहते हैं। 'आभ्यन्तर-सामाजिक-पर्यावरण' वंश-परम्परा द्वारा सन्तान-से-सन्तान को जा सकता है, इसलिए इसे 'सामाजिक-दायभाग' (Social heritage) कहा जाता है। इन तीनों के अलावा ईश्वर, कर्म, जीव आदि इन्द्रियों से परे के जो विचार हैं, उनका भी मनुष्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। 'पर्यावरण' के इस विचार को चित्र में यों प्रकट किया जा सकता है :--

---

[क] "Environment is any external force which influences us."—*Ross*.

[ख] "Environment is anything immediately surrounding an object and exerting a direct influence on it"—*Gisbert*.



'भौतिक' तथा 'जीवन-सम्बन्धी'-पर्यावरण

(PHYSICAL AND BIOLOGICAL ENVIRONMENT)

भौतिक-पर्यावरण का क्या महत्त्व है, इस विषय पर १८वीं शताब्दी में मौंटेस्क्यू (Montesquieu) तथा १९वीं शताब्दी में बकल (Buckle) ने विद्वानों का ध्यान पहले-पहल आकर्षित किया। डार्विन (Darwin) के विकास-वाद ने प्राणि-शास्त्र के परीक्षणों से इस विषय के महत्त्व को और अधिक बढ़ा दिया। उसने सिद्ध किया कि भौतिक-पर्यावरणों के साथ अपने को अनुकूल बना कर—'अनुकूलन' (Adaptation)—के द्वारा ही प्राणी में 'परिवर्त्तन' होता है। डार्विन के परीक्षण तो वृक्षों-पशु-पक्षियों तक ही सीमित थे, परन्तु फ्रांस के कुछ विद्वानों ने, जिनमें डिमोलिन्स (Demolins) का नाम मुख्य है, पर्यावरण के प्रभाव का फ्रांस के कुछ सामाजिक-क्षेत्रों में अध्ययन किया, और इस परिणाम पर पहुँचे कि 'भौतिक-पर्यावरण' जैसे वनस्पति-पशु-पक्षियों में परिवर्त्तन करता रहता है, वैसे मनुष्य भी इसके शिकंजे में कसा हुआ है।

'भौतिक-पर्यावरण' का अध्ययन करने वालों ने पता लगाया कि मानव-समाज का विकास अनुकूल भौतिक-पर्यावरणों के ऊपर आश्रित है। पहले-पहल मनुष्य वहीं बसा जहाँ खुले मैदान थे, बड़ी-बड़ी नदियाँ थीं, जहाँ अनाज की और पैदावार की बहुतायत हो सकती थी। भारत में गंगा के तट पर, एशिया और

सीरिया में यूफ्रैटीज नदी के किनारे, ईजिप्ट में नील दरिया के आस-पास जो लोग बसे, उन्होंने संसार में महान् सभ्यताओं को जन्म दिया। शुरू-शुरू में जब सड़कें नहीं थीं, यातायात के साधन नहीं थे, तब नदियाँ ही व्यापार का माल लाने-ले-जाने का साधन थीं। इन्हीं के मार्ग से व्यापार होता था, इन्हीं के मार्ग से लुटेरे आक्रमण करते थे। अगर युरोप में डैन्यूब और राइन दरिया न होते, तो वहाँ का इतिहास किसी और तरह लिखा जाता। संसार के बड़े-बड़े शहर——लण्डन, कराची, बम्बई, कलकत्ता, रंगून, हांगकांग——या तो दरियाओं के किनारे बसे हैं या समुद्र के किनारे हैं, जहाँ जहाजों का आसानी से आना-जाना हो सकता है। नदियों की तरह समुद्रों का भी मानव के विकास में बड़ा भारी हाथ है। पहाड़ों और मैदानों में रहने वालों में 'भौतिक-पर्यावरण' के कारण ही बड़ा भारी अन्तर पड़ जाता है। पहाड़ के रहने वाले मजबूत, मेहनती, ग़रीब, मितव्ययी होते हैं, मैदानों के रहने वाले कमजोर, आराम-पसन्द, धनी और फ़िज़ूलख़र्च होते हैं, अपने-अपने 'भौतिक-पर्यावरण' से दोनों का अलग-अलग स्वभाव बन जाता है।

सर्दी-गर्मी-बरसात का भी मनुष्य पर बड़ा असर है। एक ख़ास अंश के ताप-मान पर मनुष्य अधिक काम कर सकता है, उससे कम-अधिक पर काम करने की शक्ति घट जाती है।३८° से ६०° फ़ार्नहाइट की ठंडक में काम अच्छा होता है—— यह परीक्षणों से पाया गया है। ऋतु के परिवर्त्तनों का अपराधों से 'पारस्परिक-सम्बन्ध' (Correlation) पता लगाने का समाज-शास्त्रियों ने प्रयत्न किया है। कई कहते हैं कि मार-काट, हमला आदि गर्मियों में, और चोरी-डकैती आदि सर्दियों में अधिक होते हैं। जो 'भौतिक-पर्यावरण' को ही सब-कुछ मानते हैं उनके विचार करने की यह दिशा है।

सामाजिक-पर्यावरण (SOCIAL ENVIRONMENT)

जैसे रेशम का कीड़ा अपने भीतर से अपना शरीर बनाता रहता है, वैसे समाज भी अपने भीतर से ही अपना एक शरीर बनाता रहता है। रीति-रिवाज-संस्थाएँ——रहन-सहन का ढंग, प्रथाएँ——ये सब 'सामाजिक-पर्यावरण' कहलाती हैं। मनुष्य पर केवल 'भौतिक-पर्यावरण' (Physical environment) का ही प्रभाव नहीं पड़ता, इस 'सामाजिक-पर्यावरण' (Social environment, Social heritage) का भी प्रभाव पड़ता है। एक अंग्रेज अंग्रेज क्यों है, और एक चीनी चीनी क्यों है ? क्योंकि अंग्रेज़ एक ऐसे समाज में पैदा हुआ है जिसमें एक ख़ास ढंग का रहन-सहन है, ख़ास ढंग के रीति-रिवाज़ हैं, इसी प्रकार एक चीनी चीनी इसलिए है, क्योंकि वह अपने समाज के रंग-ढंग में पला है। एक अमरीकन, जिसका जन्म का नाम जोज़फ़ राइनहार्ट (Joseph Rinehart) था, तीन वर्ष की अवस्था में माता-पिता द्वारा छोड़ दिया गया। उसके माता-पिता न्यूयार्क के लौंग-आईलैण्ड के रहने वाले थे। उस बालक को वहीं रहने वाले एक चीनी परिवार ने पाल लिया और उसे चीन में ले गए। सत्रह वर्ष चीन में रहने के बाद वह अमरीका

लौटा। शक्ल-सूरत में वह अमरीकन था, परन्तु रहन-सहन में, बोल-चाल में, आदतों में वह चीनी था। क्यों था ? इसलिए क्योंकि मनुष्य जो-कुछ है वह 'सामाजिक-पर्यावरण' (Social environment, Social heritage) का परिणाम है।

वैसे तो ये रीति-रिवाज, यह सामाजिक-परम्परा हमारे जीवन में इतनी ओत-प्रोत रहती है कि हम इसे अपने से अलग करके सोच ही नहीं सकते, रीति-रिवाज ही समाज है, समाज ही रीति-रिवाज है, परन्तु कई समय ऐसे आ जाते हैं जब हमें स्पष्ट दीखने लगता है कि रिवाज अलग हैं, समाज अलग है। उदाहरणार्थ, दहेज की प्रथा है, तलाक की प्रथा है, बहु-विवाह की प्रथा है। ये सब प्रथाएँ और हिन्दू-समाज एक ही समझे जाते हैं, परन्तु जब लोग दहेज से तंग आ गए, जब दुराचारी पति के साथ बंधे-बंधे स्त्री-समाज परेशान हो गया, जब स्त्री को नाचीज समझकर जितनी मर्जी हुई उतने विवाह पुरुष करता गया, और सारे समाज में इन सामाजिक-प्रथाओं के विरोध में चीत्कार उठ खड़ा हुआ, तब यह स्पष्ट हो गया कि हिन्दू-समाज दूसरी चीज है, ये प्रथाएँ दूसरी चीज हैं, क्योंकि हिन्दू-समाज इन प्रथाओं को झटका देकर छिन्न-भिन्न भी कर सकता है। समाज के विकास में अक्सर ऐसे समय आते हैं, जब समाज पुरानी चीजों को तोड़ा करता है, नयी चीजों को बनाया करता है। धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक--सभी क्षेत्रों में यह नव-निर्माण हुआ करता है। जब तक नव-निर्माण नहीं होता, तब तक हम समझते हैं कि जो-कुछ चला आ रहा है, जो रूढ़ि है, वही समाज है, परन्तु जब हम इन रूढ़ियों को, प्राचीन परम्पराओं को छिन्न-भिन्न कर देते हैं, तब स्पष्ट हो जाता है कि समाज इनसे भिन्न है, समाज इन्हें बनाता है, ये समाज को नहीं बनातीं।

सामाजिक-जीवन का प्रत्येक मुख्य पहलू 'सामाजिक-पर्यावरण' (Social environment) या 'सामाजिक-परम्परा' (Social heritage) कहलाता है। मोटे तौर पर 'सामाजिक-पर्यावरण' में निम्न बातें आ जाती हैं :--

(क) परम्परा (Tradition)--प्राचीन-काल से चले आ रहे वे विचार या काम, जो सन्तान-से-सन्तान को वंश-क्रमानुसार मिलते आये हैं, और जिनके कारण मनुष्य किसी एक समूह का अंग है--हिन्दू है, मुसलमान है, ईसाई है--उन्हें 'परम्परा' कहा जाता है। हिन्दुओं में पुनर्जन्म का विचार परम्परागत विचार है। अंग्रेज किसी भी राजनैतिक-शरणार्थी को अपने यहाँ आश्रय देते हैं, यह उनकी परम्परा है। परम्परा 'सामाजिक-पर्यावरण' का अंग है।

(ख) प्रथा (Custom)--वे तरीके जिनके अनुसार किसी समूह के लोग अपने दैनिक कार्य करते हों, 'प्रथा' कहलाते हैं। हिन्दुओं में धोती पहनने की, चौके में रोटी खाने की 'प्रथा' है। जिस प्रकार हम लोग बरतते हैं, वह 'प्रथा' है। हिन्दू हाथ जोड़ कर नमस्कार करते हैं, पाश्चात्य ढंग में हाथ मिलाया जाता है--यह 'प्रथा' है। प्रथा 'सामाजिक-पर्यावरण' का अंग है।

(ग) क्रिया-कलाप (Ceremonies and Rites)--खास-खास मौकों पर धार्मिक-भावना से जो कार्य किये जाते हैं, वे 'संस्कार' (Ceremonies)

तथा 'क्रिया-कलाप' (Rites) कहलाते हैं। विवाह एक 'संस्कार' है, इस संस्कार में जो भिन्न-भिन्न विधियाँ की जाती हैं, वे 'क्रिया-कलाप' हैं। क्रिया-कलाप 'सामाजिक-पर्यावरण' के अंग हैं।

(घ) रीतियाँ तथा रूढ़ियाँ (Folk-ways and Mores)—समाज में कुछ प्रचलित रीतियाँ होती हैं, ये रीतियाँ 'समाज के चलन' (Folk-ways) हैं। इन रीतियों में से कई रीतियाँ जब बिलकुल पक्की हो जाती हैं, जिन्हें समाज ठोक-बजा कर सन्तान-से-सन्तान को देता चला जाता है, वे 'रूढ़ियाँ' (Mores) कहलाती हैं। रीतियाँ तथा रूढ़ियाँ 'सामाजिक-पर्यावरण' के अंग हैं।

परम्परा, प्रथा, क्रिया-कलाप, रीति, रूढ़ियाँ आदि मिलकर 'सामाजिक-पर्यावरण' बनती हैं। 'सामाजिक-पर्यावरण' के दो रूप हैं—'बाह्य' तथा 'आभ्यन्तर'। इन सब का वर्णन पहले किया जा चुका है।

'भौतिक-पर्यावरण' तथा 'सामाजिक-पर्यावरण' की तुलना

(क) भौतिक-पर्यावरण सामाजिक-पर्यावरण को बनाता है (Ecology)—'पर्यावरण' के सम्बन्ध में विद्वानों में दो विचार पाये जाते हैं। पहला विचार तो यह है कि जैसा 'भौतिक-पर्यावरण' होगा, वैसा 'सामाजिक-पर्यावरण' बन जायगा, मनुष्य वैसी ही 'सांस्कृतिक-सभ्यता' को जन्म देगा। जिस प्रकार की जल-वायु होती है वैसा ही तो पेड़ उगता है, जैसा 'भौतिक-पर्यावरण' होता है, वैसा ही तो पशु भी बनता चला जाता है। तभी हमने पहले कहा था कि जीराफ़ की गर्दन 'भौतिक-पर्यावरण' के कारण लम्बी हो गई। इस प्रकार के 'पर्यावरण-वाद' (Ecology) को मानने वालों का कहना है कि भागने के कारण हरिण की पतली-पतली, ऊँची-ऊँची टाँगें हो गईं, शिकार करने के कारण शेर के पैने-पैने पंजे हो गए। एक पुश्त में नहीं, पुश्त-दर-पुश्त में परीक्षण करते-करते प्रकृति ने 'भौतिक-पर्यावरण' की परीक्षण-शाला में से गुज़ार कर प्राणी को वैसा बना दिया जैसा आज यह बन गया है। इस विचार के समर्थकों में, जैसा हमने पहले कहा, फ्रांस के समाज-शास्त्रियों का नाम विशेष तौर पर लिया जा सकता है। मौंटेस्क्यू (Montesquieu), ला प्ले (Le Play), डिमोलिन्स (Demolins) तथा ब्रुन्ह (Brunhes) इस विचार को मानने वालों में मुख्य हैं। इंग्लैण्ड में बकल (Buckle) तथा जर्मनी में रैटज़ल (Ratzel) ने विद्वानों का इस विचार-धारा की तरफ़ विशेष ध्यान खींचा। इन सब का कहना है कि जैसे 'भौतिक-पर्यावरण' पौधे-पशु को बदलता रहता है, वैसे 'भौतिक-पर्यावरण' से ही मनुष्य की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक रचना का, उसकी सभ्यता तथा संस्कृति का निर्माण होता रहता है। इसे वे 'पर्यावरण-शास्त्र' (Ecology) कहते हैं। अफ्रीका के लोग काले क्यों हैं, भारत के लोग गेहुँए क्यों हैं, चीन के लोग पीले क्यों हैं, युरोप के लोग गोरे क्यों हैं?—'भौतिक-पर्यावरण' के कारण! युरोप में भौतिक-विज्ञानों का आविष्कार हुआ, भारत में आध्यात्मिकता का उदय हुआ—'भौतिक-पर्यावरण' के कारण! वहाँ अत्यन्त शीत होने से बरबस उन्हें

प्रकृति के साथ जूझना पड़ा, इसलिए दिमाग़ लड़ाते-लड़ाते भौतिक-विज्ञान प्रकट हुए, यहाँ प्रकृति की तरफ़ से कुछ कष्ट न था, इसलिए आराम से परमार्थ की चर्चा शुरू हो गई। प्राचीन सभ्यताओं का प्रारम्भ बड़ी-बड़ी नदियों के तट पर हुआ —किसलिए? इसलिए क्योंकि वहाँ रहने की सुविधा थी, इसी लिए ऐसे ही स्थानों पर शुरू-शुरू में बड़े-बड़े शहर बने। इस 'पर्यावरण-शास्त्र' (Ecology) का ही परिणाम है कि अमरीका के कुछ समाज-शास्त्रियों में एक नयी लहर चल रही है जिसे 'प्रान्त-विभाजन वाद' (Regionalism) कहते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक देश का 'पर्यावरण' के अनुसार विभाजन कर देना चाहिए। एक 'पर्यावरण' के लोग एक हिस्से में, दूसरे 'पर्यावरण' के लोग दूसरे हिस्से में बाँट देने चाहिएँ। इस समय तो हर देश का अस्वाभाविक विभाजन हुआ-हुआ है। जो-कुछ था, वह चला आ रहा है। परन्तु इसमें लोगों को असुविधा है। एक स्थान पर भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों के रहने के बजाय, एक ही तरह के लोग एक स्थान पर रहने चाहिएँ। भारत में भाषावार प्रान्तों के विभाजन की माँग रही है। इसी माँग के फल-स्वरूप 'आंध्र-'नामक एक नया प्रान्त भी बना। ये-सब विचार 'पर्यावरण' को प्रधान मान कर चले हुए विचार हैं, यह मान कर चले हुए हैं कि जैसा 'पर्यावरण' होता है वैसी 'सभ्यता' का निर्माण हो जाता है, मनुष्य अपने 'भौतिक-पर्यावरण' की सन्तान है, उससे भिन्न वह हो ही नहीं सकता।

(ख) 'सामाजिक-पर्यावरण' 'भौतिक-पर्यावरण' को बनाता है—एक दूसरा विचार है, जो 'भौतिक-पर्यावरण' का मनुष्य पर प्रभाव तो मानता है, परन्तु इतना नहीं मानता कि इस 'पर्यावरण' को मनुष्य का बाप बना दे। इस विचार को मानने वालों का कहना है कि मनुष्य 'भौतिक-पर्यावरण' को अपनी संस्कृति के बल से बदलता रहता है, कभी-कभी बिलकुल नवीन 'भौतिक-पर्यावरण' का निर्माण कर देता है। उदाहरणार्थ, जब से पंजाब का विभाजन हुआ है, तब से पंजाब की राजधानी चंडीगढ़ का निर्माण हो रहा है। एक बिलकुल सुनसान जगह पर, जहाँ किसी चीज की सुविधा नहीं थी, बड़ी-बड़ी, चौड़ी-चौड़ी सड़कें बन गई हैं, बिजली लग गई है, बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी हो गई हैं, जंगल में मंगल हो गया है। वर्तमान-युग में मनुष्य अपने विज्ञान के बल पर दलदलों को सुखाकर उनकी जगह विशाल भवन खड़े कर रहा है, समुद्रों में तारें बिछाकर सैंकड़ों मीलों की दूरी को दूरी नहीं रहने दे रहा। मनुष्य 'भौतिक-पर्यावरण' से नहीं बन रहा, अपने 'सांस्कृतिक-पर्यावरण' से 'भौतिक-पर्यावरण' को बना रहा है।

हमने पहले विचार में देखा था कि मनुष्य को 'भौतिक-पर्यावरण' (Physical or Natural environment) बनाता है। परन्तु इस दूसरे विचार को माननेवालों का कहना है कि 'भौतिक-पर्यावरण' मनुष्य को नहीं बनाता, मनुष्य इसको बनाता है। अपने पक्ष की पुष्टि में उनका कथन है कि:—

(i) कलकत्ता या वर्तमान-युग के किसी बड़े शहर को लें, तो कोई समय था जब वहाँ जंगली लोग रहते थे, उस समय जो बच्चे वहाँ पैदा होते थे वे बड़े

होकर खेती करते थे, शिकार खेलते थे, मछलियाँ पकड़ते थे, और जंगली जीवन व्यतीत करते थे। आज भी वहाँ का 'प्राकृतिक' अथवा 'भौतिक' पर्यावरण वही है जो पहले था, वही ज़मीन, वही जल-वायु, वही सब-कुछ है, परन्तु आज जो बच्चे वहाँ पैदा होते हैं, वे बड़े होकर मोटरों पर सैर करते हैं, प्यानो बजाते हैं, और अपने पूर्वजों से सर्वथा भिन्न जीवन व्यतीत करते हैं। क्या कारण है कि 'प्राकृतिक-पर्यावरण' इन दोनों का वही है, परन्तु इनके जीवन के विकास में ज़मीन-आसमान का भेद है? इसका कारण यह है कि 'प्राकृतिक-पर्यावरण' (Natural environment) मनुष्य को नहीं बनाता, 'सांस्कृतिक-पर्यावरण' (Social or Cultural environment) मनुष्य को बनाता है।

(ii) इसके अतिरिक्त भारत का 'भौतिक-पर्यावरण' (Physical or Natural environment) अलग है, युरोप का अलग, परन्तु दोनों देशों में एक-सा विकास हो रहा है, वही रेल-तार, वही मोटर-हवाई-जहाज़, वैसे ही शहर, वैसी ही सड़कें, वैसी ही विचार-धारा। अगर 'भौतिक-पर्यावरण' (Physical or Natural environment) ही हमारी 'सभ्यता' और 'संस्कृति' को जन्म देता है, अगर उसी से मनुष्य वह बनता है जो-कुछ वह है, तो इन देशों के 'भौतिक-पर्यावरणों' के अलग-अलग होते हुए, क्यों इनमें आज एक-सा विकास हो रहा है ? इसका यही कारण है कि 'भौतिक-पर्यावरण' सभ्यता तथा संस्कृति को नहीं जन्म देता, सभ्यता तथा संस्कृति 'भौतिक-पर्यावरण' का निर्माण करती हैं। तभी तो भिन्न-भिन्न 'भौतिक-पर्यावरण' के होते हुए भी इन देशों में एक ही प्रकार की सभ्यता फैल रही है।

असल में, उक्त दोनों विचार एकदेशीय हैं। न 'भौतिक-पर्यावरण' ही सब-कुछ है, न 'सामाजिक या सांस्कृतिक-पर्यावरण' ही सब-कुछ है। भौतिक का सामाजिक या सांस्कृतिक पर, और इन दोनों का भौतिक-पर्यावरण पर प्रभाव पड़ता है। दोनों दृष्टिकोण अपना इकतरफ़ापन छोड़ दें, तो दोनों ठीक हैं, सिर्फ़ अपनी-अपनी बात पर अड़े रहें, तो दोनों ग़लत हैं।

सम्पूर्ण-पर्यावरण (TOTAL ENVIRONMENT)

हमने देखा कि मनुष्य पर किस-किस पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है। पीछे जो हम एक चित्र दे आये हैं, उसमें हमने दर्शाया है कि मनुष्य पर भौतिक, प्रकृति-रचित, प्राकृतिक, अर्थात् अनैन्द्रियिक तत्त्वों का, जो मनुष्य के नियन्त्रण से स्वतंत्र हैं, सूर्य, पृथ्वी, समुद्र, जंगल आदि का प्रभाव पड़ता है; मनुष्य पर इन्हीं भौतिक, प्रकृति-रचित, प्राकृतिक, अर्थात् अनैन्द्रियिक तत्त्वों का जो मनुष्य के नियन्त्रण के आधीन हैं, सूर्य की रश्मियों का प्रयोग, पृथ्वी की खेती, समुद्र में नाव, जंगली जानवरों को पालतू बनाना, बाग़-बग़ीचे लगाना आदि का प्रभाव भी पड़ता है। इस भौतिक-पर्यावरण के अलावा मनुष्य पर जीवन-सम्बन्धी, अर्थात् ऐन्द्रियिक तत्त्वों का भी प्रभाव पड़ता है। पर्यावरण का तीसरा तत्त्व है—सामाजिक। सामाजिक-पर्यावरण प्रकृति-रचित न होकर मनुष्य-रचित है, इसे सांस्कृतिक या

सामाजिक-दायभाग भी कह सकते हैं। सामाजिक के बाह्य तथा आभ्यन्तर दो रूप हैं। 'बाह्य' को हमने 'सभ्यता' तथा आभ्यन्तर को 'संस्कृति' कहा है। इनका भी मानव के निर्माण में अपना-अपना हाथ है। पर्यावरण का चौथा तत्त्व 'इन्द्रियोत्तर-पर्यावरण' है। हर समाज में ईश्वर, जीव, कर्म, पुनर्जन्म आदि अनेक विचार होते हैं। ये विचार इन्द्रियों के विषय नहीं होते, परन्तु मनुष्य के जीवन को प्रभावित करते रहते हैं। इन चारों के प्रभाव से मनुष्य तथा मानव-समाज अदलता-बदलता रहता है, केवल एक ही पर्यावरण का उस पर प्रभाव होता हो—यह बात नहीं है। इन सब के प्रभाव को 'सम्पूर्ण-पर्यावरण' (Total environment) का नाम दिया जाता है।

पर्यावरण-शास्त्र (ECOLOGY)

हमने ऊपर यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि पर्यावरण का 'मनुष्य' तथा 'मानव-समाज' के निर्माण में बहुत बड़ा हाथ है। पर्यावरण कई तरह का होता है। इसका प्रभाव मनुष्य के निर्माण में ही नहीं, वनस्पति-पशु-पक्षी के निर्माण में भी होता है। जंगल में जिस तरह की वनस्पतियाँ-पेड़-झाड़ियाँ होती हैं, उसी से मेल खाने वाले कीट-पतंग-पशु-पक्षी वहाँ होते हैं। जीव-जन्तुओं तथा पशु-पक्षियों का सम्बन्ध एक-दूसरे पर निर्भर है, अन्योन्याश्रित है। किसी वनस्पति पर वैसे ही कीट-पतंग होंगे, जो उस वनस्पति पर ही रह सकेंगे, अन्य वनस्पति पर नहीं; इसी प्रकार जैसे कीट-पतंग होंगे उनके जीवन के लिए आवश्यक जिस वनस्पति की आवश्यकता होगी वैसी वनस्पति ही वहाँ होगी। इस प्रकार की अन्योन्याश्रितता को प्राणि-शास्त्र में 'सिम्बायोसिस' (Symbiosis) कहते हैं। वनस्पति तथा कीट-पतंगों-पशुओं की इस अन्योन्याश्रितता का, इस 'सिम्बायोसिस' का नाम 'वनस्पति-पर्यावरण-शास्त्र' (Plant Ecology) है। समाज-शास्त्रियों में से अनेक विद्वानों का कहना है कि जैसे वनस्पतियों तथा कीट-पतंगों में 'सिम्बायोसिस' या अपने जीवन धारण के लिए एक-दूसरे पर आश्रित रहने की बात पायी जाती है, वैसे ही पर्यावरण तथा मानव-समाज में भी यह 'सिम्बायोसिस' की बात, यह अन्योन्याश्रितपना पाया जाता है, और इसे 'मानव-पर्यावरण-शास्त्र' (Human Ecology) कहा जाता है।[1] समाज-शास्त्र में इस विचार को लाने का श्रेय श्रीयुत् पार्क्स तथा बर्जेस को है।

मनुष्य के निर्माण पर, उसकी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक रचना पर पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है, जैसा पर्यावरण होता है, वैसा उसका शरीर, मन तथा आत्मा बन जाता है, और मनुष्य पर्यावरण को भी प्रभावित करता रहता है—यह 'पर्यावरण-शास्त्र' का आधार-भूत तत्त्व है।

---

१. "Ecology is the study of symbiotic relationships and the resulting spatial patterning of human beings and human institutions in the community."—*Cuber*.

उदाहरणार्थ, 'भौतिक-पर्यावरण' से मनुष्य के शरीर की रचना में अनेक परिवर्त्तन हो जाते हैं। गर्म देशों में शरीर काला पड़ जाता है, सर्द देशों में गोरा हो जाता है। गर्म देशों में मनुष्य सुस्त रहता है, सर्द देशों में चुस्त होने के कारण अनेक प्रकार के आविष्कार कर डालता है। गर्म देशों में काम कम कर सकने के कारण मनुष्य को सोचने-विचारने का समय अधिक मिलता है, इसलिए वह आध्यात्मिक बातें करने लगता है। इस प्रकार की दिशा में पर्यावरण-सम्बन्धी विचारों को 'पर्यावरण-वाद' या 'पर्यावरण-शास्त्र' (Ecology) कहते हैं।

मनुष्य को प्रभावित करने वाले पर्यावरण अनेक हैं। इनमें से मुख्य-मुख्य पर्यावरण निम्न हैं :—

(क) भौगोलिक-पर्यावरण (Geographical environment)
(ख) प्राणि-शास्त्रीय पर्यावरण (Biological environment)
(ग) यान्त्रिक-पर्यावरण (Technological environment)
(घ) सांस्कृतिक-पर्यावरण (Cultural environment)
(ङ) राजनैतिक-पर्यावरण (Political environment)
(च) आर्थिक-पर्यावरण (Economic environment)

इन सब की यथा-स्थान चर्चा हम पुस्तक के अगले अध्यायों में करेंगे।

प्रश्न

१. 'पर्यावरण' और 'प्राणी' का आपस में क्या सम्बन्ध है ?
२. 'पर्यावरण' के उदाहरण देकर समझाइये कि 'पर्यावरण' किसे कहते हैं ?
३. 'अनुकूलन' क्या है ? तीन प्रकार के 'अनुकूलन' क्या हैं—समझाइये ?
४. मनुष्य 'भौतिक-पर्यावरण' (Physical environment) का परिणाम है—इस विचार के मानने वाले अपने कथन की पुष्टि कैसे करते हैं?
५. मनुष्य 'सामाजिक-पर्यावरण' (Social environment) का परिणाम है—इस विचार के मानने वाले अपने कथन की पुष्टि कैसे करते हैं ?
६. 'भौतिक-पर्यावरण' का 'सामाजिक-पर्यावरण' पर, और 'सामाजिक' का 'भौतिक' पर क्या प्रभाव है ?
७. 'सामाजिक-दायभाग' क्या है, इसकी व्याख्या कीजिये।
८. 'पर्यावरण'-शास्त्र' (Ecology) क्या है ? समझाइये।

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. मनुष्य और उसके पर्यावरण के सम्बन्ध का वर्णन कीजिये। मनुष्य और प्रकृति में संतुलन किस प्रकार स्थिर होता है ? (लखनऊ, १९५१)
२. मनुष्य और उसके पर्यावरण के पारस्परिक-सम्बन्ध का विवेचन कीजिये। (लखनऊ, १९५३)
३. भौतिक अनुकूलन और सामाजिक सामंजस्य में भेद बतलाइये और उदाहरण देकर समझाइये। (आगरा, १९५५; राजपूताना, १९५६)

६

भौगोलिक-पर्यावरण का समाज के जीवन पर प्रभाव

(GEOGRAPHIC CONDITIONS AS AFFECTING THE LIFE OF SOCIETY)

हम पिछले अध्याय में देख आये हैं कि 'भौतिक-पर्यावरण' (Physical environment) तथा 'सामाजिक-पर्यावरण' (Social environment) का मनुष्य की रचना में बड़ा भारी हाथ है। 'भौतिक-पर्यावरण' प्राणियों का 'प्रारम्भिक-पर्यावरण' (Primary environment) है, इसके बाद ही 'सामाजिक-पर्यावरण' को स्थान मिल सकता है। गत अध्याय में वर्णित इस 'प्रारम्भिक-भौतिक-पर्यावरण' (Primary physical environment) का ही मुख्य-रूप 'भौगोलिक-पर्यावरण' (Geographical environment) है। इस अध्याय में हम मनुष्य के इसी 'भौगोलिक-पर्यावरण' का वर्णन करेंगे।

भौगोलिक-पर्यावरण की परिभाषा

[क] लैण्डिस की व्याख्या—"इसमें वे सब प्रभाव गिने जाते हैं जो, अगर मनुष्य को पृथ्वी पर से बिलकुल हटा दिया जाय तब भी बने रहेंगे।"

[ख] मैक आइवर की व्याख्या—"पृथ्वी का धरातल, उसकी सब प्रकार की प्राकृतिक दशाएँ, प्राकृतिक उत्पादन के साधन, भूमि, जल, पर्वत, मैदान, खनिज-पदार्थ, पौधे, पशु, जल-वायु तथा विश्व की वे सब शक्तियाँ जो पृथ्वी को तथा मानव-जीवन को प्रभावित करती हैं, भौगोलिक-पर्यावरण के अन्तर्गत हैं।"

[ग] सोरोकिन की व्याख्या—"भौगोलिक-पर्यावरण उन सब प्राकृतिक दशाओं तथा घटनाओं को कहते हैं जो मनुष्य के कुछ किये बिना स्वतंत्र रूप से विद्य-

---

[क] "It consists of all those influences that would exist if men were completely removed from the face of the earth."—*Landis.*

[ख] "It includes the earth-surface with all its physical features and natural resources, the distribution of land and water, mountains and plains, minerals, plants and animals, the climate and all the cosmic forces that play upon the earth and affect the life of man."—*MacIver.*

[ग] "Geographical environment means all cosmic conditions and the phenomena which exist independent of man's activity, which are not created by man and which change and vary through their own spontaneity, independent of man's existence and activity."—*Sorokin.*

मान हैं, जो मनुष्य-रचित न होकर, मनुष्य की सत्ता तथा उसकी रचना से स्वतंत्र होकर स्वतंत्र रूप में परिवर्तित होती रहती हैं।"

'भौगोलिक-पर्यावरण' दो तरह का हो सकता है। एक वह जिस पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं हो सकता, यह 'नियन्त्रण से स्वतंत्र' (Uncontrollable) कहलाता है; दूसरा वह है, जो है तो भौगोलिक, परन्तु जिस पर हम किसी प्रकार का नियन्त्रण कर सकते हैं, यह 'नियन्त्रण के आधीन' (Controllable) कहलाता है। सूर्य, पृथिवी, समुद्र, नदी, जंगल के जानवर, जंगल--ये सब हमारे नियन्त्रण से स्वतंत्र हैं, हम इनका कुछ नहीं बना सकते, हाँ, सूर्य की रश्मियों से हम आग जला सकते हैं, पृथिवी पर खेती कर सकते हैं, समुद्र में नौकाएँ चला सकते हैं, नदी को रोककर बाँध बना सकते हैं, उसमें से नहर निकाल सकते हैं, जंगली जानवरों को पकड़ कर उन्हें पालतू बना सकते हैं, जंगल को काट कर उसकी जगह बाग़-बगीचे लगा सकते हैं। पहला 'पर्यावरण' नियंत्रण से 'स्वतंत्र', दूसरा उसके 'आधीन' है।

'भौगोलिक-पर्यावरण' (Geographical environment) वैसा-का-वैसा बना रहता, अगर बीच में मनुष्य न आ पड़ता। जंगली जानवर अनन्त-काल तक जंगलों में चरते रहते, कोई खूंटे पर आकर न बँधता, पृथ्वी पर जंगली पेड़ होते, कहीं गेहूँ और चावल के हरे-हरे खेत दृष्टि-गोचर न होते, समुद्र-आसमान को चूमने वाली तरंगें उछालता रहता, उसकी छाती को चीरने वाले जहाज न होते। मनुष्य ने उच्छृंखल प्रकृति को अपने विज्ञान की रस्सियों से बाँध कर बैठा दिया। परन्तु क्या 'भौगोलिक-पर्यावरण' (Geographical environment) इस प्रकार मनुष्य से हार मान सकता है? पुराना इतिहास क्या बताता है? सुमेरियन सभ्यता का मानव ने महान् विकास किया था, परन्तु इतिहासकार कहते हैं कि क्योंकि उस समय का मनुष्य मलेरिया का इलाज न कर सका, इसलिए वह सभ्यता मट्टी में मिल गई, इसी प्रकार अन्य सभ्यताओं के साथ हुआ। मनुष्य समझता है कि वह प्रकृति पर विजय पा लेगा, भौगोलिक-पर्यावरण को पराजित कर नवीन-समाज की रचना कर डालेगा, नयी सभ्यता और नयी संस्कृति को जन्म देगा, परन्तु 'भौगोलिक-पर्यावरण' इतना जबर्दस्त है कि बार-बार मनुष्य को पछाड़ गिराता है, और उसके अभिमान को चकनाचूर कर देता है।

१. 'भौगोलिक-वाद'
(Geographical School or Geographical Determinism)

यह सब देख कर समाज-शास्त्रियों में एक सम्प्रदाय ऐसा उत्पन्न हो गया है, जो कहता है कि समाज के जीवन पर भौगोलिक-पर्यावरण का इतना अमिट प्रभाव होता है कि अगर कहा जाय कि मनुष्य जो-कुछ है भौगोलिक-पर्यावरण के कारण ही है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस विचार-धारा का प्रारम्भ अरस्तु (Aristotle) से कहा जा सकता है, परन्तु वर्त्तमान-युग में कुछ फ्रांसीसी-विद्वानों ने इस विचार का विशेष-रूप से मनन किया है। इस विचार के मुखिया फ्रेंच

विद्वान् मौंटेस्क्यू थे। उनके बाद इस विचार का पृष्ठ-पोषण ला प्ले ने किया, ला प्ले के बाद डिमोलिन्स ने। इन विद्वानों ने फ्रांस के अनेक भौगोलिक भागों का इस दृष्टि से अध्ययन किया कि 'भौगोलिक-पर्यावरण' का सामाजिक-विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, भौगोलिक-पर्यावरण से समाज का विकास हुआ है-- इस सिद्धान्त को 'पर्यावरण-शास्त्र' (Ecology) कहा जाता है। ला प्ले आदि के विचारों का अन्य विद्वानों पर असर पड़ा, और हौवर्ड ओडम (Howard W. Odum) ने 'प्रान्त-विभाजन-वाद' (Regionalism) पर विचार करना शुरू किया जिसका अभिप्राय यह है कि 'भौगोलिक-पर्यावरण' को आधार बनाकर प्रान्त बनाने चाहिएँ। जर्मनी में श्री रैटज़ल (Ratzel) ने 'भौगोलिक-वाद' (Geographical determinism or Geographical School) पर बल दिया, और 'Human Geography' नाम के एक विशाल ग्रन्थ की रचना की। इंग्लैण्ड में श्री बकल महोदय ने मानव-समाज का इतिहास भौगोलिक-दृष्टि से लिख डाला जिसमें दर्शाया गया कि 'भौगोलिक-पर्यावरण' ही मानवीय-सभ्यता का निर्माण करता है। अमरीका के समाज-शास्त्रियों में एलेन सैम्पल (Ellen C. Semple), डैक्सटर (E. G. Dexter) तथा एल्सवर्थ हंटिंगटन (Ellsworth Huntington) इसी विचार-धारा को मानने वाले हैं। इन विद्वानों ने हम लोगों का ध्यान इस बात की तरफ़ बड़े ज़ोर से खींचा कि 'भौगोलिक-पर्यावरण' ही किसी देश की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा आर्थिक स्थिति को बनाता है, इसलिए हम इन-सब के ऋणी हैं। इनमें से कुछ के विचार हम यहाँ लिखेंगे :

(क) हंटिंगटन के भौगोलिक-वाद के विचार--वैसे तो अनेक विद्वानों ने भौगोलिक-वाद का प्रतिपादन किया है, परन्तु उनमें श्री हंटिंगटन का नाम मुख्य है। अमरीकन भू-गोल-शास्त्री हंटिंगटन ने अपनी पुस्तक 'Civilization and Climate' में लिखा है कि उष्ण, सम-शीतोष्ण तथा शीत ये तीन प्रदेश हैं जिनमें से उष्ण में गर्मी के कारण तथा शीत में मनुष्य के आहार की सतत खोज में लगे रहने के कारण ये दोनों प्रदेश सभ्यताओं के उदय के लिये अनुकूल नहीं हैं। सम-शीतोष्ण जल-वायु के प्रदेश ही ऐसे प्रदेश हैं, जहाँ न अधिक गर्मी होती है, न अधिक सर्दी होती है, इसलिए इन प्रदेशों में सभ्यताओं का विकास भी होता रहता है। हंटिंगटन का कथन है कि सम-शीतोष्ण जल-वायु के प्रदेशों में तूफान (Cyclone) --वात-चक्र--आते रहते हैं जिनसे वहाँ के जल-वायु में परिवर्त्तन आता रहता है। जल-वायु में जब परिवर्त्तन आता है, तूफान आते हैं, उतराव-चढ़ाव होता है, तब सम-शीतोष्ण जल-वायु अपना स्थान बदल देती है, दूसरी जगह चली जाती है, और पहले स्थान की सभ्यता नष्ट हो जाती है, दूसरे स्थानों में नवीन सभ्यता पनपने लगती है। पहले सम-शीतोष्ण जल-वायु अफ्रीका से होकर गुज़रती थी, फिर भू-मध्य सागर के प्रदेशों में आयी और अब ठंडे प्रदेशों की ओर बढ़ रही है। इसी लिये पहले अफ्रीका में सभ्यता का उदय हुआ, फिर बैबीलोनिया, असीरिया,

फिनीशिया, क्रीट, ट्राय, यूनान, कार्थेज, रोम आदि भू-मध्य-सागरीय प्रदेशों में सम-शीतोष्ण जल-वायु गयी और वहाँ की सभ्यता पनपी और अब यह सम-शीतोष्ण जल-वायु युरोप की तरफ़ बढ़ रही है और वहाँ की सभ्यता विकसित हो रही है। सम-शीतोष्ण जल-वायु का यह परिवर्त्तन ही सभ्यता के पैदा होने और नष्ट होने का कारण है।

सम-शीतोष्ण जल-वायु के प्रदेश सभ्यता के विकास के लिये क्यों अनुकूल होते हैं ? हंटिंगटन का कहना है कि इन प्रदेशों की जल-वायु शारीरिक-स्वास्थ्य के लिए अनुकूल होती है। शारीरिक-स्वास्थ्य अच्छा हुआ तो मानसिक-स्वास्थ्य और कार्य-कुशलता बढ़ जाती है। मानसिक-कुशलता बढ़ने से सभ्यता का विकास होना स्वाभाविक है। दूसरे शब्दों में हंटिंगटन का कथन है कि सम-शीतोष्ण जल-वायु सभ्यता को जन्म देती है। जब सम-शीतोष्ण जल-वायु किन्हीं भौतिक-कारणों से शीत या उष्ण हो जाती है, तब वह सभ्यता भी लुप्त हो जाती है, लोग प्राकृतिक विषम-अवस्थाओं के कारण विकसित की हुई अपनी सभ्यता को कायम नहीं रख सकते, और जहाँ सम-शीतोष्ण जल-वायु होने लगती है वहाँ नवीन सभ्यता जन्म लेने लगती है।

(ख) जूलियन हक्सले के भौगोलिक-वाद के विचार—ब्रिटिश जीव-रसायन-शास्त्री जूलियन हक्सले ने अपनी पुस्तक 'Climate and History' में लिखा है कि शुष्क प्रदेशों में मनुष्य के भीतर कुछ लवणों की कमी हो जाती है और इनकी कमी के कारण मनुष्य की रस-ग्रन्थियाँ शरीर के भीतर वह रस नहीं पहुँचा सकतीं जिससे उसके शरीर तथा बुद्धि का विकास होता है। उदाहरणार्थ, गले के पास थायराइड-ग्रन्थि है। अगर शरीर को आयोडीन की पर्याप्त मात्रा न मिले, तो यह ग्रन्थि अपना काम नहीं करती, और इसका रस शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों को नहीं पहुँचता। इसके रस के न पहुँचने से शरीर शिथिल हो जाता है, मनुष्य आलसी हो जाता है। शुष्क प्रदेशों का शरीर पर ऐसा प्रभाव पड़ता है, इसलिए उनमें सभ्यता का पूरा विकास नहीं हो पाता।

(ग) सैवेरिन के भौगोलिक-वाद के विचार—सैवेरिन ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि मुझे यह बता दो, तुम क्या खाते हो, तुम्हारे खाने को देख कर मैं यह बता दूँगा कि तुम क्या हो। उपनिषत्कार ने इसी भाव को यों प्रकट किया है—'अन्नमयं वै सौम्य मनः'—हे सौम्य ! मन तो अन्न से बनता है।

अब हम यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि 'भौगोलिक-पर्यावरणों' का मानव-समाज के विकास में क्या-क्या प्रभाव पड़ता है।

[क] 'जन-संख्या' पर 'भौगोलिक-पर्यावरण' का प्रभाव
(POPULATION AND GEOGRAPHICAL DETERMINISM)

संसार में ज़मीन का बहुत बड़ा हिस्सा ख़ाली पड़ा है, कुछ थोड़े-से हिस्से में ही सारी जन-संख्या इकट्ठी हुई पड़ी है। अगर धरती को पाँच बराबर-बराबर के

हिस्सों में बाँटा जाय, और इसी प्रकार मनुष्यों को भी पाँच बराबर-बराबर के हिस्सों में बाँटा जाय, तो मनुष्यों के पाँच हिस्सों में से चार हिस्से के लोग धरती के पाँच हिस्सों में से सिर्फ़ एक हिस्से में बसे हुए हैं। धरती के पाँच हिस्सों में से सिर्फ़ एक हिस्से में इतने लोग क्यों बसे हैं, चार हिस्से ख़ाली क्यों पड़े हैं ? इसका यही कारण है कि यह हिस्सा उपजाऊ है, उसमें नदियाँ हैं, समुद्र हैं, समुद्र से आयात-निर्यात हो सकता है, नदियों से धरती को सींचा जा सकता है। बड़े-बड़े शहर वहीं बसते हैं जहाँ भौगोलिक-दृष्टि से बसने की सुविधा होती है। रेगिस्तान में क्यों शहर नहीं बस जाते ? इसी लिए कि वहाँ शहर बसेंगे, तो बसकर क्या करेंगे ? जहाँ कुछ खाने को नहीं, पीने को नहीं, रहने को नहीं--ऐसी जगह मनुष्य नहीं बसता। संसार की जितनी पुरानी सभ्यताएँ हैं, सब का उद्गम-स्थान नदियों के तट रहे हैं। 'उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् । धिया विप्रो अजायत ॥'--पर्वतों के निकट, नदियों के किनारे मनुष्य की बुद्धि जागती है--यह वेद का वचन है।

'भौगोलिक-पर्यावरण' के कारण जन-संख्या एक जगह घनीभूत होकर रहने लगती है, और जब मनुष्यों की किसी स्थान पर घनी आबादी हो जाती है तब दूसरे फ़ायदे उन्हें अपने-आप मिलने लगते हैं। 'भौगोलिक-पर्यावरण' से तो गंगा के किनारे इलाहाबाद, वाराणसी, कलकत्ता बसे, और जब वहाँ की आबादी घनी हो गई, तो उनको दूसरे फ़ायदे भी होने लगे। जहाँ घनी आबादी होगी वहीं पर सब तरह के लोग मिलेंगे, वहीं श्रम-विभाग होगा, वहीं तरह-तरह के आविष्कार होने की सम्भावना होगी, आविष्कार होंगे तो उन्हें सम्भालने वाले भी वहाँ मिल जायेंगे। लोग गाँव की जगह शहर में जाना क्यों पसन्द करते हैं ? इसी लिए क्योंकि शहर में आबादी घनी होती है, ज्यादा जन-संख्या होने के कारण सब तरह की सुविधाएँ वहाँ मिल जाती हैं। परन्तु शुरू-शुरू में आबादी घनी क्यों होती है ? सिर्फ़ इसलिए क्योंकि वहाँ का 'भौगोलिक-पर्यावरण' ऐसा होता है कि लोग दबादब वहाँ आकर रहने लगते हैं।

[ख] 'आर्थिक-धंधों' पर 'भौगोलिक-प्रभाव'

(ECONOMIC-OCCUPATIONS AND GEOGRAPHICAL DETERMINISM)

अर्थ-शास्त्र का काम 'माँग तथा माँग की पूर्त्ति' (Demand and supply) के नियमों का पता लगाना है। माँग को पूरा करने के लिए भिन्न-भिन्न साधनों का प्रयोग होता है। कोई व्यापार करके दूसरों की माँग को पूरा करता है, कोई उद्योग-धंधे से, कोई मजदूरी करके। ये व्यापार, उद्योग-धंधे, मजदूरी 'भौगोलिक-पर्यावरण' से निश्चित होते हैं। अगर किसी जगह कच्चा माल है, जूट, कोयला, लोहा, नमक आदि है, तो वहाँ उनके कारख़ाने खुल जाते हैं, कोयले की खानें खुद जाती हैं, हजारों और लाखों की संख्या में मजदूर यहाँ आ बसते हैं। जमशेदपुर में टाटा का लोहे का कारख़ाना खुल गया, साम्भर झील पर नमक का कारख़ाना खुल गया। भिन्न-भिन्न व्यवसायों के लोग वहाँ आ बसे। 'भौगोलिक-पर्यावरण' का व्यापार, उद्योग-धन्धों, मजदूरी आदि पर प्रभाव

पड़ता है, इन उद्योग-धंधों का सामाजिक-जीवन पर प्रभाव पड़ता है । उदाहरणार्थ, जौनसार बावर का 'भौगोलिक-पर्यावरण' ऐसा है कि खेती के बग़ैर वहाँ कोई चारा नहीं। जमीन थोड़ी-थोड़ी है। अगर हर-एक भाई शादी करे, तो हर सन्तति के बाद जमीन के इतने छोटे-छोटे टुकड़े हो जाँय कि किसी के पास इतनी जमीन भी न रहे जिसे जोत कर वह एक परिवार का भी पेट भर सके। इसका हल उन्होंने क्या किया ? वहाँ सिर्फ़ बड़ा भाई शादी करता है, और वही पत्नी सब भाइयों की साझी पत्नी समझी जाती है--इस प्रकार 'भौगोलिक-पर्यावरण' का सीधे तौर पर तो प्रभाव उद्योग-धंधे पर हुआ, किन्तु परिणाम-स्वरूप उसका प्रभाव सामाजिक-जीवन पर भी पड़ गया।

[ग] 'प्रगति-शीलता' तथा 'कूप-मंडूकता' पर 'भौगोलिक-प्रभाव (PROGRESS, STAGNATION AND GEOGRAPHICAL DETERMINISM)

कोई देश प्रगतिशील है, या कूप-मंडूक है, आगे बढ़ रहा है या जहाँ-का-तहाँ खड़ा है--यह बात देश का 'भौगोलिक-पर्यावरण' निर्धारित करता है । जो देश सब देशों से कटा हुआ होगा, एक तरफ़ ऐसे पहाड़ हों, जिन्हें कोई लांघ न सके, दूसरी तरफ़ ऐसे समुद्र हों जिन्हें कोई पार न कर सके, तीसरी तरफ़ ऐसे रेगिस्तान हों जिनको पार करना जान पर खेल जाना हो, चौथी तरफ़ कोई और बला खड़ी हो, वहाँ कौन पहुँच सकेगा ? न वहाँ के लोग अपने देश से बाहर जा सकेंगे, न बाहर के वहाँ आ सकेंगे। ऐसे 'भौगोलिक-पर्यावरण' वाला देश उन्नति-शील नहीं हो सकता, क्योंकि उन्नति होती है लेन-देन से, विचारों का लेन-देन, वस्तुओं का लेन-देन, व्यापार का लेन-देन। हाँ, जिस देश के चारों तरफ़ पहाड़ हों, परन्तु पहाड़ों में आने-जाने के दर्रे भी हों, नौकाओं के चलने के लिए दरिया हों, वहाँ आवागमन होता रहेगा, और वह देश कूप-मंडूकता नहीं धारण करेगा। कभी-कभी 'प्राकृतिक-पर्यावरण' किसी देश की रक्षा का कारण बन उस देश की समृद्धि का कारण भी बन सकता है। पहाड़, नदी, समुद्र, शत्रु को आसानी से निकट नहीं आने देते। कोई समय था जब नील नदी के कारण मिस्र ने महान् सभ्यता को जन्म दिया था, उसके खेतों को दरिया सींचता था, हरे-हरे खेत लह-लहाते थे, और आर्थिक समस्या से मुक्त होकर वहाँ के निवासी कला और साहित्य में जीवन बिताते थे। वहाँ का 'भौगोलिक-पर्यावरण' मिस्र की सभ्यता की जंगली जातियों अथवा अन्य आक्रान्ताओं से रक्षा करता रहा । वहाँ पहुँच पाना ही कठिन था। धीरे-धीरे जब यातायात के साधन बढ़े, तब वहाँ आक्रान्ताओं ने आक्रमण कर उस सभ्यता को नष्ट कर दिया।

[घ] 'राजनैतिक-सुव्यवस्था' पर 'भौगोलिक-प्रभाव' (POLITICAL ORDER AND GEOGRAPHICAL DETERMINISM)

जो देश दुर्गम हो, और जहाँ मनुष्य का पेट भरने के लिए प्रकृति का कोई भंडारा न खुला हो, वहाँ शासन की सुव्यवस्था नहीं रहती । इसका कारण है। क्योंकि देश दुर्गम है, इसलिए वहाँ कोई आक्रान्ता तो आसानी से पहुँच नहीं सकता,

इसी लिए वहाँ के रहने वालों को अपनी सुरक्षा की बहुत बड़ी आवश्यकता भी नहीं रहती--वे नहीं चाहते वहाँ पुलिस हो, फ़ौज हो। इसी प्रकार जहाँ प्रकृति का भंडारा नहीं खुला, कोई काम नहीं, कोई पैदावार नहीं, उनका ग़रीब होना भी स्वाभाविक है। ग़रीबी में भी कोई नहीं चाहता कि उस पर कोई शासन करे, वह तो यही चाहता है कि उसे मौका मिले, और वह किसी को लूटे। इसके विपरीत जहाँ 'भौगोलिक-पर्यावरण' के कारण शत्रु आक्रमण कर सकता है, वहाँ के लोग चाहते हैं कि उनकी रक्षा के लिए पुलिस हो, फ़ौज भी हो जो उनकी रक्षा कर सके। जहाँ प्रकृति का भंडारा खुला है, मिलें हैं, कारख़ाने हैं, व्यापार है, वहाँ के लोग सम्पन्न होते हैं, वे चाहते हैं कि उनकी सम्पत्ति को कोई छीन न ले, इसलिए वे राजनैतिक सुव्यवस्था में पूरा सहयोग देते हैं। पहाड़ों के रहने वाले दुर्गमता तथा निर्धनता के कारण शासन की सुव्यवस्था में हाथ नहीं बँटाते, मैदानों के रहने वाले शत्रु के आने-जाने की सुगमता के कारण उससे सुरक्षा तथा अपने धन-धान्य को बचाने के लिए सुशासन में पूरा सहयोग देते हैं।

[ङ] 'शासन के प्रकार' पर 'भौगोलिक-प्रभाव'
(FORM OF GOVERNMENT AND GEOGRAPHICAL DETERMINISM)

मनुष्य की कमाई के दो मुख्य साधन हैं--खेती तथा व्यापार। जब लोगों के पास काफ़ी ज़मीन थी, तब वे खेती करते थे, कृषिकार कहलाते थे, भूमि के स्वामी थे। इन भूमि के स्वामियों में कुछ लोगों के पास ज्यादा भूमि थी, कुछ के पास कम थी। जब तक भूमि बिना मूल्य के मिलती थी तब तक तो ढर्रा ठीकचलता रहा, परन्तु जब ज़मीन कम होने लगी, तब उसका मूल्य पड़ने लगा। जिनके पास पहले से ही ज्यादा ज़मीन थी, वे अधिक रुपया देकर और ज़मीन खरीदने लगे, जिनके पास थोड़ी थी, और वह भी मुफ़्त में आयी थी, वे उसका बढ़ता दाम देख कर उसे बेचने लगे। जिनके पास वे ज़मीन बेचते थे, क्योंकि वे सारी ज़मीन को इकले नहीं बो सकते थे, इसलिए ज़मीन बेचने वाले ही ख़रीदारों के पास मजदूरी पर खेती करने के लिए काम करने लगे। इस प्रकार ज़मीदारों तथा मजदूरों का एक वर्ग पैदा हो गया। कभी-कभी तो यह ज़मींदारी-प्रथा उक्त प्रकार विकसित होती है, किन्तु कभी-कभी कुछ हमलावर आकर दूसरे मुल्क के लोगों से ज़मीनें छीन कर उन पर कब्ज़ा कर लेते हैं। इन दोनों तरीकों में से किसी तरह भी जो ज़मींदार बनते हैं, उनकी एक अलग श्रेणी बन जाती है, यह 'कुलीन-श्रेणी' (Aristocracy) कहलाती है; दूसरों को कृषक, मजदूर, किरायेदार तथा हीन-श्रेणी के लोग कहा जाता है। कुलीन-श्रेणी का आधार क्योंकि ज़मीन है, अतः वह बड़ी कठिनाई से टूटती है, क्योंकि धन-सम्पत्ति तो जल्दी नष्ट हो सकती है, किन्तु ज़मीन पुश्त-दर-पुश्त चलती चली जाती है।

इस कुलीन-श्रेणी की प्रथा को अगर कोई चीज़ तोड़ती है, तो वह व्यापार है। जो लोग खेती से आजीविका नहीं चलाते, वे ऐसे 'भौगोलिक-पर्यावरणों' में चले जाते हैं जहाँ वणिज-व्यापार होता है। वहाँ वे क्या देखते हैं? एक

मजदूर देखते-देखते लखपति बन जाता है, लखपति देखते-देखते मजदूरी करने लगता है। व्यापार में लच्छमी उछल-उछल कर उधर-की-इधर और इधर-की-उधर छलाँगें भरती है। यह देखकर मनुष्य सोचने लगता है, कौन 'कुलीन', और कौन 'अकुलीन', कौन 'बड़ा', और कौन 'छोटा'। यही विचार मनुष्य को समानता के भाव को पैदा कर देता है, और 'कुलीन-श्रेणी के राज्य' (Aristocratic form of Government) के स्थान में 'प्रजा-तंत्र-शासन' (Democratic form of Government) की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त हम पहले देख आये हैं कि जहाँ 'भौगोलिक-पर्यावरण' अनुकूल होता है, वहीं मनुष्यों की घनी आबादी होती है, जहाँ 'भौगोलिक-पर्यावरण' अनुकूल होता है, वहीं व्यापार पनपता है। घनी आबादी में जब व्यापारी लोग अधिक होते हैं, तब उन्हें हर समय अपने विचारों का विनिमय करने की सुविधा रहती है। व्यापारी जब ऊँच-नीच का भेद मिटता देखता है, तब वह इस विचार को सारी घनी आबादी में फैला देता है, इससे भी 'भौगोलिक-पर्यावरण' के कारण प्रजा-तंत्र के विचार का उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

[च] 'रुचि' तथा 'सामाजिक-प्रथाओं' पर 'भौगोलिक-प्रभाव'
(SOCIAL CUSTOMS AND GEOGRAPHICAL DETERMINISM)

जहाँ की जल-वायु गर्म होगी, वहाँ खुले वस्त्र धारण किये जायेंगे, धोती, शाल, दुपट्टा वहीं के वस्त्र हैं; जहाँ सर्दी अधिक होगी, वहाँ कसे हुए वस्त्र पहने जायेंगे, कोट, पतलून, सर्द देशों के वस्त्र हैं। गर्म देशों में लोग चौड़े-चौड़े सेहन रखेंगे ताकि बाहर सो सकें, सर्द देशों में कपड़ों की तरह कमरे भी बन्द-से बनेंगे। इन्हीं सबसे वहाँ के लोगों की रुचियाँ बन जायेंगी। धोती पहनने वालों को कोट-पतलून से रुचि नहीं होती, कोट-पतलून वालों को धोती से रुचि नहीं होती; सेहन रखने वालों को बन्द कमरे पसन्द नहीं, बन्द कमरे वालों को बड़े-बड़े सेहन पसन्द नहीं। रुचि के अनुसार सामाजिक-प्रथाओं पर भी जल-वायु का प्रभाव है। गर्म देशों में फ़ुटबाल खेलने की प्रथा नहीं, नकल में कुछ कर बैठना दूसरी बात है, प्रथा होना दूसरी बात है। गर्मी हो, और फ़ुटबाल खेला जाय, तो परेशानी हो जाय। गर्म देशों में दोपहर को सोने की प्रथा है, सर्द देशों में दिन को कोई नहीं सोता। ये सब बातें देश के 'भौगोलिक-पर्यावरण' के ऊपर निर्भर रहती हैं।

[छ] भोजन, वस्त्र, निवास-स्थान पर 'भौगोलिक-प्रभाव'
(FOOD, CLOTHING, HOUSES AND GEOGRAPHICAL DETERMINISM)

(i) भोजन—'भौगोलिक-पर्यावरण' का मनुष्य के भोजन पर बहुत बड़ा प्रभाव है। पहाड़ों में कंकड़-पत्थर के कारण अनाज नहीं पैदा होता, इसलिए वहाँ वृक्षों के फल और शिकार करके मांस खाया जाता है, समुद्र के किनारे रहने वालों को मछली सुलभ होती है, इसलिए वे मछली खाते हैं, पंजाब में गेहूँ, राजस्थान में ज्वार-बाजरा होता है, इसलिए वहाँ वही खाया जाता है, पीछे चलकर यही बातें

धर्म में शामिल कर ली जाती हैं, परन्तु क्या भोजन खाना क्या नहीं खाना--इसका आधार भौगोलिक है।

वर्त्तमान-परिस्थितियों में यह अवस्था बदलती जा रही है। पहले यातायात के साधन नहीं थे, एक जगह की पैदावार दूसरी जगह नहीं जा सकती थी। आज तो हर वस्तु हर जगह जा सकती है, इसलिए भोजन का भौगोलिक-पर्यावरण से सम्बन्ध टूटता जा रहा है। आज जो वस्तु जहाँ नहीं होती वह दूसरी जगह से लेकर पहुँचा दी जाती है। काफ़ी और चाय अमरीका तथा इंग्लैण्ड में नहीं होती, परन्तु इनके बिना इन देशों के लोग आज नहीं रह सकते।

(ii) वस्त्र--वस्त्रों, वेश-भूषा तथा पहनावे पर भी 'भौगोलिक-पर्यावरण' का प्रभाव पड़ता है। सर्द देशों में चुस्त कपड़े, गर्म देशों में ढीले-ढाले वस्त्र पहन जाते हैं। जाड़ों में ऊनी और गर्मियों में सूती कपड़े 'भौगोलिक-पर्यावरण' के कारण ही पहने जाते हैं। समुद्र के किनारे रहने वालों को हर समय पसीना आता रहता है, शरीर चिपचिपाता रहता है, इसलिए वहाँ के लोग नाम-मात्र को कपड़ा पहनते हैं। कहीं-कहीं एक लंगोटी ही पहनी जाती है। कोट-पैण्ट, धोती-खुला पायजामा, सलवार-साड़ी--इन सब का उद्भव पर्यावरण है।

परन्तु आज लोग फ़ैशन के लिए भी वेश-भूषा को अदलते-बदलते रहते हैं। गर्मियों में सटी हुई अचकन और तंग पायजामा लोग फ़ैशन के कारण ही पहनते हैं।

(iii) मकान--मकानों का निर्माण भी सर्दी-गर्मी-वर्षा को देखकर किया जाता है। जहाँ सर्दी बहुत हो वहाँ खिड़कियाँ इतनी नहीं होतीं जितनी गर्म देशों में होती हैं। गर्म देशों में मकान में सेहन जरूर रखा जाता है, क्योंकि रात को अन्दर सोना कठिन होता है। वर्षा-प्रधान देशों में छतें झुकी हुई होती हैं, ताकि छत में पानी न ठहर सके, गर्म देशों में गर्मी को रोकने के लिए या तो बंगलों पर भी फूस का छप्पर डाला जाता है, या दीवारें बहुत ऊँची बनाई जाती हैं। देश-देश की ऋतुओं को ध्यान में रख कर मकान बनाये जाते हैं।

परन्तु मकानों में भी अब भौगालिक-पर्यावरण उतना प्रभावशाली नहीं रहा। अब तो ठंडे मकानों को गर्म और गर्म मकानों को नवीन विधियों से ठंडा किया जा सकता है, और भौगोलिक-दृष्टि से मकान बनाने के स्थान में कलात्मक-दृष्टि से भवनों का निर्माण होने लगा है। यह सब-कुछ होते हुए भी भौगोलिक-दृष्टि का अब भी मकानों के बनाने में अपना स्थान अवश्य है।

[ज] पहाड़, मैदान, रेगिस्तान का 'भौगोलिक-प्रभाव' (HILLS, PLAINS DESERTS AND GEOGRAPHICAL DETERMINISM)

'भौगोलिक-वाद' का कथन है कि पहाड़, मैदान और रेगिस्तान का जन-संख्या, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक जीवन तथा यातायात के साधनों पर प्रभाव पड़ता है। वह कैसे ?

(i) जन-संख्या पर पहाड़-मैदान-रेगिस्तान का प्रभाव--पहाड़ों की भूमि ऊबड़-खाबड़ होती है, अतः वहाँ अधिक जन-संख्या नहीं रह सकती। मैदान में

रहने योग्य भूमि अधिक होती है, अतः वहाँ की आबादी घनी होती है। बड़े-बड़े शहर मैदानों में ही होते हैं। रेगिस्तान रहने योग्य नहीं होते इसलिए वहाँ आबादी बहुत कम होती है। पहाड़ों पर जब बर्फ़ पड़ती है, तब भी वहाँ बहुत कम लोग रह जाते हैं। भूटान में जन-संख्या का घनत्व १२ व्यक्ति तथा पश्चिमी बंगाल के मैदान में ८०८ व्यक्ति प्रति वर्गमील है। विस्तृत हिमालय के प्रदेश में भारत की जन-संख्या का केवल ४.८ प्रतिशत तथा सम-तल उत्तरी मैदान में ३९.१ प्रतिशत बसा हुआ है।

(ii) आर्थिक-जीवन पर पहाड़-मैदान-रेगिस्तान का प्रभाव—पहाड़ी इलाकों में भूमि सम-तल नहीं होती, मट्टी पथरीली होती है, वर्षा से हर साल मट्टी बह जाती है, इसलिए पहाड़ों में खेती करना कठिन है। खेती न हो सकने के साथ-साथ बड़े-बड़े उद्योग-धंधे, कल-कारखाने भी वहाँ नहीं लग सकते। इस सब का परिणाम यह होता है कि पहाड़ों में घरेलू उद्योग-धंधे तो पनप जाते हैं, बड़े नहीं। मैदानों में खेती भी होती है, बड़े-बड़े कल-कारखाने भी लगते हैं, जो-कुछ पैदा होता है, वह आबादी घनी होने के कारण खप भी जाता है। यही कारण है कि पहाड़ों में ग़रीबी बहुत पायी जाती है, मैदानों के लोग सुखी तथा समृद्ध होते हैं। रेगिस्तान में जल के अभाव से न खेती-बाड़ी हो सकती है, न और कुछ हो सकता है। इनका जीवन अत्यन्त कठोर तथा दरिद्रतापूर्ण होता है।

(iii) सामाजिक-जीवन पर पहाड़-मैदान-रेगिस्तान का प्रभाव—पहाड़ी प्रदेशों में जन-संख्या अधिक नहीं रह सकती इसलिए जन-संख्या कम करने की सामाजिक-प्रथाएँ वहाँ पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ, पहाड़ों में बहुपति-प्रथा पायी जाती है। इस प्रथा से जन-संख्या का बढ़ना सम्भव ही नहीं। मैदानों में जन-संख्या अधिक खप सकती है इसलिए वहाँ सामाजिक-प्रथाएँ जन-संख्या को बढ़ाने वाली है। उदाहरणार्थ, बहुपत्नी-प्रथा मैदानों की है, इससे जन-संख्या के बढ़ने की सम्भावना रहती है। रेगिस्तान में रहने वालों का भी सामाजिक-जीवन मैदान में रहने वालों के जीवन की तरह उन्नत नहीं होता।

(iv) राजनैतिक-जीवन पर पहाड़-मैदान-रेगिस्तान का प्रभाव—पहाड़ों में आबादी बिखरी होती है, लोगों को आपस में मिलने की सुविधाएँ कम होती हैं, इसलिए उनमें संगठन नहीं होता, संगठन न होने से उनमें राजनैतिक चेतना का भी अभाव होता है; मैदानों में आबादी घनी होती है, यातायात के साधन बहुत होते हैं, लोग आसानी से मिल-जुल सकते हैं, वे अधिकारों के लिए लड़ते हैं, उनमें राजनैतिक चेतना प्रबल होती है; रेगिस्तानों में भी आबादी छितरी होने, यातायात के साधन न होने तथा आजीविकोपार्जन के लिए संघर्ष में लगे रहने के कारण लोगों को राजनैतिक बातों के लिए न फ़ुर्सत होती है, न इसके लिए उन्हें सुविधा होती है।

(v) धार्मिक-जीवन पर पहाड़-मैदान-रेगिस्तान का प्रभाव—'भौगोलिक-वाद' का कथन है कि पर्यावरण का धार्मिक-कल्पनाओं पर बड़ा प्रभाव है।

उदाहरणार्थ, गर्म रेगिस्तान के इस्लाम के स्वर्ग में ठंडे पानी के झरने बहते हैं, फल-फूल लदे हुए हैं; नरक में आग की लपटें उठती हैं। भारत के कृषि-प्रधान देश में, जहाँ मैदान पड़े हुए हैं, देवताओं का राजा इन्द्र है जो वर्षा को रोकने वाले वृत्र से लड़ता है, उसके टुकड़े-टुकड़े करके वर्षा लाता है। इसी दृष्टि से भारत में मैदानों में बहने वाली गंगा-यमुना की पूजा होती है। पहाड़ी प्रदेशों में अपने ही ढंग के विधि-विधान हैं, अपने ही ढंग का धार्मिक-जीवन है।

(vi) यातायात के साधनों पर पहाड़-मैदान-रेगिस्तान का प्रभाव—पहाड़ों पर रेल-मोटर नहीं चल सकतीं, चलती हैं तो बहुत कम। वहाँ का भौगोलिक-पर्यावरण ही इन सुविधाओं को नहीं होने देता। मैदानों में रेल-मोटर जगह-जगह दौड़ती फिरती हैं, आवागमन के साधनों की सुविधा के कारण ये साधन आप-से-आप मैदानों में बढ़ते हैं। रेगिस्तानों में ऊँट के सिवाय किसी प्रकार की सवारी का मिलना ही दुर्लभ है, रेल-मोटर चले तो वहीं धँस जाय। जहाँ यातायात के साधन हो सकते हैं, वहीं सभ्यता का विकास हो पाता है, जहाँ लोगों को मिलने-जुलने की सुविधा नहीं, वहाँ यह विकास कैसे हो ?

[झ] नदियों का सभ्यता के विकास पर प्रभाव
(RIVERS AND GEOGRAPHICAL DETERMINISM)

नदियों का मानव-सभ्यता के विकास में महत्त्वपूर्ण योग-दान है। शुरू-शुरू में कुँए नहीं खुदे थे, सड़कें नहीं बनी थीं, इन्हीं से मनुष्य जल पीता था, खेतों को सींचता था, इन्हीं में नौकाओं के द्वारा दूर-दूर प्रदेशों में आता-जाता था। यही कारण है कि आदि-काल के बड़े-बड़े नगर नदियों के किनारे बने। मिस्र की सभ्यता का विकास नील नदी के किनारे हुआ, मैसोपोटामिया में अनेक सभ्यताओं का उदय हुआ—सुमेरियन, अक्कद, बैबीलोनियन, असीरियन—इन सब का विकास इसलिए हुआ क्योंकि वहाँ दजला और फ़रात नदियाँ थीं, इनके किनारे बस कर मनुष्य आराम से जीवन बिता सकता था। प्राचीन-भारत की सभ्यता के केन्द्र गंगा, सरस्वती, यमुना थीं; मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता सिन्धु नदी के कारण सिन्धु-सभ्यता कहलाती थी; आज भी पंजाब पाँच नदियों के कारण पंजाब कहलाता है; गंगा के किनारे हरिद्वार, इलाहाबाद, बनारस, कलकत्ता बसे हुए हैं; मध्य-भारत में सभ्यता का केन्द्र नर्मदा है; दक्षिण-भारत में सभ्यता का केन्द्र कावेरी रहा है।

[ञ] 'सदाचार-सम्बन्धी-विचारों' पर 'भौगोलिक-प्रभाव'
(ETHICS AND GEOGRAPHICAL DETERMINISM)

हम पहले देख आये हैं कि 'भौगोलिक-पर्यावरण' का प्रभाव शासन के प्रकार के ऊपर पड़ता है। कृषि-प्रधान इलाकों में 'कुलीन-श्रेणी' (Aristocracy) पैदा हो जाती है, व्यापार-प्रधान इलाकों में 'प्रजा-तंत्र-भावना' (Spirit of Democracy) पैदा हो जाती है। कुलीन-श्रेणी के लोगों में अपने मालिक के हित के लिए साथ के दूसरे कुलीन को धोखा देना एक गुण समझा जाता है, प्रजातंत्र

में किसी विदेशी व्यापारी को भी धोखा देना पाप समझा जाता है। अमरीका में किसी समय दास-प्रथा थी। इस प्रथा को आधार बनाकर उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका में घनघोर संग्राम हुआ। उत्तरी-अमरीका दास-प्रथा को बुरा समझता था इसलिए इसे हटाना चाहता था, दक्षिणी-अमरीका इसे परमात्मा की देन समझता था इसलिए इसके लिए जान लड़ा रहा था। ऐसी स्थिति क्यों उत्पन्न हुई ? इसका भौगोलिक कारण यही था कि उत्तरी-अमरीका में इस प्रकार का व्यापार था जिसके लिए दासों की जरूरत नहीं थी, दक्षिणी-अमरीका को अपनी खेती आदि के लिए सस्ते और मुफ़्त के मजदूरों की जरूरत थी, इसलिए वह दास-प्रथा को बुरा नहीं समझता था। गर्म मुल्कों में जहाँ बिना मेहनत किये सब-कुछ मिल जाता है, मितव्ययिता, परिश्रम आदि का महत्त्व उतना नहीं समझा जाता जितना सर्द मुल्कों में समझा जाता है। सर्द मुल्कों की मितव्ययिता गर्म मुल्क वालों के लिए कंजूसी है, सर्द मुल्कवालों का आजीविका के लिए हाथ-पैर मारना गर्म मुल्क वालों के लिए लालच है। पाप-पुण्य, सदाचार-दुराचार के विचार 'भौगोलिक-पर्यावरण' के परिणाम हैं।

[ट] 'धर्म' तथा 'धार्मिक-कथानकों' पर 'भौगोलिक-प्रभाव'
(RELIGIONS, MYTHOLOGIES AND GEOGRAPHICAL DETERMINISM)

(i) जिस प्रकार के 'भौगोलिक-पर्यावरण' में लोग रहते हैं, उसी प्रकार का देवी-देवताओं का विचार वे खड़ा कर लेते हैं। खुले मैदान में रहने वाले, जिन्हें सूर्य और चन्द्र का सदा दर्शन होता है, सूर्य और चन्द्र को देवता मानने लगते हैं; पहाड़ के रहने वाले ऐसे देवता की कल्पना करते हैं जिसका पर्वतों में वास है, जो बादलों की सवारी करता है, बिजली के रूप में दहाड़ता है; समुद्र के किनारे रहने वाले समुद्र को, और नदी के किनारे रहने वाले नदी को देवता मान कर उनकी पूजा करने लगते हैं। गर्म देशों के रहने वाले धधकती हुई आग के नरक की कल्पना करते हैं, ठंडे देशों के रहने वाले झंझावात और ठंडी हवाओं वाले नरक की कल्पना करते हैं। इन सब धार्मिक तथा कथानकों के विचारों में 'भौगोलिक-पर्यावरण' को ही कारण कहा जा सकता है।

(ii) 'भौगोलिक-पर्यावरण' के कारण जिस प्रकार का व्यापार लोग करने लगते हैं, उसी प्रकार के देवी-देवताओं की कल्पना कर लेते हैं। ऋतु के देवताओं की पूजा इसी से चली है। कोई गेहूँ को पूजता है, कोई नारियल को पूजता है। कृषि-सम्बन्धी देवताओं की तरह व्यापार के देवता भी हैं, और उनकी भी पूजा होती है। प्रायः समझा जाता है कि ये देवता कृषि तथा व्यापार का नियंत्रण करते हैं, अतः इनको संतुष्ट रखने से कृषि तथा व्यापार में वृद्धि होगी।

(iii) 'भौगोलिक-पर्यावरण' शासन-व्यवस्था के भिन्न-भिन्न प्रकारों को जन्म देता है—यह हम देख आये हैं। कहीं 'स्वेच्छाचारी-शासन' (Despotism) हुआ, तो कहीं 'पितृ-शासन' (Patriarchal government) हुआ—ये-सब 'भौगोलिक-पर्यावरण' से ही होते हैं। जैसा शासन होगा वैसे देवी-देवताओं की

कल्पना होने लगती है। 'स्वेच्छाचारी-शासन' में ऐसे ही देवता की कल्पना होती है, जो स्वेच्छाचारी शासन की तरह स्वेच्छाचारी है, खून का प्यासा है। कोई उस पर बकरा चढ़ाता है, कोई अपनी सन्तान चढ़ाता है, कोई अपने को ही चढ़ा देता है। 'भौगोलिक-पर्यावरण' से जहाँ 'पितृ-शासन' चल पड़ता है, वहाँ देवी-देवता को माता-पिता के समान समझा जाने लगता है, लोग उनसे याचना करते हैं, उनकी मूर्तियाँ बनाते हैं, उन के सामने रोते-धोते हैं, पुत्र की तरह देवी-देवता से अपनी मनोकामना पूर्ण करने की याचना करते हैं, उसे अपना माता-पिता मानते हैं।

[ठ] 'भावना तथा मानसिक-प्रवृत्ति' पर 'भौगोलिक-प्रभाव'
(MOODS, TENDENCIES AND GEOGRAPHICAL DETERMINISM)

मौसम का मन पर कितना भारी असर है, इसे कौन नहीं जानता। कड़कड़ाती धूप में जब बादल उमड़-उमड़ कर आने लगते हैं, तब मन का मयूर नाच उठता है। दिसम्बर की सर्दी में अगर साथ बादल भी आ घिरें तो अंगीठी के सामने से उठने को जी नहीं चाहता, उसी समय अगर बादल फट जाँय, सूर्य चमक उठे, तो मन उछलने को करने लगता है। ऋतु का मनुष्य की मानसिक-प्रवृत्तियों पर भारी असर है। शुरू-शुरू में खुश्क और गर्म जगह पर, ऐसी जगह पर जहाँ प्रकृति से लड़ने-भिड़ने में ही मनुष्य की सारी शक्ति व्यय नहीं हो जाती थी, प्राथमिक-सभ्यता का जन्म हुआ, क्योंकि वहाँ 'भौगोलिक-पर्यावरण' के अनुकूल होने के कारण मनुष्य खाने-पीने की बात को छोड़ कर कोई ऊँची बातें भी सोच सकता था। उसके बाद मनुष्य की प्रवृत्ति गर्म से सर्द मुल्क में जाकर रहने की हुई, क्योंकि वहाँ की जल-वायु स्वास्थ्य के लिए हितकर थी। पहले-पहल सर्द जल-वायु में भौतिक-समस्याओं से ही मनुष्य इतना उलझा रहता था कि ऊँची बातों की तरफ़ उसका ध्यान ही नहीं जा सकता था, इसलिए ऊँची सभ्यताओं का विकास वहाँ पहले नहीं हुआ। युरोप को सभ्य हुए अभी थोड़ी ही शताब्दियाँ बीती हैं, जब कि ईजिप्ट, बैबीलोन, भारत, चीन आदि गर्म देशों की संस्कृतियाँ बहुत पुरानी हैं। मानसिक-विकास के लिए सबसे अच्छी जल-वायु वहाँ की समझी जाती है, जहाँ उतराव-चढ़ाव हो, एक-सी ही मौसम न हो। जैसे दिन के पीछे रात आती है, दिन को हम परिश्रम करते हैं, रात को सोकर फिर तरो-ताजा हो जाते हैं, इस प्रकार जहाँ सर्दी-गर्मी का चक्र चले, वहाँ मनुष्य मेहनत करता है, मेहनत करने के बाद आराम से फिर मुस्तैद हो जाता है। ऐसी जल-वायु में मन का बहुत ऊँचा उड़ान होता है। मन के ऊपर मौसम का असर क्या होता है, इस विषय का अध्ययन भिन्न-भिन्न तरह से हो रहा है। अपराधों के विषय में ऋतु को ध्यान में रखते हुए किये गए निरीक्षणों से पता चलता है कि गर्मी के दिनों में मार-काट, तथा सर्दी के दिनों में चोरी-डकैती-लूट अधिक होते हैं। दिन के प्रकाश के बजाय रात के अन्धेरे में ज्यादा अपराध होते हैं, यहाँ तक कि आत्मघात जिसका सम्बन्ध बहुत-कुछ व्यक्ति के मन से है, खास-खास मौसम में अधिक पाया गया है। आत्मघात उन दिनों में इतना ज्यादा नहीं होता जिन दिनों सर्दी आदि के कारण लोग बेकार होते हैं, और इस-

लिए जिन दिनों आत्मघात की ज्यादा सम्भावना होनी चाहिए, बल्कि आत्मघात प्राय: वसन्त ऋतु में, या गर्मी में अधिक होते देखे गए हैं।

[ड] 'मानव-समूह' और 'संस्कृति के विस्तार' पर 'भौगोलिक-प्रभाव' (DIFFUSION OF PEOPLE AND GEOGRAPHICAL DETERMINISM)

'मानव-समूह' एक देश से दूसरे देश में चला जाता है। कभी बड़ी संख्या में 'मानव-समूह' का दूसरे देश से 'आव्रजन' (Immigration) होता है, कभी 'निर्व्रजन' (Emigration) होता है। इस प्रकार 'मानव-समूह' की जन-संख्या का कुछ भाग कहीं, और कुछ भाग कहीं जा बसता है। कोई समय था जब अंग्रेज लोग बड़ी संख्या में अमरीका में जाकर बसे थे। कभी-कभी लड़ाई के समय भी एक बड़ी जन-संख्या दूसरे देश में जा बसती है। सिकन्दर ने जब भारत पर आक्रमण किया, तो अनेक यवन यहीं पर बस गये। व्यापार भी मानव-समूह के दूसरे देशों में जाकर बसने का कारण होता है। अनेक भारतीय व्यापार के कारण, बर्मा, सीलोन, मलाया आदि में जा बसे हैं। आव्रजन-निर्व्रजन, युद्ध, व्यापार—इनके कारण जो 'मानव-समूह' एक जगह से दूसरी जगह जा बसते हैं, उसका कारण भी 'भौगोलिक-पर्यावरण' है। जिन रास्तों से वे जाते हैं, वे प्रकृति के बनाये हुए रास्ते हैं। कहीं नदी है तो नौका के द्वारा, कहीं पहाड़ का दर्रा है तो ऊँटों के द्वारा, कहीं बन्दरगाह है तो जहाज के द्वारा यह आना-जाना होता है। लोग इधर-से-उधर और उधर-से-इधर जाते भी क्यों हैं? इसी लिए कि कहीं कोयले की कान निकल आयी, कहीं मट्टी का तेल निकल आया, कहीं सोना, कहीं चाँदी, कहीं लोहा निकला। प्रकृति की इन भौगोलिक देनों का लाभ उठाने के लिए सारा यातायात होता है, और इस प्रकार 'मानव-समूह' एक स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान को आया-जाया करता है।

मनुष्य के साथ मनुष्य की संस्कृति चलती-फिरती रहती है। कभी-कभी मनुष्य नहीं चलता, परन्तु संस्कृति बड़ी लम्बी दौड़ लगाती है। विचारों की गति मनुष्य की गति से तीव्र है, परन्तु क्योंकि पहले-पहल मनुष्य ही एक देश से दूसरे देश में जाता है, विचार मनुष्य के साथ जाते हैं, और मनुष्य 'भौगोलिक-पर्यावरण' के कारण अपना स्थान बदलता रहता है, इसलिए मनुष्य के साथ संस्कृति भी 'भौगोलिक-पर्यावरण' के कारण ही अपना स्थान बदलती रहती है।

२. 'भौगोलिक-वाद कहाँ तक ठीक है ? (Geographical Determinism Examined)

समाज-शास्त्र के लिए भौगोलिक-दृष्टि का महत्त्व यह है कि सामाजिक-परिवर्त्तन यों-ही आप-से-आप नहीं हो जाते, ना ही ये मनुष्य के किये होते हैं। संसार में कार्य-कारण का नियम काम कर रहा है, और इन सामाजिक-परिवर्त्तनों का कारण 'भौगोलिक-पर्यावरण' है। परन्तु प्रश्न होता है कि 'भौगोलिक-पर्यावरणों' से ही सब सामाजिक-परिवर्त्तन होते हैं, इन परिवर्त्तनों का और कोई दूसरा कारण नहीं है—यह दृष्टि-कोण कहाँ तक ठीक है ?

(क) यह अनेक कारणों में से एक को चुन लेता है---'भौगोलिक-वाद' (Geographical school या Geographical determinism) का सबसे बड़ा दोष यह है कि मनुष्य की अनेक परिस्थितियों में से यह केवल एक को चुन लेता है, और इसे सामाजिक-विकास के अनेक कारणों में से एक कारण कहने के बजाय इसी को सब-कुछ कहने लगता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि अनेक परिवर्त्तन माता-पिता के कारण, वंश-परम्परा के कारण, प्राणि-शास्त्र के नियमों (Biological laws) की वजह से होते हैं। फिर, 'भौगोलिक-पर्यावरण' को ही एक-मात्र कारण कैसे मान लिया जाय? भौगोलिक-वादी ला प्ले का कहना है कि किसी परिवार का रूप वह होगा, जो उसकी आर्थिक-स्थिति उसे बना देगी, अमीर फैशन से रहेगा, ग़रीब टूटा-फूटा रहेगा, किन्तु किसी परिवार की आर्थिक-स्थिति वह होगी, जो वहाँ का 'भौगोलिक-पर्यावरण' उसका रूप बना देगा। परन्तु ला प्ले के पास इस बात का क्या उत्तर है कि एक ही 'भौगोलिक-पर्यावरण' में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न आर्थिक-स्थिति, और परिवार का भिन्न-भिन्न रूप क्यों होता है? बकल महोदय का कहना है कि किसी स्थान की सम्पत्ति वहाँ की ज़मीन और जल-वायु के ऊपर निर्भर है। अगर ज़मीन अच्छी होगी, उपजाऊ होगी, जल-वायु स्वास्थ्य-प्रद होगी, तो वहाँ के लोग सम्पत्तिशाली होंगे, बुरी ज़मीन होगी, तो लोग भी फटेहाल रहेंगे। परन्तु बकल के पास इस बात का क्या उत्तर है कि दलदलों को सुखाकर भी मनुष्य कैसे वहाँ बड़े-बड़े भव्य-भवन खड़े कर देता है? हंटिंगटन महोदय अपनी पुस्तक 'Civilization and Climate' में लिखते हैं कि सभ्यता के आगे-आगे कदम बढ़ाने का कारण अनुकूल 'भौगोलिक-पर्यावरण' है, परन्तु हंटिंगटन के पास इस बात का क्या उत्तर है कि जिन देशों में अनुकूल भौगोलिक-पर्यावरण नहीं होता वे दूसरे देशों की सभ्यता को, वहाँ के विचारों को कैसे अपना लेते हैं? जापान की जल-वायु, और युरोप की जल-वायु में ज़मीन-आसमान का भेद है, फिर जापान ने युरोप के विचार कैसे ले लिये? हमें मानना पड़ेगा कि केवल 'भौगोलिक-पर्यावरण' मानव-समाज की प्रगति की दिशा का निर्धारण नहीं करता, समाज के संचालन में कई कारण हैं, जिनमें से, 'भौगोलिक-पर्यावरण' एक कारण है।

(ख) आज भौगोलिक पर्यावरण का पुराने समय का-सा महत्त्व नहीं रहा---हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि 'भौगोलिक-पर्यावरण' पहले-पहल तो अवश्य मनुष्य की प्रगति की दिशा का नियन्त्रण करता है, परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्यता के क्षेत्र में पदार्पण करता जाता है, ज्यों-ज्यों उन्नत होता जाता है, त्यों-त्यों वह पर्यावरण से नियन्त्रित होने के स्थान में पर्यावरण का नियन्त्रण करता जाता है। आज मनुष्य पर्यावरण का दास नहीं है। समय था जब 'भौगोलिक-पर्यावरण' के कारण कई स्थानों का महत्त्व था। शुरू-शुरू में वहाँ बड़े-बड़े शहर बने, सारी सुविधाएँ वहाँ आ जुटीं, परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य ने प्रकृति पर विजय पाना शुरू किया, उन स्थानों का महत्त्व घटने लगा, और जिन स्थानों का 'भौगोलिक-दृष्टि'

से कोई महत्त्व नहीं था, उन्हें मनुष्य ने अपनी प्रतिभा और अध्यवसाय से अपने रहने का केन्द्र बना लिया, प्रकृति की सब सुविधाओं को वहाँ ला जुटाया। शिमला, मसूरी आदि पर्वत इस बात के दृष्टान्त हैं। पहले वहाँ क्या था? 'भौगोलिक-दृष्टि' से उन स्थानों का क्या महत्त्व था? अब वहाँ क्या नहीं है, और कितने लोग हैं जो वहाँ जाने के लिए नहीं तरसते। आने-जाने की सुविधा के कारण दूरी मिट गई है, विज्ञान के आविष्कारों के कारण सब तरह की सामग्री हर जगह जुट सकती है, इसलिए आजकल के युग में 'भौगोलिक-पर्यावरण' का वह महत्त्व नहीं रहा, जो संसार की आदिकालीन सभ्यताओं के समय रहा होगा।

(ग) भौगोलिक-पर्यावरण तथा विकास का कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं है—सब से बड़ा प्रश्न तो यह है कि क्या 'भौगोलिक-पर्यावरण' (Geographical environment) और 'सामाजिक-विकास' (Social evolution) का कारण-कार्य (Cause and Effect) का-सा सम्बन्ध है? 'भौगोलिक-पर्यावरण' और 'सामाजिक-विकास' में किस प्रकार का 'पारस्परिक-सम्बन्ध' (Correlation) है? 'भौगोलिक-वाद' (Geographical school) का तो अभिप्राय ही यह है कि 'भौगोलिक-पर्यावरण' कारण है, और 'सामाजिक-विकास' कार्य है। जिस प्रकार का 'भौगोलिक-पर्यावरण' होगा उसी प्रकार का 'सामाजिक-विकास' होगा, अन्य किसी तरह का हो ही नहीं सकता। ऊपर हमने अभी जो-कुछ कहा उससे स्पष्ट है कि यह स्थापना बहुत बड़ी स्थापना है, और कोई कारण नहीं है जिससे 'भौगोलिक-पर्यावरण' को इतना बड़ा गौरव का स्थान दिया जाय और 'भौगोलिक-वाद' को सत्य माना जाय।

यह ठीक है कि भौगोलिक-पर्यावरण के कारण बड़े-बड़े शहर बसते हैं, राजधानियाँ बनती हैं, भौगोलिक-पर्यावरण के कारण कोई स्थान शत्रु के लिए आक्रमण के लिए आसान होता है, कोई स्थान आक्रमण के लिये दुर्गम होता है, इन स्थानों को देखकर ही किलेबन्दियाँ की जाती हैं, इन सब दृष्टियों से 'भौगोलिक-वाद' ठीक जँचता-सा प्रतीत होता है, परन्तु यह भी ठीक है कि वर्त्तमान-युग ने जो वैज्ञानिक उन्नति कर ली है उसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि मनुष्य ने भौगोलिक-पर्यावरणों पर विजय पाना शुरू कर दिया है और आज मनुष्य भौगोलिक-पर्यावरण का उस अंश तक दास नहीं रहा जिस अंश तक जीवन की यात्रा करने के आदि-काल में वह था।

३. हंटिंगन आदि के भौगोलिक-वाद की आलोचना

हंटिंगटन की विचार-धारा को दो भागों में बाँटा जा सकता है—व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक विकास पर सम-शीतोष्ण जल-वायु का प्रभाव तथा समाज के विकास पर सम-शीतोष्ण जल-वायु का प्रभाव। हम इन दोनों पर विचार करेंगे।

(क) व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक विकास पर सम-शीतोष्ण जल-वायु का प्रभाव—व्यक्ति के शारीरिक विकास पर जल-वायु के प्रभाव का वर्णन

करते हुए हंटिंगटन का कथन है कि (i) तापमान, (ii) आर्द्रता तथा (iii) सर्दी-गर्मी का एक-सा न होना, इनमें परिवर्त्तन होते रहने से शरीर स्वस्थ रहता है। तापमान ४०° से ७०° के बीच का रहना चाहिये, इससे कम-ऊपर हो जाने से सर्दी-गर्मी इतनी बढ़ जाती है कि शरीर स्वस्थ नहीं रह सकता---इसे उसने 'अनुकूलतम तापमान' (Optimum temperature) का नाम दिया है। आर्द्रता के लिए उसन समुद्र के पास के स्थलों को 'अनुकूलतम आर्द्रता' (Optimum humidity) के प्रदेश कहा है। सर्दी-गर्मी में परिवर्त्तन होते रहने चाहिएं, इनमें एक-सा-पन नहीं होना चाहिए---इसे उसने 'अनुकूलतम अस्थिरता' (Optimum variability) कहा है। ये तीनों जहाँ पाये जायँ वहाँ वह 'आदर्श-जल-वायु' (Ideal Climate) कहता है। इससे शरीर का विकास ठीक होता है, उसमें कार्य-शक्ति और कुशलता आती है।

इसमें सन्देह नहीं कि जल-वायु का प्रभाव शारीरिक-विकास पर पड़ता है, परन्तु हंटिंगटन ने जिस जल-वायु को आदर्श कहा है वह हर-एक व्यक्ति के लिए आदर्श हो---यह नहीं कहा जा सकता। अपने देश में ४०° फ़ार्नहाइट से कम सर्दी हो जाय तो बर्दाश्त से बाहर हो जायगी, युरोप के देशों में इसकी कोई पर्वाह नहीं करेगा, साईबेरिया तथा यूराल आदि प्रदेशों में तो जब नदियाँ जम जाती हैं, तब वहाँ काम शुरू होता है।

व्यक्ति के मानसिक-विकास पर जल-वायु के प्रभाव का वर्णन करते हुए हंटिंगटन का कथन है कि अगर तापमान ३९° फ़ार्नहाइट से गिर जाय तो मानसिक-शक्ति तथा कुशलता घट जाती है। कुछ अंश तक यह बात भी ठीक है, परन्तु मानसिक-शक्ति का केवल 'आदर्श जल-वायु' से ही सम्बन्ध हो, इसमें और कोई कारण हो ही नहीं, यह एक-देशीय विचार है।

(ख) समाज के विकास पर सम-शीतोष्ण जल-वायु का प्रभाव---समाज के विकास का वर्णन करते हुए हंटिंगटन का कथन है कि (i) सम-शीतोष्ण जल-वायु व्यक्ति के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य को निश्चित करती है, (ii) व्यक्ति का शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य व्यक्ति की शारीरिक तथा मानसिक कुशलता को निश्चित करता है और इससे समाज का विकास होता है, (iii) जल-वायु में वात-चक्र, तूफ़ान या परिवर्त्तन आता रहता है जिससे जब तक जल-वायु अनुकूल रही, सम-शीतोष्ण रही, तब तक तो सभ्यता का विकास होता रहा, जब वात-चक्र, तूफ़ान या परिवर्त्तन के कारण अनुकूल न रही, सम-शीतोष्ण जल-वायु ने स्थान बदला, तब धीरे-धीरे उस सभ्यता का विनाश हो गया, और जहाँ इस परिवर्त्तन के बाद अनुकल या सम-शीतोष्ण जल-वायु हो गई वहाँ नवीन सभ्यता ने जन्म लिया। हंटिंगटन का कथन है कि सम-शीतोष्ण जल-वायु का एक स्थान पर ही स्थिर न रहना, और स्थान बदलते रहना ही सभ्यता के बनने-बिगड़ने का कारण है और यही बात उसके सिद्धान्त की आधार-भूत बात है। अगर यह सिद्ध हो जाय कि सम-शीतोष्ण जल-वायु स्थान नहीं बदलती रहती, या यह सिद्ध

हो जाय कि सम-शीतोष्ण जल-वायु का समाज के विकास या ह्रास के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, तो हंटिंगटन का सिद्धान्त ठीक नहीं ठहरता। इस प्रकरण में हमें ध्यान रखना चाहिए कि हंटिंगटन का सम-शीतोष्ण जल-वायु से अभिप्राय भूगोल का पारिभाषिक-शब्द 'सम-शीतोष्ण कटिबन्ध' (Temperate Zone) से नहीं है, वह तो स्थिर है; जल-वायु बदलता रहता है, और जहाँ का जल-वायु आज अत्यन्त शीत है, हजारों सालों के बाद वहाँ अत्यन्त उष्णता हो सकती है, जहाँ आज अत्यन्त उष्णता है वहाँ हजारों सालों के बाद अत्यन्त शीत हो सकता है। हंटिंगटन का सम-शीतोष्ण से यही अभिप्राय है, भौगोलिक 'सम-शीतोष्ण कटिबन्ध' से नहीं।

(i) हंटिंगटन का कथन है कि अनुकूल सम-शीतोष्ण जल-वायु सभ्यता को उत्पन्न करती है। सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक टोयनबी का कथन है कि सम नहीं अपितु विषम-पर्यावरण में सभ्यता का विकास होता है क्योंकि विषम-पर्यावरण मनुष्य को चुनौती देता है और उसका मुकाबिला करने के लिए उसमें साहस तथा कार्य-कुशलता उत्पन्न होती है।

(ii) हंटिंगटन ने अनुकूल तथा प्रतिकूल जल-वायु का चित्र बनाकर यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि अनुकूल, सम-शीतोष्ण जल-वायु में सभ्यता का उदय हुआ है, प्रतिकूल, असम-शीतोष्ण जल-वायु में सभ्यता का विनाश हो गया है। इस चित्र में उसने आधे युरोप तथा तीन-चौथाई एशिया को एक-समान जल-वायु का दिखाया है। हंटिंगटन का यह सब प्रयास काल्पनिक है, निराधार है क्योंकि जिन देशों को उसने एक-समान जल-वायु का कहा है उनकी जल-वायु एक-समान नहीं है।

(iii) हंटिंगटन का कथन है कि जल-वायु के परिवर्त्तन के साथ-साथ सभ्यताएँ बदल जाती हैं, परन्तु वार्ड आदि भू-गोल-शास्त्रियों का कथन है कि जल-वायु को बदलने में हज़ारों साल लगते हैं जब कि सभ्यता तो दो-सौ, चार-सौ साल में बदल जाती है। अत्यन्त प्राचीन काल में तो जल-वायु लाखों सालों में बदलता था, सभ्यता इस बीच में दो-तीन पलटे खा लेती थी।

(iv) जल-वायु का सभ्यता पर प्रभाव पड़ता है, परन्तु आजकल के युग में तो सभ्यता के विकास पर अन्य अनेक कारण प्रभाव डाल रहे हैं। उदाहरणार्थ, औद्योगिक-युग के समय जहाँ लोहा, कोयला, पैट्रोल था उन स्थानों का महत्त्व बढ़ गया, भले ही वहाँ की जल-वायु सम-शीतोष्ण नहीं थी। जमशेदपुर जंगल था, वहाँ शहर बस गया।

(v) इसके अतिरिक्त आज के युग में 'भौगोलिक-पर्यावरण' समाज के विकास में उतना सहायक नहीं जितना वर्त्तमान सभ्यता समाज के विकास में सहायक सिद्ध हो रही है। पहले कभी मनुष्य पर्यावरण के आधीन था, आज तो वह जैसा पर्यावरण चाहे बना लेता है। गर्म लू चल रही हो, वह एयर-कण्डीशण्ड कमरे में हिमालय का आनन्द ले सकता है, बर्फ़ का तूफ़ान उड़ रहा हो, वह हीटर लगा कर गर्मी का मज़ा ले सकता है।

उक्त कारणों से यही कहा जा सकता है कि यद्यपि हंटिंगटन, हक्सले आदि के कथन बिलकुल असत्य नहीं हैं, तो भी वे एकान्त सत्य भी नहीं हैं, एक-देशीय सत्य हैं।

प्रश्न

१. 'भौगोलिक-पर्यावरण' (Geographical environment) के दो प्रकार हैं--'नियन्त्रण के आधीन' और 'नियन्त्रण से स्वतंत्र'। इन दोनों की व्याख्या कीजिये।

२. 'भौगोलिक-वाद' (Geographical school या Geographical determinism) क्या है? यह कहाँ तक ठीक है--अपना मत लिखिये।

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. भौगोलिक दशाओं का सामाजिक-जीवन तथा संस्थाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है? भारत के दृष्टान्त दीजिये। (आगरा, १९५०)

२. भौगोलिक-वाद की विवेचना उसके वर्त्तमान विकास को ध्यान में रखते हुए कीजिये। (लखनऊ, १९५२)

३. नदियों और पहाड़ों का सामाजिक-स्वरूपों और प्रक्रियाओं पर तुलनात्मक प्रभाव बतलाइये। (आगरा, १९५३)

४. भोजन की आदतों, कपड़े के नमूनों, धार्मिक व्यवहारों तथा सरकार के स्वरूपों पर पड़ने वाले भौगोलिक-पर्यावरण के प्रभाव की पूरी तरह विवेचना कीजिये। (आगरा, १९५४)

५. सभ्यता के विकास और पतन पर भौगोलिक-कारकों का क्या प्रभाव पड़ता है? (आगरा, १९५५)

६. "जन-संख्या का घनत्व जीविकोपार्जन के साधनों के अनुसार परिवर्त्तित होता रहता है"--इसे समझाइये। (राजपूताना, १९५५)

७. मैदान, पहाड़ और रेगिस्तान मनुष्यों के जीवन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं? (आगरा, १९५६)

८. भौगोलिक-पर्यावरण का क्या अर्थ है? (आगरा, १९५६)

९. भौगोलिक-तत्त्व आपके प्रदेश की सभ्यता के विकास में किस प्रकार (क) सहायक या (ख) बाधक हैं? (आगरा, १९५७)

१०. सामाजिक-जीवन तथा संस्थाओं पर भौगोलिक-प्रभाव को भारतीय दृष्टान्तों से समझाइये। (आगरा, १९५०; राजस्थान १९५८)

७

ग्रामीण तथा नागरिक जीवन में भेद

(CONTRASTS OF RURAL AND URBAN LIFE)

मनष्य की आदिम और सर्वोपरि समस्या भोजन है। जब मनुष्य बिलकुल प्रारम्भिक अवस्था में था, आग जलाना भी नहीं जानता था, तब जानवरों के मांस और वृक्षों के फलों से अपना गुज़र करता था। वह जहाँ चाहता था वहीं नहीं रह सकता था, जहाँ फलदार वृक्ष थे, जहाँ उसके शिकार के जानवर थे, वहीं रह सकता था। शिकार दूर चला जाता, तो वह भी शिकार के साथ-साथ अपनी जगह बदलता रहता था। यह अवस्था 'फिरंदर' (Nomadic) कहलाती है। 'फिरंदर' हालत में थोड़ी ज़मीन से काम नहीं चलता। एक आदमी के हिस्से में २५ वर्ग-मील ज़मीन हो, तब जाकर भर-पेट शिकार और फल मिल सकते हैं। इसके अतिरिक्त सुरक्षा की दृष्टि से वह इकला तो रह ही नहीं सकता था, इसलिए दस-बीस व्यक्तियों का समूह तो साथ रहता ही था। दस आदमियों के एक समूह के लिए कम-से-कम २५० वर्ग-मील ज़मीन का होना ज़रूरी था। परन्तु उस समय ज़मीन का कोई दाम न था. मनुष्य ने खेती करना सीखा नहीं था, इसलिए इतनी ज़मीन हर-एक के हिस्से पड़ जाती थी।

१. गाँव कैसे बनते हैं ?

गाँव क्यों, और कैसे बनते हैं ?

जिस प्रकृति ने मनुष्य के भोजन की समस्या को हल करने के लिए सब सामान उपस्थित किये हैं, उसकी अपनी भी कुछ सीमा है। पहले-पहल तो खाने वाले थोड़े होते हैं, और शिकार के जानवर और फल-मूल बहुत ज्यादा होते हैं। धीरे-धीरे मनुष्यों की संख्या बढ़ने लगती है, और वह अवस्था आ जाती है, जब खाने वाले इतने बढ़ जाते हैं कि जो-कुछ खाद्य-सामग्री है, वह जितने आदमी हैं, उतनों के लिए ही बस होती है। परन्तु जन-संख्या की वृद्धि होती ही चली जाती है, और इतने मनुष्य हो जाते हैं कि खाद्य-सामग्री थोड़ी पड़ जाती है। ऐसी अवस्था में प्रकृति 'ध्वंसात्मक' (Destructive) तथा 'रचनात्मक' (Constructive) दो उपायों से काम लेती है। 'ध्वंसात्मक'-उपाय तो यह है कि लड़ाइयाँ शुरू हो जाती हैं, बहुत-से लोग मारे जाते हैं, बीमारियाँ आ जाती हैं, और जन-संख्या गिर जाती है। 'रचनात्मक'-उपाय यह है कि ऐसे समय में जीवन का एक नवीन प्रकार मनुष्य को सूझ जाता है, और इस नवीन प्रकार में ज़मीन की पहली जितनी ज़रूरत

नहीं रहती, और खाद्य-सामग्री पहले से ज्यादा होने लगती है। जब 'फिरंदर' जीवन बिताते-बिताते मानव-समाज के इतिहास में ऐसा समय आ गया जब खाद्य-सामग्री थोड़ी पड़ गई, तब एक नया विचार उत्पन्न हुआ। वह विचार यह था कि जानवरों को खाने के बजाय उन्हें पाल लिया जाय, उनके दूध-दही-मक्खन तथा फलों से गुज़र किया जाय। इस अवस्था का नाम 'पशु-पालन का जीवन' (Pastoral life) है। 'फिरंदर-जीवन' में अगर एक व्यक्ति को २५ वर्गमील ज़मीन की ज़रूरत थी, तो 'पशु-पालन के जीवन' में बहुत थोड़ी ज़मीन की ज़रूरत रह गई। इस जीवन में मनुष्य का जगह-जगह भटकना कम हो गया। जहाँ चारा देखा वहाँ चले गए, और झोंपड़ी बनाकर रहने लगे। परन्तु इस जीवन में भी एक अवसर ऐसा आया जब ज़मीन फिर थोड़ी पड़ने लगी। इस अवस्था में मनुष्य को एक तीसरा विचार सूझा, और वह 'कृषि' का था। मनुष्य खेती करने लगा। यह तीसरी अवस्था 'कृषि के जीवन' (Agricultural life) की थी। अबतक तो मनुष्य पृथ्वी पर जो स्वयं उग आता था उससे गुज़र करता था, अब वह स्वयं बीज बोकर एक के अनेक बनाने लगा। ज़मीन के साथ बँध जाने के कारण अब उसका जगह-जगह फिरना समाप्त हो गया, वह एक जगह अपनी झोंपड़ी बनाकर बैठ गया। इस प्रकार एक ही जगह पर कृषि से अपना जीवन बिताने के लिए जब लोग बैठ गए, तब संसार के सर्व-प्रथम गाँव की नींव पड़ गई।

गाँव की रचना के दो प्राथमिक-आधार

(क) कुटुम्ब---गाँव में दो बातें ध्यान देने की हैं। पहली तो यह कि इस गाँव की रचना से पहले 'कुटुम्ब' (Family) का निर्माण हो चुका था। प्राचीन कुटुम्ब में जो लोग समूह बनाकर रहते थे, वे आपस में अत्यन्त निकट-भाव से रहते थे। उन्हें इस बात की आवश्यकता थी कि वे दूसरों से अपनी रक्षा करें। अपनी रक्षा की इस प्रेरणा से वे अपने कुटुम्ब को ही अपना सब-कुछ समझते थे। कुटुम्ब के भीतर ही शादी-ब्याह करते-करते कई कुटुम्ब इतने बड़े हो जाते थे कि सारी बिरादरी एक ही कुटुम्ब की होती थी। चीन में तो कई ऐसे कुटुम्ब पाये गए हैं जिनमें सौ-सौ व्यक्ति हैं, और सब इकट्ठे रहते हैं, कई-कई जगह एक ही मकान में रहते हैं, और इस प्रकार रहते-रहते उन्हें कहीं सात और कहीं नौ पुश्तें बीत गई हैं।

(ख) समानाधिकार---संसार के गाँवों की प्राथमिक-रचना के सम्बन्ध में दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि शुरू-शुरू के गाँव ज़मीन को सब की एक-समान मान कर बने थे---ज़मीन सब की साझे की 'सामूहिक-सम्पत्ति' (Collective wealth) थी। कहीं-कहीं ज़मीन सारे समुदाय की साझी सम्पत्ति थी, कहीं-कहीं समुदाय के भीतर जो भिन्न-भिन्न परिवारों के समूह थे, उनमें भूमि को इस प्रकार बाँट दिया गया था जिससे हर-एक परिवार का गुज़र हो सके। हर हालत में, ज़मीन पर किसी व्यक्ति-विशेष का अधिकार न था, यह समूह की धरोहर थी। गाँव में रहने वालों का आपस में ख़ून का रिश्ता, और सब का ज़मीन पर एक-सा

आधिपत्य---इन दो कारणों से गाँव के सब लोगों का जबर्दस्त एका होता था, सब अपने को एक-दूसरे से अभिन्न समझते थे।

गाँव में भू-स्वामी और भूमि-हीन वर्गों की उत्पत्ति

पहले-पहल ज़मीन ज़्यादा थी, आदमी कम थे, इसलिए ज़मीन मुफ़्त बँटती थी। परन्तु जैसा हम पहले कह आये हैं, प्रकृति में एक नियम काम कर रहा है, और वह यह है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों-त्यों जन-संख्या बढ़ती जाती है, और बढ़ते-बढ़ते इतनी हो जाती है कि जो जन-संख्या है उसके लिए भी ज़मीन कम पड़ने लगती है---ऐसे समय में या तो लड़ाइयाँ, बीमारियाँ आकर जन-संख्या कम कर देती हैं, या मनुष्य की सूझ-बूझ से पैदावार का कोई नया उपाय सामने आ जाता है। पहले तो ज़मीन सब को मुफ़्त मिलती थी, क्योंकि जन-संख्या से ज़मीन ज़्यादा थी। परन्तु जब जन-संख्या इतनी बढ़ गई कि सब को मुफ्त न दी जा सकी, तो इसका दाम पड़ने लगा। प्रश्न था ज़मीन को कौन ख़रीदे, कौन न ख़रीदे? ज़मीन के ख़रीदने-न-ख़रीदने में एक नियम काम करता है। वह नियम यह है कि जबतक ज़मीन का दाम इतना हो कि उसे ख़रीदने के लिए जो 'सरमाया' (Investment) लगे वह, और उस सरमाये पर का ब्याज (Interest), उस ज़मीन की पैदावार में से निकल आये, तब तक तो कोई कृषि की उस ज़मीन को ख़रीदेगा, नहीं तो नहीं ख़रीदेगा। जबतक ज़मीन की पैदावार अच्छी रही, तबतक खेती की ज़मीनों का लेना-देना, ख़रीदना-बेचना चलता रहा, परन्तु एक समय ऐसा भी आया जब ज़मीन उतनी पैदावार नहीं दे सकती थी जितनी उस पर लागत लग जाती थी। ऐसी अवस्था में उस ज़मीन को कौन ख़रीदता? जिनके पास पहले से ज़मीनें हैं, उनके लिए तो कोई चारा नहीं, परन्तु जिनके पास नहीं है, वे ऐसी ज़मीन ख़रीद कर एक जंजाल में क्यों फँसें? इस परिस्थिति का क्या परिणाम होता है? इसका परिणाम यह होता है कि जिनके पास ज़मीनें हैं, उनकी एक श्रेणी बन जाती है, और जिनके पास नहीं हैं, उनकी एक दूसरी श्रेणी बन जाती है। जिनके पास ज़मीन नहीं, उन्होंने भी तो अपनी आजीविका चलानी है। वे क्या करें? वे ज़मीन वालों की ज़मीन मजदूरी पर जोतने-बोने लगते हैं, लगान पर लेने लगते हैं और इस प्रकार ज़मींदार (Landlord) और किसान (Peasant)---भू-स्वामी तथा भूमि-हीन, ये दो वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं। भूमि की इस समस्या को तभी हल किया जा सकता है, अगर भूमि-हीन किसानों की आर्थिक-स्थिति इस प्रकार की हो जाय कि वे ज़मीन ख़रीद सकें। परन्तु वे क्यों ख़रीदेंगे? भूमि के क्रय पर जो 'सरमाया' (Investment) लगेगा, और उस सरमाये का जो 'ब्याज' (Interest) देना होगा, उतना ज़मीन की उपज से प्राप्त नहीं हो सकता। हाँ, एक तरीका हो सकता है। वह यह कि ज़मींदारों से ज़मीन ज़बर्दस्ती छीन कर किसानों में बाँट दी जाय, या ज़मींदारों को कुछ मुआविज़ा देकर किसानों को नाममात्र के दाम पर उसका मालिक बना दिया जाय। समाजवादी तथा

कम्यूनिस्ट तो यही कहते हैं कि मुआविज़ा बिना दिये ज़मींदारों से ज़मीन लेकर किसानों को बाँट देनी चाहिए, परन्तु भारत में सब जगह मुआविज़ा देकर ज़मींदारी का उन्मूलन किया गया है। पिछले दो-तीन साल से श्री विनोबा भावे ने भू-दान-यज्ञ का प्रारम्भ किया है, और ज़बर्दस्ती भूमि छीनने के बजाय स्वेच्छा से भूमि सब को बाँटने की प्रेरणा दे रहे हैं। इन सब प्रगतियों का आधार-भूत तत्त्व यह है कि खेती की ज़मीन जैसे सृष्टि के शुरू में सब को मुफ़्त बंटी थी, वैसे अब भी किसी उपाय से मिल जाय, तब तो खेती को एक धंधे की दृष्टि से सोचा जा सकता है, नहीं तो ज़मीन ख़रीद कर यह काम करना नफ़े का नहीं, नुकसान का धंधा है।

'उत्पादन के क्रमिक ह्रास का नियम'
(LAW OF DIMINISHING RETURNS)

भूमि के सम्बन्ध में 'ज़मींदार' और 'किसान'—इन दो वर्गों के उत्पन्न हो जाने पर, या किसान के ही भूमि का मालिक बन जाने पर भी समस्या का हल नहीं होता। कृषि-युग के बाद उद्योग-युग, गाँव-युग के बाद नगर-युग आता ही है, और गाँव के लोग देखने लगते हैं कि उनका गाँव में भूमि के साथ बंधे रहना बेकार है। यह अवस्था यों ही नहीं आती, आर्थिक-स्थिति ही ऐसी उत्पन्न हो जाती है जिससे गाँव के बाद शहर बनना लाज़मी हो जाता है। वह क्यों? अर्थ-शास्त्र का एक नियम है कि जब हम किसी व्यापार में 'सरमाया' (Investment) लगाते हैं, तो शुरू-शुरू में बहुत लाभ होता है। लाभ होते-होते एक ऐसा समय आ जाता है जब, और कितना ही सरमाया क्यों न लगा दिया जाय, जिस अनुपात में पहले लाभ होता था उस अनुपात से लाभ नहीं होता, और फिर धीरे-धीरे कम, और, और अधिक कम—इस तरह कम-कम होने लगता है। अर्थ-शास्त्र के इसी नियम को समाज-शास्त्री माल्थस (Malthus) ने जन-संख्या पर घटाया था। अर्थ-शास्त्र में तो यह नियम 'सरमाये'-'पूँजी' (Investment) पर घटा कर दिखाया जाता है, समाज-शास्त्र में इसी नियम को 'जन-संख्या' (Population) पर घटाते हैं। समाज-शास्त्र के इस नियम को अगर किसान की समस्या पर घटायें, तो हम देखेंगे कि पहले तो गाँवों की जितनी जन-संख्या होती है उससे ज़मीन बहुत ज्यादा होती है। धीरे-धीरे जन-संख्या बढ़ने लगती है। बढ़ी हुई जन-संख्या और ज्यादा खेती करती है, और लोग पहले से भी ज्यादा ख़ुशहाल हो जाते हैं। परन्तु जन-संख्या बड़ी तेजी से बढ़ती चली जाती है। बढ़ते-बढ़ते ऐसी हालत आ जाती है कि जितना सब मिलकर पैदा करते हैं वह सब के खाने भर के लिए काफ़ी होता है—इससे ज्यादा वे पैदा नहीं कर सकते। बढ़ती हुई जन-संख्या अभी और अधिक बढ़ती है, और इतनी बढ़ जाती है कि जैसे अर्थ-शास्त्र में हमने देखा था कि बढ़ी हुई पूँजी पहले-जितना लाभ नहीं उत्पन्न कर सकती, वैसे बढ़ी हुई जन-संख्या ज़मीन से पहले-जितनी पैदावार नहीं कर सकती। गाँव की जन-संख्या भूमि से जितना तत्त्व-माल पहले खींच लेती थी, अब उतना नहीं खेंच पाती। 'जन-संख्या' और 'भूमि

के उत्पादन' का 'पारस्परिक-सम्बन्ध' (Correlation) इस प्रकार का हो जाता है कि अब कितनी भी जन-संख्या क्यों न बढ़े, भूमि का उत्पादन आगे नहीं बढ़ता। पहले जन-संख्या के बढ़ने के साथ उत्पत्ति भी बढ़ती थी। जिस समय वह बिन्दु आ गया कि अब आगे जन-संख्या तो बढ़ी, किन्तु ज़मीन का उत्पादन नहीं बढ़ा, उसी समय जन-संख्या की दृष्टि से 'उत्पादन के क्रमिक-ह्रास का नियम' (Law of diminishing returns) शुरू हो गया। परन्तु जन-संख्या तो अब भी बढ़ती जाती है, ज़मीन ने ज़्यादा पैदावार देना बन्द कर दिया तो क्या, मनुष्य तो संख्या में बढ़ता ही जाता है। ऐसे समय प्रकृति मनुष्य की काँट-छाँट करने लगती है—कुछ बीमारी से, कुछ लड़ाई से, कुछ अकाल से मरने लगते हैं, परन्तु यह तो प्रकृति का उपाय हुआ, मनुष्य इस समस्या का क्या हल करता है? मनुष्य जब 'जन-संख्या का दबाव' (Pressure of population) इस प्रकार बढ़ते देखता है, तब अपने-आप पहली जगह छोड़ कर दूसरी किसी ऐसी जगह की तलाश में निकल पड़ता है जहाँ इस प्रकार का दबाव न हो। पिचकारी में पानी भरा हो, और उसे दबाते चले जाँय, तो वह धार बन कर निकल ही तो पड़ती है। इसी प्रकार गाँवों की जन-संख्या के उस दबाव से, जिसमें ज़मीन सब खाने वालों का पेट नहीं भर सकती, जो धारें बह निकलती हैं, उन्हीं से शहर बनते हैं। मालथस का यह 'उत्पादन के क्रमिक-ह्रास का नियम' (Law of diminishing returns) आज के विकसित वैज्ञानिक-जगत् में, जिसमें वैज्ञानिक उपायों से उत्पादन के पदार्थों की सीमातीत वृद्धि कर ली गई है, काम कर रहा हो, या न कर रहा हो, परन्तु १७९८ में जब उसने इस नियम को जन-संख्या पर घटाया था, तब तो यह नियम काम कर ही रहा था, और तब गाँवों से शहर बनने का कारण यही नियम था। ज़मींदार और किसान को जब धरती की पैदावार दिनोंदिन कम होती नज़र आती है, या जितनी ज़मीन है उसकी अपेक्षा जन-संख्या ज़्यादा बढ़ जाती है, तब उनका ध्यान अपने-आप ज़मीन से हट कर किसी दूसरी दिशा की तरफ़ जाने लगता है। यह दूसरी दिशा उद्योग है, दस्तकारी है, कारीगरी है, बणिज है, व्यापार है। कृषि का तो एक ही धंधा है, व्यापार अनेक हो सकते हैं। एक धंधे में इतने लोग नहीं खप सकते जितने अनेक धंधोंवाले व्यापार में खप सकते हैं। इसके अतिरिक्त जबतक भूमि मनुष्य को बाँधे हुए है, तब तक हमारे विचार का केन्द्र ग्राम बना रहता है, जब मनुष्य का जी भूमि से उखड़ जाता है, तब या तो वही गाँव शहर बनने लगता है, या किसी दूसरे शहर का सूत्र-पात हो जाता है। मनुष्य का मन भूमि से उखड़ इसलिए जाता है क्योंकि वह समाज-शास्त्र के पण्डित की दृष्टि से तो नहीं, परन्तु किसान की सूक्ष्म-दृष्टि से यह देख लेता है कि अब धरती-माता ज़्यादा देर तक उसका कल्याण नहीं कर सकती। इसका यह मतलब नहीं कि धरती चौपट ही हो जाती है, कहने का मतलब इतना ही है कि प्रकृति के नियमों को देख कर किसान को यह दीखने लगता है कि ज़मीन के भरोसे बैठ रहने से कुछ और काम देखना, जिसमें ज़्यादा प्राप्ति हो, अधिक बुद्धिमत्ता की बात है।

२. शहर कैसे बनते हैं ?

शहर क्यों, और कैसे बनते हैं ?

हमने देखा कि गाँव कैसे बनते हैं। छोटे-से समूह अपनी सुरक्षा तथा पेट भरने के विचार से इकट्ठे रहने लगते हैं, उन सब में एक ख़ून होता है, सब की एक साझी जमीन होती है, सब का एक स्वार्थ होता है, बस एक जगह रहने से उनका गाँव बन जाता है। जब जमीन धीरे-धीरे उनमें से कुछ को जरूरियात पूरी करती नहीं दीखती, तो वे पेट भरने के इससे अच्छे साधनों को तलाश करने लगते हैं, और शहरों का सूत्र-पात हो जाता है। जैसे गाँवों का मुख्य धंधा 'कृषि' है, वैसे शहरों का मुख्य धंधा कृषि नहीं, 'उद्योग' है। उद्योग में कृषि की अपेक्षा अधिक प्राप्ति है। कृषि से अन्न पैदा होता है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति कितना अन्न खा सकता है ? परन्तु उद्योग से जरूरियात की वस्तुएँ तो बनती ही हैं, साथ ही ऐशो-आराम की, विलासिता की तथा अन्य उपभोगों की वस्तुएँ भी बनती हैं। इन वस्तुओं पर कोई कितना ख़र्च करेगा इसकी कोई सीमा नहीं है। खाने पर ५० रुपया व्यय करने वाले, उद्योग से पैदा की हुई वस्तुओं पर हजारों और लाखों रुपये व्यय कर देते हैं। कृषि से जो उद्योग की तरफ़ जायगा वह शीघ्र ही मालामाल हो सकता है। परन्तु उद्योग के लिए ऐसे स्थान चाहिएँ जहाँ बिजली हो, रेल हो, जहाँ कारखाने लग सकें। इन चीजों का जहाँ ताँता बिछ जाता है, वहीं उद्योग-धंधे, कल-कारख़ाने बन जाते हैं, इन उद्योग-धंधों से रुपया कमाने वाले सेठ-साहूकार वहाँ जमा हो जाते हैं, इन कारख़ानों में मजदूरी करके आजीविका चलाने वाले मजदूर वहाँ पहुँच जाते हैं, मिलों का माल गाँव-गाँव तक पहुँचाने वाले व्यापारी वहाँ दुकानें खोल देते हैं, इन स्थानों के धनी-मानी लोग अधिक रुपया ख़र्च कर अपने बच्चों को ऊँची शिक्षा दे सकते हैं इसलिए स्कूल-कालिजों की वहाँ भर-मार हो जाती है, रुपया वहाँ पैदा होता है इसलिए उसे बाँट खाने के लिए सब पेशों के लोग वहाँ जमा हो जाते हैं। इसी जमघट को शहर कहते हैं। कृषि का उपाय मनुष्य की पेट भरने की समस्या का हल है, परन्तु अगर सब लोग कृषि पर ही लगे रहें, तो एक समय ऐसा आ जाता है जब जितने लोग खेती पर लगे होते हैं, खेती-बाड़ी उन सब का पेट नहीं भर सकती, इसलिए कुछ लोगों का खेती-बाड़ी से निकलना जरूरी हो जाता है ताकि बचे हुए लोग खेती करते रहें—इसी प्रक्रिया से शहर बन जाते हैं।

गाँवों की आबादी घट क्यों रही है, और शहरों की बढ़ क्यों रही है ?

संसार की जितनी बड़ी-बड़ी सभ्यताएँ हुई हैं सब में गाँवों से शहर जाने की प्रवृत्ति देखी गई है। असल में शहरों के बड़े होने का कारण ही इस प्रवृत्ति का होना है। 'भौगोलिक-पर्यावरणों' (Geographical environments) के कारण पहले लोग नदियों के किनारे बसते हैं, वहाँ खेती-बाड़ी शुरू होती है, फिर अच्छे 'भौगोलिक-पर्यावरण' का यह स्थान सब लोगों का केन्द्र बन जाता है, वहाँ जीविकोपार्जन की सुविधाएँ बन जाती हैं, और यह आर्थिक कारण जन-संख्या को

गाँव से शहरों में खींच कर ले आता है। जब 'कृषि-युग' (Agricultural age) से 'उद्योग-युग' (Industrial [age) आता है, तब उद्योग के केन्द्र वे स्थान बनते हैं जहाँ उस उद्योग की सुविधाएँ हों। तब नदी-नाले का ख़्याल न करके जहाँ लोहा हो वहाँ लोहे के कारख़ाने, जहाँ गन्ना हो वहाँ गन्ने की मिलें, जहाँ कपास हो वहाँ जिनिंग फैक्टरी बन जाती हैं। इन स्थानों में अर्थोपार्जन की सुविधा अधिक रहती है, इसलिए मानव-समूह इसी स्थान पर उमड़ पड़ता है, और ये ही स्थान शहर कहलाने लगते हैं। ऐसा भी समय आता है जब शहर का निर्माण 'भौगोलिक-पर्यावरणों' से बंधा नहीं रहता, जहाँ नदी-नाले नहीं, जहाँ लोहे और कोयले की कानें नहीं, वहाँ भी मनुष्य रेल-ट्रक आदि से माल ले आता है, और अपनी मर्ज़ी की जगह पर कल-कारख़ाने तथा उद्योग-धंधे खड़े कर लेता है, जहाँ चाहे शहर बना लेता है, परन्तु मनुष्यों की आबादी शहर में इसी लिए आती है क्योंकि वहाँ उद्योग-धंधों के कारण धन पैदा करने की सुविधाएँ बढ़ जाती हैं। गांवों की आबादी घटन और शहरों की आबादी बढ़ने के मुख्य-मुख्य कारण निम्न हैं:—

(क) 'अतिरिक्त-सम्पदा पर अधिकार' (Control over surplus resources)—हमने देखा था कि ज़मीन एक हद तक ही पैदावार दे सकती है, उसके बाद मनुष्य-संख्या इतनी बढ़ जाती है कि ज़मीन थोड़ी पड़ जाती है, और जितनी हर-एक के हिस्से आती है, वह भी लगातार उतनी पैदावार नहीं देती जितनी पहले देती थी। 'उत्पादन के क्रमिक-ह्रास का नियम' (Law of diminishing returns) पृथिवी की पैदावार को कम कर देता है। ऐसी हालत में मनुष्य किसी ऐसी 'सम्पदा' (Resources) की तलाश करने लगता है जिसमें जन-संख्या को दृष्टि में रखते हुए उत्पादन अधिक किया जा सके। सबसे पहले तो उसका ध्यान ज़मीन पर ही जाता है। क्या ऐसा उपाय नहीं किया जा सकता जिससे पृथिवी की उत्पादन-शक्ति बढ़ा दी जाय? अबतक उसकी खेती का साधन मनुष्य का श्रम था। मनुष्य में जितनी शक्ति है उतना ही तो काम वह करेगा। ख़ुद जितना वह कर सकता था, करता था, कुछ दूसरों से कराता था। बहुत हुआ, जहाँ दास-प्रथा चल पड़ी, वहाँ कुछ काम मुफ़्त का करा लेता था। भारत में हरिजनों से बेगार ली जाती थी। परन्तु मनुष्य के मनुष्य पर प्रभुत्व से वह इतना उत्पादन नहीं कर सका जितना वह चाहता था। जब से मनुष्य के ऊपर प्रभुत्व के स्थान पर मनुष्य का प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व हो गया है, तब से उत्पादन बहुत बढ़ गया है, एक प्रकार की 'कृषि-क्रांति' (Agricultural revolution) हो गई है। मशीन से मिलने वाले श्रम पर मनुष्य का जब से अधिकार हो गया है तब से 'उत्पादन के क्रमिक-ह्रास के नियम' (Law of diminishing returns) का मुकाबिला करने की मनुष्य में सामर्थ्य आ गई है। उसे यह दीखने लगा है कि पृथिवी के गर्भ में छिपी सम्पदा अपरिमित है, अभी इस 'अतिरिक्त-सम्पदा' (Surplus resources) को तो उसने छुआ तक नहीं। अभी तक जो-कुछ वह पैदा करता था वह कुछ नहीं था, नवीन-साधनों से वह भण्डारों-के-भण्डार भर सकता है। इसका यह मतलब

नहीं कि अब 'उत्पादन के क्रमिक-ह्रास का नियम' लागू नहीं होगा। नियम तो यही काम करेगा, परन्तु जिस बिन्दु पर आकर हम समझते थे कि अब पृथिवी की वह सीमा आ गई है जब कि आगे उत्पादन में उत्तरोत्तर ह्रास होगा, वह सीमा इन वैज्ञानिक साधनों ने बहुत पीछे धकेल दी है। अब यह सम्भव हो गया है कि कुछ थोड़े-से लोग खेती-बाड़ी में लगे रहें, और कृषि के नवीनतम साधनों द्वारा सम्पूर्ण मनुष्य-समाज की अनाज की समस्या को हल करते रहें, और अधिक संख्या उद्योग-धंधों से अपनी आजीविका का निर्वाह करे। यह हिसाब लगाया गया है कि पहले १४ आदमी जितना अनाज पैदा कर सकते थे, अब वैज्ञानिक-साधनों से ४ आदमी उतना अनाज पैदा कर लेते हैं। इंग्लैण्ड में तो ९० प्रतिशत संख्या उद्योग-धंधों में लगी हुई है, कुल १० प्रतिशत ही खेती करते हैं। इस प्रकार के कृषि के नवीन साधनों के निकल आने से अब पाश्चात्य-देशों में तो थोड़ी-सी जन-संख्या गाँवों में रह कर खेती का काम करती है, और अधिक जन-संख्या शहरों में जाकर उद्योग-धंधों में लग कर अर्थोपार्जन करती है। अगर 'कृषि-क्रांति' के नवीन साधन--ट्रैक्टर, रासायनिक खाद, एक साल में एक ही पैदावार (Intensive cultivation) आदि--न होते, तो मानव-समाज एक घोर विपत्ति में पड़ जाता। कृषि से लोग इसलिए भागने लगते क्योंकि ज़मीन की पैदावार जन-संख्या के मुकाबिले में काफ़ी नहीं, और अगर सब शहरों में जमा हो जाते, तो अनाज कौन पैदा करता--आख़िर, बिना खाये, कोयले की कानों और लोहे के कारख़ानों में कोयला और लोहा खाकर तो गुज़र नहीं हो सकता। वर्त्तमान-युग में पाश्चात्य-देशों में लोगों के गाँवों से शहरों में आने का सबसे बड़ा कारण यह है कि वे गाँव छोड़ कर निश्चिन्ताई से शहर आ सकते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि पीछे गाँवों में जो लोग रह जायेंगे, वे वर्त्तमान वैज्ञानिक साधनों से इतना पैदा कर देंगे कि पैसा देकर उन्हें भी खाने-पीने को काफ़ी मिल जायगा।

(ख) 'उद्योगीकरण तथा व्यापारीकरण' (Industrialization and Commercialization)--शहरों की जन-संख्या बढ़ने का दूसरा कारण 'उद्योगीकरण' तथा 'व्यापारीकरण' है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि शहरों के बनने का मुख्य कारण है--'अतिरिक्त-सम्पदा' (Surplus resources) का मिल जाना। 'अतिरिक्त-सम्पदा' सब पृथिवी के गर्भ में छिपी पड़ी है। सब से पहली 'अतिरिक्त-सम्पदा' खेती के रूप में हमारे सामने आयी, उसे थोड़े आदमियों के सुपुर्द कर देने का परिणाम बचे हुए लोगों का शहरों की तरफ़ मुँह करके चल देना हुआ। शहरों में भी तो 'अतिरिक्त-सम्पदा' (Surplus resources) का कोई ख़ज़ाना होना चाहिए। 'अतिरिक्त-सम्पदा' का मतलब है, ऐसी 'सम्पदा' (Resources) जिसमें 'उत्पादन के क्रमिक-ह्रास के नियम' (Law of diminishing returns) की सीमा बहुत देर में काम करने लगे। ऐसी दूसरी 'सम्पदा' लोहे का कारख़ाना, कोयले की कानें, कपड़े की मिलें--और इसी प्रकार के उद्योग-धंधे हैं। इनमें खेती की अपेक्षा पैसा ज़्यादा कमाया जा सकता है,

कच्चा माल मिलता रहे, तो उत्पादन लगातार होता रहता है। इन उद्योग-धंधों की अपनी कुछ समस्याएँ नहीं—ऐसी बात नहीं है। उद्योगों के अपने सिर-दर्द के मामले हैं, परन्तु क्योंकि इनमें विविधता है—सैंकड़ों, हज़ारों तरह के उद्योग हैं, इसलिए हर-एक को कुछ-न-कुछ काम मिल ही जाता है। काम ढूँढने के लिए गाँव के लोग शहर चल पड़ते हैं। विज्ञान के वर्त्तमान साधनों से उद्योगीकरण और अधिक आसान हो गया है। गाँव के लोग ज्यादा दौड़-धूप पसन्द नहीं करते, घर से खेत और खेत से घर आना-जाना ही वे बहुत मानते हैं, परन्तु रेल, बस, ट्राम, मोटर आदि साधनों के निकल आने से यातायात की सुविधा हो गई है, वे दूर-दूर जाने लगे हैं, और शहर खचाखच देहाती मज़दूरों से भरने लगे हैं। 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) का यह परिणाम हुआ है कि इंग्लैण्ड, अमरीका तथा अन्य समुन्नत देशों में शहरों की संख्या और उनका परिमाण दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, भारत में ही अहमदाबाद, बम्बई, कलकत्ता, आदि शहरों में उद्योगों की वृद्धि हो रही है, और जितना उद्योग बढ़ते जा रहे हैं, उतना शहर बढ़ते जा रहे हैं।

'उद्योगीकरण' (Industrialization) तो इसी युग की देन है, परन्तु शहरों की वृद्धि बड़े प्राचीन-काल से होती चली आ रही है। जिस समय बड़े-बड़े उद्योग नहीं चले थे, तब शहरों में छोटे-छोटे उद्योग होते थे, उनके द्वारा रोज़ी कमाने के लिए लोग शहरों में आया-जाया करते थे, परन्तु उद्योगों के अतिरिक्त व्यापार के लिए तो सदा से मानव-समाज शहरों का ही मुँह ताकता रहा है। 'व्यापार' उद्योग से भी पहले की संस्था है, और शहरों के इस 'व्यापारीकरण' (Commercialization) से शहरों की संख्या सदा बढ़ती रही है। जिस शहर का व्यापार मारा गया, वह शहर भी शहर नहीं रहा, गाँव का-सा हो गया। आजकल जो नये-नये व्यापार निकल आये हैं, व्यापार के नये साधन निकल आये हैं, बिना पूँजी के भी सट्टे आदि के व्यापार किये जाते हैं—इन से भी शहरों की वृद्धि होने लगी है।

(ग) 'जीवन का उच्च-स्तर' (Higher standard of living)—उद्योगों से नये-नये पदार्थ सस्ते बनने लगते हैं, क्योंकि एकदम भारी मात्रा में मशीनों के ज़रिये उनकी उत्पत्ति होती है। हर-एक उन्हें ख़रीदना चाहता है। इसके बाद लोगों में शौक पैदा हो जाता है, उनकी नयी-नयी जरूरियात पैदा हो जाती हैं, नयी-नयी फ़रमाइशें होने लगती हैं। यह चीज़ भी चाहिए, वह चीज़ भी चाहिए। अभी तक मट्टी के तेल का दिया जलाता था, पर अब बिजली के लाटू के बिना कैसे काम चलेगा, छोटा-सा ही मकान क्यों न हो, पलंग चाहिए, मेज़ चाहिए, कुर्सी भी चाहिए। फिर रेडियो क्यों न चाहिए? औद्योगिक-युग में धीरे-धीरे मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं, जीवन का स्तर ऊँचा होता जाता है। जीवन का स्तर ऊँचा होने का मतलब है कि उन वस्तुओं की माँग बढ़ गई जिनसे स्तर का ऊँचा होना कहा जाता है। कृषि से जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं,

उनकी माँग ऐसे नहीं बढ़ती जैसे औद्योगिक-पदार्थों की माँग बढ़ती है। खाने को कौन कितना खा जायगा, परन्तु आवश्यकताओं की तो कोई सीमा नहीं। इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सैकड़ों, हजारों, लाखों व्यक्तियों के खपने की शहरों में जगह बनी रहती है, और इस प्रकार जीवन के उच्च-स्तर होते जाने के कारण शहर बढ़ते रहते हैं।

हमने देखा कि जिस प्रक्रिया से गाँव या शहर बनते हैं, इसमें आर्थिक नियम काम कर रहे होते हैं। इन्हीं आर्थिक-नियमों के परिणाम-स्वरूप गाँवों की आबादी घटती, और शहरों की बढ़ती जाती है। गाँव और शहर बनने की यह प्रक्रिया, गाँव की आबादी घटते और शहरों की बढ़ते जाने की प्रक्रिया अपने-आप होती जाती है, आर्थिक-कारण इस सारी प्रक्रिया का संचालन करते हैं। हमारे हाथ में नहीं कि हम अपनी मर्ज़ी से चाहे जहाँ रहें, हमारी आर्थिक-स्थिति हमें कहीं-का-कहीं ले जा कर पटक देती है। पश्चिमी देशों में गाँवों की आबादी शहरों की अपेक्षा कम हो गई है। वहाँ इतना 'उद्योगीकरण' हुआ है कि गाँव ख़ाली होते जा रहे हैं, शहर भरते जा रहे हैं। फ्रांस में ५२ प्रतिशत, और इंग्लैण्ड में ८० प्रतिशत जन-संख्या शहरों में रहती है। भारत में अभी 'उद्योगीकरण' नहीं हुआ। यहाँ ८६ प्रतिशत जन-संख्या गाँवों में रहती है, १४ प्रतिशत शहरों में रहती है। १९२१ की गणना के अनुसार ८८.७ प्रतिशत ग्रामीण तथा ११.३ प्रतिशत शहरों की जन-संख्या थी, १९३१ में ८७.९ प्रतिशत ग्रामीण तथा १२.१ प्रतिशत शहरी जन-संख्या हो गई, १९४१ में ग्रामीण संख्या ८६.१ तथा शहरों की १३.९ और १९५१ में ग्रामीण संख्या ८२.७ तथा शहरों की १७.३ प्रतिशत हो गई। भारत में ग्राम से शहर की तरफ़ गति है, परन्तु अत्यन्त मन्द। इसका यही कारण है कि इस देश का 'उद्योगीकरण' अभी नहीं हुआ।

३. ग्रामीण तथा नागरिक जीवन की तुलना

हमने देखा कि ग्राम क्या है, नगर क्या है, इन दोनों की उत्पत्ति क्यों, और कैसे होती है। हमने यह भी देखा कि मानव-समाज का प्रवाह ग्राम से नगर की तरफ़ बह रहा है। अब हम ग्रामीण तथा नागरिक-जीवन की तुलना करेंगे :—

ग्रामीण-जीवन (RURAL LIFE)	नागरिक-जीवन (URBAN LIFE)
१. ग्रामीण-जीवन में मनुष्य चारों तरफ़ के संसार से तो जुदा रहता है, परन्तु अपने 'परिवार' से अभिन्न तौर पर बँधा रहता है। सब का साथ-साथ खेती करना पारिवारिक बन्धनों को और अधिक दृढ़ बना देता है। परिवार की प्रथाएँ, पुरातन-परम्पराएँ	१. नागरिक-जीवन में मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों से घिरा होता है, अपने परिवार से ही नहीं, समाज से बँधा होता है। नये-नये लोगों से नित मिलता है, नये विचारों को सुनता है, पुरातन से उसका इतना प्रेम नहीं रहता। अपने दायरे की ही बातों को

व्यक्ति के जीवन को कसे रहती हैं। दूसरों से मिलने-जुलने का उसे मौका नहीं होता इसलिए वह अपने परिवार में देखी और सुनी बातों को ही ठीक मानता है। 'बाबा-वाक्यं प्रमाणम्' --उसका शासन करता है। फ़ैशन उसने देखे नहीं होते, पुराने ढंग से रहना ही उसे ठीक लगता है। वह पीठ पीछे बात नहीं करता। छोटी-सी दुनियाँ में तो वह रहता ही है, आमने-सामने बात करता है, लड़ता भी है तो सब के सामन, एकदम सारे गाँव को पता चल जाता है कि किसकी किससे लड़ाई हुई।

दकियानूसी बातें कहने लगता है। फ़ैशन करता है, नये ढंग से रहना चाहता है। सामने बात करने से कतराता है। वह कहता है कि किसी से बेकार बिगाड़ क्यों किया जाय, न जाने कब किसी से क्या काम पड़ जाय, परन्तु पीठ पीछे किसी की आलोचना करने से नहीं चूकता।

२. ग्रामीण-जीवन में क्योंकि परिवार मुख्य होता है, व्यक्ति नहीं, इसलिए इसमें बुज़ुर्गों का शासन होता है---इसे 'पितृ-प्रधान व्यवस्था' (Patriarchal type of family) कहा जा सकता है। परिवार के सब सदस्यों पर बुज़ुर्गों का ही शासन रहता है। परिवार की सत्ता में व्यक्ति की सत्ता विलीन हो जाती है। परिवार का जितना ऊँचा स्थान है, व्यक्ति का भी उतना ही ऊँचा स्थान अपने-आप बन जाता है। इसमें संयुक्त-परिवार-प्रथा रहती है। सम्पत्ति किसी व्यक्ति-विशेष की नहीं, सारे परिवार की साझी होती है। ब्याह-शादी भी परिवार की दृष्टि से ही होती है, परिवार के लोग ही तय करते हैं कि लड़के की शादी कहाँ होनी चाहिए,

२. नागरिक-जीवन में व्यक्ति परिवार के बन्धन में इतना नहीं बंधा रहता, बुज़ुर्गों से दूर रहने के कारण उनका डर भी जाता रहता है, व्यक्ति का व्यक्तित्व बन्धन से निकल कर स्वतन्त्र हो जाता है। परिवार या बुज़ुर्गों का स्थान चारों तरफ़ का समाज ले लेता है। व्यक्ति की सत्ता परिवार के बंधनों से तो मुक्त हो जाती है, परन्तु क्योंकि समाज का क्षेत्र बहुत बड़ा है इसलिए उसमें विलीन नहीं हो पाती। स्वतन्त्र व्यक्तित्व की भावना प्रबल हो जाती है। माता-पिता तथा बुज़ुर्गों की जगह कचहरी, पुलिस आदि के शासन में रहना आवश्यक हो जाता है। अपराधों का दण्ड बिरादरी नहीं देती, जज-साहब देते हैं। बिरादरी छोटी-छोटी बातों में भी कान

लड़का नहीं तय करता। स्वाभाविक भी है, जब परिवार ही मुख्य है तब शादी की बात तय करना परिवार का ही काम हो जाता है। कौन क्या धर्म ग्रहण करेगा, क्या धंधा करेगा, किस प्रकार रहेगा, उसके राजनैतिक विचार क्या होंगे--यह सब परिवार को सामने रख कर ही चलता है। परम्परा को कोई तोड़ दे तो उसे बर्दाश्त नहीं किया जाता, बिरादरी ही दण्ड दे देती है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध बिरादरी के दृष्टिकोण से ही तय होते हैं। विवाह होते हैं, परन्तु प्रेम-विवाह नहीं होते, बिरादरी के भय से, तलाक की इजाजत होने पर भी तलाक बहुत कम होते हैं। परिवार का व्यक्ति पर अखण्ड शासन बना रहता है।

पकड़ती थी, उससे व्यक्ति स्वतन्त्र हो जाता है। विवाह करने के बन्धन भी उतने कड़े नहीं रहते। जाति-पाँति के विचार शिथिल पड़ जाते हैं, बिरादरी की रोक-टोक न होने के कारण आचार-व्यवहार में भी ढील आ जाती है। गाँव में तो केवल अपनी बिरादरी के लोगों से ही शादी-ब्याह में मिलना-जुलना होता था, शहर में सब तरह के लोगों से, ख़ास कर एक-ही तरह के पेशे वालों से मिलना-जुलना, लेन-देन होता है, वे भिन्न-भिन्न सामाजिक-संगठनों के होते हैं, अतः नागरिक-जीवन में दृष्टि की विशालता, सहिष्णुता आदि का आ जाना स्वाभाविक है।

३. ग्रामीण-व्यक्ति ग्रामीण-परिस्थिति में रहता है। वह मुख्य तौर पर खेती करेगा--जो-कुछ भी करेगा उसका स्थान प्रकृति के बीच में है, वह हर समय प्रकृति के निकट है। सर्दी, गर्मी, वर्षा--हर समय का वह उस-उस मौसम में अनुभव करता है। उसे मालूम है, अब कौन-सी ऋतु आ रही है क्योंकि उस ऋतु का अनाज पैदा करने के साथ विशेष सम्बन्ध है। वह सूर्य की रश्मियों को फूटता देखकर उठता है, अन्धेरा होने पर सो जाता है, रात को उठे, तो तारों को देख कर बता देता है कि कितनी रात बाकी है। वह चाहे

३. ग्रामीण-व्यक्ति जैसे खेती से बँधा हुआ है, नागरिक वैसे किसी एक पेशे से बँधा नहीं। वह नगर के अनेक पेशों में से किसी को चुन सकता है। परन्तु जिसे भी चुने उसमें उसे 'विशेष-निपुणता' (Specialization) प्राप्त करना ज़रूरी है। शहर में तो 'प्रतियोगिता' (Competition) बेहद होती है, एक-से-एक लायक आदमी होते हैं, अतः शहर वाले के लिये प्रगतिशील होना आवश्यक हो जाता है।

शहर में ऋतुओं की तरफ़ मनुष्य का ध्यान नहीं रहता। सर्दी हो, गर्मी हो, वर्षा हो--

स्वतन्त्र खेती करता हो, या किसी का खेत बोता हो, हर समय उसे तैनात नहीं रहना होता, प्रकृति के वर्षा, गर्मी, सर्दी के भिन्न-भिन्न समय उसके कार्य की प्रणाली को बाँटते हैं। जब बोने-काटने का समय नहीं है, तब उसे खेत में यों ही धक्के खाने की जरूरत नहीं। इस दृष्टि से वह अपने समय का मालिक है।

ग्रामीण-व्यक्ति धरती को सब धनों से प्रधान समझता है। जो राजनैतिक-संस्था उसे भूमि का स्वामी बनने का प्रलोभन देती है, वह उसके साथ हो जाता है, जो उससे भूमि छीनने का नाम लेती है, वह उससे भिड़ जाता है। कांग्रेस ने इस प्रकार ज़मींदारी उन्मूलन करके, और किसानों को भूमिधर बनाकर ग्रामीण-जनता की दृष्टि में बड़ा उपकार किया है और इस प्रकार उनकी सदिच्छा पा ली है।

नागरिक को एक चाल से चलते चले जाना है, उसे आराम से बैठने का कोई समय नहीं है। वह मुर्ग़े की आवाज़ को सुन कर नहीं उठता, हर समय घड़ी लटकाये रखता है, और काम करते-करते उसकी तरफ़ देखता रहता है। नगर का मज़दूर भी अगर घड़ी नहीं रख सकता, तो मिल की कूक को सुन कर चलता है, उधर कान लगाये रहता है। ग्राम के स्वाभाविक जीवन के स्थान पर नगर का जीवन कृत्रिम है।

नगर में व्यक्ति को पनपने के अनेक मौके मिलते हैं, उनमें कभी-कभी कोई एकदम मज़दूर से लखपति, और कोई लखपति से मज़दूर हो जाता है। समाज में ऐसे परिवर्तन देख कर नागरिक की धारणा यह हो जाती है कि हम ग़रीब हैं तो क्या, हमें किस्मत का मुँह देखकर नहीं बैठे रहना।

४. ग्रामीण-व्यक्ति का एक ही पेशा है—खेती करना, परन्तु खेती करने में उसे अनेक छोटे-छोटे काम करने होते हैं, जिनमें से किसी एक में भी वह निपुण नहीं होता। वह कुछ राज का, कुछ बढ़ई का, कुछ लोहार का काम भी जानता है, अपने बच्चों को भी अपने साथ इन सब कामों की थोड़ी-थोड़ी शिक्षा दे रहा होता है। उसकी स्त्री उसके साथ पूरा सहयोग देती है। गौओं को दूहना, बैलों को चारा देना, खेत की नलाई करना,

४. नागरिक-व्यक्ति का एक ही पेशा नहीं है। सब ग्रामों के ग्रामीण खेती ही करते हैं, परन्तु सब नगरों के नागरिक कोई एक ही उद्योग नहीं करते। कोई कुछ करता है, कोई कुछ। गाँववाले को सब कामों का कुछ-कुछ जानना होता है, नगर वाले को किसी एक काम का सब-कुछ जानना होता है, क्योंकि उसे तो नगर की प्रतियोगिता के कारण किसी विशेष कार्य में असाधारण निपुणता प्राप्त करनी है। नागरिक का साथ देना

रोटी बनाना, कपड़े धोना, सीना—ये सब काम वह करती है।

काश्तकारी को करते हुए वह यह कभी नहीं सोचता कि वह अपने धन्धे को कभी बदल भी सकता है। उसका स्वप्न यही रहता है कि जैसे वह खेती करता रहा है, वैसे उसकी सन्तति खेती-का ही काम आगे चलायेगी।

५. ग्राम का किसान ख़ुशहाल तो हो सकता है, परन्तु अपरिमित धन का स्वामी नहीं हो सकता। बुरे दिन हों, तो उस पर कर्जा चढ़ जाता है, अच्छे दिन हों, तो पिछला कर्जा उतारने में लगा रहता है। इस कारण वह बड़ी बचत से जीवन का निर्वाह करता है। उसे तरह-तरह के शौक नहीं लगते। इधर-उधर मिलने-जुलने से, भिन्न-भिन्न लोगों के साथ सम्पर्क में आने से जो व्यसन शहरी को लग जाते हैं, उनसे गाँव का किसान बचा रहता है। व्यसनों से बचे होने तथा प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने के कारण उसका स्वास्थ्य शहरियों के स्वास्थ्य से अच्छा होता है।

६. ग्राम में मनुष्य जो-कुछ नजदीक है उससे, परिवार से, परम्परा से, बुजुर्गों से बँधा रहता है, वह अपने को उस वातावरण से अलग करके अपने विषय में एक पृथक् सत्ता के रूप में सोच ही नहीं सकता। परिवार, परिवार के सदस्य, परिवार की परम्परा जो-

उसकी पत्नी के लिए आवश्यक नहीं है। गाँववाले स्त्री-पुरुष सब काम अपने-आप करते हैं, शहर वाले नौकरों से काम कराते हैं। स्वयं काम न करने के कारण शहरों की स्त्रियाँ गाँव की स्त्रियों से स्वास्थ्य में गिर जाती हैं।

५. नागरिक अपरिमित धन का स्वामी भी हो सकता है। किसान की तरह बचत से नहीं रहता, फ़िज़ूलख़र्ची के उसके पास ज्यादा मौके रहते हैं। तरह-तरह के लोगों के साथ मिलने के कारण तरह-तरह के शौक उसे लग जाते हैं। कोई शराबी, कोई कबाबी, कोई व्यभिचारी—हर तरह के कुसंग का परिणाम वह भोग सकता है। नागरिक का जीवन अप्राकृतिक-जीवन होता है। देर रात गये सोता है, सूर्योदय के बहुत बाद उठता है, टीप-टाप में, फ़ैशन में बहुत-सा धन और समय बिता देता है। अस्वाभाविक-जीवन बिताने के कारण तरह-तरह की बीमारियों का शिकार बना रहता है।

६. नगर में मनुष्य सब बन्धनों से छूटा होता है, न उसे परिवार की परम्परा बाँध सके, न बुजुर्गों की घुड़कियाँ। वह अपना विचारों का सम्बन्ध जहाँ चाहे बना सकता है। अगर उसके पड़ोस के लोगों के विचारों से उसके विचार मेल नहीं खाते, तो अपनी रहने की जगह से

कुछ है, वह भी वही-कुछ है, इसलिए वह अपने विचारों का पक्का होता है, उसका जो धर्म-कर्म-दर्शन-विचार-प्रणाली आदि है, उससे उसे कोई डिगा नहीं सकता। ग्रामवासियों की विचार-धारा का जो विरोध करता है, उसका सारा गाँव विरोध करता है। इसी कारण गाँव में असहिष्णुता अधिक होती है।

बीस मील परे के लोगों के साथ वह अपना मिलने-जुलने का सम्बन्ध बना सकता है। उसका क्योंकि कई प्रकार के विचार के लोगों से सम्बन्ध हो जाता है, अतः वह अपने विचारों में बहुत कट्टर नहीं होता। माल के लेन-देन की तरह वह विचारों के लेन-देन का भी आदी हो जाता है। वह कट्टर नहीं रहता, सहिष्णुता से काम लेता है।

७. गाँव में 'हम' की भावना काम करती है, जो काम होता है, वह गाँववाले सब मिलकर करते हैं, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि उस काम का श्रेय या अपयश उसको भी है। अच्छा काम किया तो 'हम' ने किया, किसी गाँववाले ने बुरा काम किया तब भी 'हमारी नाक कट गई' की भावना गाँव वालों में बनी रहती है। वह 'निजू' और 'सार्वजनिक' बात को एक समझता है।

७. शहर में आते ही व्यक्ति की 'हम' की भावना जाती रहती है। वह जो-कुछ करता है, वही उसका जिम्मेवार है—दूसरे को उससे क्या मतलब? उसकी दृष्टि में 'निजू-जीवन' और 'सार्वजनिक-जीवन' में बड़ा अन्तर है। निजू-तौर से वह जो-कुछ करना चाहे करे, उसे रोकने का किसी को अधिकार नहीं, अगर वह सार्वजनिक तौर पर कोई ख़राबी करता है तभी उसे टोका जा सकता है।

८. ग्रामीण-संस्कृति प्रकृति के अत्यन्त निकट सम्पर्क में होती है। ग्रामीणों के कथा-कथानक, उनके नृत्य, उनके गीत, सब का उदय प्रकृति के अथाह सागर से होता है। ग्रामीण संस्कृति में कृत्रिमता नहीं होती, वे अपने स्वाभाविक-जीवन को अपनी संस्कृति में उंडेल देते हैं।

८. ग्रामों की संस्कृति को लेकर नागरिक अपनी संस्कृति का निर्माण करते हैं। संसार की सब महान् संस्कृतियों का उद्भव-स्थान प्रकृति का स्वाभाविक रूप है। इस दृष्टि से, गाँवों के प्राकृतिक वातावरण में संस्कृति जन्म लेती है, और शहरों में उसका पालन-पोषण होता है। चित्रकार एक ग्वाले का चित्र बनाता है, भरे हुए थनों में से मटका लेकर वह दूध दूह रहा है—वह गाँव की संस्कृति का चित्रण नहीं तो क्या है? कथाकार एक

किसान के जीवन को आधार बनाकर एक उपन्यास लिखता है। यह सब ग्राम में जन्मी संस्कृति पर अपना एक नया भवन खड़ा करना ही तो है।

ऊपर जो विवेचन किया गया है उसके आधार पर गाँव तथा शहर की विशेषताओं का निम्न-प्रकार विवरण दिया जा सकता है :—

४. ग्रामीण तथा नागरिक जीवन का भेद

ग्रामीण तथा नागरिक जीवन के भेद को और अधिक स्पष्ट करने के लिए छः दृष्टियों से देखा जा सकता है—सामाजिक-सम्बन्धों की दृष्टि, सामाजिक-नियंत्रण की दृष्टि, सामाजिक, आर्थिक, मानसिक तथा सांस्कृतिक जीवन की दृष्टि। इन दृष्टियों से ग्रामीण तथा नागरिक जीवन का भेद निम्न चित्र-पट से स्पष्ट हो जायगा :—

	ग्राम	नगर
(क) सामाजिक-संबंध (Social relations)	—व्यक्तियों का सीधा संबंध	एक-दूसरे के ज़रिये संबंध
	—कट्टरपना	विचारों का ढीलापन
	—असहिष्णुता	सहिष्णुता
	—सहानुभूति	रुखाई
(ख) सामाजिक-नियंत्रण (Social control)	—एक-दूसरे पर सीधा नियन्त्रण, अर्थात्	पुलिस द्वारा नियंत्रण, अर्थात्
	—(प्राथमिक नियन्त्रण)	(द्वितीयक नियन्त्रण)
	—प्रथा तथा रूढ़ियों की दासता	प्रथा तथा रूढ़ियों से मुक्ति
(ग) सामाजिक-जीवन (Social life)	—सीधा-सादा रहन-सहन	कृत्रिम रहन-सहन
	—बिरादरी का ज़ोर	बिरादरी का अभाव
	—परिवार की मुख्यता	परिवार की गौणता
	—मेल-मुलाकातियों की गौणता	मेल-मुलाकातियों की मुख्यता
	—पड़ौसीपन की प्रबल भावना	पड़ौसीपन की भावना की कमी
	—स्त्रियों की निम्न स्थिति	स्त्रियों की उच्च स्थिति
(घ) आर्थिक-जीवन (Economic life)	—लगभग समान जीवन-स्तर	जीवन-स्तर में विषमता
	—सहयोग की प्रबलता	प्रतिस्पर्धा की प्रबलता
	—जन्म की प्रधानता	कर्म की प्रधानता
	—श्रम-विभाग की कमी	श्रम-विभाग की मुख्यता
	—एक का सब-कुछ जानना	एक ही बात में निपुणता

(ङ) मानसिक-जीवन (Mental life)	–भाग्यवादिता	पुरुषार्थवादिता
	–मानसिक सन्तोष	मानसिक असन्तोष
	–परार्थ-भावना	स्वार्थ-भावना
(च) सांस्कृतिक-जीवन (Cultural life)	–प्रकृति के साथ सीधा संपर्क	प्रकृति का अभाव
	–पुरातन की पूजा	नवीन की पूजा
	–अपराधों की कमी	अपराधों की अधिकता

५. गाँव की विशेषताएँ

(क) प्रकृति के निकट होना—गाँव की पहली विशेषता उसका प्रकृति के निकट होना है। प्रकृति के सुन्दर दृश्यों को जब अंकित किया जाता है तब उनका दाम सैकड़ों रुपया देने को लोग तैयार हो जाते हैं, फिर जीती-जागती प्रकृति में रहने का तो कुछ भी दाम चुकाया नहीं जा सकता। गाँव के प्राकृतिक-दृश्यों में झोंपड़े को भी पुष्प-लताओं से ऐसे सजाकर रखा जा सकता है कि महल को भी वैसा न रखा जा सके। करोड़पति को भी उतनी खुली विस्तृत जगह नहीं मिल सकती जितनी एक ग़रीब किसान को अपने टूटे-फूटे झोंपड़ों के लिए मिल जाती है। अगर मनुष्य चाहे तो गाँव में प्रकृति के घर को स्वर्ग बना सकता है, परन्तु गाँवों के लोग जैसे रहते हैं उससे तो उन्होंने अपने हाथ से स्वर्ग को नरक बनाया होता है।

(ख) परिवार के निकट होना—गाँव की परिस्थिति में जीवन-रूपी वृत्त का केन्द्र घर तथा परिवार होता है। गाँव के घरों में बच्चों को खेलने के लिए मैदान मिलते हैं, जंगलों में वे घूम सकते हैं, तालाब-नदी-नाले की सैर कर सकते हैं, पालतू जानवरों से दिल बहला सकते हैं, प्रकृति की सब मौसमों का आनन्द उठा सकते हैं।

(ग) पड़ौसी तथा समुदाय के निकट होना—गाँववाले जानते हैं कि पड़ौसी किसे कहते हैं। शहर में रहने वाला ऐसे व्यक्तियों से घिरा होता है जिन्हें वह जानता ही नहीं होता। गाँव में ऐसी बात नहीं हो सकती। गाँव का हर आदमी हर-एक गाँव-वासी को जानता है। इससे किसी की कमजोरी दूसरे से छिपी नहीं रहती। इसका लाभ भी है। लोकापवाद के भय से लोग बुरे काम से बचे रहते हैं। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का सारे गाँव से निकटतम सम्बन्ध होता है, इसलिए सुख-दुःख में सब एक-दूसरे का साथ देते हैं। इसके विपरीत शहर का कोई व्यक्ति इकला पड़ा अपने दुःख में मर भी जाय, तो उसे पूछने वाला कोई नहीं होता। गाँव में दुश्मनी होती है, तो वह भी जबर्दस्त, दोस्ती होती है, तो उसका भी कोई ठिकाना नहीं। गाँव में मनुष्य एक छोटे-से समूह का हिस्सा होता है जिसमें सब सब को जानते हैं, इसलिए उच्च-कोटि के सब गुणों को प्रकट करने की हर-एक की इच्छा बनी रहती है, हर-एक यह चाहता है कि ऐसा काम करे जिससे सारा गाँव उसकी तारीफ़ करे।

(घ) गुणों का सरलता से प्रकट हो सकना--जो प्रतिभाशाली व्यक्ति होता है, वह आसानी से अपनी प्रतिभा का सिक्का गाँव में जमा लेता है। छोटा-सा मानव-समूह है, इसलिए सब की उसकी तरफ़ नज़र आसानी से उठ जाती है। जो व्यक्ति अगर शहर में हो तो मारा-मारा फिरता रहे, वह अगर गाँव में हो तो अपने गुणों के कारण गाँव में शीघ्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है।

६. शहर की विशेषताएँ

(क) उद्योग-धंधों का प्राधान्य होना--शहर में उद्योग-धन्धों का प्राधान्य होता है--उद्योग-धन्धे, जिनमें 'श्रम' (Labour) और 'पूँजी' (Capital) काम करते हैं। ग्राम में जो स्थान 'ज़मीन' का है, शहर में वह स्थान 'पूँजी' का है, ग्राम में जो स्थान 'कृषि' का है, शहर में वह स्थान 'उद्योग' (Industry) तथा 'व्यापार' (Commerce) का है।

(ख) आशा, साहस आदि गुणों का होना--अनेक नव-युवक शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर आजीविका के उपार्जन के लिए गाँव से शहर चले जाते हैं। हर शहर में इस प्रकार के नव-युवकों की संख्या पर्याप्त होती है। क्योंकि वे नव-युवक होते हैं, इसलिए नव-यौवन के गुण--आशा का वातावरण, साहस, प्रगतिशीलता, विचारों की क्रान्ति--ये भावनाएँ शहरी-जीवन को अनुप्राणित करती रहती हैं।

(ग) सामाजिक-जीवन का अधिक होना--गाँव का कोई आदमी अपने घर के बाहर नहीं रहता। जैसे उसकी जड़ें एक विशाल-वृक्ष की तरह अपनी भूमि में गड़ी हुई हैं, इसी प्रकार उसके विचार भी अपनी सीमित परिधि में ही गड़े होते हैं। शहर का व्यक्ति पारिवारिक-बन्धनों को पीछे छोड़ कर आया होता है। सैंकड़ों, हज़ारों लोग शहरों में बिना परिवार के बोर्डिंगों में, क्लबों में, या होटलों में रहते हैं। शहर में अगर कोई परिवार है, तो उसमें भी चाय पीने के लिए तो सब इकट्ठे होते हैं, किन्तु फिर सब अलग-अलग अपने काम-धन्धों पर चले जाते हैं। शहर का रहने वाला आज एक मकान में किराये पर रहता है, तो कल दूसरे में चला जाता है, उसे किसी ख़ास स्थान से लगाव नहीं रहता। बाग़-बग़ीचे की सैर करने के स्थान में वह सिनेमा-क्लब में जाकर अपना समय बिताता है।

(घ) कृत्रिम वातावरण का होना--शहर में प्राकृतिक के स्थान में कृत्रिम का राज्य है। जंगल कहीं देखने को नहीं मिलता। कल-कारख़ानों में मज़दूर कृत्रिम वस्तुओं को और अधिक कृत्रिम बनाने में दिन-रात लगे रहते हैं। किसान तो प्रकृति में खेलता रहता है, परन्तु शहर का मज़दूर एक बड़ी भारी इमारत में अपने जैसे लाखों मज़दूरों के साथ कभी दिन को, कभी रात को बिजली की रोशनी में आँखें गड़ा-गड़ा कर काम करता है। वह समझ रहा होता है कि वह प्रकृति पर विजय पा रहा है, उसके इसी घमण्ड को चूर करने के लिए कभी बीमारी, कभी मौत उसके सिर पर आ गरजती है। वह भौतिकवाद को, रुपए-पैसे को ही जीवन का

आदि और अन्त समझने लगता है, यह भूल जाता है कि प्रकृति का वैभव साधन है, साध्य नहीं, किसी लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक है, स्वयं लक्ष्य नहीं। परन्तु वह क्या करे, शहर का वातावरण ही ऐसा है कि यह बात उसके मस्तिष्क में घर नहीं करती।

(ङ) उथला जीवन होना---शहर में चारों तरफ़ से इन्द्रियों को रस मिलता है। रूप के दीवाने सिनेमा-स्टारों के पीछे भागते हैं, रस के दीवाने चटोरपन के पीछे भागते हैं, कोई कर्ण-रस, कोई दूसरे किसी रस में दीवाना फिरता है क्योंकि हर इन्द्रिय को उत्तेजना देने वाले साधन शहरों में मौजूद रहते हैं। ऐसे वातावरण में रहकर मन की एक उथली-सी वृत्ति बन जाती है। इन्द्रिय के विषयों में ही इन्सान भटकता फिरता है, किसी वस्तु की गहराई में जाने का प्रयत्न नहीं करता। गाँव का किसान हर बात की तह तक पहुँचा होता है, शहर का नागरिक हर-वस्तु के ऊपर-ऊपर तैर रहा होता है। हर-वस्तु किसान की इन्द्रियों से आगे बढ़ कर उसके मन तक पहुँचती है, किन्तु वह शहर के नागरिक की इन्द्रियों तक ही रह कर समाप्त हो जाती है क्योंकि उसे चारों तरफ़ इतना इन्द्रिय-रस दीख रहा होता है कि उससे ही उसे छुट्टी नहीं मिलती। शहरवालों का हर-बात का ज्ञान उथला-उथला होता है---कुछ यह देखा, कुछ वह देखा, कुछ यह चखा, कुछ वह चखा---इस तरह उनकी चाल इन्द्रियों के घेरे तक ही रह जाती है।

(च) हर बात में अति तथा विविधता होना---शहर में सब तरह की अति पायी जाती है। करोड़पति हैं, तो दाने-दाने को तरसने वाले भी हैं, मिलों के मालिक हैं तो मजदूर भी हैं; उच्च-से-उच्च प्रतिभा वाले हैं, तो गुण्डे, बदमाश भी हैं। शहर में इस प्रकार भिन्न-भिन्न वृत्ति के लोग होते हैं इसलिए वहाँ किसी ऐसी लहर का चलाना कठिन होता है जो सारे शहर को हिला दे। हर-एक हर-बात को अपने-अपने दृष्टि-कोण से देखने लगता है। बम्बई में शराब की रोक-थाम की गई, तो शराब पीने वाले चिल्ला पड़े, शराब की छूट दी गई, तो सुधारवादी आपत्ति करने लगे। शहरों में भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ पायी जाती हैं, किसी का किसी से सन्तोष होता है, किसी का किसी से। हर प्रकार के व्यक्ति को अपनी मनोकामना पूर्ण करने के लिए अपने अनुकूल क्षेत्र कहीं-न-कहीं मिल ही जाता है।

(छ) एकता में अनेकता की भावना का होना---शहरों में एक ही तरह के लोग इतने होते हैं कि उनकी अपनी-अपनी बस्तियाँ बस जाती हैं। कलकत्ता-बम्बई में कहीं चीनी बसे हुए हैं, कहीं ईरानी, कहीं पंजाबी, कहीं मद्रासी। व्यापार की दृष्टि से बैंक एक जगह हैं, तो बिजली की दुकानें दूसरी जगह, कपड़े की दुकानें तीसरी जगह। इससे सारे शहर की एकता की जो भावना होनी चाहिए वह नहीं हो पाती, और कभी-कभी एक जगह के समूह के लोग किसी भी बात से भड़क जाते हैं, और एक प्रकार का साम्प्रदायिक दंगा-सा मचा देते हैं। इस प्रकार की बस्तियों से वह वर्ग-भावना, जिसे शहरी जीवन मिटा देता है, जागृत बनी रहती है।

(ज) पड़ौसीपन का अभाव--शहरों का नागरिक अपने पड़ौसी के साथ बीस साल रह कर भी उसका नाम तक न जानता हो--ऐसा हो सकता है। वह जीवन कैसा नीरस है जिसमें पड़ौसी के साथ भी मेल-जोल नहीं। कहाँ तो गाँव का जीवन जिसमें हर-व्यक्ति हर-दूसरे को जानता है, और कहाँ शहर का जीवन जिसमें साथ-साथ रहते हुए भी हम एक-दूसरे को नहीं जानते !

(झ) परावलम्बीपन--शहर का नागरिक सब बातों में परावलम्बी है। गाँव के किसान के घर में अपना दीपक होता है, सड़क पर उसकी अपनी लालटैन होती है, बाज़ार जाने के लिए अपनी बैलगाड़ी होती है, अपनी गाय, अपनी खेती, सब-कुछ अपना, आत्म-निर्भरता का किसान मानो प्रतीक होता है। नागरिक को हर-बात में सरकार का मुँह ताकना पड़ता है, न वह रोशनी का बन्दोबस्त कर सकता है, न दूध का, न खाने-पीने का, हर-बात में उसे पर-मुखापेक्षी होना पड़ता है।

प्रश्न

१. गाँव और शहर क्यों और कैसे बनते हैं ? इनके विकास के क्रम पर प्रकाश डालिये।
२. 'उत्पादन के ह्रास का नियम' (Law of Diminishing Returns) क्या है ? इसका जन-संख्या तथा पृथिवी की उत्पादन-शक्ति के साथ क्या सम्बन्ध है ? इस नियम का गाँवों की आबादी घटने और शहरों की आबादी बढ़ने के साथ क्या सम्बन्ध है ?
३. 'शहरीकरण' (Urbanization)--अर्थात्, गाँवों की आबादी का शहरों की तरफ चल पड़ने का क्या कारण है ? विस्तार से समझाइये।
४. ग्रामीण तथा नागरिक जीवन की तुलना कीजिये।
५. ग्राम की क्या विशेषताएँ हैं ?
६. शहर की क्या विशेषताएँ हैं ?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. 'गाँव संस्कृति का गर्भ होता है'--इस कथन की भारत को सामने रखते हुए विवेचना कीजिये। (आगरा, १९४९)
२. गाँव के विकास का वर्णन कीजिये। आपकी राय में गाँव का क्या भविष्य है ? (आगरा, १९५०)
३. बिखरी हुई झोंपड़ियों तथा ग्रामों की घनी-बस्तियों के बनने के मुख्य कारण क्या हैं ? (लखनऊ, १९५०)
४. नगरों में रहने वाली जन-संख्या 'विषम' (Heterogeneous) होती है और उनके आपस के सम्बन्ध 'अवैयक्तिक' (Impersonal) होते हैं। इन दोनों का सामाजिक-परिणाम क्या होता है ? (आगरा, १९५१)

५. किन कारणों से भारत में ग्राम-समुदाय (Village Community) का विगठन हो रहा है? (लखनऊ, १९५२)
६. ग्रामीण तथा नागरिक समुदायों के भेद को बताइये। (लखनऊ, १९५३)
७. 'ग्रामीण-समुदाय' (Village Community) की परिभाषा कीजिये। स्थायी ग्रामीण-समुदायों की वृद्धि में सहायक प्रादेशिक, आर्थिक तथा सामाजिक कारण क्या-क्या हैं? (आगरा, १९५४)
८. ग्रामीण और नागरिक रहन-सहन में क्या महत्त्वपूर्ण अन्तर है? इन अन्तरों का क्या कारण है?
(लखनऊ, १९४९, १९५३; आगरा, १९५५; राजपूताना, १९५६)
९. ग्रामीण-समुदाय की परिभाषा कीजिये। स्थायी-ग्रामीण-समुदायों के विकास में सहायक प्रादेशिक, आर्थिक तथा सामाजिक कारणों को लिखिये। (आगरा, १९५४)
१०. नगर का कोई व्यक्ति ग्रामीण-जीवन देखना चाहता है और आप से अपने समाज-शास्त्रीय प्रदर्शक के तौर पर सहायता चाहता है। इन महाशय को ग्रामीण-जीवन के मुख्य लक्षण समझाइये।
(आगरा, १९५६)
११. एक ग्राम-निवासी अगर नगर में मज़दूर बनकर चला जाय तो वह अपने गाँव की तुलना में नगर में क्या विभिन्नताएँ देखेगा?
(आगरा, १९५७)
११. "नगर गाँव से किसी भाँति अधिक कृत्रिम नहीं है"--इस कथन की व्याख्या कीजिये। (आगरा, १९५७)
१३. कुछ समाजों में, जिनसे आप परिचित हों, ग्रामीण-जीवन पर पड़ने वाले नागरिक-प्रभाव का वर्णन कीजिये। (आगरा, १९५७)

८

वंशानुसंक्रमण तथा पर्यावरण

(HEREDITY AND ENVIRONMENT)

१. वंशानुसंक्रमण तथा पर्यावरण के प्रश्न का स्वरूप क्या है?

जीवन का आधार-भूत मूल-तत्त्व जिससे सब प्राणियों का धीरे-धीरे विकास हुआ है, 'कलल-रस' (Protoplasm) कहलाता है। इसे स्थूल आँखों से नहीं देख सकते, सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र से ही इसे देखा जा सकता है। वृक्ष-वनस्पति भी इससे बने हैं, पशु-पक्षी-मनुष्य भी इससे बने हैं। जब 'कलल-रस' (Protoplasm) पौधे-वनस्पति-कीटाणु की दिशा में विकसित होता है, तब पहले इसका जो रूप प्रकट होता है, उसे 'बैक्टीरिया' (Bacteria) कहते हैं; जब जीव-जन्तु-पशु-पक्षी-मनुष्य बनने की दिशा में विकसित होता है, तब इसका पहले-पहल जो रूप प्रकट होता है, उसे 'अमीबा' (Amoeba) कहते हैं। इस दृष्टि से 'बैक्टीरिया' वानस्पतिक और 'अमीबा' जैविकीय जीवन की सबसे पहली इकाइयाँ हैं। क्योंकि हमारा प्राणि-जगत् से सम्बन्ध है, इसलिए हम 'बैक्टीरिया' की नहीं, 'अमीबा' की चर्चा करेंगे। 'अमीबा' 'कलल-रस' (Protoplasm) से बना असंख्य-जीवधारियों में सब से पहला प्राणी (Organism) है। इसी का विकास होते-होते नाना प्राणी उत्पन्न हो गए हैं। अगर 'अमीबा' पानी में तैर रहा हो, और रक्त का एक बिन्दु पानी में डाला जाय, तब वह रक्त पानी में घुल कर 'अमीबा' तक पहुँचता है, और 'अमीबा' फ़ौरन उसे अपने अन्दर लेने के लिए शरीर के हर-भाग से चेष्टा करता है, और रक्त-बिन्दु के निकट जाने का प्रयत्न करता है; अगर पानी में अम्ल (Acid) डाल दिया जाय, तो उसके असर से बचने के लिए वह दूर भागता है। 'अमीबा' की इस दो प्रकार की प्रतिक्रिया—'विस्तार तथा संकोचन' (Expansion and Contraction)—से जीवन का प्रारम्भ होता है। अगर वह रक्त में से भोजन को अपने अन्दर लेने के लिए उसकी तरफ़ न भागे तब भी वह ज़िन्दा नहीं रह सकता, अगर ख़तरे से बचने के लिए अम्ल से दूर न भागे तब भी ज़िन्दा नहीं रह सकता। इस प्रक्रिया को अगर एक शब्द में कहना चाहें, तो 'पर्यावरण के प्रति प्रतिक्रिया' (Response to environment)—इस शब्द से कह सकते हैं। 'प्राणी' (Organism) अनुकूल तथा प्रतिकूल—इन दो तरह के पर्यावरणों में हो सकता है, उसका जीवन तभी बना रह सकता है जब अनुकूल पर्यावरण की तरफ़ जाये, और प्रतिकूल से परे हटे। 'अमीबा' में यह प्रक्रिया चल रही है, और

'अमीबा' की तरह हर-एक जीव-धारी में भी यही प्रक्रिया चल रही है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि जीवन धारण करने के लिए दो बातों की आवश्यकता है--एक तो 'प्राणी' (Organism) तथा दूसरा 'पर्यावरण' (Environment) जिसमें प्राणी रहता है, और जिसके प्रति अनुकूल तथा प्रतिकूल 'प्रतिक्रिया' करने से ही वह जीवन धारण कर सकता है। जब प्राणी की पर्यावरण के प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, तब उसे मृत कहा जाता है।

'पर्यावरण के प्रति प्रतिक्रिया' (Response to environment) से प्राणी का जीवन प्रारम्भ होता है। आग को बच्चे ने देखा, कैसी चमकती है, लटपटाती है, झट-से उसे पकड़ने के लिए उसमें हाथ डाल दिया। यह भी 'पर्यावरण के प्रति प्रतिक्रिया' है, परन्तु इससे हाथ जल गया। आगे से बच्चा आग में हाथ नहीं डालता। पर्यावरण के प्रति प्राणी जो प्रतिक्रिया करता है, उसमें अनुभव के आधार पर, जो प्रतिक्रियाएँ जीवन के लिए हितकर हैं, उन्हें चुन लेता है, जो अहितकर हैं, उन्हें छोड़ देता है--यही तो 'अमीबा' का रक्त के बिन्दु के लिए उसकी तरफ़ जाना, और अम्ल से बचने के लिए उससे भागना है। भिन्न-भिन्न प्रकार के पर्यावरणों में पड़ कर प्राणी भिन्न-भिन्न अनुभव करता है, इन अनुभवों से सीखता है, जिन 'प्रतिक्रियाओं' (Responses) से जीवन को लाभ होता है, उन्हें अपनाता जाता है, जिनसे हानि होती है, उन्हें छोड़ता जाता है। जबतक एक प्राणी इस प्रकार का पर्यावरण में अनुभव प्राप्त कर रहा होता है, तब तक 'वैयक्तिक' (Individual) जीवन-क्रम चल रहा होता है, जब एक नहीं अनेक, समुदाय-का-समुदाय ऐसे अनुभव कर रहा होता है, अनुकूल प्रतिक्रियाओं का संग्रह करता जाता है, प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं को छोड़ता जाता है, तब 'सामाजिक' (Social) जीवन-क्रम चल पड़ता है।

प्रश्न यह है कि जो बातें हमने बड़े अनुभव से सीखीं, यह सीखकर कि ताकतवर होने से ही जिन्दा रह सकते हैं, किसी ने डंड-कसरत करके अपने पुट्ठे मज़बूत किये, किसी ने ख़ूब पढ़-लिख कर दिमाग़ी उन्नति की--क्या हमारी अगली आने वाली पीढ़ी को यह सब-कुछ फिर नये सिरे से सीखना पड़ेगा, शारीरिक तथा मानसिक गुण नये सिरे से उपार्जन करने पड़ेंगे, या जन्म से ही उनके शरीर सुदृढ़ तथा मन उन्नत होने योग्य होंगे, उनको वे बातें जन्म से ही मिल जायेंगी, जो हमें बड़ी मेहनत से, बड़े अनुभव से मिली हैं? जीवन की समस्या 'पर्यावरण के प्रति ठीक प्रतिक्रिया' (Right response to environment) की समस्या है, इसी को दूसरे शब्दों में 'सीखना' कहते हैं, और 'सीखने' की समस्या हमारे सामने यह प्रश्न खड़ा कर देती है कि क्या हर-प्राणी को सब-कुछ स्वयं सीखना पड़ता है, भिन्न-भिन्न पर्यावरणों में भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ करके यह अनुभव प्राप्त करना होता है कि कौन-सी प्रतिक्रिया ठीक है, कौन-सी ग़लत, या जो इस प्रक्रिया में से गुज़र चुके हैं, उन माता-पिता के रज-वीर्य से हमें बीज-रूप में सब-कुछ मिल जाता है? यही प्रश्न 'पर्यावरण तथा वंशानुसंक्रमण' का प्रश्न है। जो लोग कहते

हैं कि पर्यावरण से ही सब-कुछ सीखना पड़ता है, माता-पिता से कुछ नहीं मिलता, वे 'पर्यावरण-वादी', तथा जो यह कहते हैं कि माता-पिता के रज-वीर्य के द्वारा, वंशानुसंक्रमण से सब-कुछ मिलता है, वे 'वंशानुसंक्रमण-वादी' कहे जा सकते हैं।

२. वंशानुसंक्रमण की व्याख्या

[क] गिलबर्ट की व्याख्या--"प्रकृति में जब भी उत्पादन की क्रिया होती है तब माता-पिता अपनी सन्तति को कुछ प्राणि-शास्त्रीय तथा मानसिक-गुण देते हैं। इस प्रकार माता-पिता से गुणों का जो विषम-समूह सन्तान को प्राप्त होता है, उसे वंशानुसंक्रमण कहते हैं।"

[ख] बील्स तथा होयसर की व्याख्या--"किसी पदार्थ की अपनी जाति के पदार्थों को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति को वंशानुसंक्रमण कहते हैं।"

[ग] रुथ बैनीडिक्ट की व्याख्या--"वंशानुसंक्रमण माता-पिता से सन्तान को प्राप्त होने वाले गुणों का नाम है।"

३. दो विचार--'वंशानुसंक्रमण-वादी' तथा 'पर्यावरण-वादी'

कुछ लोगों का विचार यह है कि क्योंकि सन्तान में माता-पिता का रुधिर बहता है, इसलिए जैसे माता-पिता होंगे वैसी सन्तान होगी। माता-पिता को बहुत-कुछ अपने पूर्वजों से 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) द्वारा प्राप्त हुआ। पूर्वजों ने 'भय' (Fear) होने पर 'पलायन' (Escape), 'क्रोध' (Anger) होने पर 'लड़ना' (Fight), 'आश्चर्य' (Wonder) होने पर 'जिज्ञासा' (Curiosity) आदि सीखा था। इन्हें सीखने के लिए उन्हें कई पीढ़ियाँ लगी थीं, परन्तु आज जो बच्चा पैदा होता है उसे इन्हें सीखना नहीं पड़ता, ये उसके स्वभाव का अंग होते हैं, इसलिए डर के समय जान बचाने के लिए भाग जाना, क्रोध आने पर लड़ पड़ना तथा इसी प्रकार की अन्य शक्तियों को मनोविज्ञान की परिभाषा में 'प्राकृतिक-शक्ति'-'नैसर्गिक-शक्ति'-'सहज-क्रिया' (Instincts)--आदि नामों से कहा जाता है। इन्हें आज का बच्चा नहीं सीखता, परन्तु इन्हें मानव-समाज ने कभी अनुभव के द्वारा सीखा था, अब 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) से ये शक्तियाँ हमें प्राप्त होती हैं। प्रश्न यह है कि मनुष्य केवल 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) से ही तो नहीं बना। वह जन्म लेने के बाद बहुत-कुछ और भी

[क] "Every act of generation in nature is the transmission by the parents to their offspring of certain characteristics—biological or psychological. The complex of the characteristics thus transmitted is known by the name of heredity."—*Gilbert*.

[ख] "Heredity means simply the tendency of things to produce their own kind."—*Beals and Hoijer*.

[ग] "Heredity is the transmission of traits from parents to offspring."—*Ruth Benedict*.

सीखता है। एक आदमी नें व्यापार सीखा, बड़ा सफल व्यापारी हुआ, दूसरा बड़ा कारीगर हुआ, तीसरे ने कुछ-और सीखा। एक आदमी जन्म से कमज़ोर है, परन्तु व्यायाम करके उसने अपने पुट्ठे बलिष्ठ बना लिये। इन-सब के ये गुण नैसर्गिक या स्वाभाविक-गुण तो नहीं हैं, ये तो इन्होंने परिश्रम से प्राप्त किये हैं, बहुत-सी बातें अनुभव से सीखी हैं। इन गुणों को मनोविज्ञान में 'नैसर्गिक' (Instinctive) न कहकर 'अर्जित-गुण' (Acquired characters) कहा जाता है। 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) तथा 'पर्यावरण' (Environment) का प्रश्न यह है कि 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) तो 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) के नियमानुसार पिता से पुत्र को आती हैं; 'अर्जित-गुण' (Acquired characters) भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी आते हैं, या नहीं? 'प्राणि-शास्त्र' (Biology) के पण्डितों का कहना है कि ये 'अर्जित-गुण' (Acquired characters) 'वंशानुसंक्रान्त' (Inherit) होते हैं, नहीं तो एक जन्म में प्राणियों का 'अमीबा' से एकदम विकास नहीं हो सकता। विकास हुआ है, तो धीरे-धीरे, लाखों सालों में। यह विकास कैसे हुआ? 'प्राणी' (Organism) में 'पर्यावरण' (Environment) से परिवर्त्तन हुआ, यह परिवर्त्तन हर सन्तति ने अपने आगे आने वाली सन्तति को दिया। इस प्रकार होते-होते प्राणी शुरू में कुछ था, परन्तु सदियों के बाद कुछ-का-कुछ बन गया। ऐसा मानने वाले 'वंशानुसंक्रमण-वादी' कहलाते हैं।

इस विचार का दूसरे लोग विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि अगर कुत्ते की पूँछ लगातार काटी जाती रहे, सदियों तक उसे काटते रहें, तब भी कटी पूँछ के कुत्ते जन्म से ही नहीं उत्पन्न होने लगेंगे। उनके मत में सब 'अर्जित-गुण' (Acquired characters) संक्रान्त नहीं होते। ऐसे लोगों का कहना है कि स्वास्थ्य, बुद्धि आदि तो माता-पिता से आती हैं, आचार, रहन-सहन आदि पर्यावरण से सीखे जाते हैं। कई 'अर्जित-गुण' (Acquired characters) माता-पिता से सन्तति में जाते हैं, परन्तु सब गुण नहीं जाते--कोई जाते हैं, कोई नहीं जाते--ज्यादातर हमें 'पर्यावरण' पर ही निर्भर रहना होता है।

पहली विचार-धारा को मानने वाले 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) पर बल देते हैं, दूसरी विचार-धारा को मानने वाले 'पर्यावरण' (Environment) पर बल देते हैं। हमारी मुख्य समस्या यह नहीं है कि 'पर्यावरण' से परिवर्त्तन होता है या नहीं। वह तो होता ही है। हमारी मुख्य समस्या यह है कि 'वंशानुसंक्रमण' से क्या-कुछ और कितना-कुछ परिवर्त्तन होता है? इस सम्बन्ध में जो अन्वेषण हुए हैं उनका सार निम्न है:--

४. वंशानुसंक्रमण-सम्बन्धी विचार-धारा की गवेषणाएँ

लैमार्क (Lamarck) ने १८०९ में यह प्रतिपादित किया कि प्रत्येक प्राणी अपनी आवश्यकता के अनुसार अपने को बदलने का प्रयत्न करता है।

'सीखना' पर्यावरण के अनुसार अपने को बदलने का ही दूसरा नाम है। जो नहीं बदलते वे ज़िन्दा नहीं रह सकते। इस प्रकार 'पर्यावरण के प्रति प्रतिक्रिया' (Response to environment) करने से प्राणी जो-कुछ सीखता है, अपने में जो परिवर्त्तन कर लेता है, वे परिवर्त्तन सन्तति में चले जाते हैं, 'वंशानुसंक्रान्त' (Inherit) हो जाते हैं। जीराफ़ की गर्दन लम्बी क्यों है? शुरू-शुरू में उसकी गर्दन छोटी थी, परन्तु ऊँचे वृक्षों के पत्ते खाने के लिए अपनी गर्दन को वह ऊँचा करता होगा। उसकी सन्तति की गर्दन उससे कुछ लम्बी हुई। होते-होते कई सन्ततियों में जाकर गर्दन बहुत लम्बी हो गई। जितनी लम्बी होने की जरूरत थी उतनी लम्बी होकर वहाँ जा टिकी। लम्बी ही होती चली जाती, तो अपनी जान बचाने के लिए वह भाग भी न सकता। लैमार्क ने कहा कि जो गुण प्राणी सम्पादित करता है, वे 'अर्जित-गुण' (Acquired characters) कहलाते हैं, और ये अगली सन्तति में 'संक्रान्त' हो जाते हैं, इसी से भिन्न-भिन्न नस्लें बन जाती हैं। विकासवाद के आविष्कर्त्ता डार्विन (Darwin) ने भी लैमार्क के इस मत की पुष्टि की। उसने भी कहा कि 'अर्जित-गुण' (Acquired characters) सन्तति से सन्तति में जाते हैं, और इसी से प्राणियों में अपने पूर्वजों से भिन्नता आ जाती है।

इस प्रश्न का विशेष रूप से अध्ययन फ्रांसिस गाल्टन (Francis Galton) तथा विज़मैन (Weissmann) ने किया। अब तक के अन्वेषण वृक्षों-वनस्पतियों पर थे, फ्रांसिस गाल्टन ने १८७५ में इस प्रश्न पर विचार शुरू किया कि क्या कारण है कि सन्तति की सूरत-शक्ल केवल माता-पिता से ही नहीं मिलती, कहीं-कहीं माता-पिता से मिलने के स्थान में दादा से, कहीं परदादा से जा मिलती है। इस समस्या का हल सोचते-सोचते उसने यह कल्पना की कि माता-पिता का रज-वीर्य जैसे-का-तैसा सन्तति में बना रहता होगा, इस प्रकार सन्तति में माता-पिता के रज-वीर्य का अंश ही नहीं, दादा-परदादा के रज-वीर्य का अंश भी आ जाता होगा। तभी तो यह सम्भव हो सकता है कि पुत्र पिता से मेल खाने के स्थान पर कहीं-कहीं परदादा के शारीरिक गठन से मिलता है। गाल्टन ने सोचा कि जिन 'अर्जित-गुणों' (Acquired characters) का रज-वीर्य पर असर पड़ जाता है, वे संक्रान्त हो जाते हैं, सन्तति में आ जाते हैं, और इस प्रकार दादा-परदादा और उनसे भी पहले के पूर्वजों के गुण सन्तति में प्रकट होते दिखाई देते हैं। तब तो इस सिद्धान्त का यह मतलब हुआ कि माता-पिता में उनके सभी पूर्वजों का, और इन माता-पिता का अपनी आगे आने वाली सन्तति में रज-वीर्य वैसे-का-वैसा बना रहता है। रज-वीर्य का मतलब है, 'उत्पादक-तत्त्व' (Germ-plasm), वह तत्त्व जिससे शरीर उत्पन्न होता है। इस 'उत्पादक-तत्त्व' (Germ-plasm) का सन्तति-से-सन्तति में जैसे-के-तैसे बने रहने के सिद्धान्त को विज़मैन का 'उत्पादक-तत्त्व की निरन्तरता' (Continuity of Germ-plasm) का सिद्धान्त कहा जाता है। इस 'उत्पादक-तत्त्व' (Germ-plasm) पर 'अर्जित-गुणों' (Acquired characters) का प्रभाव पड़ जाता है, और क्योंकि 'उत्पादक-तत्त्व' वैसे-का-वैसा बना रहता है,

इसलिए 'अर्जित-गुण' उत्पादक-तत्त्व की निरन्तरता के कारण 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) के द्वारा सन्तान-से-सन्तान में चले जाते हैं।

फ्रांसिस गाल्टन ने अपने अन्वेषणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उत्कृष्ट प्रतिभाशाली (Genius) व्यक्ति अन्य घरानों में भी हो सकते हैं, परन्तु जो प्रतिभाशाली घराने होते हैं, उनमें ऐसे व्यक्ति ज्यादा दिखाई देते हैं। क्यों ज्यादा दिखाई देते हैं? इसका कारण सिवाय इसके क्या हो सकता है कि प्रतिभाशाली माता-पिता के गुण सन्तति में संक्रान्त होते हैं। समाज-शास्त्र के प्रश्न, जैसा हम दूसरे अध्याय में देख आये हैं, समस्याओं के 'पारस्परिक-सम्बन्ध' (Correlation) के प्रश्न हैं। समाज-शास्त्र की दृष्टि से वर्त्तमान समस्या का रूप यह है कि 'प्रतिभा और वंशानुसंक्रमण का पारस्परिक-सम्बन्ध' (Correlation of Genius with Heredity) क्या है? क्या प्रतिभा, या इसी प्रकार के माता-पिता के अन्य गुण सन्तति में जाते हैं, या नहीं? फ्रांसिस गाल्टन की विचार-धारा को कार्ल पीयरसन (Karl Pearson) ने और आगे बढ़ाया। उसने यह परिणाम निकाला कि मानव-समाज में जो भिन्नता पायी जाती है, उस पर 'पर्यावरण' (Environment) का बहुत थोड़ा प्रभाव है, इस विविधता का मुख्य-कारण 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) है। पीयरसन ने यहाँ तक कहा कि किसी व्यक्ति के निर्माण में 'पर्यावरण' का और 'वंशानुसंक्रमण' का कहाँ तक असर है इसे मापा-तोला भी जा सकता है। उसने कई ऐसे दृष्टान्त एकत्रित किये जिनसे सिद्ध होता था कि एक ही जाति के दो व्यक्तियों पर परीक्षण किया जाय, तो 'पर्यावरण' की अपेक्षा 'वंशानुसंक्रमण' का असर सात गुना ज्यादा पाया जायगा।

पीयरसन के बाद उसी के पग-चिह्नों पर चलते हुए अन्य अनेक विद्वानों ने इस विषय का अध्ययन किया है। इस अध्ययन को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है:—

(क) 'व्यवसायों की श्रेणी का अध्ययन' (Study of Class or Occupational Categories)—यह देखा गया है कि राजघरानों में ज्यादा प्रतिभाशाली व्यक्ति पैदा होते हैं; अमरीका में पादरियों के घरानों में ज्यादा प्रसिद्ध व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं; अमरीका में विज्ञान के पण्डित किसानी घरानों में सबसे कम तथा अन्य व्यवसायों के घरानों में सबसे ज्यादा हुए हैं।

(ख) 'जातियों या नस्लों की श्रेणी का अध्ययन' (Study of National or Racial Categories)—यह देखा गया है कि अमरीकन बच्चे और नीग्रो बच्चे की 'जन्म-जात-बुद्धि' में भेद है। 'जन्म-जात-बुद्धि' का क्या अर्थ है? बुद्धि दो तरह की होती है। एक तो पढ़ने-लिखने से बुद्धि प्राप्त होती है; दूसरी बिना पढ़े-लिखे, जन्म से, एक प्रकार की बुद्धि हर-एक में पायी जाती है। पढ़ने-लिखने से प्राप्त होने वाली बुद्धि घट-बढ़ सकती है, परन्तु जन्म-जात-बुद्धि बड़ी आयु में भी उतनी-की-उतनी बनी रहती है। जन्म से मिली होने से इसे जन्म-जात

कहते हैं। इस जन्म-जात को मापने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने कई उपाय निकाले हैं जिन्हें 'बुद्धि-परीक्षा' (Intelligence tests) कहते हैं। 'बुद्धि-परीक्षा' के नियमों से देखा गया है कि भिन्न-भिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न नस्लों की, एक ही 'पर्यावरण' में रहते हुए भी, बुद्धि भिन्न-भिन्न होती है। इसका यही अभिप्राय हो सकता है कि यह बुद्धि उन्हें 'पर्यावरण' (Environment) से नहीं, 'वंशानु-संक्रमण' (Heredity) से प्राप्त हुई है।

(ग) 'परिवारों का अध्ययन' (Study of Family Groups)——कई परिवारों की लम्बी-चौड़ी वंश-परम्परा का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनमें सब-के-सब उच्च-कोटि के महापुरुष हुए, या सब-के-सब चोर, जुआरी, व्यभिचारी हुए। उदाहरणार्थ, जोनाथन एडवर्ड् स (Jonathan Edwards) तथा जूक और कालीकाक-वंशों (Jukes and Kallikaks) के अध्ययन से यह पता चलता है कि पहले ख़ानदान के सभी लोग उच्च-कोटि के, और दूसरे ख़ानदानों के सभी लोग नीच कोटि के हुए। इसमें कारण 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) ही हो सकता है।

५. 'वंशानुसंक्रमण' के सिद्धान्त की आलोचना

'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) के जिस सिद्धान्त का हमने प्रतिपादन किया है, उसके सम्बन्ध में समाज-शास्त्र को बड़ी दिलचस्पी है। समाज-शास्त्र की इस सम्बन्ध में दिलचस्पी का कारण यह है कि अगर 'पर्यावरण' (Environment) का मनुष्य को बनाने में बहुत ही थोड़ा हाथ है, वह जो-कुछ है माता-पिता के रज-वीर्य से बना-बनाया आता है, तब तो मनुष्य के बनाने में समाज का कुछ स्थान ही नहीं रहता। परन्तु क्या वास्तव में यही स्थिति है? क्या मनुष्य के बनाने में समाज का, अर्थात् 'पर्यावरण' (Environment) का बहुत थोड़ा हाथ है?

इस सम्बन्ध में अकबर का परीक्षण प्रसिद्ध है। उसने कुछ बच्चे जन्म से ही मानव-सम्पर्क से बिलकुल अलग रखे थे। वह यह देखना चाहता था कि मनुष्य की स्वाभाविक भाषा क्या है? जब कुछ वर्षों के बाद उन बच्चों को लाया गया, तो वे गूँगों की तरह बोलते थे। ५वें अध्याय में हम ईसाई पादरी श्री सिंह द्वारा भेड़ियों की कन्दराओं में पकड़ी गई दो लड़कियों का ज़िक्र कर आये हैं। वे भेड़ियों के साथ रही थीं, उन्हीं की-सी आवाज़ निकालती थीं, उनमें से कमला लड़की को मनुष्य की वाणी के थोड़े-से शब्द सीखने के लिए साल, सवा-साल लगा। इसी प्रकार का वर्णन एक और लड़के का पाया जाता है जो जंगल में मिला। उसका नाम कास्पर हाउसर (Kaspar Hauser) था। वह भी समाज से अलग रहने के कारण कुछ नहीं जानता था। ऐसे दृष्टान्तों को देख कर समाज-शास्त्रियों का यह कहना स्वाभाविक है कि मनुष्य जो-कुछ सीखता है, उसमें 'पर्यावरण' (Environment) का बहुत-कुछ हाथ है। ऐसी अवस्था में जो तीन बातें हम ऊपर लिख आये हैं उनका क्या समाधान है? हम क्रमशः एक-एक बात को लेकर उसकी आलोचना करेंगे।

(क) 'व्यवसायों की श्रेणी का अध्ययन' (Study of Class or Occupational Categories)--हमने पहले कहा था कि यह देखा गया है कि उच्च घराने के लोगों के परिवारों में उच्च-श्रेणी के व्यक्ति पैदा होते हैं, राजा-महाराजा, पादरी, पण्डित की सन्तान की जन्म-प्राप्त योग्यता ऊँची होती है। अमरीका में कुछ व्यापारियों के जीवन का अध्ययन किया गया। ५ लाख डालर से अधिक आमदनी वाले व्यापारियों के पास उनके जीवन के सम्बन्ध में प्रश्नावली भेजी गई जिससे पता चला कि ५६.७ प्रतिशत सफल व्यापारी सफल व्यापारियों की सन्तान थे। ऐसी बातों से यह परिणाम निकालने का प्रयत्न किया गया है कि इन लोगों को जो व्यापार के गुण 'वंश-परम्परा' से प्राप्त हुए थे, उनके कारण वे व्यापार में सफल हुए। परन्तु यह विचार-प्रणाली ग़लत है। इन लोगों के जीवन की सफलता को 'वंश-परम्परा' से प्राप्त गुणों के कारण क्यों माना जाय? क्यों न यह माना जाय कि जन्मते ही जिन 'पर्यावरणों' में इन लोगों की सन्तान रहती है उन 'पर्यावरणों' का उनके विकास पर प्रभाव पड़ा है। जो बालक बचपन से ही राज-घराने में रहेगा, पादरी या पण्डित के घर विद्या के वातावरण से घिरा रहेगा, बचपन से ही व्यापार की बातें देखेगा, वह दूसरों की अपेक्षा अपने कार्य में क्यों चतुर न होगा? ऐसे दृष्टान्तों से अगर 'वंश-परम्परा' के पक्ष में कोई परिणाम निकलता है, तो 'पर्यावरण' के पक्ष में भी उतना ही जबर्दस्त परिणाम निकलता है।

(ख) 'जातियों या नस्लों का अध्ययन' (Study of National or Racial Categories)—'बुद्धि-परीक्षा' (Intelligence tests) के परीक्षणों के आधार पर यह परिणाम निकाला गया है कि प्रथम महायुद्ध में अमरीका में जो सिपाही फौज में भर्त्ती हुए थे उनकी औसतन 'मानसिक-आयु' (Mental age) १०.४ वर्ष, तथा गोरे सिपाहियों की 'मानसिक-आयु' १३.१ वर्ष थी। मनुष्य की दो प्रकार की आयु होती है—एक तो 'शारीरिक-आयु', दूसरी 'मानसिक-आयु'। जो व्यक्ति २० वर्ष का है, उसकी 'शारीरिक-आयु' तो बीस वर्ष ही है, परन्तु अगर वह रहन-सहन में, समझ में, अक्ल में १० वर्ष की आयु के बालक के समान बरतता है, तो २० वर्ष की 'शारीरिक-आयु' के होते हुए भी उसकी 'मानसिक-आयु' १० वर्ष ही है। इस प्रकार के 'बुद्धि-परीक्षा' के परीक्षणों के आधार पर भिन्न-भिन्न नस्लों की 'मानसिक-आयु' (Mental age) में भेद पाया गया है। इसका अर्थ यह है कि अगर १५ वर्ष की 'शारीरिक-आयु' के १०० नीग्रो, और १०० ही गोरे लड़के लिये गए, तो तुलना में नीग्रो-नस्ल के बालकों की 'मानसिक-आयु' गोरे लड़कों की 'मानसिक-आयु' से कम पायी गई है। इसका यह स्पष्ट मतलब है कि नीग्रो की 'मानसिक-आयु' वंश-परम्परा से प्राप्त संस्कारों के कारण कम है, और गोरे बालकों की 'मानसिक-आयु' वंश-परम्परा के कारण नीग्रो बालकों की अपेक्षा ऊँची है।

परन्तु क्या इस प्रकार के परीक्षणों से हम किसी ठीक परिणाम पर पहुँच सकते हैं? 'बुद्धि-परीक्षा' कहाँ तक मनुष्य की जन्म-सिद्ध शक्तियों को माप सकती

है ? कई विशेषज्ञों का विचार है कि 'बुद्धि-परीक्षा' के परीक्षण ज्यादातर बालकों ने जो-कुछ पर्यावरण से सीखा होता है, उसका माप बतलाते हैं। इसके अतिरिक्त नीग्रो बालक तथा गोरी जाति के बालक के जीवन की सम्पूर्ण पृष्ठ-भूमि अलग-अलग होती है। दोनों की परवरिश, उनका लालन-पालन अलग-अलग ढंग से हुआ होता है, इसलिए उनकी जाँच के आधार पर यह कह सकना कठिन है कि यह जाँच उनके जन्म-सिद्ध गुणों की है, पर्यावरण से पाये हुए गुणों की नहीं।

(ग) 'परिवारों का अध्ययन' (Study of Family Groups)--वंशानुसंक्रमण-वादी कहते हैं कि उन्होंने कई परिवारों का अध्ययन किया है जिससे सिद्ध होता है कि एक परिवार में ऊँची-ही-ऊँची स्थिति के लोग उत्पन्न हुए हैं, दूसरे में नीची-ही-नीची स्थिति के लोग हुए हैं। उदाहरणार्थ, जूक्स-वंश के सम्बन्ध में कहा जाता है कि १७२० में न्यूयार्क में कोई जूक (Juke) नामी व्यक्ति हुआ। १८७७ में उसके वंश के १२०० व्यक्तियों का पता लगाया गया जिनमें से ४४० किसी-न-किसी शारीरिक-दोष से ग्रस्त या रोग से पीड़ित थे, ३१० भिखमंगे थे, ३०० अपाहिज-घरों में मरे थे, १३० ने कोई-न-कोई अपराध किया था जिनमें से ७ ने कत्ल किये थे, और इनमें जितनी स्त्रियाँ थीं, उनमें से आधी वेश्याएँ थीं। १९१५ में फिर इस वंश के लोगों की जाँच-पड़ताल की गई जिसमें २८२० व्यक्तियों का पता चला। इनमें से ५०० पागल थे। इसके विपरीत जोनाथन एडवर्ड्स (Jonathan Edwards) के वंशधरों का १९०० में पता चलाया गया। इनमें से १३९४ का पता चला जिनमें से २९५ कालेजों के ग्रेजुएट थे, और अधिक संख्या उच्च-कोटि के व्यापारियों तथा अन्य व्यवसायों में कार्य करने वालों की थी। इनमें से १३ व्यक्ति कालेजों के प्रेज़ीडेंट हुए, एक अमरीका का वाइस-प्रेसीडेंट हुआ, और जहाँ तक पता चल सका कोई किसी अपराध में सज़ावार नहीं हुआ।

सरसरी तौर पर देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन दृष्टान्तों से वंशानुसंक्रमण के सिद्धान्त को बड़ी पुष्टि मिलती है, परन्तु गहराई से विचार करने पर प्रकट होगा कि इन दृष्टान्तों से भी यह सिद्ध नहीं होता कि वंशानुसंक्रमण के सिद्धान्त से ही सन्ततियाँ आगे-आगे बढ़ती हैं। सबसे पहला प्रश्न तो यह है कि ८–१० वंशों के बाद जूक्स या एडवर्ड्स वंश के आज जो व्यक्ति हैं उन्हें इनके वंशधरों की सन्तान कैसे कहा जा सकता है ? प्रत्येक वंश में नया रुधिर आ मिलता है, फिर आठ-दस वंशों में तो न जाने कितने रुधिरों का संगम हुआ, दसवीं पीढ़ी में जाकर जूक्स और एडवर्ड्स का ही ख़ून तो अपना पट्टा लिखा कर नहीं बैठा होगा। इसके अतिरिक्त जूक्स वंश के सब लोगों का तो नहीं पता चला। सिर्फ़ वे लोग नज़र में पड़ गये जो अपने कारनामों से काफ़ी बदनाम हो चुके थे, न जाने इसी वंश के कितने व्यक्ति आँखों के सामने ही नहीं आये, ऐसे जिन्होंने कोई बुरा काम किया ही नहीं। इसी प्रकार एडवर्ड्स वंश के उन्हीं लोगों का पता चला जो प्रसिद्ध हो गए, जो प्रसिद्ध नहीं हुए, शायद जिन्होंने कई अपराध भी किये हों, उनका पता ही कहाँ

चला ? हमारे यह सब-कुछ कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि 'वंशानुसंक्रमण' का कोई असर ही नहीं होता। होता है, परन्तु वर्त्तमान 'सन्तति-शास्त्र' (Eugenics) जिस कदर इस असर पर ज़ोर देता है, और जिस कदर 'पर्यावरण' को बिलकुल बेकार समझता है, वह बात ठीक नहीं है--यही हमारे कथन का अभिप्राय है।

६. वशीकृत या नियन्त्रित परीक्षण (Controlled Experiments)

ऊपर जितने दृष्टान्त दिये गए हैं, उनमें यह कह सकना कठिन है कि 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) तथा 'पर्यावरण' (Environment)--इन दोनों में से किसका प्रभाव अधिक है। जिन बातों को 'वंशानुसंक्रमण-वादी' अपने पक्ष में घटाते हैं, उन्हीं को 'पर्यावरण'-वादी' यह कहकर उड़ा देते हैं कि ये बातें 'पर्यावरण' का परिणाम हैं, 'वंशानुसंक्रमण' का नहीं। ऐसी अवस्था में ऐसे परीक्षणों की आवश्यकता है जिनमें, या तो 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) एक ही रहे, 'पर्यावरण' (Environment) बदलता रहे, या 'पर्यावरण' एक ही रहे, 'वंशानुसंक्रमण' बदलता रहे। तब पता चले कि जो चीज़ बदलती रही है, उसका व्यक्ति के ऊपर कैसा प्रभाव पड़ा है। ऐसे परीक्षणों को 'वशीकृत या नियंत्रित परीक्षण' (Controlled experiments) कहते हैं। वशीकृत या नियंत्रित इसलिए क्योंकि इनमें 'वंशानुसंक्रमण' तथा 'पर्यावरण' में से एक चीज़ हमारे वश में, हमारे नियन्त्रण में, हमारे हाथ में होती है। ऐसे परीक्षण निम्नलिखित हैं :—

(क) जुड़वाँ बच्चे एक ही पर्यावरण में (Twins in Identical Environment)--एक माँ-बाप के अलग-अलग बच्चों में कहा जा सकता है कि उनका 'वंशानुसंक्रमण' भिन्न-भिन्न होता है, क्योंकि उनके भिन्न-भिन्न समय के रज-वीर्य से वे सन्तानें जन्मी होती हैं, परन्तु जुड़वाँ बच्चे तो एक ही समय के रज-वीर्य से उत्पन्न होते हैं। जुड़वाँ बच्चों की भी दो किस्में हैं। एक तो वे जुड़वाँ बच्चे, जो एक ही समय में दो 'रजःकण' (Ovum) से उत्पन्न हुए--जिन्हें 'डाई-ज़ाईगोटिक' (Di-zygotic) कहते हैं, दूसरे वे जुड़वाँ बच्चे जो माता के एक ही 'रजःकण' (Ovum) के दो टुकड़े हो जाने के कारण होते हैं--जिन्हें 'मोनो-ज़ाईगोटिक' (Mono-zygotic) कहते हैं। दो पृथक्-पृथक् 'रजःकण' (Ovum) के विषय में भी कहा जा सकता है कि क्योंकि ये 'रजःकण' (Ovum) अलग-अलग हैं, इसलिए इनका 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) भी अलग-अलग होगा, परन्तु एक ही 'रजःकण' (Ovum) के अलग-अलग दो टुकड़े हो जाने से जो जुड़वाँ बच्चे उत्पन्न हो जाते हैं, उनके सम्बन्ध में तो अलग-अलग 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) की बात नहीं कही जा सकती।

इस प्रकार की पाँच बहनों का एक परीक्षण मनोविज्ञान की पुस्तकों में प्रसिद्ध है। श्री विलियम ई० ब्लेटज़ ने १९३८ में 'पाँच-बहनें' (The Five Sisters) नाम की एक पुस्तक लिखी थी जिसमें इन पाँच बहनों का वर्णन था। ये पाँचों बहनें एक ही 'रजःकण' (Ovum) के पाँच टुकड़े हो जाने से पाँच बनी थीं,

इसलिए इनके 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) के एक ही होने में कोई संदेह नहीं था। ये डायोनी खानदान की पाँच बहनें थीं, इसलिए इन्हें 'डायोनी-पंचक' (Dionne quintuplets) कहा जाता है। जब ये तीन वर्ष की थीं, तब



पांडीचेरी के एक मातृ-गृह में १९५६ के अन्तिम भाग में श्रीमती आर० कमलम्मल ने पाँच लड़कियों को एक-साथ जन्म दिया।

मनोवैज्ञानिकों ने इनकी 'सामाजिक-सफलता' (Social success), 'सामाजिक-लोकप्रियता' (Social popularity) तथा 'सामाजिक-रुचि' (Social interest)—इन तीन गुणों की परीक्षा ली। यह परीक्षा यह देखने के लिए थी कि 'वंशानुसंक्रमण' के बिलकुल एक तथा 'पर्यावरण' के भी लगभग एक-से रहने पर भी उनमें क्या भिन्नता थी। इन परीक्षाओं से निम्न परिणाम निकला :—

डायोनी-बहनों की परीक्षा का परिणाम

बहनों का नाम	सामाजिक-सफलता	सामाजिक-लोकप्रियता	सामाजिक-रुचि
१. एनेट	१३० प्रतिशत	८० प्रतिशत	२७० प्रतिशत
२. सेसिल	१३० ,,	१२० ,,	१८० ,,
३. एमिली	९० ,,	१०० ,,	६० ,,
४. मेरी	९० ,,	७० ,,	४० ,,
५. यूनी	१८० ,,	१६० ,,	१०० ,,

इस परिणाम से स्पष्ट है कि 'सामाजिक-सफलता' में अगर 'मध्य-मान' (Average) १०० माना जाय, तो जहाँ एमिली और मेरी को ९० अंक मिले, वहाँ यूनी को उनसे दुगुने १८० अंक प्राप्त हुए; 'सामाजिक-लोकप्रियता' में जहाँ

एनेट को ८० अंक मिले, वहाँ यूनी को १६० अंक मिले; 'सामाजिक-रुचि' में जहाँ मेरी को ४० अंक मिले, वहाँ एनेट को २७० अंक प्राप्त हुए। इन बहनों का ध्यान से अध्ययन करने वाले विशेषज्ञ का कहना है कि इन बहनों में से एमिली को गुस्सा बिलकुल नहीं आता था, एनेट और मेरी गुस्से की पुतली थीं; एमिली को उन बातों से डर नहीं लगता था जिनसे दूसरी बहनें डरती थीं। एमिली दूसरी बहनों के प्रति किसी प्रकार का राग-द्वेष प्रकट नहीं करती थी। इन सब कारणों से विशेषज्ञ ने एमिली को आत्म-निर्भर तथा स्वतंत्र व्यक्तित्व वाली कन्या का नाम दिया। इन सब बहनों में मेरी में सबसे अधिक बचपन दिखाई देता था, यूनी ऐसा बरतती थी जैसे सब की बड़ी बहन हो। बिलकुल एक 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) तथा लगभग एक-से 'पर्यावरण' (Environment) में रहते हुए इन बहनों की इतनी विषमता आश्चर्य में डालने वाली वस्तु है। डायोनी-बहनों के परीक्षण से हम क्या परिणाम निकाल सकते हैं? एक ही 'वंशानुसंक्रमण', एक ही 'पर्यावरण'—और फिर इतना भेद? यह समाज-शास्त्र की पुस्तक है, दर्शन-शास्त्र की नहीं, परन्तु कई विचारक इन भेदों को पुनर्जन्म के, आत्मा के भेद कह सकते हैं, परन्तु यह सब कल्पना का क्षेत्र है। जो-कुछ हो, समाज-शास्त्र के पण्डितों का कहना है कि इन परीक्षणों से भी हम निश्चित तौर पर किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सकते, न यह कह सकते हैं कि ये परिवर्त्तन 'पर्यावरण' के कारण ही हैं, न यह कह सकते हैं कि ये परिवर्त्तन 'वंशानुसंक्रमण' के कारण ही हैं।

(ख) 'जुड़वाँ बच्चे भिन्न-भिन्न पर्यावरणों' में (Twins in Different Environments)—एक-ही-से पर्यावरण में जुड़वाँ बच्चों के परीक्षण की अपेक्षा भिन्न-भिन्न पर्यावरणों में जुड़वाँ बच्चों के परीक्षण से हम ज्यादा निश्चित परिणाम पर पहुँच सकते हैं, यह पता लगा सकते हैं कि जब 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) बिलकुल एक-सा हो, तब भिन्न-भिन्न 'पर्यावरण' (Environment) का व्यक्ति के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। प्राणि-शास्त्री न्यूमैन, मनोविज्ञान-शास्त्री फ्रीमैन तथा गणनाशास्त्री हौलजिंगर ने जुड़वाँ बच्चों के १९ युगलों का अध्ययन करके कुछ परिणाम निकाले। इनको भिन्न-भिन्न पर्यावरणों में भिन्न-भिन्न घरों में रखा गया था। यह देखा गया कि इनकी मानसिक योग्यताओं में बहुत-कुछ समानता थी, परन्तु इनमें से पाँच, जिनके पर्यावरण में बहुत भिन्नता थी, भिन्न-भिन्न मानसिक-स्तर के थे।

(ग) 'भिन्न-भिन्न वंश के बच्चे एक-से पर्यावरण में' (Children of Different Heredity in Identical Environment)—ऊपर हमने जो परीक्षण दिये, वे 'वंशानुसंक्रमण' को वश में रख कर परीक्षण किये गए थे, परन्तु ठीक परिणाम पर पहुँचने के लिए ऐसे परीक्षण करना भी आवश्यक है जिनमें 'पर्यावरण' को वश में करके 'वंशानुसंक्रमण' की भिन्नता का प्रभाव देखा जा सके, जिन परीक्षणों में 'पर्यावरण' तो एक-सा हो, परन्तु वंश भिन्न-भिन्न हों। ऐसे परीक्षणों से पता चलेगा कि अगर रज-वीर्य अलग-अलग है, और 'पर्यावरण'

एक ही है, तो क्या अलग-अलग रज-वीर्य होने से व्यक्ति अलग-अलग ही विकसित होता है, या अलग-अलग रज-वीर्य होने पर भी समान-'पर्यावरण' उन्हें एक-सा बना देता है? ये परीक्षण 'पालित-बच्चों' (Foster children) पर किये जाते हैं—ऐसे बच्चों पर, जो सन्तान तो किसी और माता-पिता की होती हैं, परन्तु जिन्हें पालन-पोषण के लिए किन्हीं अन्य 'पोषण-गृहों' (Foster homes) में दे दिया जाता है। ऐसे परीक्षण कुछ मिस बी० एस० बर्क्स ने किये हैं, कुछ श्री एफ० एन० फ्रीमैन ने किये हैं। ध्यान देने की बात यह है कि दोनों अलग-अलग परिणामों पर पहुँचे हैं। हम इन दोनों के परीक्षणों की थोड़ी-थोड़ी चर्चा करेंगे :—

(i) मिस बर्क्स के परीक्षण—मिस बर्क्स ने पोषित-गृहों में पाले जाने वाले पालित-बच्चों पर जो परीक्षण किये, उनसे उसने यह परिणाम निकाला कि व्यक्ति के विकास में ८० प्रतिशत 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) का, तथा १७ प्रतिशत 'पर्यावरण' (Environment) का असर होता है। मिस बर्क्स का कहना है कि अच्छे-से-अच्छे घर का वातावरण बालक की 'बुद्धि-लब्धि' (Intelligence quotient) में ज्यादा-से-ज्यादा २० अंक बढ़ा सकता है, या बुरे-से-बुरा वातावरण २० अंक घटा सकता है। 'पर्यावरण' का इससे अधिक असर नहीं होता। मिस बर्क्स 'पालित-बच्चों' (Foster children) के अपने परीक्षणों के आधार पर 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) को बहुत अधिक महत्त्व देती है।

(ii) फ्रीमैन तथा आयोवा विश्वविद्यालय के परीक्षण—'पालित-बच्चों' पर किये गए परीक्षणों के आधार पर जो परिणाम मिस बर्क्स ने निकाले हैं, फ्रीमैन ने ठीक उससे उल्टे परिणाम निकाले हैं। उसका कहना है कि जो 'पालित-बच्चे' (Foster children) छोटी आयु में 'पोषण-गृहों' (Foster homes) में भर्त्ती कर दिये जाते हैं, उनका विकास उन बच्चों की अपेक्षा अधिक हो जाता है जिन्हें देर में ऐसे गृहों में भर्त्ती किया जाता है, इसके अतिरिक्त जिन 'पालित-बच्चों' (Foster children) को ऊँचे घरों में भर्ती किया जाता है उनका ऊँचा विकास होता है, जिन्हें नीचे घरों में भर्ती किया जाता है उनका नीचा विकास होता है।

अमरीका के आयोवा विश्वविद्यालय की तरफ़ से १५० नाजायज़ बच्चों पर परीक्षण किया गया। ये बच्चे ६ महीने की अवस्था में 'पोषण-गृहों' (Foster homes) में रख दिये गए। इनकी समय-समय पर बुद्धि-परीक्षा होती रही, और इनके मानसिक-विकास की इनके माता-पिता के मानसिक-विकास के साथ तुलना की जाती रही। इस तुलना से यह परिणाम निकला कि मानसिक-विकास पर पर्यावरण का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, इतना प्रभाव जिसे अभी तक समझा नहीं जा रहा। लोग यही समझते हैं कि जो-कुछ है, माता-पिता का, रज-वीर्य का ही प्रभाव है; परन्तु ऐसी बात नहीं है, 'पर्यावरण' का प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। आयोवा विश्वविद्यालय के परीक्षणों से यह पता चला कि १६ बच्चे ऐसे थे जिनकी माताएँ हीन-बुद्धि (Feeble-minded) कही जा सकती

थीं, उनकी 'बुद्धि-लब्धि' (IQ) ७१ थी, परन्तु उनके बच्चे 'पालित-गृहों' (Foster homes) में दो साल रहने के बाद ११६ 'बुद्धि-लब्धि' (IQ) तक पहुँच गए थे।

हमने ऊपर जो-कुछ लिखा उससे क्या परिणाम निकला ? न हम निश्चित तौर पर इस परिणाम पर पहुँच सके कि 'वंशानुसंक्रमण' ही सब-कुछ है, न इस परिणाम पर ही पहुँच सके कि 'पर्यावरण' ही सब-कुछ है। इस विषय में विद्वानों ने जो-कुछ सोचा है, उस पर शुरू से आज-दिन तक के विचारों का विश्लेषण किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विचार चार क्रमिक विचार-परम्पराओं में से गुजरा है :—

७. वंशानुसंक्रमण तथा पर्यावरण की क्रमिक विचार-परम्परा

(क) 'बुद्धि-वाद का प्रथम-क्रम' (Rational stage)—सत्तर-पचहत्तर साल पहले 'मनोविज्ञान-शास्त्री' कहते थे कि पशु तथा मनुष्य में यह भेद है कि पशु 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) से चलता है, मनुष्य 'बुद्धि' (Reason) से चलता है। जितने 'सामाजिक-विज्ञान' थे, सब इसी सिद्धान्त को मुख्य मानकर चलते थे। अर्थ-शास्त्र यह मानकर चलता था कि मनुष्य जो-कुछ करता है, सोच-समझ कर करता है, जिस काम में उसे आर्थिक-लाभ हो वही काम करता है, दूसरा नहीं। परन्तु क्या मनुष्य ऐसे काम नहीं करता जिनमें उसे नुकसान हो ? जुए में कितने लोग लाखों उड़ा देते हैं—जानते हैं इसमें चौपट हो जायेंगे, परन्तु रुक नहीं सकते। दुर्व्यसनों में लोग कितना रुपया फेंक देते हैं ? इन कामों में बुद्धि कहाँ काम करती हैं ? राजनीति यह मानकर चलती थी कि जन-सत्ता-प्रणाली में हर-एक आदमी सोच-समझ कर मत देगा, उसी व्यक्ति को मत देगा जिसके विषय में समझ लेगा कि यह देश का भला करने वाला है। परन्तु क्या ऐसा होता है ? हम आये-दिन क्या देखते हैं ? लोग मत उसको दे आते हैं जिसका खूब धूम-धड़ाका हो, जिसका जबर्दस्त इश्तिहार हो। मत-दान देते हुए बुद्धि कहाँ काम करती है ? नीति-शास्त्र में यह समझा जाता था कि जब मनुष्य को समझा दिया गया कि इस बात में उसका भला है, इसमें नुकसान, तो वह नैतिक भलाई का ही काम करेगा, बुराई का काम नहीं करेगा। परन्तु ऐसा होता तो नहीं। अनेक बार मनुष्य भले को जानता हुआ भी उससे दूर चलता चला जाता है, बुरे को जानता हुआ उसकी तरफ़ खिचता आता है—'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।'—यह प्रायः सभी का अनुभव है। यह सब देख कर मनोवैज्ञानिकों ने 'बुद्धि-वाद' के विचार को छोड़ दिया, यह कहना छोड़ दिया कि मनुष्य जो-कुछ करता है बुद्धि से करता है, सोच-समझ कर करता है।

(ख) 'प्राकृतिक-शक्ति का द्वितीय-क्रम' (Instinctive stage)—बुद्धि-वाद के बाद दूसरे विचार ने जन्म लिया। वह विचार यह था कि पशु तथा मनुष्य में कोई मौलिक भेद नहीं है। पशु भी 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct)

से काम करता है, मनुष्य भी 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) से प्रेरित होता है। प्रो० जेम्स विलियम्स ने ५१ 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) की परिगणना की। प्रो० मैक्डूगल ने उसके बाद अनेक 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) का बहुत विस्तृत विवरण तैयार किया। प्रो० थॉर्नडाइक ने इनकी संख्या और अधिक बढ़ा दी। इस समय यह प्रश्न प्रबल वेग से उठ खड़ा हुआ कि 'बुद्धि' तथा 'प्राकृतिक-शक्ति'--ये दोनों जो हमारे व्यवहार के आधार हैं--क्या ये दोनों 'पर्यावरण' (Environment) से बदलते रहते हैं, या 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) से जैसे पीछे से आ रहे हैं, वैसे-के-वैसे बने रहते हैं? एक विचार यह था कि 'बुद्धि' (Reason) तथा 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) की स्वतंत्र-सत्ता कुछ नहीं, 'बुद्धि' तो 'पर्यावरण' के अनुसार बनती-बिगड़ती ही रहती है, 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) का भी जीवन के विकास में कोई स्थान नहीं—मनुष्य जो-कुछ है, 'पर्यावरण' का ही परिणाम है। इसी विचार ने 'पर्यावरण'-वाद' के तृतीय-क्रम को जन्म दिया।

(ग) 'पर्यावरण-वाद का तृतीय-क्रम' (Environmental stage)—ऊपर की विचार-प्रक्रिया का परिणाम यह तीसरी विचार-प्रक्रिया है। 'पर्यावरण-वादियों' (Environmentalists) का कहना है कि मनुष्य के सम्पूर्ण व्यवहार का आधार 'पर्यावरण' (Environment) है। वह कैसे? रशिया के श्री पवलव ने कुछ परीक्षण किये। वह कुत्ते को जब भी भोजन देता था, तब भोजन के साथ-साथ घंटी बजाता था। कुछ देर बाद उसने क्या देखा कि जब-जब घंटी बजती थी तब-तब, भोजन के न होने पर भी, कुत्ते के मुँह में पानी आ जाता था। पहले भोजन को देख कर कुत्ते के मुँह में पानी आता था, अब भोजन के साथ 'सम्बद्ध' घंटी की आवाज़ को सुन कर मुँह में पानी आने लगा। भोजन को देख कर मुँह में पानी आ जाना 'सहज-क्रिया' थी, घंटी क्योंकि भोजन के साथ-साथ बजती थी, इसलिए घंटी और मुँह में लार आने का सम्बन्ध जुड़ गया। यह 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) का दृष्टान्त हुआ। 'पर्यावरण-वादियों' (Environmentalists) ने कहना शुरू किया कि हमारा सम्पूर्ण-व्यवहार 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) का परिणाम है। बच्चा 'गाय' बोलना कैसे सीखता है? पहले जब गाय सामने होती है, और हम गाय बोलते हैं, तब गाय को सामने देखकर वह 'गाय'-शब्द इसलिए बोलता है क्योंकि हमारे बोलने का वह अनुकरण करता है, परन्तु पीछे हमारे 'गाय' न बोलने पर भी, गाय को सामने देखकर, वह 'गाय'-शब्द बोलने लगता है। 'गाय'-शब्द और 'गाय'-जानवर के साथ 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) की भावना पैदा हो जाती है। हमारा सब ज्ञान, सारा व्यवहार इसी प्रकार सीखा जाता है। एक 'विषय' (Stimulus) के उपस्थित होने पर एक ख़ास प्रकार की 'प्रतिक्रिया' (Response) हमारे भीतर होती है। 'विषय' (Stimulus) के उपस्थित होने पर हम जो 'प्रतिक्रिया' (Response) करते हैं, वह अगर हमें सुख-प्रद है,

तो सुख के साथ 'सम्बन्ध' होने के कारण वह सीख ली जाती है, अगर दुःख-प्रद है, तो उसे हम अपने व्यक्तित्व से 'असम्बद्ध' कर देते हैं, उसे नहीं सीखते। इस प्रकार हमारा सब सीखना 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) है। इस 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' का आधार 'पर्यावरण' (Environment) है। 'पर्यावरण' ही बचपन से हमारे भीतर भिन्न-भिन्न प्रकार की 'प्रतिक्रियाएँ' (Responses) उत्पन्न करता रहता है---इन प्रतिक्रियाओं से हम जो-कुछ हैं, वह बन जाते हैं। तो फिर हम क्या हैं? हम 'पर्यावरण' (Environment) की 'प्रतिक्रिया' (Response) हैं, और कुछ नहीं हैं। 'पर्यावरण' जो-कुछ हमें बना दे, वही हम बन जाते हैं, और कुछ नहीं बनते। 'पर्यावरण-वादियों' का यह दृष्टि-कोण 'वंशानुसंक्रमण' को बिलकुल नहीं मानता, 'पर्यावरण' को ही सब-कुछ मानता है। यह स्पष्ट है कि जहाँ तक यह दृष्टि-कोण 'पर्यावरण' पर बल देता है, वहाँ तक यह ठीक है, जहाँ 'वंशानुसंक्रमण' का बिलकुल तिरस्कार करता है, वहाँ तक यह ग़लत है।

(घ) 'समन्वय-वाद का चतुर्थ-क्रम' (Synthetic stage)---सिर्फ़ 'पर्यावरण' ही प्राणी का निर्धारण करता है---यह बात ग़लत है। तो फिर सही दृष्टि-कोण क्या है? सही दृष्टि-कोण वह है जिसमें 'पर्यावरण' तथा 'वंशानुसंक्रमण' दोनों को स्थान दिया जाता है। यह प्रश्न ही ग़लत है कि 'पर्यावरण' प्राणी के व्यक्तित्व का निर्धारण करता है, या 'वंशानुसंक्रमण'। ये दोनों एक-समान प्रभाव रखते हैं। हम ऐसी किसी स्थिति की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें सिर्फ़ 'पर्यावरण' काम कर रहा हो, न ही ऐसी स्थिति की कल्पना कर सकते हैं जिसमें सिर्फ़ 'वंशानुसंक्रमण' का सिद्धान्त काम कर रहा हो। जीवन में ये दोनों इतने रले-मिले हैं कि इन्हें अलग कर सकना सम्भव नहीं है। 'वंशानुसंक्रमण' का भौतिक-आधार रज-वीर्य है, परन्तु रज-वीर्य का विकास 'पर्यावरण' के बिना नहीं हो सकता। निकृष्ट-कोटि के रज-वीर्य का उत्कृष्ट-कोटि का पर्यावरण कुछ नहीं बना सकता, परन्तु उत्कृष्ट-कोटि का रज-वीर्य बिना उत्कृष्ट-कोटि के पर्यावरण के भी बेकार है। अगर कोई प्रतिभा-शाली बालक ऐसे पर्यावरण में रख दिया जाय जिसमें उसे विकसित होने का मौका ही न मिले, तो वह उत्तम खाद न मिलने के कारण जैसे उत्तम पौधा मुरझा जाता है वैसे मुरझा जायगा। इस दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि रज-वीर्य जितना उत्तम हो उसे उतना ही उत्तम 'पर्यावरण' मिले ताकि उसमें निहित उत्कृष्ट गुण विकास पा सके। वर्त्तमान सामाजिक-विकास में सब बच्चों को विकास के अवसर देना इसलिए अत्यन्त महत्त्व की वस्तु है।

हमने देखा कि 'पर्यावरण' या 'वंशानुसंक्रमण' के विषय में यह प्रश्न कि इन दोनों में से किसका स्थान ऊँचा है---एक निरर्थक प्रश्न है। फिर भी 'वंशानुसंक्रमण' के विषय में कुछ प्रश्न तो ऐसे हैं जो प्रत्येक प्राणि-शास्त्री के हृदय में उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, इस बात का क्या कारण है कि किसी की जन्मते ही काली आँख होती

है, किसी की भूरी; कोई जन्मते ही लड़का होता है, कोई लड़की; कोई जन्मते ही एक बीमारी लेकर आता है, कोई बिलकुल तन्दुरुस्त होता है? जन्म से ही प्राणी में जो शारीरिक भेद पाये जाते हैं, उनका आध्यात्मिक कारण भले ही पूर्व-जन्म के कर्म हों, परन्तु हमारा प्रश्न तो यह है कि उनका भौतिक-आधार क्या है? इस सम्बन्ध में इस समय जो सर्व-मान्य सिद्धान्त है, उसे 'मेंडल का नियम' (Mendel's law) कहते हैं। हम इस प्रकरण को 'मेंडल का नियम' क्या है—यह बतलाकर समाप्त करेंगे।

८. वानस्पतिक-जीवन में मेंडल का नियम (Mendel's Law in Vegetable Kingdom)

(क) उत्पादक-कोष्ठ के तत्त्व की निरन्तरता (Continuity of Germ-plasm) का सिद्धान्त—हम इसी अध्याय के प्रारम्भ में लिख आये हैं कि पहले-पहल गाल्टन ने इस प्रश्न को उठाया कि सन्तति माता-पिता से ही नहीं मिलती, कभी-कभी पितामह, प्रपितामह से भी मिलती है। इसका क्या कारण है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए उसने यह कल्पना की कि माता-पिता के रज-वीर्य का आधार-भूत-तत्त्व जिसे 'उत्पादक-कोष्ठों का तत्त्व' (Germ-plasm) कह सकते हैं, और जिसके कारण ही सन्तान के रंग, रूप, आकृति आदि का निर्धारण होता है, बालक के शरीर में ज्यों-का-त्यों बना रहता है, और अगली-अगली सन्तान में चलता चला जाता है। तभी तो यह सम्भव है कि पुत्र पिता से न मिलकर दादा-परदादा से मिलता है। दादा-परदादा का कोई अंश इसमें पहुँचा होगा, तभी ऐसा हो सका, नहीं तो ऐसा कैसे होता? गाल्टन के इस विचार को विज़मैन ने आगे बढ़ाया, और इसे एक सिद्धान्त का रूप दे दिया। विज़मैन ने कहा कि 'उत्पादक-कोष्ठों का तत्त्व' (Germ-plasm) पिता से पुत्र, और पुत्र से आगे-आगे की सन्तति में लगातार चलता चला जाता है, इसकी एक निरंतर श्रृंखला बनी रहती है। इस सिद्धान्त को 'उत्पादक-कोष्ठ के तत्त्व की निरंतरता' (Continuity of Germ-plasm) का नाम दिया गया।

'उत्पादक-कोष्ठ के तत्त्व की निरंतरता' (Continuity of germ-plasm) का अभिप्राय क्या है? विज़मैन का कथन था कि प्रत्येक प्राणी का शरीर दो प्रकार के 'कोष्ठों' (Cells) से बना हुआ है। पहले प्रकार के 'कोष्ठों' (Cells) का नाम 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cells) है, दूसरे प्रकार के 'कोष्ठों' (Cells) का नाम 'शारीर-कोष्ठ' (Somatic cells) है। 'शारीर-कोष्ठों' को 'शारीर-कोष्ठ' इसलिए कहते हैं क्योंकि इनसे 'शरीर' के भिन्न-भिन्न अंग बनते हैं, वे 'शरीर' की रचना करते हैं, और अपनी आयु भुगत कर मर जाते हैं; परन्तु इन नश्वर 'शारीर-कोष्ठों' से बने शरीर के भीतर अविनश्वर 'उत्पादक-कोष्ठ' रहते हैं। 'शारीर-कोष्ठों' से बने शरीर का काम इन 'उत्पादक-कोष्ठों' की रक्षा करना, इन्हें सम्भाल कर रखना है। नर के उत्पादक-कोष्ठों'

को 'वीर्य-कण' (Sperms) तथा मादा के 'उत्पादक-कोष्ठों' को 'रजःकण' (Ova) कहते हैं। नर के 'उत्पादक-कोष्ठ'--'वीर्य-कण'--उसके शरीर में से निकल कर मादा के गर्भाशय में प्रविष्ट होकर उसके 'उत्पादक-कोष्ठों'--'रजःकण'--से मिल जाते हैं, और इसी प्रक्रिया से शिशु का जन्म होता है। शिशु के शरीर में 'उत्पादक-कोष्ठ' अपने सदृश दूसरे 'उत्पादक-कोष्ठों' (Generative cells) को तो उत्पन्न करते ही हैं, किन्तु साथ-ही-साथ 'शारीर-कोष्ठों' (Somatic cells) को भी उत्पन्न करते रहते हैं। 'उत्पादक-कोष्ठ' तो 'उत्पादक' तथा 'शारीर'--दोनों प्रकार के 'कोष्ठों' (Cells) को उत्पन्न करते हैं, 'शारीर-कोष्ठ' सिर्फ़ शरीर के रूप में विकसित होकर 'उत्पादक-कोष्ठों' की रक्षा का काम करते हैं। ये 'शारीर-कोष्ठ' शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों के रूप में विकसित होते हैं, शरीर के आयु भोग लेने पर स्वयं नष्ट होते रहते हैं, परन्तु 'उत्पादक-कोष्ठों' को नष्ट नहीं होने देते। 'उत्पादक-कोष्ठों' का तत्त्व नष्ट होने के बजाय पिता से पुत्र, पुत्र से पौत्र, और इसी प्रकार संतान-से-संतान में चलता चला जाता है। यह मानो हमें धरोहर में मिली सम्पत्ति है, हम इसे सुरक्षित रखते हैं। जिस प्रकार बैंक में रुपया जमा रहता है, इसी प्रकार यह मानो हमारे शरीर में जमा रहता है। 'उत्पादक-कोष्ठों' के इसी तत्त्व के सन्तान-से-सन्तान में प्रवाह को 'उत्पादक-कोष्ठों के तत्त्व की निरन्तरता' (Continuity of germ-plasm) कहा जाता है।

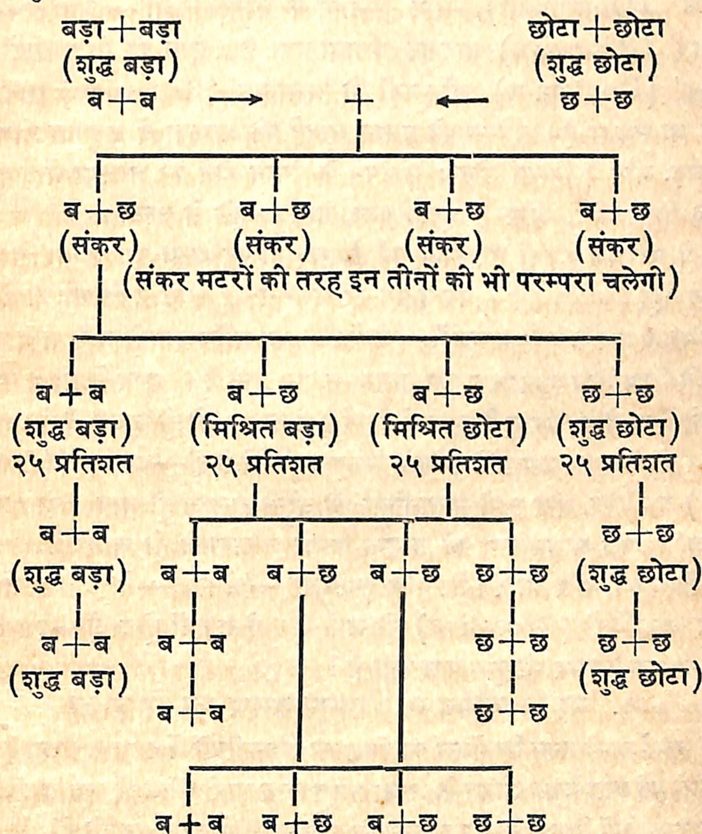
(ख) जर्म-प्लाज़्म, क्रोमोसोम्स, जेनीज़--'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cells) तथा 'उत्पादक-तत्त्व' (Germ-plasm) में भेद है। 'उत्पादक-तत्त्व' वह 'तत्त्व'--'पदार्थ'--है, जो 'उत्पादक-कोष्ठ' में रहता है। 'उत्पादक-कोष्ठों' (Generative cells) में विद्यमान 'उत्पादक-तत्त्व' (Generative plasm) ही पैतृक-गुणों के सन्तति में संक्रान्त होने का भौतिक आधार है। इन 'उत्पादक-कोष्ठों' (Generative cells) में एक कठोर गाँठ-सी होती है जिसे 'न्यूक्लियस' (Nucleus) कहते हैं। इस 'न्यूक्लियस' में भी छोटे-छोटे रेशे-से होते हैं, जिन्हें आसानी से गहरा रंग पकड़ सकने और रेशे-जैसा होने के कारण 'वर्ण-सूत्र', अर्थात् 'क्रोमोसोम्स' (Chromosomes) कहते हैं। विज़मैन का कथन था कि ये ही 'वर्ण-सूत्र'--'क्रोमोसोम्स'--पैतृक-गुणों के 'वाहक' होते हैं। पीछे जाकर दूर-वीक्षण-यन्त्र के अधिक उन्नत हो जाने पर नये परीक्षणों से पता चला कि 'वर्ण-सूत्रों'--'क्रोमोसोम्स'--की रचना अन्य छोटे-छोटे दानों से होती है, जिन्हें 'वाहकाणु'--'जेनीज़' (Genes)--कहते हैं। ये ही 'वाहकाणु'--ऊँचाई, लम्बाई, गोरापन, कालापन, नीली आँख, भूरी आँख आदि भिन्न-भिन्न गुणों के 'वाहक' (Carriers या factors) होते हैं। एक 'वाहकाणु'--'जेनीज़'--में एक ही गुण रह सकता है, दो नहीं। मनुष्य के एक 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cell) में २४ 'वर्ण-सूत्र'--'क्रोमोसोम्स'--होते हैं। ऐसा पता लगाया गया है कि इन २४ में से एक-एक 'वर्ण-सूत्र'--'क्रोमोसोम'--में कई-सौ 'वाहकाणु'--'जेनीज़'--होते हैं।

(ग) 'प्रभावक' (Dominant) तथा 'प्रभावित' (Recessive)--इन 'वाहकाणुओं'--'जेनीज़'--में कोई प्रधान हो जाता है, कोई गौण हो जाता है। जो प्रधान हो जाता है, उसके गुण सन्तति में प्रकट हो जाते हैं, जो गौण हो जाता है, उसके गुण सन्तति में दब जाते हैं। यह हो सकता है कि एक सन्तति में जो 'वाहकाणु'--'जेनीज़'--प्रधान है, अगली में वही गौण हो जाय, परन्तु उससे अगली चौथी, पाँचवीं या दसवीं किसी भी सन्तति में यह फिर प्रधान हो सकता है। 'प्रधान-वाहकाणु' (Genes) को 'प्रभावक' (Dominant) तथा 'गौण-वाहकाणु' (Genes) को 'प्रभावित' (Recessive) कहते हैं। जो वाहकाणु प्रभावशाली होगा वह सन्तति में प्रकट हो जायगा, जो प्रभावित होगा वह शरीर में रहता हुआ भी प्रकट नहीं होगा।

(घ) मेंडल का सिद्धान्त—ऊपर जितनी बातें कही गई हैं इन सब को ध्यान में रखकर आस्ट्रिया के पादरी मेंडल ने १८६५ में मटरों पर कुछ परीक्षण किये, और इस परिणाम पर पहुँचा कि 'वाहकाणुओं' (Genes) में 'प्रभावक' (Dominant) तथा 'प्रभावित' (Recessive) होने में कोई नियम काम कर रहा है। उसने 'बड़े' (Tall) तथा 'छोटे' (Short) मटरों पर परीक्षण किये। उसने तीन साल तक लगातार परिश्रम करके ऐसे मटर के बीज तैयार किये, जो हर दृष्टि से शुद्ध कहे जा सकते थे, अर्थात् जिन्हें संकर नहीं कहा जा सकता था। ऐसे कुछ बीज शुद्ध बड़े मटर के थे, और कुछ शुद्ध छोटे मटर के थे। शुद्ध बड़े का मतलब है—जिन बीजों को बोते जाँय, और छोटे मटर के फूलों के संसर्ग में न आने दें, तो हर सन्तति में बड़े-ही-बड़े मटर पैदा हों, छोटा कोई न हो। इसी प्रकार शुद्ध छोटे का मतलब है कि उनके बीजों से जो बीज पैदा हों, हर सन्तति में वे छोटे ही मटर पैदा करें। इन शुद्ध बड़ों तथा शुद्ध छोटों को उसने एक-साथ एक क्यारी में बो दिया। अब जो पौधे उगे, उनसे जो बीज बने, वे शुद्ध नहीं हो सकते थे. क्योंकि बड़े तथा छोटे मटरों के पास-पास होने के कारण उनके फूलों में एक-दूसरे के पराग मिल गए। मेंडल ने इस प्रकार बड़े तथा छोटे मटरों के संयोग से उत्पन्न हुए मटर के बीजों से यह देखना चाहा कि उसकी वंश-परम्परा कैसे चलती है। इन संकर-मटरों की पहली पीढ़ी में एक ही प्रकार के मटर के बीजों के कुछ बड़े और कुछ छोटे मटर हुए। इस पहली पीढ़ी की अगली जो पीढ़ी हुई उसमें बड़ों के बड़े ही मटर होते. और छोटों के छोटे ही मटर होते--ऐसा नहीं देखा गया। उनमें एक ख़ास नियम काम कर रहा था। वह नियम यह था कि बड़े मटरों के संकर हो जाने के बाद, जो पहली पीढ़ी हुई, उसमें २५ प्रतिशत तो 'शुद्ध बड़े' थे, अर्थात् ये २५ प्रतिशत, अपने से अगली पीढ़ियों में बड़ों को ही पैदा करते थे, छोटों को नहीं; २५ प्रतिशत 'शुद्ध-छोटे' थे, अर्थात् ये २५ प्रतिशत, अपने से अगली पीढ़ियों में छोटों को ही पैदा करते थे, बड़ों को नहीं; बाकी ५० प्रतिशत मटर 'संकर' अर्थात् 'मिश्रित' थे, अर्थात् स्वयं बड़े होते हुए भी अगली पीढ़ियों में बड़ों को ही नहीं पैदा करते थे, परन्तु ऊपर के नियम के अनुसार ही वंश-परम्परा चलाते थे

अर्थात् स्वयं बड़े होते हुए भी २५ प्रतिशत बड़ों, २५ प्रतिशत छोटों, और ५० प्रतिशत 'संकर' अर्थात् मिश्रित-मटरों को उत्पन्न करते थे। मटरों में बड़ेपन के 'वाहकाणु'—'जेनीज'—'प्रभावक' (Dominant)—बन गये, छोटेपन के 'प्रभावित' (Recessive) बन गये, तो यह नियम चल पड़ा, इससे उल्टा हो गया, तो उल्टा नियम चल पड़ा। बड़ेपन को 'प्रभावक' (Dominant), और छोटेपन को 'प्रभावित' (Recessive) मान कर मटरों के बीजों का जो चित्र बनेगा वह निम्न है :—

शुद्ध बड़े मटरों के जेनीज़ को 'प्रभावक' मानकर बनाया गया चित्र



अर्थात्, 'शुद्ध बड़े' मटर के 'शुद्ध बड़े' के साथ संयोग होने से 'शुद्ध बड़े' (जिन्हें 'ब+ब' कहा गया है) उत्पन्न होंगे; 'शुद्ध छोटे' के 'शुद्ध छोटे' के साथ संयोग से 'शुद्ध छोटे' (जिन्हें 'छ+छ' कहा गया है) होंगे। 'शुद्ध बड़े' (ब+ब) के साथ 'शुद्ध छोटे' (छ+छ) के संयोग से 'संकर' होंगे, जिन्हें चित्र में 'ब+छ' कहा गया है। इन 'ब+छ' में 'शुद्ध बड़ों' या 'शुद्ध छोटों' को पैदा करने की शक्ति न होकर, बड़ों-छोटों दोनों को पैदा करने की शक्ति होगी, परन्तु बड़े-छोटे बिना नियम के नहीं होंगे, उनमें एक नियम काम कर रहा होगा। मेंडल ने यही पता

लगाया कि यह नियम क्या है। वह नियम यह है कि 'ब + छ' के 'ब + छ' के संयोग से अर्थात् बड़े और छोटे के मिलने से जो बीज बना है, उसमें अगर बड़ेपन के 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—प्रधान हैं, तो उन बीजों से ३ हिस्से बड़े मटर होंगे, १ हिस्सा, अर्थात् २५ प्रतिशत 'शुद्ध-छोटा' मटर होगा। इन तीन हिस्से बड़े मटरों में भी १ हिस्सा, अर्थात् २५ प्रतिशत 'शुद्ध बड़ा' होगा, अर्थात् उसकी अगली हर-एक पीढ़ी बड़े मटरों की होगी; दो हिस्से, अर्थात् ५० प्रतिशत 'मिश्रित मटर' होंगे, अर्थात् होंगे तो बड़े, लेकिन अगली पीढ़ी में बड़ों-छोटों का वही ३ और १ हिस्से का अनुपात रहेगा। यह चित्र बड़ेपन के 'वाहकाणुओं'—'जेनीज़'—को 'प्रभावक' (Dominant), और छोटेपन के 'वाहकाणुओं'—'जेनीज़'—को 'प्रभावित' (Recessive) मानकर बनाया गया है। ऐसा ही चित्र छोटों को 'प्रभावक' (Dominant), और बड़ों को 'प्रभावित' (Recessive) मान कर बनाया जा सकता है। बड़ेपन को प्रधान मानने की अवस्था में अनुपात होगा ३ हिस्से बड़े, और १ हिस्सा छोटा; छोटेपन के प्रधान होने की अवस्था में अनुपात होगा ३ हिस्से छोटे, और १ हिस्सा बड़ा, अर्थात् पहले से उल्टा।

ये परीक्षण मटरों पर किये गये हैं, मनुष्यों पर अभी इस प्रकार के कोई परीक्षण नहीं किये जा सके। परन्तु इन परीक्षणों से यह स्पष्ट है कि मनुष्य में जब भिन्न-भिन्न प्रकार के 'वाहकाणुओं'—'जेनीज़'—का सम्मिश्रण होता है, तब उनके संयोग से भिन्न-भिन्न शारीरिक-गुण सन्तान में आ जाते हैं। अगर किसी के माता-पिता दोनों लम्बे हैं, परन्तु पिछला कोई पूर्वज छोटा था, तो हो सकता है कि अगली किसी पीढ़ी में जाकर उस छोटे पूर्वज के 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—'प्रभावक' (Dominant) बन जाँय, और लम्बे माता-पिता की बौनी सन्तान हो जाय। इसी प्रकार भूरी आँख वाले माता-पिता की सन्तान काली आँखवाली हो जाती है, क्योंकि माता-पिता की आँख का रंग जिन 'वाहकाणुओं'—'जेनीज़'—में है, वे सन्तान में जाकर 'प्रभावित' (Recessive) हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है—इस विषय का अभी तक विज्ञान को कुछ पता नहीं है!

९. मानव-जीवन में वंशानुसंक्रमण का सिद्धान्त

हमने अभी कहा कि मेंडल का सिद्धान्त वनस्पतियों में काम कर रहा है। यह तो मानी हुई बात है कि जीवन के आधार-भूत तत्त्व सारी सृष्टि में एक-से हैं, और कोई कारण नहीं कि जो सिद्धान्त वनस्पति, पशु, पक्षी में काम कर रहे हों, वे मनुष्य में काम न करें। इन सिद्धान्तों के प्रकार में भिन्नता हो सकती है, परन्तु आधार में भिन्नता नहीं हो सकती। कठिनाई यही है कि जिस तरह वनस्पतियों में इन्हें परखा और इन पर परीक्षण किया जा सकता है वैसे मनुष्यों में परखा और उन पर परीक्षण नहीं किया जा सकता। फिर भी मानव-जीवन में कई बातें हैं जिनके विषय में निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि वे 'वंशानुसंक्रमण' से आती हैं या उनका निश्चय 'पर्यावरण' करता है। मानव-जीवन के ऐसे ही कुछ पहलुओं पर हम यहाँ प्रकाश डालेंगे।

(क) लिंग-भेद——उत्पन्न होते ही कोई पुल्लिगी और कोई स्त्री-लिंगी होता है, यह वंशगत प्रभाव है। पुल्लिग के अपने लक्षण अलग होते हैं, स्त्री-लिंग के अलग। पुरुष के मुख पर दाढ़ी-मूँछ, स्त्री के मुख पर बालों का न होना, स्त्री के वक्षःस्थल का उभार——यह सब जन्मगत है।

लिंग-गत भेद के कारण पुरुष तथा स्त्री के सामाजिक-व्यवहार में भी भेद आ जाता है——यह वंशानुसंक्रमण-वादियों का कथन है। पर्यावरण-वादियों का कथन इससे उल्टा है। उनका कथन है कि पुरुष की प्रकृति कठोर, आक्रामक तथा कुटिल है, स्त्री की मृदु, शान्तिमय तथा कोमल है——इसका कारण वंश न होकर पर्यावरण है। अगर स्त्रियों को पुरुषों के पर्यावरण में रखा जाय तो वे भी कठोर, आक्रामक तथा कुटिल हो जायेंगी, अगर पुरुषों को स्त्रियों के पर्यावरण में रखा जाय तो वे भी मृदु, शान्तिमय तथा कोमल हो जायेंगे। समाजशास्त्री इसी बात को मानते हैं। उनका कहना है कि लिंग-भेद का पुरुष तथा स्त्री के सामाजिक-व्यवहार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

(ख) शारीरिक-भेद——कोई व्यक्ति काला है, कोई गोरा; किसी की आँखें नीली हैं, किसी की काली; कोई लम्बा है, कोई नाटा। यह सब जन्मगत भेद है, 'जेनीज़' के कारण ही इन भेदों की व्याख्या की जा सकती है। कई पर्यावरण-वादी इस भेद को भी पर्यावरण के आधार पर ही मानते हैं। उनका कथन है कि जल-वायु, रहन-सहन, भोजन आदि का प्रभाव 'जेनीज़' पर पड़ता है, और इससे 'जेनीज़' में परिवर्त्तन आ जाता है। 'जेनीज़' के परिवर्त्तन से शारीरिक-लक्षणों में भी भेद पड़ जाता है। मनुष्य के सम्बन्ध में इस प्रकार के कोई परीक्षण नहीं हुए जिनके आधार पर इस विषय में हाँ या ना कहा जा सके।

शरीरगत-भेद के कारण सामाजिक-व्यवहार में भी भेद आ जाता है या नहीं? वंशानुसंक्रमण-वादियों का कहना है कि शारीरिक-भेद के साथ-साथ ही सामाजिक-व्यवहार का भेद वंश-परम्परा से आता है। उदाहरणार्थ, काणा सदा चालाक होता है, अन्धे की स्मृति-शक्ति सदा तीव्र होती है। पर्यावरण-वादियों का कथन है कि यह बात ठीक नहीं। काणे को सब छेड़ते हैं इसलिए वह चालाक हो जाता है, अन्धे को बाहर के विषय अपनी तरफ़ नहीं खींचते इसलिए अन्तर्मुखी होने के कारण उसकी स्मृति तीव्र हो जाती है। यह सब पर्यावरण के कारण है, वंशगत होने के कारण नहीं। समाजशास्त्री इसी बात को मानते हैं। उनका कहना है कि शारीरिक-भेद का सामाजिक-व्यवहार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

(ग) बुद्धि-भेद——कोई व्यक्ति बुद्धिमान् है, कोई निरा काठ का उल्लू है; कोई काव्य तथा संगीत में रुचि रखता है, कोई विज्ञान में; कोई प्रतिभाशाली है, कोई साधारण——इस प्रकार के भेद का क्या कारण है? वंशानुसंक्रमण-वादी इस भेद को वंशगत मानते हैं, पर्यावरण-वादी इसे पर्यावरण के कारण मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि शारीरिक-लक्षण बहुत-कुछ वंशगत होते हैं, परन्तु मानसिक-लक्षणों का आधार बहुत-कुछ पर्यावरण है। हम इसी अध्याय में व्यवसायों,

जातियों तथा परिवारों के अध्ययन के सम्बन्ध में वंशानुसंक्रमण-वादियों तथा पर्यावरण-वादियों के अध्ययनों को सम्मुख रख कर चर्चा कर आये हैं, जिससे स्पष्ट है कि कुछ अंश में बुद्धि वंशगत होती है, परन्तु अधिकांश में इस पर पर्यावरण का ही प्रभाव पड़ता है। अगर कोई व्यक्ति बुद्धि के वंशगत गुणों को लेकर पैदा होता है, और उसे अनुकूल पर्यावरण नहीं मिलता तो वे गुण अधखिले फूल की कली की तरह मुरझा जाते हैं।

बुद्धि-गत भेद के कारण मनुष्य के सामाजिक-व्यवहार में भेद होता है या नहीं? क्या प्रखर बुद्धि वाला व्यवहार में चतुर, कार्य में पटु होगा, या नहीं? इस सम्बन्ध में पर्यावरण-वादियों का कथन है कि बुद्धि की प्रखरता होते हुए भी अगर किसी को अनुकूल पर्यावरण नहीं मिला, तो वह बुद्धिमान् होने पर भी बुद्धू हो सकता है, और पर्यावरण की अनुकूलता होने पर कम बुद्धि वाला व्यक्ति भी चतुर हो सकता है।

(घ) स्वभाव-भेद—कोई क्रोधी स्वभाव का होता है कोई शान्त स्वभाव का, कोई वैरागी होता है कोई कामी—ये सब स्वभाव कैसे उत्पन्न होते हैं? वंशानुसंक्रमणवादी कहते हैं कि स्वभाव माता-पिता से आता है। मनुष्य के 'आन्तरिक-प्रेरक' (Inner drives) ही तो स्वभाव को बनाते हैं। ये 'आन्तरिक-प्रेरक' पर्यावरण से नहीं आते, वंशगत होते हैं। पर्यावरण-वादी इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है कि मनुष्य भिन्न-भिन्न पर्यावरणों में पड़ता है, उनकी प्रतिक्रिया के रूप में स्वभाव बनता है। जिसका हर काम बिगड़ जाता हो वह चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है, जिसका हर काम बन जाता हो वह सन्तोषी स्वभाव का हो जाता है। असल में, स्वभाव काम, क्रोध, लोभ, मोह से बनता है, और ये बहुत-कुछ वंशानुगत होते हैं। परन्तु पर्यावरण-वादी कहते हैं कि इस बात का क्या उत्तर है कि एक ही माता-पिता की एक सन्तान कामी-क्रोधी होती है और दूसरी वैरागी और शान्त प्रकृति की निकल आती है। इसका यही उत्तर दिया जा सकता है कि स्वभाव का अंश माता-पिता से अगर आता भी है, तो पर्यावरण का उस पर प्रभाव अवश्य पड़ता है।

(ङ) व्यक्तित्व—मनुष्य का व्यक्तित्व अनेक बातों पर आश्रित है जिनमें से मुख्य उसका शारीरिक आकार-प्रकार है। वंशानुसंक्रमण-वादियों का कहना है कि शारीरिक आकार-प्रकार पर 'ग्रन्थि-रसों' (Glandular secretions) का असर पड़ता है। उदाहरणार्थ, जिस व्यक्ति की थॉयरॉयड-ग्रन्थि बढ़ जाय तो वह पतला, कोमल, क्रियाशील हो जाता है, इसके ठीक विकास न होने से व्यक्ति मोटा, रूखा, आराम-पसन्द और सुस्त हो जाता है; एड्रिनल-ग्रन्थि के बढ़ने से पुरुष लड़ाका और स्त्री पुरुष-जैसी हो जाती है; प्रजनन-ग्रन्थियों के बढ़ जाने से व्यक्ति विषयी और इन ग्रन्थियों के सूख जाने से नपुंसक हो जाता है; पिच्युटरी-ग्रन्थि के बढ़ने से भारी-भरकम हड्डियों का ढाँचा और इसके मन्द पड़ जाने से व्यक्ति बौना हो जाता है। पर्यावरणवादी ग्रन्थियों के स्राव का शरीर पर प्रभाव स्वीकार

करते हैं, इस प्रकार जो व्यक्तित्व बनता है उसे भी स्वीकार करते हैं, परन्तु उनका कहना है कि पर्यावरण का व्यक्तित्व के निर्माण पर प्रभाव कम नहीं है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति बार-बार क्रोध की परिस्थितियों में अपने को घिरा पाये तो एड्रिनल-ग्रन्थि के बढ़े बिना भी वह क्रोध कर सकता है, किसी को बार-बार छेड़ा जाय तो वह चिड़चिड़ा हो सकता है, किसी को खाने को न मिले तो वह कमजोर हो सकता है। पर्यावरण का प्रभाव इतना पड़ सकता है कि अनुकूल पर्यावरण में ग्रन्थियों का विकास ठीक हो, प्रतिकूल पर्यावरण में इन के रस का निर्माण ही अवरुद्ध हो जाय। लैंडिस का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है कि "वंशानुसंक्रमण मनुष्य के पशु-रूप की व्याख्या करता है, पर्यावरण उसके मानव-रूप की व्याख्या करता है।"

१०. समाज-शास्त्री वंशानुसंक्रमण का अध्ययन क्यों करता है?

हमने देखा कि समाजशास्त्री वंशानुसंक्रमण को उतना महत्त्व नहीं देता जितना पर्यावरण को। हम प्रायः सुनते हैं कि यह बात पूर्व-जन्म का फल है, यह माता-पिता के संस्कारों के कारण है—इत्यादि। समाज-शास्त्र ने एक नवीन दृष्टि-कोण को जन्म दिया है। समाज-शास्त्र का कहना है कि संसार के भेद-भाव अमीर-ग़रीब, काले-गोरे, बलवान्-निर्बल आदि भेदों पर आश्रित हैं, परन्तु ये भेद हमारे अपने बनाये हुए हैं, पर्यावरण के कारण हैं, पर्यावरण को बदल दिया जाय, तो मनुष्य मनुष्य में भेद नहीं रहता। ऐसी अवस्था में प्रश्न होता है कि फिर समाज-शास्त्री 'वंशानुसंक्रमण' का अध्ययन क्यों करता है?

इसका उत्तर यह है कि वंशानुसंक्रमण के अध्ययन से समाज-शास्त्री ने बहुत-कुछ सीखा है। जब तक वंशानुसंक्रमण का अध्ययन नहीं किया जायगा तब तक यह पता ही कैसे चलेगा कि इसकी मार कहाँ तक है? अबतक तो वंशानुसंक्रमण को लोगों ने एक भूत बना रखा था। संसार में जो-कुछ है सब इसी कारण है। माता-पिता से जो आया वही सब-कुछ है, हम पर्यावरण द्वारा कुछ नहीं कर सकते। अब 'वंशानुसंक्रमण' के सिद्धान्त को समाज-शास्त्रियों ने परखना शुरू किया। जाति, प्रजाति, व्यक्ति, व्यक्ति तथा समाज के सामाजिक-सम्बन्ध, ऊँच-नीच के जन्मगत भेद, बुद्धि, स्वभाव—इन सब बातों की जब जाँच की गयी तो सिद्ध होने लगा कि काले-गोरे का भेद, ब्राह्मण-शूद्र का भेद, मोची-चमार का भेद, बुद्धिमान्-निर्बुद्धि का भेद, बलवान्-निर्बल का भेद, रक्त का भेद—सब-कुछ ही तो पर्यावरण पर आश्रित है, अमिट नहीं है, जन्मजात नहीं है, इस सब को अनुकूल पर्यावरण मिलने पर बदला जा सकता है। 'वंशानुसंक्रमण' के सिद्धान्त की तह तक पहुँचने से मानव-समाज के भविष्य में कितना दृष्टि-कोण में भेद आ जाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि समाज-शास्त्र ने 'वंशानुसंक्रमण' के सिद्धान्त का जो अध्ययन किया है उससे यह सिद्धान्त निरा थोथा साबित हुआ है, इसका यही अभिप्राय है कि अबतक इसे मानव-समाज की उन्नति तथा विकास में हमने जो

हौआ बना कर खड़ा किया हुआ था, हर प्रकार की मानवीय-प्रगति को हम इसके आधार पर रोक देते थे––वह बात समाज-शास्त्र ने वंशानुसंक्रमण के सिद्धान्त की तह में जाकर रोक दी।

प्रश्न

१. 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) तथा 'पर्यावरण' (Environment) के प्रश्न का स्वरूप क्या है?
२. 'वंशानुसंक्रमण-वाद' तथा 'पर्यावरण-वाद' का क्या अर्थ है?
३. 'वंशानुसंक्रमण-वादी' विचार-धारा का संक्षिप्त इतिहास दीजिये।
४. 'वंशानुसंक्रमण' के सिद्धान्त की आलोचना कीजिये।
५. 'वंशानुसंक्रमण' तथा 'पर्यावरण' को सामने रखते हुए कुछ 'वशीकृत-परीक्षणों' (Controlled experiments) का उल्लेख कीजिये।
६. 'जर्म-प्लाज़्म'––'जेनरेटिव सेल'––'सोमेटिक सेल'––'न्यूक्लियस'––'क्रोमोसोम'––'जेनीज़'––'डौमीनैन्ट'––'रिसेस्सिव'––शब्दों का क्या अर्थ है?
७. मेंडल के परीक्षण को चित्र-सहित समझाइये।

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. आप वंशानुसंक्रमण से क्या समझते हैं––इसका स्पष्ट विवेचन कीजिये। यह किस प्रकार कार्य करता है, और इसका पर्यावरण से क्या सम्बन्ध है? (आगरा, १९५०)
२. शारीरिक-स्वरूप, बुद्धि तथा व्यक्तित्व––इन तीनों पर क्या वंशानुसंक्रमण के सिद्धान्त का एक-सा महत्त्व है? अपनी सम्मति लिखिये। (आगरा, १९५१)
३. मनुष्य की सामाजिक तथा प्राणि-शास्त्रीय विरासत (Social and Biological heritage) में भेद बताइये। सामाजिक-विकास में इन दोनों का क्या महत्त्व है? (लखनऊ, १९५२)
४. वंशानुसंक्रमण का अध्ययन एक समाज-शास्त्री के लिए क्यों आवश्यक है? ऐसे अध्ययन के द्वारा लोगों के प्रजातीय-व्यवहार समझने पर क्या प्रकाश पड़ सकता है। (राजपूताना, १९५४)
५. जूक्स तथा एडवर्ड्‌स पर संक्षिप्त टिप्पणी दीजिये। (राजपूताना, १९५५)
६. वंशानुसंक्रमण का क्या अर्थ है? व्यक्ति के विकास को वंशानुसंक्रमण तथा पर्यावरण किस प्रकार प्रभावित करते हैं? (आगरा, १९५६)
७. 'वंशानुसंक्रमण की सम्भावनाएँ पर्यावरण में ही वास्तविकता को प्राप्त करती हैं'––इस कथन की विवेचना कीजिये। (राजपूताना, १९५७)

६

प्राथमिक असभ्य-अवस्था से वर्त्तमान सभ्य अवस्था तक

(FROM PRIMITIVE TO CIVILIZED SOCIETY)

१: अति-प्राचीन युगों के विकास का क्रम

पाश्चात्य भूगर्भ-शास्त्र के पण्डितों ने पृथिवी की आज तक की आयु २ अरब से १ अरब वर्ष तक निर्धारित की है। कितना बड़ा काल है यह। इस महान् काल के भीतर जो समय बीता है उसे भिन्न-भिन्न 'युगों' (Periods) में बाँटा गया है। इस विशाल काल-गणना में 'मनुष्य' का आगमन बहुत नवीन घटना है। सृष्टि के विकास में बहुत-सा समय तो ऐसा बीता जब मनुष्य का नामोनिशान तक न था। अन्य जीव थे परन्तु उनमें भी पहले-पहल अत्यन्त निम्न-कोटि के जीव थे। धीरे-धीरे उच्च विकसित-कोटि के जीव उत्पन्न होते गए, अन्त में जाकर 'मनुष्य' प्रकट हुआ। जीवों के विकास का जो क्रम भूगर्भ-शास्त्र तथा प्राणि-शास्त्र ने तय किया है, वह निम्न है :—

(क) 'अति-सु-पुरा जीवीय युग' (Archeozoic Period)—यह सृष्टि का सबसे पहला युग है। इसे 'अति-अति-प्राथमिक युग' (Remotest Primary Period) कहा जा सकता है। इस समय 'एक-कोशीय जीवन' (Uni-cellular life) था। हमारा शरीर कई 'कोशों' (Cells) से मिलकर बना है, परन्तु उस समय जीवन का प्रारम्भ ही हुआ था, इसलिए जो भी जीवन था, वह 'अनेक-कोशों' से मिलकर नहीं बना था, सिर्फ़ एक 'कोश' (Cell) का जीवन था। भूगर्भ-शास्त्रियों का कहना है कि पृथिवी की आजतक की २ अरब वर्ष आयु का ३० प्रतिशत समय इसी युग में बीता। इस दीर्घकाल तक 'एक-कोशीय जीवन' (Uni-cellular life) ही रहा।

(ख) 'सु-पुरा-जीवीय युग' (Proterozoic Period)—यह सृष्टि का अगला युग है। इसे 'अति-प्राथमिक-युग' (Remote Primary Period) कहा जा सकता है। इस समय 'एक-कोशीय जीवन' (Uni-celluar life) से 'अनेक-कोशीय जीवन' (Multi-cellular life) का प्रारम्भ हुआ। 'अनेक-कोशीय जीवन' में भी दो तरह के प्राणी होते हैं—रीढ़ की हड्डीवाले, और बिना रीढ़ की हड्डी वाले। इस युग में बिना रीढ़ की हड्डी वाला 'अनेक-कोशीय जीवन'

विकसित हुआ। इसे 'अपृष्ठ-वंशीय-जीवन' (Invertebrate life) कहा जाता है। घोंघे, कीड़े आदि इसी समय की उपज हैं। पृथिवी की आजतक की आयु का २५ प्रतिशत समय इसी युग के विकास में बीता।

(ग) 'पुरा-जीवीय युग' (Paleozoic Period)—पहले युग को 'अति-अति प्राथमिक', दूसरे युग को 'अति प्राथमिक' तथा इस युग को 'प्राथमिक-युग' (Primary Period) भी कहते हैं। इस समय 'अपृष्ठ-वंशीय' (Invertebrate) के स्थान में 'पृष्ठ-वंशीय जीवन' (Vertebrate life) उत्पन्न हुआ। मछलियाँ, ग्राह, जल-थल-चारी, सरीसृप आदि इसी युग में उत्पन्न हुए। इस युग के निर्माण में पृथिवी की आजतक की आयु का ३० प्रतिशत समय लग गया।

(घ) 'मध्य-जीवीय युग' (Mesozoic Period)—'पुरा-जीवीय-युग' को 'प्राथमिक-युग', तो उसके बाद आने वाले 'मध्य-जीवीय युग' को 'द्वितीय-युग' (Secondary Period) कहा जाता है। इस युग में 'सरीसृप' (Reptiles)—रेंग कर चलने वाले जानवर—तो हुए ही, साथ ही उड़ने वाली चिड़ियाएँ, और छोटे दर्जे के 'स्तनन्धय' (Mammals) भी इस समय प्रकट हुए। इस युग में पृथ्वी की आजतक की आयु का ११ प्रतिशत समय लगा।

(ङ) 'परवर्त्ती-युग' (Cainozoic Period)—भूगर्भ-शास्त्री इस युग को 'तृतीय तथा चतुर्थ युग' (Tertiary and Quarternary Period) भी कहते हैं। इस युग का प्रारम्भ बड़े-बड़े 'स्तनन्धयों' (Mammals) से शुरू हुआ, और अन्त मनुष्य के विकास से हुआ। छः करोड़ वर्ष हुए, जब इस युग का श्रीगणेश हुआ। मनुष्य का प्राणि-जगत् में स्थान समझने के लिए इसी युग को समझना आवश्यक है।

२. 'परवर्ती-युग' में मनुष्य का प्रादुर्भाव

जैसा हमने अभी कहा, भूगर्भ-शास्त्री इस 'परवर्त्ती-युग' को दो भागों में बाँटते हैं—'तृतीय-युग' (Tertiary Period) तथा 'चतुर्थ-युग' (Quarternary Period)। 'तृतीय-युग' में 'जेरवाले स्तनन्धय' (Placental mammals) उत्पन्न हुए, मनुष्य-जैसी शक्ल के छोटे-छोटे बन्दर-सरीखे जानवर उत्पन्न हुए, और 'चतुर्थ-युग' में दो पाँवों से खड़े होकर चलने वाले जानवर उत्पन्न हुए, और होते-होते आज का मनुष्य प्रकट हो गया। भूगर्भ-शास्त्रियों ने 'तृतीय-युग' तथा 'चतुर्थ-युग' को तीन-तीन हिस्सों में बाँटा है—इस प्रकार इस सम्पूर्ण 'परवर्त्ती-युग' (Cainozoic Period) को उन्होंने निम्न छः हिस्सों में बाँटा है:

परवर्त्ती-युग सम्बन्धी तृतीय-युग के तीन हिस्से

(क) 'प्रादि-नूतन युग' (Eocene Period)—इसमें 'जेर वाले स्तनन्धय' (Placental mammals) उत्पन्न हुए।

(ख) 'आदि-नूतन युग' (Oligocene Period)—इसमें मनुष्य-जैसी शक्ल के छोटे-छोटे बन्दर सरीखे जानवर (First Small Anthropoid Apes) उत्पन्न हुए।

(ग) 'मध्य-नूतन-युग' (Miocene Period)—इसमें वर्त्तमान बन्दरों के पूर्वज (Ancestors of Present Great Apes) तथा मनुष्य की-सी शक्ल (Humanoid forms) के जानवर उत्पन्न हुए। आज से दो से चार करोड़ वर्ष पहले यह युग शुरू हुआ।

उक्त तीनों तो 'तृतीय-युग' (Tertiary Period) के विकास के क्रम हैं। इसके बाद 'चतुर्थ-युग' (Quarternary Period) के विकास के क्रम निम्न हैं:—

परवर्त्ती-युग सम्बन्धी चतुर्थ-युग के तीन हिस्से

(क) 'अति-नूतन युग' (Pliocene Period)—इस काल में पहले-पहल वह जानवर पैदा हुआ जो खड़ा होकर चल सकता था। भू-गर्भ-शास्त्र तथा प्राणि-शास्त्र में उस जानवर को 'पियेकैन्थ्रोपस इरेक्टस' (Pithecanthropus erectus) कहा है। आज से १० लाख से २० लाख साल पहले यह युग समाप्त हुआ।

(ख) 'प्राति-नूतन युग' या 'हिम-युग' (Pleistocene or Glacial Period)—इस युग में मनुष्य मनुष्य के रूप में प्रकट हुआ। भूगर्भ-शास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस युग में कम-से-कम चार वार भूमि के उत्तरीय गोलार्ध में हिम का महापात और प्रवाह हुआ। इसी युग में मनुष्य से मिलते-जुलते किसी प्राणी के अवशेष उपलब्ध होते हैं।

इस युग में मनुष्य के जो अवशेष उपलब्ध होते हैं उनसे प्रतीत होता है कि इस युग में वह विकास की तीन प्रक्रियाओं में से गुज़रा है। इन तीन प्रक्रियाओं के कारण उसके इस समय तीन वर्ग पाये जाते हैं:—

(i) 'भूमिवासी वानर-मानव' (Ground-dwelling Ape-man)—पहला वर्ग तो वह है जिसमें वह भूमि पर रहने वाले बन्दर-के-से मनुष्य के रूप में था। इससे पहले तो बन्दर वृक्षों पर रहा करता था, परन्तु इस युग में वृक्षों के स्थान पर भूमि पर रहने लगा। ऐसे मनुष्यों के तीन प्रकार दक्षिणी अफ्रीका में रहते थे, जिन्हें 'ऑस्ट्रालोपीथेकस' (Australopithecus), 'प्लेसीएन्थ्रोपस' (Plesianthropus) तथा 'पेरेन्थ्रोपस' (Paranthropus) कहते हैं। ये प्राणी बन्दरों से इतने नहीं मिलते थे जितने मनुष्य से मिलते थे। इनके मस्तिष्क मनुष्य से बहुत छोटे थे। मनुष्य की तरह ये भूमि पर दो पाँवों से चलने लगे थे।

(ii) 'प्राचीन-मानव' (Ancient man)—दूसरा वर्ग वह है जिसमें उसका मस्तिष्क कुछ बड़ा पाया जाता है, और वह वर्त्तमान मनुष्य के कुछ अधिक निकट आ गया है। ऐसे मनुष्य जावा में पाये गए हैं जिन्हें 'पियेकैन्थ्रोपस' (Pithecanthropus) कहते हैं; पेकिंग के पास पाये गए हैं जिन्हें 'सिनैन्थ्रोपस' (Sinanthropus) कहते हैं; साउथ इंग्लैण्ड में पाये गये हैं जिन्हें 'इओन्थ्रोपस' (Eonthropus) कहते हैं; पश्चिमी युरोप, सुदूर-पूर्व तथा मध्य-एशिया में पाये गये हैं, जिन्हें 'निएण्डरथल-मानव' (Neanderthal Man) कहते हैं। यह 'निएण्डरथल-मानव' वर्त्तमान-मानव के अत्यन्त निकट है, और ऐसा

पता चलता है कि जहाँ-तहाँ यह मानव वर्त्तमान-मानव के सम्पर्क में आया, इन दोनों ने आपस में सन्तानोत्पत्ति की। भूगर्भ-शास्त्रियों का कहना है कि 'प्राति-नूतन-युग' (Pleistocene) के अंतिम भाग में पैलेस्टाइन के कारमल पर्वत के निकट 'निएन्डर-थल-मानव' और 'वर्त्तमान-मानव' के मिल-जुल कर सन्तति उत्पन्न करने के अनेक प्रमाण मिलते हैं।

(iii) 'वर्त्तमान-मानव' (Modern Man)--वर्त्तमान-मानव जिस रूप में दीख पड़ता है वह लगभग २५ हजार वर्ष पहले पश्चिमी युरोप तथा भूमध्य-सागर के प्रदेश में प्रकट हुआ। इस मानव का प्रारम्भिक-रूप जो भू-गर्भ-शास्त्रियों को ज्ञात है, उसे क्रो-मैगनन (Cro-Magnon Man) कहते हैं, क्योंकि पहले-पहल उसके अवशेष क्रो-मैगनन स्थान पर ही पाये जाते हैं। यह मानव युरोप में कहाँ से आया, इस विषय में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं है, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि इसने क्षेत्र में पदार्पण करने के बाद 'निएन्डरथल-मानव' का स्थान ग्रहण कर लिया और इससे पूर्व मानव के जो वर्ग थे, वे सब लुप्त हो गए, और तब से आज तक यही 'वर्त्तमान-मानव' संसार में राज्य कर रहा है।

'वर्त्तमान-मानव' कहाँ से आ टपका--इस सम्बन्ध में विकासवाद ने अभी तक अपना अन्तिम निर्णय नहीं दिया। इसमें सन्देह नहीं कि बन्दर से मनुष्य की शारीरिक-रचना का बहुत साम्य है, फिर भी शरीर-रचना-शास्त्रियों की दृष्टि में ही इनमें इतना भेद भी है कि बन्दर से मनुष्य का विकास हुआ--यह नहीं कहा जा सकता। ज्यादा-से-ज्यादा विकासवादी जो कह सकते हैं वह यही है कि कोई ऐसा प्राणी हुआ होगा जिससे बन्दर तथा मनुष्य--इन दोनों का विकास हुआ, जिसे विकास की शृंखला में 'लुप्त कड़ी' (Missing Link) कहा जाता है। परन्तु यह प्राणी कब हुआ, कहाँ हुआ, हुआ भी या नहीं हुआ--इस विषय में विज्ञान सर्वथा मौन है।

(ग) 'सर्व नूतन-युग' (Holocene Period)--यह वर्त्तमान-युग का दूसरा नाम है। जैसा हमने अभी कहा था, इस युग का प्रारम्भ २५ हजार वर्ष पहले हुआ। अनुमान किया जाता है कि आज से १० हजार वर्ष पूर्व मनुष्य ने फिरन्दर जीवन छोड़कर पशु-पालन, कृषि करना, और छोटी-छोटी झोंपड़ियाँ बनाकर एक जगह रहना सीख लिया था। आज से १० हजार से ५ हजार वर्ष पहिले मनुष्य ने पत्थरों के औजार बनाने शुरू कर दिये थे, और 'नव-पाषाण-युग' (Neolithic age) का सूत्रपात हो गया था। इसके बाद भिन्न-भिन्न पदार्थों का उपयोग करना उसने सीखा। इन युगों को 'पाषाण-युग' (Stone age), 'ब्रोंज युग' (Bronze age), 'लौह-युग' (Iron age), 'कोयला-युग' (Coal age) आदि नाम दिये जाते हैं। वर्त्तमान-युग को 'अणु-युग' (Atomic age) कहा जा सकता है--इसमें पहले युगों की भाँति मनुष्य धातुओं की अपेक्षा सम्भवतः अणु-शक्ति से अधिक काम लेना शुरू करे। इसी प्रकार संसार की अनेक सभ्यताओं ने जन्म लिया--मैसेपोटामिया, ईजिप्ट आदि की सभ्यताएँ हजारों वर्ष पुरानी हैं। होते-

होते मनुष्य ने अन्य अनेक सभ्यताओं का विकास किया, और विकसित होते-होते वह वर्त्तमान समय पर आ पहुँचा।

इस प्रकरण में यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि हिंदुओं में जो सृष्टि-संवत् चला आता है वह सन् १९६० में १९७२९४९०६१ है--अर्थात् लगभग २ अरब वर्ष। यह संख्या वर्त्तमान भूगर्भ-शास्त्रियों की संख्या से आश्चर्यजनक तौर पर मिलती है।[1]

---

१. संसार कितने वर्ष रहेगा, इसका उत्तर अथर्ववेद में देते हुए लिखा है--शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः'--अर्थात्, ४,३,२--इन अंकों के आगे दस लाख संख्या सूचित करने वाले शून्य लगा देने से जो संख्या बनती है, वह सृष्टि का समय है--सृष्टि प्रारम्भ से अन्त तक इतने समय रहेगी। यह संख्या ४,३२,००,००,००० (चार अरब बत्तीस करोड़वर्ष) बनती है। इतने वर्ष सृष्टि रहती है, फिर इतने ही वर्ष प्रलय रहता है।

सृष्टि के ४ अरब बत्तीस करोड़ वर्ष होते हैं, परन्तु सृष्टि में १४ मन्वन्तर माने गये हैं, और, एक-एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगी मानी गई हैं। चतुर्युगी का मतलब है--कलियुग, द्वापर, त्रेता, सत्ययुग। कलियुग के जितने वर्ष हैं, उससे दुगुने द्वापर के, तिगुने त्रेता के, चौगुने सत्ययुग के माने गये हैं। कलियुग का काल ४,३२,००० (चार लाख बत्तीस हज़ार वर्ष) माना गया है। इस प्रकार एक चतुर्युगी का समय हुआ, ४,३२,००० + ८,६४,००० + १२,९६,००० + १७,२८,००० = ४३,२०,००० (तेंतालीस लाख बीस हज़ार) वर्ष। क्योंकि ७१ चतुर्युगी का एक मन्वन्तर होता है, इसलिए एक मन्वन्तर का समय हुआ ४३,२०,००० × ७१ = ३०,६७,२०,००० (तीस करोड़, सरसठ लाख, बीस हज़ार) वर्ष।

एक सृष्टि में १४ मन्वन्तर होते हैं, अतः १४ मन्तन्तरों का समय हुआ, ३०,६७,२०,००० × १४ = ४,२९,४०,८०,००० (४ अरब, २९ करोड़, ४० लाख, ८० हज़ार) वर्ष।

परन्तु एक-एक मन्वन्तर के बाद एक-एक सन्धिकाल आता है, और सृष्टि के प्रारम्भ में भी एक सन्धिकाल होता है। इस हिसाब से १४ मन्वन्तर हैं, तो १४ सन्धिकाल हुए, और एक सन्धिकाल है सृष्टि से प्रारम्भ का। कुल १५ सन्धिकाल हो गये। एक-एक सन्धिकाल का समय एक सत्य-युग का समय माना गया है। सत्य-युग का समय है--कलियुग से ४ गुणा--अर्थात्, १७,२८,००० वर्ष। इस प्रकार सृष्टि में १५ सन्धिकालों का कुल समय हुआ १७,२८,००० × १५ = २,५९,२०,००० (दो करोड़, उनसठ लाख, बीस हज़ार) वर्ष।

इस हिसाब से सृष्टि का कुल समय निम्न प्रकार हुआ :--

१४ मन्वन्तरों का समय	=	४,२९,४०,८०,००० वर्ष
१५ सन्धिकालों का समय	=	२,५९,२०,००० वर्ष
कुल		४,३२,००,००,००० वर्ष

हमने अभी जीवन के विकास के जिस 'चतुर्थ-युग' (Quarternary Period) का वर्णन किया है उसका गहराई से अध्ययन किया जाय, तो ज्ञात होगा कि इस युग में मुख्य तौर पर दो बातें हुईं जिनसे मनुष्य सामाजिक-विकास के मार्ग पर चल पड़ा। पहली बात तो यह हुई कि अब तक प्राणी के शरीर की रचना कुछ इस ढंग की थी कि वह सामाजिक-विकास कर ही नहीं सकता था, परन्तु इस युग में प्राणी के शरीर का विकास ऐसी दिशा में चल पड़ा जिससे वह सामाजिक-विकास कर सकता था। अबतक प्राणी हाथ का उपयोग नहीं कर सकता था, वाणी का उपयोग भी नहीं कर सकता था--इस युग में ये दो नवीन बातें उत्पन्न हो गईं। इनके परिणाम असाधारण हुए। प्राणी के शारीरिक-परिवर्त्तनों के परिणाम-स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार की सभ्यताओं का उदय हो गया। अभी तक प्राणी अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए अपने शरीर के साधनों का ही उपयोग कर सकता था। नखों से चीरता-फाड़ता, दाँतों से काटता था, परन्तु अब अन्य साधनों का भी वह प्रयोग करने लगा। उसने पत्थर के हथियार बनाये, धनुष-बाण का

हिन्दू-गणना के अनुसार इस समय तक ६ मन्वन्तर बीत चुके हैं, और ७वें मन्वन्तर की २७ चतुर्युगियाँ बीत चुकी हैं। २८वीं चतुर्युगी के ३ युग बीत गये, और कलियुग चल रहा है। इस हिसाब से सृष्टि को उत्पन्न हुए जो वर्ष बीते हैं, उनका हिसाब निम्न है :--

(१) छः मन्वन्तरों के बीते वर्ष ३०,६७,२०,००० × ६ = १,८४,०३,२०,०००

(२) २७ चतुर्युगियों के बीते वर्ष ४३,२०,००० × २७ = ११,६६,४०,०००

(३) २८वीं चतुर्युगी के ३ युगों के बीते वर्ष
(एक चतुर्युगी में से कलियुग के वर्ष घटा दिये) = ३८,८८,०००

(४) छः मन्वन्तरों के सन्धिकाल
(५) तथा ७वाँ प्रारम्भिक सन्धिकाल } = १७२८००० × ७ = १,२०,९६,०००

(६) प्रचलन के अनुसार सन् १९६० तक बीते वर्ष संवत् २०१७ तक०. . .५०६१
अबतक का सृष्टि का समय = १,९७,२९,४९,०६१

यह संख्या २ अरब वर्ष के लगभग आ पहुँचती है, जो वर्त्तमान भू-गर्भ-शास्त्रियों की संख्या से मिलती है।

ऊपर के हिसाब में जो प्रचलन के अनुसार ५०६१ वर्ष हमने जोड़े हैं, वह प्रचलन है--"द्वितीय परार्द्धे वैवस्वत मन्वन्तरे। अष्टाविंशति कलौ युगे ५०६१ गताब्दे जम्बू द्वीपे भरत खंडे. . ."--इत्यादि। यह संकल्प प्रत्येक हिन्दू अपने संस्कार कराता हुआ पढ़ता है।

ऊपर जो १४ मन्वन्तरों का वर्णन किया गया है, वे हैं--१. स्वायंभुव, २. स्वारोचिष, ३. औत्तमि, ४. तामस, ५. रैवत, ६. चाक्षुष, ७. वैवस्वत, ८. सावर्णि, ९. दक्ष सावर्णि, १०. ब्रह्म सावर्णि ११. धर्म सावर्णि, १२. इन्द्रपुत्र, १३. रौच्य तथा १४. भौत्य।

प्रयोग प्रारंभ किया, दूसरे पशुओं को पालना सीखा, खेती करने लगा, और इस मार्ग पर चलते-चलते संसार की बड़ी-बड़ी सभ्यताओं को जन्म दिया, यहाँ तक कि आज की बीसवीं सदी में तो मनुष्य अपने कामों को देखकर स्वयं आश्चर्य करने लगा है, विशेष कर जब वह अपनी अपने उस पूर्वज से तुलना करने लगता है जो कभी जंगलों में असहाय अवस्था में रहा करता था।

मनुष्य के विकास के सम्बन्ध में जिन परिवर्त्तनों का वर्णन हमने किया उनमें से मनुष्य के शरीर का विकास महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य से पहले जो प्राणी थे उनमें तथा मनुष्य के शरीर की रचना में कुछ मौलिक भेद उत्पन्न हो गये जिनके कारण वह इस योग्य हो गया कि सामाजिक-विकास कर सके। ये भेद न उत्पन्न होते, तो मनुष्य जंगली-का-जंगली रह जाता। ये मौलिक भेद निम्न थे--

(क) 'बृहत्-मस्तिष्क' (Cerebrum)--मनुष्य तथा मनुष्य से मिलते-जुलते बन-मानुस (Anthropoid ape) के मस्तिष्क में तिगुने का फ़र्क है। बन-मानुस की खोपड़ी में अगर ५०० क्यूबिक सेन्टीमीटर मस्तिष्क-तत्त्व आता है, तो मनुष्य की खोपड़ी में १४५० क्यूबिक सेन्टीमीटर मस्तिष्क-तत्त्व आता है। मनुष्य का मस्तिष्क बन-मानुस के मस्तिष्क से परिमाण में ही बड़ा नहीं, गुणों में भी बड़ा है। मस्तिष्क में मानसिक-प्रक्रिया का आधार 'बृहत्-मस्तिष्क' (Cerebrum) माना जाता है, यह मनुष्य में जितना विकसित है इतना और किसी प्राणी में नहीं है। इसी के आधार पर मनुष्य नाना-प्रकार का व्यवहार करता है जो किसी अन्य प्राणी के लिए सम्भव नहीं है।

(ख) 'ऊर्ध्व-स्थिति' (Upright Posture)--मनुष्य तथा अन्य जानवरों में दूसरा भेद यह है कि मनुष्य दो पाँवों पर खड़ा हो सकता है, अन्य पशु दोनों हाथों से भी पाँवों का काम लेते हैं। इस विकास का मनष्य के सामाजिक-जीवन पर बड़ा भारी असर पड़ा। उसे अपने पर्यावरण के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए मानो दो नए हथियार मिल गये। पशु के हाथ नहीं होते, वह सूँघकर, काट कर, अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है, मनुष्य हर-एक वस्तु के लिए हाथ का उपयोग करने लगा। बन-मानुस तक आदतन दो टाँगों पर नहीं चलते, मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसे दो हाथों का हथियार मिला जिससे वह आगे-ही-आगे उन्नति करता गया।

(ग) 'बोलने की शक्ति' (Ability to Speak)--मनुष्य तथा अन्य जानवरों में तीसरा भेद यह है कि मनुष्य के शरीर की रचना ऐसी बनी है जिससे वह अनेक प्रकार की आवाजें निकाल सकता है, पशु अनेक प्रकार की आवाजें नहीं निकाल सकता। पशु क्योंकि हाथ से काम नहीं ले सकता इसलिए उसकी थूथनी लम्बी रहती है, बाहर निकली रहती है ताकि वह थूथनी से चख सके, सूँघ सके और जो जानकारी चाहे प्राप्त कर सके। इस लम्बी थूथनी के कारण मुख में जीभ स्वतन्त्रता से इधर-उधर नहीं फिर सकती, और इसलिए पशु कुछ इनी-गिनी थोड़ी ही आवाजें निकाल सकता है। मनुष्य को ज्ञान प्राप्त करने के लिए थूथनी से

काम नहीं लेना होता, यह काम वह हाथ से लेता है, इसलिए उसकी थूथनी लम्बी न होकर छोटी, गोलाई लिये हुए है, जिसमें जीभ चारों तरफ़ आजादी से फिर सकती है, और भिन्न-भिन्न आवाजें निकाल सकती है। मुख की इसी रचना से भाषा का विकास हुआ है।

३. मनुष्य द्वारा भिन्न-भिन्न सभ्यताओं का विकास

मनुष्य के शरीर की रचना अन्य जीव-धारियों से भिन्न है, और इस भिन्नता के कारण मनुष्य सामाजिक-विकास करने में समर्थ हुआ--यह बात हमने देखी। इस सामाजिक-विकास को लाने में मुख्य बात यह हुई कि मनुष्य नख, दाँत, पंजे आदि से काम लेने के स्थान में भिन्न-भिन्न साधनों का, उपकरणों का आविष्कार करने लगा जिससे अनेक सभ्यताओं को जन्म मिला। उनमें से मुख्य-मुख्य सभ्यताएँ निम्न हैं :--

(क) 'फिरन्दर-जीवन' (Nomadic Life)--मनुष्य ने मनुष्य रूप से जब पहले-पहल जीवन शुरू किया तब वह शिकार खेलकर जीवन-निर्वाह करता था। अभी उसने यातायात के साधनों का आविष्कार नहीं किया था, अतः जहाँ शिकार मिलता था वहीं वह भी चला-फिरा करता था, शिकार के पीछे-पीछे घूमता था। इस प्रकार 'फिरन्दर-जीवन' से उसकी सर्व-प्रथम सभ्यता का प्रारम्भ हुआ। जब शिकार नहीं मिलता था तब वन के फल-मूल-कन्द पर वह निर्वाह करता था, परन्तु इन चीज़ों को जमा करके रखना वह अभी नहीं सीखा था, इसलिए जहाँ शिकार मिलता, जहाँ फल-मूल-कन्द मिलते, वहीं वह जा पहुँचता था। भ्रमण का उसका जीवन था। इस भ्रमण के जीवन में यह नहीं कि मनुष्य आगे-ही-आग बढ़ता चला जाता था। जहाँ एक मौसम काटी, जहाँ की बहार ख़त्म हो गई, वह आगे बढ़ गया, अगले जंगलों की बहार पर निर्वाह करने लगा, परन्तु फिर छोड़े हुए जंगलों में अपनी मौसम में फिर बहार आ गई, तो वह भी अपने पुराने जंगलों को लौट आया--इस प्रकार एक सीमित स्थान का वह चक्कर लगाया करता था, और इसी प्रकार घूम-फिर कर अपना जीवन बिता देता था; हाँ, जो-कोई ऐसी जगह रहता था जहाँ खाने के फल या मछली आदि का शिकार लगातार एक ही जगह मिलता रहता था, वह दूसरों की अपेक्षा कम फिरन्दरी जीवन व्यतीत करता था। यह जीवन ख़तरे का जीवन था। मारनेवाले को मरने के लिए भी तैयार रहना होता है। इस समय जन-संख्या भी बहुत कम थी। १० से १०० आदमियों के समूह में लोग रहते थे, और क्योंकि यह ज़रूरी नहीं कि जंगल में शिकार भरे ही पड़े हों, इसलिए इन लोगों को अपने जीवन-निर्वाह के लिए बहुत अधिक ज़मीन की आवश्यकता होती थी। हो सकता है १० मील में एक ही शिकार मिले, इसलिए यह हिसाब लगाया गया है कि उस समय एक आदमी के लिए २५ वर्गमील ज़मीन की आवश्यकता थी। इस जीवन में बहुत अधिक संगठन या व्यवस्था की गुंजाइश नहीं थी। वैसे तो उस समय नाममात्र के झोंपड़े होते थे, परन्तु जब भी

जंगली लोग झोंपड़े बनाकर रहते थे, तब मुखिया का झोंपड़ा सब के केंद्र में, और दूसरे लोगों के, उन-उन की हैसियत के अनुसार मुखिया के इर्द-गिर्द होते थे।

(ख) 'चरवाहा जीवन' (Pastoral life)—'फिरन्दर-जीवन' के बाद 'चरवाहे-जीवन' का विकास हुआ। शिकारियों की अपेक्षा इस जीवन में इकट्ठे रहने वाले व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है। शिकारी-जीवन में शिकार हाथ आना आसान नहीं होता, इसलिए थोड़े-थोड़े लोगों के समूह इकट्ठे रहते हैं, बहुत ज्यादा लोग इकट्ठे रहने लगें तो सब का पेट ही न भर सके। 'चरवाहे-जीवन' में कुछ जानवर पाल लिये जाते हैं, उन्हें चराते हैं, पालते-पोसते हैं, उनका दूध-दही-मक्खन खाते हैं, और ज़रूरत पड़ने पर उन्हें मारकर खा-पी भी जाते हैं। इस प्रकार पशुओं को पालकर उनसे जीवन-निर्वाह करने में अधिक व्यक्तियों की संख्या भी अपना गुज़ारा कर सकती है, इसलिए 'चरवाहे-जीवन' में मनुष्य-समाज की संख्या फिरन्दरों की अपेक्षा बढ़ जाती है। इस जीवन में समुदाय के टूटकर अलग होने की सम्भावना भी कम हो जाती है क्योंकि शिकारी-जीवन की अपेक्षा इसमें कम ज़मीन से काम चल जाता है, साथ ही समुदाय को बार-बार स्थान बदलने की उतनी आवश्यकता नहीं रहती जितनी फिरन्दर-जीवन में रहती थी। 'चरवाहा' (Pastoral) तथा 'फिरन्दर' (Nomadic) जीवन की तुलना की जाय, तो कहा जा सकता है कि चारवाहे का जीवन फिरन्दर के जीवन से ज्यादा उन्नत, ज्यादा संगठित तथा ज्यादा स्थिर है।

(ग) 'कृषि-जीवन' (Agricultural life)—जीवन-निर्वाह के साधनों की तलाश में जब वह समय आ जाता है जब प्रकृति में इधर-उधर बिखर रहे भोजन को ढूँढने के स्थान में मनुष्य खेती करके, स्वयं बोकर अनाज उत्पन्न करने लगता है, तब जीवन की स्थिरता का सूत्रपात हो जाता है, तब जन-संख्या के मर्यादित रूप में बढ़ने की मानो शुरूआत हो जाती है। अभीतक तो जीवन की कोई बात स्थिर ही नहीं थी। कल का भोजन मिलेगा या नहीं मिलेगा—यह भी तो निश्चित नहीं था, सब-कुछ प्रकृति का खेल था; परन्तु खेती जूए का खेल नहीं थी, अब मनुष्य के हाथ एक ऐसा साधन आ गया था जिससे वह निश्चिन्त होकर अपनी भोजन की समस्या को हल कर सकता था। खेती के आविष्कार से मानवीय-समाज को स्थिरता का एक बड़ा भारी आधार मिल गया, और जन-संख्या के बढ़ने का उपक्रम शुरू हो गया। कृषि की सभ्यता के विकसित होने से पूर्व मनुष्य जंगल-जंगल भटकता फिरता था, जहाँ शिकार मिलता, जहाँ चरागाह होते, वहाँ खानाबदोशों का जीवन बिताता फिरता था। कृषि के आविष्कार के बाद उसका इस प्रकार भटकना बन्द हो गया, जहाँ उपजाऊ भूमि मिली, नदी-नाला-दरिया हुआ, खेती-बाड़ी के लिए पानी की सुविधा हुई, वहाँ गाँव बसाकर वह रहने लगा, और इस प्रकार मनुष्य के अस्थिर जीवन में स्थिरता का प्रवेश हुआ।

(घ) 'औद्योगिक-जीवन' (Industrial life)—कृषि के बाद मनुष्य के विकास ने औद्योगिक-जीवन का आविष्कार किया। कृषि कुछ देर तक मनुष्य

का पेट भरती है, परन्तु एक समय आ जाता है जब बढ़ती हुई जन-संख्या का कृषि द्वारा भरण-पोषण नहीं हो पाता। ऐसे समय में उद्योगों का आविष्कार हुआ। जो स्थान उद्योगों के केन्द्र हो गये, उन्हीं को शहर कहा गया है। कृषि छोड़कर उद्योग की तरफ़ मानव की प्रगति के कारण गाँवों की जन-संख्या कम और शहरों की बढ़ने लगी।

१८वीं सदी में अनेक ऐसे आविष्कार हुए जिनसे उद्योगों के विस्तार को बहुत सहायता मिली। १९वीं तथा २०वीं सदी में भी इस प्रकार के आविष्कारों की प्रगति जारी है, और वर्त्तमान-युग औद्योगिक-युग कहा जा सकता है। सबसे पहले इंग्लैण्ड में 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) हुई जिससे मनुष्य का जीवन ही बिलकुल बदल गया। इंग्लैण्ड के बाद यह क्रांति अन्य देशों में भी फैल गई। इस औद्योगिक-युग में ऐसे-ऐसे आविष्कार हुए जिनसे श्रम की बहुत बड़ी बचत हुई। सन् १७६४ में जेम्स हरग्रीव-नामक एक अंग्रेज़ कारीगर ने ऐसे चरखे का निर्माण किया जिससे एक के स्थान में इकट्ठे आठ-दस सूत काते जा सकते थे। १७६८ में रिचर्ड आर्कराइट-नामक एक दूसरे अंग्रेज़ कारीगर ने ऐसे बेलनों का आविष्कार किया जो हाथ के बजाय यान्त्रिक-शक्ति से चलते थे। धीरे-धीरे ऐसे यन्त्र निकले जिनसे एक-साथ दो-सौ सूत काते जा सकते थे, जिसका अभिप्राय यह था कि अनेक मज़दूरों का काम एक मज़दूर कर सकता था। १७८४ में कार्टराइट ने ऐसी खड्डी बनायी जो पानी से चलती थी, जिस पर पंद्रह वर्ष का बालक उतना काम कर सकता था जितना पहले दस कारीगर करते थे।

१७५० में पत्थर के कोयले का पता लगा। अबतक भट्टियों में लकड़ी का कोयला काम आता था, उसमें इतनी गर्मी न थी जितनी पत्थर के कोयले की आग में थी। इससे लोहे को गलाने में सुविधा हो गई, और लोहे की मशीनें धड़ाधड़ बनने लगीं।

१७६५ में स्टीम ऐंजिन का प्रयोग हुआ। अबतक मनुष्य छोटी-छोटी मशीनों को हाथ से चलाता था, या घोड़े-बैल से चलाता था। अब कोयले और भाप के ज़रिये वह बड़ी-बड़ी मशीनें चलाने लगा। १८०२ में जहाजों को भी चप्पुओं से चलाने के स्थान में स्टीम ऐंजिन से चलाया जाने लगा। छोटे-छोटे जहाज़ों की जगह बड़े-बड़े जहाज़ बनने लगे। १८१४ में जार्ज स्टीवनसन ने भाप से सबसे पहली रेलगाड़ी बनायी।

आज अणु-शक्ति पर परीक्षण हो रहे हैं, और स्वप्न लिया जा रहा है कि जो कार्य भाप-विद्युत् आदि शक्तियाँ करती रही हैं, वह आगामी युग में अणु-शक्ति द्वारा होगा, और इस शक्ति के प्रयोग से मनुष्य की अपरिमित-शक्ति को किसी उच्च उद्देश्य की सिद्धि के लिए बचाया जा सकेगा, यद्यपि उपहास की बात यह है कि मनुष्य को अभी तक यह नहीं मालूम कि वह उच्च उद्देश्य क्या होगा ?

सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक संसार विकास के जिन-जिन युगों में से गुज़रा है, उन सब युगों का एक-दृष्टि में निरीक्षण करने के लिए अगले पृष्ठ में एक चित्र दिया जा रहा है जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि सृष्टि किस-किस क्रम में से गुज़री है, और आज कहाँ आकर खड़ी हुई है :—

इस चित्र में पृथिवी की आयु दो अरब वर्ष मानी गई है

१. अति-सु-पुरा-जीवीय काल (Archeozoic p.)	अति-अति प्राथमिक काल (Remotest Primary p.)	...	इस युग में पृथ्वी की आयु का ३० प्रतिशत समय लगा	इस युग में एक-कोषीय जीव (Uni-cellular life)
२. सुरा-पुरा-जीवीय काल (Proterozoic p.)	अति-प्राथमिक काल (Remote Primary p.)	...	इसमें २५ प्रतिशत	अपृष्ठ-वंशीय जीव (Invertebrate)
३. पुरा-जीवीय काल (Paleozoic p.)	प्राथमिक काल (Primary period)	...	इसमें ३० प्रतिशत	पृष्ठ-वंशीय जीव (Vertebrate)
४. मध्य-जीवीय काल (Mesozoic p.)	द्वितीय काल (Secondary period)	...	इसमें ११ प्रतिशत	सरीसृप (Reptiles)
५. पर-वर्ती काल (Cainozoic p.)	तृतीय काल (Tertiary period)	प्रादि नूतन काल (Eocene p.)	यह युग ६ करोड़ वर्ष पहले शुरू हुआ	जेर वाले स्तनन्धय (Placental Mammals)
		आदि नूतन काल (Oligocene p.)	...	छोटे मानव-सदृश वानर (Small Anthropoid Apes)
		मध्य नूतन काल (Miocene p.)	यह युग २ से ४ करोड़ वर्ष पहले शुरू हुआ	महा-वानर के पूर्वज (Ancestors of Great Apes)
	चतुर्थ काल (Quarternary p.)	अति नूतन काल (Pliocene p.)	...	सीधे खड़े होने वाले वानर (Pithecanthropus Erectus)
		प्राति नूतन या हिम काल (Pleistocene or Glacial p.)	यह युग १० से २० लाख वर्ष पहले शुरू हुआ	१. अति प्राचीन काल २. प्राचीन मानव ३. वर्त्तमान मानव
		सर्व-नूतन काल (Holocene p.)	यह युग २५ हजार वर्ष पहले शुरू हुआ	१. फिरन्दर मानव २. चरवाहा मानव ३. कृषक मानव ४. औद्योगिक मानव

४. मनुष्य द्वारा समाज में ऐक्य-भावना के विकास के चार क्रम

हमने समाज के विकास का सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक का जो चित्र खींचा है, उसमें बहुत पहले से विकास की प्रक्रिया को लेकर हम चले हैं। अगर सिर्फ़ वर्तमान-युग ही को लें, तो हमारे समाज के निम्न विकास-क्रम कहे जा सकते हैं :--

(क) 'ग्राम' की सामूहिक-भावना (Village Community)--हम संसार के अतीतकाल के इतिहास में किसी एक बिन्दु पर अंगुली रखकर नहीं कह सकते कि यहाँ से समाज शुरू हुआ, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि सर्व-प्रथम समाज तब शुरू हुआ जब 'परिवार' (Family) का प्रारम्भ हुआ। परिवार में पारस्परिक रुधिर के सम्बन्ध वालों की 'बिरादरी' बनी, बिरादरी से 'कबीले' (Tribe) बने। इस एक 'कबीले' के लोग आजीविका के लिए जहाँ बस गये, वह 'गाँव' कहलाया।

गाँव में जो सब का रक्षक था वह मुखिया कहलाया, बाकी सब उसकी आज्ञा का पालन करने लगे। हर-एक व्यक्ति हर काम कर लेता था, गाँव की अवस्था में श्रम-विभाग का सिद्धान्त अभी अपने विस्तृत रूप में प्रकट नहीं हुआ था। एक-एक बिरादरी अपना अलग-अलग गाँव बसाकर रहती थी, इसलिए एक गाँव का दूसरे से कोई विशेष सम्पर्क न था, हर गाँव अपनी हर आवश्यकता को अपने यहाँ ही पूरा करने का प्रयत्न करता था। यातायात के साधन नहीं थे--अगर किसी गाँव में ज्यादा अन्न हो गया, तो वहीं सड़ जाता था, अगर कम हो गया, तो दूसरे गाँवों में ज्यादा अन्न होने पर भी कम अन्न के गाँववाले भूखे मरते थे।

(ख) 'नगर' की सामूहिक-भावना (City Community)---ज्यों-ज्यों यातायात के साधन बढ़ने लगे, त्यों-त्यों परस्पर सहयोग की भावना भी बढ़ी, जिनसे अबतक मिलना-जुलना नहीं होता था उनसे मेल-मुलाकात बढ़ी, एकता की भावना जागी, व्यापार बढ़े। वह छोटा गाँव जहाँ अन्यों की अपेक्षा उत्तम साधन थे, बढ़ने लगा, बढ़ते-बढ़ते वही शहर बन गया, जिसमें उत्तम साधन नहीं थे, वह गाँव-का-गाँव रह गया। जहाँ बन्दरगाह बन गए, सड़कें खुल गईं, जहाँ हिफ़ाजत के लिए इर्द-गिर्द दीवारें बन गईं, व्यापारियों को व्यापार तथा रक्षा की सुविधा हो गई, वे शहर कहलाने लगे। अभी तक गाँव के लोग ख़ून के रिश्ते से बंधे थे, अब नागरिकता के रिश्ते से बंधने लगे। जैसे गाँव में घर व्यक्ति के आनन्द का, उल्लास का केंद्र था, वैसे अब नगर का वातावरण उसके आनन्द का, उल्लास का केंद्र हो गया।

(ग) 'सामन्तशाही' की सामूहिक-भावना (Feudal Community) --गाँव से शहर का विकास हुआ, परन्तु साथ ही गाँव से एक और समुदाय का जन्म हुआ जिसे सामन्तशाही कहा जाता है। युरोप के गाँवों में जो मुखिया लोग थे, वे धीरे-धीरे गाँव के मालिक हो गये, बाकी के किसान उनके दास हो गए। मुखिया एक प्रकार का 'सामन्त' (Feudal lord) बन गया, ठीक ऐसा जैसे भारत में 'जमींदार' था। जमींदार के सामने किसान की हैसियत एक दास से बढ़कर न थी,

ऐसे ही युरोप के सामन्त के सामने किसान की हैसियत दास की सी-थी। परन्तु शहरों में नागरिकता की भावना भी साथ-साथ बढ़ रही थी, इस भावना से मनुष्य को अपने अधिकारों का ज्ञान हो रहा था। युरोप ने सदियों की कश्मकश के बाद इस सामन्त-शाही का अन्त किया, भारत ने भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जमींदारी-प्रथा को समाप्त कर दिया। इसके बाद मनुष्य के समान अधिकारों का युग आया, वह युग जो आज हम सब देख रहे हैं।

(घ) 'एक-जातीयता' की सामूहिक-भावना (Nation Community)—मनुष्य ने रुधिर के सम्बन्ध से एक-दूसरे को अपना कहना शुरू किया था, परन्तु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों वह विकसित होता गया, मनुष्य मनुष्य को अपना निकट का, सम्बन्धी-सा समझने लगा। अभी तक वह दूसरे को दूसरा समझता था, परन्तु सदियों के इतिहास में से गुज़रने के बाद वह सम्पूर्ण मानव-समाज में एकता के सूत्र को देखने लगा। अभी मनुष्य मानव-समाज की एकता को अनुभव करने के रास्ते पर है, कब वह मानव-जाति की आधार-भूत सामूहिक एकता को जीवन में उतार लेगा, यह अभी नहीं कहा जा सकता। इस एकता को अनुभव कराने के लिए राष्ट्रों के भिन्न-भिन्न प्रयत्न हो रहे हैं। कहीं संयुक्त-राष्ट्र-संघ है, कहीं दूसरे संघ हैं। इन सब का उद्देश्य आज के मानव में 'एक-जातीयता' की सामूहिक भावना को उत्पन्न करना है।

५. प्राथमिक तथा वर्तमान समाज में आधार-भूत भेद

हमने इस अध्याय में यह जानने का प्रयत्न किया कि जब से पृथिवी पर जीवन प्रारम्भ हुआ है, तब से विकास के किन-किन क्रमों में से जीवन को गुज़रना पड़ा। साथ ही हमने यह भी देखा कि मानव-जीवन के विकास का क्या क्रम रहा। किस प्रकार पहले-पहल मनुष्य के अंग-प्रत्यंग का विकास हुआ, किस प्रकार वह पहले-पहल शिकारी जीवन व्यतीत करता था, किस प्रकार शिकारी-जीवन से निकलकर वह पशु पालने लगा, फिर कृषि, और फिर आज वह नाना-प्रकार के उद्योग-धन्धे करने लगा है।

यह सारा विकास यों ही नहीं हो गया। इस विकास तक पहुँचने के लिए मनुष्य को नाना-प्रकार के संगठन बनाने पड़े। किसी समय उसने परिवार बनाया, घर बनाया, किसी समय छोटे-छोटे समूह बनाये, वर्ग बनाये, मनुष्यों की भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ बनायीं, भिन्न-भिन्न सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक संगठन बनाये। इन संगठनों को बनाकर, इनकी सहायता से मनुष्य विकास की उस मंजिल पर पहुँचा है जहाँ आज हम उसे देखते हैं। अगर वह समय-समय पर भिन्न-भिन्न प्रकार के सामाजिक-संगठन न बनाता और अन्य मनुष्यों को अपने साथ न लेता, तो इकला आज वहाँ न पहुँच पाता जहाँ वह आज पहुँच गया है। जहाँ से मनुष्य चला है, और जहाँ पहुँच गया है, वहाँ पहुँचने तक समाज-शास्त्र की 'केन्द्रीकरण से विकेन्द्रीकरण' की प्रक्रिया काम करती रही है। हम शेष अध्याय में यही देखने का प्रयत्न करेंगे कि वह 'केन्द्रीकरण' से 'विकेन्द्रीकरण' की प्रक्रिया क्या है?

६. केन्द्रीकरण से विकेन्द्रीकरण की तरफ़ (From Fusion to Differentiation)

(क) 'प्राणि-शास्त्रीय पहलू' में विकेन्द्रीकरण--प्रारम्भ के समाज की रचना में और आज के समाज की रचना में भेद है। शुरू-शुरू में समाज की रचना किस प्रकार हुई ? समाज का प्रारम्भ अनेक व्यक्तियों के साथ-साथ रहने से हुआ, परन्तु कौन लोग साथ-साथ रहते थे ? साथ-साथ वही लोग रहते थे जो एक ही 'रुधिर' के थे, एक-दूसरे के रिश्तेदार थे, सगे-सम्बन्धी थे। समाज का यही 'प्राणि-शास्त्रीय पहलू' (Biological side) है। जिन लोगों का एक-दूसरे के साथ रुधिर का सम्बन्ध नहीं था, वे क्यों साथ-साथ रहते ? हाँ, एक स्थिति ऐसी जरूर थी जिसमें रुधिर का सम्बन्ध न होते हुए भी लोग साथ-साथ रह सकते थे, और समाज का निर्माण कर सकते थे। ऐसी स्थिति तब उत्पन्न होती थी, जब कुछ लोग एक ही 'जमीन' को शिकार, चरागाह या खेती के लिए अपना आधार बनाते थे। इस स्थिति में भी अधिकतर एक रुधिर के लोग ही मिलकर एक समाज बनाते थे, परन्तु हाँ, ऐसे समुदाय में एक रुधिर के न होते हुए भी साथ-साथ रहने की, और एक समाज बनाने की सम्भावना हो सकती थी। इस दृष्टि से प्रारम्भिक सामाजिक-रचना का आधार 'एक रुधिर तथा एक जमीन' (Common blood and Common land) कहा जा सकता है। 'एक रुधिर तथा एक जमीन' में जिन लोगों का स्वार्थ केंद्रित था, उनके एक-साथ रहने से प्रारम्भिक-समाज का जन्म हुआ।

वह समाज बहुत छोटा-सा था, उस समाज में व्यक्ति को कोई स्वतन्त्रता न थी, यह नहीं समझा जाता था कि व्यक्ति की परिवार से, जात-बिरादरी से, अपने घराने से, घर के लोगों से कोई स्वतन्त्र सत्ता भी हो सकती है। परिवार, जात-बिरादरी जो सोचें वही उसे सोचना होता था, जो करें वही उसे करना होता था, परिवार, जात-बिरादरी का जो धर्म हो, वही उसका धर्म था, जो उनकी मान्यताएँ थीं, वही उसकी मान्यताएँ थीं, 'महाजनो येन गतः स पन्थाः'--उसके जीवन का मार्ग-निर्देशक था, रुधिर का सम्बन्ध ही उसके समाज का मुख्य आधार था क्योंकि जात-बिरादरी का मतलब ही रुधिर के सम्बन्ध से था। अगर कोई व्यक्ति किसी बिरादरी का है, तो इसका यह स्वयं-सिद्ध अर्थ था कि बिरादरी के रीति-रिवाज, संस्कार, प्रथाएँ, उसका उचित-अनुचित का माप-दण्ड, उसका धर्म, विश्वास--ये सब-कुछ उस व्यक्ति के लिए बिना ननु-नच के मानना आवश्यक था। बिरादरी ने जिस बात के लिए 'हाँ' कर दी उसके लिए वह 'न' नहीं कर सकता था, जिस बात के लिए 'न' कर दी, उसके लिए वह 'हाँ' नहीं कर सकता था। समाज की इस प्रारम्भिक-अवस्था में व्यक्ति के सब स्वार्थ एक ही जगह केंद्रित थे--एक रुधिर पर आश्रित बिरादरी ही उसकी सर्व-सर्वा थी, वह बिरादरी से अलग अपनी सत्ता को सोच ही नहीं सकता था। बिरादरी का रंज उसका रंज था, बिरादरी की खुशी उसकी खुशी थी। इस प्रकार का संगठन उसको बिरादरी से इस प्रकार बाँधे हुए था जैसे शरीर के साथ अंग-प्रत्यंग बँधे हुए हैं। बिरादरी से अलग होकर वह ऐसे अनुभव करता था,

जैसे शरीर का कोई अंग जिस्म से कट कर अलग हो जाय। उस समय भिन्न-भिन्न प्रकार के सामाजिक-संगठन नहीं बने थे, जात-बिरादरी ही उसके लिए सबसे बड़ा संगठन था। बिरादरी ही शासन करती थी, बिरादरी ही शिक्षा का प्रबन्ध करती थी, बिरादरी ही न्याय करती थी, और बिरादरी ही अपराधी को दण्ड देती थी। शासन, शिक्षा-दीक्षा, न्याय, धर्म, शांति, व्यवस्था तथा मनुष्य की अन्य आवश्यकताओं के लिए आजकल की तरह के भिन्न-भिन्न संगठन नहीं बने थे। ऐसा नहीं था कि हुकूमत के लिए शासन-व्यवस्था बनी हुई है, शिक्षा-दीक्षा के लिए स्कूल-कालेज खुले हुए हैं, अपराधियों को दण्ड देने के लिए न्याय-विभाग खुला हुआ है, धर्म-कर्म के लिए मन्दिर-मस्जिद-गिर्जे बने हुए हैं, शान्ति स्थापित करने के लिए पुलिस का प्रबन्ध है। उस समय ये सब काम, और इस जैसे अन्य सैंकड़ों काम, एक ही संगठन द्वारा होते थे। बिरादरी ही ये सब व्यवस्था कर देती थी—बिरादरी ही अपराधी को दंड देकर न्यायालय का काम करती थी, बिरादरी ही ब्राह्मण देवता के खाने-पीने का बन्दोबस्त कर उसे बच्चों को पढ़ाने के काम में लगाकर स्कूलों का काम कर देती थी, बिरादरी ही अपने आन्तरिक नियम बनाकर शासन का तथा पुलिस का काम भी कर देती थी।

परन्तु ज्यों-ज्यों समाज अधिकाधिक विकसित होता गया, त्यों-त्यों 'एक रुधिर तथा एक ज़मीन' से बँधे रहना कठिन होता गया। जब तक जन-संख्या थोड़ी थी, तब तक तो एक रुधिर के, एक जात-बिरादरी के लोग एक जगह पर रह सकते थे, परन्तु ज्यों-ज्यों जन-संख्या बढ़ने लगी, त्यों-त्यों सब का एक ही जगह पर सीमित रहना कठिन हो गया। इसके अतिरिक्त भूमि का बन्धन भी ढीला होने लगा। भूमि कब तक, कितनों को खपा सकती है? जब एक ही ज़मीन से ज्यादा लोगों का गुज़ारा न हो सका, तो वे भूमि छोड़कर तितर-बितर होने लगे—कृषि छोड़कर उद्योग-धंधे की तरफ़ मनुष्य का जाना स्वाभाविक हो गया। इन सब बातों का स्वाभाविक-परिणाम यह हुआ कि जो बातें अबतक जात-बिरादरी में ही केन्द्रित थीं, वे उससे एक-एक कर के अलग होने लगीं। जब लोग आजीविका के लिए जात-बिरादरी से दूर-दूर जाकर रहने लगे, तो उनकी आवश्यकताओं को जात-बिरादरी तो पूरा नहीं कर सकती थी। जहाँ वे रहेंगे, वहीं का सामाजिक-संगठन ही तो उनकी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकेगा। इस प्रकार सामाजिक-संगठन की जो-जो बातें सिर्फ़ जात-बिरादरी में केन्द्रित थीं, वे जात-बिरादरी में से टूट-टूट कर अलग होने लगीं, और समाज के विकास के साथ-साथ, हर बात के लिए अलग-अलग सामाजिक-संगठन बनने लगे। न्याय के लिए न्यायालयों के स्वतन्त्र सामाजिक-संगठन का निर्माण हुआ, शिक्षा के लिए स्कूलों-कालेजों की नींव पड़ी, व्यवस्था तथा शान्ति-स्थापना के लिए पुलिस का विभाग बना, अपराधियों से समाज को बचाने के लिए जेलखाने बने—भिन्न-भिन्न बातों के लिए भिन्न-भिन्न सामाजिक-संगठन जन्म लेने लगे। इस प्रकार प्रारम्भिक असंगठित-समाज से—उस समाज से जिसमें लगभग जात-बिरादरी का एक ही संगठन था जो व्यक्ति की

हर आकांक्षा को पूरा करता था--एक संगठित-समाज का जन्म हुआ, उस समाज का जन्म हुआ जिसमें एक की जगह अनेक संगठन थे, और इन अनेक संगठनों में हर संगठन दूसरे से सम्बद्ध होता हुआ भी उससे लगभग स्वतन्त्र था। समाज के विकास की यह दिशा संगठन के 'केन्द्रीकरण से विकेन्द्रीकरण' की तरफ़ बढ़ने की दिशा थी।

(ख) 'यांत्रिक तथा सांस्कृतिक-पहलू' का एक-दूसरे से विकेन्द्री-करण--हमने अभी तक सामाजिक-विकास के जिस पहलू पर प्रकाश डाला है वह 'प्राणि-शास्त्रीय पहलू' (Biological factor) कहा जा सकता है। रुधिर का सम्बन्ध, जात-बिरादरी का सम्बन्ध 'प्राणि-शास्त्रीय-तत्त्व' (Biological factor) ही तो है। हमने देखा कि प्राथमिक-अवस्था से सभ्य-अवस्था की तरफ़ विकसित होता हुआ समाज 'केन्द्री-करण' से 'विकेन्द्री-करण' की तरफ़ जाता है, परन्तु यह समझ लेना जरूरी है कि इस प्रक्रिया का असर समाज के केवल 'प्राणि-शास्त्रीय पहलू' पर ही नहीं होता, समाज के अन्य पहलुओं पर भी यही 'विकेन्द्री-करण' का नियम काम करता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि सामाजिक-परिवर्तनों के तीन कारण हैं--'प्राणि-शास्त्रीय-तत्त्व' (Biological factors), 'यान्त्रिक-तत्त्व' (Technological factors) तथा 'सांस्कृतिक-तत्त्व' (Cultural factors)। 'प्राणि-शास्त्रीय-तत्त्व' जात-बिरादरी हैं। इनके विषय में हम देख चुके हैं कि ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता जाता है, समाज के भिन्न-भिन्न कार्य, एक व्यक्ति या एक संगठन में केन्द्रित होने के स्थान में, अलग-अलग, स्वतन्त्र रूप धारण करने लगते हैं। यही विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया 'यान्त्रिक' तथा 'सांस्कृतिक' तत्त्वों के विषय में लागू होती है। 'यान्त्रिक-तत्त्व' (Technological factors) का अर्थ है--'सभ्यता' (Civilization)। रेडियो, मोटर, तार--यही तो 'यान्त्रिक-तत्त्व' हैं, इन्हीं को 'सभ्यता' कहा जाता है। इन तत्त्वों की यह विशेषता है कि ये मनुष्य के लिए अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में 'साधन' हैं। इनका अपना मूल्य कुछ नहीं। मकान का क्या मूल्य है, अगर उसमें कोई रह नहीं सकता, रेडियो का क्या मूल्य है, अगर उससे सुना नहीं जा सकता, मोटर का क्या मूल्य है, अगर उसके द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचा नहीं जा सकता? जितने 'यान्त्रिक-तत्त्व' हैं, उन्हीं को हम 'सभ्यता' (Civilization) कहते हैं, और इनका अपना कोई मूल्य नहीं, इनका मूल्य 'संस्कृति' (Culture) निर्धारित करती है। 'रेडियो' निष्पक्ष-भाव से पड़ा है, उससे कोई गन्दे, अश्लील गाने सुनना चाहे, तो वह सुन सकता है, ईश्वर-भक्ति के गीत सुनना चाहे, तो वह सुन सकता है; यन्त्र नहीं कहता, मैं यही सुनाऊँगा, वह नहीं सुनाऊँगा। यन्त्र तो एक उपयोगी चीज है, इसका सदुपयोग होगा, या दुरुपयोग होगा--यह यन्त्र के हाथ की बात नहीं है। यन्त्र, अर्थात् 'सभ्यता' (Civilization) का अच्छा या बुरा उपयोग करना 'संस्कृति' (Culture) का काम है। परन्तु समाज की प्रारम्भिक-अवस्था में 'सभ्यता' (Civilization) तथा 'संस्कृति' (Culture) का भेद स्पष्ट नहीं होता। समाज

की प्रारंभिक-अवस्था में जो वस्तु 'सभ्यता' की है, उसी पर 'संस्कृति' भी केन्द्रित हो जाती है। प्रारम्भिक-समाज में अगर हल उनकी 'सभ्यता' (Civilization) का एक अंग था, तो उस समाज की 'संस्कृति' (Culture) भी उसी हल के इर्द-गिर्द केन्द्रित थी। उसको वे सजाते थे, उसकी पूजा करते थे, हल चलाने वाले बैलों के तिलक लगाते थे, अपनी सम्पूर्ण सांस्कृतिक-कला हल और बैल पर उँडेल देते थे। अगर शिकार के लिए धनुष-बाण का उपयोग करते थे, तो इन अस्त्रों के सामने वे सिर भी झुकाते थे। खाने के लिए अगर किसी जानवर को मारते थे तो उसे पहले देवता पर चढ़ाते भी थे, उसके गिर्द नाचते-कूदते भी थे। अगर मछलियाँ पकड़ने के लिए एक नौका को लेकर समुद्र में जाते थे, तो उसे फूल-माला से सजाते भी थे, चलते समय मन्त्र भी पढ़ते थे। समाज की उस प्राथमिक-अवस्था में 'सभ्यता' (Civilization) तथा 'संस्कृति' (Culture) दोनों रले-मिले थे, उनके जो यन्त्र थे, वे निरे यन्त्र न थे, निरे उपयोगी उपकरण न थे, वे यन्त्र उनके लिए जीवन का सर्वस्व थे। आज के विकसित समाज में 'सभ्यता' (Civilization) तथा 'संस्कृति' (Culture)--इन दोनों का एक-दूसरे में 'केन्द्रीकरण' हटता चला जा रहा है, आज 'सभ्यता' के जितने साधन हैं, जितने उपकरण और यंत्र हैं, उन्हें सिर्फ़ 'उपयोगिता' (Utility) की दृष्टि से देखा जाता है, 'संस्कृति' (Culture) की दृष्टि से नहीं देखा जाता। आज कोई मिलों पर मालाएँ नहीं चढ़ाता, उनकी पूजा नहीं करता, मिल को काम करते देख कर नाचने-कूदने नहीं लगता। मिल सिर्फ़ कपड़ा पैदा करने का साधन है, इसकी इतनी ही उपयोगिता है। वर्तमान विकसित-समाज में 'साधन' और 'साध्य'--'सभ्यता' और 'संस्कृति' के भेद को समझा जा रहा है--इन दोनों का एक-दूसरे में 'केन्द्रीकरण' होने के स्थान में 'विकेन्द्रीकरण' हो रहा है। क्योंकि यह समझा जाने लगा है कि 'साधन' की विशेषता उसकी उपयोगिता में ही है, किसी और बात में नहीं, इसलिए 'साधनों' की उपयोगिता बढ़ाने के दिनों-दिन प्रयत्न भी हो रहे हैं। मोटर को ही लीजिये। यह यातायात का साधन है। इसकी उपयोगिता बढ़ाने के लिए हर-साल परीक्षण हो रहे हैं, और हर साल मोटरों के नये-नये नमूने बन रहे हैं। प्रारम्भिक-समाज में जो 'साधन' थे, उन्हें 'साधन' ही नहीं समझा जाता था, जीवन का सर्वे-सर्वा समझा जाता था, इसलिए उनके 'साधनों' में सदियाँ गुज़र जाने पर भी परिवर्तन नहीं हो सका। बैलगाड़ी वसी-की-वैसी हज़ारों सालों से चलती रही, उसमें परिवर्तन नहीं हुआ। ऐसी ही अन्य साधनों की बात है। परन्तु ज्यों-ज्यों समाज का विकास हुआ, ज्यों-ज्यों समझा जाने लगा कि 'उपयोगिता' (Utility) दूसरी चीज़ है वस्तु का 'मूल्य' (Value) दूसरी चीज़ है, 'सभ्यता' दूसरी चीज़ है 'संस्कृति' दूसरी चीज़ है, 'सभ्यता' का काम 'उपयोगिता' निर्धारण करना है 'संस्कृति' का काम 'मूल्य' निर्धारण करना है, 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' अलग-अलग रह सकती हैं, त्यों-त्यों समाज में 'विकेन्द्रीकरण' की प्रक्रिया प्रकट होती गई, और समाज प्राथमिक-अवस्था से

निकल कर वर्त्तमान अवस्था की तरफ़ बढ़ता गया। हम अगले तीन अध्यायों में 'प्राणि-शास्त्रीय तत्त्वों' (Biological factors), 'यान्त्रिक-तत्त्वों' (Technological factors) तथा 'सांस्कृतिक-तत्त्वों (Cultural factors) का इसी दृष्टि से वर्णन भी करेंगे।

इस प्रकरण में हमने देखा कि समाज ज्यों-ज्यों प्राथमिक-अवस्था से वर्त्तमान सभ्य-अवस्था में आता जाता है, त्यों-त्यों ये तत्त्व किस प्रकार 'केन्द्रीकरण' की प्रक्रिया में से 'विकेन्द्रीकरण' की तरफ़ समाज को लाते जाते हैं।

(ग) विकेन्द्रीकरण से हानि—जब तक समाज प्रारम्भिक-अवस्था में था, तबतक सामाजिक-संगठन में 'केन्द्रीकरण' की प्रवृत्ति थी, ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता गया, वर्त्तमान सभ्यता की तरफ़ पग बढ़ाता गया, त्यों-त्यों सामाजिक-संगठन में 'विकेन्द्रीकरण' की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इसका व्यक्ति के जीवन पर एक गहरा प्रभाव दीखने लगा। जबतक व्यक्ति का जीवन बिरादरी में ओत-प्रोत था, तब तक वह बिरादरी की हर-बात में ज्यादा-से-ज्यादा भाग लेता था, तब भाई-भाई के ज्यादा नजदीक था, रिश्तेदारी को बहुत महत्त्व देता था। आज भी ऐसे परिवार हैं जो घर से तीन पैसे की चिट्ठी आने पर कि उनका कोई सगा-सम्बन्धी बीमार है, कलकत्ते या बम्बई से फ़ैजाबाद के लिए नौकरी-चाकरी छोड़कर चल देते हैं, उन्हें अपने रिश्तेदारों का दुःख अपना दुःख अनुभव होता है—इसलिए अनुभव होता है क्योंकि वे जात-बिरादरी के सूत्र में अपने को माला में मनके की तरह पिरोया हुआ अनुभव करते हैं। इसके मुकाबिले में आज ऐसे भी लोग पैदा हो गये हैं जो भाई के मर जाने की तार पाकर भी यह सोचकर सब्र कर लेते हैं कि आखिर मरना तो सब को है ही, अब गाँव में घर जाने से क्या फ़ायदा, वे अपने घर बैठे चिट्ठी लिखकर ही अपनी सान्त्वना प्रकट कर देना काफ़ी समझते हैं। आज जीवन उथला होता चला जा रहा है, एक-दूसरे के साथ प्रेम-सूत्र में बाँधने वाले बन्धन शिथिल होते जा रहे हैं, जबानी जमा-खर्च बढ़ता जा रहा है। कोई रिश्तेदार भी बीमार हो, तो हम टैलीफ़ोन पर उसका हाल-चाल पूछना काफ़ी समझते हैं, बीमारी का हाल देर में पता चले, तो दिखाने को कहते हैं कि पता क्यों नहीं दिया, ठीक वक्त पर पता चल जाय, तो कोई बहाना करके टल जाने का प्रयत्न करते ह। किसी की किसी के लिए हमदर्दी नहीं रही—इतना विकेन्द्रीकरण हो गया है कि हर-एक अपने लिये हो गया है।

(घ) सामाजिक-विकास में विकेन्द्रीकरण की हालत आती ही है—यह हालत, कितनी ही अरुचिकर क्यों न हो, 'केन्द्रीभूत' प्राथमिक असभ्य सामाजिक-संगठन से, 'अकेन्द्री-भूत' वर्त्तमान सभ्य सामाजिक-संगठन की तरफ़ आने में आती ही है—इसलिए आती है क्योंकि समाज के उत्तरोत्तर विकास में मनुष्य जात-बिरादरी में ही बँधा हुआ नहीं रह सकता। आजीविका के लिए ही 'रुधिर तथा भूमि' के सम्बन्ध का सूत्रपात हुआ था, जब ये सम्बन्ध आजीविका के प्रश्न को हल करने में असमर्थ हो जाते हैं, तब मनुष्य इन सम्बन्धों को तोड़ कर अलग

हो जाता है, अपने जीवन के क्षेत्र को विस्तृत करने लगता है, उसके लिए जात-बिरादरी के संकुचित दायरे में से निकलना और विस्तृत-क्षेत्र के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक हो जाता है--सामाजिक-विकास की इस दिशा को वह चाहे भी तो नहीं रोक सकता, आजीविका के प्रश्न से विवश होकर वर्त्तमान सभ्य-मनुष्य को अपने जीवन की दिशा बदलनी ही पड़ती है।

(ङ) विकेन्द्रीकरण से लाभ--जात-बिरादरी में ही हर-बात के केन्द्रित न रहने से लाभ भी है। अबतक बिरादरी का भूत इस प्रकार व्यक्ति पर सवार रहता था कि उसकी स्वतन्त्र सत्ता ही शून्य के समान थी। बिरादरी का हुक्का-पानी बन्द कर देना, रोटी-बेटी का रिश्ता तोड़ देना एक ऐसी धमकी थी जिसके सामने मनुष्य का व्यक्तित्व पनपने नहीं पाता था। यह जरूरी नहीं कि मनुष्य वही-कुछ सोचे जो बिरादरी सोचती है, वही माने जो बिरादरी मानती है, उसी बात पर विश्वास करे जो बिरादरी का विश्वास है, उसी धर्म पर आस्था रखे जिस पर बिरादरी की आस्था है। यह हो सकता है कि बिरादरी एक रास्ते पर चले, और वह ग़लत रास्ता हो, व्यक्ति दूसरे रास्ते पल चले, और वह सही रास्ता हो। अगर यह बात सम्भव है, तो व्यक्ति को बिरादरी से स्वतन्त्र होकर सोचने और करने का मौका क्यों न मिले? क्या हम देखते नहीं कि हिंदू-समाज में ही किसी समय विदेश-यात्रा को पाप समझा जाता था, जो मनुष्य पार हो आता था, उसे जाति-च्युत कर दिया जाता था, उसका हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता था, उसके साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध तोड़ दिया जाता था। मूर्ख लोगों का बिरादरी पर राज्य था, वे किसी को दूसरे रास्ते से चलने ही नहीं देते थे--ऐसी अवस्था को अभीष्ट नहीं कहा जा सकता।

परन्तु जैसा हमने देखा, सामाजिक-विकास में यह अवस्था टिकती नहीं है। समाज के विकास की दिशा ही केन्द्रीकरण की जगह विकेन्द्रीकरण की तरफ़ है। यह विकेन्द्रीकरण हमारे किये नहीं हो रहा, आप-से-आप हो रहा है, समाज का जिन सिद्धान्तों से विकास होता है, उन सिद्धान्तों से यह विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया स्वतः होती चली जा रही है। हमारे समाज में अछूतपन मिट रहा है। क्यों मिट रहा है? इसलिए, क्योंकि सामाजिक-विकास जिस दिशा में जा रहा है, उसमें यह टिक ही नहीं सकता। जात-पात के बन्धन भी टूटते जा रहे हैं, इसलिए टूटते जा रहे हैं क्योंकि वे भी सामाजिक-विकास के सामने ठहर नहीं सकते। ये संगठन तब बने थे, जब रुधिर का सम्बन्ध समाज की रचना का आधार-भूत सम्बन्ध था। जो अपने रुधिर का है वह अपना, दूसरे रुधिरवाला दूसरा है, पराया है, उससे अपने को बचाने की आवश्यकता है। जब जात-बिरादरी को बनाने वाला रुधिर का बन्धन जाता रहा, तब इन भेद-भावों का धीरे-धीरे मिटते जाना अनिवार्य हो गया। इस प्रक्रिया में समाज-सुधारक उतना काम नहीं करता जितना सामाजिक-विकास के आन्तरिक नियम काम करते हैं, तो भी समाज-सुधारकों का इस प्रक्रिया को वेग देने में बड़ा भारी हाथ रहता है।

विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति को जात-बिरादरी के बन्धनों से मुक्त कर देती है, उस के स्वतन्त्र-व्यक्तित्व को पनपन का अवसर देती है, वह बिरादरी के दकियानूसी न्याय से शासित होने के बजाय एक संगठित न्याय-व्यवस्था से शासित होने लगता है, बिरादरी के संकुचित-क्षेत्र में पलने के बजाय विशाल-समाज के विस्तृत क्षेत्र में पलने लगता है, उसमें शिक्षा-दीक्षा लेने लगता है, उसका व्यक्तित्व उभरने लगता है। सामाजिक-विकास की यही दिशा है। आधुनिक-युग में इस दिशा को कई लोगों ने पलटने का यत्न किया। हिटलर और मुसोलिनी ने व्यक्ति को विकास का अवसर देने के स्थान में फिर जात-बिरादरी के भूत को खड़ा किया—मेरी जाति, मेरे ख़ून के लोग, हमारी बिरादरी ! बिरादरी के साँचे में ढाल कर व्यक्ति के दृष्टि-कोण को फिर उन्होंने संकुचित बनाने का प्रयत्न किया, उसे छोटे क्षेत्र से विशाल-क्षेत्र में ले जाने के बजाय फिर से विशाल-क्षेत्र से छोटे क्षेत्र में लाने का प्रयत्न किया, परन्तु ये प्रयास सामाजिक-विकास की प्रक्रिया के साथ ठीक नहीं बैठे, अतः सफल नहीं हुए।

७. प्राथमिक से वर्त्तमान तक सामाजिक-विकास की प्रक्रिया

सामाजिक-विकास की जिस प्रक्रिया का हमने उल्लेख किया है, उसे संक्षेप में कहना चाहें तो हम कह सकते हैं कि—

(क) केन्द्रीकरण की प्रक्रिया—पहले-पहल प्राथमिक-समाज में राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, रीति-रिवाज, प्रथा आदि सब का केन्द्र सिर्फ़ एक संगठन होता है। वह संगठन 'एक रुधिर तथा एक भूमि' के कारण उत्पन्न होता है, व्यक्ति उस संगठन का अभिन्न अंग होता है। वह जात-बिरादरी का संगठन होता है।

(ख) विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया—'रुधिर तथा भूमि' का सम्बन्ध भी आजीविका को आधार बनाकर खड़ा हुआ होता है, इसलिए जब रुधिर तथा भूमि का सम्बन्ध आजीविका के प्रश्न को हल नहीं कर सकता, तब व्यक्ति धीरे-धीरे रुधिर और भूमि के सम्बन्ध को छोड़ने लगता है, बिरादरी से अपने व्यक्तित्व को पृथक् करने लगता है। व्यक्ति के बिरादरी में मिट जाने की प्रक्रिया 'केन्द्रीकरण' (Fusion) की प्रक्रिया है, व्यक्ति के बिरादरी से अपने को पृथक् कर लेने की प्रक्रिया 'विकेन्द्रीकरण' (Differentiation) की प्रक्रिया है। जहाँ व्यक्ति बिरादरी से अलग हुआ, वहाँ राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, रीति-रिवाज, प्रथा आदि सब, जो बिरादरी में केन्द्रित थे, अब बिरादरी में केन्द्रित नहीं रहते, इनका अलग-अलग विकास होने लगता है, विकेन्द्रीकरण होने लगता है। अलग-अलग विकास क्यों होने लगता है ? इसलिए, क्योंकि पहले बिरादरी जो-कुछ करती थी, अपनी संकुचित-दृष्टि से करती थी, इस बात में बिरादरी का भला है, इसमें नुकसान है—इसलिए यह ठीक और यह ग़लत ! परन्तु जब व्यक्ति बिरादरी से अपने को भिन्न अनुभव करने लगा, तब बिरादरी का

भला सोचने के स्थान में व्यक्ति की भलाई सोचने का प्रश्न मुख्य हो गया, यह दृष्टि सामने आ गई कि व्यक्तियों का भला करके ही समाज का भला हो सकता है। इस दृष्टि के सामने आते ही राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, रीति-रिवाज, प्रथा आदि के सम्बन्ध में भी दृष्टि बदल गई। इनका संगठन बिरादरी के संकुचित दृष्टि-कोण से न होकर, हर-व्यक्ति को समाज की स्वतन्त्र इकाई मान कर होने लगा, यह सोचकर होने लगा कि मनुष्य ने अपनी जात-बिरादरी से ही नहीं बँधे रहना, संसार की विशाल बिरादरी में, जिसमें ख़ून का, जात-पात का, रंग का--किसी प्रकार का भेद नहीं है, उस बिरादरी से बंधे रहना है।

(ग) विकेन्द्रीकरण से भिन्न-भिन्न संगठनों का निर्माण--जब यह विशाल दृष्टि आयी, तब भिन्न-भिन्न प्रकार के संगठनों का निर्माण हुआ। राज्य-व्यवस्था कायम हुई, आर्थिक-संगठन अलग-अलग बनने लगे, धार्मिक भावना को मूर्त्त-रूप देने के लिए मन्दिर-मस्जिद-गिर्जे बने, स्कूल-कालेज खुले। समाज के विकास की प्रारम्भिक-अवस्था में यह दृष्टि नहीं थी। तब व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता ही नहीं थी। तब तो व्यक्ति बिरादरी का अंग-मात्र था। जब वह आजीविका की तलाश करता हुआ एक-रुधिर का सम्बन्ध मानने वाली बिरादरी से टूटा, तब उसकी देख-भाल कौन करता? एक दृष्टि से तो वह एक संकुचित बिरादरी से निकल कर एक बड़ी बिरादरी बनाने के मार्ग पर चल पड़ा। पहले तो उसके साथ के दरवाज़े वाले ही उसके अपने थे, सगे-सम्बन्धी थे, जिनसे उसके विचार नहीं मिलते थे उनके साथ भी जबर्दस्ती उसे भाई-चारा रखना होता था, इसके सिवाय कोई रास्ता ही नहीं था, परन्तु अब बिरादरी से हट कर वह स्वतन्त्र विचार रखता हुआ भी दूसरों से सम्पर्क स्थापित कर सकता था, सैकड़ों मील दूर रहने वाले व्यक्तियों के साथ, एक-समान विचार होने के कारण, ख़ून का रिश्ता न होने पर भी एकता का अनुभव कर सकता था। इस नवीन विशाल-जीवन के लिए पहली बिरादरी में केन्द्रित राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था काम नहीं दे सकती थी, इसलिए एक नवीन प्रकार की व्यवस्था की आवश्यकता पड़ी--ऐसी व्यवस्था, जो बिरादरी के संकुचित बन्धनों से बँधी न हो, जो स्वतंत्र तथा निष्पक्ष-दृष्टि से वैयक्तिक भले को मुख्यता दे सकती हो। इस प्रकार जब वर्त्तमान-समाज का आविर्भाव हुआ, तब राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि संगठन बिरादरी के बन्धनों से मुक्त हो गये, इन्हें स्वतंत्र विकास का अवसर मिला, इनका मानो 'विकेन्द्रीकरण' हुआ।

समाज में 'विकेन्द्रीकरण' की यह प्रक्रिया अभी चल ही रही है। कोई समय था, जब परिवार की बिरादरी से पृथक् कोई सत्ता नहीं थी। माता-पिता जहाँ चाहें वहाँ शादी के लिए 'हाँ' कर देना लड़के-लड़की का धर्म था। आज भी लगभग यह व्यवस्था जारी है। धीरे-धीरे यह अनुभव किया जा रहा है कि विवाह में लड़के-लड़की की रज़ामन्दी भी ज़रूरी है। पहले इस बात पर लोग हँसते थे, इसलिए हँसते थे क्योंकि उस समय परिवार की स्वतंत्र सत्ता नहीं थी, परिवार

बिरादरी में ही केन्द्रित था, इसका 'विकेन्द्रीकरण' नहीं हुआ था। 'विकेन्द्रीकरण' का सूत्र-पात तो व्यक्ति की स्वतन्त्र-सत्ता को मानने का परिणाम है। प्राथमिक-अवस्था के मानव-समाज में अब भी परिवार की बिरादरी से पृथक् सत्ता नहीं है। यह बात धर्म के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। अभी हमारे समाज में धर्म का भी समाज से 'विकेन्द्रीकरण' नहीं हुआ, जिस हद तक न हुआ, उस हद तक हम सामाजिक-विकास की प्राथमिक-अवस्था में हैं। जैसे बिरादरी के युग में यह समझा जाता है कि बिरादरी जो बात कहे वह प्रमाण है, बिरादरी से अलग कोई आवाज उठा ही नहीं सकता, वैसे हममें से अनेक लोग यह समझते हैं कि हम सब लोग अपने ही एक धर्म की ही बात कर सकते हैं, किसी ने दूसरे धर्म की बात की नहीं कि हमने उसे चीरा-फाड़ा नहीं। हिन्दू चाहता है, सब हिन्दू होकर रहें, मुसलमान चाहता है, सब मुसलमान होकर रहें, ईसाई चाहता है, सब ईसाई होकर रहें। परन्तु यह हो सकने-जैसी बात नहीं है। समाज की प्राथमिक-अवस्था में तो यह बात ठीक थी—बिरादरी का ही धर्म हर-व्यक्ति का धर्म था, परन्तु सामाजिक-विकास में एक अवस्था आती है, जब हर-एक संगठन 'विकेन्द्रित' हो जाता है, और यही 'विकेन्द्रीकरण' जब धर्म के क्षेत्र में आयेगा, तब किसी धर्म का बाधित रूप से माना जाना सम्भव नहीं हो सकेगा। इस दृष्टि से स्पष्ट है कि जो समाज धर्म के लिए जबर्दस्ती करते हैं, वे 'विकेन्द्रीकरण' की प्रक्रिया में से नहीं गुजरे, अभी विकास की प्राथमिक-अवस्था में ही हैं, अतः विकास के मार्ग पर चल रहे समाज की, धर्म के विषय में दृष्टि 'धर्म-निरपेक्ष-राज्य' (Secular State) की दृष्टि ही हो सकती है।

ज्यों-ज्यों व्यक्ति बिरादरी के बंधन से मुक्त होता जा रहा है, त्यों-त्यों अबतक बिरादरी के बन्धन में बँधे हुए, उसमें केन्द्रित, जो भिन्न-भिन्न राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक संगठन थे, वे भी बिरादरी के नियन्त्रण से अलग अपनी स्वतंत्र-सत्ता बनाते चले जा रहे हैं—इसलिए स्वतंत्र-सत्ता बनाते चले जा रहे हैं क्योंकि अब व्यक्ति को उन संगठनों की आवश्यकता है जो बिरादरी के बन्धनों से स्वतंत्र हों, और जो संसार के असंख्य स्वतंत्र व्यक्तियों की समस्या को हल कर सकें।

प्रश्न

१. जीवन के विकास के पाँचों युगों का चित्र द्वारा वर्णन कीजिये।

२. 'परवर्त्ती-युग' (Cainozoic period) के 'तृतीय' तथा 'चतुर्थ' काल का वर्णन करते हुए इन युगों में मनुष्य का विकास कब हुआ, यह बतलाइये।

३. मनुष्य के शरीर में कौन-से परिवर्त्तन हुए जिनसे सामाजिक-विकास हुआ?

४. मानव के विकास में कौन-कौन सी सभ्यताओं ने जन्म लिया?

५. प्राथमिक तथा वर्त्तमान सभ्य-समाज का आधार-भूत भेद क्या है?

६. सामाजिक-विकास की प्रक्रिया 'केन्द्रीकरण' से 'विकेन्द्रीकरण' की तरफ़ (From Fusion to Differentiation) है—इसका क्या अर्थ है ?

७. विकेन्द्रीकरण के क्या-क्या लाभ हैं, और इसकी क्या-क्या हानियाँ हैं ?

८. यह दर्शाइये कि प्रारम्भिक-समाज से विकसित-समाज का जब निर्माण होता है, तब 'प्राणि-शास्त्रीय-तत्त्वों' का तथा 'यान्त्रिक' एवं 'सांस्कृतिक-तत्त्वों' में 'केन्द्रीकरण से विकेन्द्रीकरण' की प्रक्रिया काम करती है।

९. 'धर्म-निरपेक्ष-राज्य' (Secular State) के प्रश्न पर प्रकाश डालिये।

परीक्षा में आय हुए प्रश्न

१. सामाजिक-परिवर्त्तन के मुख्य-कारक (Factors) क्या हैं ? भारतीय उदाहरण देकर समझाइये। (लखनऊ, १९४९)

१०

सामाजिक-परिवर्त्तनों पर प्राण-शास्त्रीय प्रभाव

(BIOLOGICAL FACTORS AFFECTING SOCIAL CHANGE)

आज हमारा समाज जो-कुछ है, वह एक हज़ार वर्ष पहले वैसा नहीं था, आज से एक हज़ार वर्ष पीछे भी उसका रूप कुछ और ही हो जायगा। यह तो दूर की बात हुई। हमारे देखते-देखते इतने भारी परिवर्त्तन हो गये जिनकी किसी को स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी। चालीस वर्ष पहले रूस क्या था, और आज क्या हो गया? १९१४ के प्रथम विश्व-युद्ध से पूर्व और उसके बाद के विश्व में ज़मीन-आसमान का अन्तर हो गया है। भारत १९४७ में स्वतंत्र हुआ। इससे पहले और बाद के भारत में कितना परिवर्त्तन आता जा रहा है। दूसरे विज्ञान जिन घटनाओं का अध्ययन करते हैं, उनमें भी परिवर्त्तन होता रहता है, परन्तु जितना परिवर्त्तन समाज में होता है, उतना तो कहीं दीखता ही नहीं। ज्योतिष-शास्त्र जिन तारों का अध्ययन करता है, भौतिकी-शास्त्र जिन पार्थिव-तत्त्वों का अध्ययन करता है, उनमें परिवर्त्तन आया, परन्तु फिर भी ये तारे वही तारे हैं, ये पृथिवी, ये जल, ये वायु वही-के-वही हैं, इनमें परिवर्त्तन का आना न आने के बराबर है, इसलिए इन शास्त्रों का अध्ययन उतना कठिन और दुर्गम नहीं जितना समाज-शास्त्र का अध्ययन है। समाज-शास्त्र जिस समाज का अध्ययन करता है, वह अध्ययन करते-करते ही बदलता चला जाता है। आज समाज की जो रचना है, वह कल नहीं, जो कल है वह परसों नहीं। इसी लिए अन्य शास्त्रों में भविष्यद्-वाणियाँ हो सकती हैं, यह कहा जा सकता है कि कब चन्द्र-ग्रहण होगा, कब सूर्य-ग्रहण होगा, उनके आधार-भूत तत्त्व स्थिर हैं, इन स्थिर-तत्त्वों के आधार पर आगे और पीछे की बातें कही जा सकती हैं, परन्तु समाज-शास्त्र का आधार अस्थिर है, समाज हर समय बदलता रहता है, इसलिए समाज-शास्त्री निश्चित तौर पर नहीं कह सकता, आगे क्या होगा, और क्या नहीं होगा। समाज में इतने परिवर्त्तन कहाँ से आ जाते हैं, इन परिवर्त्तनों के क्या कारण हैं?

समाज के इन परिवर्त्तनों के दो कारण हैं---एक वे कारण जिन पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं, दूसरे वे कारण जिन पर मनुष्य का अधिकार है। जिन कारणों पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं, अगर है तो बहुत थोड़ा, जो मनुष्य के बस की बात नहीं, वे उस पर्यावरण से सम्बन्ध रखते हैं जो प्रकृति की तरफ़ से

पैदा किये गये हैं; जिन कारणों पर मनुष्य का अधिकार है, जो मनुष्य के बस की बात है, वे उस पर्यावरण से सम्बन्ध रखते हैं जो प्रकृति की तरफ़ से नहीं, मनुष्य की तरफ़ से पैदा किये गये हैं।

प्रकृति की तरफ़ से पैदा किये हुए ऐसे कारण जो सामाजिक-परिवर्त्तनों को प्रभावित करते हैं, दो तरह के हैं--'भौतिक' (Physical) तथा 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological)। मनुष्य की तरफ़ से पैदा किये हुए कारण भी दो तरह के हैं--'कला-कौशल-सम्बन्धी' अर्थात् यान्त्रिक या प्राविधिक (Technological) तथा 'सांस्कृतिक' (Cultural)। हम इस अध्याय में 'भौतिक' (Physical) तथा 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) कारणों को, तथा अगले दो अध्यायों में 'यान्त्रिक' या 'प्राविधिक' (Technological) एवं 'सांस्कृतिक' (Cultural) कारणों का विवेचन करेंगे।

१. सामाजिक-परिवर्त्तनों पर भौतिक-कारणों का प्रभाव

जिस 'भौतिक-पर्यावरण' (Physical environment) में हम हैं, उसमें लगातार परिवर्त्तन हो रहे हैं, हर समय उथल-पुथल मच रही है। कुछ परिवर्त्तन तो प्रकृति में धीरे-धीरे, क्रमशः हो रहे हैं। पहले पृथिवी गर्म थी, धीरे-धीरे ठंडी हुई। पहले यहाँ की गर्मी के कारण किसी प्रकार का जीवन रह ही नहीं सकता था, ज्यों-ज्यों भूमि का पृष्ठ-भाग शीतल होता गया, त्यों-त्यों ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न होने लगीं जिनमें जीवन रह सकता था। परन्तु इन धीरे-धीरे होने वाले भौतिक-परिवर्तनों के अलावा कई भौतिक-परिवर्त्तन आकस्मिक भी होते हैं। कभी तूफ़ान आया, कभी भूचाल आया, कभी बाढ़ आ गई, वर्षा का प्रचण्ड प्रकोप, सूखा, बरफ़ पड़ जाना--ये-सब आकस्मिक परिवर्त्तन हैं। इन सब धीरे-धीरे तथा आकस्मिक तौर पर होन वाले मनुष्य के अनुकूल तथा प्रतिकूल भौतिक-परिवर्त्तनों में मनुष्य का कोई हाथ नहीं, ये प्रकृति की देन हैं। मनुष्य इन परिवर्त्तनों के साथ अपना सात्म्य स्थापित कर सका, अपने में इनके अनुकूल परिवर्त्तन ला सका, तो इनकी मार सह गया, इनको सहने योग्य अपने में परिवर्त्तन न कर सका, तो इनकी मार खा गया। ये परिवर्त्तन इकतरफ़ा थे, सिर्फ़ प्रकृति की तरफ़ से थे, मनुष्य केवल हाथ-पर-हाथ धर कर निस्सहाय हो इनको देख भर सकता था।

परन्तु 'भौतिक-पर्यावरण' (Physical environment) में कुछ परि-वर्त्तन ऐसे भी हैं जिनको लाने में मनुष्य का हाथ है। एक जगह कोयले की ान है, पैट्रोल के कुएँ हैं। वहाँ शहर बस गये, फैक्टरियाँ खड़ी हो गईं, मकानों पर मकानों का ताँता बन्ध गया। मनुष्य ने कोयला सब निकाल लिया, पैट्रोल खींच कर कुओं को सुखा दिया। अब वही जगह जहाँ शहर बस गय थे बीरान होने लगी, मकानों में उल्लू बोलने लगे। इन जगहों के सामाजिक-विकास में भी 'भौतिक-पर्यावरण' (Physical environment) के कारण परिवर्त्तन आया, परन्तु यह तूफ़ान, भूचाल आदि की तरह इकतरफ़ा परिवर्त्तन नहीं कहा जा सकता। इस

परिवर्त्तन में जहाँ प्रकृति का हाथ है, वहाँ मनुष्य का भी हाथ है। इन परिवर्त्तनों को मनुष्य और प्रकृति दोनों ने उत्पन्न किया, परन्तु हो सकता था कि अगर पैट्रोल सूख जाता, कोयला खत्म हो जाता, तो मनुष्य हाथ-पर-हाथ धर कर बैठ जाता। परन्तु नहीं, विज्ञान की दिनों-दिन की उन्नति से इस पर्यावरण पर भी मनुष्य काबू पाता जा रहा है। ज्यों-ज्यों मनुष्य उन्नति करता जा रहा है, त्यों-त्यों पर्यावरण का खिलौना बने रहने के स्थान में पर्यावरण पर अधिकार प्राप्त करता जा रहा है। कोयला, पैट्रोल खत्म हो जायगा, तो वह अणु-शक्ति की तरफ़ आशाभरी निगाह से देखने लगेगा। अगर अणु-शक्ति का औद्योगिक-क्षेत्र में प्रयोग होने लगा, तो १८वीं शताब्दी में जो 'औद्योगिक-क्रांति' हुई थी, उससे भी ज़बर्दस्त 'औद्योगिक-क्रांति' का युग इस बीसवीं सदी में प्रारम्भ होगा। इस सबसे यह स्पष्ट है कि 'भौतिक-पर्यावरण' (Physical environment) का, जिसमें से कुछ मनुष्य के हाथ में है, कुछ उसके हाथ में नहीं है, परन्तु धीरे-धीरे आता जा रहा है, सामाजिक-विकास पर भारी प्रभाव पड़ा और पड़ रहा है।

२. 'प्राकृतिक-चुनाव' का प्राणि-शास्त्रीय नियम (Biological Law of Natural Selection)

जैसा हमने अभी देखा, जीवन के विकास पर 'भौतिक-पर्यावरण' का प्रभाव पड़ा है। जैसे 'भौतिक-पर्यावरण' का जीवन के विकास पर प्रभाव पड़ा है, वैसे 'प्राणि-शास्त्र के नियमों' (Biological laws) का भी प्रभाव पड़ा है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। जीवन के विकास के सम्बन्ध में 'प्राणि-शास्त्र' का मुख्य-नियम 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) का नियम है। वह नियम तथा उसके आधारभूत तत्त्व क्या हैं? प्राणि-शास्त्र के प्राकृतिक-चुनाव के नियम (Biological laws of natural selection) के आधारभूत तत्त्व निम्न हैं :—

(क) प्रकृति में अत्यन्त उत्पादन—जीवन के विकास के सम्बन्ध में प्राणि-शास्त्र के नियम का प्रतिपादन डार्विन ने किया। उसका कथन था कि 'पर्यावरण' (Environment) प्राणी में 'परिवर्त्तन' (Variation) उत्पन्न करता है, और वह 'परिवर्त्तन' 'अनुसंक्रान्त' (Inherit) हो जाता है। परन्तु 'पर्यावरण' प्राणी में 'परिवर्त्तन' कैसे उत्पन्न करता है? इसी सम्बन्ध में डार्विन ने एक नवीन कल्पना को जन्म दिया। उसने कहा कि प्रकृति में बहुत अधिक उत्पादन हो रहा है। एक वृक्ष के हज़ारों, लाखों बीज होते हैं, और सब उगकर जंगल-का-जंगल खड़ा कर सकते हैं। छोटे-छोटे जानवर बड़ी भारी संख्या में सन्तान उत्पन्न करते हैं। एक कुतिया एक साल में दो बार बच्चे देती है, और एक-एक बार में आठ-आठ पिल्लों को जन्म दे डालती है। प्रकृति इतनी उदारता से जो उत्पादन करती है उसकी इतनी उदारता से रक्षा नहीं करती। अगर जितने प्राणी पैदा हुए हैं, सब बचे रहें, तो संसार में एक प्राणी से ही सारी सृष्टि भर जाय। तो फिर क्या होता है?

(ख) अत्यन्त उत्पादन से जीवन-संग्राम—इन प्राणियों में अपनी प्राण-रक्षा की होड़ चल पड़ती है। इनके पास भोजन की मात्रा भी परिमित होती है,

उसी परिमित भोजन पर सब को निर्वाह करना होता है, बस छीना-झपटी चल पड़ती है। इस छीना-झपटी का नाम ही 'मत्स्य-न्याय' या 'जीवन-संग्राम' (Struggle for Existence) है। जो ताकतवर होता है, वह दूसरे के मुँह का टुकड़ा दबा नोचता है, जो कमज़ोर होता है वह मार खा जाता है, जीवन-संग्राम में टिक नहीं सकता, मर जाता है। परन्तु अब प्रश्न है---ताकतवर किसे कहते हैं?

(ग) संग्राम में अनुकूलन---ताकतवर उसे कहते हैं जो विषम-पर्यावरण के साथ अपने को अनुकूल बना लेता है। पर्यावरण प्रतिकूल है, और प्राणी अपने को उसके अनुकूल नहीं बना सका, तो वह टिक थोड़े ही सकता है। पर्यावरण के साथ प्राणी अपने को अनुकूल कैसे बनाता है? जंगल में चारा बिल्कुल नहीं है, ऊँचे-ऊँचे वृक्ष हैं, ऊँची गर्दन करके ही भोज्य-पदार्थ प्राप्त किया जा सकता है। इस पर्यावरण में जो प्राणी ऊँची गर्दन करके पेड़ों तक पहुँच सकेंगे वे जीवित रहेंगे, बाकी मर जायेंगे। यह प्रक्रिया एक सन्तति में चली, दूसरी में चली, होते-होते इस प्राणी की सन्तति की गर्दन लम्बी होने लगी। इस प्रकार विषम पर्यावरण के प्रति अपने को अनुकूल बना लेने को प्राणि-शास्त्र की परिभाषा में 'अनुकूलन' (Adaptation) कहते हैं। यह 'अनुकूलन' दो तरह से होता है। एक तो पर्यावरण के अनुसार धीरे-धीरे प्राणी में परिवर्त्तन होता जाता है, चारा ऊँचाई पर मिलने से जीराफ़ की गर्दन लम्बी हो गई, डर के मारे भागने से हरिण की टाँगें पतली-पतली हो गईं। विकासवाद की परिभाषा में इस प्रकार के 'अनुकूलन' (Adaptation) से प्राणी में जो 'परिवर्त्तन' आता है, उसे 'क्रमिक-परिवर्त्तन' (Conitnuous Variation or Modification) कहते हैं क्योंकि यह 'परिवर्त्तन' क्रम से, धीरे-धीरे आता है। दूसरे प्रकार का 'अनुकूलन' (Adaptation) धीरे-धीरे नहीं होता, क्रम से नहीं होता, वह 'आकस्मिक' होता है, इस 'अनुकूलन' को 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' (Discontinuous Variation or Mutation) कहते हैं। 'क्रमिक-परिवर्त्तन' (Modification) का अभिप्राय तो यह है कि वह धीरे-धीरे हुआ, कुछ इस संतति में हुआ, कुछ अगली में हुआ, होता-होता आखिरी सन्तति में बहुत अधिक बढ़ गया। 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' (Mutation) से अभिप्राय ऐसे परिवर्त्तन से है, जो एकदम हो गया, उसका क्रमिक विकास नहीं हुआ। वह एकदम कैसे हो गया इसका कुछ कारण नहीं पता चलता। जो लोग मानते हैं कि सृष्टि में शुरू-शुरू में एकदम भिन्न-भिन्न योनियाँ पैदा हुईं, वे विकासवादियों से कह सकते हैं कि भिन्न-भिन्न 'योनियाँ' पैदा होने में और 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' में कोई आधार-भूत भेद नहीं है। खैर, इस प्रकार जिन प्राणियों में विषम-पर्यावरणों का मुकाबिला करने के 'परिवर्त्तन' (Modification and Mutation) हो जाते हैं, वही बलवान् समझे जाते हैं, बाकी निर्बल समझे जाते हैं।

(घ) जीवन-संग्राम में अनुकूलन वालों का चुनाव---जो प्राणी बलवान् हैं, वे प्रकृति में चुन लिये जाते हैं, बाकी नष्ट हो जाते हैं। अगर सभी चुन लिये

जाते, तब तो सृष्टि कीड़े-मकौड़ों से भर जाती। बलशाली का चुनाव और निर्बल का परित्याग प्रकृति का नियम है। बलशाली प्राणियों में जो 'परिवर्त्तन' (Modifications and Mutations) आये, वे अगली-से-अगली सन्तति में 'अनुसंक्रान्त' (Inherit) होते चले गये, और ऐसे प्राणियों को प्रकृति ने छाँट लिया, बाकी जीवन-संग्राम में नष्ट हो गये। कुछ भोजन न मिलने से समाप्त हो गए, कुछ बीमारी से मर गए, कुछ आपस की कश्मकश में, मार-धाड़ में राम-नाम-सत्त हो गए। यह प्रक्रिया 'बलशाली का बच रहना' (Survival of the fittest) या 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) कहलाती है। बलशाली प्राणी के चुनाव का अर्थ है, निर्बल का निर्यास--इसलिए इसे 'निर्यसन की प्रक्रिया' (Process of elimination) भी कहा जा सकता है।

३. मालथस ने प्राणि-शास्त्रीय नियम को मनुष्य-समाज पर घटाया

हमने देखा कि प्राणि-शास्त्र का मुख्य नियम 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) का नियम है। हमने यह भी देखा कि इसमें प्रकृति का असीम उत्पादन, असीम उत्पादन तथा भोजन-सामग्री की कमी से जीवन-संग्राम, जीवन-संग्राम में बलशाली का बच रहना, निर्बल का मार-काट, भूख, बीमारी से समाप्त हो जाना--ये सब प्रक्रियाएँ चलती हैं। इन-सब प्राणि-शास्त्रीय नियमों को मनुष्य-समाज पर भी घटाया जा सकता है। यह आश्चर्य की बात है कि डार्विन द्वारा इन नियमों को प्राणियों पर घटाये जाने से पहले इंग्लैण्ड के ईसाई पादरी मालथस (Malthus) ने इन नियमों को १७९८ में मनुष्य-समाज पर घटाया था। उसने अपना नाम बिना दिये एक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसका नाम था--"Essay on the Principle of Population as it affects the future improvement of Society'। इस ग्रन्थ में मालथस जिन तीन परिणामों पर पहुँचा वे निम्न थे :--

(१) जन-संख्या की वृद्धि जीवन-यापन के साधनों द्वारा सीमित है।

(२) जन-संख्या की प्रवृत्ति जीवन-यापन के साधनों की अपेक्षा अधिक तेज़ी से बढ़ने की ओर होती है। इसे प्रकृति 'निश्चित-निरोध' (Positive checks) के नियमों द्वारा रोकती है। मानव-समाज में 'निश्चित-निरोध' (Positive checks) के प्राकृतिक-नियम के अलावा मनुष्य 'प्रतिबन्धक-निरोध' (Preventive checks) का उपयोग कर सकता है।

(३) भूत-काल में जो नियम जन-संख्या की वृद्धि को रोकता रहा है, भविष्य में भी वही लगेगा। भूत-काल में प्रकृति 'निश्चित-निरोधों' (Positive checks) द्वारा--युद्ध, बीमारी, अकाल, भुखमरी, शिशुहत्या आदि द्वारा--जन-संख्या और जीवन-यापन

के साधनों में समता स्थापित करती रही है, परन्तु ये उपाय दुःख पहुँचाने वाले हैं, अतः मनुष्य को अपनी बुद्धि का प्रयोग करके 'प्रतिबन्धक-निरोधों' (Preventive checks) द्वारा जनसंख्या का नियंत्रण करना चाहिए।

४: मालथस के सिद्धान्त की आलोचना

हमने देखा कि प्राणि-शास्त्र के जिन नियमों को हम प्रकृति में काम करता हुआ देखते हैं, उन्हीं नियमों को मालथस ने मनुष्य-समाज में काम करता हुआ देखा, और ख़तरे की घंटी बजायी। उसने कहा कि अगर जन-संख्या की बढ़ती को न रोका गया, तो जैसे निम्न प्राणि-जगत् में संख्या के बढ़ जाने और जीवन-यापन के साधनों के कम होने के कारण जीवन-संग्राम चल रहा है, कोई किसी को मार रहा है, कोई बीमारी और भूख से मर रहा है, वैसे मनुष्य-समाज का भी यही हाल होगा। हमने देखना है कि मालथस की ये बातें मनुष्य-समाज पर कहाँ तक लागू होती हैं। हम मालथस के तीनों निष्कर्षों को क्रमशः लेकर उनकी परीक्षा करेंगे।

(क) मालथस का पहला निष्कर्ष—'जन-संख्या का भोजन की मात्रा से सीमित होना'—मालथस का पहला निष्कर्ष यह है कि जन-संख्या की वृद्धि जीवन-यापन के साधनों द्वारा सीमित है। उदाहरणार्थ, हमारे पास १० आदमियों के खाने लायक भोजन है, और १० ही खाने वाले आदमी हैं। अगर हमारी जन-संख्या १० से २० हो जाती है, और भोजन उतना ही रहता है, तो स्पष्ट है, अगर सब भर पेट खाना खाना चाहेंगे, तो केवल १० ही खा सकेंगे, बाकी १० भूखे मर जायेंगे, या सब आधा-आधा खायेंगे, और सभी कमज़ोर हो जायेंगे। पशुओं, वनस्पतियों में ऐसा ही होता है, जंगली जातियों में भी बच्चे-बूढ़े-कमज़ोर भूख से मर जाते हैं। अगर बढ़ती हुई जन-संख्या को मरने से बचाना है, तो जीवन-यापन के साधनों को बढ़ाना होगा। किसी तरह से भी बढ़ायें, यह मानना पड़ेगा कि जन-संख्या उपलब्ध खाद्य-सामग्री से आगे नहीं बढ़ सकती, बढ़ेगी तो मुसीबतों में फंस जायगी। सिद्धान्त रूप से मालथस का पहला निष्कर्ष ठीक जान पड़ता है। प्रकृति में भी यह 'प्राणि-शास्त्रीय-नियम' (Biological law) काम करता है, मनुष्य-समाज में भी काम करता है।

(ख) मालथस का दूसरा निष्कर्ष—'गुणात्मक तथा धनात्मक क्रम'—मालथस का दूसरा निष्कर्ष यह है कि जन-संख्या जीवन-यापन के साधनों की अपेक्षा अधिक तेज़ी से बढ़ती है। मालथस ने इस नियम को गणित के अंकों में रख दिया है। वह कहता है कि अगर जन-संख्या की वृद्धि पर किसी प्रकार की रोक न लगायी जाय, तो जन-संख्या 'गुणात्मक-क्रम' (Geometrical Progression) से बढ़ती है, जीवन-यापन के साधन 'धनात्मक-क्रम' (Arithmetical Progre-ssion) से बढ़ते हैं। अगर हम यह जानना चाहें कि पच्चीस-पच्चीस वर्ष के

अन्तर के बाद जन-संख्या कितनी बढ़ जायगी, और उसके साथ-साथ भोजन-सामग्री कितनी बढ़ती जायगी, तो 'गुणात्मक' तथा 'धनात्मक'-क्रम निम्न-प्रकार काम करेगा :

(i) जन-संख्या को 'क' मान लिया जाय, तो 'क' २५–२५ साल के बाद '२क'—'४क'—'८क'—'१६क'—'३२क'—'६४क'—इस प्रकार जन-संख्या बढ़ेगी।

(ii) भोजन-सामग्री को 'ख' मान लिया जाय, तो 'ख' २५–२५ साल के बाद '२ख'—'३ख'—'४ख'—'५ख'—'६ख'—इस प्रकार भोजन की वृद्धि होगी।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि पहले २५ वर्ष के बाद जन-संख्या 'क' से '२क' हो गई, भोजन-सामग्री भी 'ख' से '२ख' हो गई, परन्तु अगले २५ साल के बाद जन-संख्या '२क' से '४क' हो गई, परन्तु भोजन-सामग्री '२ख' से केवल '३ख' हुई। इससे आगे जन-संख्या '४क' से '८क' हो गई, भोजन-सामग्री '३ख' से केवल '४ख' हुई। ज्यों-ज्यों समय बढ़ता जाता है, जन-संख्या तथा भोजन-सामग्री में अन्तर भी बढ़ता जाता है। परन्तु पहले हम देख आये हैं कि जन-संख्या की वृद्धि जीवन-यापन के साधनों द्वारा सीमित रहती है। वह सीमित कैसे रहती है? इसका उपाय मालथस ने यही बतलाया है कि जब जन-संख्या बहुत बढ़ने लगती है, तब प्रकृति अपने हथियार तेज़ कर जन-संख्या का ह्रास करने लगती है, और उसे उसी सीमा में ले आती है जिसमें भोजन-सामग्री होती है। प्रकृति के ये हथियार 'निश्चित-निरोध' (Positive checks) हैं, 'निश्चित' इसलिए क्योंकि इनसे जन-संख्या का कम हो जाना निश्चित हो जाता है। वे 'निश्चित-निरोध' (Positive checks) क्या हैं? वे हैं—युद्ध, बीमारी तथा दुर्भिक्ष। जब जन-संख्या बहुत बढ़ जाती है, तब लड़ाइयाँ शुरू हो जाती हैं जिनमें लाखों आदमी मारे जाते हैं। पिछले १९१४ के विश्व-व्यापी युद्ध के बाद इतना ज़बर्दस्त इन्फ्लुएन्ज़ा फैला था जिससे करोड़ों मौत के घाट उतर गये। १९४३ में बंगाल में दुर्भिक्ष पड़ा, उसमें न-जाने कितने स्त्री-पुरुष काल के ग्रास हुए। प्रकृति में जब खाने वालों की संख्या सीमा का उल्लंघन कर जाती है, तब युद्ध, बीमारी, दुर्भिक्ष आकर इस समस्या का हल कर देते हैं। मालथस का कहना था कि यह ज़रूरी नहीं कि युद्ध, बीमारी, दुर्भिक्ष से ही जन-संख्या कम हो। ये तो अन्धी प्रकृति के हथियार हैं। मनुष्य के पास बुद्धि है। वह अपनी बुद्धि से ऐसे साधनों का प्रयोग कर सकता है जिनसे जन-संख्या सीमा का उल्लंघन ही न करे। ये उपाय 'प्रति-बन्धक-निरोध' (Preventive checks) के हैं। छोटी आयु में शादी न की जाय, संयम से रहा जाय, कम बच्चे पैदा किये जाँय, और विवाह तब तक न किया जाय जब तक बच्चों के भरण-पोषण योग्य काफ़ी आमदनी न हो। इन 'प्रति-बन्धक' उपायों में आजकल 'परिवार-नियमन' (Family planning) की योजनाएँ भी बनायी जा रही हैं जिनमें 'प्रति-बन्धक निरोध' के उपायों का सहारा लेकर स्त्री-पुरुष सन्तान को नियन्त्रित करते हैं। मालथस का कहना था कि २५

साल के अर्से में जनसंख्या पहले से दुगनी हो जाती है, भोज्य-सामग्री दुगनी नहीं होती---इसलिए युद्ध, बीमारी, भुखमरी न फैलें, इसके लिए जन-संख्या को रोकने के कृत्रिम उपायों का इस्तेमाल करना आवश्यक है, नहीं तो मानव-समाज को भयंकर विपत्तियाँ आ घेरती हैं, युद्ध या दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ता है।

हमने विचार करना है कि मालथस का उक्त 'प्राणि-शास्त्रीय-नियम' (Biological law) मानव-समाज पर घटता है, या नहीं ? इस नियम की जान इस बात में है कि भोजन-सामग्री उस अनुपात में नहीं बढ़ती जिस अनुपात में जन-संख्या बढ़ती है। परन्तु क्या यह बात ठीक है ? हम देख चुके हैं कि पशु-पक्षी-वनस्पति भी अपरिमित मात्रा में बढ़ते हैं। मनुष्य तो पशु-पक्षी-वनस्पति सब-कुछ खा जाता है। जब ये अपरिमित मात्रा में बढ़ते हैं, तब कैसे कहा जा सकता है कि भोज्य-सामग्री सीमित रहती है '? मछलियों, मुर्गियों के बढ़ने की कोई सीमा है ? अगर ये बेतहाशा बढ़ती हैं, तो मनुष्य को भोजन की क्या कमी रह सकती है ? इसके अतिरिक्त मालथस ने जब अपने नियम का प्रतिपादन किया था, तब इंग्लैण्ड की जन-संख्या बहुत बढ़ रही थी, और खाने को इतना नहीं मिल रहा था। परन्तु उसे नहीं पता था कि उसी के समय में इंग्लैण्ड में जो 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) हो रही थी, उसके फल-स्वरूप उत्पत्ति के साधन भी बढ़ रहे थे, और उनके बढ़ने के साथ-साथ भोज्य-सामग्री की वृद्धि की सम्भावनाएँ भी बढ़ रही थीं। 'औद्योगिक-क्रांति' से कृषि के सम्बन्ध में जो-जो नवीन आविष्कार हुए उनसे भोज्य-पदार्थों की मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई। कई-कई देश तो इतना उत्पादन करने लगे कि उन्हें समझ ही नहीं पड़ा कि वे अपनी उत्पत्ति का क्या करें। यातायात के साधनों से, जहाँ उत्पत्ति कम हुई वहाँ अनाज भेज दिया गया, परन्तु भेजने के बाद भी इतना बच रहा जिसे पड़े-पड़े सड़ना पड़ा। ब्रिटिश-साम्राज्य में १८९१ से १९३१ तक जन-संख्या में जितनी वृद्धि हुई, भोज्य-सामग्री में उससे तिगुनी-चौगुनी वृद्धि हुई। १८९१ से १९२१ तक मनुष्यों की जन-संख्या की वृद्धि की अपेक्षा चौगुने पशु उत्पन्न हुए। ये पशु खाद्य-सामग्री ही तो थे। १९३५ के लगभग लाखों टन मछलियाँ समुद्र में फेंक दी गईं और लाखों टन काफ़ी तथा अनाज जला दिया गया। आज खाद्य-पदार्थों के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाये जा रहे हैं। चाय और काफ़ी की उपज पहले से १५ फ़ीसदी कम की जाय---इस प्रकार के नियम बनते हैं। यह सब क्यों हो रहा है ? इसी लिए, क्योंकि यद्यपि जन-संख्या की वृद्धि के सम्बन्ध में मालथस का नियम ठीक था, यह बात ठीक थी कि अगर कोई प्रतिबन्ध न आ पड़े, तो २५ साल में किसी देश की जन-संख्या लगभग दुगुनी हो जाती है, तो भी खाद्य-सामग्री के विषय में उसका 'धना-त्मक-नियम' (Law of Arithmetical Progression) ठीक नहीं था---इसलिए ठीक नहीं था क्योंकि औद्योगिक-क्रांति तथा विज्ञान ने उत्पादन के जो नये साधन जुटा दिये उनकी तरफ़ मालथस का ध्यान नहीं गया था।

(ग) मालथस का तीसरा निष्कर्ष--'उच्च जन्म-दर तथा उच्च मृत्यु-दर'--मालथस का तीसरा निष्कर्ष यह था कि प्राणि-जगत् का 'जीवन-संग्राम' का नियम जैसे अब तक मनुष्य-समाज में काम करता रहा है, इसी तरह आगे भी काम करता रहेगा। प्राकृतिक-नियम यह है कि जन-संख्या की बढ़ती को प्रकृति युद्ध, रोग, दुर्भिक्ष आदि साधनों से रोकती रहती है। अभी तक तो जन-संख्या इतनी नहीं बढ़ी, परन्तु आगे-आगे इसके भयंकर तौर से बढ़ने की सम्भावना है, और ज्यों-ज्यों वह बढ़ेगी, त्यों-त्यों महा-भयंकर प्रलयंकारी संग्राम होंगे, शहरों-के-शहर तबाह करने वाली महामारियाँ फैलेंगी, लोग भूख से तड़प-तड़प कर मरेंगे। ज्यों-ज्यों जन-संख्या बढ़ेगी, त्यों-त्यों मृत्यु-संख्या भी बढ़ेगी--भले ही वह लड़ाई से हो, बीमारी से हो, या दुर्भिक्ष से हो। संक्षेप में, मालथस का तीसरा निष्कर्ष यह था कि जितनी जन्म-दर (Birth-rate) बढ़ेगी, उतनी मृत्यु-दर (Death-rate) भी बढ़ेगी--पीछे ऐसा होता चला आया है, आगे ऐसा होता रहेगा। यह प्रकृति का प्राणि-शास्त्रीय नियम है, प्राणि-शास्त्रीय इसलिए कि पशु-पक्षी-वनस्पति में यह काम कर रहा है, मनुष्य में भी यह काम करता है, इसलिए हमारा यह परम कर्त्तव्य है कि हम 'प्रतिबन्धक-निरोधों' (Preventive checks) द्वारा जन्म-दर को कम कर दें। प्रकृति और मनुष्य के साधनों में क्या भेद है ? प्रकृति तो मृत्यु-दर बढ़ाकर जन्म-दर कम कर देती है, मनुष्य जन्म पर प्रतिरोध लगाकर जन्म-दर कम कर सकता है। मृत्यु बढ़ाकर जन-संख्या कम करने की अपेक्षा जन्म पर प्रतिरोध लगाकर जन-संख्या कम करने का उपाय निस्सन्देह कम दुःख देने वाला है।

मालथस के समय ऐसे लोग मौजूद थे जो उस समय के विज्ञान के चमत्कारों को देख कर भविष्यद्वाणियाँ करने लगे थे कि अब मानव-समाज के सुख का समय आने वाला है, दुःख के दिन दूर होने वाले हैं, वह दिन दूर नहीं, जब खूब खाने को मिलेगा, आराम से रहने को मिलेगा। ऐसे ही भविष्यद्वक्ताओं में गौडविन (Godwin) तथा कनडोरसेट (Condorcet) थे। मालथस ने कहा कि विज्ञान भले ही कितनी उन्नति क्यों न कर ले, भूमि में उत्पादन की शक्ति परिमित है, और अगर जन-संख्या को किसी सजग प्रयत्न से रोका न गया, तो ऐसा दिन आये बग़ैर नहीं रहेगा, जब मनुष्य को खाने को पर्याप्त नहीं मिलेगा, वह सुख का नहीं, दुःख का दिन होगा। परन्तु मालथस की यह बात कि पीछे जो-कुछ हुआ है वही आगे होने वाला है, ग़लत साबित हुई। पीछे जन-संख्या बढ़ती रही और युद्ध, बीमारी और दुर्भिक्ष से बढ़ी हुई जन-संख्या को प्रकृति खत्म करती रही, परन्तु आगे जन-संख्या तो बढ़ेगी, परन्तु यह ज़रूरी नहीं कि युद्ध, बीमारी और दुर्भिक्ष के शस्त्रों का ही प्रयोग हो। हम देख रहे हैं कि युद्ध को सदा के लिए समाप्त करने के लिए संयुक्त-राष्ट्र-संघ की स्थापना हो चुकी है, धीरे-धीरे मनुष्य इसी ध्येय की तरफ़ एक-एक कदम आगे बढ़ रहा है। पिछले दिनों स्वेज नहर के मामले में ब्रिटेन, फ्रांस तथा इज़राइल के कारनामों से अन्तर्राष्ट्रीय-युद्ध हो जाने की जो

सम्भावना हो चली थी, उसे संयुक्त-राष्ट्र-संघ ने बीच में पड़ कर समाप्त कर दिया। बीमारी का भी मनुष्य काफ़ी मुकाबला कर रहा है। पहले कभी हर राज्य में युद्ध-सचिव हुआ करते थे, स्वास्थ्य-सचिव नहीं होते थे, परन्तु आज हर राज्य में स्वास्थ्य-विभाग खुल गया है। कभी चिकित्सालय का अभिप्राय जादू-टोना होता था, आज उच्च-कोटि की चिकित्सा की शिक्षा हर देश में दी जा रही है। पहले घर-घर टायफ़ायड, चेचक, हैज़े से लोग मरा करते थे, आज इन बीमारियों से कोई इना-गिना ही मरता है। सुमेरिया की सभ्यता का विनाश मलेरिया के कारण हुआ, आज ऐसे स्थानों में जहाँ मलेरिया का राज्य था, मच्छरों का बीज-नाश कर दिया गया है। ऐसी हालत में मालथस का डर निराधार सिद्ध हो रहा है। आज युद्ध होते भी हैं, तो उनमें मनुष्यों की संख्या उतनी नहीं मरती जितनी पहले-के आमने-सामने के युद्धों में मरती थी, युद्धों की एक नई विद्या उत्पन्न हो गई है--युद्ध हों और थोड़े-से-थोड़े आदमी मरें--यह नई विद्या निकल आयी है। बीमारी के विषय में भी रोग का इलाज करने के बजाय रोग को पैदा न होने देने की तरफ़ ध्यान बढ़ता जा रहा है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि मालथस का कथन सर्वथा ग़लत था। जो पिछड़े हुए देश हैं उनमें मालथस के नियम ही काम कर रहे हैं। एशिया के देशों में अब भी जन-संख्या ख़ूब बढ़ रही है, साथ ही मृत्यु-संख्या भी ख़ूब बढ़ रही है। प्राणि-शास्त्र का नियम--ख़ूब पैदा करो और ख़ूब मरो--भारत, चीन आदि निम्न-स्तर के देशों में पूरा-पूरा घट रहा है। ज्यों-ज्यों ये देश सभ्यता की दृष्टि से उन्नति करते जायेंगे, ज्यों-ज्यों बीमारियों पर विजय पाते जायेंगे, कृषि के वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करते जायेंगे, अनाज का अधिक उत्पादन करने लगेंगे, त्यों-त्यों ये भी प्रकृति के क्रूर पंजे से छूटते जायेंगे, त्यों-त्यों इन देशों की भी मृत्यु-संख्या कम होती जायगी।

मालथस ने कहा था कि अगर मनुष्य प्रकृति के कठोर प्रहारों से--युद्ध, बीमारी, भुखमरी से--बचना चाहता है, तो उसे जन-संख्या को रोकने के 'प्रतिबन्धक-निरोधों' (Preventive checks) का प्रयोग करना पड़ेगा। मनुष्य ने इन कृत्रिम-निरोधों का प्रयोग किया। युरोप-अमरीका में जीवन-स्तर इतना ऊँचा हो गया कि हर-एक आदमी सोच-समझ कर शादी करने लगा, बड़ी उम्र में शादी करने लगा, थोड़ी संतान पैदा करने लगा ताकि जो सन्तान हो उसकी अच्छी देख-भाल हो सके, उसको अच्छा खाने को मिले, अच्छा रहने को मिले। इससे स्वभावतः 'जन्म-दर' (Birth-rate) कम हो गई। इसके साथ ही आधुनिक चिकित्सा के उपायों से मनुष्य पहले से ज्यादा स्वस्थ रहने लगा, बीमारियों का सफल इलाज करने लगा, 'मृत्यु-दर' (Death-rate) भी स्वभावतः कम होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि जन-संख्या के सम्बन्ध में अबतक जो 'प्राणि-शास्त्रीय-नियम' (Biological law) काम कर रहा था, उसकी जगह एक दूसरा नियम काम करने लगा। अभी तक जन-संख्या के नियन्त्रण में 'उच्च जन्म-दर' तथा 'उच्च मृत्यु-दर' (High birth-rate and high death-rate)

का नियम काम कर रहा था, इसी से जन-संख्या बहुत ज़्यादा नहीं बढ़ पाती थी, अब 'कृत्रिम-निरोधों' के कारण जन-संख्या का नियंत्रण 'न्यून जन्म-दर और न्यून मृत्यु-दर' (Low birth-rate and low death-rate) द्वारा होने लगा। यद्यपि यह दूसरा नियम मालथस के 'प्रतिबन्धक-निरोधों' (Preventive checks) के सिद्धान्त का ही परिणाम था फिर भी इस नियम का प्रतिपादन मालथस ने नहीं किया था। यह नया नियम क्या है?

५. न्यून 'जन्म-दर' तथा न्यून 'मृत्यु-दर' का सिद्धान्त

इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृति में जो नियम काम कर रहा था, वनस्पति-पशु-पक्षी में जो नियम काम कर रहा था, वह था--ख़ूब उत्पत्ति और ख़ूब विनाश। एक पौधे से कितने ही पौधे पैदा होते हैं, और जिस तरह बाढ़ की तरह वे पैदा होते हैं, उसी तरह बाढ़ की तरह ही वे नष्ट भी हो जाते हैं। छोटे-छोटे कीट-पतंग-पशु लार-की-लार पैदा करते हैं, परन्तु उनमें से कितने बचते हैं? मनुष्य की भी यही हालत है। इसी हालत को देखकर मालथस ने कहा था कि प्रकृति का जन-संख्या को नियंत्रित करने का नियम है--'उच्च जन्म-दर परन्तु साथ ही उच्च मृत्यु-दर'!

परन्तु ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता गया, मनुष्य प्राथमिक-अवस्था से आगे बढ़ने लगा, पशु-स्तर से मनुष्य-स्तर की तरफ़ जाने लगा, त्यों-त्यों यह नियम भी पलटने लगा। असभ्य, अशिक्षित, निम्न-स्तर के मनुष्यों में तो प्रकृति का नियम ही काम करता है। उनमें ख़ूब बच्चे पैदा होते हैं, परन्तु बच्चों की रक्षा के साधन उनके पास नहीं होते, इसलिए इन बच्चों में से थोड़े ही बच पाते हैं, उन्हें जब बीमारियाँ आ घेरती हैं, तब चिकित्सा के उत्तम साधन न होने के कारण वे बीमारियों के शिकार हो जाते हैं, उनमें से भी थोड़े ही बचते हैं। निम्न-स्तर के मानव-समाज में, 'अधिक-उत्पत्ति और अधिक-विनाश' का प्राणि-शास्त्रीय नियम, वही नियम जिसे 'बलशाली का बच रहना, निर्बल का मर मिटना' (Survival of the fittest) कहते हैं, जिसे दूसरे शब्दों में 'प्रकृति द्वारा बलशाली का चुनाव'--'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) कहते हैं, जिसे 'निर्बल का निर्यसन' (Elimination of the weak) कहते हैं, काम करता है, इसी नियम को मालथस ने मनुष्य-समाज में काम करता हुआ देखा था। परन्तु विकसित मानव-समाज में यह नियम काम नहीं करता। विकसित मानव-समाज धीरे-धीरे प्रकृति पर विजय पाने लगता है, उसमें 'प्राकृतिक-नियमों' (Natural laws) के स्थान में 'सामाजिक-नियम' (Social laws) काम करने लगते हैं, उसमें मालथस के बताये हुए 'निश्चित-निरोधों' (Positive checks) की जगह मालथस के ही बताये हुए 'प्रतिबन्धक-निरोध' (Preventive checks) काम करने लगते हैं, उसमें प्रकृति जैसा चाहती है, वैसा चुनाव--'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection)--नहीं होता, उसमें मनुष्य जैसा चाहता है वैसा चुनाव--'सामाजिक-चुनाव' (Social selection)--होता है। निम्न-स्तर के प्राणियों में बलशाली बच रहता है, निर्बल मर जाता है, परन्तु मनुष्य के क्षेत्र में यह प्राणि-

शास्त्रीय नियम उस निर्दयता और क्रूरता से काम नहीं करता। इस क्षेत्र में व्यक्ति अपने को समाज के ऊपर छोड़ देता है, इसलिए व्यक्ति-रूप से कमज़ोर होता हुआ भी समाज के बल को पाकर कमज़ोर भी ज़िन्दा रहता है। प्रकृति में परस्पर-सहयोग की भावना काम नहीं करती, परन्तु मनुष्य के क्षेत्र में परस्पर-सहयोग की, एक-दूसरे की सहायता की, एक-दूसरे की रक्षा की सामाजिक-भावना पैदा हो जाती है। व्यक्ति की रक्षा का काम हर व्यक्ति का अलग-अलग न होकर समाज का हो जाता है, इसलिए विकसित-मानव-समाज में मालथस का 'उच्च जन्म-दर और उच्च मृत्यु-दर' का नियम काम करने के स्थान में, इससे उलटा, 'निम्न जन्म-दर और निम्न मृत्यु-दर' का नियम काम करने लगता है।

जब पहले-पहल जन-गणना करने पर पता चला कि उच्च जन्म-दर के स्थान में निम्न जन्म-दर होने लगी है, तब कई देशों में आतंक छा गया। कहाँ तो मालथस को यह डर था कि भविष्य में जन-संख्या सीमातीत हो जायगी, इतनी हो जायगी जिसे खिला सकना असंभव हो जायगा, कहाँ उलटी गंगा बहने लगी, यह डर लगने लगा कि अगर इसी अनुपात में जन्म-दर गिरने लगी, तो जन-संख्या समाप्त हो जायगी। इन देशों ने जन-संख्या के 'प्रतिबन्धक-निरोधों' (Preventive checks) के विरुद्ध आवाज़ उठायी। उन्होंने कहना शुरू किया कि छोटी आयु में शादी करनी चाहिए, हर-एक व्यक्ति को देश के हित में शादी करनी चाहिए, अधिक-से-अधिक सन्तान उत्पन्न करनी चाहिए, जो ज्यादा बच्चे पैदा करे उसे इनाम देना चाहिए। उन्होंने कहा कि अगर इस प्रकार जाति में उत्पत्ति-दर कम होने लगी, तो जाति 'आत्म-घात' (Racial suicide) कर बैठेगी। परन्तु इन लोगों का यह डर एक भ्रम था। जन-गणना के साथ-साथ यह भी पता लगा कि जहाँ-जहाँ जन्म-दर कम हो रही थी, वहाँ-वहाँ मृत्यु-दर भी कम हो रही थी। अगर जन्म-दर कम होने के बाद मृत्यु-दर पहले जैसी ऊँची बनी रहती, तब तो जाति के नष्ट हो जाने का डर हो सकता था, परन्तु जन्म-दर के साथ-साथ मृत्यु-दर भी घटने लगी—इसका परिणाम यह हुआ कि जन-संख्या पहले की तरह ही बढ़ती रही, परन्तु प्रकृति के भयंकर थपेड़े खाने से मनुष्य-समाज बच गया। भिन्न-भिन्न देशों की मनुष्य-गणनाओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार जन्म-दर के घटने के साथ-साथ मृत्यु-दर भी घटने लगी। १८७१ से लेकर १९३३ तक की पश्चिमीय-युरोप की जन्म-दर प्रति हज़ार व्यक्ति प्रतिवर्ष जो पहले २५ तथा ३८ के बीच में थी वह २० तथा १४ के बीच रह गई। इसी अर्से में मृत्यु-दर भी जो पहले १८ और २८ के बीच थी गिरकर १० और १६ हो गई। इस प्रकार जन्म-दर और मृत्यु-दर के एक-साथ गिरने का परिणाम यह हुआ कि जन-संख्या कम होने के स्थान में १९१४ के विश्वयुद्ध से पहले की शताब्दी में पहले से लगभग दुगुनी हो गयी। गत ७०–८० वर्षों की जन-गणना के आधार पर उक्त एक बिलकुल नवीन नियम सामने आया। पहले-पहल फ्रांस में इस बात को अनुभव किया गया कि जन्म-दर कम हो रही है। फिर एकदम १८७८ में इंग्लैण्ड में

भी अनुभव किया जाने लगा कि जन्म-दर घट रही है। धीरे-धीरे स्वीडन, डेनमार्क, हालैण्ड तथा आस्ट्रिया में भी यह पता चला कि जन्म-दर कम होती चली जा रही है। कहने का मतलब यह कि जहाँ-जहाँ पाश्चात्य-सभ्यता की पहुँच थी, सब जगह जन्म-दर कम हो रही थी। यह एक अभूतपूर्व घटना थी। अब तक प्रकृति में जन्म-दर अधिक देखी गई थी, परन्तु अब अचानक जन्म-दर गिरती दीख पड़ी। इससे सब जगह त्रास छा गया, परन्तु, जन-गणना का और अधिक अध्ययन करने पर पता चला कि गिरती जन्म-दर के साथ एक दूसरी अभूत-पूर्व घटना घट रही थी। वह घटना थी मृत्यु-दर के भी गिरने की, ख़ास कर जितनी संख्या में बच्चे पहले मरा करते थे उतनी संख्या में अब वे नहीं मर रहे थे। १९४३ की गणना से पता चला कि ब्रिटेन में बच्चों की मृत्यु-दर १५४ प्रति हज़ार से गिरकर ४९ प्रति हज़ार रह गई थी, अमरीका में ५० प्रति हज़ार और न्यूज़ीलैण्ड में ३५ प्रति हज़ार रह गई थी। जिन-जिन देशों की जन्म-दर गिरती जा रही है, उनकी गणना का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उनकी मृत्यु-दर भी गिरती जा रही है। इसके विपरीत जिन देशों की मृत्यु-दर बढ़ी हुई है, उनकी जन्म-दर मृत्यु-दर की अपेक्षा बढ़ी हुई है। १८९१–१९०० में हंगरी की मृत्यु-दर २९.९ प्रति हज़ार थी, तो जन्म-दर ४०.६ प्रति हज़ार थी; १९०१–०५ में फ्रांस की मृत्यु-दर २५.८ प्रति हज़ार थी, तो जन्म-दर ३५.३ प्रति हज़ार थी; १९०१—०५ में डेनमार्क की मृत्यु-दर १४.८ थी, तो जन्म-दर २९.० प्रति हज़ार थी; इसी समय संयुक्त-राष्ट्र की मृत्यु-दर १५.६ प्रति हज़ार थी, तो जन्म-दर २७.७ प्रति हज़ार थी। १९५१ की जन-गणना के अनुसार भारत में १९४१–५० में जन्म-दर ४० प्रति हज़ार प्रतिवर्ष थी, तो मृत्यु-दर २७ प्रति हज़ार थी, मृत्यु-दर से जन्म-दर १३ प्रति हज़ार प्रतिवर्ष ज्यादा थी। कहने का मतलब यह है कि जन्म-दर और मृत्यु-दर का पारस्परिक-सम्बन्ध है। जन्म-दर बढ़ती है, तो मृत्यु-दर भी बढ़ जाती है, जन्म-दर घटती है, तो मृत्यु-दर भी घट जाती है। जब प्रकृति के 'निश्चित-निरोधों' (Positive checks) से जन-संख्या का नियन्त्रण होता है, तब जन्म-दर बढ़ने और मृत्यु-दर के भी बढ़ने का नियम काम करता है, जब मनुष्य द्वारा 'प्रतिबन्धक-निरोधों' (Preventive checks) से जन-संख्या का नियंत्रण होता है, तब जन्म-दर के घटने और उसके साथ ही मृत्यु-दर के भी घटने का नियम काम करने लगता है। असल में, जन-संख्या का सदा सन्तुलन रहता है। पहले जब मनुष्य का अधिक विकास नहीं हुआ था, तब सन्तुलन के इस कार्य को प्रकृति करती थी, अधिक उत्पत्ति होती थी, वह बहुत ज्यादा न हो जाय इसलिए युद्ध, बीमारी, भुखमरी इस उत्पत्ति को सीमा का उल्लंघन करने से रोकते थे, परन्तु जन्म-दर मृत्यु-दर से सदा अधिक रहती थी जिससे जन-संख्या बढ़ती ही जाती थी। बाद को मनुष्य जब अधिक उन्नत हो गया, प्रकृति पर विजय पाने लगा, तब जन्म-दर कम होने लगी, और इसके साथ-साथ मृत्यु-दर भी कम होने लगी, और फिर भी जन-संख्या की वृद्धि ही होती गई। इस प्रकार

'न्यून जन्म-दर तथा न्यून मृत्यु-दर' के सिद्धान्त से भी जन-संख्या का नियंत्रण वैसे-का-वैसा बना रहा जैसा 'उच्च जन्म-दर और उच्च मृत्यु-दर' के समय था—भेद इतना हो गया कि अब मानव-समाज पहले के-से दुर्भिक्ष, बीमारी आदि संकटों का सामना करने से बच गया।

६. न्यून 'जन्म-दर' तथा न्यून 'मृत्यु-दर' के लाभ

हमने देखा कि जन्म-दर तथा मृत्यु-दर कम क्यों होती हैं। जब मनुष्य-समाज यह समझ जाता है कि प्रकृति के हाथ का खिलौना बने रहने से आपत्तियों का, संकट का सामना करना पड़ता है, तब वह जन-संख्या के निरोध के प्राकृतिक-साधनों की अपेक्षा सामाजिक-साधनों का प्रयोग शुरू कर देता है, वैज्ञानिक उपायों से, स्वास्थ्य-रक्षा, सफ़ाई, चिकित्सा आदि के द्वारा रोगों पर रोक-थाम लगा देता है, और इस प्रकार जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनों को कम कर देता है। इसका लाभ यह है कि जीवन का स्तर ऊँचा हो जाता है, स्त्रियों को बच्चे जनने में ही अपना जन्म नहीं बिता देना होता, उन्हें आज़ादी मिलने लगती है, वे घर के काम-काज में ही लगी रहने के स्थान में अपनी तथा समाज की उन्नति में भी हिस्सा ले सकती हैं, बच्चों की पहले से ज्यादा देख-रेख हो सकती है, उनको खाने-पहनने को अच्छा मिलने लगता है, उनकी पढ़ाई का पहले से अच्छा प्रबन्ध हो सकता है, मनुष्य के मूल्य को ज्यादा समझा जाने लगता है, पहले जब जन-संख्या अधिक थी, तब मनुष्य का क्या मूल्य समझा जाता?

७. न्यून 'जन्म-दर' तथा न्यून 'मृत्यु-दर' की हानि

इस नियम की एक हानि भी है। यह नियम वहाँ-वहाँ घटता हुआ नजर आता है जहाँ-जहाँ पाश्चात्य-सभ्यता पहुँची है, जो देश उन्नत हो गए हैं। इस सभ्यता का आधार 'उद्योगीकरण' (Industrialization) है। उद्योगीकरण से नवीन-नवीन आविष्कार जन्म ले रहे हैं, और इन आविष्कारों से अधिकाधिक उद्योगीकरण हो रहा है। इन्हीं आविष्कारों में वे आविष्कार भी हैं जिनसे किसी देश की मृत्यु-दर कम हो जाती है। नवीन-नवीन ओषधियों से वर्त्तमान सभ्यता ने मृत्यु पर विजय प्राप्त किया है। पाश्चात्य-सभ्यता तो आज संसार के कोने-कोने में पहुँच रही है। कोई देश इसके सम्पर्क से बचा नहीं। जब किसी निम्न-स्तर के देश में उद्योगीकरण की हवा पहुँचती है, तब शुरू-शुरू में उसमें नवीन आविष्कारों की सहायता से मृत्यु-दर तो कम होने लगती है, परन्तु जन्म-दर कम नहीं होती। उस देश में उद्योगीकरण के साधनों से काफ़ी अनाज पैदा कर लिया जाता है, नवीन आविष्कारों की सहायता से मृत्यु-दर भी कम कर ली जाती है, परन्तु जन्म-दर पर अभी कोई प्रतिबन्ध नहीं लगता। जन्म-दर तो तब कम हो, अगर लोग बड़ी उम्र में शादी करें, कृत्रिम-निरोध के उपायों का अवलम्बन करें। परन्तु ऐसा-कुछ वे नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि अन्य सभ्य देशों की अपेक्षा इन पिछड़े हुए देशों की जन-संख्या धड़ाधड़

बढ़ने लगती है। उदाहरणार्थ, युरोप के अन्य देशों में तो मृत्यु-दर कम हुई, जन्म-दर भी कम हुई, परन्तु रशिया में मृत्यु-दर तो कम हो गयी, जन्म-दर कम नहीं हुई। बढ़ी हुई जन-संख्या को रशिया अपने उत्पादन के वैज्ञानिक साधनों से खूब अच्छी तरह खिला-पिला सकता था, इसलिए जन-संख्या की इस वृद्धि से उसे किसी घरेलू संकट का सामना भी नहीं करना पड़ा। यही हाल भारत और चीन का होने वाला है। इन देशों में वैज्ञानिक उपायों से मृत्यु-दर कम होती जायगी, परन्तु फ़िलहाल जन्म-दर कम नहीं होगी। इसका नतीजा यह होगा कि पूर्वीय देशों की जन-संख्या पश्चिमी सभ्यता के सब वैज्ञानिक साधनों का लाभ उठा कर मृत्यु-दर को कम कर लेगी और जन-संख्या में बहुत आगे निकल जायगी। यह संकट-काल होगा, परन्तु धीरे-धीरे वही प्रक्रिया जो पश्चिम के अन्य देशों में चली इन देशों में भी चलेगी, और इनकी भी जन्म-दर कम होती चली जायगी। परन्तु फ़िलहाल भारत तथा चीन की परिस्थिति एक अपने ही प्रकार की रहेगी। यहाँ तो अभी यही अनुभव किया जा रहा है कि आज जो सन्तति हो रही है वह पहले की अपेक्षा दिनोंदिन कमज़ोर हो रही है। जन-संख्या बढ़ रही है, लोगों को खाने को नहीं मिल रहा, लोग बीमारी तथा भूख से मर रहे हैं। इन देशों में यह अवस्था इसलिए है क्योंकि यहाँ सदियों तक प्रकृति का 'निश्चित-निरोधों' (Positive checks) का नियम काम करता रहा है। इन देशों में अभी 'उच्च जन्म-दर और उच्च मृत्यु-दर' ही चल रही है, अभी मालथस का नियम अपना चक्र चला रहा है। ज्यों-ज्यों इन देशों में वर्त्तमान सभ्यता के विचार फैलेंगे, जन-संख्या का नियंत्रण प्रकृति द्वारा न होकर मनुष्य द्वारा, सोच-समझ से होने लगेगा, त्यों-त्यों यहाँ भी पहले रशिया की-सी 'उच्च जन्म-दर और न्यून मृत्यु-दर' की अवस्था आयेगी, उसके बाद युरोप की-सी 'न्यून जन्म-दर और न्यून मृत्यु-दर' की अवस्था आ जायेगी।

८. जन-संख्या का स्वरूप
(Composition of Population)

जन-संख्या के 'परिमाण' (Size or Quality) के सम्बन्ध में हमने देखा कि वर्त्तमान उन्नत समाज में 'न्यून जन्म-दर' और 'न्यून मृत्यु-दर' का सिद्धान्त काम कर रहा है। जब किसी समाज की जन-संख्या 'उच्च जन्म-दर और उच्च मृत्यु-दर' द्वारा नियन्त्रित न होकर 'न्यून जन्म-दर और न्यून मृत्यु-दर' के सिद्धान्त से नियन्त्रित होती है, तब उसका 'स्वरूप' (Composition or quality) भी बदल जाता है। जब जन्म-दर बढ़ी होती है तब अधिक बच्चे पैदा होते हैं। अधिक बच्चे पैदा होने के कारण ऐसे समाज में नव-युवकों की संख्या भी अधिक होती है। १८२० में संयुक्त-राज्य अमरीका में जन्म-दर बढ़ी हुई थी, उस समय उस देश में जितने नव-युवक थे, उनकी औसत आयु १६.७ वर्ष थी, १९३० में जन्म-दर पहले से बहुत घट गई, उस समय वहाँ जितने युवक थे उनकी औसत आयु २६.४ थी। अमरीका में ही १९२०–१९३० में ४५ से ६२ वर्ष की आयु

वाले व्यक्तियों की संख्या पहले से एक-तिहाई बढ़ गई। इसका मतलब यह हुआ कि जन्म-दर अधिक होने पर उस समाज में नव-युवकों की संख्या ज्यादा हो जाती है, जन्म-दर कम होने पर बड़ी आयुवाले व्यक्तियों की, बुड्ढों की संख्या ज्यादा हो जाती है। इसका एक और भी परिणाम होता है। क्योंकि ऐसे समाज में अधिक आयु वाले व्यक्तियों की संख्या बढ़ जाती है इसलिए उसमें जन्म-दर और कम होने लगती है, इसलिए कम होने लगती है क्योंकि वृद्धावस्था में सन्तानोत्पत्ति की ज्यादा गुँजायश नहीं रहती। इसके अतिरिक्त ऐसे समाज में अविवाहित लड़के-लड़कियों की संख्या बढ़ती जाती है। इस समाज के लोग यही सोचते रहते हैं कि जब अच्छी आमदनी होने लगेगी, मकान ख़रीद सकेंगे, मोटर रख सकेंगे, बच्चों की देख-भाल के लायक रुपया होगा, तब शादी करेंगे, और इन चीजों की तलाश में इतना समय लग जाता है कि या तो उनकी शादी ही नहीं हो पाती, या तब हो पाती है जब जीवन का रस का समय निकल जाता है। ऐसे समाज में वृद्ध लोगों की संख्या ज्यादा होती है अतः उसके विचार उस समाज की अपेक्षा अधिक परिपक्व और मंजे हुए होते हैं जिसमें अधिक जन्म-दर और अधिक मृत्यु-दर के कारण नव-युवकों की संख्या ज्यादा होती है। इस प्रकार हमने देखा कि अगर जन-संख्या का नियन्त्रण प्रकृति द्वारा हुआ है, तो समाज का स्वरूप और तरह का हो जाता है, अगर जन-संख्या का नियन्त्रण मनुष्य द्वारा, सोचे-समझे उपायों द्वारा हुआ है, तो उसका स्वरूप , उसकी रचना और तरह की हो जाती है।

जन-संख्या के स्वरूप पर विचार करते हुए एक और बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है। अभी तक हम प्रकृति द्वारा ही जन-संख्या का निर्धारण होने दे रहे थे, परन्तु जब जन-संख्या का निर्धारण मनुष्य करने लगता है, 'निश्चित-निरोधों' (Positive checks) की जगह 'प्रतिबन्धक-निरोधों' (Preventive checks) से काम लेने लगता है, तब उसके लिए यह भी आवश्यक हो जाता है कि समाज में किस प्रकार की सन्तान को उत्पन्न होने दे, किस प्रकार की संतति को उत्पन्न न होने दे। इसे 'सन्तति-नियमन-शास्त्र' (Eugenics) कहा जाता है। 'सन्तति-नियमन-शास्त्र' द्वारा अयोग्य माता-पिता को सन्तान उत्पन्न करने से रोका जाता है, योग्य माता-पिता को सन्तान उत्पन्न करने के लिए प्रोत्सहित किया जाता है। कई देशों में ऐसे नियम हैं जिनके अनुसार विवाह करने से पहले स्त्री-पुरुष को यह सर्टीफ़िकेट लेना पड़ता है कि वे बिलकुल स्वस्थ हैं, कोई ऐसा रोग तो उन्हें नहीं है जो सन्तति में संक्रान्त हो सकता है। ऐसे स्त्री-पुरुष अगर शादी करना चाहें, तो उन्हें 'निर्बीज' (Sterilize) कर दिया जाता है ताकि वे सन्तान उत्पन्न कर ही न सकें। 'सन्तति-नियमन-शास्त्र' (Eugenics) दो प्रकार से सन्तति का नियमन कर सकता है। 'विधि-पूर्वक' (Positive) उपायों से, तथा 'निषेध-पूर्वक' (Negative) उपायों से। 'विधि-पूर्वक'-उपाय है--उत्तम, स्वस्थ व्यक्तियों को अधिक सन्तान उत्पन्न करने के लिए प्रेरित करना; 'निषेध-पूर्वक'--उपाय है--अस्वस्थ व्यक्तियों को निर्बीज कर देना। यह काम राज्य का है। अभी

हमारे देश में ऐसा नहीं हो पाया, परन्तु उत्तम, स्वस्थ सन्तति के लिए ऐसा करना आवश्यक है। प्राचीन-भारत में उत्तम सन्तति के लिए संस्कारों की प्रथा चलाई गई थी जो हिन्दुओं में आज भी प्रचलित है।

९. जन्म-दर पर अन्य बातों का प्रभाव

पीछे हम जो-कुछ लिख आये हैं उस से स्पष्ट है कि जन्म-दर पर मृत्यु-दर का प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त जन्म-दर पर जिन अन्य बातों का प्रभाव पड़ता है, वे निम्न हैं :—

(क) जन्म-दर पर भिन्न-भिन्न स्थानों का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। १९२० की अमरीका की जन-गणना से ज्ञात हुआ कि कैलीफ़ोर्निया की जो जन्म-दर थी उससे ऊटाह की जन्म-दर दुगुनी थी। अर्थात्, शहरों की अपेक्षा गाँवों की जन्म-दर अधिक थी।

(ख) भिन्न-भिन्न पेशों में और सामाजिक-स्तरों में जन्म-दर भिन्न-भिन्न पायी जाती है। जिन पेशों में स्त्री-पुरुष दोनों काम करते हैं, उनमें अधिक आमदनी वाले पेशों में जन्म-दर दूसरे पेशेवालों से कम होती है। उदाहरणार्थ :—

(i) कपड़े की मिलों में काम करने वाले स्त्री-पुरुष में जन्म-दर अपने ही समान-स्तर के अन्य पेशे वालों की अपेक्षा बहुत कम पायी जाती है।

(ii) जो लोग अपने पेशे या अपनी आजीविका के लिए जगह-जगह फिरते रहते हैं, कभी इस स्थान पर, कभी उस स्थान पर, उनमें अपने ही जैसे आर्थिक-स्तर के लोगों की अपेक्षा जन्म-दर कम होती है। उदाहरणार्थ, नाटकों में काम करने वालों, जल-सेना तथा स्थल-सेना में काम करने वालों में अपने जैसे अन्य जगह-जगह फिरने वालों की अपेक्षा जन्म-दर बहुत कम होती है।

(iii) हाथ से काम करने वालों की अपेक्षा दिमाग़ से काम करने वालों में, और दिमाग़ से काम करने वालों में भी जिन व्यवसायों में तय्यारी के लिए अधिक समय लगता है उनमें जन्म-दर दूसरों से कम होती है। डाक्टरी, वकालत आदि के पेशों में व्यवसाय के लिए पूर्ण योग्यता प्राप्त करने में अन्य व्यवसायों की अपेक्षा अधिक समय लगता है, इसलिए इनमें जन्म-दर बहुत न्यून है।

(iv) शारीरिक-परिश्रम करने वालों की जन्म-दर अन्य व्यवसाय के लोगों से ज्यादा होती है।

(v) जिनको अपने व्यवसाय में उच्च-स्तर के लोगों के सम्पर्क में रहना पड़ता है, उनमें जन्म-दर अपने सरीखे अन्य लोगों से कम होती है। उदाहरणार्थ, घरेलू नौकरों, चपरासियों आदि में जन्म-दर अपने-जैसे अन्य लोगों से कम पायी जाती है।

(ग) पति के स्थान की जो जन्म-दर है उसका, इस विवाहित पति-पत्नी की जन्म-दर पर प्रभाव अधिक पड़ता है, पत्नी के स्थान की जन्म-दर का नहीं। उदाहरणार्थ, अगर पति शहर का रहने वाला है, पत्नी गाँव की रहने वाली है, तो

क्योंकि शहरों की जन्म-दर गाँवों से कम होती है, इसलिए कहा जा सकता है कि पति ऐसे स्थान का रहने वाला है जहाँ जन्म-दर कम होती है, पत्नी ऐसे स्थान की रहने वाली है जहाँ जन्म-दर अधिक होती है। अब विवाह के बाद अगर पति गाँव में जा बसे, तो जन्म-दर पर पति का ही प्रभाव पड़ेगा, पत्नी का नहीं। ऐसे पति-पत्नी की जन्म-दर गाँव में रहने पर भी कम होगी क्योंकि पति कम जन्म-दर की जगह का रहने वाला है। इसी प्रकार अगर पति गाँव का रहने वाला है, पत्नी शहर की रहने वाली है, और शादी के बाद पति गाँव से शहर में जा बसा है, तो उस पति-पत्नी की जन्म-दर अधिक होगी क्योंकि पति ऐसे स्थान का रहने वाला है, जहाँ की जन्म-दर अधिक है।

(घ) जो व्यक्ति जिस देश में पैदा हुआ है, उसी देश में उसकी जन्म-दर कम रहती है, वही स्त्री-पुरुष अगर विदेश में चले जाँय तो, उनकी जन्म-दर बढ़ जाती है। भिन्न-भिन्न देश के स्त्री-पुरुष के संयोग से जन्म-दर कम हो जाती है। एक ही देश में रहते हुए जो लोग उस देश के सांस्कृतिक-प्रभाव से अपने को अलग रखते हैं, वे उस देश के रहने वाले अन्य लोगों की अपेक्षा ज्यादा सन्तान पैदा करते हैं। अमरीका के हब्शियों में जो अमरीका की संस्कृति में रल-मिल गए हैं, वही जन्म-दर है जो वहाँ के गोरों में है।

१०. जन-संख्या का सामाजिक विचार-धारा पर प्रभाव

जन-संख्या कितनी है, अर्थात् थोड़ी है या बहुत, जन्म-दर अधिक होने से बढ़ी है या मृत्यु-दर कम होने से बढ़ी है, और किस प्रकार का है, अर्थात् उसमें युवा अधिक हैं या वृद्ध, धनी अधिक हैं या निर्धन, गाँव में रहने वाले ज्यादा हैं या शहर में रहने वाले ज्यादा, दिमाग़ी काम करने वाले ज्यादा हैं या हाथ से काम करने वाले ज्यादा—इन सब बातों का समाज के रीति-रिवाजों, समाज की विचार-धाराओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिस देश में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से ज्यादा होती है वहाँ बहुपत्नी-विवाह, जिसमें पुरुषों की संख्या स्त्रियों से ज्यादा होती है वहाँ बहु-पति विवाह चल पड़ता है। जिस देश में जन-संख्या बढ़ रही होती है, खाद्य-सामग्री कम होती है, वहाँ साम्राज्य-वाद तथा सैन्यी-करण की विचार-धाराएँ उठ खड़ी होती हैं। इंग्लैण्ड में साम्राज्यवाद इसलिए पैदा हुआ क्योंकि वहाँ की बढ़ती हुई जन-संख्या और घटती हुई खाद्य-सामग्रा का इसके अतिरिक्त कोई हल नहीं था। इटली में मुसोलिनी ने साम्राज्य-वाद की रागिनी इसीलिए आलापनी शुरू की थी क्योंकि वहाँ भी जन-संख्या बढ़ रही थी, खाद्य-सामग्री उसी अनुपात में नहीं बढ़ रही थी। १९वीं शताब्दी में जब जन-संख्या बहुत अधिक बढ़ रही थी तब सन्तति-निरोध की विचार-धारा उठ खड़ी हुई और चार्लस् ब्रेडला (Cha rles Bradlaugh) तथा एनी बीसेंट (Annie Besant) ने 'सन्तति-निरोध' पर एक पुस्तक प्रकाशित कर दी। इस पुस्तक की ७०० प्रतियाँ प्रति वर्ष बिक रही थीं। इस बीच में पुस्तक को अश्लील कह कर इन दोनों पर मुकदमा चल पड़ा। मुकदमे

के दौरान में तीन महीने में इस पुस्तक की १ लाख २५ हजार प्रतियाँ बिकीं। परिणाम यह हुआ कि जहाँ पहले जन्म-दर बढ़ रही थी, वहाँ इस पुस्तक के विचारों के प्रभाव से जन्म-दर एकदम गिर गयी। उस समय सन्तति-निरोध के विचारों को अश्लील समझा जाता था, परन्तु धीरे-धीरे ये विचार सारे युरोप में फैल गये, और अब तो भारत में भी इन विचारों का लगातार प्रचार हो रहा है। जन-संख्या के कम होने से परिवार के हर पहलू पर प्रभाव पड़ने लगता है। पति-पत्नी का आपस का सम्बन्ध, माता-पिता का सन्तान के साथ सम्बन्ध, बच्चों के लालन-पालन के तरीके, स्त्री का परिवार में स्थान, परिवार की आर्थिक आत्म-निर्भरता—इन सब पर जन-संख्या का और इन सब का जन-संख्या पर प्रभाव पड़ रहा है।

११. 'प्राकृतिक-चुनाव' तथा 'सामाजिक-चुनाव' (Natural Selection and Social Selection)

'प्राणि-शास्त्रीय-नियम' (Biological law) यह है कि संसार में प्राणियों की बेतहाशा उत्पत्ति हो रही है, उनके लिए खाद्य-सामग्री उसी रफ़्तार में नहीं हो रही है, इसलिए उनमें जीवन-मरण का एक संग्राम छिड़ जाता है, इस संग्राम में जो बलशाली हैं, उन्हें प्रकृति छाँट लेती है, जो कमजोर हैं उन्हें समाप्त कर देती है। प्रकृति द्वारा इस छाँट को 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) कहते हैं। जो लोग कहते हैं कि 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) का नियम ही मनुष्य-समाज पर लगता है, उनका कहना है कि जैसे प्रकृति ज्यादा पैदा करती है, और ज्यादा ही मार देती है, बचे हुओं को छाँट लेती है, वैसे मानव-समाज में भी भरपूर उत्पत्ति हो रही है, भरपूर ही मरण भी हो रहा है, जो ताकतवर होते हैं, वे छँट जाते हैं, बाकी नष्ट हो जाते हैं। प्रकृति में मृत्यु की अपेक्षा उत्पत्ति अधिक है, वैसे ही मनुष्य में भी मृत्यु की अपेक्षा उत्पत्ति अधिक है। यह उत्पत्ति बड़ी तेजी से बढ़ रही है। अगर प्रकृति अपनी छाँट के उपायों का प्रयोग न करे, युद्ध, बीमारी, भुखमरी, शिशु-मृत्यु का प्रयोग न करे, तो हर २५ साल में मनुष्य-समाज पहले से दुगुना हो जाय, और संसार में जन-संख्या का संकट हमारे देखते-देखते उपस्थित हो जाय। 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) होता रहता है, कमजोर मरते रहते हैं, ताकतवरों की छाँट होती रहती है, इसलिए संसार की जन-संख्या खाद्य-सामग्री से ज्यादा नहीं बढ़ पाती।

परन्तु इस अध्याय में हम देख आये हैं कि 'प्राकृतिक-चुनाव' का नियम मनुष्य-समाज में काम नहीं कर रहा है। 'प्राकृतिक-चुनाव' में तो कमज़ोर मर जाते हैं, बलशाली बच रहते हैं, मनुष्य-समाज में तो ऐसा नहीं होता। जब जीवन-संग्राम अपने नग्न-रूप में काम करने लगता है, भयंकर संग्राम छिड़ जाते हैं, तब जो ज्यादा-से-ज्यादा ताकतवर होते हैं, वे रण-चंडी की भेंट हो जाते हैं, कमज़ोर पुरुष-स्त्री, बालक, वृद्ध बच रहते हैं। यह 'प्राकृतिक-चुनाव' कहाँ हुआ? यहाँ तो

बलशाली की जगह कमज़ोर बच रहा। 'प्राकृतिक-चुनाव' में हर प्राणी अपने-अपने रोटी के टुकड़े के लिए जान की बाज़ी लगा देता है। वहाँ बड़ी मछली छोटी को निगल जाती हैं, उससे बड़ी उसको निगल जाती है—'मत्स्य-न्यायाभिभूतं जगत्'—'मत्स्य-न्याय' का प्रकृति में राज्य है, वहाँ जीवन की लड़ाई व्यक्ति स्वयं लड़ रहा है। मनुष्य-समाज में तो ऐसा नहीं होता। मनुष्य तो अपने से बड़े समूह के प्रति अपने को समर्पित कर देता है, वहाँ हर-एक व्यक्ति व्यक्ति-रूप से जीवन की लड़ाई नहीं लड़ता, समूह-का-समूह जीवन-संग्राम लड़ता है। स्त्री-बालक-वृद्ध अपनी जीविका के लिए युवा-पुरुषों पर अपने को छोड़ देते हैं, और उनके कमज़ोर होते हुए भी उनका भरण-पोषण होता है। मनुष्य-समाज में कमज़ोरों की, बीमारों की सेवा होती है, वहाँ संघर्ष के स्थान पर सहयोग का नियम काम करने लगता है। तब क्या कहा जाय ? क्या यह कहा जाय कि मनुष्य-समाज में प्रकृति जिसे चाहती है, उसे छाँट कर बचा लेती है, या मनुष्य जिसे चाहता है, उसे छाँट कर बचा लेता है। मनुष्य-समाज का अध्ययन करने से तो यही जान पड़ता है कि वहाँ 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) की जगह 'सामाजिक-चुनाव' (Social selection) का नियम काम करता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य प्राणि-जगत् के निम्न-स्तर में से निकलता आता है, त्यों-त्यों प्रकृति के रुधिर से रंजित नाख़ूनों और दाँतों के प्रहार से छूटता जाता है, प्रकृति पर अपना आधिपत्य जमाता जाता है, और जिस प्रकार स्वयं चाहता है, उस प्रकार समाज का विकास करता है। 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) तथा 'सामाजिक-चुनाव' (Social selection) के नियमों में निम्न भेद है :—

प्राकृतिक-चुनाव (NATURAL SELECTION)	सामाजिक-चुनाव (SOCIAL SELECTION)
१. 'प्राकृतिक-चुनाव' में प्रकृति के 'निश्चित-निरोध' (Positive checks) काम करते हैं।	१. 'सामाजिक-चुनाव में मनुष्य के 'प्रति-बन्धक-निरोध' (Preventive checks) काम करते हैं।
२. 'प्राकृतिक-चुनाव' में 'उच्च जन्म-दर तथा उच्च मृत्यु-दर' होती है। यह प्रकृति का अपव्यय का, दुःख और संकट का मार्ग है।	२. 'सामाजिक-चुनाव' में 'निम्न जन्म-दर और निम्न मृत्यु-दर' होती है। यह मनुष्य का अपव्यय को रोकने का, सुख और शांति का मार्ग है।
३. 'प्राकृतिक-चुनाव' निम्न प्राणियों तथा निम्न-स्तर के मनुष्य-समाज में पाया जाता है।	३. 'सामाजिक-चुनाव' विकसित, सभ्य समाज में पाया जाता है। ज्यों-ज्यों समाज उन्नत होता जाता है उसमें 'प्राकृतिक-चुनाव' की जगह 'सामा-जिक-चनाव' स्थान लेता जाता है।

४. 'प्राकृतिक-चुनाव' सिर्फ़ मृत्यु-दर को बढ़ाकर जन-संख्या का नियन्त्रण करता है।	४. 'सामाजिक-चुनाव' मृत्यु-दर को तो घटाता है, पर साथ ही किस प्रकार के लोग शादी करें, किस प्रकार के न करें, कौन कितनी उत्पत्ति करें——इधर भी विशेष बल देता है।
५. 'प्राकृतिक-चुनाव' स्पर्धा और संग्राम का मार्ग है।	५. 'सामाजिक-चुनाव' सहयोग का मार्ग है।

प्रश्न

१. सामाजिक-परिवर्त्तन पर भौतिक कारणों का क्या प्रभाव पड़ता है?
२. 'प्राकृतिक-चुनाव' का प्राणि-शास्त्रीय नियम क्या है?
३. मालथस ने डार्विन से भी पहले प्राणि-शास्त्र के 'प्राकृतिक-चुनाव' के नियम को मनुष्य-समाज पर किस प्रकार घटाया था?
४. जन-संख्या के सम्बन्ध में मालथस के तीनों नियमों की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कीजिये कि आजकल वे नियम कहाँ तक मानव-समाज पर लागू होते हैं?
५. प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से मालथस के बताये हुए 'निश्चित-निरोधों' तथा 'प्रतिबन्धक-निरोधों' की व्याख्या कीजिये।
६. 'उच्च जन्म-दर तथा उच्च मृत्यु-दर' की 'निम्न जन्म-दर और निम्न मृत्यु-दर' से तुलना कीजिये। इन नियमों को प्रकृति तथा मनुष्य में घटाकर दिखाइये।
७. 'निम्न जन्म-दर तथा निम्न मृत्यु-दर' के क्या लाभ और क्या हानियाँ हैं?
८. 'निम्न जन्म-दर तथा निम्न मृत्यु-दर' से जिस प्रकार की जन-संख्या पैदा होने लगती है उसकी 'उच्च जन्म-दर और उच्च मृत्यु-दर' की जन-संख्या से तुलना कीजिये।
९. जन-संख्या का सामाजिक विचार-धारा पर क्या प्रभाव पड़ता है?
१०. 'प्राकृतिक-चुनाव' तथा 'सामाजिक-चुनाव' की तुलना कीजिये।

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. 'प्राकृतिक-चुनाव' तथा 'जीवन के लिये संग्राम' की व्याख्या कीजिये। (आगरा, १९५२)
२. 'प्राकृतिक-चुनाव' क्या है? मानव-समाज में यह किस प्रकार कार्य करता है? (राजस्थान, १९५७)
३. ''प्राकृतिक-चुनाव केवल मृत्यु-दर द्वारा ही कार्य करता है''——इस कथन की व्याख्या कीजिये। (आगरा, १९५७)

११

सामाजिक-परिवर्त्तनों पर यान्त्रिक-प्रभाव

(TECHNOLOGICAL FACTORS AFFECTING SOCIAL CHANGE)

हमने पिछले अध्याय में देखा कि किस प्रकार 'प्राणि-शास्त्रीय-तत्त्व' (Biological factors) मानव-समाज को प्रभावित करते हैं। इस अध्याय में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि 'प्राविधिक-तत्त्व' या 'यान्त्रिक-तत्त्व' (Technological factors) किस प्रकार मानव-समाज को प्रभावित करते हैं।

'प्राविधिक-तत्त्वों' (Technological factors) से हमारा अभिप्राय क्या है? मनुष्य जब से इस सृष्टि में आया तब से किसी-न-किसी प्रकार, किसी-न-किसी उपाय से, किसी-न-किसी 'विधि' से वह प्रकृति पर अपना नियन्त्रण करने का प्रयत्न करता रहा है। कभी वह शिकार करता था, कभी खेती करता था, हल चलाता था। ये सब प्रकार, ये सब 'विधियाँ' उसके प्रकृति पर अधिकार पाने के उपाय थे। इन्हीं विधियों को 'प्रविधि' (Technology) कहा जाता है। वर्त्तमान युग की प्रकृति पर विजय पाने की 'प्रविधि' (Technique या Technology) यान्त्रिक-आविष्कार हैं। इन यान्त्रिक-आविष्कारों से मनुष्य प्रकृति पर विजय पाने का यत्न कर रहा है। अतः वर्त्तमान-युग की 'प्रविधि' (Technology) पर विचार करते हुए हमें मुख्य तौर पर यान्त्रिक-आविष्कारों पर ही विचार करना होगा। क्योंकि हमारे विचार का मुख्य विषय यान्त्रिक-आविष्कारों का सामाजिक-परिवर्त्तनों पर प्रभाव होगा इसलिए हमने इस अध्याय का शीर्षक 'सामाजिक-परिवर्त्तनों पर प्राविधिक-प्रभाव' न रखकर 'सामाजिक-परिवर्त्तनों पर यान्त्रिक-प्रभाव'--यह रखा है, अभिप्राय हमारा 'प्राविधिक' (Technological) से ही है, सिर्फ़ विषय को दिमाग़ में बैठाने के लिए, 'प्राविधिक' की जगह 'यान्त्रिक' शब्द का प्रयोग किया गया है।

१. 'यान्त्रिक'-आविष्कार

यह युग आविष्कारों का युग है। रोज-रोज नये-नये आविष्कार हो रहे हैं, और उनके आधार पर नये-नये यन्त्र बन रहे हैं। समय था जब लोग बैल-गाड़ी की सवारी किया करते थे, अब वे रेल, मोटर और हवाई जहाज में चलने लगे ह; समय था जब व्याख्याता गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाया करता था, अब

ध्वनि-निक्षेपक यन्त्रों द्वारा व्याख्याता आराम से बोलता जाता है और लाखों की जनता दूर-दूर बैठी आराम से सब-कुछ सुनती जाती है। इन्हीं सब बातों से इस युग को 'विज्ञान का युग'--'आविष्कारों का युग'--'बिजली-भाफ का युग'--'यन्त्रों का युग'--एक शब्द में 'यन्त्री-करण का युग' (Age of Mechanization) कहा जा सकता है। जैसे पिछले अध्याय में हमने देखा था कि 'प्राणि-शास्त्रीय-तत्त्वों' (Biological Factors) का समाज पर क्या प्रभाव पड़ा है, वैसे इस अध्याय में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि यह 'यन्त्री-करण' (Mechanization), ये 'प्राविधिक'--अर्थात् 'यान्त्रिक-तत्त्व' (Technological factors) समाज को किस प्रकार प्रभावित करते हैं।

(क) एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' दूसरे 'यान्त्रिक-आविष्कार' को जन्म देकर सामाजिक-परिवर्त्तन को जन्म देता है--'यान्त्रिक-आविष्कारों' (Technological inventions) का प्रभाव दूसरे 'यान्त्रिक-आविष्कारों' पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, पहले मिलों की भट्टियों में बेलचे से एक मजदूर कोयला डालता था। एक मजदूर थोड़ा कोयला डाल सकता था इसलिए बेलचा भी छोटा था, भट्टी भी छोटी थी। बाद को बेलचा बिजली से चलने लगा, इसलिए ज्यादा काम हो सकता था, परिणामस्वरूप बड़ी भट्टियों का आविष्कार हुआ। इस समय रेलगाड़ी तो बन चुकी थी, परन्तु एंजिन की भट्टी छोटी थी, इसलिए एंजिन भी छोटा था, उसकी कार्य-शक्ति भी थोड़ी थी, उसके साथ डब्बे भी थोड़े जुड़ते थे। बड़ी भट्टी के आविष्कार से एंजिन की भट्टी भी बड़ी बनने लगी, एंजिन भी बड़ा बनने लगा, बड़ा एंजिन ज्यादा माल ढो सकता था, रेल-गाड़ियों में दो-दो फ़र्लांग तक डब्बे जुड़ने लगे। एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' ने दूसरे को जन्म दिया, दूसरे ने तीसरे को, और तीसरे ने चौथे को, सिलसिला बढ़ गया।

(ख) 'यान्त्रिक-आविष्कार' सीधा सामाजिक-परिवर्त्तन को भी जन्म देता है--'यान्त्रिक-आविष्कार' जहाँ दूसरे 'यान्त्रिक-आविष्कारों' को प्रभावित करते हैं, वहाँ सामाजिक-परिवर्तनों को भी जन्म देते हैं। उदाहरणार्थ--

(i) जब पहले-पहल मोटर चली तब मोटर के सामने खड़े होकर हैंडल को जोर से घुमाते थे, इससे बैटरी गर्म होती थी, और मोटर चलती थी। पुरुष तो जोर का हैंडल घुमा सकते थे, स्त्रियों के लिए यह कठिन कार्य था। उस समय स्त्रियाँ मोटर कम चलाती थीं। जब से हैंडल घुमाने की जगह सेलफ़-स्टार्टर का आविष्कार हुआ है, तब से स्त्रियाँ ख़ूब मोटर चलाने लगी हैं। सेलफ़-स्टार्टर के 'यान्त्रिक-आविष्कार' से स्त्रियों के मोटर चलाने के सामाजिक-परिवर्त्तन का जन्म हुआ।

(ii) पहले लोग सूई से कपड़ा सीते थे, अभी मशीन से कपड़ा सीने का आविष्कार नहीं हुआ था। उस समय यह काम ज्यादा स्त्रियाँ ही करती थीं। जब से मशीन का 'यान्त्रिक-आविष्कार' हुआ है, तब से पुरुष कपड़ा सीने की दुकानें लगाकर बैठ गए हैं, जो काम स्त्रियाँ छोटे पैमाने पर करती थीं, वह काम पुरुष

बड़े पैमाने पर करने लगे हैं, 'टेलरिंग-हाउस' खुल गए हैं। सीने की मशीन के 'यान्त्रिक-आविष्कार' से स्त्रियों की जगह पुरुषों के 'टेलरिंग-हाउसों' के सामाजिक-परिवर्त्तन का जन्म हुआ।

(ग) 'यान्त्रिक-आविष्कारों' का जीवन पर चौमुखा प्रभाव पड़ रहा है—यान्त्रिक-आविष्कारों का अन्य यन्त्रों तथा समाज के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर भारी प्रभाव पड़ रहा है। समाज के जीवन का कोई क्षेत्र इनके प्रभाव से अछूता नहीं बचा। उदाहरणार्थ, रेडियो का जो सर्व-व्यापी और चौमुखा प्रभाव पड़ रहा है वह निम्न है—

(i) रेडियो एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' है। इसका अन्य 'यान्त्रिक-आविष्कारों' पर असीम प्रभाव पड़ा है। रेडियो ने ही टैलीवीयन के आविष्कार को जन्म दिया। रेडियो के आविष्कार के बाद ग्रामोफ़ोन में कई परिवर्त्तन हुए। रेडियो की दो प्रकार की लहरें मानी गई हैं—छोटी तथा बड़ी—रेडियो की छोटी लहरों के प्रयोग से दूध को खराब होने से बचाने की प्रक्रिया को जन्म मिला है, इन्हीं लहरों से कृमि-नाश के परीक्षण सफल हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि रेडियो का अन्य यन्त्रों पर प्रभाव पड़ रहा है।

(ii) रेडियो का सामाजिक-परिवर्तनों के हर पहलू पर प्रभाव दीखता है। शिक्षा के क्षेत्र में आजकल पाश्चात्य-देशों में विश्व-विद्यालय अध्यापकों के व्याख्यानों को रेडियो से प्रसारित करते हैं, रेडियो से प्रौढ़-शिक्षा का प्रचार किया जा रहा है, भिन्न-भिन्न भाषाओं को रेडियो से लिखवा दिया जाता है, रेडियो द्वारा स्वास्थ्य के सम्बन्ध में व्याख्यान दिये जाते हैं, आसन-प्राणायाम तक इससे सिखाया जा रहा है। यातायात के क्षेत्र में रेडियो से हवाई जहाज को ठीक मार्ग बतलाया जाता है, रास्ते में कहीं धुँध ज्यादा हो, उसकी सूचना दी जाती है, कहाँ उतरना, कहाँ नहीं उतरना—यह-सब बतलाया जाता है। जब कोई जहाज समुद्र में मुसीबत में फँस जाय, तो वह बाहर के संसार तक अपनी विपत्ति की आवाज पहुँचा कर सहायता माँग सकता है। जहाजों तथा वायु-यानों में रेडियो द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। सामाजिक एकता के क्षेत्र में रेडियो द्वारा भिन्न-भिन्न संस्कृति तथा सभ्यता एवं भिन्न-भिन्न देशों के लोग निकट आने लगते हैं, एक दिशा में सोचने लगते हैं। ग्राम तथा शहर के लोग एक-सी बातें और एक-से गीत सुनते हैं, इन सब की रुचि एक-सी होने लगी है, इनके विचारों तथा रुचियों का भेद मिटने लगा है। मनोरंजन के क्षेत्र में रेडियो एक बिलकुल नवीन प्रकार के मनोरंजन के रूप में प्रकट हुआ है। अबतक बड़े-बड़े समारोह होते थे, लोग दूर-दूर से जल्सों में जाया करते थे, मनोरंजन बहुत व्यय-साध्य था, अब घर बैठे अच्छे-से-अच्छा व्याख्यान और अच्छे-से-अच्छा संगीत सुना जा सकता है। वाकफ़ियत के क्षेत्र में दुनिया की दूर-से-दूर की घटना घटने के साथ ही हम तक पहुँच जाती है। इन सब सामाजिक-परिवर्त्तनों का श्रीगणेश 'यान्त्रिक-आविष्कारों' (Technological inventions) से हुआ है।

(घ) एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' के अनेक सामाजिक-फल हो सकते हैं—हमने रेडियो के दृष्टान्त से देखा कि एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' का अनेक प्रकार का यान्त्रिक तथा अनेक प्रकार का सामाजिक प्रभाव पड़ता है। हमें यहाँ 'यान्त्रिक-आविष्कार' के यान्त्रिक-प्रभाव की चर्चा नहीं करनी, 'यान्त्रिक-आविष्कार' के सामाजिक-प्रभाव की चर्चा करनी है क्योंकि हमारा विषय 'समाज-शास्त्र' है। 'यान्त्रिक-आविष्कार' से जो समाज के नये व्यवहार चल पड़ते हैं, यह जरूरी नहीं कि वे सब 'यान्त्रिक-आविष्कार' के प्रत्यक्ष-फल हों। यह हो सकता है कि किसी 'यान्त्रिक-आविष्कार' का फल एक 'प्रत्यक्ष' सामाजिक-व्यवहार हो, और अनेक 'अप्रत्यक्ष' सामाजिक-व्यवहार हों। उदाहरणार्थ, अमरीका में कपास की मिलें लगीं, यह एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' था। इसका प्रत्यक्ष सामाजिक-परिणाम यह हुआ कि अमरीका में कपास की पैदावार बढ़ने लगी। बेलन से उतनी कपास नहीं साफ़ हो सकती थी जितनी मशीन के ज़रिये हो सकती थी, इसलिए यदि पहले ज्यादा कपास पैदा की जाती, तो बेकार पड़ी रहती। अब बिनौले मशीन के द्वारा जल्दी और आसानी से अलग किये जा सकते थे, ज्यादा कपास साफ़ की जा सकती थी, इसलिए कपास की पैदावार बढ़ गई। परन्तु इस 'प्रत्यक्ष' सामाजिक-परिणाम के अतिरिक्त कई 'अप्रत्यक्ष' सामाजिक-परिणाम भी हुए। ज्यादा पैदावार बिना ज्यादा मजदूरों के नहीं हो सकती थी। ज्यादा मजदूर कहाँ से आते? इसके लिए अफ्रीका से हबशियों का व्यापार शुरू हो गया और दास-प्रथा का खूब बोलबाला हुआ। दक्षिणी-अमरीका में खेती ज्यादा होती थी, वहीं दासों की ज्यादा आवश्यकता थी, इसलिए दक्षिणी-अमरीका में दास-प्रथा चली, उत्तरी में इतनी नहीं चली। अन्त में जाकर दास-प्रथा के प्रश्न पर ही दक्षिणी तथा उत्तरी अमरीका में गृह-युद्ध हुआ। उत्तरी-अमरीका दास-प्रथा को मिटाना चाहता था, दक्षिणी-अमरीका की इसी पर आजीविका चलती थी, अतः वह इसे कायम रखना चाहता था। कपास की मिल खुलने का 'प्रत्यक्ष'-सामाजिक-फल, कपास की खेती बढ़ना था 'अप्रत्यक्ष'-फल कई थे, जिनमें से पहला दास-प्रथा थी, और उसके बाद दूसरा अमरीका का गृह-युद्ध था। 'यान्त्रिक-आविष्कारों' का 'प्रत्यक्ष-सामाजिक-फल' (Direct social effect) एक होता है, 'अप्रत्यक्ष-सामाजिक-फल' (Indirect social effects) अनेक हो सकते हैं। इन 'अप्रत्यक्ष-सामाजिक-फलों' में जो फल पहले होगा, वह 'प्रथम अप्रत्यक्ष-सामाजिक-फल' (First indirect social effect) कहलायेगा, जो दूसरे नम्बर पर होगा, वह 'द्वितीय अप्रत्यक्ष-सामाजिक-फल' (Second indirect social effect) कहलायेगा। कपास की मिलों का कपास की खेती 'प्रत्यक्ष सामाजिक-फल' (Direct social effect) है, दास-प्रथा 'प्रथम अप्रत्यक्ष-सामाजिक-फल' (First indirect social effect) है, दक्षिणी तथा उत्तरी अमरीका का गृह-युद्ध 'द्वितीय अप्रत्यक्ष-सामाजिक-फल' (Second indirect social effect) है। इसी प्रकार यह शृंखला आगे-आगे चलती जाती है, परन्तु ज्यों-ज्यों

सामाजिक-परिवर्त्तनों का सिलसिला प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष, और अप्रत्यक्ष से प्रथम-फल, द्वितीय-फल, तृतीय-फल की तरफ़ बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों आगे-आगे फल उत्पन्न करने का वेग कम होता जाता है, ठीक इस तरह जैसे एक तालाब में पत्थर के पड़ने से जो लहरें उत्पन्न होती हैं, वे शुरू-शुरू में तेज़ और आगे-आगे मध्यम पड़ती जाती हैं, अन्त में उनका वेग बिल्कुल समाप्त हो जाता है।

(ङ) अनेक 'यान्त्रिक-आविष्कारों' का एक सामाजिक-फल हो सकता है—हमने देखा कि एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' के अनेक प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष—सामाजिक-परिणाम हो जाते हैं, इसी प्रकार कभी-कभी अनेक 'यान्त्रिक-आविष्कार', अलग-अलग वह सामाजिक-परिणाम नहीं उत्पन्न कर सकते, जो अनेक आविष्कार, मिलकर, एक सामाजिक-परिणाम उत्पन्न कर देते हैं। मोटर, रेल, बस, टैलीफ़ोन, रेडियो, सिनेमा—इन सबके मिलने से एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि शहरों से बाहर 'उप-नगर' (Suburbs) बनने लगते हैं, लोग व्यापार के लिए शहर चले जाते हैं, रहने के लिए शहर के बाहर चले जाते हैं। ये सब अलग-अलग हों, जहाँ मोटर जा सके वहाँ टैलीफ़ोन न लग सके, जहाँ टलीफ़ोन लग सके वहाँ सिनेमाघर न बन सके, तो उप-नगरों का निर्माण भी सम्भव न हो सके। इसी लिए शहर (City) का निर्माण भी अनेक 'यान्त्रिक-आविष्कारों' का एक सामाजिक परिणाम है। यातायात के आविष्कार, व्यापार की सुविधा के आविष्कार, उद्योग के आविष्कार—ये सब एक जगह केंद्रित हो जाने पर शहर बन जाते हैं—ये सब अलग पड़े रहें, तो शहर भी न बन सकें। जैसे हमने एक यंत्र के सम्बन्ध में उसके प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष सामाजिक-फल देखे थे, वैसे अनेक यंत्रों के भी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष सामाजिक-परिणाम होते हैं। उदाहरणार्थ, अनेक यंत्रों का प्रत्यक्ष-फल शहर का बन जाना है, परन्तु शहर बनने के कारण यन्त्रों के अप्रत्यक्ष-फल कई उत्पन्न हो जाते हैं। शहर में चोरी, डकैती, दुराचार तथा सब तरह के अपराध बढ़ जाते हैं, पारिवारिक-जीवन क्षीण होने लगता है, सरकार का हर बात में अधिकाधिक हस्त-क्षेप दीखने लगता है—ये सब शहर बनने के तो प्रत्यक्ष-फल हैं, परन्तु जिन 'यान्त्रिक-आविष्कारों' से शहर बने हैं, उन आविष्कारों के ये अप्रत्यक्ष-फल हैं।

२. 'सामाजिक'-आविष्कार

हमने देखा कि 'यान्त्रिक-आविष्कार' से सामाजिक-परिवर्त्तन होते हैं। कभी-कभी ये परिवर्तन साधारण होते हैं, छोटे-छोटे होते हैं, कभी-कभी 'यान्त्रिक-आविष्कारों' से होने वाले सामाजिक-परिवर्तन बहुत बड़े होते हैं। बड़े होने की अवस्था में उन्हें केवल 'सामाजिक-परिवर्त्तन' (Social change) न कहकर 'सामाजिक-आविष्कार' (Social invention) कहा जाता है। वैसे तो 'आविष्कार'-शब्द का प्रयोग भौतिक-विज्ञान के क्षेत्र में किया जाता है, परन्तु क्योंकि ये परिवर्त्तन एक बिलकुल नई चीज़ को पैदा कर देते हैं, इसलिए इन सब बड़े-बड़े

परिवर्त्तनों के लिए 'परिवर्त्तन'-शब्द का प्रयोग न करके 'आविष्कार'-शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह ध्यान देने की बात है कि 'यान्त्रिक-आविष्कारों' से 'सामाजिक-आविष्कार' होते हैं, परन्तु यह ज़रूरी नहीं कि बिना 'यान्त्रिक-आविष्कारों' के 'सामाजिक-आविष्कार' न हो सकें। मोटर, रेल, टैलीफ़ोन, सिनेमा आदि 'यान्त्रिक-आविष्कार' हैं, इनसे 'उप-नगरों' (Suburbs) को बसाने की प्रक्रिया का प्रारंभ हो गया, जो एक 'सामाजिक-आविष्कार' है, परन्तु बॉयकाट (Boycott) तथा 'स्त्रियों का मतदान' (Women's Suffrage) ऐसे 'सामाजिक-आविष्कार' हैं, जिनका किसी 'यान्त्रिक-आविष्कार' के साथ सम्बन्ध नहीं है। ये 'सामाजिक-आविष्कार' मनुष्य के दिमाग़ की उपज हैं, यान्त्रिक-उपज नहीं हैं।

'सामाजिक-आविष्कार' द्वारा सामाजिक तथा यान्त्रिक परिवर्त्तन

हमने पहले देखा था कि 'यान्त्रिक-आविष्कार' का प्रभाव सामाजिक-परिवर्त्तन पर पड़ता है। मोटर के स्टार्टर के आविष्कार से स्त्रियों ने पहले से अधिक संख्या में मोटरें चलाना शुरू कर दिया। इसी प्रकार 'सामाजिक-आविष्कार' का भी प्रभाव सामाजिक-परिवर्त्तन पर पड़ता है। एक नया 'सामाजिक-आविष्कार' हुआ, उससे समाज में नये-नये परिवर्त्तन होने लगते हैं, नयी-नयी सामाजिक लहरें उठ खड़ी होती हैं। 'मृत्यु-कर' (Death duty) एक 'सामाजिक-आविष्कार' है, इस आमदनी से अगर सरकार नहर या बाँध बनाने की योजनाएँ चालू करे, तो किसानों को पानी न मिलने की समस्या हल हो सकती है। यह 'सामाजिक-आविष्कार' से सामाजिक-परिवर्त्तन का दृष्टान्त है। इसी प्रकार 'सामाजिक-आविष्कार' से कभी-कभी कोई यान्त्रिक-परिवर्त्तन भी हो सकता है। जन-संख्या के सम्बन्ध में मालथस का नियम एक नवीन सामाजिक-आविष्कार था। इससे उत्पत्ति-निरोधक-साधनों का निर्माण शुरू हो गया जो यान्त्रिक-साधन थे।

जैसे एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' से अनेक सामाजिक-परिवर्त्तन हो जाते हैं, वैसे एक 'सामाजिक-आविष्कार' से अनेक सामाजिक-परिवर्त्तन हो सकते हैं; जैसे अनेक 'यान्त्रिक-आविष्कारों' से एक सामाजिक-परिवर्त्तन हो जाता है, वैसे अनेक 'सामाजिक-आविष्कारों' से एक सामाजिक-परिवर्त्तन हो सकता है। जैसे 'यान्त्रिक-आविष्कारों' से सामाजिक-परिवर्तन और सामाजिक-आविष्कार हो जाते हैं, वैसे 'सामाजिक-आविष्कारों' से यान्त्रिक-परिवर्त्तन और यान्त्रिक आविष्कार हो सकते हैं। इस प्रकरण में 'परिवर्त्तन' और 'आविष्कार' में भेद मात्रा का है। साधारण परिवर्त्तन को हमने सिर्फ़ 'परिवर्त्तन' कहा है, असाधारण परिवर्त्तन को 'आविष्कार' कह दिया है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं :—

(क) 'यान्त्रिक-आविष्कारों' से दूसरे 'यान्त्रिक-आविष्कार' हो सकते हैं,
(ख) 'यान्त्रिक-आविष्कारों' से 'सामाजिक-आविष्कार' हो सकते हैं,
(ग) 'सामाजिक-आविष्कारों' से दूसरे 'सामाजिक-आविष्कार' हो सकते हैं,
(घ) 'सामाजिक-आविष्कारों' से 'यान्त्रिक-आविष्कार' हो सकते हैं।

३. 'आर्थिक' तथा 'यान्त्रिक' भाग्य-निर्णय का सिद्धान्त
(Economic and Technological Determinism)

हमने देखा कि 'यान्त्रिक आविष्कारों' से 'सामाजिक-आविष्कार' तथा 'सामाजिक-आविष्कारों' से 'यान्त्रिक-आविष्कार' होते हैं। इस स्थान पर एक प्रश्न उठ खड़ा होता है : वह प्रश्न यह है कि इन दोनों में से कौन पहले है, कौन पीछे, कौन कारण है, कौन कार्य ? क्या सेल्फ़ स्टार्टर के आविष्कार के बाद स्त्रियों ने अधिक संख्या में मोटर चलाना सीखा, या स्त्रियों की मोटर चलाने की प्रबल इच्छा के कारण सेल्फ़ स्टार्टर का आविष्कार हुआ ? क्या यान्त्रिक-आविष्कार के बाद उससे सम्बन्ध रखने वाला सामाजिक-परिवर्त्तन आता है, या सामाजिक-परिवर्त्तन के बाद उससे सम्बन्ध रखने वाला यान्त्रिक-आविष्कार होता है ? आजकल ऐसे विचारकों की संख्या बढ़ती जा रही है जिनका कहना है कि हर 'सामाजिक-परिवर्त्तन' अथवा 'सामाजिक-आविष्कार' का कारण कोई-न-कोई 'यान्त्रिक-परिवर्त्तन' या 'यान्त्रिक-आविष्कार' होता है। दूसरे शब्दों में, उनका कहना यह है कि 'यान्त्रिक-आविष्कार' ही यह निर्णय करता है कि समाज में कौन-सा परिवर्तन होगा। समाज जो-कुछ बन रहा है, वह 'यान्त्रिक-परिवर्त्तनों', 'यान्त्रिक-आविष्कारों' तथा 'यान्त्रिक-प्रभावों' के कारण बन रहा है, इन कारणों के कारण समाज जो-कुछ बन रहा है, वह वही-कुछ बन सकता है, और कुछ बन ही नहीं सकता, बनना चाहे भी तो नहीं बन सकता, क्योंकि जैसा 'कारण' होगा, 'कार्य' का वैसा बनना लाजमी होगा। यान्त्रिक-कारण ही समाज के भाग्य का निर्णय करता है, सब सामाजिक-परिवर्त्तनों का आधार यान्त्रिक-कारण है—इसलिए इस सिद्धान्त को 'प्राविधिक या यान्त्रिक भाग्य-निर्णय-वाद' (Technological determinism) कहते हैं। समाज-शास्त्र में इस विचार के समर्थक कई व्यक्ति हैं, जिनमें से हम कार्ल-मार्क्स (Karl Marx) तथा अमरीकन समाज-शास्त्री थौर्सटीन वेबलन (Thorstien Veblen)—इन दो के विचारों की समीक्षा करेंगे।

कार्ल-मार्क्स के तथा वेबलन के विचारों का मनोवैज्ञानिक आधार

कार्ल-मार्क्स तथा वेबलन का कथन है कि 'आर्थिक' तथा 'यान्त्रिक'-कारण समाज को जो-कुछ बनाते हैं, समाज वही-कुछ बनता है। इस विचार का आधार मनोविज्ञान का 'व्यवहार-वाद' (Behaviourism) का सिद्धान्त है। 'व्यवहार-वाद' (Behaviourism) क्या है ? इस वाद का अभिप्राय यह है कि हमारे सामने जैसा 'पर्यावरण' आता है, वैसा हम 'व्यवहार' करने लगते हैं—हमारा सारा 'व्यवहार' 'पर्यावरण' द्वारा निर्धारित होता है। कठोर-पर्यावरणों में व्यक्ति और तरह का बन जाता है, आसान-पर्यावरणों में और तरह का बनता है। 'व्यवहार-वाद' (Behaviourism) का भी आधार एक दूसरा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है जिसे 'विषय-प्रतिक्रिया-वाद' (Stimulus-response theory) कहते हैं। हम जंगल में जा रहे थे, सामने से शेर आता हुआ दिखाई दिया, हम भाग खड़े

हुए; हम शहर में जा रहे थे, सामने से एक दोस्त आता हुआ दिखाई दिया, हम आगे बढ़ कर उससे हाथ मिलाने लगे। शेर को देख कर हम उससे हाथ मिलाने को आगे नहीं बढ़ते, मित्र को देख कर हम भाग नहीं खड़े होते। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि जैसा 'विषय' (Stimulus) हमारे सामने आता है, वैसी ही हम 'प्रतिक्रिया' (Response) करते हैं। हमारा सारा व्यवहार 'विषय-प्रतिक्रिया के सिद्धान्त' (Stimulus-response theory) के आधार पर चलता है। जो बात व्यक्ति के व्यवहार पर लागू है, वही समाज पर लागू होनी चाहिए। अगर व्यक्ति जो-कुछ है, जैसी प्रतिक्रिया करता है, जैसा व्यवहार करता है, उसका आधार बाहर का 'पर्यावरण' है, तो समाज भी जो-कुछ है, जैसी प्रतिक्रिया करता है, जैसा व्यवहार करता है, उसका निर्णय बाहर के 'पर्यावरण' द्वारा ही मानना पड़ेगा। समाज के सामने बाहर का 'पर्यावरण' क्या है? एक 'आर्थिक' पर्यावरण उत्पन्न होता है, एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' होता है, समाज पर एकदम उस 'आर्थिक'-पर्यावरण तथा उस 'यान्त्रिक'-आविष्कार का प्रभाव पड़ता है—'आर्थिक-पर्यावरण' अथवा 'यान्त्रिक-आविष्कार' के रूप में एक 'विषय' (Stimulus) समाज के सामने आया, समाज झट-से 'सामाजिक-परिवर्त्तन' के रूप में 'प्रतिक्रिया' (Response) करता है, इसलिए मानना पड़ता है कि 'आर्थिक-पर्यावरण' तथा 'यान्त्रिक-आविष्कार' समाज के भाग्य के 'निर्णायक' (Determinant) हैं।

कार्ल-मार्क्स के विचार

मार्क्स का कथन है कि 'सामाजिक-रचना' (Social structure) का आधार 'आर्थिक' तथा 'प्राविधिक' अर्थात् 'यान्त्रिक' कारण (Economic and Technical) हैं। हर-एक आदमी जो-कुछ कर रहा है, पेट पालने के लिए कर रहा है। एक मज़दूर मज़दूर है, दूसरा ठेकेदार; एक काम कर रहा है, दूसरा काम करा रहा है, परन्तु जो व्यक्ति कर रहा है उसका उस काम को करने से, और जो करा रहा है उसका उस काम को कराने से पेट भरता है, इसलिए एक मज़दूरी कर रहा है, दूसरा ठेकेदारी कर रहा है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि हमारे समाज का आधार 'आर्थिक' है। जिस काम में हमें आर्थिक-लाभ हो, वह हम करते हैं, जिसमें न हो वह नहीं करते। परन्तु ये 'आर्थिक-कारण' बहुत मन्द-गति से चल रहे हैं। 'प्राविधिक'—अर्थात् 'यान्त्रिक-आविष्कारों' (Technical inventions) का यह परिणाम हुआ कि 'आर्थिक-कारण' समाज को जिस दिशा में ले जा रहे थे, समाज उधर वेग से चलने लगा। 'आर्थिक-कारणों' से कुछ लोग अमीर हो रहे थे, कुछ ग़रीब हो रहे थे, परन्तु 'यान्त्रिक-आविष्कारों' का यह परिणाम हुआ कि अमीर बहुत तेज़ी से अमीर होने लगे, ग़रीब बहुत तेज़ी से ग़रीब होने लगे। किसी समय समाज कृषि के स्तर पर था, उस समय भी समाज में अमीर और ग़रीब थे, परन्तु उस समय अमीर और ग़रीब का अन्तर इतना

अधिक नहीं था। जब से 'यान्त्रिक-आविष्कार' शुरू हुए तब से यह भेद बड़े वेग से बढ़ने लगा। क्यों बढ़ने लगा? इसलिए बढ़ने लगा क्योंकि जो काम पहले पचास आदमी करते थे, उन्हें यन्त्रों की सहायता से अब एक आदमी करने लगा। पहले पचास आदमियों को मजदूरी देनी पड़ती थी, अब एक आदमी को देनी पड़ी, उन पचास आदमियों की मजदूरी मालिक को ख़र्च नहीं करनी पड़ी। यन्त्रों के उपयोग का यह परिणाम हुआ कि किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति में श्रम-जन्य व्यय बहुत घट गया। इसके अतिरिक्त जब हम यन्त्र की सहायता से या बिना यन्त्र की सहायता से, किसी मजदूर से कोई काम कराते हैं, तब हम उसे कुछ घंटे काम करने की कुछ निश्चित मजदूरी देते हैं। कल्पना कीजिये, हमने ८ घंटे काम करने की २ रुपया मजदूरी दी। अगर ८ घंटे में वह सिर्फ़ २ रुपये का ही काम करे, तो क्यों कोई किसी से मजदूरी कराये। कराने वाले को भी तो कुछ लाभ होना चाहिए। होता यह है कि मजदूर मशीन के ज़रिये ८ घंटे में १६ रुपये का काम कर देता है, जिसमें से २ रुपए मालिक ने उसे दिये, १४ रुपए अपने पास रख लिए। परन्तु यह २ रुपए का काम तो उसने १ घंटे में कर लिया था--तभी तो उसने ८ घंटे में १६ रुपए का काम किया था। इसका मतलब यह हुआ कि ८ घंटों में से १ घंटे की मजदूरी का दाम तो मजदूर को मिला, ७ घंटे उसने मुफ्त में काम किया। यह ७ घंटे का श्रम उसका 'अतिरिक्त-श्रम' (Surplus labour) है, और इस श्रम का मूल्य 'अतिरिक्त-मूल्य' (Surplus value) है। यह 'अतिरिक्त-मूल्य' (Surplus value) जो वास्तव में मजदूर ने पैदा किया है, मजदूर की जेब में न जाकर, मालिक की जेब में चला जाता है, और इस प्रकार मालिक दिनोंदिन अमीर होता जाता है। पहले जब यन्त्रों से काम नहीं होता था, तब मजदूर लोग ८ घंटे का काम १ घंटे में नहीं कर सकते थे, ६ या ७ घंटे में करते होंगे। उस समय भी उनके 'अतिरिक्त-श्रम' का लाभ मालिक को होता था, परन्तु यन्त्रों के आविष्कार के बाद तो वह लाभ बहुत अधिक बढ़ने लगा, इसलिए बढ़ने लगा, क्योंकि यन्त्रों से पहले मजदूर को देर तक काम करना पड़ता था इसलिए उसका 'अतिरिक्त-श्रम' बहुत थोड़ा था, अब यन्त्र निकलने के बाद 'अतिरिक्त-श्रम' बहुत अधिक बढ़ गया। पहले मजदूर के एक-दो घंटे मालिक को मुफ्त के मिलते थे, अब ५-६ घंटे मुफ्त मिलने लगे। इस प्रकार 'यान्त्रिक-आविष्कारों' (Technical inventions) ने क्या किया? 'आर्थिक-कारणों' (Economic factors) के कारण समाज जिधर जा रहा था, उसमें 'यान्त्रिक-आविष्कारों' ने तेजी कर दी। 'आर्थिक-कारणों' से कुछ लोग अमीर हो रहे थे, कुछ ग़रीब हो रहे थे। 'यान्त्रिक-आविष्कारों' ने इस प्रक्रिया को एकदम तेज कर दिया, समाज के सामने दो वर्ग बनकर उठ खड़े हुए, 'धनी-वर्ग' तथा 'निर्धन-वर्ग'। 'यान्त्रिक-आविष्कार' न होते, तो यह प्रक्रिया धीरे-धीरे होती, 'यान्त्रिक-आविष्कार' हो गए, तो यह प्रक्रिया तेजी से हो गई, परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'आर्थिक-कारण' (Economic factors) जो समाज की रचना के आधार हैं, देर में या

जल्दी, समाज को वहीं लाकर खड़ा कर देते हैं जहाँ समाज आज आकर अमीर और ग़रीब--इन दो भागों में बँट कर खड़ा हो गया है। इन वर्गों में समाज के बंटने का कारण समाज का 'आर्थिक'-आधार है--'यान्त्रिक-आविष्कारों' का काम सिर्फ़ इस 'आर्थिक'-आधार में तेज़ी ला देना है, जैसे आग जल रही हो, तो हवा का काम आग को तेज़ कर देना है। जब अमीर और ग़रीब का भेद अत्यन्त उग्र हो उठा, तब इनमें संघर्ष छिड़ जाना स्वाभाविक था--अमीर-ग़रीब के उस संघर्ष को कार्ल-मार्क्स 'श्रेणी-युद्ध' (Class-war) का नाम देता है। 'श्रेणी-युद्ध' (Class-war) का उद्देश्य अमीर-ग़रीब के भेद को सदा के लिए मिटा देना है। अगर निर्धन-वर्ग धनी-वर्ग से सम्पत्ति छीन ले, तब तो फिर अमीर ग़रीब बन जाँय, ग़रीब अमीर बन जाँय, यह संघर्ष वैसे-का-वैसा बना रहे। परन्तु ऐसा नहीं होता। यह संघर्ष तो भिन्न-भिन्न वर्गों के बन जाने का परिणाम है, अतः इस संघर्ष का परिणाम यह होना स्वाभाविक है कि सम्पत्ति किसी एक वर्ग की न रहकर पूरे समाज की हो जाय। उत्पादन के साधनों पर जब तक व्यक्तियों का अधिकार रहेगा, तब तक धनी-निर्धन--ये वर्ग भी बने ही रहेंगे, अतः इन वर्गों को, इन श्रेणियों को, और 'श्रेणी-युद्ध' को मिटाने के लिए उत्पत्ति के साधनों पर समाज का अधिकार हो जाना आवश्यक है। जबतक समाज वैधानिक उपायों से सम्पत्ति के उत्पादक-साधनों पर आधिपत्य जमाने का प्रयत्न करता है, तब तक इस प्रक्रिया को 'समाजवाद' (Socialism) कहते हैं, जब वैधानिक उपायों को छोड़ कर अवैधानिक उपायों से, ज़ोर-जब्र से इन साधनों पर अधिकार किया जाता है, तब इसे 'कम्यूनिज़म' (Communism) कहते हैं। कार्ल-मार्क्स का कहना यह है कि 'श्रेणी-युद्ध' (Class-war) का काम 'वर्ग-युत' समाज को 'वर्ग-हीन' समाज बनाना है। यह सारी प्रक्रिया अवश्यम्भावी प्रक्रिया है। जैसा पर्यावरण हो वैसा मनुष्य बनता है, उससे भिन्न वह बन ही नहीं सकता, पर्यावरण ही मनुष्य का निर्माण करता है। इसी प्रकार जैसा पर्यावरण हो वैसा ही समाज बनता है, उससे भिन्न नहीं बन सकता। समाज की रचना के आधार में जो 'आर्थिक-कारण' काम कर रहे थे उनका परिणाम अमीर-ग़रीब के भेद का उत्पन्न हो जाना होना ही था, इसे कोई शक्ति नहीं रोक सकती थी। ये भेद धीरे-धीरे प्रकट हों, या तेज़ी से प्रकट हों--यही सोचने की बात रह जाती थी। 'यान्त्रिक'-कारणों ने इन भेदों को वेग दे दिया। ये भेद जब से मनुष्य-समाज बना तभी से चले आ रहे हैं। 'यान्त्रिक'-कारणों ने इन भेदों को उत्पन्न नहीं किया, इन कारणों से तो ये भेद अत्यन्त अधिक स्पष्ट होकर 'पूँजीवाद' (Capitalism) के रूप में प्रकट हो गए हैं, परन्तु यह समझना भूल है कि 'पूँजीवाद' एकदम आज उत्पन्न हो गया। वह धीरे-धीरे उत्पन्न हो रहा था, समाज की हर प्रारम्भिक रचना में जो आर्थिक विषमता थी, वह इसी की छाया थी। हाँ, जैसे 'पूँजीवाद' उत्पन्न हो रहा था, वैसे इसके विनाश के बीज भी इसके साथ-ही-साथ पनप रहे थे। आज 'पूँजीवाद' समाज के अवश्यम्भावी आर्थिक-कारणों से उग्र रूप में प्रकट हो गया है, साथ ही

इसके विनाश की शक्तियाँ भी, जो इसके साथ-साथ पनप रही थीं, उग्र रूप धारण कर गई हैं। इस संघर्ष का परिणाम 'पूँजीवाद' का नाश होगा, वर्ग-हीन समाज की स्थापना होगा, और तब यह संघर्ष जो 'आर्थिक'-कारणों से उत्पन्न हुआ है, 'यान्त्रिक'-कारणों से उग्र रूप हुआ है, अपने-आप मिट जायगा, और तब आर्थिक-कारणों से उत्पन्न होने वाली सामाजिक-विषमता भी समाप्त हो जायगी। कार्ल-मार्क्स का कहना है कि यह सारी प्रक्रिया एक अवश्यम्भावी प्रक्रिया है, समाज में जो-जो कारण उत्पन्न हुए हैं, उनका 'समाजवाद' अवश्यम्भावी परिणाम है। 'आर्थिक' तथा 'यान्त्रिक'-कारण समाज के भाग्य का इसी प्रकार निर्णय कर सकते हैं, दूसरी तरह नहीं, इसलिए इस दृष्टि-कोण को 'आर्थिक या यान्त्रिक भाग्य-निर्णय का सिद्धान्त' (Economic or Technological Determinism) कहते हैं।

वेबलन के विचार

जैसे कार्ल-मार्क्स आर्थिक अथवा यान्त्रिक 'भाग्य-निर्णय' (Determinism) के सिद्धान्त के आधार पर कहता है कि समाजवाद एक ऐसी घटना है जिसे कोई शक्ति रोक नहीं सकती, यह कार्य-कारण की शृंखला का अवश्यम्भावी परिणाम है, वैसे ही अन्य भी अनेक लेखक हैं जो समाज के वर्त्तमान रूप को आर्थिक-कारणों का अवश्यम्भावी परिणाम मानते हैं। अमरीका का समाजवादी थौर्सटीन वेबलन (Thorstein Veblen) इसी प्रकार का विचारक है। उसका कहना है कि मनुष्य 'आदतों' (Habits) के सिवाय क्या है? मैं जो-कुछ हूँ, वही हूँ जो मेरी आदतों ने मुझे बना दिया है। एक सिपाही मशीन की तरह राइट-लेफ्ट करता हुआ चला जाता है, कोई पास से जाता हुआ भी 'हॉल्ट' कह दे, तो वह खट-से खड़ा हो जाता है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि एक ही पर्यावरण में बार-बार रहने से उसकी वैसी प्रतिक्रिया, वैसी आदत बन गई है। प्रत्येक व्यक्ति जो-कुछ है, अपने पर्यावरण का अवश्यम्भावी परिणाम है। ख़ासकर, 'आदतों का पड़ जाना' (Habituation) इस बात का जीता-जागता प्रमाण है कि पर्यावरण ही मनुष्य को बनाता है। 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) तो सब में एक-सी हैं, फिर हर-एक की अलग-अलग 'आदत' (Habit) क्यों बन जाती है? 'संचय' (Acquisition) की 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) है, परन्तु एक आदमी धन का संचय करने लगता है, दूसरा पुस्तकों का, तीसरा टिकटों का। ऐसा क्यों होता है? सभी धन का, या सभी पुस्तकों का, या सभी टिकटों का संग्रह क्यों नहीं करने लगते? इसलिए नहीं करने लगते क्योंकि सब भिन्न-भिन्न पर्यावरणों में पले हैं, सब की 'आदतें' (Habits) उन-उन पर्यावरणों के अनुसार बनी हैं। इसी प्रकार एक व्यक्ति को पहले एक प्रकार के पर्यावरण में रखा जाय, तो उसकी एक ख़ास प्रकार की 'आदतें' (Habits) बनती हैं, अगर बाद को उसे दूसरे प्रकार के पर्यावरण में

रख दिया जाय, तो उसकी पहली आदतें हटती जाती हैं, दूसरे प्रकार की आदतें, जो परिवर्तित पर्यावरण का परिणाम होती ह, पड़ती जाती हैं। पर्यावरण के प्रति व्यक्ति जो प्रतिक्रिया करता है उसके अनुसार वह कभी एक, और कभी दूसरी आदत का बन जाता है। इसका यह स्पष्ट मतलब हुआ कि मनुष्य आदत-मय है, और पर्यावरण से आदतों का निर्णय होता है। ठीक इसी तरह समाज भी आदत-मय है, और उसका निर्णय भी पर्यावरण करता है। वेबलन का कथन है कि समाज का आधार-भूत पर्यावरण, आधार-भूत आदत 'आर्थिक' (Economic) है, इसलिए यह आर्थिक-पर्यावरण ही समाज को वह बना देता है, जो-कुछ समाज हमें दीखता है। वेबलन का यह विचार 'आर्थिक भाग्य-निर्णय' (Economic determination) का सिद्धान्त है और क्योंकि 'आर्थिक-कारण' और 'यान्त्रिक-कारण' मिले-जुले हैं, अतः इसे 'प्राविधिक' या 'यान्त्रिक भाग्य-निर्णय' (Technological determination) भी कहा जा सकता है।

वेबलन तथा मार्क्स के विचारों का आधार एक ही है, इन दोनों के विचारों में भेद इतना ही है कि वेबलन तो प्रत्येक सामाजिक-परिवर्त्तन का कारण 'आर्थिक' तथा 'यान्त्रिक' बतलाता है, इससे अधिक वह आगे नहीं बढ़ता, मार्क्स भी सामाजिक-परिवर्त्तन का कारण 'आर्थिक' तथा 'यान्त्रिक' बतलाता है, परन्तु वह कहता है कि इन परिवर्त्तनों की दिशा समाज में दो वर्ग--धनी तथा निर्धन--बनाने की तरफ़ है। जहाँ तक इन दोनों के विचारों का आधार एक ही है, वहाँ तक दोनों 'आर्थिक' अथवा 'यान्त्रिक'-भाग्य-निर्णय-वादी (Determinists) हैं।

४. आर्थिक तथा यान्त्रिक भाग्य-निर्णय के सिद्धान्त की समीक्षा

तो क्या यह बात ठीक है कि आर्थिक तथा यान्त्रिक कारण ही सामाजिक-परिवर्तनों का अन्तिम तौर पर निर्णय कर देते हैं, सामाजिक-परिवर्त्तनों की स्वतन्त्र रूप में कोई सत्ता नहीं है, आर्थिक तथा यान्त्रिक-परिवर्त्तन पहले होते हैं, सामाजिक परिवर्त्तन बाद को होते हैं, पहले परिवर्त्तन 'कारण' हैं, दूसरे परिवर्त्तन 'कार्य' हैं।

(क) यह तो माना जा सकता है कि आर्थिक तथा यान्त्रिक परिवर्त्तन बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु ये 'कारण' हैं और सामाजिक-परिवर्त्तन 'कार्य' हैं--यह तो हमने ऊपर जो-कुछ लिखा है, उसमें से किसी बात से सिद्ध नहीं होता। यह ठीक है कि इन दोनों का 'पारस्परिक-सम्बन्ध' (Correlation) है, समाज में ये एक-साथ काम करते हुए दीखते हैं, परन्तु वह सम्बन्ध 'कार्य-कारण-सम्बन्ध' (Causal relation) है, 'सम-सत्ताक-सम्बन्ध' (Concomitant) नहीं--इसमें क्या युक्ति है? उदाहरणार्थ, 'सेल्फ़-स्टार्टर' के यान्त्रिक-आविष्कार के बाद स्त्रियों ने मोटर चलाना ख़ूब शुरू कर दिया--यह हम देख चुके हैं। यह कहना कि 'सेल्फ़-स्टार्टर' का आविष्कार स्त्रियों के मोटर चलाना सीखने में कारण है, ग़लत

है। कारण तो यह तब होता अगर हम सिद्ध कर सकते कि अगर यह आविष्कार न होता, तो स्त्रियाँ मोटर चलाती ही नहीं। पर ऐसी बात कौन कह सकता है? स्त्रियों में एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की, मेल-जोल की जो प्रबल भावना है, उससे वे हैंडल चलाना ही शुरू कर देतीं, या और कोई उपाय निकाल लेतीं। इसके अतिरिक्त, यह क्यों न माना जाय कि जल्दी-जल्दी जगह-से-जगह जाने की सामाजिक-इच्छा ने 'सेल्फ़-स्टार्टर' को जन्म दिया? इस दृष्टि से आर्थिक एवं यान्त्रिक आविष्कारों तथा सामाजिक-परिवर्त्तनों का आपस का सम्बन्ध 'कारण-कार्य' (Cause and effect) का सम्बन्ध मानने की अपेक्षा यह मानना अधिक युक्ति-युक्त है कि इन दोनों की सत्ता एक काल में दीख पड़ती है, इनका 'सम-सत्ताक-सम्बन्ध' (Concomitant relation) है, 'सम-सत्ताक', अर्थात् जिन दो बातों की एक ही समय में साथ-साथ सत्ता हो, जो आगे-पीछे नहीं, एक-साथ हों।

(ख) वेबलन का यह कहना तो ठीक है कि 'आदतों का पड़ना' (Habituation) सिद्ध करता है कि मनुष्य जो-कुछ बनेगा उसका निर्णय पर्यावरण करता है, इसी प्रकार समाज जो-कुछ बनेगा उसका भी निर्णय आर्थिक तथा यान्त्रिक पर्यावरण करता है। परन्तु आजकल तो वर्त्तमान पाश्चात्य-सभ्यता के प्रभाव के कारण सब जगह एक-सा आर्थिक तथा यान्त्रिक-पर्यावरण उत्पन्न हो गया है, फिर सब जगह का समाज भिन्न-भिन्न क्यों है? अगर पर्यावरण ही समाज की रचना का निर्णय करता है, तो अब तो इस सभ्यता ने सारे संसार में एक-सा ही पर्यावरण उत्पन्न कर दिया है। एक-ही-से रेल, तार, मोटर, हवाई जहाज़, एक-ही-से अमीर-ग़रीब के भेद, फिर एक समाज दूसरे को धरती पर से मलियामेट करने के मनसूबे क्यों बाँधने लगता है? जातियों के उत्थान और पतन में, उनके सोचने और विचारने में, जातियों की आवश्यकता में आर्थिक और यान्त्रिक कारण होते हैं, इससे इंकार नहीं किया जा सकता, परन्तु इन कारणों के अतिरिक्त दूसरे भी कई कारण होते हैं, इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता। ऐसे भी देश हैं जिनकी सभ्यता परमार्थवादी रही है, पारलौकिक रही है। भारत का दृष्टिकोण सदा पारलौकिक दृष्टि-कोण रहा है। यह सब सिद्ध करता है कि समाज के परिवर्त्तनों का निर्णय आर्थिक और यान्त्रिक कारणों से ही नहीं होता, समाज स्वयं भी अपने भाग्य का निर्णय किया करता है।

(ग) यह कहना कि पर्यावरण ही समाज को बनाता है उतना ही ग़लत है जितना यह कहना कि समाज पर्यावरण को बनाता है। सत्य यह है कि पर्यावरण का समाज की रचना पर प्रभाव पड़ता है, और समाज की रचना का पर्यावरण पर प्रभाव पड़ता है। हम नहीं कह सकते कि एक कारण है, दूसरा कार्य है, यही कहना युक्तियुक्त है कि दोनों एक-साथ हैं। यह ठीक है कि अच्छी ज़मीन होगी, तो अच्छा पेड़ उगेगा, परन्तु बीज की भी अपनी कोई हस्ती है, या नहीं? बीज अपने में स्वयं एक संसार है, उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है,

उसकी अपनी वंश-परम्परा है। आम के बीज से जामन नहीं पैदा होगा—पर्यावरण कितना ही जोर मार ले, ऐसा नहीं होगा। बीज और जमीन इन दोनों में से मुख्य कौन-सा तत्त्व है? बीज या जमीन? असली चीज तो बीज है—फिर इसके विषय में यह कहना कि पर्यावरण ही इसे जो-कुछ बनायेगा वह वही-कुछ बनेगा, कहाँ-तक ठीक है? ऐसा क्यों न कहा जाय कि बीज की अपनी जो स्वतंत्र सत्ता है उसी को लक्ष्य में रखकर यह पर्यावरण के प्रति प्रतिक्रिया करता है। संसार की हर-एक वस्तु का अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है। पृथिवी बाहर के प्रभावों से ही नहीं, अपने व्यक्तित्व के कारण, अन्दर से, अपने-आप भी बदल रही है, आस्मान के तारे, चन्द्र, सूर्य—इन सब पर बाहर का, पर्यावरण का प्रभाव पड़ रहा है, परन्तु इनके भीतर से भी इनके अपने-अपने परिवर्त्तन हो रहे हैं। तो फिर कैसे मान लिया जाय कि मानव-समाज को सिर्फ़ बाहर के, पर्यावरण के परिवर्त्तन ही प्रभावित कर रहे हैं, इसके अपने भीतर से कोई परिवर्त्तन नहीं उठ रहे? समाज-शास्त्र में, 'पर्यावरण ही समाज का भाग्य-निर्णय करता है'—यह कहने वाले जैसे 'भाग्य-निर्णय-वादी' (Determinists) हैं, वैसे 'पर्यावरण नहीं, समाज अपने-आप अपना भाग्य-निर्णय करता है'—ऐसा कहने वाले 'पुरुषार्थ निर्णय-वादी' (Anti-determinists) भी हैं। उनका कहना है कि ग्रीस सभ्यता के शिखर पर पहुँचा, कौन-सा भौतिक पर्यावरण था जिससे वह इतने उन्नत विचारों को जन्म दे सका? ग्रीस के विद्वान् पर्यावरण के परिणाम नहीं थे, अपनी प्रतिभा लेकर पैदा हुए थे।

जैसा हमने देखा, इन दोनों दृष्टियों में समन्वयात्मक-दृष्टि ही सही दृष्टि है। न यह कहना ठीक है कि आविष्कार ही सब-कुछ है, न यह कहना ठीक है कि समाज ही सब-कुछ है। बीज और जमीन के मेल से वृक्ष उगता है, आविष्कारों की जमीन और समाज की अन्तःप्रेरणाओं के बीज से ही सामाजिक-परिवर्त्तनों में से गुजरता हुआ समाज-रूपी विशाल-वृक्ष खड़ा होता है—यही सत्य-दृष्टि है।

प्रश्न

१. यान्त्रिक-आविष्कारों का सामाजिक-परिवर्त्तनों और सामाजिक-परिवर्त्तनों का यान्त्रिक-आविष्कारों पर क्या प्रभाव है, यह दृष्टान्त देकर समझाइये।

२. एक यान्त्रिक-आविष्कार के अनेक सामाजिक-परिणाम और अनेक यान्त्रिक-आविष्कारों के एक सामाजिक-परिणाम का दृष्टान्त दीजिये।

३. 'प्राविधिक' या 'यान्त्रिक-आविष्कार' (Technological inventions) तथा 'सामाजिक-आविष्कार (Social inventions) का अर्थ समझाइये।

४. 'आर्थिक' एवं 'प्राविधिक' या 'यान्त्रिक'-भाग्य-निर्णय के सिद्धान्त (Economic or Technological Determinism) का क्या अर्थ है?

५. कार्ल-मार्क्स तथा वेबलन के 'भाग्य-निर्णय-वाद' (Determinism) का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है ?

६. कार्ल-मार्क्स ने 'आर्थिक-भाग्य-निर्णय' के सिद्धान्त को अपनी विचार-धारा में कैसे प्रकट किया है ?

७. 'आर्थिक-कारण' समाज को किस प्रकार प्रभावित करते हैं ? 'आर्थिक-कारणों' को 'यान्त्रिक-आविष्कार' क्या सहायता पहुँचाते हैं ?

८. वेबलन का कथन है कि 'आदतों का पड़ जाना (Habituation)--यह सिद्ध करता है कि मनुष्य परिस्थिति का ही परिणाम है।' इस कथन को स्पष्ट कीजिये।

९. 'कार्य-कारण-सम्बन्ध' (Causal relation) तथा 'सम-सत्ताक-सम्बन्ध' (Concomitant relation) का अर्थ समझाते हुए यह बतलाइये कि आर्थिक एवं यान्त्रिक-परिवर्त्तनों का सामाजिक-परिवर्त्तनों के साथ इन दोनों में से कौन-सा सम्बन्ध है ?

१०. 'आर्थिक' तथा 'यान्त्रिक'-भाग्य-निर्णय-वाद (Determinism) की समीक्षा करते हुए 'पुरुषार्थ-निर्णय-वादियों' (Anti-determinists) का क्या कथन है--यह भी स्पष्ट कीजिये।

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. सामाजिक-परिवर्त्तन कहाँ तक 'प्राविधिक-कारणों' (Technological Factors) पर आश्रित है ? उदाहरण देकर समझाइये।
(लखनऊ, १९५३)

२. प्राविधिक तथा सांस्कृतिक विलम्बना पर टिप्पणी दीजिये।
(आगरा, १९५१, १९५६)

३. सामाजिक-परिवर्त्तन किस सीमा तक आर्थिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है ? (लखनऊ, १९५५)

४. इस बात को समझाइये कि कैसे (क) प्राविधिक-परिवर्त्तन सांस्कृतिक परिवर्त्तनों को प्रभावित करते हैं, और (ख) सांस्कृतिक परिवर्त्तन प्राविधिक परिवर्त्तनों की दिशा और प्रकृति को प्रभावित करते हैं।
(आगरा, १९५६)

५. आर्थिक-जीवन में उत्पादन का प्रकार कैसे एक समाज की सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं को प्रभावित करता है ?
(राजस्थान, १९५६)

६. सामाजिक जीवन पर प्राविधिक-प्रगति के प्रभावों का भारतीय उदाहरण देकर वर्णन कीजिये। (लखनऊ, १९५६)

१२

सामाजिक-परिवर्त्तनों पर सांस्कृतिक-प्रभाव

(CULTURAL FACTORS AFFECTING SOCIAL CHANGE)

हमने देखा कि सामाजिक-परिवर्त्तनों को लाने में 'प्राणि-शास्त्रीय-तत्त्वों' (Biological factors) का क्या प्रभाव है, हमने यह भी देखा कि इन्हें लाने में 'प्राविधिक' अर्थात् 'यान्त्रिक-तत्त्वों' (Technological factors) का क्या प्रभाव है, इस अध्याय में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि समाज में जो परिवर्त्तन होते हैं, उन्हें लाने में 'संस्कृति के तत्त्वों' (Cultural factors) का क्या प्रभाव है? इससे पहले कि हम सीधा इस विषय पर आयें, यह जान लेना आवश्यक है कि 'संस्कृति' (Culture) क्या है, एवं 'संस्कृति' (Culture) तथा 'सभ्यता' (Civilization) में क्या भेद है?

१. 'संस्कृति' क्या है?

मनुष्य इकला नहीं रहता। इसके दो कारण हैं। एक है--'पर्यावरण' (Environment), दूसरा है 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity)। 'पर्यावरण' के कठोर थपेड़ों का यह इकला मुकाबिला नहीं कर सकता। कभी खाने को मिलता है, कभी नहीं मिलता, कभी भयंकर सर्दी है, कभी भयंकर गर्मी। खाना पैदा करने के लिए, सर्दी-गर्मी से रक्षा के हेतु झोंपड़ी-मकान बनाने के लिए उसे दूसरों की सहायता की जरूरत पड़ती है। 'पर्यावरण' के अतिरिक्त 'वंशानुसंक्रमण' की अनेक बातों के कारण भी वह इकला नहीं रह सकता। कोई व्यक्ति पैदायश से ही कमजोर है, कोई बलवान्, कोई असमर्थ है, कोई समर्थ। कमजोर बलवान् के सहारे अपनी जीवन-रक्षा करता है, असमर्थ समर्थ से सहायता पाकर जीवित रहता है। जब इन दोनों कारणों से मनुष्य इकला नहीं रह सकता, तो वह 'समूह' (Group) बनाता है। 'समूह' बनाने के बाद प्रत्येक मनुष्य दूसरे 'मनुष्य' तथा 'समूह' के साथ यूँ-ही, ऊट-पटांग नहीं बरतता, किन्तु एक खास ढंग से बरतता है। अगर कोई व्यक्ति हमसे मिलता है, तो हम उसकी चोटी पकड़कर नहीं खींचने लगते, उससे हाथ मिलाते हैं, कुछ मुस्कराते हैं, उसका हाल-चाल पूछते हैं। जब हम किसी समूह में जाते हैं, वहाँ सब बैठे हुए हों, तो सब के साथ जाकर हम बैठ जाते ह, खड़े हुए हों, तो सब के साथ खड़े हो जाते हैं। सब खड़े हों और हम जाकर बैठ जाँय, सब बैठे हों और हम जाकर खड़े हो जाँय---ऐसा नहीं करते।

समाज में रहते-रहते प्रत्येक व्यक्ति वैसा व्यवहार करने लगता है जैसा व्यवहार समाज से उसने सीखा होता है। माता, पिता, गुरु—ये सब समाज के ही अंग हैं। इनसे हम पढ़ना, लिखना, बोलना, गाना तथा अन्य सब व्यवहार सीखते हैं। यह-सब व्यवहार हमने प्रकृति से नहीं सीखा होता, अपने साथ के दूसरे व्यक्तियों से सीखा होता है। 'व्यक्ति' का 'व्यक्ति' के साथ, 'व्यक्ति' का 'समूह' के साथ, जो समाज में रहकर सीखा हुआ व्यवहार है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी सामाजिक-परम्परा के रूप में, 'सामाजिक-विरासत' (Social heritage) के रूप में हम तक पहुँचा है, उसी को--'संस्कृति' (Culture)--कहा जाता है। उदाहरणार्थ, पिता, माता, बच्चे--ये 'व्यक्ति' हैं, इनके मिलने से 'परिवार' एक प्रकार का 'समाज' बनता है। इस समाज में पिता का माता के साथ, बच्चों का पिता तथा माता के साथ —हर व्यक्ति के साथ जो व्यवहार है, वह 'संस्कृति' कहलाता है। इनमें से एक-एक व्यक्ति का सारे परिवार के साथ भी एक प्रकार का व्यवहार बनता है--यह भी 'संस्कृति' है। संसार में भिन्न-भिन्न प्रकार के समाज तथा समुदाय हैं, परन्तु 'परिवार' सब समुदायों में पाया जाता है। जंगली जातियों में भी 'परिवार' है, सभ्य जातियों में भी 'परिवार' है। किसी समाज के परिवार में पुरुष स्त्री को अपने पैर की जूती समझता है, किसी में पुरुष और स्त्री के अधिकार बराबर समझे जाते हैं, किसी समाज के परिवार में लड़की को पैदा होते ही मार दिया जाता है, किसी में मारने वाले को जेल हो जाती है। 'परिवार' तो एक ही वस्तु है, संसार के सभी परिवारों में माताएँ हैं, पिता हैं, बच्चे हैं, परन्तु एक समाज में 'परिवार' की प्रथाएँ, उसका बर्ताव, उसका व्यवहार एक तरह का है, दूसरे समाज में दूसरी तरह का। 'परिवार' की रचना संसार भर में एक ही तरह की होते हुए भी जिस वस्तु के कारण, जिस सामाजिक परम्परा और सामाजिक-विरासत के कारण सब परिवारों का व्यवहार भिन्न-भिन्न तरह का होता है, वही उस-उस समाज की 'संस्कृति' (Culture) है। 'संस्कृति' सीखा हुआ व्यवहार है, प्रकृति से मनुष्य को मिला हुआ व्यवहार नहीं। साँस लेना, हाथों से पकड़ना, पैरों से चलना--यह सब सीखा हुआ व्यवहार नहीं है, प्रकृति से मनुष्य को मिला हुआ व्यवहार है। इसे 'संस्कृति' नहीं कहा जाता। हाँ, प्राणायाम, हाथों और पैरों से आसन तथा व्यायाम सीखा हुआ व्यवहार है, अतः साँस लेना तो 'संस्कृति' नहीं, परन्तु प्राणायाम 'संस्कृति' है, हाथ-पैर चलाना तो 'संस्कृति' नहीं, आसन तथा व्यायाम 'संस्कृति' है क्योंकि ये सीखी हुई बातें हैं।

'संस्कृति' को पूरी तरह समझने के लिए हमें 'संस्कृति' से सम्बन्ध रखने वाले तीन तत्त्वों को समझ लेना होगा। वे तीन तत्त्व हैं :--

(क) संस्कृति-प्रतिमान (Culture pattern),

(ख) संस्कृति-संकुल (Culture complex),

(ग) संस्कृति का विशिष्ट गुण (Culture trait)।

(क) 'संस्कृति-प्रतिमान' (Culture pattern)—हमने अभी कहा था कि 'परिवार' की रचना संसार भर में एक-सी है, परन्तु भिन्न-भिन्न समुदायों में 'परिवार' का व्यवहार भिन्न-भिन्न होता है। भारत के 'परिवार' में स्त्री दबी हुई रहती है, रसोई-चौका-चूल्हा ही अपना क्षेत्र समझती है, अमेरिका के 'परिवार' में वह दफ्तर में काम करती है, पुरुष के हर-क्षेत्र को अपना क्षेत्र समझती है। यह भिन्नता क्यों है? यह भिन्नता इसलिए है क्योंकि भारत की 'संस्कृति' का स्त्री के सम्बन्ध में अपना एक धुन्धला-सा 'आदर्श-नक्शा', एक 'मान', एक नमूना' बना हुआ है, वंश-परम्परा द्वारा सदियों से वह 'आदर्श-नक्शा', वह 'मान', वह 'नमूना' हमारी 'सामाजिक-विरासत' के तौर पर चलता चला आ रहा है। शास्त्रों को न जानता हुआ भी प्रत्येक हिन्दू यह जानता है कि उसकी 'संस्कृति' इस-इस तरह की है, इसके अनुकूल चलना और इसके प्रतिकूल न चलना ही उसके लिए उचित है। जिस प्रकार एक भारतीय के मन में स्त्री के सम्बन्ध में एक 'नक्शा', एक 'मान', एक 'नमूना' सामाजिक-विरासत के तौर पर चलता चला आ रहा है, उसी प्रकार एक अमरीकन के मन में भी स्त्री के सम्बन्ध में एक 'नक्शा', एक 'मान', एक 'नमूना' बना हुआ है। इस 'नमूने' को सामने रख कर हम भारतीय अथवा अमरीकन स्त्री के सम्बन्ध में अपने विचार बनाते हैं। संस्कृति की इसी 'आदर्श-कल्पना' को, इसी 'मान' को, इसी 'नमूने' को जिसकी तुलना में हम अपने व्यवहार को ठीक या ग़लत कहते हैं, 'संस्कृति-प्रतिमान' (Culture pettern) कहा जाता है। 'प्रतिमान' (Pattern) का अर्थ है मापने का वह पैमाना जिसके द्वारा हम अपने व्यवहार को सही या ग़लत कहा करते हैं, इसी के द्वारा हर वस्तु का मूल्य ठहराया करते हैं, इसको तो हम सही मानकर चलते हैं, दूसरी चीज़ों को इसके अनुकूल होने पर सही और प्रतिकूल होने पर ग़लत कहा करते हैं।

(ख) 'संस्कृति-संकुल' (Culture complex)—प्रत्येक वस्तु के कुछ हिस्से होते हैं, उन हिस्सों के मिलने से ही वह वस्तु बनती है। 'संस्कृति-प्रतिमान' (Culture pattern) के भी अपने हिस्से हैं, इन हिस्सों को 'संस्कृति-संकुल' (Culture complex) कहते हैं। 'घुड़सवार सेना' का निर्माण एक 'संस्कृति-प्रतिमान' (Culture pattern) है, परन्तु इसमें घोड़ों की शिक्षा, अच्छे घोड़ों की नस्ल पैदा करना आदि उस 'प्रतिमान' (Pattern) के हिस्से हैं। ये हिस्से कई हैं, अलग-अलग हैं, और सब मिलकर संस्कृति के 'प्रतिमान' (Pattern) को बनाते हैं। इनमें से अलग-अलग हिस्से को 'संस्कृति-संकुल' कहते हैं।

(ग) 'संस्कृति के विशिष्ट-गुण' (Culture traits)—जैसे हर-एक वस्तु के हिस्से, और हिस्सों के अन्य छोटे-छोटे हिस्से होते हैं, वैसे 'संस्कृति' के 'प्रतिमान' (Pattern) के हिस्सों को 'संकुल' (Complex) और 'संकुल' के हिस्सों को 'विशिष्ट-गुण' (Traits) कहते हैं। 'घुड़-सवार सेना' को 'संस्कृति-प्रतिमान' कह सकते हैं, लड़ाई के लिए घोड़ों को साधने को 'संस्कृति-संकुल' कह सकते हैं, घोड़े की नाल, घोड़े की चाबुक, घोड़े की लगाम—इन सब को, अलग-अलग,

'संस्कृति का विशिष्ट-गुण' कह सकते हैं। ये 'विशिष्ट-गुण' (Traits) 'संस्कृति' की इकाइयाँ हैं। 'विशिष्ट-गुणों' (Traits) के मिलने से 'संकुल', और 'संकुलों' (Complexes) के मिलने से 'प्रतिमान' (Pattern) बनते हैं।

जब हम कहते हैं कि 'सांस्कृतिक-तत्त्वों' (Cultural factors) का सामाजिक-परिवर्त्तनों पर प्रभाव पड़ता है, तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि 'संस्कृति के विशिष्ट-गुण' (Culture traits) 'संस्कृति-संकुल' (Culture Complexes) को प्रभावित करते हैं, 'संस्कृति-संकुल' (Culture complexes) 'संस्कृति-प्रतिमान' (Culture pattern) को प्रभावित करते हैं, और 'संस्कृति-प्रतिमान' समाज के अन्य सभी परिवर्त्तनों को प्रभावित करते हैं।

२. 'सभ्यता' क्या है ?

'संस्कृति' (Culture) तथा 'सभ्यता' (Civilization)—इन शब्दों के प्रयोग में अक्सर गड़बड़ हो जाती है, अतः इन दोनों के भेद को समझने के लिए यह भी जान लेना आवश्यक है कि 'सभ्यता' क्या है ?

हमने देखा कि 'संस्कृति' एक ऐसी वस्तु है जिसके मूल्य का निर्धारण हम नहीं करते, जिसका अपना ही मूल्य है। यह हमारे जीवन के सारे व्यवहार को बनाती रहती है। 'संस्कृति' के सम्बन्ध में हम यह नहीं सोचते कि यह स्वयं ठीक है, या ग़लत। यह जो-कुछ भी है, ठीक या ग़लत, यह हमारे जीवन के प्रवाह का उद्‌गम-स्रोत है। अच्छी है, बुरी है, या कैसी भी है, यह हमारी है क्योंकि हमारी 'सामाजिक-विरासत' (Social heritage) का यह मूर्त्त रूप है। यह तो हमारे सामने एक 'प्रतिमान' (Pattern) उपस्थित कर देती है, एक तरह का हमारे हाथ में पैमाना दे देती है, हम जो-कुछ भी करते हैं, इस पैमाने से, 'प्रतिमान' (Pattern) से माप कर देख लेते हैं, जो व्यवहार इसके अनुकूल बैठता है, वह ठीक, जो अनुकूल नहीं बैठता, वह ग़लत। जिस देश की कोई 'संस्कृति' होती है, वह देश उस 'संस्कृति' का संस्कृति के तौर पर मूल्यांकन नहीं करता। दूसरे लोग भले ही बहस करते रहें कि वह संस्कृति अच्छी है या बुरी, वह देश स्वयं तो इस बात को मानकर चलता है कि उसकी 'संस्कृति' आदर्श है, वह देश अपने अन्य सारे व्यवहार की परख, अपने सारे व्यवहार का मूल्य, इस 'संस्कृति' के द्वारा आँकता है, ठीक इस तरह जैसे एक दर्ज़ी फ़ुटे को तो एक पैमाना मानकर चलता है, उसके विषय में बहस नहीं करता, परन्तु जिस कपड़े को भी मापता है उसे फ़ुटे के द्वारा मापता है, अगर कपड़ा उस माप से ठीक बैठता है, तो ठीक, नहीं बैठता, तो ग़लत। 'संस्कृति' किसी वस्तु के लिए 'साधन' (Means) नहीं, वह स्वयं तो 'साध्य' (End) है, साधन का मूल्य आँका जाता है, वह ठीक है या ग़लत, यह देखा जाता है, साध्य का मूल्य नहीं आँका जाता। 'संस्कृति' की तुलना में 'सभ्यता' स्वयं साध्य नहीं साधन है, इसलिए 'सभ्यता' के विषय में सोचा जाता है कि संस्कृति के पैमाने को सामने रखते हुए इसका कोई मूल्य है या नहीं ?

'संस्कृति' का अपना मूल्य है, 'सभ्यता' का संस्कृति के द्वारा मूल्य है, अपना कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं। सभ्यता का स्वतंत्र 'मूल्य' नहीं होता, इसकी तो स्वतंत्र 'उपयोगिता' होती है। टाइप राइटर, प्रेस, फ़ैक्टरी, कुर्सी, मेज, मकान, गाड़ी, मोटर—ये सब साध्य नहीं, साधन हैं, 'संस्कृति' के नहीं, 'सभ्यता' के निर्देशक हैं, इनका मूल्य अपने में कुछ नहीं, जहाँ तक इनकी उपयोगिता है वहीं तक इनका मूल्य है, जहाँ इनकी उपयोगिता नहीं रही, वहाँ इनका मूल्य कुछ नहीं रहता। अच्छी-से-अच्छी मोटर जहाँ काम की न रहे वहाँ उसे मट्टी के भाव भी कोई लेने को तैयार नहीं होता। इसी लिए हम कहते हैं कि 'सभ्यता' को 'उपयोगिता' (Utility) से परखा जाता है, जब कोई वस्तु उपयोगी नहीं रहती तब वह 'सभ्यता' के क्षेत्र में भी नहीं रहती, बेकार हो जाती है, 'संस्कृति' को 'उपयोगिता' से नहीं परखा जाता।

अभी हमने जो-कुछ विचार किया उस दृष्टि से 'संस्कृति' (Culture) तथा 'सभ्यता' (Civilization) की तुलना के सम्बन्ध में निम्न बातें कही जा सकती हैं:—

३. 'संस्कृति' तथा 'सभ्यता' की तुलना

(क) सभ्यता उपयोगिता का माप तथा संस्कृति मूल्यांकन करती है—'सभ्यता' किसी उद्देश्य को प्राप्त करने का 'साधन' है, इसलिए इसे मापा जा सकता है। बैलगाड़ी के द्वारा हम एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचते हैं, मोटर के द्वारा भी हम एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचते हैं। बैलगाड़ी तथा मोटर दोनों किसी लक्ष्य तक पहुँचने के 'साधन' हैं। बैलगाड़ी के द्वारा हम जहाँ जाना हो वहाँ देर में पहुँचते हैं, मोटर द्वारा जल्दी—इस दृष्टि से मोटर बैलगाड़ी की अपेक्षा ज्यादा कार्य-क्षमता, ज्यादा उपयोगिता वाली है। गति और चाल के पैमाने से हम बैलगाड़ी और मोटर दोनों की कार्य-क्षमता और उपयोगिता को माप सकते हैं। अगर बैलगाड़ी घंटे में ६ मील और मोटर ३० मील की रफ़्तार से चलती है, तो हम यह कह सकते हैं कि मोटर बैलगाड़ी से ५ गुणा अधिक उपयोगी और कार्य-क्षम है। 'सभ्यता' की वस्तुओं में 'साधन' का माप-तोल की दृष्टि से विचार हो सकता है। परन्तु 'साधन' (Means) जिस 'साध्य' (End) को पूरा करता है उसके विषय में हम किस दृष्टि से विचार करते हैं? 'साध्य' का अर्थ है—'लक्ष्य'। 'साधन' के विषय में तो पूछा जा सकता है कि वह उपयोगी है या नहीं, अपने लक्ष्य को सिद्ध करता है या नहीं, परन्तु 'लक्ष्य' के विषय में तो यह नहीं पूछा जा सकता है कि वह उपयोगी है या नहीं। 'साध्य' अर्थात् 'लक्ष्य' (End) की उपयोगिता अथवा कार्य-क्षमता नहीं देखी जाती, उसके द्वारा हर पदार्थ का 'मूल्य' (Value) आँका जाता है, उसके द्वारा 'मूल्यांकन' (Valuation) किया जाता है, यह पूछा जाता है कि हम जो-कुछ कर रहे हैं वह हमारे 'लक्ष्य' के अनुकूल है या प्रतिकूल? हाईड्रोजन-बॉम्ब एक साधन है, इससे

बड़े-बड़े शहर एक सेकण्ड में राख किये जा सकते हैं, गोली-बारूद से यह विनाश के क्षेत्र में ज्यादा उपयोगी, ज्यादा कार्य-क्षम है, परन्तु प्रश्न उठ सकता है कि विनाश का समाज के जीवन में क्या मूल्य है, इसका क्या लाभ, क्या फ़ायदा है? 'उपयोगी' तथा 'लाभप्रद'——इन दोनों प्रश्नों में क्या भेद है? 'उपयोगी' वह कार्य-क्षमता की दृष्टि से होगा, लाभ उसका आदर्श की दृष्टि से होगा। जहाँ तक हम हाईड्रोजन बॉम्ब पर विनाश के साधन के तौर पर 'उपयोगिता' की दृष्टि से विचार करते हैं, वहाँ तक हम 'सभ्यता' की दृष्टि से विचार कर रहे हैं, जहाँ हमने इसके मूल्य, इसके फ़ायदे पर 'आदर्श' की दृष्टि से विचार करना शुरू किया, वहाँ 'संस्कृति' के क्षेत्र में प्रवेश कर गये। 'संस्कृति' का काम 'मूल्यांकन' (Valuation) है——अपना नहीं, अपने पैमाने से सभ्यता का। संसार की संस्कृतियाँ भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए एक 'संस्कृति' की दृष्टि से हाईड्रोजन-बॉम्ब अत्यन्त मूल्यवान् वस्तु हो सकती है, दूसरी 'संस्कृति' की दृष्टि से अत्यन्त गर्हित वस्तु हो सकती है, परन्तु इसकी उपयोगिता या कार्य-क्षमता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। 'संस्कृति' की दृष्टि से यह मूल्यवान् हो, या गर्हित हो——'सभ्यता' की दृष्टि से यह 'कारगर' तो है ही। यह हो सकता है कि 'सभ्यता' की दृष्टि से एक वस्तु अत्यन्त ऊँची हो, उपयोगी हो, और 'संस्कृति' की दृष्टि से वह अत्यन्त नीची हो, मूल्यहीन हो। हाईड्रोजन-बॉम्ब 'सभ्यता' की दृष्टि से बड़ी ऊँची चीज़ है, भारत की आध्यात्मिक 'संस्कृति' की दृष्टि से यह अत्यन्त नीची चीज़ है। हम पहले कह चुके हैं कि कोई देश अपने 'संस्कृति-प्रतिमान' (Culture pattern) का मूल्य नहीं आँकता, उसे तो वह आदर्श समझ कर ही चलता है, परन्तु उसके माप से अन्य वस्तुओं का मूल्य आँकता है। युरोप की हिंसात्मक संस्कृति के 'प्रतिमान' (Pattern) के अनुसार हाईड्रोजन-बॉम्ब का मूल्य ऊँचा हो सकता है, भारत की अहिंसात्मक संस्कृति के 'प्रतिमान' (Pattern) के अनुसार इसका मूल्य नीचा हो सकता है। कोई संस्कृति अपना मूल्य अपने-आप तो नहीं आँकती, परन्तु अन्य हर-वस्तु का मूल्य अपने 'प्रतिमान' (Pattern) के अनुसार, अपनी आदर्श-कल्पना के अनुसार, अपने माने हुए फीते के अनुसार मापती रहती है। जब हम किसी दूसरी संस्कृति के साथ अपनी संस्कृति की तुलना करते हैं, या अपनी संस्कृति का स्वतंत्र मूल्य आँकने लगते हैं, तब हम साधारण व्यवहार के क्षेत्र में नहीं रहते, दार्शनिक-क्षेत्र में चले जाते हैं; जबतक व्यवहार के क्षेत्र में रहते हैं, तबतक अपनी संस्कृति को आदर्श मानकर ही चलते हैं।

(ख) सभ्यता आगे-आगे बढ़ती और संस्कृति कभी बढ़ती, कभी रुकती, कभी लौटती है——'सभ्यता' सदा आगे-आगे बढ़ती जाती है, 'संस्कृति' कभी बढ़ती, कभी घटती है। बैलगाड़ी के बाद घोड़ा-गाड़ी, घोड़ा-गाड़ी के बाद रेल-गाड़ी, रेल-गाड़ी के बाद मोटर, मोटर के बाद हवाई-जहाज——'सभ्यता' में यह आगे-आगे की दौड़ ही होती है, यह नहीं होता कि पहले हवाई जहाज का आविष्कार हुआ, बाद को मोटर का, बाद को रेल का, बाद को घोड़ा-गाड़ी का, और

बाद को बैल-गाड़ी का। यह ठीक है कि ईजिप्ट के पिरैमिड 'सभ्यता' के जिन साधनों से खड़े किये गये थे, वे लुप्त हो गये, और उनका आगे-आगे विकास होता नज़र नहीं आया। ईजिप्ट की 'सभ्यता' के बाद, 'सभ्यता' आगे बढ़ने के स्थान में पीछे लौटी, परन्तु ऐसा तभी होता है जब किन्हीं आकस्मिक-कारणों से 'सभ्यता' का विनाश हो जाय, लोप हो जाय, अन्यथा ऐसा नहीं होता। 'संस्कृति' के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह आगे-आगे ही बढ़ती जाती है। क्योंकि हमारे जीवन के 'मूल्य' (Values) बदलते रहते हैं इसलिए 'मूल्यांकन' (Valuation) की दृष्टि भी बदलती रहती है, और इसके साथ-साथ 'संस्कृति' कभी आगे बढ़ती, कभी पीछे लौटती है। मोटर के बाद बैलगाड़ी नहीं बनती, परन्तु कालिदास के बाद कालिदास से उच्च-कोटि के कवि ही पैदा हों—यह ज़रूरी नहीं। मोटर 'सभ्यता' को सूचित करती है, कालिदास के काव्य 'संस्कृति' को सूचित करते हैं।

(ग) सभ्यता बिना प्रयत्न के और संस्कृति विशेष प्रयत्न से ग्रहण की जाती है—'सभ्यता' को अगली सन्तति बिना किसी विशेष प्रयत्न के ग्रहण कर लेती है, परन्तु 'संस्कृति' को ग्रहण करने में उसे विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। मोटर, हवाई-जहाज़, बन गये, अब मूर्ख-से-मूर्ख उन पर चढ़कर संसार की सैर कर सकता है। उसके लिए उस सब अगाध ज्ञान को प्राप्त करना ज़रूरी नहीं है जिससे ये चीज़ें बनी हैं। परन्तु उच्च कोटि के संगीत का आनन्द उठाने के लिए संगीतज्ञ बनने की अवश्यकता है, उच्च-कोटि की कला के मूल्य को समझने के लिए कला-विज्ञ होना ज़रूरी है। 'सभ्यता' बिना प्रयत्न के और 'संस्कृति' 'विशेष-प्रयत्न' से ग्रहण की जाती है।

(घ) सभ्यता के लिए साधारण तथा संस्कृति के लिए असाधारण योग्यता की आवश्यकता है—इसके अतिरिक्त 'सभ्यता' के साधनों का जिन लोगों ने आविष्कार किया, वे बड़े दिमाग़ के व्यक्ति थे, प्रतिभाशाली थे। उनसे छोटी प्रतिभा रखते हुए भी कोई व्यक्ति उन आविष्कारों में सुधार कर सकता है, उन्हें आगे बढ़ा ले जा सकता है, उनमें तरक्की कर सकता है, परन्तु 'संस्कृति' में ऐसा नहीं होता। एक योगी को आत्मा की प्रसन्नता का जो आनन्द मिलता है उसे पाने के लिए उसी शिखर पर पहुँचना ज़रूरी है जिसपर योगी खड़ा है, परन्तु रेलगाड़ी की सैर करने के लिए जार्ज स्टीफन्सन-जैसा लायक बनना ज़रूरी नहीं।

(ङ) सभ्यता साधन तथा संस्कृति साध्य है—'संस्कृति' आन्तरिक है, 'सभ्यता' बाह्य है, 'संस्कृति' आत्मा है, 'सभ्यता' देह है। 'सभ्यता', एक शब्द में, 'संस्कृति' की अभिव्यक्ति का साधन है। 'संस्कृति' का अपने में स्वयं मूल्य है, 'साधन' की उपयोगिता है, या संस्कृति के द्वारा मूल्य है। रेडियो 'सभ्यता' का सूचक है, यह बाह्य है, देह है, साधन है, हमारे विचारों को संसार तक पहुँचाने में उपयोगी है; रेडियो से जो भाषण दिया जाता है, वह 'संस्कृति' का सूचक है, यह आन्तरिक है, आत्मा की अभिव्यक्ति है, साध्य है, इसकी उपयोगिता-अनुपयोगिता की जाँच नहीं होती, इसका तो संस्कृति के पैमाने से मूल्य आँका जाता

है, यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि आदर्श की दृष्टि से भाषण से समाज को लाभ हुआ या हानि, फ़ायदा हुआ या नुकसान, इस भाषण को सुनकर लोग एक-दूसरे के ज्यादा नज़दीक आये या और अधिक दूर हो गये। यह ठीक है कि बोल-चाल की भाषा में हम अक्सर कह देते हैं कि इस भाषण की क्या 'उपयोगिता' है, और रेडियो का क्या 'मूल्य' है। परन्तु यह बोलचाल की ही भाषा में कहा जा सकता है, जिसमें हम 'सभ्यता' और 'संस्कृति' के भेद को स्पष्ट देख नहीं रहे होते। उस समय भी यह कहते हुए कि इस भाषण की क्या 'उपयोगिता' है, हमारा मतलब 'मूल्य' से, तथा यह कहते हुए कि रेडियो का क्या 'मूल्य' है, हमारा मतलब 'उपयोगिता' से होता है।

(च) सभ्यता फैलती है और संस्कृति देन-लेन करती है--'सभ्यता' का विस्तार जिस तेजी से होता है, 'संस्कृति' का विस्तार उस तेजी से नहीं होता। 'सभ्यता' संसार भर में फैल जाती है, ऐसी अवस्था आ जाती है, जब एक 'सभ्यता' और अनेक 'संस्कृतियाँ' दीखने लगती हैं। रेल-तार, मोटर संसार भर में फैल गए हैं, सब जगह एक-सी रेलें, एक-से तार, एक-सी मोटरें हैं, जंगली और सभ्य जातियों में ये सब-कुछ एक-से हैं, परन्तु 'संस्कृति' सब की अलग-अलग है। इसका यह मतलब नहीं कि 'संस्कृति' नहीं फैलती, 'संस्कृतियों' का लेन-देन नहीं होता। होता है, परन्तु 'संस्कृतियाँ' जब फैलती हैं, लेन-देन करती हैं, एक 'संस्कृति' दूसरी को प्रभावित करती है, तब कुछ लेती हैं, कुछ देती हैं, कुछ स्वयं प्रभावित होती हैं, कुछ दूसरी को प्रभावित करती हैं, 'सभ्यता' तो एकदम, अगर वह दूसरी 'सभ्यता' से उच्च कोटि की है, तो दूसरों को मलियामेट कर देती है, अपना एक-छत्र राज्य जमा देती है। आज पाश्चात्य-सभ्यता का सर्वत्र राज्य है, यद्यपि हर देश की अपनी-अपनी अलग-अलग संस्कृति है।

४. संस्कृति' तथा 'सभ्यता' का एक-दूसरे पर प्रभाव

['सभ्यता' का 'संस्कृति' पर प्रभाव]

हमने देखा कि 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' एक-जैसी चीजें हैं, परन्तु फिर भी इनमें भेद है। अगर इन दोनों के लिए केवल 'संस्कृति' (Culture)-शब्द का ही प्रयोग किया जाय, तो उस दशा में हमें कहना होगा कि 'संस्कृति' दो तरह की होती है--'भौतिक' (Material) तथा 'अभौतिक' (Non-material)। ऑगबर्न ने इन्हीं दो शब्दों का प्रयोग किया है। 'भौतिक-संस्कृति' (Material culture) को 'सभ्यता' (Civilization), तथा 'अभौतिक-संस्कृति' (Non-material culture) को 'संस्कृति' (Culture) कहते हैं। 'भौतिक-संस्कृति' में रेल, तार, मोटर, मकान--ये सब साधन आ जाते हैं, 'अभौतिक-संस्कृति' में धर्म, रीति-रिवाज आदि संस्कृति की चीजें आ जाती हैं। 'भौतिक-संस्कृति' (Material culture) का ही दूसरा नाम 'सभ्यता' (Civilization) है, 'सभ्यता' का ही दूसरा नाम 'यन्त्री-करण' (Mechanization) है, 'यन्त्री-

करण' का ही दूसरा नाम 'प्राविधिक' या 'यान्त्रिक-आविष्कार' (Technological inventions) है। ऐसी अवस्था में हम दो बातें कह सकते ह। एक तो यह कि 'सभ्यता' (Civilization) का 'संस्कृति' (Culture) पर प्रभाव पड़ता है। इस बात को कहने का यह मतलब निकलता है कि 'प्राविधिक' या 'यान्त्रिक-आविष्कारों' (Technological inventions) का 'संस्कृति' (Culture) पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, छापेखाने से पुस्तकों का निर्माण हुआ, लोगों में पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ी। छापेख़ाने सभ्यता के सूचक हैं, पढ़ना-लिखना संस्कृति का सूचक है। यह 'यान्त्रिक-आविष्कारों' के 'संस्कृति' पर प्रभाव का दृष्टान्त है। इस बात को हम पिछले अध्याय में दिखा ही आये हैं कि किस प्रकार 'यान्त्रिक-आविष्कार' अर्थात् 'सभ्यता' का सामाजिक-व्यवहारों, अर्थात् 'संस्कृति' पर प्रभाव पड़ता है, अतः यहाँ दोबारा उसी बात को दोहराने की आवश्यकता नहीं। दूसरी बात हम यह कह सकते हैं कि 'संस्कृति' का 'सभ्यता' पर प्रभाव पड़ता है। अब हमने यह देखना है कि किस प्रकार 'संस्कृति' का 'सभ्यता', अर्थात् 'यान्त्रिक-आविष्कारों' पर प्रभाव पड़ता है।

['संस्कृति' का 'सभ्यता' पर प्रभाव]

'संस्कृति' का 'सभ्यता', अर्थात् 'यान्त्रिक-आविष्कारों' पर प्रभाव पड़ता है —यह कहने का हमारा क्या अर्थ है? 'यान्त्रिक-आविष्कारों' का 'संस्कृति' पर प्रभाव पड़ता है, यह तो हम देख ही चुके हैं, परन्तु यह समझना कि 'यान्त्रिक-आविष्कार' ही 'संस्कृति' को प्रभावित करते हैं, और 'संस्कृति' 'यान्त्रिक-आविष्कारों' को प्रभावित नहीं करती, ग़लत है। दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। निम्न बातों से स्पष्ट हो जायगा कि किस तरह 'संस्कृति' भी 'यान्त्रिक-आविष्कारों' को, दूसरे अर्थों में, 'सभ्यता' (Civilization) को, अर्थात् 'भौतिक-संस्कृति' (Material culture) को प्रभावित करती है:—

(क) लोग रेडियो, मोटर आदि यन्त्रों की उपयोगिता से ही सन्तुष्ट नहीं होते, वे यह भी चाहते हैं कि 'सभ्यता' के ये साधन 'संस्कृति' के चिह्नों से अलंकृत भी हों। भारत में मोटर के आगे स्वस्तिका का, और रशिया में हथौड़े और दरांती का चिह्न इस बात का प्रतीक है कि 'सभ्यता' की दिशा 'संस्कृति' के रंग में रंगे जाने की तरफ़ होती है। आज भी जब हम किसी बड़े भवन का निर्माण करते हैं, तो उसका उद्घाटन करते हुए यज्ञ-हवन, मन्त्र-पाठ करते हैं। ये दृष्टांत सिद्ध करते हैं कि 'यान्त्रिक-तत्त्वों' (Technological factors) पर 'सांस्कृतिक-तत्त्वों' (Cultural factors) का प्रभाव पड़ता है।

(ख) जैसा हम पहले देख आये हैं, 'संस्कृति' का काम अपने 'प्रतिमान' (Pattern) से हर-वस्तु का मूल्य आँकना है। हम अपनी 'संस्कृति' का तो मूल्य नहीं आँकते, उसे तो हम आदर्श मानकर चलते हैं, परन्तु अपनी 'संस्कृति' के 'प्रतिमान' (Pattern) से हर-वस्तु को मापने का, उसका 'मूल्यांकन' (Valua-

tion) करने का प्रयत्न करते हैं: यह जानना चाहते हैं कि हमारा जो 'सांस्कृतिक माप-दंड' (Cultural Pattern) है, उसके माप से, यह वस्तु कहाँ ठहरती है, उस आदर्श को यह किसी अंश में पकड़ पाती है या नहीं? अगर किसी अंश में भी उस आदर्श तक यह पहुँचने का प्रयत्न करती है, तो इसका कुछ मूल्य है, अन्यथा नहीं। इस 'मूल्यांकन' की प्रक्रिया में हम यह जानना चाहते हैं कि माना मोटर, रेडियो आदि साधन उपयोगी हैं, परन्तु इनका केवल उपयोगी होना ही तो काफ़ी नहीं है, असली बात तो यह है कि इनके उपयोगी होते हुए भी हमारे सांस्कृतिक माप-दंड की दृष्टि से इनका मूल्य क्या है, जीवन को सुखी बनाने में इनका क्या स्थान है? अमरीका में जब कपास की मिलें खुलीं, तो बहुत उपयोगी साबित हुईं, बेलनों से जितनी कपास साफ़ की जाती थी उससे ज्यादा इन मिलों से साफ़ की जाती थी, परन्तु इनका मूल्य क्या निकला? इनसे दास-प्रथा को प्रोत्साहन मिला, अन्त में जाकर अमरीका में गृह-युद्ध हुआ। जब हम किसी बात पर 'मूल्यांकन' अर्थात् 'संस्कृति' की दृष्टि से विचार करने लगते हैं, तब उस विचार के अनुसार अपने साधनों में, 'यान्त्रिक-तत्त्वों' में परिवर्त्तन की बात भी सोचते हैं, क्योंकि अगर ये यान्त्रिक-साधन मनुष्य को सुखी बनाने के स्थान में दुःखी बनाने लगें, तो इनको बदलना या छोड़ देना जरूरी जान पड़ता है। इस दृष्टि से महात्मा गांधी ने भारत में मिलों के स्थान में हाथ के छोटे-छोटे कारखानों को ज्यादा महत्त्व दिया था, और इसी दृष्टि से कभी-कभी वर्त्तमान यान्त्रिक-सभ्यता के विरुद्ध आवाज उठा करती है, लोग कहने लगते हैं, क्या फ़ायदा इस यान्त्रिक-सभ्यता का जिसमें अमीर-ग़रीब का भेद बढ़ता जाता है, जिसमें सन्तोष की जगह असन्तोष, सुख की जगह दुःख बढ़ता जा रहा है।

['संस्कृति' का 'संस्कृति' पर प्रभाव]

हम यह देख चुके कि 'सभ्यता' एवं 'यान्त्रिक-आविष्कारों' (Technological inventions or Civilization) का 'संस्कृति' (Culture) पर प्रभाव पड़ता है, यह भी देख चुके कि 'संस्कृति' का 'सभ्यता' एवं 'यान्त्रिक-आविष्कारों' पर प्रभाव पड़ता है, अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि 'संस्कृति' का 'संस्कृति' पर प्रभाव पड़ता है—अर्थात्, एक 'संस्कृति' दूसरी 'संस्कृति' को प्रभावित करती है।

समाज का वर्णन दो दृष्टियों से किया जा सकता है। एक वर्णन तो ऐसा है जिसमें समाज के भिन्न-भिन्न अंगों का वर्णन होता है। 'परिवार' क्या है, 'समूह' क्या है, 'सभ्यता' क्या है, 'संस्कृति' क्या है—ये वर्णन समाज की 'रचना' (Structure) के वर्णन हैं। दूसरे वर्णन समाज की 'प्रक्रियाओं' (Processes) के वर्णन हैं। समाज में परिवार का परिवार पर क्या प्रभाव पड़ता है, किस प्रकार एक समाज में बहु-विवाह और दूसरे में एक-विवाह की प्रथा चल पड़ती है, किस प्रकार कभी सती-प्रथा, कभी तलाक, कभी कुछ, और कभी कुछ परिवर्त्तन होने लगते हैं—यह सब वर्णन 'क्रिया' (Function or Process) का

वर्णन है। 'सामाजिक-रचना' (Social structure) का वर्णन एक स्थिर समाज का वर्णन है, ऐसा वर्णन है जैसे एक फ़ोटो खींच दी जाय, उसम एक क्षण म, जो सब की स्थिति थी, वह स्थिर चित्रित हो जाती है, परन्तु 'सामाजिक-प्रक्रिया' (Social function or Social process) का वर्णन ऐसा है जसे सिनमा चल रहा हो, क्षण-क्षण बदलने वाला हर-एक परिवर्त्तन उसमें चित्रित होता रहता है। 'सामाजिक-प्रक्रिया' (Social function or Social process) का वर्णन स्थिर-समाज का नहीं, उस समाज का वर्णन है जिसमें हर समय भिन्न-भिन्न परिवर्त्तन हो रहे हैं, भिन्न-भिन्न 'प्रक्रियाएँ' (Processes) चल रही हैं। ये 'सामाजिक-प्रक्रियाएँ' (Social processes) दो तरह की होती हैं। एक मेल की, दूसरी बेमेल की, एक अन्य व्यक्तियों के नज़दीक आने की, दूसरी दूर जाने की, एक 'सहकारिता की प्रक्रियाएँ' (Associative processes), दूसरी 'असहकारिता की प्रक्रियाएँ' (Dissociative processes)। 'सहकारिता की प्रक्रिया' में अपने को दूसरों के अनुकूल बनाकर सहयोग की भावना प्रधान रहती है, 'असहकारिता की प्रक्रिया' में दूसरों के साथ असहयोग की भावना प्रधान रहती है। इस सब का मनोवैज्ञानिक आधार है। हर व्यक्ति में दो प्रकार की भावनाएँ रहती हैं। वह अपने अहंभाव के कारण दूसरों को दबाना भी चाहता है, अपनी कमज़ोरी या लाभ के कारण दूसरों के साथ मेल भी करना चाहता है। दोनों भाव, व्यक्ति की तरह, समाज में भी काम करते हैं। जैसे समाज में व्यक्तियों या समुदायों का 'आर्थिक-स्वार्थ' (Economic interest) उन्हें कभी सहयोग की तरफ़ प्रेरित करता है, कभी असहयोग की तरफ़ प्रेरित करता है, उसी प्रकार समाज में व्यक्तियों या समुदायों का 'सांस्कृतिक-स्वार्थ' (Cultural interest) कभी सहयोग की तरफ़, कभी असहयोग की तरफ़ प्रेरित करता है। हमें यहाँ अन्य तत्त्वों पर नहीं, सिर्फ़ 'सांस्कृतिक-तत्त्वों' (Cultural factors) पर विचार करना है। संस्कृति में कभी 'सहकारिता की प्रक्रियाएँ' (Associative processes) काम करने लगती हैं, कभी 'असहकारिता की प्रक्रियाएँ' (Dissociative processes) काम करने लगती हैं। जब दो संस्कृतियाँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आती हैं, और उनमें 'सहकारिता की प्रक्रिया' (Associative process) काम करती है, तब कई परिणाम निकल सकते हैं। अगर ये दोनों संस्कृतियाँ समान बल की हैं, एक जबर्दस्त और दूसरी कमज़ोर नहीं, तो उनमें कुछ लेना-देना होता है, दोनों अपने को एक-दूसरे के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करती हैं—इस प्रक्रिया को 'व्यवस्थान' (Accommodation) कहते हैं। मुसलमान एक जबर्दस्त 'संस्कृति' को लेकर भारत आये, यहाँ की संस्कृति भी जबर्दस्त थी, दोनों में लेना-देना हुआ, इसी लेन-देन से उर्दू भाषा की उत्पत्ति हुई। अगर संस्कृतियाँ समान बल की नहीं हैं, एक समर्थ और दूसरी कमजोर है, तब या तो समर्थ-संस्कृति अपने से कमज़ोर-संस्कृति को जबर्दस्ती दबा देती है, या कमज़ोर-संस्कृति अपनी कमज़ोरी अनुभव करके स्वयं दब जाती है। यह भी

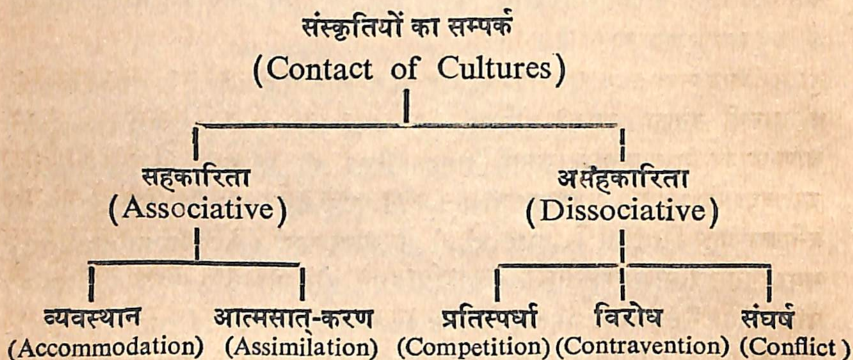
'व्यवस्थान' है, परन्तु दबकर या दबाकर। कभी-कभी संस्कृतियों के एक-दूसरे के निकट आने से 'सहकारिता की प्रक्रिया' (Associative process) तो प्रकट होती है, परन्तु वह 'व्यवस्थान' (Accommodation) की प्रक्रिया न होकर 'आत्मसात्-करण' (Assimilation) की प्रक्रिया होती है। 'आत्मसात्-करण' (Assimilation) की प्रक्रिया में एक संस्कृति दूसरी संस्कृति में बिलकुल मिट जाती है। अमेरिका में भिन्न-भिन्न देशों के लोग जा बसे हैं, सब अपनी संस्कृति भुला कर अमेरिका की संस्कृति में रल-मिल गये हैं, उन सबकी अलग-अलग संस्कृति थी, जर्मनों की जर्मन-संस्कृति, अंग्रेजों की आंग्ल-संस्कृति, परन्तु उन सब की, चाहे वे जर्मनी से आये, चाहे इंग्लैण्ड से, अब अमरीकन संस्कृति हो गई है, यह आत्मसात्-करण है।

परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जब दो संस्कृतियाँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आयें, तो उनमें 'सहकारिता की प्रक्रिया' (Associative process) ही प्रकट हो। सहकारिता के स्थान में उनमें 'असहकारिता की प्रक्रिया' (Dissociative process) भी प्रकट हो सकती है। जैसे हमने देखा था कि 'सहकारिता की प्रक्रिया' (Associative process) में 'व्यवस्थान' (Accommodation) तथा 'आत्मसात्-करण' (Assimilation) होते हैं, वैसे 'असहकारिता की प्रक्रिया' (Dissociative process) में 'प्रतिस्पर्धा' (Competition), 'विरोध' (Contravention) तथा 'संघर्ष' (Conflict) छिड़ सकता है। दो संस्कृतियाँ एक-दूसरे से अपने को दूर समझती हुई आपस में 'प्रतिस्पर्धा' कर सकती हैं, प्रतिस्पर्धा बढ़ जाय, तो उनमें 'विरोध' प्रकट हो सकता है, विरोध बहुत बढ़ जाय, तो उनमें 'संघर्ष' छिड़ सकता है, युद्ध भी हो सकता है। अमरीका तथा रूस की जन-सत्ता-वादी तथा कम्युनिस्ट संस्कृतियों में एक-दूसरे के साथ होड़ तो मच ही रही है, यह 'प्रतिस्पर्धा' है, कभी-कभी यह प्रतिस्पर्धा एक-दूसरे को गाली-गलौज देने के 'विरोध' में भी प्रकट हो जाती है, और अगर यह विरोध बहुत तीव्र हो गया, तो इनमें कभी उग्र 'संघर्ष' और युद्ध तक छिड़ सकता है।

संस्कृतियों का एक-दूसरे के निकट आना, या एक-दूसरे से दूर होना, उनकी 'सहकारिता' (Association) या 'असहकारिता' (Dissociation) ---दोनों का लक्ष्य 'समता' (Harmony or equilibrium) स्थापित करना है। जबतक व्यक्ति या समाज अपने जीवन में 'असमता' या 'विषमता' (Dis-harmony or Dis-equilibrium) का अनुभव करते हैं, तबतक उनमें, पर्यावरणों के अनुसार, या तो 'सहकारिता की प्रक्रिया' (Associative process) चलती रहती है, या 'असहकारिता की प्रक्रिया' (Dissociative process) चलती रहती है, या तो संस्कृतियाँ एक-दूसरे के निकट आने का, एक-दूसरे को अपने प्रभाव से बदलने का, एक-दूसरे में मिट जाने का, या एक-दूसरे को मिटा देने का, संघर्ष से ख़त्म कर देने का प्रयत्न करती रहती हैं। यह लड़ाई विचार-धाराओं (Ideologies) की लड़ाई है, और विचार-धाराओं की लड़ाई संस्कृति की

लड़ाई है। जब, किसी भी उपाय से क्यों न हो, विचार-धाराएँ एक हो जाती हैं, तब विषमता समाप्त होकर समता स्थापित हो जाती है––इस समता को लाने के लिए ही उक्त व्यवस्थान, आत्मसात्-करण, प्रतिस्पर्धा, विरोध तथा संघर्ष की प्रक्रियाएँ चलती हैं। सहयोग और असहयोग––दोनों का उद्देश्य संघर्ष को मिटाना ही होता है।

इन सब प्रक्रियाओं का वर्णन इस पुस्तक में अन्यत्र विस्तार-पूर्वक दिया गया है, इसलिए उनके विस्तार की यहाँ आवश्यकता नहीं। 'संस्कृति' के संबंध में हमने जो-कुछ लिखा है, उसे चित्र में इस प्रकार दर्शा सकते हैं :—



५. 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' किस प्रकार बढ़ती हैं ?

हमने देखा कि 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। समाज के विकास का भौतिक-रूप 'सभ्यता' है, अभौतिक-रूप 'संस्कृति' है। अब प्रश्न यह है कि इनका विकास, इनकी वृद्धि कैसे होती है ? 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' के विकास के चार नियम हैं––'संचय का नियम' (Principle of accumulation), 'निरन्तरता का नियम' (Principle of continuity), 'पारस्परिक फलीकरण का नियम' (Principle of cross-fertilization) तथा 'प्रसार का नियम' (Principle of diffusion)। इन चारों की व्याख्या निम्न है :—

(क) संचय का नियम (Principle of Accumulation)––संस्कृति का संचय होता रहता है। इसी संचय का परिणाम है कि आज अपने बाप-दादाओं की सभ्यता और संस्कृति को लेकर हमने आज के संसार को बनाया है––'जल बिन्दु-निपातेन क्रमशः पूर्यते घटः'––बिन्दु-बिन्दु के संचय से घड़ा भर जाता है। जैसे बालक का शरीर बढ़ता है, वैसे सभ्यता तथा संस्कृति भी बढ़ती हैं। नये तत्त्व आते हैं, पुराने नष्ट हो जाते हैं, परन्तु नये पुरानों की अपेक्षा अधिक होते हैं। अधिक न हों, तो वृद्धि कैसे हो ? 'सभ्यता' में जब कोई नया तत्त्व प्रवेश करता है, तो उसे 'भौतिक-आविष्कार' (Physical invention) कहते हैं, 'संस्कृति' में जब कोई नया तत्त्व प्रवेश करता है, तो उसे 'सामाजिक-आविष्कार' (Social

invention) कहते हैं। रेल का चलना सभ्यता का अंश है, 'भौतिक-आविष्कार' है; विवाह की पद्धति संस्कृति का अंश है, 'सामाजिक-आविष्कार' है। इन-सब का 'संचय' होते-होते भौतिक-'सभ्यता' तथा अभौतिक-'संस्कृति' का विकास हो जाता है। मानव-समाज इन भौतिक तथा अभौतिक आविष्कारों का संग्रह करता रहता है, ये ही 'सामाजिक-विरासत' (Social heritage) हैं, और भाषा द्वारा एक सन्तति से दूसरी सन्तति तक पहुँचते रहते हैं। मनुष्य इन्हें लुप्त नहीं होने देता, अगर ये लुप्त होते भी हैं, तो लुप्त होने वाले तत्त्वों की अपेक्षा लुप्त न होने वाले तथा संचित-तत्त्वों की संख्या सदा अधिक रहती है। इसी को 'संचय का नियम' कहते हैं।

(ख) निरन्तरता का नियम (Principle of Continuity)—इतना ही नहीं कि सभ्यता तथा संस्कृति के तत्त्व 'संचित' होते रहते हैं, जमा होते रहते हैं, परन्तु उनकी 'निरन्तरता' तथा धारावाहिकता भी बनी रहती है। धनुष-बाण का सिद्धान्त कभी प्रारम्भिक अवस्था में मौजूद था। तभी तो बाण को चिल्ले पर चढ़ा कर अपनी तरफ़ खींच कर फेंका जाता था। एक स्थिर-वस्तु को गति देने का यही सिद्धान्त विकसित होता-होता बन्दूक और तोप का रूप धारण कर गया। इस समय जो भौतिक अथवा सामाजिक नई-नई बातें निकल रही हैं, वे, पीछे से जो प्रवाह चला आ रहा है, उसी को आगे ले जा रही हैं। न्यूटन ने कहा था, "मैं अगर अन्य लोगों से आगे दूर तक देख रहा हूँ तो इसलिए, क्योंकि मैं महापुरुषों के कन्धों पर बैठा हुआ हूँ, उन्हीं के देखे हुए को आधार बनाकर आगे देख सका हूँ।" आगे देखना ही 'निरन्तरता का नियम' है।

(ग) पारस्परिक फलीकरण का नियम (Principle of Cross fertilization)—हमें सामाजिक-विरासत में एक नहीं अनेक भौतिक तथा सांस्कृतिक-तत्त्व प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक-एक के अनेक टुकड़े हैं। इन टुकड़ों के आपस में मिलने से नये-नये तत्त्व फल जाते हैं। उदाहरणार्थ, रसायन-शास्त्र हमारी संस्कृति का एक तत्त्व है। इसके अनेक तत्त्वों में से बारूद भी एक तत्त्व है। इसी प्रकार यन्त्र-शास्त्र भी हमारी संस्कृति का एक तत्त्व है। इसके अनेक तत्त्वों में से किसी वस्तु का वेग से फेंकना भी एक तत्त्व है। रसायन-शास्त्र के बारूद का यन्त्र-शास्त्र के फेंकने से जो पारस्परिक-सम्बन्ध हुआ, उससे तोप-बन्दूक का आविष्कार हो गया। पहले पत्थरों को रगड़ने से आग निकाली जाती थी, फिर रसायन-शास्त्र की गन्धक और यन्त्र-शास्त्र की रगड़ को मिलाकर दियासलाई का निर्माण हुआ। माल्थस ने अर्थ-शास्त्र में इस सत्य की खोज की थी कि जन-संख्या की आनुपातिक-वृद्धि भोजन-सामग्री की अपेक्षा अधिक वेग से होती है, और असमर्थ व्यक्ति नष्ट हो जाते हैं। इस सिद्धान्त को डार्विन ने प्राणि-शास्त्र में घटाकर 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) के सिद्धान्त को जन्म दिया। अर्थ-शास्त्र के सिद्धान्त को प्राणि-शास्त्र में घटाने से डार्विन के विकासवाद का जन्म हुआ। यह 'पारस्परिक फली-करण का नियम' है।

(घ) प्रसार का नियम (Principle of Diffusion)--सभ्यता तथा संस्कृति के नये विचार सब-के-सब किसी एक ही जगह नहीं उत्पन्न होते। एक स्थान पर तो कोई एक-दो विचार होते हैं, परन्तु इन विचारों का प्रसार होते-होते एक ही स्थान पर सभ्यता तथा संस्कृति-सम्बन्धी अनेक आविष्कार आ जुटते हैं। हम जब सवेरे उठते हैं, तब न-जाने सभ्यता तथा संस्कृति की कितनी बातों से अपने को घिरा पाते हैं। कमरों में रेशम के पर्दे लटक रहे हैं, रेशम का पहले-पहल आविष्कार चीन में हुआ था; खिड़कियों में शीशे लगे हैं, शीशों का आविष्कार ईजिप्ट में हुआ था; हम उठ कर पाजामा पहनते हैं, यह पहले-पहल भारत में बना था; साबुन से हाथ धोते हैं, जिसका पता गॉल लोगों ने लगाया था; हजामत करते हैं, जो सुमेर-सभ्यता का आविष्कार था; अखबार पढ़ते हैं, जिसके लिए छापेखाने का आविष्कार चीन में हुआ था। जो देश एक-दूसरे से सम्बद्ध नहीं रहते, उनमें सभ्यता तथा संस्कृति के तत्त्व भी नहीं पहुँचते। प्रसार के नियम द्वारा सभ्यता तथा संस्कृति एक ही जगह सीमित न रहकर दुनिया भर में फैल जाती हैं। यह 'प्रसार का नियम' है।

६. सभ्यता तथा संस्कृति की वृद्धि की गति

अभी हमने कहा कि जो देश एक-दूसरे से सम्बद्ध नहीं रहते, उनमें सभ्यता तथा संस्कृति के तत्त्व नहीं पहुँचते। यह बात हमारे सामने एक प्रश्न खड़ा कर देती है, और वह यह कि सभ्यता तथा संस्कृति का विस्तार किस गति से, किस तीव्रता से होता है ?

प्रागैतिहासिक काल में यह विकास बहुत मन्द-गति से हुआ होगा, उस समय छोटे-छोटे आविष्कारों में हजारों साल लगे होंगे, इन आविष्कारों का मानव-समाज 'संचय' (Accumulation) करता रहा, इनमें 'निरन्तरता' (Continuity) भी रही, इनका 'प्रसार' (Diffusion) भी हुआ, परन्तु ज्यों-ज्यों आविष्कार बढ़े, और उनका 'पारस्परिक फली-करण' (Cross fertilization) हुआ, त्यों-त्यों सभ्यता तथा संस्कृति की गति तेज हो गई। जो उन्नति पहले दस हज़ार साल में होती थी, वह अब पचास साल में होने लगी । पहले उन्नति इस वेग से नहीं हो रही थी जितनी उसके बाद होने लगी, और बाद की उन्नति इस वेग से नहीं होती रही जिस वेग से अब हो रही है। इसका क्या कारण है ? इसका कारण यह है कि आदि-काल में आविष्कारों की संख्या कम थी, उनका 'संचय' कम हुआ था, पीछे जाकर ज्यों-ज्यों आविष्कार बढ़ते गए, उनकी संख्या बढ़ी, 'संचय' बढ़ा, 'संचय' बढ़ने के कारण सभ्यता तथा संस्कृति के तत्त्वों का 'पारस्परिक-फलीकरण' (Cross fertilization) बढ़ा। पहले फलीकरण के लिए कम तत्त्व थे, अब ज्यादा हो गए, इसलिए पहले जिस वेग से सभ्यता तथा संस्कृति की वृद्धि हो रही थी, अब उससे बहुत ज्यादा वेग से होने लगी। इस बात को एक दूसरी तरह भी समझा जा सकता है। अगर किसी के पास १०० रुपया है, तो पहले

साल उस पर ४ रुपया ब्याज मिलेगा, परन्तु अगर यह ४ रुपया मूल-धन में संचित होता जाय, तो कई साल में १०० रुपए के २०० और २०० के ४०० हो जायेंगे, और १०० साल के बाद ब्याज ही हजारों रुपया आने लगेगा। इसी प्रकार अगर किसी की दो सन्तान हैं, तो १०० साल के बाद वही व्यक्ति हज़ारों अनुवंशजों का पूर्वज हो जायगा। 'पारस्परिक-फलीकरण' की प्रक्रिया थोड़े तत्त्वों में थोड़े फल उत्पन्न करती है, अधिक तत्त्वों में अधिक फल उत्पन्न करती है। इस प्रकार एक-दूसरे से मिलकर अनेक हो जाने के तरीके का नाम 'पारस्परिक-फलीकरण' (Cross fertilization) है, और एक से अनक हो जाने के सिद्धान्त का नाम 'व्याख्यात्मक-सिद्धान्त' (Exponential Principle) है। १०० से १०४ हो गये, यह 'पारस्परिक-फलीकरण' (Cross fertilization) है, १०४ से आगे बहुत देर के बाद चलकर ५०० और १००० हो गये, यह 'व्याख्यात्मक-क्रम' (Exponential series) है। इस क्रम में शुरू-शुरू में वृद्धि कम दिखाई देती है, ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों वृद्धि का क्रम असाधारण तौर पर बढ़ता जाता है। दूसरे शब्दों में, प्रारम्भ में जिस प्रक्रिया को हम 'पारस्परिक-फलीकरण' की प्रक्रिया कहते हैं, आगे चलकर उसी प्रक्रिया को 'व्याख्यात्मक-क्रम' की प्रक्रिया कहते हैं। सभ्यता तथा संस्कृति की वृद्धि इन्हीं 'फलीकरण' तथा 'व्याख्यात्मक'-क्रम की प्रक्रियाओं से होती है।

७. सांस्कृतिक-विलम्बना
(Cultural Lag)

[ऑगबर्न के विचार]

संस्कृतियों के आपस में जो सम्बन्ध हैं, उनका वर्णन हमने किया। इनमें एक ऐसा सम्बन्ध भी है जो उक्त सम्बन्धों में नहीं आता। इसकी तरफ़ विद्वानों का ध्यान श्री ऑगबर्न (Ogburn) ने खींचा है। औगबर्न ने इस सम्बन्ध का नाम रखा है—'सांस्कृतिक-विलम्बना' (Cultural lag), अर्थात् 'संस्कृति के एक भाग का पछड़ जाना'। जब किसी विषय का एक पहलू बहुत आगे बढ़ जाता है, और उसी विषय का दूसरा पहलू बहुत पीछे रह जाता है, तब उसके पछड़ जाने वाले भाग को 'एक भाग का पछड़ जाना' या 'विलम्बना' (Lag) कहते हैं। 'विलम्बना' इसलिए क्योंकि इस पछड़े भाग को दूसरे भाग के साथ मिलने में 'विलम्ब' लगता है। उदाहरणार्थ, जंगल की लकड़ी सेहम ने अनेक काम लिये। नतीजा यह हुआ कि जंगल की लकड़ी इतनी काटी गई कि लकड़ी से 'सभ्यता' के अनेक काम हुए, लकड़ी की 'सभ्यता' तो बढ़ी, विकसित हुई, परन्तु जंगल में लकड़ी के पेड़ ही न रहे, जंगल ही ख़त्म हो गये। जंगल के सम्बन्ध में 'सभ्यता' के दो पहलू थे—एक जंगल की लकड़ी से भिन्न-भिन्न वस्तुओं का बनना, दूसरा जंगल को भी बढ़ाते जाना। जंगल लगाने और बढ़ाने की तरफ़ हमारा ध्यान नहीं गया, वह हिस्सा पछड़ गया, जंगल ही न रहे। इसी प्रकार आज की मशीन की सभ्यता में मशीनों की दिनोंदिन उन्नति हुई, ख़ूब मशीनें बनीं, चारों-तरफ़ मशीनें-ही-मशीनें

दिखाई देने लगीं। परन्तु मशीन को चलाने वाले मजदूरों की क्या हालत हुई? मशीनें तो बढ़ीं, किन्तु मशीनों पर काम करने वाले मजदूरों की दशा गिरी। परिणाम यह हुआ कि जैसे लकड़ी का काम बहुत आगे बढ़ गया, जंगल लगाने का काम बहुत पीछे रह गया, वैसे मशीन का काम बहुत आगे बढ़ गया, मजदूरों की दशा सुधारने का काम बहुत पीछे रह गया। जब इस प्रकार 'सभ्यता' का कोई एक अंग पीछे रह जाता है, तो उस कमी को पूरा करने के लिए देश तथा जाति को सभ्यता के उस अंग की तरफ़ विशेष ध्यान देना पड़ता है। भारत में भी पिछली लड़ाई में जंगल बहुत कटे। परिणाम यह हुआ कि वर्षा की मात्रा बहुत कम हो गई, रेगिस्तान बड़ी तेजी से बढ़ने लगे। इस विषमता को दूर करने के लिए वन-महोत्सव जारी किये गए जिससे वृक्षों की संख्या फिर से बढ़े, और जंगल के सम्बन्ध में, 'सभ्यता' का जो यह भाग पछड़ गया है, उस कमी को पूरा किया जा सके। इसी प्रकार मजदूरों की पछड़ी दशा को ठीक करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के कानून बनते हैं, जिनसे वे इतना पीछे न रहें कि मशीन के सम्बन्ध में 'सभ्यता' की आगे-आगे दौड़ होती रहे, पीछे-पीछे चौड़ होती रहे।

हम इसी अध्याय में पहले कह आये हैं कि ऑगबर्न ने 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति'—इन दो शब्दों का प्रयोग न करके केवल 'संस्कृति'-शब्द का प्रयोग किया है, और 'संस्कृति' को 'भौतिक-संस्कृति' (Material culture) तथा 'अभौतिक-संस्कृति' (Non-material culture)—इन दो भागों में बाँटा है। जिसे हम इस ग्रन्थ में 'सभ्यता' कहते आये हैं, भौतिक-सभ्यता, रेल-तार-डाक आदि, उसे वह 'भौतिक-संस्कृति' (Material culture) कहता है, जिसे हम 'संस्कृति' कहते आये हैं, रीति-रिवाज, रहन-सहन आदि, उसे वह 'अभौतिक-संस्कृति' (Non-material culture) कहता है। ऑगबर्न का कथन है कि 'भौतिक-संस्कृति' प्रायः 'अभौतिक-संस्कृति' से आगे निकल जाती है, और इन दोनों के बीच व्यवधान पड़ जाता है, 'अभौतिक-संस्कृति' पछड़ जाती है। उदाहरणार्थ, रेलगाड़ी में सब लोग साथ बैठते हैं—ब्राह्मण भी, चमार भी, किसी की किसी के साथ छूआछूत नहीं बन पाती। यह तो 'भौतिक-संस्कृति' का परिणाम है। परन्तु 'अभौतिक-संस्कृति' के अनुसार हमारे समाज में छुआछूत का विचार घर किये हुए है। 'भौतिक-संस्कृति' के कारण तो छूआछूत तेजी से ख़त्म होती जा रही है, 'अभौतिक' अर्थात् विचारों, रीति-रिवाज के अनुसार छूआछूत बनी हुई है। परिणाम क्या होता है? परिणाम यह होता है कि 'भौतिक-संस्कृति' छूआछत के नाश में आगे निकल गई, 'अभौतिक-संस्कृति' पीछे रह गई। स्त्रियों की स्थिति को ही लें, उसमें भी यह आगे दौड़ पीछे चौड़ की बात दिखलाई देती है। लड़कियाँ पढ़ने लगीं, स्कूलों की संख्या बढ़ गई, स्कूल-कालेज—इस 'भौतिक-संस्कृति' से स्त्री-शिक्षा का प्रचार बढ़ गया, परन्तु हमारी 'अभौतिक-संस्कृति' अर्थात् पुरानी परम्परा और रूढ़ियों की संस्कृति के अनुसार स्त्री को नीचा ही समझा जाता है। जब इस प्रकार 'भौतिक' तथा 'अभौतिक' में द्वैत, भेद, आगा-पीछा

उत्पन्न हो जाता है, तब समाज 'अभौतिक-संस्कृति' के इस पछड़ जाने को दूर करने का प्रयत्न करने लगता है। विधान-सभाओं में कानून बनने लगते हैं कि छूआछूत कानूनन नष्ट कर दी गई, स्त्रियों को अधिकार कानूनन दिये गए। कानून द्वारा इस प्रकार के सुधार संस्कृति के एक अंश के पछड़ जाने पर समाज में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है, उसे दूर करने के प्रयत्न हैं। हम रेल गाड़ी में, सब के साथ बैठ कर छूआछूत को तोड़ भी रहे हों, और छूआछूत को मान भी रहे हों, स्त्री-शिक्षा द्वारा स्त्रियों को स्वतंत्रता भी दे रहे हों और स्त्रियों को परतन्त्र भी समझ रहे हों--ये दोनों बातें एक-साथ कैसे चल सकती हैं ? 'संस्कृति के एक भाग के पछड़ जाने' अर्थात् 'सांस्कृतिक-विलम्बना' (Cultural lag) से समाज में जो असामञ्जस्य, विषमता, अव्यवस्था, असन्तुलन, रड़क उत्पन्न हो जाती है, उसे हम समय-समय पर दूर करने के लिए 'अभौतिक-संस्कृति' अर्थात् विचारों, रीतियों, परम्पराओं में प्रयत्न-पूर्वक सुधार करते रहते हैं।

[मैक आइवर के विचार]

ऑगबर्न ने जिसे 'भौतिक-संस्कृति' (Material culture) का नाम दिया है, मैक आइवर ने उसे 'सभ्यता' (Civilization) का नाम दिया है, ऑगबर्न ने जिसे 'अभौतिक-संस्कृति' (Non-material culture) का नाम दिया है, मैक आइवर ने उसे 'संस्कृति' (Culture) का नाम दिया है। मैक आइवर का कहना है कि यह जरूरी नहीं कि 'भौतिक-संस्कृति' सदा आगे निकलती रहे, 'अभौतिक' सदा पछड़ती रहे, और भौतिक-अभौतिक अथवा सभ्यता-संस्कृति का सदा सामञ्जस्य स्थापित करने का ही प्रयत्न किया जाता रहे। यह ठीक है कि अनेक देशों में इन दोनों में असामञ्जस्य होता है, द्वैत होता है, विषमता होती है, परन्तु कहीं-कहीं यह विषमता नहीं भी होती। उदाहरणार्थ, रेल-तार जब भारत या ऐसे ही देशों में गए तब वहाँ की संस्कृति से इनका मेल देर में बैठा, वहाँ 'विलम्बना' (Lag) हुई, परन्तु युरोप के जिन देशों में इन चीजों का आविष्कार हुआ वहाँ इस प्रकार की कोई विषमता दृष्टि-गोचर नहीं हुई। ये 'भौतिक-आविष्कार' वहाँ की 'अभौतिक-परम्परा' के अनुकूल थे। ख़ैर, यह सब-कुछ होते हुए भी मैक आइवर इस बात को स्वीकार करता है कि 'विलम्बना' (Lag) की बात समाज में अनेक क्षेत्रों में काम करती है और इस 'विलम्बना' से समाज के जीवन में कई जगह विषमता, असामंजस्य उत्पन्न हो जाता है जिसे दूर करने के लिए समाज में सदा भिन्न-भिन्न प्रकार के यत्न होते रहते हैं।

मैक आइवर ने इस 'विलम्बना' (Lag) को चार भागों में बाँटा है जो निम्न हैं:

[क] प्राविधिक-विलम्बना (Technological lag)
[ख] प्राविधिक-प्रतिरोध (Technological restraint)
[ग] सांस्कृतिक-संघर्ष (Cultural clash)
[घ] सांस्कृतिक उभय-बल (Cultural ambivalence)

[क] प्राविधिक-विलम्बना (Technological lag)—समाज में 'प्राविधिक-विलम्बना' की अवस्था तब उत्पन्न होती ह जब प्राविधिक अथवा यान्त्रिक-विकास के क्षेत्र में कोई हिस्सा तेज़ी से और कोई हिस्सा धीरे-धीरे विकास करता है। उदाहरणार्थ, लकड़ी के उद्योग में लकड़ी की चीजें बड़ी तेज़ी से बनने लगें और जंगल उस तेज़ी से न बढ़ सकें, कपड़े के उद्योग में कपड़ा बड़ी तेज़ी से बनने लगे और कपास उस तेज़ी से पैदा न की जा सके। क्योंकि इस प्रकार का 'विलम्बन' 'प्राविधिक अथवा यान्त्रिक क्षेत्र' में होता है इसलिए मैक आइवर इस प्रकार की 'विलम्बना' को 'सांस्कृतिक-विलम्बना' (Cultural lag) न कहकर 'प्राविधिक अथवा यान्त्रिक विलम्बना' (Technological lag) कहता है।

[ख] प्राविधिक-प्रतिरोध (Technological restraint)—प्राविधिक-विलम्बना तो प्राविधिक अथवा यान्त्रिक-विकास के क्षेत्र में किसी एक हिस्से के अपने-आप पछड़ जाने का नाम है, प्राविधिक-प्रतिरोध यान्त्रिक विकास के क्षेत्र में किसी एक हिस्से के अपने-आप पछड़ जाने का नाम नहीं, अपितु जो हिस्सा पछड़ता है, उसे जान-बूझ कर आगे बढ़ने नहीं दिया जाता, और इस प्रकार प्रतिरोध के कारण 'विलम्बना' (Lag) उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार का जान-बूझ कर उत्पन्न किया हुआ, प्रतिरोध के कारण पैदा किया हुआ 'विलम्बन' अर्थात् एक हिस्से का पछड़ जाना समाज में अनेक प्राविधिक-क्षेत्रों में पाया जाता है जिसके कारण समाज में असामञ्जस्य, असंतुलन, अव्यवस्था, द्वैत, विषमता उत्पन्न हो जाती है, और उसे दूर करने के लिए तरह-तरह के वैधानिक तथा अवैधानिक प्रयत्न हुआ करते हैं। जान-बूझ कर उत्पन्न की हुई इस 'प्राविधिक-विलम्बना' के निम्न दृष्टांत हैं :—

(i) दफ़्तरी-प्रतिरोध—सरकारी दफ़्तरों में काम करने की किसी भी नई पद्धति का जिससे समय की बचत हो और काम तेज़ी से हो, अधिक कुशलता से हो, सदा से विरोध किया जाता रहा है। फ़ौजी विभागों में लड़ाई की नवीन पद्धतियों का पुरानी पद्धतियों के मुकाबिले में सदा विरोध किया जाता है। अदालतों में मुकदमे जल्दी निपटाने के लिए नई बातों का विरोध किया जाता है। इन बातों से काम में असन्तुलन पैदा हो जाता है जिसका समय-समय पर समाज को भिन्न-भिन्न तरीकों से इलाज करना पड़ता है। ये सब प्रतिरोध दफ़्तर के स्वार्थ की रक्षा के लिए होते हैं।

(ii) आर्थिक-प्रतिरोध—नई बातों के कई प्रतिरोध आर्थिक-स्वार्थ की रक्षा के लिए किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, अगर कोई आविष्कार ऐसा हो जाय जिससे किसी पुराने चल रहे व्यापार को धक्का लगने की सम्भावना हो, तो पुराने व्यापार को चलाने वाले नये आविष्कार को ख़रीद कर उसे ठप्प कर देते हैं, नये आविष्कार को चलने नहीं देते। कानपुर में मिलों के आधुनिकीकरण का वहाँ की ट्रेड-यूनियन ने इसलिए विरोध किया जिससे मज़दूरों की मज़दूरी न

मारी जाय। आधुनिकीकरण का अर्थ है मशीनों में ऐसे नये सुधार जिनसे श्रम कम लगे और काम अधिक हो। यह बात श्रमियों के हित में नहीं है इसलिए इस बात का विरोध होता रहा और आधुनिकीकरण (Rationalization) का प्रतिरोध हुआ।

(iii) सांस्कृतिक-प्रतिरोध--कभी-कभी नवीन यान्त्रिक-आविष्कारों या नवीन-प्रविधि (New technology) का जान-बूझ कर विरोध संस्कृति के हित में किया जाता है। उदाहरणार्थ, सन् सत्तावन के ग़दर में कारतूसों पर चमड़ा लगा था जिसे मुँह से हटाना पड़ता था। चमड़े को मुँह में न डालना भारत की संस्कृति की रग-रग में बसा हुआ था। यहाँ की संस्कृति ने इस नवीन-प्रविधि का विरोध किया और ग़दर हो गया। मरे जानवरों की नवीन-यन्त्रों से खाद बनाई जाती है। सारा-का-सारा जानवर उबाल दिया जाता है और उससे खाद बनती है। यह भारत की संस्कृति सहन नहीं कर सकती इसलिए जहाँ-जहाँ ऐसे कारखाने खुले हैं वहाँ-वहाँ तीव्र आन्दोलन हुआ है। हम अनेक नवीन यन्त्रों का इसलिए विरोध करते हैं क्योंकि उनसे हमारी संस्कृति पर आघात पहुँचता है। ये सब प्रतिरोध 'प्राविधिक-प्रतिरोध' (Technological restraint) हैं क्योंकि जिस चीज का इन प्रतिरोधों में विरोध किया जाता है वह 'प्राविधिक' अथवा यान्त्रिक होती है।

[ग] सांस्कृतिक-संघर्ष (Cultural clash)--अभी हमने सांस्कृतिक-प्रतिरोध की चर्चा की। सांस्कृतिक-प्रतिरोध तो संस्कृति की रक्षा के लिए किसी एक यान्त्रिक-आविष्कार का विरोध है, परन्तु सांस्कृतिक-संघर्ष में क्या होता है? जब किसी एक संस्कृति के अपने प्राविधिक-तरीके (Technological ways) हों, और दूसरी संस्कृति के अपने प्राविधिक-तरीके हों, तब अगर एक-दूसरे के सम्पर्क में आयेंगी, तो दोनों को एक-दूसरे से ख़त्म हो जाने का ख़तरा पैदा हो जायेगा और तब वे दोनों संस्कृतियाँ किसी एक यान्त्रिक-आविष्कार का प्रतिरोध न करके अपने से अतिरिक्त दूसरी सम्पूर्ण संस्कृति का प्रतिरोध करने लगेंगी। भारत में कई लोग किसी एक-आध पाश्चात्य यान्त्रिक-आविष्कार का विरोध नहीं करते, वे सारी-की-सारी पाश्चात्य-संस्कृति का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि यह यान्त्रिक-संस्कृति मनुष्य का सत्यानाश कर देती है, मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देती, मशीन बना देती है। युरोप में 'एकाधिकारवाद' (Totalitarianism) तथा 'जन-सत्ता-वाद' (Democracy) का इसी प्रकार का विरोध है। ये दोनों एक-दूसरे को नहीं देख सकतीं। समाजवादी पूँजीवादियों के प्राविधिक-तरीकों और पूँजीवादी समाजवादियों के प्राविधिक तरीकों से सहमत नहीं। 'प्रविधि' (Technology) का अर्थ सिर्फ़ यन्त्र ही नहीं है, 'प्रविधि' तो एक तरीका है, और एकाधिकारवाद, जनसत्तावाद, समाजवाद, पूँजीवाद--सब के तरीके अलग-अलग हैं, और सब में संघर्ष है।

[घ] सांस्कृतिक उभय-बल (Cultural ambivalence)---कभी-कभी सांस्कृतिक-संघर्ष इतना प्रबल नहीं होता कि वह तीव्र संघर्ष ही का रूप धारण करे, मनुष्य कभी इधर झुकता है, कभी उधर, कुछ इसे पसन्द करता है, कुछ उसे, कुछ इसे अपनाता है, कुछ उसे, किसी बात को चाहता भी है, उससे नफ़रत भी करता है। ऐसी अवस्था बीच की अवस्था होती है, इसमें प्रतिरोध होता भी है, नहीं भी होता। उदाहरणार्थ, हम अंग्रेज़ी बोलते भी हैं, अंग्रेज़ी का विरोध भी करते हैं, कभी-कभी अंग्रेज़ी बोलकर अंग्रेज़ी का विरोध करते हैं। ऐसा क्यों करते हैं? ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि इन दोनों तरीकों का हमारे ऊपर समान बल है।

जैसा हमने ऊपर कहा, जिस बात को ऑगबर्न ने 'सांस्कृतिक-विलम्बना' का नाम दिया है, उसे मैक आइवर ने 'प्राविधिक-विलम्बना' का नाम दिया है। ऑगबर्न ने 'संस्कृति' तथा 'सभ्यता'---ये दो भेद नहीं किये, केवल 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग किया है और उसके 'भौतिक' तथा 'अभौतिक' ये दो भेद कर दिये हैं, मैक आइवर ने 'संस्कृति' तथा 'सभ्यता' इन दो शब्दों का अलग-अलग प्रयोग किया है, और क्योंकि ऑगबर्न के 'सांस्कृतिक-विलम्बना' के दृष्टान्त 'संस्कृति' के दृष्टान्त न होकर सभ्यता के दृष्टान्त हैं और 'सभ्यता' तथा 'प्रविधि' का मैक आइवर ने एक ही अर्थ किया है इसलिए मैक आइवर ने 'सांस्कृतिक-विलम्बना'-शब्द का प्रयोग न करके 'प्राविधिक-विलम्बना'-शब्द का प्रयोग किया है और इस 'प्राविधिक-विलम्बना' का ऑगबर्न की अपेक्षा अधिक विस्तार से वर्गीकरण किया है।

९. सांस्कृतिक भाग्य-निर्णय का सिद्धान्त (Cultural Determinism)

पिछले अध्याय में हमने देखा था कि कुछ लोगों का कहना है कि 'आर्थिक' तथा 'यान्त्रिक'-कारण इतने प्रबल होते हैं कि इनसे जो 'सामाजिक-परिवर्त्तन' उत्पन्न होते हैं, वे अवश्यम्भावी होते हैं, रोके नहीं रुकते। इसे वे 'प्राविधिक' या 'यान्त्रिक भाग्यनिर्णय का सिद्धान्त' (Technological determinism) कहते हैं। इसी प्रकार कुछ लोगों का कहना है कि 'सांस्कृतिक'-कारण इतने प्रबल होते हैं कि इनसे जो 'सामाजिक-परिवर्त्तन' होते हैं, वे भी अवश्यम्भावी होते हैं। 'सांस्कृतिक-कारण' (Cultural factors) ही इस बात का निर्णय कर देते हैं कि किस प्रकार के आर्थिक, यान्त्रिक तथा सामाजिक परिवर्त्तन होंगे। दूसरे शब्दों में, 'सांस्कृतिक-कारण' ही सब प्रकार के परिवर्तनों का भाग्य-निर्णय कर देते हैं। इस सिद्धान्त को 'सांस्कृतिक भाग्य-निर्णय का सिद्धान्त' (Cultural determinism) कहा जाता है।

इस सिद्धान्त के पृष्ठ-पोषकों में श्री मैक्स वेबर (Max Weber) मुख्य हैं। जैसे कार्ल-मार्क्स ने यह सिद्ध किया है कि 'पूंजीवाद' से पहले समाज में जो आर्थिक-कारण काम कर रहे थे, पूँजीवाद उनका अवश्यंभावी परिणाम था, उन कारणों से 'पूंजीवाद' ही उत्पन्न हो सकता था, और कुछ नहीं, वैसे मैक्स वेबर ने

यह सिद्ध किया है कि आर्थिक नहीं, अपितु सांस्कृतिक-कारण ऐसे थे जिनके परिणाम-स्वरूप 'पूँजीवाद' ही उत्पन्न हो सकता था, और कुछ नहीं हो सकता था। वेबर का कथन है कि पूँजीवाद के उत्पन्न होने से पहले समाज में प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय का प्रचार था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी यह मानते थे कि व्यापार करना दैवीय-आदेश के अनुसार उनका कर्त्तव्य है। इस आदेश के अनुसार ही वे समझते थे कि जीवन में मितव्ययिता, पैसे का बचाना, दिनभर मेहनत करना आदि उनके लिए आवश्यक है। इन सांस्कृतिक-विचारों का परिणाम 'पूँजी' का जमा हो जाना आवश्यक था। यह विचार कुछ अंश तक ठीक हो सकता है, परन्तु इसमें काफ़ी खींचातानी मालूम पड़ती है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि सांस्कृतिक-कारण ही सब सामाजिक-परिवर्त्तनों का अवश्यम्भावी तौर से निर्णय कर देते हैं, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक-कारण समाज की गति को दिशा देते हैं। हम देख आये हैं कि 'सभ्यता' (Civilization) साधनों का, उपकरणों का नाम है। जितने 'आर्थिक अथवा यान्त्रिक उपकरण' (Economic or Technological factors) हैं, वे सब 'सभ्यता' के ही अंग हैं। 'सभ्यता' को हम जिस काम में लाना चाहें ला सकते हैं, अपने-आप यह किसी काम में नहीं लगती। छुरी से हम सब्जी भी काट सकते हैं, किसी आदमी का गला भी काट सकते हैं। अणु-शक्ति से हम, जैसे आज हम बिजली से काम ले रहे हैं, वैसे सब उपयोगी काम ले सकते हैं, इससे हिरोशिमा-जैसे नगर को भस्म भी कर सकते हैं। रेडियो से सत्य का प्रचार भी कर सकते हैं, झूठ को भी फैला सकते हैं। 'सभ्यता' तो काम देगी—क्या काम देगी, हम छुरी से सब्जी काटेंगे या गला काटेंगे, अणु-शक्ति से रचनात्मक काम लेंगे या ध्वंसात्मक काम लेंगे, रेडियो से सच्चाई को फैलायेंगे या झूठ का विस्तार करेंगे—इस सब का निर्णय 'संस्कृति' करती है। 'सभ्यता' तो 'संस्कृति' का सिर्फ़ माध्यम है, 'संस्कृति' ही 'सभ्यता' की दिशा का, 'सभ्यता' किधर जायगी, किधर नहीं जायगी—इस बात का निर्णय करती है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि रूस की क्रांति आर्थिक-कारणों से नहीं, सांस्कृतिक कारणों से हुई। जो भी तत्त्व काम कर रहे थे उनकी दिशा का निर्धारण सांस्कृतिक-कारणों ने किया था। मार्क्स ने जिस उग्र विचार-धारा को जन्म दिया, उसे १९१४ के विश्व-व्यापी युद्ध के समय जनता की विपत्ति में अपने को मूर्त्त-रूप देने का अवसर मिल गया। उन विचारों ने तत्कालीन आर्थिक तथा राजनैतिक अवस्थाओं को अपनी पकड़ में लेकर परिवर्त्तन की दिशा का निर्धारण कर दिया। अगर मार्क्स ने इतनी जबर्दस्त विचार-धारा न पैदा की हुई होती, तो रूस की क्रांति का अपने-आप यह रूप न बनता। 'विचार-धाराएँ' (Ideologies) संसार ो इधर-से-उधर पटक देती हैं, विचारों के प्रभाव में आकर व्यक्ति तथा जातियाँ आर्थिक लाभों को लात मार कर परे फेंक देती हैं—यह-सब क्या सांस्कृतिक-तत्त्वों का, सामाजिक-परिवर्त्तनों पर प्रभाव दिखाने के लिए काफ़ी नहीं

है ? 'सभ्यता' के साधन एक जहाज के समान हैं। यह जहाज किसी भी बन्दरगाह के लिए अपना पाल उठा सकता है। 'सभ्यता' का जहाज किस बन्दरगाह की तरफ़ मुख उठा कर चलेगा--इसका निर्णय करना 'संस्कृति' का काम है। इसमें सन्देह नहीं कि बिना जहाज के हम समुद्र-यात्रा नहीं कर सकते। अगर जहाज अच्छा होगा, तो वह तेज चलेगा, यात्रा भी जल्दी निपट जायगी, अगर टूटा-फूटा होगा, तो धीरे-धीरे चलेगा, यात्रा पूरी करने में भी देर लगेगी, परन्तु हम किस दिशा में जायेंगे, इसका निर्णय जहाज नहीं करेगा। 'सभ्यता' संस्कृति की दिशा का निर्णय नहीं करेगी, 'संस्कृति' सभ्यता की दिशा का निर्णय करेगी।

प्रश्न

१. 'संस्कृति' क्या है? इसका लक्षण करते हुए 'संस्कृति-प्रतिमान', 'संस्कृति-संकुल', तथा 'संस्कृति का विशिष्ट गुण' को समझाइये।
२. 'सभ्यता' क्या है? 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' की तुलना कीजिये।
३. 'सभ्यता' का 'संस्कृति' पर; 'संस्कृति' का 'सभ्यता' पर; 'संस्कृति' का 'संस्कृति' पर क्या प्रभाव है--उदाहरण देकर समझाइये।
४. 'सभ्यता' तथा संस्कृति' किस प्रकार बढ़ती हैं, और उनकी वृद्धि की गति किस दर से होती है?
५. 'संस्कृति के एक भाग का पछड़ जाना' (Cultural lag) किसे 'कहते हैं? मैक आइवर ने इसकी जगह 'यांत्रिक-तत्त्वों के एक भाग का पछड़ जाना' (Technological lag)---इस शब्द का प्रयोग क्यों किया है?
६. सांस्कृतिक भाग्य-निर्णय' का सिद्धान्त क्या है? इसके पक्ष तथा विपक्ष में अपने विचार लिख कर अपनी युक्ति-पूर्वक सम्मति लिखिये।

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. सांस्कृतिक-परिवर्त्तन किस प्रकार होता है? सांस्कृतिक-अनुकूलन में उच्चतर सभ्यता के सम्पर्क का क्या महत्त्व है? उदाहरण दीजिये। (लखनऊ, १९५२)
२. सामाजिक-विरासत क्या है? इस सम्बन्ध में भाषा के महत्त्व को समझाइये। (आगरा, १९५३)
३. संस्कृति' और 'सभ्यता' में क्या भेद है? सांस्कृतिक उन्नति के संख्यात्मक तथा गुणात्मक माप-दण्ड बताइये। (आगरा, १९५४)
४. संस्कृति के क्या तत्त्व हैं? आप एक समूह की संस्कृति का किस प्रकार अध्ययन करेंगे? (आगरा, १९५५)
५. ऑगबर्न के सांस्कृतिक-विलम्बना के सिद्धान्त की विवेचना कीजिये। इस सिद्धान्त के विरुद्ध क्या आपत्तियाँ उठाई गई हैं? (राजस्थान, १९५६)
६. सांस्कृतिक-विलम्बना पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये। (आगरा, १९५७)

१३

सामाजिक-परिवर्त्तन—'प्रक्रिया', 'विकास', 'उन्नति', 'सभ्यता'

(SOCIAL CHANGE—PROCESS, EVOLUTION, PROGRESS, CIVILIZATION)

हमने पिछले तीन अध्यायों में तीन परिवर्त्तनों पर विचार किया—प्राणि-शास्त्रीय-परिवर्त्तन, प्राविधिक अथवा यान्त्रिक-परिवर्त्तन तथा सांस्कृतिक-परिवर्त्तन। परन्तु 'परिवर्त्तन' क्या है? जिस परिवर्त्तन में से हम गुज़र रहे हैं वह 'प्रक्रिया' (Process) है, 'विकास' (Evolution) है, या 'उन्नति' (Progress) है? इस अध्याय में हमें इसी समस्या पर विचार करना होगा।

'सामाजिक-प्रक्रिया' (Social process), 'सामाजिक-विकास' (Social evolution) तथा 'सामाजिक-उन्नति' (Social progress)—ये तीनों किसी-न-किसी प्रकार के 'सामाजिक परिवर्त्तन (Social change) हैं। अतः सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि 'सामाजिक-परिवर्त्तन' किसे कहते हैं?

परिवर्त्तन का क्या अर्थ है?

हमारे समाज में आज से हज़ार-दो-हज़ार साल पहले जो कायदे-कानन बने थे, जो प्रथाएँ पड़ी थीं, क्या आज वे वैसी-की-वैसी मौजूद हैं? कभी यहाँ स्वयंवर होता था, आज स्वयंवर कहीं दीखता भी नहीं। कभी सती-प्रथा थी, आज सती होना अपराध है। जिस समय हमारे पुराने समाज के विधि-विधान बने थे, यही समझ कर बने थे कि वे नित्य हैं, वे बदलेंगे नहीं, परन्तु आज समाज के हर क्षेत्र में पुरानी सभी बातें बदल गई हैं। यह सारी तब्दीली 'परिवर्त्तन' कहलाती है।

प्रत्येक प्रकार के 'परिवर्त्तन' के आधार में तीन 'तत्त्व' काम कर रहे होते हैं। एक है—वह स्वयं 'वस्तु-तत्त्व' (Object factor), दूसरा है—'भिन्नता का तत्त्व' (Difference factor), तीसरा है—'समय का तत्त्व' (Time factor)। जहाँ कोई 'वस्तु' ही नहीं, वहाँ 'परिवर्त्तन' का प्रश्न ही नहीं उठता। जहाँ एक चीज़ दूसरी से 'भिन्न' नहीं होती, वहाँ भी 'परिवर्त्तन' नहीं होता। पत्थर सदियों से एक ही आकृति में पड़ा है, उसमें 'परिवर्त्तन' नहीं आता। 'परिवर्त्तन' एक ही 'समय' में भी नहीं होता। परिवर्त्तन के लिए यह आवश्यक है कि जो चीज़ जसी एक समय में है, दूसरे समय में वैसी न रहे। इस प्रकार हमने देखा कि प्रत्येक 'परिवर्त्तन' में 'वस्तु', 'भिन्नता' तथा 'समय'—ये तीन तत्त्व काम कर रहे होते हैं। 'परिवर्त्तन' का अर्थ है किसी 'वस्तु' की, 'समय' की दृष्टि से, 'भिन्न-भिन्न' अवस्था।

सामाजिक-परिवर्त्तन की व्याख्या

[क] जेन्सन की सामाजिक-परिवर्त्तन की व्याख्या--"सामाजिक-परिवर्त्तन लोगों के कार्य करने और विचार करने की पद्धतियों के संशोधन का नाम है।"

[ख] गिलिन तथा गिलिन की व्याख्या--"सामाजिक-परिवर्त्तन जीवन के स्वीकृत प्रकारों में भेद को कहते हैं। जीवन के स्वीकृत प्रकारों में परिवर्त्तन भौगोलिक दशाओं में परिवर्त्तन के कारण हो सकते हैं, सांस्कृतिक उपकरणों, जन-संख्या की रचना या विचार-धाराओं के परिवर्त्तन के कारण हो सकते हैं, समूह में प्रसार के सिद्धान्त के अनुसार आये या भीतर से हुए नवीन आविष्कारों के कारण भी हो सकते हैं।"

[ग] जोन्स की व्याख्या--"सामाजिक-परिवर्त्तन--इस शब्द से उन परि-वर्त्तनों का अभिप्राय है जो सामाजिक-प्रक्रियाओं में, सामाजिक-प्रतिमानों में, अन्तः-सामाजिक क्रियाओं में, सामाजिक-संगठनों में या इनके किन्हीं रूपान्तरों में पाये जाते हैं।"

हम 'सामाजिक-परिवर्त्तन' की व्याख्या देने से पहले लिख आये हैं कि 'परिवर्त्तन' में तीन 'तत्त्व' (Factors) होते हैं। मैक आइवर का कथन है कि 'सामाजिक-परिवर्त्तन' के इन तीनत त्त्वों के अलावा तीन ही 'प्रकार' (Modes) भी होते हैं। पहला प्रकार है--'प्रक्रिया' (Process), दूसरा है 'विकास' (Evolution), तीसरा है 'उन्नति' (process)।

'प्रक्रिया' (PROCESS)

'प्रक्रिया' (Process)-शब्द का हम प्रयोग तब करते हैं जब 'परिवर्त्तन' (Change) में 'निरन्तरता' (Continuity) का तत्त्व काम कर रहा हो। किसी 'वस्तु' की, 'समय' में, जो 'भिन्न-भिन्न' अवस्था है, वह 'निरन्तर' होती जा रही हो, तो उस अवस्था को 'प्रक्रिया' कहा जाता है। अगर किसी वस्तु की एक समय में एक अवस्था है, और दूसरे समय में दूसरी अवस्था नहीं रहती, या तो पहले की-सी ही अवस्था रहती है या कोई भी अवस्था नहीं रहती, वह नष्ट हो जाती है, तो वहाँ कोई 'प्रक्रिया' नहीं कही जा सकती। 'प्रक्रिया' वहाँ होती है जहाँ अनेक परिवर्त्तन, लगातार, एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा होते चले जा रहे हों। जहाँ यह लगातारपना नहीं, निरन्तरता नहीं, वहाँ 'प्रक्रिया' भी नहीं। उदाहरणार्थ,

---

[क] "Social change may be defined as modifications in ways of doing and thinking of people."—*Jensen.*

[ख] "Social changes are variations from the accepted modes of life, whether due to alteration in geographic conditions, in cultural equipment, composition of the population or ideologies and whether brought about by diffusion or invention within the group.—*Gillin and Gillin.*

[ग] "Social change is a term used to describe variations in, or modifications of, any aspect of social processes, social patterns, social interaction or social organisation."—*Jones.*

'व्यवस्थान की प्रक्रिया' (Process of accommodation), 'आत्मसात्-करण की प्रक्रिया' (Process of assimilation)---ये सब, 'प्रक्रियाएँ', इसी लिए कहलाती हैं क्योंकि इनमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन, लगातार, निरन्तर हो रहा होता है। अगर इनमें लगातार, निरन्तर परिवर्त्तन न हो रहा हो, तो इसे 'प्रक्रिया' नहीं कहा जा सकता, तब तो ये अपरिवर्त्तनशील, स्थिर-पदार्थ, पत्थर की तरह न बदलने वाले हो जायेंगे। समाज में सदा 'प्रक्रिया' चला करती है, वह स्थिर नहीं है, हर समय, निरन्तर भिन्नता होती रहती है।

'विकास' (EVOLUTION)

परिवर्त्तन की प्रक्रिया 'निरन्तर' (Continuous) हो रही हो, उसमें कोई ख़ास 'दिशा' (Direction) न हो, तो वह 'प्रक्रिया' ही रहेगी, परन्तु अगर वह प्रक्रिया किसी ख़ास 'दिशा' में होने लगे, तो परिवर्त्तन की उस प्रक्रिया को 'विकास' (Evolution) कहा जायगा। 'विकास' बाह्य भी हो सकता है, आन्त-रिक भी हो सकता है। बाह्य-विकास को 'वृद्धि' (Growth), 'बढ़ती' (Accu-mulation) कहेंगे, आन्तरिक-विकास को 'विकास' (Evolution, Develop-ment) कहेंगे। बाह्य-विकास 'मात्रा' का, 'आकार' (Quantity) का विकास है, अतः 'मात्रात्मक' (Quantitative) कहलाता है, आन्तरिक-विकास 'गुण' (Quality) का विकास है, अतः 'गुणात्मक-विकास' (Qualitative) कहलाता है। 'विकास' दोनों दिशाओं में चल सकता है---आगे भी, पीछे भी। 'विकास' का मतलब यह नहीं है कि परिवर्त्तन की प्रक्रिया आगे को ही जाय, अगर आगे को जाती है, तब भी 'विकास' है, अगर पीछे को जाती है तब भी 'विकास' है।

'उन्नति' (PROGRESS)

जब 'विकास' की 'प्रक्रिया' आगे को जाती है, पीछे को नहीं जाती, तब हम 'उन्नति' (Progress)-शब्द का प्रयोग करते हैं। 'उन्नति' (Progress) में हम अच्छे-बुरे का, उसके 'मूल्यांकन' (Valuation) का निर्णय करते हैं। 'परिवर्त्तन' में 'वस्तु', 'भिन्नता' तथा 'समय'---ये तीन 'तत्त्व' हैं। क्योंकि 'प्रक्रिया' (Process), 'विकास' (Evolution) तथा 'उन्नति' (Progress)---ये तीनों भी 'परिवर्त्तन' हैं, अतः इनमें भी 'वस्तु', 'भिन्नता' तथा 'समय'---ये तीनों तत्त्व मौजूद रहते हैं। परन्तु इन तीनों के होते हुए, इन तीनों के अतिरिक्त 'प्रक्रिया' (Process) में 'निरन्तरता' (Continuity)---यह एक तत्त्व और अधिक है, 'विकास' (Evolution) में 'निरन्तरता' तथा 'दिशा' (Continuity and Direction)---ये दो तत्त्व और अधिक है, 'उन्नति' (Progress) में 'निरन्तरता', 'दिशा' तथा 'मूल्यांकन' (Continuity, Direction and Valuation)---ये तीनों तत्त्व और अधिक हैं।

हमने देखा कि 'उन्नति' (Progress) एक ऐसी चीज है जिसमें 'सामाजिक-परिवर्त्तन' की 'प्रक्रिया' की जो 'दिशा' है, वह आगे को जाती है, पीछे को नहीं जाती। परन्तु किसकी दृष्टि से आगे, और किसकी दृष्टि से पीछे?

समाज की किस प्रक्रिया को हम 'उन्नति' कह सकते हैं, किसको 'उन्नति' नहीं कह सकते ? 'उन्नति' का अभिप्राय तो 'मूल्यांकन' (Valuation) है। जो भी परिवर्त्तन की प्रक्रिया है, उसे अगर हम 'उन्नति' कहते ह, तो इसका यही अर्थ है कि उस परिवर्त्तन का हम 'मूल्य' आँकते हैं, और 'मूल्य' के सम्बन्ध में यह 'निर्णय' देते हैं कि यह अच्छा है, या बुरा है। परन्तु अच्छे-बुरे का 'मूल्यांकन'—'मूल्य का निर्णय'—सब का भिन्न-भिन्न हो सकता है। जिस प्रक्रिया को एक व्यक्ति अच्छा कहे, उसे दूसरा बुरा कह सकता है। यह हो सकता है कि वर्त्तमान यान्त्रिक-विकास को, वर्त्तमान-सभ्यता को हम 'उन्नति' कहें, दूसरा इसे 'अवनति' कहे। वह यह कहे कि सभ्यता की प्रारम्भिक-अवस्था में मनुष्य जितना सुखी था आज उतना सुखी नहीं रहा, आज बेकारी, बीमारी, दुःख पहले से बढ़ गये हैं। इस दृष्टि से 'उन्नति' (Progress) का अर्थ 'मूल्यांकन' तो है, परन्तु ऐसा मूल्य जो आँकने वाले के दृष्टि-कोण से 'उन्नति' कहा जा सके, यह जरूरी नहीं कि दूसरे के दृष्टिकोण से भी उसे 'उन्नति' ही कहा जा सके।

संसार में हर-वस्तु का विरोधी गुण उसके साथ लगा रहता है। अच्छे के साथ बुरा, ऊँचे के साथ नीचा। इसी तरह जब हम 'विकास' (Evolution) शब्द का प्रयोग करते हैं, तब 'ह्रास' (Regression), तथा जब 'उन्नति' (Progress) शब्द का प्रयोग करते हैं तब 'अवनति' (Decline)-शब्द इनके साथ आ जाते हैं। 'प्रक्रिया', 'विकास तथा ह्रास' एवं 'उन्नति तथा अवनति'—ये तीनों 'परिवर्त्तनों' के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इन सब में जो 'तत्त्व' (Factors) काम करते हैं उन्हें चित्र में यों दिखाया जा सकता है :—

१. 'परिवर्त्तन' (Change)	=	'वस्तु' + 'भिन्नता' + 'समय' (Object) (Difference) (Time)
२. 'प्रक्रिया' (Process)	=	'वस्तु' + 'भिन्नता' + 'समय' + इन तीनों में 'निरन्तरता' (Continuity)
३. बाह्य-'विकास' अर्थात् वृद्धि (Growth), बढ़ती (Accumulation)	=	'वस्तु' + 'भिन्नता' + 'समय' +इन तीनों में 'निरन्तरता' तथा 'दिशा' (Continuity and Direction) [मात्रा की दृष्टि से—Quantitatively]
४. 'आन्तरिक-'विकास' 'विकास' (Evolution) | 'ह्रास' (Regression)	=	'वस्तु' + 'भिन्नता' + 'समय' +इन तीनों में 'निरन्तरता' तथा 'दिशा' (Continuity and Direction) [गुण की दृष्टि से—Qualitatively]
५. 'उन्नति' (Progress) | 'अवनति' (Decline)	=	'वस्तु' + 'भिन्नता' + 'समय' +तीनों में 'निरंतरता', 'दिशा' तथा 'मूल्यांकन' (Continuity, Direction and Valuation)

१. सामाजिक-परिवर्तन--'चक्र या 'विकास' की प्रक्रिया

सामाजिक-परिवर्त्तनों में जो 'प्रक्रिया' (Process) हो रही है, उसके सम्बन्ध में समाज-शास्त्रियों में दो विचार हैं। एक विचार तो यह है कि यह 'प्रक्रिया' एक चक्र की भाँति चलती है। जैसे व्यक्ति साँस अन्दर लेता और बाहर छोड़ता है, जैसे दिन के बाद रात और रात के बाद दिन आता है, जैसे ऋतुओं का चक्र चल रहा है, वैसे समाज में हर-एक परिवर्त्तन का चक्र चलता है। इस चक्र के अनुसार जब बेकारी बढ़ जाती है, तो उसके बाद रोज़गार बढ़ जाता है; जब अपराध बढ़ जाते हैं, तो उसके बाद एकदम धार्मिक लहर चल पड़ती है; ग़रीबी बढ़ती है, तो बाद को अमीरी के आसार दिखाई देने लगते हैं, राज्य बनते हैं, बिगड़ते हैं, सभ्यताओं का उदय होता है, अन्त होता है। यह 'चाक्रिक-प्रक्रिया' (Cyclical process) है। दूसरा विचार यह है कि सामाजिक-परिवर्त्तनों की 'प्रक्रिया' चक्र में नहीं चलती, किसी एक 'दिशा' की तरफ़ चलती है, दूसरे शब्दों में, सामाजिक-परिवर्त्तनों की प्रक्रिया 'विकास की प्रक्रिया' (Evolutionary process) है।

२. सामाजिक-परिवर्त्तन तथा 'विकास' की प्रक्रिया

इस विचार को मानने वालों का कहना है कि सामाजिक-परिवर्त्तन प्रक्रिया-मात्र नहीं हैं, न ही इनमें चक्र-की-सी गति है, सामाजिक-परिवर्त्तन की दिशा 'विकास' (Evolution) की तरफ़ है। डार्विन (Darwin) ने १९वीं शताब्दी के मध्यकाल में 'विकास' (Evolution) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, इस सिद्धान्त को हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) ने अन्य सब विज्ञानों पर घटाते हुए समाज-शास्त्र पर भी घटाया। 'विकास' (Evolution) का मतलब है एक 'ऐसी 'प्रक्रिया' (Process) जिसमें किसी वस्तु के अन्तर्निहित, उसके छिपे हुए गुण प्रकट हों। ये गुण अभाव से नहीं उत्पन्न होते। इन गुणों का बीज वस्तु के भीतर ही विद्यमान होता है। अनुकूल-पर्यावरण पाकर वस्तु के भीतर विद्यमान गण, उसकी सम्भावनाएँ मूर्त्त रूप धारण कर लेती हैं, पर्यावरण अनुकूल न हो, तो वे बीज रूप में ही पड़ी रहती हैं। इन बीज रूप से विद्यमान गुणों, इनकी सम्भावनाओं के स्थूल रूप में आने की प्रक्रिया को 'विकास' कहा जाता है। प्रश्न यह है कि बीज रूप से जो गुण किसी वस्तु के भीतर विद्यमान हैं, वे जब प्रकट होते हैं, तब कौन-सी ख़ास बात हो जाती है कि इसे हम 'विकास' (Evolution) कहने लगते हैं?

'विकास' में विभेदीकरण (DIFFERENTIATION) की प्रक्रिया

प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से जीवन का विकास एकता से अनेकता की तरफ़ जा रहा है। अमीबा के विषय में हम जानते हैं कि इसके भिन्न-भिन्न अंगों का विकास नहीं हुआ होता। एक ही अंग से यह मुख का, पेट का, आँत का—सब काम ले लेता है। ज्यों-ज्यों जीवन के क्षेत्र में विकसित प्राणी आते जाते हैं, त्यों-त्यों 'विभेदीकरण' (Differentiation) होता जाता है। उच्च-प्राणियों में मुख अलग है, पेट अलग है, आँतें अलग ह। 'विभेदीकरण की प्रक्रिया' विकास

को जान है। 'सामाजिक-परिवर्त्तन' (Social change) के विषय में लिखते हुए हमने कहा था कि 'परिवर्त्तन' में 'भिन्नता' एक 'तत्त्व' है, जिसका नाम हमने 'भिन्नता का तत्त्व' (Difference factor) रखा था। यह 'भिन्नता का तत्त्व' ही जब 'विकास' की 'प्रक्रिया' में काम करने लगता है, तब इसे 'विभेदीकरण' (Differentiation) की 'प्रक्रिया' कहते हैं। ज्यों-ज्यों 'विकास' होता जाता है, त्यों-त्यों 'विभेदीकरण' (Differentiation) की 'प्रक्रिया' बढ़ती जाती है। जहाँ 'विभेदीकरण' (Differentiation) होगा, वहाँ 'विकास' होगा।

'विभेदीकरण' की प्रक्रिया जब व्यक्ति की जगह समाज में काम शुरू करती है, तब समाज में एक की जगह अनेक संगठन बनने लगते हैं, भिन्न-भिन्न विभाग खुलने लगते हैं। पहले एक ही संगठन से सब-कुछ होता था, एक ही विभाग से सब काम चल जाता था, अब हर काम के लिए अलग संगठनों और अलग विभागों की नींव पड़ जाती है। समाज के विकास में 'विभेदीकरण' की इस 'प्रक्रिया' का नाम 'सामाजिक-विकास' (Social evolution) है। 'सामाजिक-विकास' का यह मतलब नहीं है कि नये-नये संगठन तथा विभागों की संख्या बढ़ जाय, इनका आपस में कोई सम्बन्ध न हो। कोई-सा नवीन संगठन, या कोई-सा नवीन विभाग खुल जाना 'सामाजिक-विकास' (Social evolution) के लिए पर्याप्त नहीं है। एक रोगी-शरीर में नये-नये कीटाणु प्रवेश कर जाते हैं, परन्तु वे शरीर की एकता को बनाने के स्थान में उस एकता को नष्ट करते हैं। 'सामाजिक-विकास' में जो नवीन संगठन, नवीन विभाग, जो 'विभेदीकरण' होता है, वह भी समाज के शरीर में सिर्फ़ एक नवीन तत्त्व उत्पन्न करने के लिए नहीं होता, एक रोग की तरह से नहीं होता, अपितु समाज के शरीर में एकता उत्पन्न करने के लिए होता है। इस दृष्टि से 'विभेदीकरण' का उद्देश्य भेद को मिटाना है। जैसे 'श्रम-विभाग' (Division of labour) का उद्देश्य यह होता है कि सब श्रम अलग-अलग होकर इस प्रकार विकसित हों कि सब के मिलने से कार्य में कुशलता दीख पड़े, इनका अलग होना मिलने के लिये है, इसी प्रकार 'विभेदीकरण' (Differentiation) का अभिप्राय भिन्न-भिन्न विभागों को 'विशेष-योग्यता' (Specialization) द्वारा एक-दूसरे के अधिक निकट लाना है। इस दृष्टि से 'विभेदीकरण' (Differentiation) का ही दूसरा नाम एकीकरण' (Integration) है। समाज की प्रारम्भिक रचना में 'एकीकरण' (Integration) होता है, परन्तु वह 'एकीकरण' समाज के हर उद्देश्य को सफलतापूर्वक पूरा नहीं कर सकता। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए विकसित-समाज 'विभेदीकरण' की प्रक्रिया में से गुज़रता है, हर काम के लिए एक नया संगठन बनाता है, हर बात की 'विशेष-योग्यता' उत्पन्न करता है, और इस प्रकार 'विभेदीकरण' की प्रक्रिया द्वारा समाज फिर 'एकीकरण' की तरफ़ आता है। 'विभेदीकरण' तथा 'एकीकरण' की प्रक्रिया में से गुज़रते-गुज़रते ही समाज में 'समीकरण' (Equilibrium) की अवस्था आती है।

३. सामाजिक-परिवर्त्तन तथा 'उन्नति' की प्रक्रिया

हम देख चुके हैं कि 'प्रक्रिया' (Process) जब किसी ख़ास 'दिशा' (Direction) की तरफ़ चल पड़ती है, तब उसे 'विकास' (Evolution) कहते हैं, जब उस दिशा का हम 'मूल्य' (Value) आँकते हैं, यह कहते हैं कि वह 'दिशा' 'अच्छाई' की दिशा है, तब उस 'मूल्यांकन' (Valuation) को 'उन्नति' (Progress) कहते हैं। 'उन्नति'-शब्द का यह ढीला-ढाला सा प्रयोग है, परन्तु क्या इस शब्द का वैज्ञानिक अर्थ में प्रयोग हो सकता है? वैज्ञानिक-दृष्टि से जब किसी शब्द का प्रयोग होता है, तो किसी निश्चित अर्थ में प्रयोग होता है। 'उन्नति' (Progress)-शब्द का निश्चित अर्थ क्या है? एक व्यक्ति की दृष्टि में जो 'उन्नति' है, दूसरे की दृष्टि में वही 'अवनति' है। भिन्न-भिन्न देश और भिन्न-भिन्न काल में इस शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ लिया जाता है। कई लोगों का कहना है कि 'उन्नति'-शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हुए भी इसका एक ऐसा अर्थ हो सकता है जिसके विषय में भिन्न-भिन्न अर्थ करने वाले भी एकमत हों। जिस अर्थ में वे एक-मत हों, 'उन्नति'-शब्द का वही वैज्ञानिक अर्थ है। 'उन्नति'-शब्द के किस अर्थ में सब एक-मत हैं? मनुष्य-समाज की कुछ एक-समान इच्छाएँ हैं, एक-समान काम-नाएँ हैं, एक-समान लक्ष्य हैं, एक-समान उद्देश्य हैं। उदाहरणार्थ, उत्तम-स्वास्थ्य, दीर्घ-आयु, आजीविका के पूर्ण-साधनों का प्राप्त होना, दूसरे का आदर करना, आत्म-सम्मान—ये ऐसी इच्छाएँ हैं, जिनपर सारा मानव-समाज एक-मत है। ये इच्छाएँ जिनके मल्य के सम्बन्ध में जंगली और सभ्य, अमीर और ग़रीब, साधु और लुटेरा, ऊँचा और नीचा—सभी सहमत हैं, जिनके सम्बन्ध में कहीं मत-भेद नहीं हैं, इन इच्छाओं की पूर्ति को 'सामाजिक-उन्नति' (Social Progress) कह सकते हैं। इस दृष्टि से क्या 'उन्नति' (Progress)—शब्द का वैज्ञानिक अर्थ में प्रयोग नहीं हो जाता? अवश्य हो जाता है।

४. 'विकास' तथा 'उन्नति' की तुलना

कोई समय था जब 'सामाजिक-विकास' (Social evolution) और 'सामाजिक-उन्नति' (Social progress) का एक ही अर्थ समझा जाता था। आगस्त कोम्टे (Auguste Comte) तथा हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) भी इसी विचार को मानकर चले थे। अमरीका के समाज-शास्त्री लेस्टर वार्ड (Lester Ward) तथा एफ० एच० गिड्डिंग्स (F.H. Giddings) भी इसी विचार को आधार बनाये हुए थे। इन सब के 'विकास' तथा 'उन्नति' को एक समझने का आधार डार्विन (Darwin) का विकासवाद का सिद्धान्त था। विकासवाद में यह माना जाता है कि जो समर्थ होगा वही जिन्दा बचेगा, कमज़ोर नष्ट हो जायगा। इसका यही अर्थ हो सकता था कि अगर कमज़ोर नष्ट हो जायगा, और बलवान् ही बच रहेगा, तो विकास में उन्नति होना आवश्यक है। परन्तु यह विचार आज नहीं माना जाता। आज समाज-शास्त्र में 'विकास' (Evolu-

tion) तथा 'उन्नति' (Progress)--ये दोनों पृथक्-पृथक् शब्द माने जाते हैं। 'विकास' का अर्थ 'उन्नति' नहीं है, 'उन्नति' का अर्थ 'विकास' नहीं है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि मानव-समाज विकसित हुआ है, परन्तु क्या इसके साथ ही यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि हमारा समाज उन्नत भी हुआ है ? यह हो सकता है कि हमारा व्यक्ति-रूप में यह विश्वास हो कि समाज उन्नत हुआ है, परन्तु जबतक दूसरे भी हमारे विश्वास से सहमत न हों, तबतक क्या यह कहा जा सकता है कि जिसे हम उन्नति कहते हैं, उसे दूसरे लोग भी उन्नति ही कहेंगे ? आज का समाज विकसित है, परन्तु क्या यह उन्नत भी है ? जंगली लोगों में जो सन्तोष पाया जाता था, वह आज विकसित-समाज में कहाँ है ? वे लोग बीमार नहीं होते थे, स्वास्थ्य की दृष्टि से हम से अच्छे थे, सच्चे थे, ईमानदार थे, एक-दूसरे के साथ हमसे ज़्यादा हमदर्दी रखते थे। आज जिस प्रकार लोग चिन्ता से दबे रहते हैं, तरह-तरह की मानसिक बीमारियों के शिकार हैं, यह सब-कुछ प्रारंभिक-समाज में नहीं था। किस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि हम उन्नत हैं, वे अवनत थे ? उनकी आँखें इतनी कमज़ोर नहीं होती थीं, क्योंकि वे किताबों के कीड़े नहीं थे, उनके दाँत मोती की तरह चमकते थे और पत्थर की तरह पक्के होते थे, क्योंकि तरह-तरह के मसालों के खाने बनाना उन्होंने नहीं सीखा था। अविकसित होते हुए भी हमसे अच्छी आँखें और अच्छे दाँत होने के कारण उनको हमसे उन्नत क्यों न कहा जाय ? जंगली और उनसे कुछ उन्नत मानव-समूह की पारस्परिक तुलना करने से ज्ञात हुआ कि शुरू-शुरू में दास-प्रथा नहीं थी, 'सभ्यता' के साथ-साथ दास-प्रथा आयी; शुरू-शुरू में बहु-विवाह नहीं था, 'सभ्यता' के साथ-साथ बहु-विवाह चल पड़ा। दास-प्रथा और बहु-विवाह विकसित समाज की प्रथाएँ तो कही जा सकती हैं, उन्नत समाज की नहीं। इससे स्पष्ट है कि 'विकास' (Evolution) तथा 'उन्नति' (Progress) पृथक्-पृथक् प्रक्रियाएँ हैं, और इन दोनों को एक समझना भूल है।

५. 'विकास तथा उन्नति' की, एवं 'सभ्यता तथा संस्कृति' की तुलना

हमने देखा कि जैसे 'विकास तथा उन्नति' (Evolution and Progress) का जोड़ा है, वैसे 'सभ्यता तथा संस्कृति' (Civilization and Culture) का भी जोड़ा है। क्या इनका आपस में कुछ सम्बन्ध है ? 'विकास' (Evolution) का अर्थ परिवर्त्तन की प्रक्रिया में 'दिशा' (Direction) का निर्धारण करना है, 'सभ्यता' (Civilization) भी 'प्राविधिक-परिवर्त्तन' (Technological change) की प्रक्रिया में एक विशेष 'दिशा' (Direction) का नाम है। बैलगाड़ी के बाद घोड़ा-गाड़ी बनी, घोड़ा-गाड़ी के बाद रेल-गाड़ी बनी, रेल-गाड़ी के बाद हवाई जहाज़ बना--यही 'विकास' (Evolution) है, यही 'सभ्यता' (Civilization) है। 'विकास' (Evolution) का काम 'दिशा' (Direction) दे देना है, 'मूल्य-आँकना' (Valuation) नहीं है। जब हम 'सभ्यता'

एवं 'प्राविधिक-गतिविधि' (Civilization, Technology) का 'मूल्य' आँकने लगते हैं, तब हम 'सभ्यता' के नहीं, 'संस्कृति' (Culture) के क्षेत्र में आ जाते हैं। जैसे 'संस्कृति' (Culture) का काम 'मूल्य' आँकना है, वैसे 'उन्नति' (Progress) का काम भी 'मूल्य' आँकना है। जब हम 'मूल्य' आँकते हैं, तब 'सभ्यता' की परख करने लगते हैं। अगर हमारे माप-दंड से कोई 'सभ्यता', कोई 'विकास' ऊपर जा रहा है, तो उसे 'उन्नति' कहते हैं, नीचे जा रहा है तो उसे 'अवनति' कहते हैं। इस दृष्टि से 'विकास' तथा 'सभ्यता' (Evolution and Civilization) का एक एवं 'उन्नति' तथा 'संस्कृति' (Progress and Culture) का एक अपना-अपना क्षेत्र है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'सभ्यता' का उद्भव 'विकास' की प्रक्रिया से होता है, 'संस्कृति' का उद्भव 'उन्नति' की प्रक्रिया से होता है। जैसे 'विकास' की प्रक्रिया जब उन्नति की 'दिशा' अख्तियार कर लेती है, तब उसी प्रक्रिया को 'उन्नति' कहा जाता है, वैसे जब 'सभ्यता' उन्नति की दिशा अख्तियार कर लेती है, तब उसे 'संस्कृति' का नाम दिया जाता है। 'विकास' का मूल्यांकन 'उन्नति' है, इसी प्रकार 'सभ्यता' का मूल्यांकन 'संस्कृति' है।

६. सामाजिक-परिवर्त्तन की सार्वभौमिकता

हमने देखा, समाज में परिवर्त्तन हो रहा है। परिवर्त्तन का रूप प्रक्रिया, विकास, उन्नति-अवनति सभी प्रकार का हो सकता है। संसार जहाँ से चला था आज वहाँ नहीं खड़ा। कभी मनुष्य वन्य-जीवन व्यतीत करता था, कभी कृषि-जीवन व्यतीत करन लगा, कभी गृहोद्योगमय उसका जीवन था, आज संसार का उद्योगीकरण हो गया है। कभी बैल-गाड़ी चलती थी, कभी घोड़ा-गाड़ी चलने लगी, आज मोटर चलती है। कभी लोग गाँवों में बसते थे, आज शहरों की भरमार हो रही है, गाँव उजड़ रहे हैं। संसार किसी एक बिन्दु पर खड़ा नहीं, यह गतिमान् है, इसे जगत् कहते हैं, जगत्--अर्थात् गतिशील, आगे-आगे चलने वाला, परिवर्त्तित होने वाला। अगर संसार परिवर्त्तनशील है, हमारी संस्थाएँ, संगठन बदलते रहे हैं और बदलते रहेंगे, तो रूढ़िवाद मानव-समाज का मूल-तत्त्व नहीं है, रूढ़िवादी मानव-समाज के परिवर्त्तन के तत्त्व के विरुद्ध जाते हैं। हमें यह मानना होगा कि सामाजिक-परिवर्त्तन चाहे वह उन्नति का रूप धारण करे, चाहे अवनति का--संसार की अन्तरात्मा परिवर्त्तन है। अगर यह बात ठीक है, तो रूढ़िवाद स्वाभाविक होता हुआ भी टिकने वाला तत्त्व नहीं है। यही कारण है कि मनुष्य को परिवर्त्तित होने वाली सामाजिक-अवस्थाओं के साथ अपना सामंजस्य स्थापित करना होगा, अपने को इन परिवर्त्तनों के अनुकूल बनाना होगा, जो दिनों-दिन बदलते सामाजिक-विधि-विधानों के साथ अपना मेल नहीं बैठा सकते वे संसार में टिक भी नहीं सकते। संसार का इतिहास इस बात का भी साक्षी है कि जहाँ परिवर्त्तन का तत्त्व अवश्यम्भावी तत्त्व है वहाँ इसके साथ ही यह विश्व-व्यापी तथा सार्वभौम है। संसार का कोई ऐसा कोना नहीं जहाँ सामाजिक-संगठन शुरू से वैसे-का-वैसा बना रहा हो।

७. सामाजिक-परिवर्त्तन के कारक

सामाजिक-परिवर्त्तन किन कारणों से होता है, इसके कारक क्या हैं? समाज-शास्त्रियों ने सामाजिक-परिवर्त्तनों के अनेक कारकों का उल्लेख किया है जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं:

(क) सामाजिक-परिवर्त्तनों के प्राणि-शास्त्रीय कारक,
(ख) सामाजिक-परिवर्त्तनों के यान्त्रिक-कारक,
(ग) सामाजिक-परिवर्त्तनों के सांस्कृतिक-कारक।

इन तीनों का वर्णन हम पहले तीन अध्यायों में विस्तार से कर आये हैं। इन तीन के अतिरिक्त अन्य भी अनेक कारक हैं, परन्तु उनमें मुख्य यही कहे जाते हैं।

प्रश्न

१, 'सामाजिक-परिवर्त्तन'--इस शब्द में 'परिवर्त्तन' शब्द का विश्लेषण करते हुए बतलाइये कि 'परिवर्त्तन' में क्या-क्या 'तत्त्व' आ जाते हैं।
२. 'प्रक्रिया', 'विकास' तथा 'उन्नति'--इनकी व्याख्या कीजिये, इनके 'तत्त्वों' का विश्लेषण कीजिये, और इनका आपस का सम्बन्ध दर्शाइये।
३. 'विभेदीकरण' (Differentiation) का क्या अर्थ है?
४. 'सामाजिक-परिवर्त्तन' 'सामाजिक-विकास' तथा 'सामाजिक-उन्नति' इन सब की व्याख्या करते हुए इनके आपसी भेद को स्पष्ट कीजिये।
५. 'सामाजिक-विकास' तथा 'सामाजिक-उन्नति' की तुलना कीजिये।
६. 'उन्नति' के विचार में 'मूल्यांकन' करना पड़ता है--इसे स्पष्ट कीजिये।

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. सामाजिक-परिवर्त्तन के मुख्य कारकों पर भारतीय उदाहरण देते हुए प्रकाश डालिय। (लखनऊ, १९४९, आगरा १९५७)
२. "समाज 'समन्वय' तथा 'विभेदीकरण' का 'संतुलन' है"--इस कथन का आप क्या अर्थ समझते हैं? (आगरा, १९५२)
३. सामाजिक-परिवर्त्तन से आप क्या समझते हैं? सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्त्तन में क्या भेद है? सामाजिक परिवर्त्तन की क्या कसौटियाँ हैं? (राजस्थान, १९५४)
४. सामाजिक-परिवर्त्तन का क्या अभिप्राय है? सामाजिक-परिवर्त्तन के कारण और परिणाम लिखिये। (आगरा, १९५५)
५. क्या सामाजिक-परिवर्त्तन मानव समाज में एक सार्वभौम प्रक्रिया है? उदाहरण देकर अपने कथन की पुष्टि कीजिये। (राजस्थान, १९५५)
६. सामाजिक-विकास की वास्तविकता क्या है? इस विषय को किसी एक उदाहरण के विशेष प्रसंग में समझाइये। (आगरा, १९५७; राजस्थान १९५७)

समाज-शास्त्र के मूल-तत्त्व

[द्वितीय भाग]

१४

सामाजिक-संगठन
(SOCIAL ORGANISATION)

अपने यहाँ एक बुड्ढे की कहानी प्रसिद्ध है। उसके लड़के बड़े हो गये थे और आपस में लड़ा करते थे। उसने उन्हें बुला कर एक-एक के हाथ में सूत का कच्चा धागा दे दिया और कहा--इसे तोड़ो तो ? हर-एक ने झट-से उस कच्चे धागे को तोड़ कर परे फेंक दिया। फिर उसने उन धागों को बट-बट कर एक रस्सी बनाई। अब उनके हाथ में उस रस्सी को देकर उसने उसे तोड़ने को कहा। वह रस्सी इतनी मजबूत हो गई थी कि इकले किसी से न टूटी। बुड्ढे ने अपने लड़कों को सम्बोधित करके कहा कि संगठन की यह महिमा है। इकले सूत को सब-कोई तोड़ देता है, जब सब सूत मिल कर एक हो जाते हैं, तब उन्हें तोड़ना कठिन हो जाता है। अक्सर सुना करते हैं, एक और एक मिल कर दो नहीं, ग्यारह हो जाते हैं। संस्कृत की उक्ति है--'संघे शक्तिः कलौ युगे'--कलियुग में संगठन में शक्ति आ बसी है। अलग-अलग व्यक्तियों में जो शक्ति नहीं होती, उन सब के मिलकर एक हो जाने पर उनमें एक नवीन शक्ति फूट पड़ती है।

१. दो प्रकार का संगठन--'स्वतः विकसित' तथा 'निर्मित'

क्योंकि संगठन के बिना काम नहीं होता, संगठन होने से काम हो जाता है, इसलिए समाज में संगठन की प्रक्रिया सदा जारी रहती है। संगठनों का निर्माण दो तरह से होता है। कई संगठन तो अपने-आप बनते रहते हैं, उन्हें बनाने के लिए किसी को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इस प्रकार के संगठनों को समनेर (Sumner) ने 'स्वतः विकसित संगठन' (Crescive organisation) का नाम दिया है। उदाहरणार्थ, हमारी भाषा व्याकरण के संगठन से बंधी हुई है। ऐसा नहीं हुआ कि पहले व्याकरण बना, फिर व्याकरण के नियमों से भाषा को बाँध दिया गया। भाषा तो अपने-आप विकसित हुई, इस विकसित भाषा में से व्याकरण के नियमों को निकाला गया। परिवार भी एक ऐसा संगठन है, जो अपने-आप विकसित हुआ। किसी ने बैठ कर, बहस-मुबाहिसे के बाद परिवार की रचना नहीं की। इन 'स्वतः विकसित'-संगठनों के अलावा कई ऐसे संगठन हैं जो अपने-आप विकसित नहीं होते, जिन्हें बनाया जाता है, उनकी रचना की जाती है। इस प्रकार के संगठनों को समनेर (Sumner) ने 'निर्मित-संगठन'

(Enacted organisation) का नाम दिया है। उदाहरणार्थ, हमने विश्व-शान्ति के लिए 'संयुक्त-राष्ट्र-संघ' की स्थापना की, कालेज में 'विद्यार्थी-संघ' की स्थापना की, राजनीति में किसी 'दल' की स्थापना की। ये सब अपने-आप नहीं विकसित हुए, इन्हें बनाया गया।

तो फिर 'संगठन' क्या है ? 'संगठन' समाज की 'स्वतः विकसित' या 'निर्मित' अवस्था का नाम है जिस अवस्था में आकर साधारण अवस्था की अपेक्षा अधिक काम होने लगता है।

२. 'संगठन'-शब्द की परिभाषाएँ

भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'संगठन' की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं :—

[क] इलियट, मेबल और मेरिल की व्याख्या—"सामाजिक-संगठन समाज की उस अवस्था का नाम है जिसमें समाज के भिन्न-भिन्न अंग अपने किसी निश्चित या स्वीकृत उद्देश्य के अनुसार कार्य करते हैं।"

[ख] ऑगबर्न तथा निमकॉफ़ की व्याख्या—"किसी काम को सफलता-पूर्वक कर सकने के सामूहिक उपाय को संगठन कहते हैं।"

[ग] रॉयटर तथा हार्ट की व्याख्या—"सामाजिक तथा सांस्कृतिक जितनी भी संस्थाएँ हैं वे सामाजिक-संगठन कहलाती हैं, उनका आपस का सम्बन्ध भी सामाजिक-संगठन कहलाता है। समूह के असंगठित कार्य भी सामाजिक-संगठन के अन्तर्गत हैं।"

इन सब व्याख्याओं से स्पष्ट है कि 'संगठन' समाज की एक विशेष अवस्था का नाम है जिसमें कोई निश्चित उद्देश्य बन जाता है, और उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए बेतरतीब समाज में एक ख़ास प्रकार की तरतीब उत्पन्न हो जाती है—चाहे वह अपने-आप पैदा हो, चाहे प्रयत्न से उस तरतीब को पैदा किया जाय ताकि किसी निश्चित उद्देश्य को सफलता-पूर्वक पूरा किया जा सके।

[क] "Social organisation is a state of being, a condition in which the various institutions in a society are functioning in accordance with their recognised or implied purposes."—*Elliot, Mabel and Francis Merrill.*

[ख] "Organisation is an effective group-device for getting something done."—*Ogburn and Nimkoff.*

[ग] "By organisation is meant the totality of the social and cultural institutions and their inter-relationships together with the body of the unorganised activities characteristic of the group."—*Reuter and Hart.*

३. समाज की बाह्य तथा आभ्यन्तर सुव्यवस्था

'संगठन' अपने निश्चित उद्देश्य को पूरा करे इसके लिए दो बातें आवश्यक हैं---एक है समाज की 'बाह्य-रचना' का सुव्यवस्थित होना, दूसरी है समाज की 'आभ्यन्तर-रचना' का सुव्यवस्थित होना। समाज की 'बाह्य' तथा 'आभ्यन्तर' रचना के सुव्यवस्थित होने का क्या अभिप्राय है ?

हर-वस्तु के दो रूप होते हैं। उसका बाह्य-रूप उसकी 'रचना' (Structure) कहलाता है, उसका आभ्यन्तर-रूप उसका 'कार्य' (Function) कहलाता है। शरीर के भिन्न-भिन्न अंग हमारा बाह्य-रूप है, यह हमारी 'रचना' है, शरीर का काम हमारा आभ्यन्तर-रूप है, यह हमारा 'कार्य' है। अगर किसी शरीर की रचना ठीक न हो, हाथ-पैर टूटे हों, आँत ग़ायब हो, या कुछ और हो, तो वह शरीर अव्यवस्थित कहलायेगा, इसी प्रकार अगर कोई शरीर ठीक-से कार्य न कर रहा हो, तो वह बेकार होगा। शरीर की तरह समाज के भी सुव्यवस्थित तथा संगठित होने के लिए उसकी 'बाह्य-सुव्यवस्था' (Structural organisation) तथा 'आभ्यन्तर-सुव्यवस्था' (Functional organisation) ठीक होनी चाहियें। समाज की बाह्य तथा आभ्यन्तर सुव्यवस्था को अलग-अलग समझना ज़रूरी है। ये दोनों क्या हैं ?

(क) समाज की बाह्य-सुव्यवस्था (Structural organisation of society)---एक मकान है, जिसकी एक-एक ईंट अपनी जगह लगी हुई है, छत, दीवार, खिड़की, दरवाज़े---सब ठीक हैं, ऐसे मकान को सुव्यवस्थित मकान कहा जायगा। अगर छत कहीं जा रही है, दीवार कहीं जा रही है, खिड़की-दरवाज़ों में पेंच नहीं लगे, तो उसे सुव्यवस्थित नहीं कहा जा सकता। एक मनुष्य है, उसके हाथ-पैर, आँख, नाक, कान सब ठीक हैं, उसे सुसंगठित व्यक्ति कहा जायगा। अगर हाथ-पैर कटे हुए हैं, एक आँख ग़ायब है, तो उसे सुसंगठित नहीं कहा जा सकता। जैसे मकान की रचना में ईंटें, छत, दीवार हैं, जैसे मनुष्य-शरीर की रचना में आँख, नाक, कान हैं, वैसे समाज की रचना में भिन्न-भिन्न मनुष्य हैं, स्त्री-पुरुष-बाल-वृद्ध हैं, भिन्न-भिन्न आयु के, भिन्न-भिन्न लिंगों के, भिन्न-भिन्न पेशों के, भिन्न-भिन्न स्तर के। ये सब समाज की रचना के अंग हैं। समाज में इनको सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित कब कहा जायगा ? समाज में जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी जगह बैठा हुआ है---दीवार में ईंट की तरह, शरीर में अंग की तरह---तब समाज की 'बाह्य-रचना' (Structural organisation) को सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित कहा जा सकता है। 'प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी जगह बैठा हुआ है'---इसका अर्थ क्या है ? समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अपना 'स्थान', अपनी 'जगह' (Status) होती है---यह सब-कोई जानता है। जब तक समाज में उसका वह 'स्थान', वह 'जगह' (Status) कायम रहती है, तब तक समाज का संगठन बना रहता है। जब तक बड़ों का बड़ों का-सा,

छोटों का छोटों का-सा, पुरुषों का पुरुषों का-सा, स्त्रियों का स्त्रियों का-सा, लायक आदमियों का लायकों का-सा, नालायक आदमियों का नालायकों का-सा स्थान बना रहेगा तबतक समाज में व्यवस्था, शान्ति, संगठन बना रहेगा। जब लायक लोग मारे-मारे फिरने लगें, नालायकों को सिफ़ारिश के ज़ोर पर ऊँचा स्थान मिलने लगे, तब समाज का संगठन टूटने लगेगा, ठीक ऐसे जैसे मकान में ईंटें टेढ़ी-मेढ़ी लगने लगें। असल बात यह है कि समाज की बाह्य-रचना, किसी व्यक्ति के समाज में किसी 'स्थान', किसी 'जगह' (Status) का आधार उस व्यक्ति का 'कार्य' (Role) होता है। जो व्यक्ति जैसा 'कार्य' (Role) करने योग्य हो उसे समाज में वैसा 'स्थान' (Status) मिलना चाहिये। जिस समाज में 'कार्य' तथा 'स्थान' में संगति होती है, जैसा कोई 'कार्य' करे वैसा उसे 'स्थान' मिलता है, वह समाज सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित कहलाता है। अगर किसी समाज में खाना पकाने वालों को जन्म के कारण ब्राह्मणों का स्थान मिलेगा, पढ़े-लिखे उच्च-कोटि के विद्वानों को जन्म के कारण शूद्रों का स्थान मिलेगा, छोटों को बड़ा, बड़ों को छोटा स्थान मिलेगा, वह समाज छिन्न-भिन्न हो जायगा, संगठित नहीं रह सकेगा। 'संगठन' के लिए 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) का मेल होना आवश्यक है। जो समाज जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं, उनमें मनुष्य की 'स्थिति' (Status) उसके 'कर्म' (Role) पर आश्रित न होकर, 'जन्म' (Birth) पर आश्रित होने लगती है। ऐसी अवस्था में समाज में कोलाहल हो जाता है, जिनको अपने 'कर्म' के अनुसार समाज में 'स्थान' नहीं मिलता, वे सदा समाज को अशान्त बनाये रखते हैं। अपने देश में प्रचलित जात-पात के विरुद्ध आन्दोलन इसी कारण है।

(ख) समाज की आन्तरिक-सुव्यवस्था--(Functional organisation of society)--समाज की बाह्य-रचना के सुसंगठित रहने के अलावा 'सामाजिक-संगठन' को बनाये रखने वाली दूसरी चीज़ समाज की आन्तरिक-सुव्यवस्था है। समाज की आन्तरिक-सुव्यवस्था क्या है? हमने देखा था कि मनुष्य की बाह्य-व्यवस्था उसके शरीर के भिन्न-भिन्न अंग हैं। मनुष्य की आन्तरिक-व्यवस्था क्या है? मनुष्य की आन्तरिक-व्यवस्था उसका सोचना-विचारना है। मनुष्य जब भिन्न-भिन्न बातों को न सोच कर एक ही बात को सोचता है, तभी वह कोई कार्य कर सकता है। इसी तरह समाज में अधिकांश व्यक्तियों का अधिकांश बातों में एक तरह से सोचता-विचारना समाज की आन्तरिक सुव्यवस्था है। एक तरह से सोचने-विचारने की यह प्रक्रिया 'सामाजिक-संगठन' के लिए आवश्यक है। समाज की कई समस्याएँ होती हैं, परन्तु अगर एक व्यक्ति का एक विचार है, दूसरे का दूसरा, तो समाज संगठित कैसे रह सकता है? जबतक समाज में किन्हीं बातों पर एकमति नहीं होती, एक ही तरह की विचार-धारा नहीं बनती, तबतक समाज किसी भी बात को क्रिया में कैसे परिणत कर सकता है? समाज की बाह्य-रचना तभी टिक सकती है, जब उसकी आन्तरिक-व्यवस्था

में विचारों की एकता हो। समाज की इस आभ्यन्तर-एकता को 'एकमतिता' (Consensus) कहा जाता है। अगर समाज की आभ्यन्तर-'एकमतिता' (Consensus) नहीं होगी, तो समाज बाहर से एक दीखता हुआ भी भीतर से टूटा होने के कारण शीघ्र ही बाहर से भी टूट-फूट जायगा, क्योंकि जो बाहर है वह भीतर से ही विकसित होता है। समाज अपने आदर्शों को क्रिया-रूप में तभी परिणत कर सकता है जब हर बात के विषय में समाज के लोगों में एकमतिता, एक-से विचार हों। जब सब की एक विचार-धारा होगी तभी समाज संगठित रह सकता है, अन्यथा नहीं।

४. सामाजिक-संगठन का साधन सामाजिक-नियन्त्रण है

हमने देखा कि सामाजिक-संगठन के लिए 'एक-मतिता' (Consensus) आवश्यक है, परन्तु क्या समाज में सदा हर-बात में एक-मति हो सकती है, क्या विचारों में भिन्नता नहीं होती? इसमें सन्देह नहीं कि समाज में विचारों की भिन्नता होती है, परन्तु जहाँ यह भिन्नता सीमा का उल्लंघन कर जाय वहाँ सामाजिक-संगठन बना नहीं रह सकता। समाज में समय-समय पर भिन्न-भिन्न विचारों पर विचार-विमर्श होता रहता है, विवाद चला करता है, सभाएँ होती हैं, कान्फ्रेंसें होती हैं, विधान-सभाओं के अधिवेशन होते हैं—इन सब का उद्देश्य भिन्न-भिन्न विचारों में एकता को ढूँढना है, क्योंकि अगर भिन्नता बनी रहे, तो संगठन नहीं चल सकता। 'जन-सत्तावाद' (Democracy) का अभिप्राय ही यह है कि हम जिस-किसी तरह से भी हो, सब लोगों के विचारों में एकता के सूत्र को ढूँढें और उस सूत्र में शासन की व्यवस्था के मनकों को पिरो दें।

मानव-सनाज को इस प्रकार एकमतिता में बाँधने के लिए सृष्टि के शुरू से अनेक उद्योग होते रहे हैं जिन्हें 'सामाजिक-नियन्त्रण' (Social controls) का नाम दिया जाता है। 'सामाजिक-नियन्त्रण' दो तरह से एक-मतिता को उत्पन्न करने में मदद देता है। एक तो इन नियन्त्रणों से समाज में ऐसा वातावरण बना रहता है जिससे सब लोग एक-सा सोचते हैं, उसी दिशा में सोचते हैं, भिन्न दिशा में सोचते ही नहीं; दूसरा, अगर भिन्न दिशा में सोचने भी लगें, तो इन नियन्त्रणों के डर से वे भिन्न-दिशा में सोचना छोड़ देते हैं। उदाहरणार्थ, समाज में कुछ 'जन-रीतियाँ' (Folkways) तथा 'रूढ़ियाँ' (Mores) सदियों से चली आ रही हैं। इन जन-रीतियों और रूढ़ियों का परिणाम यह होता है कि आज जो बच्चा समाज में पैदा होता है वह उसी दिशा में सोचता है जिस दिशा में समाज के सब व्यक्ति रीतियों, रूढ़ियों, रिवाजों तथा परम्पराओं से अब तक सोचते चले आते रहे हैं। दूसरी दिशा में उसके लिए सोचना कठिन हो जाता है। हर-एक व्यक्ति को समाज की प्रचलित विचार-धारा में सोचने की आदत पड़ी होती है, इसलिए इस आज के बच्चे को भी इसी वातावरण में पल कर इसी दिशा में सोचने की आदत पड़ जाती है। जो लोग इस दिशा से भिन्न-दिशा में सोचने का

प्रयत्न करते हैं, उन्हें समाज के 'कायदे-कानून' (Law) का डर रहता है, ये कानून हर व्यक्ति को निश्चित सीमा में बाँध देते हैं। इस प्रकार 'जन-रीतियाँ' (Folkways), 'रूढ़ियाँ' (Mores), 'प्रथाएँ' (Customs), 'कानून' (Law), 'समिति' (Associations) तथा 'संस्थाएँ' (Institutions)—ये सब मिल कर 'सामाजिक-नियन्त्रण' (Social control) का काम करते हैं और इनके नियन्त्रण से समाज में 'एक-मतिता' (Consensus) उत्पन्न हो जाती है जो 'सामाजिक-संगठन' के लिए परमावश्यक है।

५. सामाजिक-नियन्त्रण के प्रकार

सामाजिक-संगठन को दृढ़ बनाये रखने के लिए सामाजिक-नियन्त्रण की आवश्यकता है और सामाजिक-नियन्त्रण के प्रकार हैं—रीति-रिवाज़, रूढ़ि, परिवार, जाति, श्रेणी, नस्ल, कौम, समह, संस्था, धर्म, नीति, प्रथा, कानून, समाज आदि। अगर परिवार न हो, भिन्न-भिन्न व्यक्ति किसी जाति या श्रेणी से सम्बन्ध न रखते हों, उनका किसी नस्ल या कौम से सम्बन्ध न हो, वे किसी समूह के अंग न हों, किसी संस्था के साथ बंधे हुए न हों, किसी धर्म या नीति के अनुयायी न हों, किसी प्रथा या कानून को न मानते हों, तो समाज संगठित नहीं रह सकता। संगठन का अर्थ ही है किसी प्रकार एक-दूसरे के साथ गठे होना, बंधे होना। यह बँधना जैसा हम पहले समनेर के शब्दों में कह आये हैं 'स्वतः विकसित संगठन' के रूप में हो सकता है, या हमारा सोच-समझ कर 'बनाये हुए संगठन' के रूप में हो सकता है।

हमने जो-कुछ कहा उसका यह अभिप्राय हर्गिज़ नहीं कि सामाजिक-नियन्त्रण के जो रूप हमने कहे हैं—रीति-रिवाज़, रूढ़ि, जाति, श्रेणी, प्रथा, कानून, आदि—इनको कभी नहीं तोड़ना चाहिए क्योंकि इनके तोड़ने से समाज का संगठन टूट जाता है। कभी-कभी ऐसी अवस्था आ जाती है जब ये-सब समाज के जीवन के लिए विष का काम करने लगते हैं। ऐसे रीति-रिवाज़, ऐसी रूढ़ियाँ, ऐसी परम्पराएँ, ऐसी प्रथाएँ, ऐसी जातियाँ, ऐसी श्रेणियाँ तब उत्पन्न हो जाती हैं जब समाज की बाह्य तथा आभ्यन्तर रचना में सामंजस्य नहीं रहता, मेल नहीं रहता। ऐसी हालत में इन रीति-रिवाजों, रूढ़ियों, परम्पराओं और प्रथाओं को तोड़ना पड़ता है, छिन्न-भिन्न करना पड़ता है। जब इनको तोड़ा जाता है तब इन नियन्त्रणों के टूटने से कुछ देर के लिए समाज में हलचल मच जाती है, समाज की शान्ति भंग हो जाती है, समाज जो अबतक संगठित रूप में था विगठित हो जाता है, परन्तु यह अवस्था देर तक नहीं रहती। पुरानी रूढ़ियों को तोड़ कर फिर से नई रूढ़ियों, परम्पराओं और प्रथाओं को बनाना पड़ता है, इसलिए बनाना पड़ता है, क्योंकि सामाजिक-संगठन के लिए इस प्रकार के नियन्त्रणों का रहना आवश्यक है। भेद इतना ही होता है कि पहले पुरानी रूढ़ियाँ, पुरानी परम्पराएँ, प्रथाएँ, संस्थाएँ समाज का नियन्त्रण करती थीं, उनकी जगह नई रूढ़ियाँ, नई

परम्पराएँ और नई संस्थाएँ आ जाती हैं। सुधारक लोग क्या करते हैं? बुद्ध ने क्या किया? ऋषि दयानन्द ने क्या किया? इन सब सुधारकों ने उन पुराने नियन्त्रणों को तोड़ दिया जिनमें जान नहीं थी, परन्तु उनको तोड़ कर समाज को बिना किसी प्रकार के नियन्त्रण के नहीं छोड़ दिया। बुद्ध ने संघ बनाया--'संघं सरणं गच्छामि'। अन्य सुधारकों ने अपनी-अपनी प्रथाएँ और संस्थाएँ कायम कीं क्योंकि सामाजिक-संगठन के लिए सामाजिक-नियन्त्रण आवश्यक है, इसलिए आवश्यक है क्योंकि समाज में 'एक-मतिता' सामाजिक-नियन्त्रण से ही उत्पन्न हो सकती है।

समाज को बाँधने वाले जो नियन्त्रण हैं, जिनसे समाज संगठित बना रह सकता है--परिवार, जाति, श्रेणी, नस्ल, कौम, समूह, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक संगठन, धर्म, नीति, प्रथा, कानून--इन सब का हम अगले अध्यायों में विस्तृत वर्णन करेंगे।

प्रश्न

१. समनेर ने सामाजिक-संगठन के क्या दो रूप बताये हैं? उनकी व्याख्या कीजिये।
२. संगठन की क्या परिभाषा है?
३. समाज का 'बाह्य' तथा 'आभ्यन्तर' संगठन क्या है?
४. सामाजिक-नियन्त्रण का सामाजिक-संगठन में क्या स्थान है?

१५

परिवार

(FAMILY)

१. परिवार की परिभाषा

परिवार एक ऐसे समूह का नाम है जो संसार में सब जगह पाया जाता है। इसमें निम्न 'तत्त्व' ह :--

(क) स्त्री-पुरुष का यौन-संबंध (Mating relationship),

(ख) इस यौन-सम्बन्ध को दूसरे लोग भी स्वीकार करें, इस उद्देश्य से विवाह जैसा कोई संस्कार-- (Some form of marriage),

(ग) स्त्री-पुरुष का यह सम्बन्ध सिर्फ़ उन तक ही सीमित न रहे, इसका परिणाम आगे तक भी चलता रहे, स्थिरता मिल जाय, इस उद्देश्य से, पिता या माता के नाम से वंश का चलना--(Reckoning of descent),

(घ) सन्तानोत्पत्ति, सन्तान का पालन तथा एक-दूसरे का भरण-पोषण --(Child-bearing, Child-rearing and Economic provision), तथा

(ङ) सह-वास--(Common habitation)।

इस दृष्टि से 'परिवार' एक ऐसा समूह है जिसमें (क) स्त्री-पुरुष का 'यौन-सम्बन्ध' (ख) 'विधि-पूर्वक' स्वीकार किया जाता है, (ग) इसे 'स्थिर' बना दिया जाता है, और (घ) जिसमें सन्तान की 'उत्पत्ति', 'पालन' तथा 'भरण-पोषण' की जिम्मेदारी लेकर (ङ) स्त्री-पुरुष किसी 'स्थान' पर साथ-साथ रहते हैं।

उक्त बातों को ध्यान में रखते हुए भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'परिवार' की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं :--

[क] मैक आइवर की व्याख्या--"परिवार उस समूह का नाम है जिसमें स्त्री-पुरुष का यौन-सम्बन्ध पर्याप्त निश्चित होता है, और इनका साथ इतनी देर

[क] "The family is a group defined by a sex-relationship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of children."—*MacIver.*

तक रहता है जिससे सन्तान उत्पन्न हो जाय और उसका पालन-पोषण भी किया जाय।"

[ख] बरजेस तथा लॉक की व्याख्या—"परिवार व्यक्तियों के उस समूह का नाम है जिसमें वे विवाह, रुधिर या दत्तक-सम्बन्ध से बंधे हुए होकर, भिन्न-भिन्न नहीं, अपितु एक-गृहस्थी का निर्माण करते हैं। इस गृहस्थी में वे एक-दूसरे पर पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन के रूप में प्रभाव डालते हैं, और एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। ये सब इस गृहस्थी में एक सामान्य-संस्कृति को जन्म देते हैं और उस संस्कृति को बनाये रखते हैं।"

२. परिवार की उत्पत्ति
(Origin of Family)

पहले-पहल परिवार की उत्पत्ति कैसे हुई इस सम्बन्ध में समाज-शास्त्रियों में भिन्न-भिन्न सिद्धान्त पाये जाते हैं जिनमें से मुख्य निम्न हैं:—

(क) पितृ-सत्ताक परिवार का सिद्धान्त (Patriarchal theory)
(ख) एक-विवाही परिवार का सिद्धान्त (Monogamous family theory)
(ग) लिंग साम्यवादी परिवार का सिद्धान्त (Sex communism theory)
(घ) मातृ-सत्ताक परिवार का सिद्धान्त (Matriarchal theory)
(ङ) विकासात्मक परिवार का सिद्धान्त (Evolutionary theory)

इन चारों सिद्धान्तों में से पितृ-सत्ताक तथा मातृ-सत्ताक परिवार के सिद्धान्त मुख्य हैं अतः हम इन दोनों का कुछ विस्तार से तथा अन्य दोनों का गौण रूप से वर्णन करेंगे।

(क) पितृ-सत्ताक परिवार—इस विचार के मानने वाले कहते हैं कि शुरू-शुरू में परिवार में पिता की प्रधानता थी। इस सिद्धान्त के पृष्ठ-पोषकों में हैनरी मेन (Henry Maine) मुख्य हैं। इन लोगों का कहना है कि प्राणि-जगत् में नर और मादा साथ-साथ ही नहीं रहते, नर मादा को अपने एकाधिकार में भी रखता है। मादा दूसरे के पास जाय, तो उसे ईर्ष्या होती है। नर क्योंकि मादा से बलवान् होता है, अतः 'एकाधिकार' तथा 'ईर्ष्या'—इन दो भावनाओं के कारण वह मादा पर अपना स्वत्व जमा लेता है। नर के मादा पर स्वत्व जमाने को

[ख] "A family is a group of persons united by the ties of marriage, blood or adoption, constituting a single household, inter-acting and inter-communicating with each other in their respective social role of husband and wife, mother and father, son and daughter, brother and sister and creating and maintaining a common culture."—*Burges and Locke.*

ही पितृ-सत्ताक परिवार कहा जाता है। इस प्रकार के परिवार में घर की अन्तिम जिम्मेवारी स्त्री की नहीं, पुरुष की होती है। सम्पत्ति पर अधिकार स्त्री का नहीं, पुरुष का होता है। वंश-परम्परा स्त्री के नाम से नहीं, पुरुष के नाम से चलती है। इस प्रकार के परिवार में स्त्रियों की स्थिति पुरुषों से हीन होती है। इस सिद्धान्त को मानने वालों का कहना है कि समाज में पहले-पहल इसी प्रकार के परिवारों की उत्पत्ति हुई।

(ख) एक-विवाही-परिवार——पितृ-सत्ताक परिवार के सिद्धान्त को मानने वालों के विचारों को ही लेकर एक-विवाही परिवार के सिद्धान्त को मानने वालों का कहना है कि शुरू-शुरू के परिवार पितृ-सत्ताक ही नहीं थे, एक-विवाही भी थे। इस सिद्धान्त के पृष्ठ-पोषकों में विकासवादी डार्विन के अनुयायी वेस्टरमार्क (Westermarck) का नाम मुख्य है। उनका कहना है कि ताकतवर होने के कारण पुरुष स्त्री पर स्वत्व ही नहीं जमा लेता, परन्तु 'एकाधिकार' तथा 'ईर्ष्या' की भावना के कारण कोई पुरुष अपनी स्त्री को दूसरे के पास नहीं जाने देता। इस भावना का परिणाम स्वभावतः 'एक-विवाह' हो जाता है। वेस्टर-मार्क का कहना है कि निम्न-स्तर के बन्दरों में भी 'एक-विवाह' की प्रथा ही है, इसलिए विकास की दृष्टि से वेस्टरमार्क के कथनानुसार 'एक-विवाही-परिवार' समाज में पीछे नहीं, शुरू में प्रारम्भ हुआ।

(ग) लिंग साम्यवादी परिवार——कई लोगों का यह विचार है कि शुरू-शुरू में स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में साम्यवाद था, जो जिससे चाहता सम्बन्ध कर सकता था। ऐसी जातियाँ पायी जाती हैं जिनमें 'यूथ-विवाह' (Group marriage) होता था। समूह की सब स्त्रियाँ समूह के सब पुरुषों से विवाहित समझी जाती थीं। इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि आदि-काल में विवाह की प्रथा ही नहीं थी, आजकल का जो स्त्री-पुरुष का एक-दूसरे के लिये एकाधिकार या स्वामित्व का भाव है, वह नहीं था।

(घ) मातृ-सत्ताक परिवार——इस विचार के मानने वालों का कहना है कि जब शुरू-शुरू में विवाह नहीं था, अनेक स्त्रियाँ अनेक पुरुषों के साथ रहती थीं, सब का बिना भेद-भाव के आपस में सम्बन्ध हो सकता था, तो ऐसी अवस्था में यह तो कहा जा सकता था कि किस स्त्री का कौन-सा बच्चा है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता था कि किस पुरुष का कौन-सा बच्चा है। बच्चे के साथ पिता का सम्बन्ध न जोड़ सकने के कारण पिता की परिवार में कोई स्थिति नहीं कही जा सकती थी। 'यूथ-विवाह' (Group marriage) में पिता का पता ही नहीं था, इसलिए पिता की कोई स्थिति ही नहीं थी, सिर्फ़ माता की स्थिति थी, उसी की मुख्यता थी, इसलिए इस विचार के मानने वालों के अनुसार आदि-समाज मातृ-सत्ताक था। इस विचार के समर्थकों में ब्रिफ़ाल्ट (Briffault) तथा टाइलर (Tylor) का नाम मुख्य है।

(ङ) विकासात्मक परिवार—मारगन (Margon) महोदय ने उक्त सब सिद्धान्तों से भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि विकास की प्रक्रिया में से गुजरता हुआ परिवार पाँच क्रमों में से गुजरा है। ये पाँच क्रम निम्न हैं :—

(i) समान-रुधिर परिवार (Consanguineous family)—यह शुरू-शुरू की अवस्था है जिसमें एक रुधिर वाले लोग आपस में विवाह-शादी करते थे, भाई-बहिन का भेद नहीं था।

(ii) समूह-परिवार (Punaluant family)—परिवार के विकास की यह दूसरी अवस्था है जिसमें समान-रुधिर वालों में विवाह तो बन्द हो गया, परन्तु एक परिवार के सब भाइयों का विवाह दूसरे परिवार की सब बहनों के साथ होना शुरू हो गया। यह एक प्रकार का 'यूथ-विवाह' था। इस विवाह में एक परिवार के सब भाइयों का दूसरे परिवार की सब बहिनों के साथ विवाह हो जाने के बाद किसी विशेष भाई की कोई विशेष स्त्री नहीं होती थी, सब भाइयों के लिए वे सब बहनें, और सब बहनों के लिए वे सब भाई पत्नी तथा पति समझे जाते थे।

(iii) सिन्डेस्मियन-परिवार (Syndasmian family)—परिवार के विकास की यह तीसरी अवस्था है। इसमें 'यूथ-विवाह' होना, अर्थात् अनेक भाइयों का अनेक बहनों से एक-साथ विवाह होना तो बन्द हो गया, एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करने लगा, परन्तु परिवार में जितनी भी स्त्रियाँ थीं उनमें से किसी से भी उसका सम्बन्ध हो सकता था, यह जरूरी नहीं कि जिस स्त्री से उसका विवाह हुआ है उसी से वह सम्बन्ध करे, अन्य किसी से न करे।

(iv) पितृ-सत्ताक परिवार (Patriarchal family)—परिवार के विकास में चौथी अवस्था वह है जिसमें पुरुष का सम्बन्ध तो विवाहिता पत्नी से ही होता था, परन्तु वह अनेक स्त्रियों से विवाह कर सकता था, उन सब के साथ सम्बन्ध रख सकता था। इस अवस्था में परिवार में पुरुष की प्रधानता हो गई। इसमें स्त्री की स्थिति पहली अवस्थाओं की तरह निम्न ही रहती है।

(v) एक-विवाही परिवार (Monogamous family)—परिवार के विकास की पाँचवीं अवस्था वह है जिसमें पुरुष अनेक विवाह करने के स्थान में सिर्फ़ एक स्त्री से विवाह कर सकता है, स्त्री भी एक ही पुरुष से विवाह कर सकती है। इस अवस्था में स्त्री की स्थिति ऊँची उठने लगती है। वर्त्तमान-युग में परिवार इसी अवस्था में से गुजर रहा है।

जैसा हमने ऊपर कहा, इन सब सिद्धान्तों में मुख्य सिद्धान्त दो ही हैं—'मातृ-सत्ताक परिवार' तथा 'पितृ-सत्ताक परिवार'। तो फिर, शुरू-शुरू के परिवार की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? माता की मुख्यता से परिवार की उत्पत्ति हुई, या पिता की मुख्यता से? माता की मुख्यता से जिस परिवार का निर्माण होता है, उसे 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family), तथा पिता की मुख्यता से जिस परिवार का निर्माण होता है, उसे 'पितृ-सत्ताक-परिवार'

(Patriarchal family) कहते हैं। वर्त्तमान समाज-शास्त्रियों का कहना है कि निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि विकास की दृष्टि से पहले-पहल 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) बने, या 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) बने। इन दोनों की सत्ता प्रारम्भिक समाज में एक-समान पायी जाती है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रत्येक परिवार के आधार में, चाहे वह 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal) हो, चाहे 'पितृ-सत्ताक' (Patriarchal), कुछ आधार-भूत बातें अवश्य पायी जाती हैं। वे आधार-भूत बातें हैं--'भिन्न-लिंगता' (Sex), 'सन्तानोत्पत्ति' (Reproduction) तथा इस समूह की 'आर्थिक-आवश्यकताओं की पूर्ति' (Satisfaction of economic needs)। प्रत्येक स्त्री-पुरुष में युवावस्था में काम-वासना का उदय होता है। यह वासना पशुओं की तरह जो पुरुष चाहे जिस स्त्री से, और जो स्त्री चाहे जिस पुरुष से पूरी करे--यह बात क्रियात्मक प्रतीत नहीं होती। पुरुष तो ऐसा कर सकता है, परन्तु स्त्री के बच्चा हो जाने के कारण वह पुरुष को बाधित करती ह, कि अगर वह काम-वासना की पूर्त्ति करना चाहता है, तो बच्चों के पालने की ज़िम्मेवारी में भी हाथ बटाये, उनके भरण-पोषण एवं स्त्री की तथा बच्चों की आर्थिक-आवश्यकताओं को हल करने में भी सहयोग दे। यह सब स्वाभाविक है और प्रत्येक परिवार के आधार में ये मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं। [परन्तु इन प्रवृत्तियों से, शुरू-शुरू में किस प्रकार के परिवार का उदय हुआ, 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal) का, या 'पितृ-सत्ताक' (Patriarchal) का, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आदि-कालीन जातियों में दोनों प्रकार के परिवार पाये जाते हैं।

३. 'मातृ-सत्ताक-परिवार (Matriarchal family)

'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) में माता की प्रधानता रहती है। वह किस प्रकार ? समाज-शास्त्रियों के अध्ययन में कई ऐसे परिवार सामने आये हैं जिनमें स्त्री, विवाह के बाद भी अपने माता-पिता, भाई-बहन के पास ही रहती है, उन लोगों के पास रहती है जिनके साथ उसका रुधिर का सम्बन्ध है, अपना घर छोड़ कर पति के घर नहीं जाती, उन लोगों में नहीं जाती जिनके साथ उसका रुधिर का सम्बन्ध नहीं होता। पति, पत्नी के घर आ जाता है, पत्नी के साथ रहता है, परन्तु बच्चों पर माता का ही अधिकार होता है, उन लोगों का अधिकार होता है जिनका बच्चों की माँ से रुधिर का नाता होता है। लड़की अपने माँ-बाप के घर रहती है, उसके बच्चों की देख-भाल, उन्हें पढ़ाने-लिखाने का काम, लड़की का भाई, लड़की के माता-पिता करते हैं। हम क्योंकि दूसरे पर्यावरणों में पले हैं इसलिए हमें यह सुनकर आश्चर्य होता है, परन्तु उन लोगों को इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं लगती। ऐसे परिवारों को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। एक दृष्टि तो वह है जिसमें लड़की का अपने माता-पिता, भाई-बहन से रुधिर का सम्बन्ध है। [आजकल तो वह अपने रुधिर

के सम्बन्धियों को छोड़ कर ऐसे व्यक्ति के पास चली जाती है, जिसके साथ उसका रुधिर का कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु जिन परिवारों का हम वर्णन कर रहे हैं, उनमें वह अपने रुधिर के सम्बन्धियों के पास ही रहती है, और वहीं रहती हुई बाल-बच्चे भी उत्पन्न करती है। इस दृष्टि से इस प्रकार के परिवार को 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) कहते हैं, इसमें पति का पत्नी के परिवार में बहुत तुच्छ स्थान होता है। उसका अपना स्थान अपने परिवार में होता है, जहाँ उसकी बहिन के बच्चों की जिम्मेदारी उसके कन्धों पर होती है। इस प्रकार के परिवार का एक पहलू तो यह है कि स्त्री अपने ही परिवार में बनी रहती है, उस परिवार में जिसमें उसी के रुधिर के लोग हैं, दूसरा पहलू यह है कि इतना ही नहीं कि वह अपने परिवार में बनी रहती है, अपने परिवार में उसकी स्थिति भी पति से ऊँची रहती है। 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) में पत्नी की स्थिति पति से ऊँची होने के दो प्रमाण पाये गये हैं। पहला प्रमाण तो यह है कि यह परिवार 'मातृ-स्थानी' (Matrilocal) है। 'मातृ-स्थानी' (Matrilocal) का मतलब यह है कि पति-पत्नी और बच्चों का जो परिवार बनता है, उसका स्थान बच्चों के पिता का स्थान न होकर, उनकी माता का घर ही उनका स्थान होता है। हम लोगों के आजकल के परिवार 'पितृ-स्थानी' (Patrilocal) हैं, अर्थात् माता और बच्चे पिता के घर रहते हैं, परन्तु 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) में परिवार के लोग माता के स्थान पर रहते हैं। 'समान-रुधिर-परिवार' में पत्नी की स्थिति पति से ऊँची होने का दूसरा प्रमाण यह है कि उसमें वंश-परम्परा पिता के नाम से न चलकर माता के नाम से चलती है, अर्थात् 'समान-रुधिर-परिवार' 'मातृ-वंशी' (Matrilineal) होते हैं, उनमें पिता के नाम से वंश-परम्परा नहीं चलती, अर्थात् वे 'पितृ-वंशी' (Patrilineal) नहीं होते। माता का निवास-स्थान परिवार का केंद्र होना, और माता के नाम से वंश का चलना—ये दोनों बातें परिवार में माता को मुख्यता दे देती हैं, और इसीलिए इस प्रकार के परिवार को 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal) कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् (अध्याय ६, ब्राह्मण ५) में एक बड़ी लम्बी वंश-परम्परा दी गई है जिसमें सब वंश माता के नाम से चले हैं। पौतिमाषीपुत्र, कात्यायनी पुत्र, गौतमीपुत्र, भारद्वाजीपुत्र, पाराशरीपुत्र—इस प्रकार ५०-६० माता के नाम से चले परिवारों का वहाँ वर्णन पाया जाता है। संसार की जिन सभ्यताओं में वंश-परम्परा किसी स्त्री से गिनी जाती है, वे 'मातृ-सत्ताक' हैं। मलाबार में आज भी कई स्थानों पर पत्नी विवाह के बाद पति के घर जाने की जगह पिता के घर ही रहती है, और उसी के नाम से वंश-परम्परा चलती है, पिता के मरने पर लड़के की जगह लड़की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती है।

हमने देखा कि 'समान-रुधिर परिवार' (Consanguineous family) तथा 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) एक ही प्रकार के

परिवार के दो पहलू हैं। जब हम स्त्री की स्थिति को उसके माता-पिता, भाई-बहन की दृष्टि से देखते हैं, तब हम कहते हैं कि वह 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) की अंग है; जब हम उसकी स्थिति को उसके पति की दृष्टि से देखते हैं, तब कह देते ह कि वह 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) की अंग है।

'मातृ-सत्ताक-परिवार' अन्त तक नहीं बना रहता

'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) तभी तक रह सकता है, जब तक कोई समाज 'कृषि-सभ्यता' तक नहीं पहुँचता। जब तक मनुष्य शिकार से, या पशु-पालने से जीवन-निर्वाह करता है, तब तक तो यह सम्भव हो सकता है कि पति अपने घर को छोड़ कर पत्नी के घर आता-जाता रहे, परन्तु जब मनुष्य ने कृषि का आविष्कार किया, तब पतियों के लिए पत्नी के घर आना-जाना कठिन हो गया। उस अवस्था में वह अपने कारोबार में, खेती-बाड़ी में इतना व्यस्त रहता था कि अपने धंधों से ही उसे फ़ुर्सत नहीं मिलती थी। जमीन को साफ़ करना, हल चलाना, बीज बोना, जानवरों से खेती की रक्षा करना, पकने पर काटना--ये सब इतने जंजाल के काम थे जिनके बिना उसका जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता था, परन्तु जिनमें लग जाने पर उसके पास फ़ुर्सत भी नहीं रहती थी। इसलिए 'कृषि-सभ्यता' से पहले अगर 'मातृ-सत्ताक' तथा 'पितृ-सत्ताक' दोनों प्रकार के परिवार रहे भी होंगे, तो भी कृषि के आविष्कार के बाद तो 'मातृ-सत्ताक-परिवार' भी 'पितृ-सत्ताक' ही बन गया होगा। उस हालत में पत्नी को अपने रुधिर के परिवार को छोड़ना पड़ा होगा, इसलिए छोड़ना पड़ा होगा कि पति को पत्नी के परिवार में जाने की फ़ुर्सत ही बहुत कम रही होगी। इस प्रकार जहाँ-जहाँ 'मातृ-सत्ताक-परिवार' रहा होगा, वह आर्थिक-कारणों से 'पितृ-सत्ताक-परिवार' में बदल गया होगा।

४. 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family)

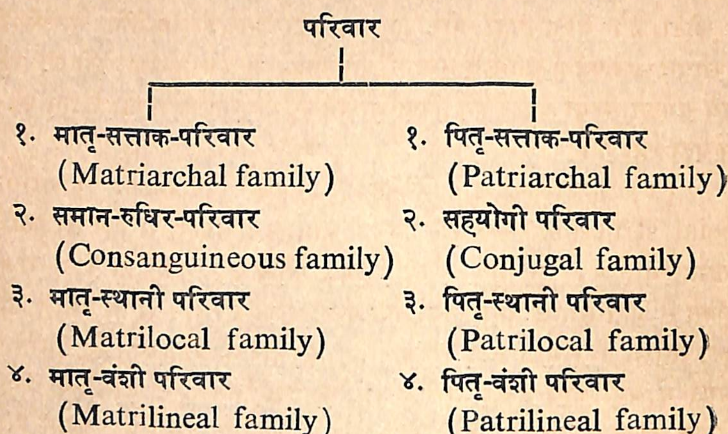
'पितृ-सत्ताक-परिवार' में स्त्री समान-रुधिर के लोगों में न रह कर भिन्न रुधिर के लोगों में जाकर रहने लगती है। 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) में रहकर भी विवाह-सम्बन्ध तो उसका भिन्न रुधिर वाले व्यक्ति से ही होता है, परन्तु रहती वह अपने घर के लोगों के साथ ही है, वंश-परम्परा भी उसी के नाम से चलती है। जिस समाज में स्त्री अपने माता-पिता का घर छोड़ कर पति के घर, भिन्न रुधिर वालों के साथ जाकर रहने लगती है, उस समाज का परिवार 'सहयोगी-परिवार' (Conjugal family) कहलाता है। पहली प्रकार के परिवार में माता का निवास-स्थान परिवार का केंद्र था, दूसरी प्रकार में पिता का 'निवास-स्थान' परिवार का केंद्र हो जाता है, इसलिए यह परिवार 'पितृ-स्थानी' (Patrilocal) कहलाता है। इसमें वंश-परम्परा माता के नाम से न चलकर पिता के नाम से चलती है, इसलिए इसे 'पितृ-वंशी' (Patri-

lineal) भी कहते हैं। क्योंकि इसमें माता की जगह पिता की प्रधानता हो जाती है, इसलिए इसे 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) कहा जाता है। बृहदारण्यक-उपनिषद् (अध्याय ५, ब्राह्मण ६) में एक वंश-परम्परा दी गयी है जिसमें सब वंश पिता के नाम से चले हैं। गोपवन का पुत्र, कौशिक का पुत्र, कौडिन्य का पुत्र, शाण्डिल्य का पुत्र—इस प्रकार ५०–६० पिता के नाम से चले परिवारों का वहाँ वर्णन पाया जाता है। संसार की जिन सभ्यताओं में वंश-परम्परा किसी पुरुष से गिनी जाती है, वे 'पितृ-सत्ताक' हैं।

'पितृ-सत्ताक-परिवार' में स्त्री की हानि

जैसा हमने बार-बार कहा, यह नहीं कहा जा सकता कि विकास की दृष्टि से उक्त दोनों प्रकार के परिवारों में से कौन-सा पहले है, कौन-सा पीछे। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि जहाँ-जहाँ 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) था, वह भी धीरे-धीरे पर्यावरणों के कारण 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) में परिवर्त्तित होता चला गया। अब ऐसी अवस्था आ गई है जब प्रायः सर्वत्र 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) ही रह गये हैं, दूसरी प्रकार के नहीं रहे। परन्तु इस प्रकार के परिवार बनने से स्त्री की स्थिति में बहुत अन्तर पड़ गया है। परिवार में पुरुष की सत्ता बढ़ जाने से स्त्री की स्थिति बहुत नीचे गिर गई है। अपने माता-पिता के परिवार में वह घर की मालकिन थी, पति का उसकी सम्पत्ति में कोई अधिकार न था, न ही पति उस पर अपना रौब जमा सकता था। पहले तो वह अपने बहिन-भाई, माता-पिता के साथ थी, सब उसके अपने थे, वहाँ उसके अधिकार को छीनने वाला कोई नहीं था, यहाँ पति के घर आने पर वह अपरिचितों के बीच आ पड़ी, यहाँ उसका कोई अधिकार नहीं था। यहाँ उसे भोजन मिलता था, परन्तु उसके बदले उसे घर के सब काम-काज करने पड़ते थे। काम तो उसे अपने घर भी करने पड़ते थे, परन्तु वहाँ अपना घर समझ कर, परन्तु यहाँ विवश होकर करने पड़ते थे। 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) में पुरुष की प्रधानता के कारण स्त्री की स्थिति जितनी भी गिर सकती थी गिरी। स्त्री घर की दासी है, 'ढोल, गँवार, शूद्र अरु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी'—ये सब बातें परिवार में पुरुष की प्रधानता के कारण उठ खड़ी हुईं। जैसे 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) की एक बड़ी कमी थी, जिसके कारण यह टिक नहीं सका, पुरुष के काम-काज में लग जाने और उसे फ़ुर्सत न होने के कारण जहाँ-जहाँ 'मातृ-सत्ताक-परिवार' था, वहाँ-वहाँ 'पितृ-सत्ताक-परिवार' ही उत्पन्न हो गया, इसी प्रकार 'पितृ-सत्ताक-परिवार' की इस कमी को, यह कमी जिसमें स्त्रियों को कोई अधिकार ही नहीं रहा, दूर करने के लिए वर्त्तमान-समाज में नयी-नयी योजनाएँ बन रही हैं, स्त्रियों को अधिकार दिये जाने के कानून बन रहे हैं, और समाज अपने 'पितृ-सत्ताक' परीक्षण की कमियों को दूर करने का प्रयत्न कर रहा है।

परिवार के सम्बन्ध में हमने जो-कुछ कहा, उसे चित्र में यों प्रकट कर सकते हैं :—



५: परिवार की विशेषतायें
(Characteristics of the Family)

हमने देखा कि परिवार किसे कहते हैं, इसका विकास कैसे हुआ, इस विकास में परिवार के मुख्य-मुख्य रूप क्या हैं। अब अगला प्रश्न यह है कि परिवार की क्या-क्या विशेषताएँ हैं, क्या ऐसे गुण हैं जिनके कारण परिवार एक संगठन के रूप में समाज में बना हुआ है। परिवार की निम्न विशेषताएँ हैं :—

(क) सार्वभौमिकता (Universality)—परिवार का संगठन सार्वभौम है, हर देश-काल में यह किसी-न-किसी रूप में पाया जाता है, यहाँ तक कि पशुओं तक में प्राथमिक रूप में परिवार मिलता है। अन्य जितने भी सामाजिक-संगठन हैं उनमें इस प्रकार की सार्वभौमिकता नहीं मिलती।

(ख) भावात्मक आधार (Emotional basis)—परिवार का संगठन जहाँ सार्वभौम है, वहाँ इसका आधार मनुष्य के उद्वेगों पर है। प्रेम, स्नेह, वात्सल्य—ऐसे मानसिक-उद्वेग हैं जो परिवार को छोड़ कर अन्य किसी सामाजिक-संगठन के आधार में नहीं हैं। पति-पत्नी का एक-दूसरे के लिए प्राण तक न्यौछावर कर देना, सन्तान के लिए दोनों का सब प्रकार के कष्ट झेलना—ये सब परिवार की ही विशेषताएँ हैं, अन्य संगठनों की नहीं।

(ग) निर्माणात्मक प्रभाव (Formative influence)—परिवार का व्यक्ति के चरित्र-निर्माण में बहुत बड़ा हाथ है। पुरुष, स्त्री तथा बच्चा-इन तीनों के व्यक्तित्व के निर्माण में परिवार का बड़ा हाथ है। सिर्फ़ बच्चे के चरित्र का ही निर्माण परिवार में नहीं होता, माता-पिता के चरित्र पर भी परिवार का प्रभाव पड़ता है। माँ-बाप बच्चे को बनाते हैं, बच्चा माँ-बाप को बनाता है। सब का एक-दूसरे के निर्माण पर प्रभाव पड़ता है।

(घ) सीमित आकार (Limited size)--अन्य सामाजिक-संगठनों के आकार बहुत बड़े होते हैं, परिवार का आकार सभी सामाजिक-संगठनों में सब से छोटा है। माता-पिता और सन्तान, और आजकल क्योंकि सन्तति-निरोध के साधन चल पड़े हैं इसलिए सन्तानों की संख्या भी कम-से-कम होती जा रही है। अन्य संगठन संख्या बढ़ाने की तरफ़ जा रहे हैं, यह संगठन संख्या घटाने की तरफ़ पग बढ़ा रहा है।

(ङ) सामाजिक ढाँचे में केन्द्रीय स्थिति (Nuclear position in social structure)--हमारे सम्पूर्ण सामाजिक-संगठन में परिवार का स्थान केन्द्रीय-स्थान है। शुरू-शुरू में तो हर बात का केन्द्र परिवार ही होता था क्योंकि व्यक्ति से जहाँ समाज बनने लगा वहाँ पहले-पहल परिवार ही तो बना। परिवार छोटा समाज है, समाज बड़ा परिवार है; परिवार में जो बातें छोटे पैमाने पर हैं, समाज में वही बातें बड़े पैमाने पर हैं, इसलिए समाज के ढाँचे का केन्द्र-बिन्दु परिवार ही है। परिवार के केन्द्र से समाज विकसित होना शुरू होता है, और विकसित होता-होता समाज और राष्ट्र बन जाता है।

(च) सदस्यों का उत्तरदायित्व (Responsibility of members)--अन्य सामाजिक-संगठनों में संगठन के प्रति सदस्यों का उत्तरदायित्व सीमित होता है, परिवार में परिवार के हर सदस्य का उत्तरदायित्व असीमित होता है। कोई क्रिकेट-क्लब का सदस्य है, तो क्रिकेट के मामलों में ही तो उसका उस संगठन के प्रति उत्तरदायित्व है, अन्य मामलों में तो नहीं, परन्तु अगर कोई परिवार का सदस्य है, तो उसका उत्तरदायित्व असीमित है। उसे क्रिकेट खेलना है, तो भी परिवार को ध्यान में रख कर, यह नहीं कि परिवार में बच्चा बीमार पड़ा हो और वह क्रिकेट खेलने लगे। परिवार के सदस्य को अपना हर काम परिवार को दृष्टि में रख कर करना होता है, उसकी जिम्मेवारी असीमित होती है। साथ ही यह जिम्मेवारी जन्म भर पीछा नहीं छोड़ती।

(छ) सामाजिक-नियन्त्रण (Social control)--परिवार मनुष्य पर सामाजिक-नियन्त्रण का सबसे बड़ा साधन है। परिवार का नियन्त्रण बड़ा चौमुखा होता है। मनुष्य परिवार के नियन्त्रण से निकलना चाहे तो उसे बड़ी कठिनाई होती है। अन्य सामाजिक-संगठनों में ऐसी बात नहीं है। जब चाहो संगठन का सदस्य बन जाओ, जब चाहो अलग हो जाओ, परन्तु परिवार एक ऐसा सामाजिक-संगठन है जिसमें आकर मनुष्य मानो जकड़ जाता है। किस चीज से जकड़ जाता है ? सामाजिक प्रथाओं से, परम्पराओं से, रीति-रिवाजों से, कानूनों से। जिस प्रकार मनुष्य विशाल समाज में सामाजिक-बन्धनों से जकड़ा हुआ है, उनसे इधर-उधर नहीं हो सकता, उसी प्रकार वह परिवार-रूपी छोटे समाज में भी समाज के विधि-विधान से बँधा हुआ है, उसमें नियन्त्रित है।

(ज) परिवार की अस्थायी तथा स्थायी प्रकृति (Temporary and Permanent nature of family)--परिवार के सम्बन्ध में हमने ऊपर जो

विशेषताएँ लिखी हैं उनसे यह प्रतीत होता है कि परिवार एक स्थायी सामाजिक-संगठन है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। परिवार पति-पत्नी के मिलने से बनता है। अगर इनमें से कोई एक मर जाय या इन दोनों का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय, तो परिवार अपने-आप टूट जाता है। इस दृष्टि से परिवार अस्थायी सामाजिक-संगठन है। परन्तु इस दृष्टि से अस्थायी होता हुआ भी परिवार एक स्थायी-संगठन है। स्थायी किस तरह से ? स्थायी इस तरह से क्योंकि एक सामाजिक संगठन के रूप में परिवार एक स्थायी वस्तु है। परिवार टूटेगा भी तो कोई एक विशेष परिवार टूटेगा, सब परिवार तो नहीं टूट जायेंगे—संस्था के रूप में, सामाजिक-संगठन के रूप में परिवार स्थायी है और बना रहेगा।

६. परिवार के कार्य
(Functions of Family)

परिवार की विशेषताएँ हम देख चुके। अब हमें यह देखना है कि समाज की रचना में परिवार का कार्य क्या है, किस उद्देश्य की यह पूर्त्ति करता है। परिवार के निम्न कार्य कहे जा सकते हैं :—

(क) प्राणि-शास्त्रीय कार्य (Biological functions)—परिवार की रचना में सबसे मुख्य कार्य प्राणि-शास्त्रीय कार्य हैं। प्राणि-शास्त्रीय कार्य क्या हैं ? प्राणि-शास्त्रीय कार्य हैं : (*i*) स्त्री-पुरुष का यौन-सम्बन्ध, (*ii*) सन्तान की उत्पत्ति, (*iii*) असहाय तथा पीड़ित अवस्था में एक-दूसरे की सहायता—रोगी होने पर दवा-दारू का प्रबन्ध, बुड्ढा होने पर उसकी सेवा, (*iv*) भोजन की व्यवस्था और (*v*) किसी जगह घर बना कर रहने का प्रबन्ध ताकि सुख-शान्ति से जीवन बिताया जा सके।

(ख) मनोवैज्ञानिक कार्य (Psychological functions)—परिवार में केवल शरीर की देख-रेख ही नहीं होती, परिवार का काम मनुष्य का मानसिक-विकास करना भी है। संसार में कोई व्यक्ति 'विश्व-प्रेम' की दृष्टि से चलेगा या 'विश्व-संहार' की दृष्टि से—इसका सूत्रपात घर के वातावरण में ही हो जाता है। परिवार का यह काम है कि व्यक्ति के सामाजिक-विकास को वह दिशा दे जिससे समाज में वह शुद्ध मानसिक दृष्टि-कोण को लेकर चल सके। जिस परिवार में कलह होगा उसका व्यक्ति संसार में भी कलह फैलायेगा, जिस परिवार में सुख और शान्ति होगी उसका व्यक्ति विश्व भर के लिए शान्ति का स्रोत बहायेगा।

(ग) आर्थिक-कार्य (Economic functions)—किसी समय परिवार आर्थिक कार्यों का भी केन्द्र था। युरोप में औद्योगिक-क्रान्ति से पहले जब मशीन, कल, कारख़ाने नहीं बने थे, तब परिवार ही छोटे-छोटे उद्योगों का केन्द्र हुआ करता था। कुछ काम पुरुष करते थे, कुछ स्त्रियाँ और कुछ बच्चे। सब मिल कर अपनी आर्थिक-समस्या हल करते थे। जब से औद्योगिक-युग के कारण कल-कारख़ाने खुले, नवीन-सभ्यता का उदय हुआ, तब से परिवार आर्थिक-

केन्द्र नहीं रहा, इसलिए नहीं रहा क्योंकि उद्योग-धंधे घर से बाहर बनन लगे। फिर भी, इस युग में भी स्त्री-पुरुष दोनों कमाने का प्रयत्न करते हैं ताकि दोनों मिल कर गृहस्थी की नौका को पार लगायें। अधिकतर स्त्री-पुरुष का काम बंटा हुआ है, पुरुष बाहर से कमा कर लाता है, स्त्री घर का काम-काज करती है, और आर्थिक-समस्या को दोनों मिल कर हल करते हैं। जो लोग विवाह नहीं करते वे आर्थिक दृष्टि से भी पछड़े ही रहते हैं क्योंकि परिवार मनुष्य को आर्थिक-क्षेत्र में बढ़ने की प्रेरणा देता है।

(घ) सामाजिक-कार्य (Social functions)—परिवार अनक सामाजिक-कार्यों को करता है। उदाहरणार्थ, (*i*) व्यक्ति अपने घराने की मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा के विरुद्ध आचरण न करे, जैसी घराने की 'स्थिति' (Status) हो वैसा, उसके अनुरूप ही व्यक्ति 'काम' (Role) करे—यह सामाजिक-कार्य परिवार द्वारा ही होता है। परिवार व्यक्ति को एक 'स्थिति' (Status) प्रदान करता है, व्यक्ति को उसके अनुकूल ही 'कार्य' (Role) करना होता है। अगर कोई व्यक्ति ऐसा नहीं करता, तो उसे संकट का सामना करना पड़ता है। एडवर्ड अस्टम राजघराने का था, यह उसकी 'स्थिति' (Status) थी। उसने सिम्पसन नाम की एक साधारण महिला से शादी करना चाहा। यह 'कार्य' (Role) उसकी 'स्थिति' (Status) के अनुरूप नहीं था, उसे सिंहासन छोड़ना पड़ा। एडवर्ड का यह कार्य कोई बुराक र्य नहीं था, परन्तु जब तक परिवारों में ऊँच-नीच का भेद-भाव बना हुआ है, तब तक समाज तो वैसा ही करेगा जैसा समाज ने अब तक किया। (*ii*) परिवार का दूसरा काम 'समाजीकरण' है। बच्चे को समाज के योग्य बनाना परिवार का ही काम है। जो बच्चे परिवार में नहीं पले, जिन्हें जंगली जानवर उठा ले गये, वे समाजीकरण की प्रक्रिया से वंचित रहे, उन्हें आदमियों का-सा खाना-पीना-पहनना-बोलना-चालना न आया। (*iii*) परिवार का तीसरा काम मानव-सभ्यता को पीढ़ी-दर-पीढ़ी पहुँचाते जाना है। अगर प्रत्येक बालक को मानव-सभ्यता की सम्पूर्ण प्रक्रिया अपने जीवन में दोहरानी पड़े, शुरू से उसे हर बात का आविष्कार करना पड़े, तो मनुष्य जंगली-का-जंगली बना रहे। परिवार क्या करता है? परिवार आज तक के सदियों के मानव-समाज के अनुभवों को कुछ ही सालों में बच्चे को सिखा देता है।

(ङ) सांस्कृतिक-कार्य (Cultural functions)—समाज का जीवन उस समाज की संस्कृति पर टिका रहता है। समाज के रीति-रिवाज, उसकी परम्पराएँ, सामाजिक-विरासत, कसे एक-दूसरे के साथ बर्तें, जीवन के प्रति क्या दृष्टि-कोण हो—यह सब-कुछ सांस्कृतिक धरोहर है, जो प्रत्येक परिवार में बच्चों को दे दी जाती है। देश के त्यौहार, देश के वीर, देश के कथानक—ग़र्ज़ यह कि देश का जो-कुछ भी अपनापन है वह परिवार द्वारा देश के बच्चों को मानो जन्म-घुट्टी में पिला दिया जाता है। परिवार यह काम न करे, तो किसी देश की संस्कृति टिकी न रहे।

७. परिवार के प्रकार
(Forms of the family)

परिवार के अनेक प्रकार हैं जिनमें से बहुतों का वर्णन तो हम भिन्न-भिन्न प्रकरणों में करते आये हैं। उन्हें, तथा उनके अतिरिक्त अन्य भी जो परिवार के प्रकार हैं, उन सब को एक जगह दे देने से विषय अधिक स्पष्ट हो जायगा, इसलिए हम यहाँ परिवार के प्रकारों की संक्षिप्त सूची दे रहे हैं :—

(क) मातृ-सत्ताक तथा पितृ-सत्ताक परिवार (Matriarchal and Patriarchal family)—यह भेद परिवार में माता या पिता की प्रधानता की दृष्टि से किया गया है। मातृ-प्रधान परिवार 'मातृ-सत्ताक' तथा पितृ-प्रधान परिवार 'पितृ-सत्ताक' कहलाता है।

(ख) मातृ-वंशी तथा पितृ-वंशी परिवार (Matrilineal and Patrilineal family)—यह भेद परिवार में माता से या पिता से वंश-परम्परा चलने की दृष्टि से किया गया है। मातृ-प्रधान परिवार में माता के तथा पितृ-प्रधान परिवार में पिता के नाम से वंश-परम्परा चलती है।

(ग) मातृ-स्थानी तथा पितृ-स्थानी परिवार (Matri-local and Patri-local family)—यह भेद परिवार में माता के घर या पिता के घर रहने की दृष्टि से किया गया है। मातृ-प्रधान परिवार में माता के तथा पितृ-प्रधान परिवार में पिता के घर रहते हैं।

(घ) मातृ-सूचक तथा पितृ-सूचक परिवार (Matronymic and Patronymic family)—जो परिवार मातृ-प्रधान हैं वे 'मातृ-सूचक' और जो पितृ-प्रधान हैं वे 'पितृ-सूचक' कहलाते हैं।

(ङ) समान-रुधिर तथा सहयोगी परिवार (Consanguineous and Conjugal family)—जिस परिवार में एक ही रुधिर के व्यक्ति शादी कर सकते हैं वे 'समान-रुधिर' तथा जिसमें एक ही रुधिर के नहीं अपितु भिन्न-भिन्न रुधिर के व्यक्ति पति-पत्नी बनते हैं वे 'सहयोगी' परिवार कहलाते हैं।

(च) संयुक्त तथा मूल परिवार (Joint and Immediate family)—जिस परिवार में कई भाई मिल कर रहते हैं, सब की आमदनी बड़े को दे दी जाती है, वही सब का कर्त्ता-धर्त्ता होता है, वह संयुक्त तथा जिसमें पति-पत्नी तथा पुत्र बस इतने ही जने होते हैं, वह मूल-परिवार कहलाता है।

इस विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करनी हो तो हमारी लिखी 'समाज-शास्त्र तथा बाल-कल्याण'—पुस्तक से प्राप्त की जा सकती है।

८. विवाह के मुख्य-मुख्य तीन प्रकार

हमने देखा कि परिवार किसे कहते हैं, इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, इसकी क्या विशेषताएँ हैं, क्या कार्य हैं, क्या प्रकार हैं। परिवार में विवाह एक आवश्यक अंग है, अतः यह देखना आवश्यक है कि विवाह के क्या-क्या रूप हैं? भिन्न-भिन्न

समाजों में विवाह के मुख्य रूप दो हैं---'एक-विवाह' (Monogamy) तथा 'बहु-विवाह' (Polygamy)। 'एक-विवाह' (Monogamy) का अर्थ है एक पुरुष एक स्त्री से शादी करे, और एक स्त्री एक पुरुष से शादी करे। 'बहु-विवाह' (Polygamy) के तीन भेद हैं---(१) एक पुरुष अनेक स्त्रियों से शादी करे, (२) एक स्त्री अनेक पुरुषों से शादी करे, (३) अथवा अनेक पुरुष अनेक स्त्रियों से शादी करें। एक पुरुष के अनेक स्त्रियों से विवाह को 'बहु-भार्यता' (Polygyny) कहते हैं, अनेक पुरुषों के एक स्त्री से विवाह को 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) कहते हैं, अनेक पुरुषों के अनेक स्त्रियों से विवाह को 'यूथ-विवाह' (Group marriage) कहते हैं, किसी प्रकार की विवाह की प्रथा न होने को 'संकर' (Promiscuity) कहते हैं। इनमें से 'संकर' (Promiscuity) का समाज में कोई स्थान नहीं है, 'यूथ-विवाह' (Group marriage) बहुत पहले कभी होता होगा, आजकल तो 'बहु-भार्यता' (Polygyny), 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) तथा 'एक-विवाह' (Monogamy) ही पाये जाते हैं। इन तीनों के विषय में हम थोड़ी-थोड़ी चर्चा करेंगे।

(क) 'बहु-भार्यता' (POLYGYNY)

एक पुरुष की अनेक पत्नियाँ होना 'बहु-भार्यता' (Polygyny) कहलाता है। इसके निम्न कारण हैं:---

(क) समाज में पुरुषों से स्त्रियों की संख्या अधिक होना---उदाहरणार्थ, युद्ध में पुरुष मारे जाते हैं, स्त्रियाँ बच जाती हैं। ऐसी अवस्था में समाज के लिए स्त्री-पुरुषों की विषमता को हल करने का एक ही साधन रह जाता है कि एक पुरुष को अनेक स्त्रियों से विवाह करने की आज्ञा दे दे।

(ख) पुरुष की काम-वासना---पुरुष अपनी काम-वासना की तृप्ति के लिए भी अनेक विवाह करता है। युद्धों में स्त्रियों का जीत लाना भी इसी उद्देश्य से होता है।

(ग) आर्थिक-दृष्टि---ग़रीब लोगों में स्त्रियाँ पुरुषों का काम में हाथ बँटाती हैं, खेतों में सहयोग देती हैं, इसलिए ग़रीब लोग जैसे बैल को खरीदते हैं, वैसे स्त्रियों को भी ख़रीदते हैं, अनेक विवाह करते हैं। जिन लोगों में स्त्रियाँ काम नहीं करतीं, उन्हें बैठकर सिर्फ़ खिलाना पड़ता है, उनमें 'बहु-भार्यक' विवाह की आज्ञा होने पर भी वे बहु-विवाह नहीं करते। उदाहरणार्थ, मुसलमानों में चार स्त्रियों तक विवाह करने की आज्ञा है, परन्तु बहुत कम घरानों में चार स्त्रियाँ पायी जाती हैं। ग़रीबी के कारण लोग अनेक स्त्रियों से विवाह करते भी हैं, ग़रीबी ही के कारण नहीं भी करते।

(घ) प्रतिष्ठा का बढ़ना---कई समाजों में 'बहु-भार्यता' का कारण यह है कि जिसके पास अनेक स्त्रियाँ हैं, वह प्रतिष्ठित समझा जाता है।

(ङ) पुत्र-कामना---कभी-कभी पहली स्त्री से पुत्र न होने के कारण भी अनेक स्त्रियों से शादी की जाती है। राजा दशरथ ने चार शादियाँ पुत्रोत्पत्ति

के कारण की थीं--यह बात दूसरी है कि जब सब शादियाँ हो गईं तब सभी स्त्रियों के सन्तान भी हो गई।

'बहु-भार्यता' आज के सभ्य-समाज में अच्छी दृष्टि से नहीं देखी जाती। १९५५ में जो 'हिन्दू विवाह तथा तलाक अधिनियम' स्वीकृत हुआ है उसमें 'बहु-भार्यता' को ग़ैर-कानूनी कर दिया गया है। पाश्चत्य-देशों में तो यह पहले ही जुर्म था। मुसलमानों में यह चल रहा है, परन्तु ज्यों-ज्यों स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होंगी यह प्रथा टिक नहीं सकेगी।

(ख) 'बहु-भर्तृता' (POLYANDRY)

जब अनेक पुरुषों की एक स्त्री होती है, तब विवाह की उस प्रथा को 'बहु-भर्त्तृता' कहते हैं। 'बहु-भर्त्तृता' के दो रूप हैं--(१) 'भ्रातृक-बहु-भर्तृता' (Fraternal polyandry) वह है, जिसमें कई भाई मिल कर एक स्त्री से शादी कर लेते हैं, (२) 'अभ्रातृक-बहु-भर्त्तृता' (Non-fraternal polyandry) वह है, जिसमें एक स्त्री से जो लोग शादी करते हैं, वे भाई-भाई नहीं होते। दूसरे प्रकार की 'बहु-भर्त्तृता' में स्त्री भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न पतियों के घरों पर जाकर रहती है, या पति भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहते हुए भिन्न-भिन्न समयों में पत्नी के यहाँ आकर रहते हैं। यह प्रथा बहुत कम देखने में आती है। पहले प्रकार की 'बहु-भर्त्तृता' के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। भारत में मलाबार के नायरों, नीलगिरी के टोडों तथा देहरादून जिले में जौनसार बावर के इलाके में यह प्रथा खूब प्रचलित है।

तिब्बत में ग़रीब लोगों में 'बहु-भर्त्तृता' (Polyandry) है, मध्य-श्रेणी के लोगों में 'एक-विवाह' (Monogamy) है, और धनी-सम्पन्नवर्ग में 'बहु-भार्यता' (Polygyny) है। इससे स्पष्ट है कि अनेक पुरुषों के एक स्त्री के साथ विवाह करने का मुख्य कारण आर्थिक है। जौनसार बावर के लोगों को जब कहा जाता है कि उन्हें इस प्रथा को छोड़ देना चाहिए, तो वे कहते हैं कि अगर सब भाई अलग-अलग शादी करें, तो उनकी जमीन बटती चली जायगी, हर-एक भाई अपना अलग हिस्सा माँगने लगेगा, अब तो एक ही परिवार होने के कारण जमीन के अलग-अलग टुकड़े नहीं होते, इसलिए यह प्रथा उनके आर्थिक ढाँचे को बनाये हुए है। पहाड़ी इलाकों में प्रचलित इस प्रथा में परिवर्त्तन करना अभीष्ट हो, तो वहाँ के लोगों के आर्थिक प्रश्न को हल करना आवश्यक होगा।

(ग) एक-विवाह (MONOGAMY)

विवाह का शुद्ध-रूप 'एक-पतिव्रत' तथा 'एक-पत्नीव्रत' ही कहा जा सकता है। डार्विन तथा वेस्टरमार्क का कथन है कि पुरुष में 'एकाधिपत्य' (Possessiveness) तथा 'ईर्ष्या' (Jealousy) की आधार-भूत नैसर्गिक कामना है। इन्हीं 'नैसर्गिक-कामनाओं' (Instincts) के कारण निम्नतम मानव-समाज में

भी 'एक-विवाह' की प्रथा है। वर्त्तमान समय में अन्य प्रकार के जितने विवाह हैं उनकी प्रवृत्ति समाप्त होने की तरफ़ है, उन्नत-समाज की प्रवृत्ति एक-विवाह की तरफ़ ही बढ़ सकती है, और इसी में प्रेम का निर्बाध प्रवाह बह सकता है, दूसरे प्रकार के विवाहों में ईर्ष्या की मात्रा शिखर पर बनी रहती है।

९. विवाह के सम्बन्ध में विधि तथा निषेध

(क) 'बहिर्विवाह' (EXOGAMY)

विवाह के सम्बन्ध में सब जगह दो प्रकार के नियम बने हुए हैं। एक नियम तो वे हैं, जो यह बतलाते हैं कि कहाँ शादी की जाय, दूसरे नियम वे हैं जो बतलाते हैं कि कहाँ शादी न की जाय। कहाँ शादी की जाय, यह बतलाने वाले 'विधि-नियम' कहलाते हैं, कहाँ न की जाय, यह बतलाने वाले 'निषेध-नियम' कहलाते हैं। जिस वर्ग का कोई मनुष्य है उसी में वह विवाह कर सकता है, अपने वर्ग से बाहर नहीं, यह 'विधि' है। इस 'विधि' को 'अन्तर्विवाह' (Endogamy) कहते हैं। अपने वर्ग में भी एक ऐसा छोटा वर्ग आ जाता है, जिसमें वह विवाह नहीं कर सकता, उस वर्ग से बाहर ही कर सकता है, यह 'निषेध' है। इसे 'बहिर्विवाह' (Exogamy) कहते हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दुओं में अपनी जाति के भीतर ही विवाह कर सकते हैं, जाति के बाहर नहीं, यह 'अन्तर्विवाह' (Endogamy) है। जाति के भीतर भी अपने गोत्र, प्रवर और सपिंड में विवाह नहीं कर सकते, यह 'बहिर्विवाह' (Exogamy) है।

कहाँ विवाह कर सकते हैं, और कहाँ नहीं कर सकते, इस विषय में जो 'अन्तर्विवाही' (Endogamous) तथा 'बहिर्विवाही' (Exogamous) नियम हैं, उनका आधार-भूत सिद्धान्त यह है कि जहाँ 'रुधिर' की समानता हो, वहाँ विवाह उचित नहीं है, जहाँ 'जाति' की समानता हो, वहाँ विवाह उचित है। हिन्दुओं में यह समझा जाता है कि गोत्र, प्रवर तथा सपिंड में रुधिर की समानता होती है, अतः वहाँ विवाह का निषेध है, अपनी जाति में रुधिर की समानता नहीं है, अतः वहाँ विवाह का विधान है। गोत्र में शादी नहीं कर सकते, परन्तु अपनी जाति से बाहर भी शादी नहीं कर सकते। ऐसा क्यों है ? अपनी जाति से बाहर जाने में मनुष्य एक ऐसे समुदाय में जा पड़ता है जिससे अपने समुदाय के टूटने का तथा समुदाय में बाहर के रुधिर आ जाने का भय है, इसलिए अपनी जाति से बाहर जाने का भी हिन्दुओं में ही नहीं, सब प्राचीन जातियों में निषेध है। जिन लोगों ने गोत्र, प्रवर तथा सपिंड विवाह का निषेध किया था, उन्होंने 'सुप्रजनन-शास्त्र' (Eugenics) के सिद्धान्दों पर अपने विचारों की कल्पना की थी क्योंकि 'सुप्रजनन-शास्त्र' का यह कहना है कि एक-समान रुधिर की सन्तति अच्छी नहीं होती। पहले तो भाई-बहन में शादी का विचार हीन हीं उठता, उठे भी तो वह सन्तान की दृष्टि से ठीक नहीं होता। मुसलमानों में मामा-भानजी की शादी होती है, परन्तु यह 'सुप्रजनन-शास्त्र' के विरुद्ध है। प्राथमिक जातियों में, ईजिप्ट,

पेरु तथा माया जाति में भाई-बहिन की शादी इस दृष्टि से होती थी कि वे अपने को दैवीय समझते थे, दूसरे रुधिर के आने से वंश को अपवित्र होने से बचाना चाहते थे। परन्तु ऐसे दृष्टान्तों के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में रुधिर के नजदीकी सम्बन्धियों में शादी बहुत कम पायी जाती है। भाई-बहन में शादी नहीं होती, और जो-जो रुधिर के दायरे में आते जाते हैं, उनमें भी शादी नहीं होती, यहाँ तक कि अपनी 'जाति' (Caste) में तो शादी होती है, परन्तु अपने 'गोत्र', अर्थात् 'क्लैन' (Clan) में शादी बहुत कम पायी जाती है।

(ख) 'सगोत्र' (CLAN) में विवाह का निषेध

यह 'क्लैन' (Clan) क्या है? हिन्दुओं में जिसे 'गोत्र' कहते हैं, वही अंग्रेजी में 'क्लैन' है। कई लोगों का कहना है कि 'गोत्र' का रुधिर से सम्बन्ध नहीं है क्योंकि भिन्न-भिन्न रुधिरवालों का एक, और एक रुधिरवालों का भिन्न-भिन्न 'गोत्र' पाया जाता है। भारद्वाज गोत्र खत्री, कुम्हार तथा चमारों में पाया जाता है, और बलराम का गार्ग्य तथा श्रीकृष्ण का गौतम गौत्र था यद्यपि दोनों भाई-भाई थे। गोत्र का रुधिर से कोई सम्बन्ध न हो ऐसा मालूम नहीं होता। शुरू-शुरू में एक रुधिर के लोग ही एक गोत्र के रहे होंगे, क्योंकि हिन्दुओं की सारी परम्परा, उनके ऐतिह्य, उनकी सारी मान्यताएँ इसी बात को सूचित करती हैं। जिस समय हिन्दुओं में एक 'गोत्र', और अन्य प्राथमिक जातियों में, एक 'क्लैन' में शादी की मनाही की गई थी, उस समय 'गोत्र' तथा 'क्लैन' का सम्बन्ध रुधिर से ही रहा होगा। पहले तो एक परिवार ही बढ़ा होगा, उसी की सन्तान सैकड़ों तक पहुँच गई होगी, उन सब का तो एक गोत्र था ही, सब एक-दूसरे के भतीजे-भानजे लगते होंगे, धीरे-धीरे उस 'गोत्र' तथा 'क्लैन' के साथ के, आस-पास के लोग भी आपस में रल-मिल गये होंगे, आपस में घनिष्ठता के सूत्र में बँध गये होंगे, और एक रुधिर के न होते हुए भी एक ही 'गोत्र' (Clan), एक ही वंश के समझे जाने लगे होंगे। जो लोग एक ही रुधिर के नहीं थे, परन्तु घनिष्ठता के कारण एक 'गोत्र' (Clan) के माने जाने लगे, उनके विषय में, समय बीत जाने पर यह किसे याद रह सकता था कि वे एक रुधिर के नहीं हैं, केवल घनिष्ठता के कारण एक गोत्र (Clan) के माने जा रहे हैं? एक गुरु के शिष्य भी एक ही गोत्र के माने जाते थे। शायद भारत में यह प्रथा इसलिए चली थी क्योंकि एक ही गुरु के आश्रम में विद्याध्ययन करने वाले लड़की-लड़के आपस में एक दूसरे को भाई-बहन मान कर रहते थे, श्रीकृष्ण और बलराम के भाई-भाई होते हुए भी उनके भिन्न-भिन्न गोत्र, भिन्न-भिन्न गुरुओं के शिष्य होने के कारण माने जा सकते हैं, परन्तु धीरे-धीरे इस बात का भी किसी को ज्ञान न रहा। परिणाम यह हुआ कि एक 'गोत्र' (Clan) के लड़के-लड़कियों का विवाह वर्जित रहा—इस विचार से वर्जित रहा कि ये एक ही रुधिर के हैं, यद्यपि उनमें से कई एक ही रुधिर के थे, और कई एक रुधिर के नहीं भी थे। क्योंकि 'गोत्र' में वे भी लोग शामिल हो गये थे, जो

एक ही रुधिर के नहीं भी थे, इसका परिणाम यह हुआ कि 'गोत्र' एक अत्यन्त व्यापक वस्तु बन गई। श्री करन्दीकर ने 'हिन्दू एग्ज़ोगैमी' (Hindu Exogamy) पुस्तक में दिखलाया है कि सगोत्र-विवाह के निषेध का परिणाम यह है कि एक हिन्दू के लिए २१२१ लड़कियाँ विवाह के लिए निषिद्ध हो जाती हैं। 'गोत्र' की इस व्यापकता का परिणाम यह हुआ है कि आज गोत्र एक निरर्थक-सी वस्तु बन गई है। इसके आधार में जो नियम काम कर रहा है वह ठीक है, परन्तु अब 'गोत्र' में एक ही रुधिर के नहीं, भिन्न रुधिर के लोग भी शामिल हो गये हैं, अतः अब भारत की लोक-सभा तथा राज्य-सभा में ऐसा प्रस्ताव स्वीकृत हो गया है जिसके अनुसार सगोत्र-विवाह को ग़ैर-कानूनी न समझा जाय।

हिन्दुओं में यह विचार कि अपने रुधिर के लोगों में विवाह नहीं करना चाहिए, इतना प्रबल था कि वे सगोत्र-विवाह के निषेध से ही सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने सपिंड-विवाह का भी निषेध किया। यह हो सकता है कि लड़का-लड़की एक गोत्र के न हों, और फिर भी एक ही रुधिर के हों। लड़की का लड़का अपने गोत्र का नहीं होता, परन्तु अपने रुधिर का होता है, सपिंड होता है। इस प्रकार के विवाहों का निषेध करने के लिए 'असपिंडा च या मातुः असगोत्रा च या पितुः, सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने'--जो माता की पीढ़ी तथा पिता के गोत्र की न हो--उसी कन्या से विवाह का विधान किया गया। इसमें यह नियम बनाया गया कि पिता की सात तथा माता की पाँच पीढ़ियों में कहीं कोई रुधिर का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, तभी विवाह हो सकता है, अन्यथा नहीं। १९५५ में जो 'हिन्दू विवाह तथा तलाक अधिनियम' स्वीकृत हुआ है उसमें विवाह के निषेध की यह सीमा माता तथा पिता दोनों से तीन पीढ़ियों की कर दी गई है। 'सगोत्र' तथा 'सपिंड'--इन दोनों विचारों के आधार में एक ही भावना काम कर रही है, और वह यह है कि समान-रुधिर वालों का विवाह नहीं होना चाहिए। यह बात 'सपिंड'-विवाह के निषेध से पूरी हो जाती है, अतः अब 'सगोत्र'-विवाह के निषेध की जरूरत नहीं मालूम पड़ती।

(घ) अन्तर्विवाह (ENDOGAMY)

जैसे हमने देखा कि 'गोत्र' (Clan) अथवा 'पिंड' के अन्दर विवाह नहीं होना चाहिए, इसके बाहर ही होना चाहिए, वैसे हम यह भी देखते हैं कि भिन्न-भिन्न वर्गों में इस बात के नियम बने हुए हैं कि जाति के अन्दर ही विवाह होना चाहिए। 'गोत्र' (Clan) के विषय में जो नियम हैं, 'जाति' (Caste) के विषय में विवाह-विषयक उससे उल्टे नियम हैं। 'गोत्र' में तो विवाह नहीं करना चाहिए, 'जाति' में विवाह करना चाहिए। इसका आधार भी रुधिर को पवित्र रखना, अपने समुदाय में दूसरे रुधिर को न आने देना है। कुछ लोग अपनी नस्ल को दूसरों से ऊँचा मानते हैं, अपने देश, जाति या धर्म को दूसरों से बढ़ा-चढ़ा मानते हैं और यह समझते हैं कि दूसरी जाति के लोगों में विवाह करने से अपनी जाति

में निम्नकोटि का रुधिर आ जाने से जाति का स्तर नीचा हो जायगा, इसलिए वे अपनी जाति के अन्दर ही विवाह की आज्ञा देते हैं, जाति के बाहर नहीं। जाति या नस्ल कैसे पैदा हुई, इसका हम १७वें अध्याय में वर्णन करेंगे। हिन्दुओं में ब्राह्मण अपने को सबसे ऊँचा समझते हैं, इसलिए दूसरी जातियों में ब्याह-शादी नहीं करते। ब्राह्मणों की देखा-देखी दूसरी जातियाँ भी अपने को अन्यों से ऊँचा समझने लगी हैं, इसलिए वे अपने रुधिर को पवित्र रखना चाहती हैं। परन्तु यह भावना देर तक नहीं बनी रह सकती। पहले तो वर्त्तमान सभ्यता ने ऊँच-नीच के भेद को मिटा दिया है, फिर 'मुक्त-प्रेम' (Free love) की लहर इस प्रकार के बन्धनों को कब स्वीकार कर सकती है? इसके अतिरिक्त समाज की वर्त्तमान जागृति में इस बात को मानने के लिए कौन तय्यार हो सकता है कि अपनी जात के बुड्ढे से लड़की को भले ही ब्याह दिया जाय, दूसरी जात के नौजवान से उसकी शादी न की जाय? इस दृष्टि से अब वे सब प्रतिबन्ध दिनोंदिन शिथिल होते जा रहे हैं जिनके अनुसार लड़का-लड़की अपनी जात-बिरादरी में ही शादी कर सकते थे, जात के बाहर नहीं। इस समय विधान-सभाओं में जो नियम बन रहे हैं वे जात-पात के खोखलेपन को अनुभव करके बन रहे हैं, और विवाह में युवक-युवतियों को पहले से ज्यादा स्वतंत्रता दे रहे हैं, वे किसी जाति-विशेष के रुधिर की पवित्रता को नहीं मानते, सब मनुष्यों का एक-सा रुधिर मानते ह।

१०. तलाक

विवाह का उद्देश्य परिवार को एक सफल संस्था बनाना है, परन्तु अगर कोई स्त्री-पुरुष, जो विवाहित हो चुके हैं, यह अनुभव करें कि उनका विवाह असफल रहा, तो वे क्या करें? इसका रास्ता यही है कि वे अलग हो जाँय। अलग हो जाना दो तरह का हो सकता है--'परित्याग' (Desertion) तथा 'तलाक' (Divorce)। 'परित्याग' का अर्थ है, एक-दूसरे को छोड़ देना। इसमें कानून की जरूरत नहीं पड़ती। पति ने पत्नी को छोड़ दिया, पत्नी ने पति को छोड़ दिया। ग़रीब लोगों में यही प्रथा चलती है। 'परित्याग' में विवाह बना रहता है, वह कानून की दृष्टि से नहीं टूटता। 'तलाक' का अर्थ है, विवाह-सम्बन्ध को कानूनी तौर पर तोड़ देना। जिस लड़के-लड़की का विवाह हुआ है, उनके विवाह-सम्बन्ध में कहीं कोई भारी ग़लती हो रही है, अब यह अपने उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर रहा--इसे समझ कर उस ग़लती को दूर करने के प्रयत्न का नाम 'तलाक' है। क्योंकि यह विवाह की ग़लती को दूर करता है, इसलिए जहाँ-जहाँ 'विवाह' है, वहाँ-वहाँ किसी-न-किसी रूप में 'तलाक' भी पाया जाता है। 'समान-रक्त-परिवार' (Consanguineous family)-प्रथा में 'तलाक' से स्त्री-बाल-बच्चों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वहाँ पत्नी तथा बच्चों का भरण-पोषण, रहना-सहना अपने माँ-बाप के यहाँ होता है, परन्तु 'सहयोगी-परिवार' (Conjugal family)-प्रथा में, जैसी प्रथा हम लोगों में चल रही है,

जिस प्रथा में लड़की माँ-बाप का घर छोड़ कर पति के घर आ जाती है, 'तलाक' का प्रभाव बहुत गहरा पड़ता है। पत्नी का, और बच्चे हो गये हैं तो उनका, भरण-पोषण कैसे होगा—इस प्रथा में इन सब बातों का प्रबन्ध करना पड़ता है।

तलाक की प्रथा आदि-काल से चली आ रही है। जूनी नाम की एक जाति है जिसमें 'समान-रक्त-विवाह' (Consanguineous family) की प्रथा है। जब कोई जूनी स्त्री पति को तलाक देना चाहती है, तो वह उसका बिस्तर बाँध कर दर्वाज़े पर रख देती है। पति इशारा पाकर अपने माँ-बाप के घर चला जाता है। नेपाल के 'सहयोगी-परिवार' (Conjugal family)-प्रथा की नेवार स्त्री जब पति को तलाक देना चाहती है, तो उसके बिस्तर पर दो सुराहियाँ रख कर घर से चली जाती है। भारत में भी बड़ौदा, आसाम आदि की छोटी जातियों में तलाक की प्रथा प्रचलित है। मुसलमानों में तलाक को माना जाता है।

'तलाक' पर तीन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—धार्मिक-दृष्टि, व्यावहारिक-दृष्टि तथा लौकिक-दृष्टि। इन तीनों पर हम संक्षिप्त विचार करेंगे :

(१) 'धार्मिक-दृष्टि'—इस दृष्टि के अनुसार विवाह में आत्माओं का सम्बन्ध परमात्मा का जोड़ा हुआ है, इसलिए इसे कोई दुनिया का कानून तोड़ नहीं सकता। हिन्दू तो यह मानते हैं कि यह इस जन्म का नहीं, जन्म-जन्मान्तरों का सम्बन्ध है, अतः इसे तोड़ना ईश्वरीय-विधान में हस्तक्षेप करना है। इस दृष्टि को केवल धार्मिक व्यक्ति ही मान सकता है, दूसरा नहीं। सचाई तो वह होती है, जिसे कोई माने-न-माने, वह अपने-आप में सत्य हो। आग जलाती है, यह सचाई है, कोई माने-न-माने, आग जलायेगी ही। अगर विवाह एक ऐसा सम्बन्ध है, जिसे परमात्मा ने बनाया है, जन्म-जन्मान्तरों का है, तो इसे किसी समाज के लिए तोड़ सकना असम्भव होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। इस सम्बन्ध को नित-नित तोड़ा जाता है, इसे तोड़ने के लिए कानून बनते हैं, समाज इस सम्बन्ध को उलटता-पुलटता रहता है, तब कैसे माना जाय कि यह ईश्वरीय-विधान है?

(२) 'व्यावहारिक-दृष्टि'—व्यावहारिक-दृष्टि यह है कि विवाह समाज की उत्पन्न की हुई एक संस्था है। इसका उद्देश्य पति-पत्नी का एक-दूसरे की सहायता करना तथा उत्तम सन्तान उत्पन्न करना है। अगर किसी विवाह में पति-पत्नी विवाह के उद्देश्य को पूरा न करते हों, व्यभिचारी हों, असाध्य रोगों से पीड़ित हों, नपुंसक हों, अत्यन्त दीर्घ-काल तक एक-दूसरे से अलग विदेश में रहते हों, तो वह विवाह-सम्बन्ध व्यावहारिक-दृष्टि से अपने काम को पूरा नहीं कर रहा, इसलिए उसका भंग किया जा सकना सम्भव होना चाहिए। आज युरोप में प्रायः सब देशों में यही विधान है। भारत के प्राचीन स्मृतिकारों ने कहा था—'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ, पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते'—अगर पति का देर तक पता न चले, मर जाय, संन्यासी हो जाय, नपुंसक हो, पतित हो गया हो, तो स्त्री को अधिकार है कि वह दूसरा विवाह कर ले। यह

तलाक के अधिकार की ही स्वीकृति है। हिन्दू-शास्त्रों में तलाक की इस स्पष्ट स्वीकृति के होने पर भी यहाँ तलाक प्रचलित नहीं है। हिन्दू-स्त्री इस दृष्टि से अत्यन्त विषम परिस्थिति में है। इसे दूर करन के लिए भारतीय लोक-सभा तथा राज्य-परिषद् ने १९५५ के 'हिन्दू विवाह तथा तलाक अधिनियम' में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में तलाक को स्वीकार कर लिया है। इस अधिनियम में स्त्री तथा पुरुष दोनों को तलाक का अधिकार समान रूप से दे दिया गया है, परन्तु हिन्दू-समाज की जैसी स्थिति है, उसमें यह भय मालूम पड़ता है कि पुरुष इसका उच्छृंखलता से प्रयोग करेंगे, और किन्हीं-किन्हीं अवस्थाओं में निस्सहाय नारी को और अधिक संकट में डाल देंगे। स्त्रियों में अभी इतनी शिक्षा नहीं कि वे इस अधिकार का उपयोग कर सकें। इसलिए इस अधिकार के पुरुषों द्वारा दुरुपयोग को रोकने के लिए उचित यह था कि पहले दस साल तक यह अधिकार सिर्फ़ स्त्रियों को दिया जाता। वे इसका उपयोग तभी करेंगी जब परिवार में उनकी स्थिति अत्यन्त असहाय हो जायगी। जबतक हिन्दू-स्त्री आर्थिक-दृष्टि से अपने पाँवों पर खड़ी नहीं होती तब तक उसके लिए विषम परिस्थितियों में भी पति का आश्रय छोड़ना एक दूर की बात है, इसलिए पुरुष इस अधिकार का दुरुपयोग कर सकता है, आर्थिक-दृष्टि से परावलम्बी भारतीय नारी इस अधिकार का दुरुपयोग नहीं कर सकती।

(३) 'लौकिक-दृष्टि'—लौकिक-दृष्टि यह है कि सिर्फ़ नष्ट, मृत, प्रव्रजित, क्लीव, पतित होने पर ही नहीं, जब भी पति-पत्नी का स्वभाव न मिलता हो, उन्हें तलाक का अधिकार होना चाहिए। इस सिद्धान्त को मानने वालों का कहना है कि 'विवाह' तो एक प्रकार का इकरार है, ठेका है, एक-दूसरे के साथ रहने की स्वीकृति है, रजामन्दी है। जब तक दोनों साथ रहने के लिए तैयार हैं तब तक उन्हें साथ रहना चाहिए, जब वे अनुभव करें कि अब वे साथ नहीं रह सकते तब उन्हें अलग हो जाने की छूट होनी चाहिए। आजकल जो दिनों-दिन बढ़ता 'व्यक्तिवाद' (Individualism) है, व्यक्ति की स्वतंत्रता की दुहाई चारों तरफ़ सुनाई दे रही है, उसकी यह स्वाभाविक माँग है। यही माँग अमरीका में 'साथी-विवाह' (Companionate marriage) का रूप धारण कर रही है।' साथी-विवाह' के पृष्ठ-पोषकों का कहना है कि जब तक बच्चे न हो जाँय, तब तक पति-पत्नी को साथ रहने की छूट देनी चाहिए, उससे पहले वे अलग होना चाहें, तो बिना कानून के झमेले में पड़े अलग हो सकें। परन्तु यह विचार-धारा परिवार की जड़ें ही खोखली कर देने वाली है। जरा-जरा-सी बात पर यह कह देना कि हमारी नहीं बनती, यह प्रवृत्ति इसके द्वारा बढ़ सकती है। अभी तक तो अमरीका में नेवेडा तथा फ्लोरिडा को छोड़कर रजामन्दी से एक-दूसरे से अलग होने का प्रयत्न करना भी जुर्म में शामिल है। इंग्लैण्ड में भी 'इच्छा-पूर्वक' (By consent) अलग नहीं हो सकते। यह सिद्ध करना पड़ता है कि पति-पत्नी दोनों में से किसी एक ने व्यभिचार किया है, या ऐसी ही कोई और बात है। फिर भी, तलाक के

रास्ते पर एक बार चल पड़ने के बाद इसकी दिशा विवाह के बन्धनों को शिथिल कर देने की तरफ़ ही जा सकती है।

११. परिवार का वर्त्तमान रूप [पारिवारिक-विगठन]

हम पहले देख आये हैं कि आदिम-जातियों में दो प्रकार के परिवार पाये जाते हैं। 'समान-रक्त-परिवार' (Consanguineous families) तथा 'सहयोगी-परिवार' (Conjugal families)। इनमें 'समान-रक्त-परिवार' तो 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal) हैं, और 'सहयोगी-परिवार' 'पितृ-सत्ताक' (Patriarchal) हैं। 'मातृ-सत्ताक' भी अन्त में 'पितृ-सत्ताक' परिवारों में ही बदल जाते हैं। वर्त्तमान सभ्यता में 'पितृ-सत्ताक' परिवार ही रह गये हैं। जिस समय मनुष्य ने पशुओं को पालना तथा खेती करना शुरू किया उस समय से 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal) ही चल पड़े। इन परिवारों में स्त्री-पुरुष दोनों मिल कर खेती करते थे, अगर खेती नहीं करते थे, कोई दूसरा काम करते थे, तो वह भी पति-पत्नी-बच्चे सब मिलकर ही करते थे। परिवार अन्य कामों के साथ-साथ उत्पादन का भी केंद्र था। ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया, परिवार ही एक छोटा-सा उद्योग-धन्धों का केंद्र हो गया। घर में ही सब प्रकार के उद्योग-धंधे चलते थे, इन्हीं को 'गृहोद्योग' (Cottage industries) कहते थे। परिवार के स्वामी का काम घर में ही कोई छोटी-मोटी कारीगरी का काम करके आजीविका कमाना था, इस काम में उसकी स्त्री बराबर का सहयोग देती थी। अगर पति कपड़ा बुनता था, तो स्त्री सूत कातती थी, अगर पति मछली पकड़ता था, तो स्त्री जाल बुनती थी। इसके अतिरिक्त बच्चों की शिक्षा, उनका दवा-दारु करना, उन्हें अपने बाप-दादों के धर्म में दीक्षित करना, रोटी बनाना, कपड़े धोना, कपड़े सीना——सब काम घर में ही होता था।

इसके अतिरिक्त 'पितृ-सत्ताक-परिवार' में क्योंकि सब काम घर में होता था इसलिए सब भाई-भतीजे, चचा-ताऊ इकट्ठे रहते थे। खेती तथा सब काम-धंधे सब के साझे होते थे। घर का सबसे बड़ा घर का स्वामी माना जाता था, वही सारी गृहस्थी की गाड़ी को चलाता था। इसे समाज-शास्त्र की परिभाषा में 'संयुक्त-परिवार'-प्रथा (Joint family system) कहा जाता है।

'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) के इस ढाँचे को जिसमें घर ही उद्योग का केंद्र था और इसके साथ जिसमें परिवार के सब सदस्य एक-साथ मिल कर रहते थे, जिसे 'संयुक्त-परिवार-प्रथा' कहते थे——इस सारे ढाँचे को 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) ने एक जबर्दस्त धक्का दिया, इतना जबर्दस्त कि आज का 'परिवार' इस धक्के के जोर से हिलता नजर आ रहा है। यह धक्का जैसे युरोप में लगा और परिवार का अंजर-पंजर शिथिल हो गया, वैसे भारत में भी लगा और लग रहा है। 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) को 'औद्योगिक-क्रांति' ने कैसे धक्का दिया?

औद्योगिक-क्रान्ति का पारिवारिक-संगठन पर प्रभाव

पहले घर में ही उद्योग-धंधे होते थे, परन्तु नये-नये आविष्कारों ने नई-नई मशीनों को जन्म दिया। ये मशीनें इतनी बड़ी थीं, जो छोटे-से घर में नहीं समा सकती थीं। करघा तो घर में लगाया जा सकता है, कपड़े की मिल तो घर में नहीं लगाई जा सकती। मशीन के आविष्कार का परिणाम यह हुआ कि 'परिवार' तथा 'गृहोद्योग' का जो अब तक का सम्बन्ध बना हुआ था, वह टूट गया। उद्योग घर को छोड़ कर फ़ैक्टरियों में जाने लगे, पति-पत्नी को एक-जगह बाँध कर रखने वाला जो आर्थिक कारण था वह नष्ट हो गया। अब पुरुष रोटी कमाने के लिए घर छोड़ कर दूर-दूर जाने लगे क्योंकि जहाँ कल-कारखाने लगे थे वहीं जाकर कमाई की जा सकती थी। अब स्त्री का काम सिर्फ़ रोटी पकाना, बच्चों की देख-रेख करना आदि रह गया, गृहोद्योग में हाथ बँटाना उसके हाथ में न रहा। परन्तु 'यंत्रीकरण' तथा 'उद्योगीकरण' (Mechanization and industrialization) की इस प्रवृत्ति ने धीरे-धीरे परिवार के इन कामों पर भी प्रभाव डालना शुरू किया। रोटी बनाने के घर के काम को होटलों और कैन्टीनों ने अपने हाथ में ले लिया, कपड़े धोने के लिए लौण्ड्रियाँ खुल गईं, कपड़े सीने के लिए टेलरिंग-हाउस, बच्चों की शिक्षा के लिए स्कूल-कालेज, पालन-पोषण के लिए नर्सरीज, धर्म की दीक्षा के लिए मन्दिर-मस्जिद तथा गिरजाघर खुल गये। जब घर में स्त्री के लिए कुछ करने को न रहा, तो वह भी आजीविका की तलाश में पुरुष की तरह बाहर निकल पड़ी। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि जितने काम घर पर परिवार करता था, वे सब बाहर के संगठनों ने ले लिये। भारत में घर में रोटी बनाना, कपड़े सीना, धोना आदि तो रह गया है, युरोप के परिवारों में तो यह सब-कुछ भी नहीं रहा। वहाँ ऐसे लोग हैं जो होटलों में रहते हैं, वहीं खाते-पीते हैं, वहीं सोते हैं, सभा-सोसाइटी में दिल-बहलाव के लिए चले जाते हैं, किसी फ़ैक्टरी या आफ़िस में काम कर आते हैं, और इसी प्रकार अपना जीवन बिता देते हैं। ऐसे लोगों के लिए 'परिवार' का रूप सिर्फ़ प्रेम करना और सन्तानोत्पत्ति करना---इन दो बातों के सिवाय क्या रह जाता है? परन्तु नहीं, वर्त्तमान सभ्यता धीरे-धीरे सन्तानोत्पत्ति को भी परिवार के क्षेत्र में से निकालती चली जा रही है। पति-पत्नी सन्तानोत्पत्ति को अपने आमोद-प्रमोद में बाधा समझने लगे हैं। वे परिवार बनाते हैं, परन्तु सन्तान नहीं चाहते। इसीलिए आज सन्तति-निरोध के उपायों का बड़ी तीव्र-गति से प्रयोग हो रहा है। सब देशों में इनका चलन बढ़ता जा रहा है, और परिवार के पास 'रमण' (Romance) करने के अतिरिक्त कोई काम नहीं दीख रहा। 'रमण' और 'कामाचार' एक ऐसी वस्तु है जो अस्थिर है, जिसे मदांध युवा-युवति 'प्रेम' कहते हैं, वह कालान्तर में काफ़ूर की तरह उड़ जाता है। इसी लिए आज की सभ्यता में तलाक का स्थान बढ़ता जाता है। प्रेम नष्ट हुआ तो दम्पति को एक-दूसरे से बाँधे रखने वाला कोई बन्धन नज़र नहीं आता।

जब लोग उद्योग-धंधों के लिए घर में बंधे नहीं रहते, कमाने के लिए घर से बाहर जाते हैं, कोई किसी शहर में, कोई किसी शहर में, तब वे यह भी सोचने लगते हैं कि वे अपनी कमाई का अपने पर ही खर्च क्यों न करें, क्यों सारे परिवार के खर्च को अपने ऊपर लें। इस प्रकार उद्योगीकरण की प्रक्रिया और औद्योगिक-क्रांति से पारिवारिक-ढाँचे में एक नया परिवर्त्तन आता जा रहा है। 'संयुक्त-परिवार' हटता जा रहा है, उसकी जगह पति-पत्नी तथा बच्चा—इन तीन का एक छोटा-सा परिवार उत्पन्न होता जा रहा है, 'संयुक्त परिवार' (Joint family) की जगह 'मूल-परिवार' (Immediate family) स्थान लेता जा रहा है।

पारिवारिक-विगठन के अन्य कारण

अभी हमने जिस औद्योगिक-क्रांति का वर्णन किया उससे परिवार का स्वरूप बदलता जा रहा है। इसे समाज-शास्त्री 'पारिवारिक-विगठन' (Family disorganisation) का नाम देते हैं। उनका कथन है कि 'औद्योगिक-क्रांति' से परिवार टूटता जा रहा है, विगठित होता जा रहा है। 'औद्योगिक-क्रांति' तो पारिवारिक-विगठन का एक कारण है—यद्यपि यह सब से बड़ा कारण है। इसके अतिरिक्त परिवार-विगठन के अन्य भी अनेक कारण हो सकते हैं। उनका प्रभाव वर्त्तमान-युग में ही नहीं, हर युग में हो सकता है। औद्योगिक-क्रांति तो वर्त्तमान-युग के पारिवारिक-विगठन का कारण है। जिन कारणों का हम अभी उल्लेख करने लगे हैं वे हर-किसी समय परिवार को विगठित कर सकते हैं यद्यपि उनका तात्कालिक प्रभाव हमें आज के पारिवारिक-विगठन पर विशेष तौर से दिखलाई दे रहा है। पारिवारिक-विगठन के ये कारण निम्न हैं:—

(क) यौन-सम्बन्धों में असन्तोष (Sex dissatisfaction)—हम पहले लिख आये हैं कि परिवार का एक मुख्य उद्देश्य यौन-सम्बन्ध है। जहाँ इस सम्बन्ध में असन्तोष होगा वहाँ एक-दूसरे के प्रति वह प्रेम-भाव नहीं बना रह सकता, जो परिवार में होना चाहिए। यौन-सम्बन्धों में असन्तोष के परिणाम-स्वरूप गुप्त तथा प्रकट व्यभिचार शुरू हो जाता है जो परिवार के विगठन में और अधिक सहायक है।

(ख) सामाजिक-मूल्यों में भिन्नता (Difference in Social values)—आज हमारे समाज में हर बात का मूल्यांकन पहले के समाज के मूल्यांकन से भिन्न है। बड़े-बुजुर्ग जिन बातों को जरूरी समझते हैं, उन्हें आज के नौ-जवान जरूरी नहीं समझते। जैसा हमने पहले कहा था, संगठन का आधार-भूत तत्त्व 'एक-मतिता' (Consensus) है। अगर सामाजिक-मूल्यों के सम्बन्ध में पति-पत्नी-पुत्र तीनों में एक धारणा है, तो परिवार का संगठन बना रहेगा, अगर इन तीनों की एक-धारणा नहीं है, तो पुरुष एक तरफ़ जायगा, स्त्री दूसरी तरफ़ जायगी, और लड़का तीसरी तरफ़ जायगा। आज के युग में यह प्रक्रिया जोरों से बढ़ रही है। पिता जिस बात को बुरा कहता है, लड़का उसे अच्छा कहता है, और घरों में दिनोंदिन जूतम-पैजार चलता है।

(ग) सामाजिक-ढाँचे में परिवर्त्तन (Change in social structure)--परिवार एक छोटा समाज है, और समाज एक बड़ा परिवार है। समाज के ढाँचे का अक्स परिवार पर हर समय पड़ता रहता है। पूँजीवादी ढाँचे में परिवार का जो रूप होगा, समाजवादी ढाँचे में परिवार का रूप उससे भिन्न होगा। पूँजीवादी ढाँचा भेद-भाव की नींव पर खड़ा होता है। कोई अमीर है, कोई ग़रीब है--इसी दृष्टि से परिवार में भी ऊँच-नीच का भेद-भाव पड़ जाता है। समाजवादी ढाँचे में भेद-भाव नहीं होता, इसलिए समाजवादी व्यवस्था में पहले के पूँजीवादी आधार पर खड़े हुए परिवार टूटने लगते हैं। जब समाज का ढाँचा बदलने लगता है, चाहे पूँजीवाद से समाजवाद की तरफ़ जा रहा हो, या और किसी प्रकार के परिवर्त्तन में से समाज गुजर रहा हो, तब संक्रमण-काल होता है, और इस संक्रमण-काल का परिवार के संगठन पर प्रभाव पड़े बग़ैर नहीं रहता। ऐसे समय में परिवार विगठित हो जाता है।

(घ) 'स्थिति' तथा 'कार्य' में बेमेलपना (Maladjustment between status and role)--स्त्री की स्थिति अबतक पुरुष के प्रति आधीनता की रही है और उसके सुपुर्द ऐसे ही कार्य करते रहे हैं जो निम्न स्थिति के होते हैं। उसका काम घर-गृहस्थी में झाड़ू लगाना, रोटी बनाना, कपड़े धोना रहा है। आज नवीन-विचारों में स्त्री इस प्रकार के कामों में दिलचस्पी नहीं ले रही। स्त्री के अधिकारों की चारों तरफ से पुकार मच रही है। स्त्री की स्थिति ऊँची होती जा रही है। ऐसी हालत में जिन घरों में स्त्री से उसी पुराने तरीके से बर्ता जा रहा है, उसे नौकर की तरह रखा जा रहा है, उसे बर्तन माँजने और कपड़े धोने लायक ही समझा जा रहा है, वहाँ असन्तोष की चिनगारी जा पड़ी है और ऐसे परिवारों में हाय-हाय शुरू हो गई है। स्त्री की स्थिति ऊँची करनी होगी, तो उसके कार्य में भी परिवर्त्तन करना पड़ेगा, यह नहीं हो सकता कि हम स्त्री की स्थिति भी ऊँची कर दें और उसका कार्य भी वही पुराना रखें। 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) में जहाँ मेल नहीं होता, वहाँ काम सरसता से नहीं चलता। आज की स्त्रियाँ पुरानी स्त्रियों की तरह डंडे से हाँका जाना नहीं पसन्द करतीं। करें भी कैसे? हमने जब समाज में बार-बार ढिंढोरा पीट कर स्त्रियों को ऊँचा स्थान दिया, तो उस ऊँचे स्थान के अनुरूप ही तो उनसे काम लेना होगा। अगर हम स्थान ऊँचा देंगे और काम नीचा लेंगे, तो परिवार का विगठन नहीं होगा तो क्या होगा? संगठन के लिए 'स्थान' तथा 'काम' का समन्वय होना आवश्यक है।

(ङ) ग़रीबी (Poverty)—ग़रीबी के कारण भी आज परिवार टूट रहे हैं। जब पिता अपने बीबी-बच्चों की फ़र्माइशें पूरी नहीं कर सकता, तो बीबी अपने पति को अलग कोसती है, बच्चे अलग कोसते हैं। इस पर तुर्रा यह है कि वर्त्तमान सभ्यता में फ़र्माइशों की भी तो कोई हद नहीं। सिनेमा जगह-जगह खुल गये हैं। खाने को मिले, न मिले, आज के बच्चे सिनेमा जरूर देखेंगे, माँ-बाप

का गला घोट कर सिनेमा देखेंगे। फ़ैशनों की थाह नहीं, हर फ़ैशन को हर आदमी-औरत पूरा करना चाहता है। कमाई न हो और इस प्रकार की फ़िज़ूल-खर्चियाँ हों, तो परिवार विगठित नहीं होगा तो क्या होगा ?

(च) रमणपरक विवाह (Romantic marriages)--इस युग में विवाह का एक नया आधार उत्पन्न हो गया है। विवाह का उद्देश्य गृहस्थी चलाना नहीं है, बच्चे उत्पन्न करना भी नहीं है। विवाह के आज तक के जितने उद्देश्य थे, उनमें से कोई भी विवाह का उद्देश्य नहीं रहा है। विवाह का उद्देश्य रोमांस है, एक आत्मा की दूसरी आत्मा के लिए भूख है, प्यास है। कहने को तो यह महान् उद्देश्य प्रतीत होता है, परन्तु यह रोमांस चार दिन का होता है, कुछ दिनों के लिए रोमांस में पागल रह कर फिर इंसान इंसान बन जाता है। इस तरह के रोमांसी विवाह परिवार की नींव को दिनोंदिन हिलाते जा रहे हैं।

(छ) व्यक्तित्व के दोष (Defects of personality)--परिवार को विगठित करने वाले उक्त कारणों के अतिरिक्त व्यक्तित्व के दोष भी इस सामाजिक-संगठन को धक्का पहुँचाते हैं। कहीं पति शराबी है, कहीं पत्नी ईर्ष्यालु है, कहीं दोनों में से एक दुश्चरित्र है। इन कारणों से भी परिवार टूटते रहते हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि आज का परिवार एक भयंकर संकट में से गुज़र रहा है। पहले तो औद्योगिक-क्रांति ने परिवार के संगठन को एक भारी धक्का दिया, ऐसा धक्का जिससे पुराने ढंग के परिवार का अंजर-पंजर ढीला पड़ गया। इसके अतिरिक्त वर्त्तमान युग के अन्य कारण परिवार की दीवार को धक्के-पर-धक्का दे रहे हैं। सामाजिक-मूल्य बदलते जा रहे हैं, समाज के ढाँचे में परिवर्त्तन आता जा रहा है--इनके साथ अन्य कारण भी मिलते जा रहे हैं। यह स्थिति है जिसने विश्व के सामने एक महान् समस्या खड़ी कर दी है--यह समस्या कि जिस दिशा में हम जा रहे हैं, उसमें जाते-जाते 'परिवार' की संस्था बचेगी, या नष्ट हो जायगी ? जब परिवार को बाँधने वाली कोई चीज़ बच न रहेगी, तो परिवार कैसे बचेगा ?

क्या 'परिवार' की संस्था बचेगी या नष्ट हो जायगी ?

इसमें संदेह नहीं कि 'परिवार' की संस्था पर जो ठोकरों-पर-ठोकरें पड़ रही हैं उनसे परिवार का भविष्य अन्धकारमय दीखता है, परन्तु निम्न कारणों से कहा जा सकता है कि यह संस्था नष्ट नहीं होगी :--

(क) पति-पत्नी के एक-दूसरे का 'परित्याग' करन, और 'तलाक' के बावजूद, 'विवाहों' की संख्या बढ़ती जा रही है। इससे सिद्ध होता है कि 'परिवार' के नष्ट होने के कोई आसार नहीं हैं। अगर 'विवाहों' की अपेक्षा 'तलाकों' की संख्या बढ़ने लगे, तभी 'परिवार' के संस्था के रूप में नष्ट होने का भय हो सकता है।

(ख) पहले-कभी 'अवैध-सन्तानों' (Illegitimate children) की संख्या ज्यादा थी, परन्तु अब विवाह के बाहर सन्तान का होना बुरी दृष्टि से देखा

जाता है। अगर 'परिवार' नष्ट हो जाय, तो इसका परिणाम यह होगा कि अवैध सन्तानों की संख्या बढ़ जायगी। इस स्थिति को आज का समाज सहन नहीं कर सकता। इसका परिणाम यह होगा कि सन्तानोत्पत्ति के लिए 'परिवार' का संगठन बना ही रहेगा। स्त्री-पुरुष सन्तानोत्पत्ति का विचार ही छोड़ दें---यह असम्भव है। सन्तान की लालसा प्रत्येक स्त्री-पुरुष की नैसर्गिक कामना है। समाज की वर्त्तमान विचार-धारा में यह कामना 'परिवार' में ही पूरी की जा सकती है, 'परिवार' के बाहर नहीं, इसलिए 'परिवार' का रहना भी आवश्यक होगा। 'परिवार' के बाहर स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध से सन्तान हो सकती है, परन्तु 'सन्तति-निरोध' के उपायों से सभ्य-समाज परिवार के बाहर तो सन्तान होने नहीं देगा, और सन्तान के लिए 'परिवार' की संस्था को भी नष्ट नहीं होने देगा।

(ग) व्यक्ति के अतिरिक्त राष्ट्र भी 'परिवार' की संस्था को नष्ट होने से बचायेगा। राष्ट्र को व्यक्तियों की आवश्यकता है, और व्यक्ति परिवार के बिना नहीं पैदा होते। जब-जब 'परिवार' सीमा से नीचे जाने लगेगा, राष्ट्र 'परिवार' को बचाने के लिए जान लड़ा देगा। जर्मनी, रूस आदि देशों में अधिक सन्तान उत्पन्न करने के लिए इनाम दिये जाते रहे। इन सब का उद्देश्य 'परिवार' को प्रोत्साहन देना रहा है। इसी प्रकार के उपाय राष्ट्र की तरफ़ से सदा किये जाते रहेंगे। हाँ, प्रत्येक 'परिवार' स्वस्थ व्यक्तियों को ही जन्म दे, रोगी और कूड़ा-कर्कट न भर दे, इसलिए राष्ट्र 'परिवार' का नियन्त्रण ज़रूर करेगा। ऐसे नियम बनायेगा जिससे असाध्य रोगों से पीड़ित व्यक्ति विवाह न करें, करें तो उनको 'निर्वीर्य' (Sterilize) कर दिया जाय, विवाह से पूर्व हर-एक व्यक्ति स्वस्थ होने का प्रमाण-पत्र ले, परन्तु इन सब उपायों का उद्देश्य 'परिवार' को नष्ट होने के स्थान में 'परिवार' को दृढ़, सुसंगठित तथा स्वस्थ बनाना होगा।

प्रश्न

१. 'परिवार' की परिभाषा करते हुए बतलाइये कि उसमें क्या-क्या तत्त्व हैं ?

२. 'परिवार' की उत्पत्ति कैसे हुई, क्या 'मातृ-सत्ताक-परिवार' पहले हुआ, या 'पितृ-सत्ताक-परिवार' ? इन दोनों की व्याख्या करते हुए 'समान-रक्त' तथा 'सहयोगी' परिवार का अर्थ समझाइये।

३. 'बहु-भार्यता', 'अन्तर्विवाह', 'बहिर्विवाह', 'बहु-भर्तृता', 'एक-विवाह' के विषय में आप क्या जानते हैं

४. हिन्दुओं के विवाह-सम्बन्धी विधि-निषेधों की आलोचना कीजिये।

५. तलाक के विषय में तीन दृष्टि-कोण कौन-से हैं ? उन तीनों को व्याख्या कीजिये। यह भी बतलाइये कि हिन्दुओं में तलाक जारी कर देना चाहिए, या नहीं ? अगर कर देना चाहिए, तो किन अवस्थाओं में ?

६. औद्योगिक-क्रांति से पहले 'परिवार' का क्या रूप था, बाद में क्या हुआ ?

७. क्या परिवार' की संस्था वर्त्तमान-परिस्थितियों में बच रहेगी, या नष्ट हो जायगी ? युक्तियाँ देकर विचार कीजिये।

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. आधुनिक समुदायों में विवाह और परिवार के स्वरूपों में नये-नये परिवर्त्तन क्यों हो रहे हैं? (लखनऊ, १९५१)

२. समाजीकरण करने वाली संस्था के रूप में परिवार का क्या महत्त्व है? (लखनऊ, १९५२)

३. भारत के ग्रामीण और नागरिक क्षेत्रों की कुटुम्ब-व्यवस्था की तुलना कीजिये। (लखनऊ, १९५१)

४. परिवार के प्रमुख रूप क्या हैं? धर्म, अर्थ और सरकार के दृष्टिकोण से सामाजिक-संस्था के रूप में परिवार की विवेचना कीजिये। (आगरा, १९५०)

५. यह समझाइये कि परिवार किस प्रकार से समाज की प्राथमिक एवं मौलिक इकाई है। (आगरा, १९५५)

७. अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह तथा अनुलोम विवाह पर टिप्पणी लिखिये। (आगरा, १९५१, १९५३, १९५६)

८. 'परिवार' का 'प्रथम-समूह' के रूप में विगठन आधुनिक सभ्यता का न टाला जा सकने वाला परिणाम है--इस पर विवेचन कीजिये। (आगरा, १९५५)

१०. परिवार के मौलिक कार्य क्या हैं? क्या ये कार्य आधुनिक-युग में परिवर्त्तित हुए हैं? क्या आप आधुनिक-परिवार को विगठित कहेंगे? कारण लिखिये। (राजपूताना, १९५४)

११. 'आर्थिक-परिवार ने परिवार के स्वरूप एवं प्रकृति पर गहरा प्रभाव डाला है, परन्तु इसने मौलिक प्राणि-शास्त्रीय और सामाजिक आवश्यकताओं पर, जो कि परिवार के प्रमुख कार्यों का सृजन करती हैं, कोई प्रभाव नहीं डाला'--इस कथन की समालोचना कीजिये। (राजपूताना, १९५३)

१२. उन तत्त्वों का विश्लेषण कीजिये जो कि पश्चिम में परिवार को निर्बल बना रहे हैं। परिवार के लिए नई समस्याएँ क्या हैं? (राजपूताना, १९५४)

१३. आधुनिक-परिवार में हो रहे परिवर्त्तनों का वर्णन कीजिये। ये परिवर्त्तन किन कारणों से हो रहे हैं--उदाहरण देकर समझाइये। (राजपूताना, १९५५)

१४. आप परिवार का अन्य समितियों से किस प्रकार भेद कर सकते हैं? परिवार के कार्यों का वर्गीकरण कीजिये और पारिवारिक संगठन में होनेवाले आधुनिक परिवर्त्तनों को बतलाइये। (आगरा, १९५७)

१५. सामाजिक-विगठन क्या है? क्या आधुनिक परिवार सामाजिक-विगठन का रूप धारण कर रहा है? (आगरा, १९५७)

१६

खाना-बदोशी जत्था, झुण्ड, वन्य-जाति तथा गोत्र

(BAND, HORDE, TRIBE AND CLAN)

१. स्थानीय-समूह तथा उदग्र-समूह

(Spatial group and Vertical group)

हम ९म अध्याय में समाज के विकास का वर्णन करते हुए फिरन्दर-जीवन, चरवाहा-जीवन, कृषि-जीवन आदि का वर्णन कर आये हैं। मानव-समाज सैकड़ों और हजारों सालों के विकास में से गुजरता हुआ भिन्न-भिन्न क्रमों में से गुजरा है। कभी वह वन-वन में फिरता था, शिकार और फलों से जीवन निर्वाह करता था; फिर शिकार खेलने की जगह उसने जानवरों को पालना शुरू किया, गाय-भैंस-भेड़-बकरी के दूध से अपना निर्वाह शुरू किया, परन्तु इस समय भी उसका वन-वन भटकना बन्द नहीं हुआ, जहाँ चारा दिखाई दिया वहीं वह भी अपने गाय-भैंस के गल्लों को लेकर चल दिया; इसके बाद जब कृषि का आविष्कार हुआ तब वह एक जगह घर बना कर रहने लगा। इस प्रकार का जीवन बिताते समय आदि-काल के मानव-समाज में दो प्रकार के समूहों ने जन्म लिया। एक प्रकार का समूह तो वह था जिसका 'स्थान'-विशेष से सम्बन्ध था। लोग साथ-साथ रहते थे, एक ही निश्चित जंगल में, या पहाड़ी में, घाटी में या किसी एक निश्चित नदी के किनारे-किनारे अपनी आजीविका के लिए चक्कर लगाया करते थे। दूसरों के क्षेत्र में इसलिए नहीं जाते थे क्योंकि दूसरे उन्हें अपने क्षेत्र में आने नहीं देते थे। उन्हें भी तो अपनी आजीविका के लिए कोई निश्चित क्षेत्र चाहिए था। इस प्रकार किसी निश्चित क्षेत्र में विचरण करने वालों का एक समूह बन जाता था—इसमें परिवार अनेक होते थे, परन्तु समूह एक होता था, और क्योंकि इस समूह का स्थान-विशेष से सम्बन्ध होता था, इसलिए इसे 'स्थानीय-समूह' (Spatial group) कहा जाता है। इस 'स्थानीय-समूह' के अतिरिक्त इनमें एक-दूसरे प्रकार के समूह का भी बीजारोपण हो गया। यह दूसरा प्रकार था—ऊँच-नीच का भेद-भाव। इस समूह में कोई परिवार मुख्य था, कोई मुखिया के निकट का था, कोई नीची स्थिति का था। इस प्रकार के स्थिति-भेद के कारण—ऊँच-नीच के कारण—इसी समाज में समूह का एक दूसरा प्रकार भी उत्पन्न हो गया जिसे 'उदग्र-समूह' (Vertical group) कहा जाता है। 'उदग्र' का अर्थ है—

उत् तथा अग्र—अर्थात् जिसमें 'उत्' अर्थात् ऊँची स्थिति वाला 'अग्र' अर्थात् आगे रहे, नीची स्थिति वाला पीछे रहे।

'स्थानीय-समूहों' (Spatial groups) पर विचार करते हुए हम ख़ानाबदोशी-समूह अर्थात् 'जत्था तथा झुण्ड' (Band and Horde), 'वन्य-जाति' (Tribe) तथा गोत्र (Clan)—इन तीन पर विचार करेंगे; उदग्र-समूहों (Vertical groups) पर विचार करते हुए हम जाति (Caste) तथा श्रेणी (Class)—इन दो पर विचार करेंगे। ख़ानाबदोशी-समूह, अर्थात् 'जत्थों तथा झुण्डों', 'वन्य-जातियों' तथा 'गोत्रों' का वर्गीकरण स्थान-विशेष के कारण होता है, और 'जाति' तथा 'श्रेणी' का वर्गीकरण ऊँच-नीच के भेद के कारण होता है—भले ही वह भेद जन्म पर टिका हो, कर्म पर टिका हो, या किसी अन्य सामाजिक-भेद पर टिका हो।

२. ख़ानाबदोशी जत्था तथा झुण्ड (Band and Horde)

ख़ानाबदोशी समूह या छोटा हो सकता है, या बड़ा हो सकता है। छोटे ख़ानाबदोशी-समूह को 'जत्था' (Band) तथा बड़े ख़ानाबदोशी-समूह को 'झुण्ड' (Horde) कह देते हैं। ख़ानाबदोशी 'जत्थे' तथा 'झुण्ड'—दोनों में एक जगह न रहकर आजीविका के लिए जगह-जगह फिरना पाया जाता है, और इसी लिए मनुष्यों के इन 'जत्थों' या 'झुण्डों' को ख़ानाबदोश कहा जाता है। ये किसी निश्चित प्रदेश में, किसी निश्चित जंगल, पहाड़ी, तराई या नदी के किनारे अपनी आजीविका के लिए विचरण करते रहते हैं। जंगलों में ये फल इकट्ठे करते हैं, नदियों से मछली पकड़ते हैं, घाटियों और तराइयों में पशु चराते हैं—यही इनकी आजीविका के साधन हैं। सभ्यता की दृष्टि से ये शिकारी या पशु-पालक सभ्यता (Hunter or pastoral civilization) के स्तर के होते हैं। अगर यह कहा जाय कि शिकारी तथा पशु-पालक सभ्यता में मानव-समाज का संगठन 'जत्थों' तथा 'झुण्डों' (Bands and Hordes) के रूप का होता है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। ये लोग क्योंकि इकट्ठे रहते हैं, इसलिए इनमें सामुदायिक भावना भी होती है।

इन ख़ानाबदोश जत्थों या झुण्डों को आजीविका की दृष्टि से दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक भाग तो वह है जो आजीविका के लिए अपने निश्चित भू-भाग में डेरा डाल कर जानवरों का शिकार करता है और उसके मांस को पका कर अपना पेट भरता है। जब जानवर आगे निकल जाते हैं, तो ये भी अपना डेरा उठा कर आगे के जंगलों में निकल जाते हैं। इसे 'शिकारी ख़ाना-बदोशी जत्था या झुण्ड' (Hunting band or Horde) कहते हैं। दूसरा भाग वह है जो आजीविका के लिए अपने निश्चित भू-भाग में चरागाह ढूँढ कर उसमें अपने दूध देने वाले जानवरों को चराता है। सर्दियों में और गर्मियों में चरागाह एक ही नहीं हो सकते इसलिए अपने निश्चित प्रदेश में ही यह ऋतु-ऋतु के अनुसार

२२

अपना स्थान बदलता रहता है। इसे 'पशु-पालक ख़ानाबदोशी जत्था या झुण्ड' (Pastoral band or Horde) कहते हैं। मानव-सभ्यता के विकास की दृष्टि से 'शिकारी जत्था या झुण्ड' पहली उपज है, 'पशु-पालक जत्था या झुण्ड' बाद की उपज है।

समाज-शास्त्रियों ने इन 'जत्थों या झुण्डों' के विषय में इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि 'परिवार' की सत्ता 'जत्थों या झुण्डों' से पहले की है, या पीछे की, 'परिवार' पहले था, या ये 'जत्थे या झुण्ड' पहले थे ?

उक्त दोनों विचारों में से एक विचार तो यह है कि मानव-समाज के विकास में किसी-न-किसी प्रकार का 'परिवार' पहले-पहल बना, 'जत्था' या 'झुण्ड' पीछे बना। हो सकता है, वह परिवार एक-विवाही-भावना पर आश्रित रहा हो, हो सकता है समूह-विवाही-भावना पर आश्रित रहा हो। एक-विवाही-भावना पर आश्रित परिवार का मतलब है निश्चित पुरुष तथा निश्चित स्त्री का यौन-सम्बन्ध होना, हर किसी से न होना; समूह-विवाही-भावना का मतलब है कि समूह के पुरुषों का दूसरे समूह की स्त्रियों से यौन-सम्बन्ध का होना, अपने समूह से न होना। दूसरा विचार यह है कि मानव-समाज के विकास में 'जत्था' या 'झुण्ड' पहले बना, 'परिवार' पीछे बना। जब बहुत-से स्त्री-पुरुष इकट्ठे हो गये, उनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था, तब पीछे जाकर किसी जत्थे या झुण्ड में एक-विवाही परिवार बने, किसी में समूह-विवाही। हर हालत में यह ठीक है कि जत्था कुछ परिवारों का ही संकलन होता है, एक प्रकार से जत्थे की इकाई परिवार होता है, और जब जत्थे (Band) के सदस्यों की संख्या बहुत बढ़ जाती है, तब झुण्ड (Horde) बनता है।

जत्थों या झुण्डों का सामाजिक-संगठन भी विशेष ध्यान देने योग्य है। जब ये शिकार करते या पशु चराते किसी स्थान-विशेष में अपना डेरा जमाते हैं तब मुखिया का डेरा सब के बीच में होता है, मुखिया के बाद जिसकी सामाजिक-स्थिति होती है उसका मुखिया के पास, और इस प्रकार इन जत्थों या झुण्डों में जिनकी स्थिति सब से नीचे होती है, उनका डेरा सब से दूर होता है। इनके इस सामाजिक-संगठन से ही समाज-शास्त्रियों के कथनानुसार वर्त्तमान सामाजिक-संगठन उत्पन्न हुआ है। हमारे गाँव इसी सामाजिक-आधार पर बने हैं।

इन सामाजिक-आधारों के अलावा समाज-शास्त्रियों का कथन है कि वर्त्तमान समाज के राजनैतिक-आधार भी जत्थों तथा झुण्डों के राजनैतिक-संगठन के ही क्रमिक-विकास के परिणाम हैं। जत्थों या झुण्डों का जो नेता होता था वह धीरे-धीरे राजा का रूप धारण कर गया, उस नेता के जो सलाहकार होते थे वे मंत्री तथा अन्य सहायक बन गये, नेता के साथ शिकार करने वाले उसकी सेना हो गई, नेता की आज्ञा पालना राज-भक्ति के रूप में परिणत हो गया। इस प्रकार जैसे जत्थे या झुण्ड की इकाई 'परिवार' है, वैसे राज्य की इकाई कोई-न-कोई ख़ाना-बदोशी 'जत्था या झुण्ड' है।

३. वन्य-जाति (Tribe)

अभी हमने जत्थे या झुण्ड का वर्णन किया। परिवार से जत्था बनता है, जत्थे से झुण्ड बनता है। ये जत्थे या झुण्ड जब विकास की प्रारम्भिक अवस्था में होते हैं, तब तो थोड़े होने पर 'जत्थे' और संख्या के बहुत बढ़ जाने पर 'झुण्ड' कहलाते हैं, परन्तु जब इनके सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक संगठन शुरू की अपेक्षा अधिक विकसित हो जाते हैं, तो यही 'जत्थे' और 'झुण्ड' अधिक विकसित हो जाने के कारण 'वन्य-जाति' कहलाने लगते हैं। जत्थों तथा झुण्डों की तरह इनका भी निश्चित भू-भाग होता है, कभी-कभी ये एक गाँव बसाकर रहती हैं, ये प्रायः एक ही रक्त की होती हैं, अपनी रक्षा के लिए वन्य-जाति के लोग एक-साथ मिलकर रहते हैं। हमने भारत की वन्य-जातियों के विषय में अपनी 'मानव-शास्त्र' तथा 'भारत की जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ' इन पुस्तकों में विस्तार से लिखा है। जो इस विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहें उन पुस्तकों का अध्ययन करें।

इसी आधार पर भिन्न-भिन्न लेखकों ने, वन्य-जाति की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं जिनमें से डा० मजूमदार की व्याख्या निम्न है :—

[*] श्री मजूमदार की व्याख्या—"वन्य-जाति परिवारों या परिवार-समूहों के समुदाय का नाम है। इन परिवारों या परिवार-समूहों का एक सामान्य-नाम होता है। ये एक ही भू-भाग में निवास करते हैं, एक ही भाषा बोलते हैं तथा विवाह-उद्योग-धंधों में एक ही प्रकार की बातों को निषिद्ध मानते हैं। एक-दूसरे के साथ व्यवहार के सम्बन्ध में भी इन्होंने अपने पुराने अनुभव के आधार पर कुछ निश्चित नियम बना लिये होते हैं।"

४. गोत्र (Clan)

जैसे 'जत्थे तथा झुण्ड' (Band and Horde) के अधिक विकसित हो जाने से उसी को 'वन्य-जाति' (Tribe) कहने लगते हैं, वैसे 'जत्थे तथा झुण्ड' की इकाई 'परिवार' (Family) के विशेष रूप से प्रबल हो जाने को 'गोत्र' (Clan) कहते हैं। जत्थे तथा झुण्ड का सम्बन्ध वन्य-जाति से है, परिवार का सम्बन्ध गोत्र से है। 'गोत्र' का प्रारम्भ परिवार के किसी मुख्य-व्यक्ति से होता है, वह मुख्य-व्यक्ति उस परिवार का प्रधान होने के कारण उस परिवार का प्रवर्त्तक समझा जाने लगता है, उसे वंश-प्रवर्त्तक का नाम दिया जाता है। इस प्रकार गोत्र का प्रारम्भ 'पितृ-सत्ताक-परिवारों' में किसी पुरुष से तथा 'मातृ-सत्ताक-

---

[*] "A Tribe is a collection of families or groups of families bearing a common name, members of which occupy the same territory, speak the same language and observe certain taboos regarding marriage, profession or occupation and have developed a well-assessed system of reciprocity and mutuality of obligations."—*Mazumdar*.

परिवारों में किसी स्त्री से होता है। क्योंकि गोत्र का प्रारम्भ किसी परिवार से होता है, और परिवार दो तरह के होते ह—पितृ-सत्ताक या पितृ-वंशीय तथा मातृ-सत्ताक या मातृ-वंशीय--इसलिए मुख्य तौर पर गोत्र भी दो तरह के ही होते हैं—पितृ-सत्ताक तथा मातृ-सत्ताक।

गोत्र चार प्रकार के पाये जाते हैं--(क) ऋषियों के नाम पर, जैसे भारद्वाज-गोत्र, काश्यप-गोत्र। हो सकता है, जिस ऋषि से किसी परिवार के लोग विद्या ग्रहण करते थे, उस ऋषि को अपने पूर्वज की तरह पूजते थे और अपने को उसके गोत्र का, अर्थात् उसके परिवार का, उसका पुत्र, उसका वंशज कहने लगते थे। (ख) किसी भू-भाग में रहने के कारण भी जो उस स्थान पर रहते थे वे सब आपस में भाई-भाई बन कर रहते थे इसलिए सब उस स्थान का नाम अपना गोत्र बना लेते थे। जैसे, जौनपुरिया। (क) कई गोत्र किसी 'टोटम'--वृक्षों अथवा पशुओं के नामों--पर बने हैं। कई नाग को कुल-देवता मान कर पूजते हैं और वे नाग-वंशीय कहलाते हैं। (घ) कई गोत्र परिवार के उप-नाम के रूप में चल पड़ते हैं—जैसे, लोनचटिया, अर्थात् नमक चाटन वाले।

इसी आधार पर भिन्न-भिन्न लेखकों ने गोत्र की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं जिनमें से श्री मजूमदार और मदान की व्याख्या निम्न है :--

[*] श्री मजूमदार की व्याख्या--"गोत्र का अर्थ है कुछ वंशावलियों का समूह। इन वंशावलियों का जो आदि- प्रवर्त्तक होता है, वह प्रायः कल्पित होता है। वह कल्पित-पूर्वज कोई मनुष्य हो सकता है, मनुष्य के समान कोई व्यक्ति हो सकता है, पशु हो सकता है, कोई वृक्ष या जड़ पदार्थ हो सकता है।"

क्योंकि गोत्र का आधार रक्त की एकता रही है, और भाई-बहन का विवाह शुरू से निषिद्ध समझा जाता रहा है, इसलिए एक गोत्र में विवाह करने की मनाही है। कई गोत्र एक रक्त पर आश्रित न होकर अन्य बातों पर भी आश्रित रहे हैं, इसलिए कहीं-कहीं एक गोत्र में विवाह पाया भी जाता है। मुख्य तौर पर एक गोत्र में विवाह नहीं होता। गोत्र में विवाह न करके गोत्र से बाहर विवाह करने को 'बहिर्विवाह-प्रथा' (Exogamy) कहते हैं। इन सब बातों का वर्णन हम 'परिवार' के अध्याय में कर आये हैं।

प्रश्न

१. जत्था, झुण्ड, जाति, वन्य-जाति तथा गोत्र क्या हैं--इनमें आपस में क्या भेद है? (आगरा, १९५६, १९५७)

२. समूह दो तरह का होता है--'स्थानीय' (Spatial) तथा 'उदग्र' (Vertical)। इसे समझाइये।

---

[*] "A sib or clan is often the combination of a few lineages and descent may be often ultimately traced to a mythical ancestor, who may be human, human-like, animal, plant or even inanimate."—*Mazumdar and Madan.*

१७

जाति तथा श्रेणी (वर्ग)

(CASTE AND CLASS)

१. जत्था-झुण्ड आदि तथा जाति-श्रेणी आदि में भेद

(Difference between Band, Horde etc. and Caste, Class etc.)

हमने पिछले अध्याय में मानव-समूह के दो भेद किये थे--एक तो स्थान के कारण बने हुए समह, जिन्हें हमने 'स्थानीय-समूह' (Spatial group) का नाम दिया था, दूसरे सामाजिक-स्थिति के ऊँच-नीच के भेद के कारण बने हुए समूह, जिन्हें हमने 'उदग्र-समूह' (Vertical group) का नाम दिया था। स्थान के साथ बँधे रहने वाले समूह हैं--जत्था, झुण्ड, वन्य-जाति तथा गोत्र, ऊँच-नीच के कारण बनने वाले समूह हैं--जाति तथा श्रेणी। जाति का अर्थ भारत में है--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या इनकी अवान्तर उप-जातियाँ। जाति का अर्थ युरोप में रहा है--सामन्त तथा दास। समाज को ऐसे हिस्सों में, ऐसी श्रेणियों में, ऐसे वर्गों में बाँटना जिसमें कुछ ऊपर के स्तर में रहने वाले हों, कुछ बीच के स्तर में, कुछ नीचे के स्तर में रहने वाले हों--इस प्रकार का समाज का वर्गीकरण 'उदग्र' (Vertical) कहलाता है। 'अग्र' का अर्थ है--'आगे का', और 'उत्' का अर्थ है--'ऊपर का'। जिस वर्गीकरण में ऊपर का समुदाय आगे का समझा जाय, ऊँचा समझा जाय, नीचे का समुदाय पीछे का समझा जाय, नीचा समझा जाय, वह 'उदग्र-समूह' है। जत्था, झुण्ड, वन्य-जाति तथा गोत्र--ये सब 'स्थानीय-समूह' हैं, 'उदग्र-समूह' नहीं हैं; जाति, श्रेणी, वर्ग--ये सब 'उदग्र-समह' हैं, नीचे से ऊपर को जाते हैं, ये स्थानीय-समूह नहीं हैं। स्थानीय-समूह उदग्र-समह नहीं है, परन्तु क्योंकि स्थानीय-समूह में ऊँच-नीच का भेद-भाव हो सकता है, इसलिए हम कह सकते हैं कि स्थानीय-समूह में उदग्र-समूह रह सकता है।

२: जाति तथा श्रेणी (वर्ग) में भेद

(Difference between Caste and Class)

हमने देखा कि जाति तथा श्रेणी--ये दोनों 'स्थानीय-समूह' (Spatial group) नहीं हैं, 'उदग्र-समूह' (Vertical groups) हैं। सबसे नीची जाति होती है, सबसे नीची श्रेणी भी होती है; नीची जाति से ऊँची जाति होती है, नीची श्रेणी से ऊँची श्रेणी भी होती ह; सब से ऊँची जाति होती है, सब से ऊँची

श्रेणी भी होती है। इस प्रकार नीचे से ऊपर जाने के कारण जाति तथा श्रेणी--दोनों 'उदग्र' (Vertical) कहलाते हैं। परन्तु फिर भी इन दोनों में भेद है। जाति जन्म से मानी जाती है--उसका आधार सामाजिक है। एक व्यक्ति जन्म का चमार है, अहीर है, खटीक है। ये जातियाँ हैं, और इनका सम्बन्ध व्यक्ति के जन्म से माना जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र भी जातियाँ हैं--ये भी जन्म से मानी जाती हैं। श्रेणी का सम्बन्ध जन्म से नहीं है। श्रेणियाँ कई तरह की हो सकती हैं--श्रेणी अर्थात् वर्ग। एक श्रेणी आयु के आधार पर है--बाल, युवा, वृद्ध। कोई जन्म से ही युवा नहीं होता, जन्म से ही वृद्ध नहीं होता। एक श्रेणी धनी-निर्धन की होती है। जन्म से ही कई लोग धनी और जन्म से ही कई निर्धन होते हैं, परन्तु धनी निर्धन हो सकता है, निर्धन धनी हो सकता है, जन्म इसमें बाधक बन कर नहीं बैठता। एक श्रेणी दुष्ट-महात्मा की होती है। कोई जन्म से ही दुष्ट या जन्म से महात्मा नहीं होता--दुष्ट कर्म करने वाला दुष्ट और महात्मा के काम करने वाला महात्मा होता है। जाति में तब्दीली नहीं होती, श्रेणी में तब्दीली होती रहती है, जाति-व्यवस्था भारत की और श्रेणी-व्यवस्था मुख्य तौर पर युरोप की उपज है।

४. 'जाति' तथा 'श्रेणी' (वर्ग) की परिभाषाएँ

'जाति' (Caste) तथा 'श्रेणी' (Class) के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं :--

[क] केतकर की 'जाति' की व्याख्या--"जाति एक ऐसा सामाजिक-समुदाय है जिसकी दो विशेषताएँ हैं--(i) इसके सदस्य वही होते हैं जो इसमें पैदा होते हैं, (ii) इसके सदस्य इनके अपने सामाजिक-नियमों के आधार पर अपने समुदाय के बाहर विवाह नहीं कर सकते।"

[ख] कूले की 'जाति' की व्याख्या--"जब एक 'श्रेणी' निश्चित तौर पर वंश-परम्परा से चल पड़ती है, तब इसे 'जाति' कहते हैं।"

[ग] मजूमदार की 'जाति' की व्याख्या--"आवृत-श्रेणी जाति कहलाती है।"

[क] "Caste as a social group has two characteristics : (*a*) membership is confined to those who are born of members and includes all persons so born, (*b*) the members are forbidden by an inexorable social law to marry outside the group." —*Ketkar*.

[ख] "When a class is somewhat strictly hereditary we call it a caste."—*Cooley*.

[ग] "A caste is a closed class."—*Mazumdar and Madan*.

[घ] ऑगबर्न तथा निमकॉफ़ की 'श्रेणी' की व्याख्या––"सामाजिक-श्रेणी उन व्यक्तियों के समुदाय को कहते हैं जिनकी किसी समाज में सामाजिक-स्थिति एक-समान होती है।"

[ङ] लेपियर की 'श्रेणी' की व्याख्या––"एक ऐसा सांस्कृतिक-समूह जिसकी सम्पूर्ण समाज में एक विशिष्ट स्थिति बन जाती है, उसे 'श्रेणी' कहते ह।"

४. जाति, श्रेणी, गोत्र तथा वन्य-जाति में भेद (Difference between Caste, Class, Clan, Tribe)

(क) जाति तथा श्रेणी का भेद––जाति जन्म पर तथा श्रेणी सामाजिक-भेद पर आश्रित है। जाति की सीमाएँ टूट नहीं सकतीं, श्रेणी की सीमाए टूट सकती हैं। एक जाति में दूसरी जाति का कोई सम्मिलित नहीं हो सकता, श्रेणी में दूसरी श्रेणी के लोग आ-जा सकते हैं। ब्राह्मण आदि जातियाँ हैं, धनी-निर्धन आदि श्रेणियाँ हैं।

(ख) जाति तथा गोत्र का भेद––जाति के अन्दर विवाह किया जाता है, गोत्र के बाहर विवाह किया जाता है, इसलिए जाति 'अन्तर्विवाही' (Endogamous) है, गोत्र 'बर्हिविवाही' (Exogamous) है।

(ग) श्रेणी तथा गोत्र का भेद––श्रेणी जन्म से नहीं होती, गोत्र जन्म से होता है; श्रेणी बदली जा सकती है, गोत्र बदला नहीं जा सकता।

(घ) जाति और वन्य-जाति का भेद––जाति किसी निश्चित भू-भाग में नहीं रहती, वन्य-जाति किसी निश्चित भू-भाग में रहती है; जाति समूह में नहीं रहती, वन्य-जाति समूह में रहती है; जाति की रचना में जन्म के साथ व्यवसाय भी कभी आधार रहा होगा, वन्य-जाति की रचना में व्यवसाय का कोई बन्धन नहीं है––ये कोई-सा भी धंधा कर सकते हैं; जाति में सदा अन्तर्विवाह होता है, वन्य-जाति के लिए अन्तर्विवाह आवश्यक नहीं है।

भारत में जाति-व्यवस्था किस प्रक्रिया में से गुजर रही है, और युरोप में श्रेणी व्यवस्था किस प्रक्रिया में से गुजर रही है––इन दोनों बातों का जानना आवश्यक है, इसलिए पहले हम भारत की जाति-व्यवस्था और फिर युरोप की श्रेणी-व्यवस्था पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

[घ] "A social class is the aggregate of persons having essentially the same social status in a given society."—*Ogburn and Nimkoff.*

[ङ] "A social class is a culturally defined group that is accorded a particular position or status within the population as a whole."—*Lapiere.*

५. भारत में (जाति-व्यवस्था)

(क) 'जाति' और 'वर्ण' का भेद

आजकल की प्रचलित परिभाषा के अनुसार 'जाति' और 'वर्ण' का एक ही अर्थ समझा जाता है। हिन्दुओं में चार 'जातियाँ' हैं--ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य तथा शूद्र--इन्हीं को चार 'वर्ण' माना जाता है। 'जाति' अथवा 'वर्ण' जन्म से निर्धारित होता है, यह भी प्रचलित विचार है। यदि 'जाति' या 'वर्ण' जन्म से ही निश्चित होता है, तो इस प्रश्न का क्या उत्तर है कि शुरू-शुरू में 'जाति' अथवा 'वर्ण' का निर्धारण कैसे हुआ होगा? शुरू-शुरू का ब्राह्मण ब्राह्मण कैसे कहलाया, शुरू-शुरू का क्षत्रिय क्षत्रिय कैसे कहलाया, शुरू-शुरू का वैश्य वैश्य कैसे कहलाया? हम आज भले ही जन्म से 'जाति-व्यवस्था' अथवा 'वर्ण-व्यवस्था' मानें, यह तो हर हालत में मानना ही पड़ेगा कि जब यह व्यवस्था शुरू हुई होगी, तब 'जन्म' से नहीं 'कर्म' से शुरू हुई होगी। जो पढ़ाने-लिखाने का काम करते थे वे ब्राह्मण, जो शत्रुओं से लड़ते थे, वे क्षत्रिय, जो खेती-बाड़ी करते, पशु चराते और अर्थोपार्जन करते थे वे वैश्य कहलाते थे। प्रारम्भ का समाज 'जन्म' से नहीं, 'काम' के बँटवारे से बना था। अन्य कोई कल्पना बन ही नहीं सकती। एक बार काम के आधार पर जब समाज की व्यवस्था हो गई, उसके बाद जो पढ़ाते-लिखाते थे उनकी सन्तान भी वही काम करने लगी, जो युद्ध करके देश की रक्षा करते थे, उनकी सन्तान भी युद्ध में कुशलता प्राप्त करने लगी, जो खेती-बाड़ी करते थे उनकी सन्तान भी खेती-बाड़ी में कुशल हो गई--इस प्रकार पहले 'कर्म' से, फिर 'जन्म' से कामों का बँटवारा हुआ। 'कर्म' से बँटवारे को 'वर्ण-व्यवस्था', और उसके फिर 'जन्म' से चल पड़ने को 'जाति-व्यवस्था' कहा जा सकता है। 'वर्ण-व्यवस्था' कब तक चलती रही, इसे कौन बतला सकता है? जबतक अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार लोग अपना-अपना काम, कोई पढ़ाने का, कोई युद्ध का, कोई खेती-बाड़ी का करते रहे, तबतक 'वर्ण-व्यवस्था' बनी रही। हर काम को करने वाले की सन्तान उस काम को दूसरों की अपेक्षा अच्छा कर सकती थी, क्योंकि उसे जन्म से ही उस काम के अनुकूल पर्यावरण मिलता था, इसलिए जब पहले-पहल 'जाति-व्यवस्था' बनी, अर्थात् जन्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कहलाने लगे, तब भी हर-एक व्यक्ति अपने-अपने काम में विशेष योग्यता रखता था। धीरे-धीरे वह अवस्था आ गई जब कोई अपने काम को करता था, कोई नहीं करता था, परन्तु जो अपना काम नहीं करता था, वह भी जन्म के कारण जो उसे विशेष गौरव मिल गया था, उसे छोड़ने के लिए तैयार न था। 'कार्य' (Role) तो उसका नीचा था, 'स्थान' (Status) उसका ऊँचा था। यह अवस्था वह थी जिसमें 'वर्ण-व्यवस्था' समाप्त हो गई, और उसका स्थान 'जाति-व्यवस्था' ने ग्रहण कर लिया। आज हम अपने समाज में 'वर्ण-व्यवस्था' नहीं पाते, 'जाति-व्यवस्था' पाते हैं, क्योंकि 'वर्ण-व्यवस्था' का आधार रुचि, योग्यता तथा कर्म है, 'जाति-व्यवस्था' का

आधार सिर्फ़ जन्म है, और हिन्दू-समाज में इस समय जो व्यवस्था चल रही है, वह जन्म पर ही आश्रित है, कर्म पर नहीं।

(ख) जाति-व्यवस्था का आधार जन्म

हिन्दुओं में जाति-व्यवस्था का आधार, सदियाँ हुईं, जब 'कर्म' से 'जन्म' हो गया। जन्म का विचार इतना प्रबल हो गया कि ब्राह्मण यह समझने लगे कि उनके रुधिर में ही अन्य जातियों के रुधिर से कोई विशेषता है। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की भिन्नता का आधार सिर्फ़ काम का भेद न समझ कर उनकी रुधिर की भिन्नता, उनका जन्म-गत कोई गहरा भेद समझा जाने लगा। उच्च-जाति के लोग समझने लगे कि वे किसी और ही मिट्टी के बने हुए हैं। इसी जन्म-गत रुधिर की भिन्नता के विचार का परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं में जन्मगत ऊँच-नीच का भेद बहुत प्रबल हो उठा, और कई लोगों को रुधिर-भेद के कारण 'अछूत' तक कहा जाने लगा। ऐसे नियम बनाये गये जिनसे एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति में रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं कर सकता था, किन्हीं-किन्हीं जातियों की छाया तक पड़ना अपवित्रता का सूचक समझा जाने लगा। इसमें सन्देह नहीं है कि यह अवस्था अब बदलती जा रही है। इस दिशा में आर्य-समाज ने बड़ा भारी काम किया। अन्य सुधारक संस्थाओं ने भी इस व्यवस्था को बदलने का प्रयत्न किया। स्वराज्य-प्राप्ति के बाद तो अछूतपन को ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। ये सब शुभ लक्षण हैं, परन्तु हमें तो इस प्रकरण में इन बातों की चर्चा नहीं करनी, हमें सिर्फ़ इतना देखना है कि जाति-व्यवस्था का प्रारम्भ और चलन जन्म को आधार बनाकर हुआ। इस व्यवस्था में, एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति में शामिल नहीं हो सकता। जो ऊँचा है वह ऊँचा है, जो नीचा है वह नीचा है, ऊँचा नीचा नहीं हो सकता, नीचा ऊँचा नहीं हो सकता। यह व्यवस्था 'आवृत-जाति-व्यवस्था' (Closed Caste System) कही जा सकती है। 'आवृत' इसलिए क्योंकि यह चारों तरफ़ से ढकी हुई है, इसमें दूसरा कोई प्रविष्ट नहीं हो सकता।

(ग) जन्म के कारण भेद मानने का विरोध

हमने देखा कि मानव-समाज में 'कर्म' के कारण तो भेद होता ही है, 'जन्म' के कारण भी भेद माना जाता है। जबतक धर्म के बोझ से लोग दबे रहते हैं, तब-तक दलित-वर्ग इसलिए सिर नहीं उठाता क्योंकि वह समझता है कि वह नीच-जाति का है, उसका धार्मिक-कर्त्तव्य उच्च-जाति के सामने सिर झुकाना है। परन्तु जब लोग धर्म के बोझ से स्वतंत्र हो जाते हैं, तब यही चेतना कि वे नीच-जाति के हैं, उनके हृदय में विद्रोह की आग को प्रचण्ड कर देती है। इसीलिए हिन्दू-समाज में दोनों विचार-धाराएँ काम करती रही हैं। जब लोग पण्डितों, पुरोहितों के नीचे दबे हुए ननु-नच न करते रहे, तब वे स्वयं अपने को नीच जाति का कहते रहे, अपनी अवस्था देख कर उन्होंने कभी विद्रोह नहीं किया, परन्तु

जब उन्होंने तथा-कथित धर्म के बोझ को अपने सिर से उतार दिया, तब उन्होंने यह भी कहा कि ब्राह्मण शूद्र हो सकता है, शूद्र ब्राह्मण हो सकता है--'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्'। जब जाति में चेतना का संचार होता है, जागृति की भावनाएँ ज़ोर मारने लगती हैं, तब लोग रूढ़िवाद की जड़ हिला देते हैं, और जन्म के कारण माने जाने वाले भेदों को स्वीकार करने से इन्कार कर देते हैं। हिन्दू-समाज में भी जब जन्म से पैदा किये हुए भेद चरम सीमा पर पहुँच गये, तब समय-समय पर इस प्रवृत्ति का विरोध होता रहा, और जिस साहित्य में जन्म की जाति का वर्णन है उसी में यह भी कहा जाने लगा कि कोई जन्म से ऊँचा नहीं होता, कोई जन्म से नीचा नहीं होता--'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।' इस विचार के अनुसार ऊँची जात में नीची जात का प्रवेश हो सकता है, नीची जात में ऊँची जात का प्रवेश हो सकता है, जन्म से कोई जात नहीं होती, काम से ही जात बनती है। इस व्यवस्था को 'अनावृत-जाति-व्यवस्था' (Open Caste System) कहा जा सकता है। 'अनावृत' इसलिए क्योंकि यह चारों तरफ़ से खुली हुई है, इस व्यवस्था में जो चाहे प्रविष्ट हो सकता है। हिन्दू-साहित्य में 'आवृत-जाति-व्यवस्था' (Closed Caste System) तथा 'अनावृत-जाति-व्यवस्था' (Open Caste System)--इन दोनों का वर्णन मिलता है। 'जन्म' से जाति मानने वाले 'आवृत-जाति-व्यवस्था' (जात-पात) के मानने वाले हैं, 'कर्म' से जाति मानने वाले 'अनावृत जाति-व्यवस्था' (वर्ण) के मानने वाले हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शास्त्रों में खुले तौर पर जन्म के कारण जाति मानने के विरुद्ध लेख मिलन पर भी हिन्दू-समाज जन्म की जाति को ही मानता रहा है, वही इसमें आज तक प्रचलित है, बड़े-बड़े आर्यसमाजियों के घरों में भी जन्म की जाति अपना डेरा जमाये बैठी है।

६. युरोप में (श्रेणी या वर्ग-व्यवस्था)

(क) 'सामन्त-पद्धति' (FEUDAL SYSTEM) तथा जन्म की जाति

युरोप में छठी और सातवीं सदी में 'सामन्त-पद्धति' (Feudal System) का जन्म हुआ। उस समय वहाँ सर्वत्र अराजकता छाई हुई थी। जिसके पास शक्ति थी वही अपनी सत्ता कायम कर लेता था। बड़े-बड़े सरदार विशाल भूमि-खंडों पर अपना आधिपत्य जमा लेते थे, और अपने साथियों में ज़मीनों के टुकड़ों को बाँट देते थे। बड़े विजेता सरदारों को राजा कहा जाय, तो उनके साथी छोटे-छोटे सरदार 'सामन्त' (Feudal lords) कहलाते थे। ये 'सामन्त' अपनी भूमि के स्वामी थे, और दासों से खेती करवाते थे। भूमि का जो स्वामी है, उसका पुत्र अपन-आप जन्म से ही उस भूमि का स्वामी था। इस प्रकार जन्म से ही कुछ लोग भू-स्वामी थे, कुछ लोग इन भू-स्वामियों की खेती करने वाले थे। जिसके पास ज़मीन नहीं थी उसके पास ज़मीन का मालिक बनने का कोई साधन नहीं था, और जिसके पास ज़मीन थी वह पुश्त-दर-पुश्त ज़मीन का मालिक था। जिस

प्रकार भारत में जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र थे, इसी प्रकार युरोप में जन्म से कुछ लोग भूमि के स्वामी थे, कुछ लोग उनके दास थे। जब ये दास स्वतंत्र हो जाते थे, तो मजदूर बन जाते थे। जहाँ तक जन्म का सम्बन्ध है, 'सामन्त-पद्धति' तथा 'जाति-व्यवस्था' में एक ही नियम काम कर रहा था, जैसे शूद्र ब्राह्मण नहीं बन सकता था, वैसे मजदूर सामन्त नहीं बन सकता था, दोनों का क्षेत्र जन्म के कारण निश्चित था। इतना भेद अवश्य था कि 'सामन्त-पद्धति' का उदय भूमि के स्वामित्व से हुआ था, 'जाति-व्यवस्था' का उदय भूमि के स्वामित्व से नहीं, कर्मों के विभाजन से हुआ था, यद्यपि वह होते-होते कर्मों को छोड़ कर सिर्फ़ जन्म तक सीमित रह गई थी। जन्म को आधार बनाने के कारण 'सामन्त-पद्धति' भी एक प्रकार की 'आवृत-जाति-व्यवस्था' (Closed Caste system) थी जिसके भीतर कोई दूसरा प्रविष्ट नहीं हो सकता था।

(ख) 'सामन्त-पद्धति' तथा औद्योगिक-क्रान्ति

युरोप में १८वीं तथा १९वीं शताब्दी में नये-नये आविष्कारों से औद्योगिक-क्रांति हुई। इस औद्योगिक-क्रांति का प्रभाव 'सामन्त-पद्धति' पर विशेष रूप से पड़ा। 'सामन्त-पद्धति' में जमीन ही सबसे बड़ी दौलत थी। 'सामन्त-पद्धति' का लक्षण ही 'भूमि के नियन्त्रण की संगठित संस्था' (Institutionalised System of land control)——यह किया जाता है। नवीन आविष्कारों तथा औद्योगिक उपायों से कल-कारख़ाने खुलने लगे, इन कारख़ानों का माल बिकने लगा, और व्यापार लगातार बढ़ने लगा। अबतक भूमि को ही धन माना जाता था, भूमि वंश-परम्परा द्वारा पिता से पुत्र और पुत्र से पौत्र को जाती थी, इसलिए भूमि के कारण जो ऊँच-नीच का भेद था वह जन्म से चलता चला आ रहा था। औद्योगिक-क्रांति का यह परिणाम हुआ कि भूमि एक प्रकार की 'सम्पत्ति' (Wealth) तो मानी जाती रही, परन्तु 'सम्पत्ति' का मुख्य रूप 'भूमि' न रहकर 'धन' अर्थात् 'सिक्का' (Money) हो गया। लोग भिन्न-भिन्न उद्योगों से 'धन' कमाने लगे। जिनके पास भूमि नहीं भी थी, वे भी धनी होने लगे। भूमि का और धन का सम्बन्ध टूट गया। यह अवस्था आ गई कि जिसके पास भूमि बिलकुल नहीं थी, वह भी धन-कुवेर होने लगा। भूमि का और जन्म का तो सम्बन्ध था, सामन्त लोग जन्म से ही भूमिपति होते थे, परन्तु धन का और जन्म का तो कोई सम्बन्ध नहीं था। औद्योगिक-युग ने धन को भूमि से पृथक् करके एक नवीन सम्भावना को जन्म दे दिया। पहले तो भूमिपति ही सम्पत्तिशाली समझे जाते थे, अब भूमिहीन भी सम्पत्ति के स्वामी बनने लगे। यह एक बिलकुल नवीन स्थिति थी। भूमिपति जन्म के भूमिपति थे, धनपति जन्म के निर्धन भी हो सकते थे। अबतक तो लोग यही समझते थे कि जन्म के कारण ही कोई ऊँचा, कोई नीचा होता है, धन के भूमि से अलग हो जाने तथा निर्धन लोगों के धनी हो जाने पर लोग देखने लगे कि ऊँच-नीच का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं। अबतक समाज में जो प्रक्रिया नहीं होती थी, वह अब होने लगी। अबतक 'सामन्त' मजदूर नहीं बनते थे, मजदूर

'सामन्त' नहीं बनते थे। दोनों का भाग्य अपने जन्म से बँधा हुआ था। अब निर्धन धनी होने लगे, धनी निर्धन होने लगे। यह चमत्कार इसीलिए हो सका क्योंकि 'धन' एक ऐसी वस्तु से पृथक् हो गया, जो जन्म के साथ बंधी हुई थी। भूमि का स्वामित्व जन्म से बँधा हुआ था, धन का स्वामित्व जन्म से नहीं बँधा हुआ था। इस पर्यावरण ने जन्म से ऊँच-नीच के विचार को जबर्दस्त धक्का दिया, ऐसा धक्का दिया कि औद्योगिक-क्रांति ने 'सामन्त-पद्धति' को ही समाप्त कर दिया। इस क्रांति के बाद यह जरूरी नहीं रहा कि जो जन्म का धनी है वह सामन्तों की तरह जन्म का धनी ही बना रहे, न यह जरूरी रहा कि जो जन्म का निर्धन है वह मज़दूर और दासों की तरह जन्म का निर्धन ही बना रहे। भारत में जन्म की 'जाति-व्यवस्था—'आवृत-जाति-व्यवस्था' (Closed caste system) तो नहीं नष्ट हुई, परन्तु युरोप में औद्योगिक-क्रांति ने 'धन' को भूमि से पृथक् करके जन्म को आधार बनाकर टिकी हुई 'सामन्त-पद्धति' को, जो एक प्रकार की जन्म की ही 'जाति-व्यवस्था' थी, नष्ट कर दिया, और एक नवीन-व्यवस्था को जन्म दे दिया जिसमें 'जन्म' के स्थान पर हर-एक व्यक्ति अपने 'कर्म' से धनी-निर्धन हो सकता था, जिसे दूसरे शब्दों में कर्म की जाति-व्यवस्था—'अनावृत-जाति-व्यवस्था' (Open caste system) कहा जा सकता है।

(ग) पूँजीपति तथा मज़दूर श्रेणी

पहले 'सामन्त-पद्धति' चल रही थी, सामन्तों के पास भूमि थी, उन्हीं के पास राजनैतिक-शक्ति थी। व्यावसायिक-क्रांति के बाद जब 'धन' भूमि से पृथक् हो गया, तो धनवालों तथा निर्धनों की एक नई श्रेणी उत्पन्न हो गई, राज-शक्ति पर भी सामन्तों के स्थान पर धनी-वर्ग का प्रभुत्व हो गया। इस नई पद्धति में पूँजीपति तथा मजदूर—ये दो वर्ग, दो श्रेणियाँ बन गईं। 'सामन्त-पद्धति' जन्म के आधार पर थी, वह एक प्रकार की 'जाति' (Caste) थी, 'पूँजीपति-मजदूर-पद्धति' कर्म के आधार पर थी, यह एक प्रकार की 'श्रेणी' (Class) थी। कार्ल-मार्क्स का कहना था कि व्यावसायिक-क्रांति का अवश्यम्भावी परिणाम दो श्रेणियों का बन जाना हुआ। जहाँ दो श्रेणियाँ नहीं बनीं वहाँ बन रही हैं, और धीरे-धीरे बन जायँगी। जैसे पूँजीपतियों ने धन कमाकर 'सामन्त-पद्धति' को समाप्त कर दिया, वैसे आगे चलकर मजदूर श्रेणी पूँजीपति-प्रथा को समाप्त कर देगी। इनमें श्रेणी-युद्ध होगा, और ऊँच-नीच का भेद, जो पहले 'सामन्त-पद्धति' में 'जन्म' से था, पीछे 'पूँजीवाद' में 'कर्म' से हो गया, वह सर्वथा मिट जायगा, उत्पादक के साधनों पर समाज का स्वामित्व हो जायगा, और जन्म तथा कर्म दोनों के आधार पर बनी मानव-समाज की विषमता नष्ट होकर मनुष्य मनुष्य के समान हो जायगा। पहले जन्म के आधार पर बनी 'जाति' (Caste) समाप्त हुई, अब कर्म के आधार पर बनी 'श्रेणी' (Class) समाप्त हो जायगी। यह प्रक्रिया युरोप में तो बड़ी तेज़ी से चल रही है, वहाँ का समाज दो श्रेणियों में

बँटता चला जा रहा है, कई जगह तो श्रेणी-युद्ध के भी आसार दीख रहे हैं, रूस और चीन में तो इस प्रक्रिया का परिणाम भी सामने आ गया है, परन्तु भारत में अभी जन्मगत जाति का ही राज्य है। ज्यों-ज्यों भारत में औद्योगिक-क्रांति होगी, यहाँ भी जन्म को आधार बनाकर बने हुए भेद मिट जायेंगे, एक नई भेद-व्यवस्था उत्पन्न होगी, अमीर-ग़रीब के भेद ही रह जायेंगे, बाकी भेद मिट जायेंगे, अमीर-ग़रीब का भेद भी जन्म से नहीं रहेगा, लोग अपनी आँखों से देखने लगेंगे कि ऊँच-नीच जन्म से नहीं होता, जिसे वे नीचा समझते हैं वह देखते-देखते मालदार हो जायगा, नीच जाति का होते हुए भी समाज में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगेगी, धीरे-धीरे जाति का भाव ही मिट जायगा, और उसके बाद क्या होगा--क्या अमीर-ग़रीब के भेद रूस के रास्ते से मिटेंगे, या अमरीका के रास्ते से मिटेंगे, या महात्मा गांधी के रास्ते से मिटेंगे, यह भविष्य बतलायेगा।

७. अमरीका में (मध्य-श्रेणी-व्यवस्था)

कार्ल-मार्क्स का कहना है कि हर-देश में दो श्रेणियाँ रह जायँगी, पूँजीपति या मजदूर, और अन्त में आकर इनका संघर्ष छिड़ेगा, परन्तु इस विचार-धारा को अमरीका की समाज-व्यवस्था एक प्रकार का चैलेंज दे रही है। इसमें सन्देह नहीं कि अमरीका में पूँजीपति हैं, मजदूर भी हैं, परन्तु वहाँ इन दोनों के बीच की 'मध्य-श्रेणी' (Middle class) सबसे ज्यादा है। कार्ल-मार्क्स के कथन के अनुसार 'मध्य-श्रेणी' को कोई स्थान नहीं। 'मध्य-श्रेणी' के लोग या तो पूँजीपति-वर्ग में सम्मिलित हो जायेंगे, या मजदूर-वर्ग में, परन्तु कार्ल-मार्क्स की यह बात तभी हो सकती है अगर मध्य-श्रेणी अपने भाग्य से असन्तुष्ट हो। आज अमरीका में मध्य-श्रेणी के लोग अन्य श्रेणियों से संख्या में बहुत अधिक हैं, और अपने भाग्य से असन्तुष्ट नहीं हैं। १९४० में समाज-शास्त्रियों ने अमरीका में कुछ ऐसी गणना ली जिससे यह पता चले कि हर-व्यक्ति अपने को उच्च-श्रेणी में समझता है, मध्य-श्रेणी में, या निम्न-श्रेणी में। जो लोग आर्थिक-दृष्टि से सम्पन्न कहे जा सकते थे, उनमें से २३.६ प्रतिशत ने अपने को सम्पन्न कहा, ७४.७ प्रतिशत ने अपने को मध्य-श्रेणी का कहा, .३ प्रतिशत ने अपने को निम्न श्रेणी का कहा, १.४ प्रतिशत ने कहा कि वे नहीं समझ सके कि वे किस श्रेणी के हैं। इसी प्रकार जिन्हें आर्थिक-दृष्टि से मध्य-श्रेणी का कहा जा सकता था उनमें से ७.९ प्रतिशत ने अपने को सम्पन्न कहा, ८९.० प्रतिशत ने अपने को मध्य-श्रेणी का, .६ प्रतिशत ने अपने को निम्न-श्रेणी का और २.५ प्रतिशत नहीं बता सके कि वे किस श्रेणी के हैं। आश्चर्य यह है कि जिन व्यक्तियों को आर्थिक-दृष्टि से निम्न-श्रेणी का कहा जाना चाहिए था, उनमें से भी ४.५ प्रतिशत ने अपने को सम्पन्न, ७०.३ प्रतिशत ने अपने को मध्य-श्रेणी का, १९.१ प्रतिशत ने निम्न-श्रेणी का, और ६.१ प्रतिशत ने अपने को किसी श्रेणी का न कहा। इससे पता चलता है कि अमरीका में अपने को मध्य-श्रेणी का समझने वालों की संख्या बहुत

ज्यादा है। वहाँ व्यक्ति को अपनी उन्नति करने का पूर्ण अधिकार दिया जा रहा है। व्यक्ति 'सन्तुष्ट' हो, और 'स्वतंत्र' हो--इससे अधिक वह क्या चाहता है? रूस में व्यक्ति अपने भाग्य से 'संतुष्ट' होगा, परन्तु उसे 'स्वतंत्र' नहीं कहा जा सकता। जब राज्य का हर वस्तु पर अधिकार हो, तब व्यक्ति की स्वतंत्र-सत्ता तो रह ही नहीं जाती, और जब व्यक्ति को स्वतंत्र कर दिया जाता है, तब वह दूसरे के अधिकार को हड़प जाता है। अमरीका में समाज-व्यवस्था का जो परीक्षण हो रहा है, उसमें एक ऐसी श्रेणी उत्पन्न हो रही है जिसमें व्यक्ति को स्वतंत्रता भी दी जा रही है, बहुत अमीरी और बहुत ग़रीबी का भेद हो जाने से जो असन्तोष होता है, उसे भी दूर किया जा रहा है, वहाँ का समाज दो श्रेणियों में न बँट कर तीन श्रेणियों में बँट रहा है, और धीमे-धीरे यह तीसरी श्रेणी, जिसे 'मध्य-श्रेणी' कहा जा सकता है, संख्या में बढ़ती जा रही है। इसी-लिए आज रूस और अमरीका की विचार-धाराओं में मुकाबिला हो रहा है। रूस की विचार-धारा भी मनुष्य को जन्म के बन्धनों से छुड़ाकर आगे बढ़ रही है, अमरीका की विचारधारा ने भी मनुष्य को जन्म के बन्धनों से छुड़ा दिया है। जन्म के बन्धनों से बंधे हुए भारत के लिए ये दोनों परीक्षण ध्यान से देखने के योग्य हैं क्योंकि यह इन दोनों से बहुत-कुछ सीख सकता है।

प्रश्न

१. जत्था, झुण्ड, वन्य-जाति, गोत्र, जाति, वर्ण तथा श्रेणी (वर्ग) में क्या भेद है?

२. 'जाति' और 'वर्ण' में क्या भेद है? 'आवृत-जाति-व्यवस्था' (Closed caste system) तथा 'अनावृत-जाति-व्यवस्था' (Open caste system) से क्या अभिप्राय है?

३. हिन्दू-शास्त्रों में 'जन्म' तथा 'कर्म' दोनों दृष्टियों से समाज-व्यवस्था का वर्णन है, इसका क्या कारण है?

४. 'सामन्त-पद्धति' एक प्रकार की जन्म की जाति-व्यवस्था थी--इसका अभिप्राय क्या है?

५. 'औद्योगिक-क्रांति' ने 'धन' को भूमि से पृथक् करके जन्म को आधार बना कर टिकी हुई 'सामन्त-पद्धति' को समाप्त कर दिया--इसे समझाइये।

६. 'जाति-व्यवस्था' (Caste system) तथा 'श्रेणी-व्यवस्था (Class system) में क्या भेद है?

७. रूस तथा अमरीका में पूँजीवाद को आधार बना कर जो परस्पर-विरुद्ध विचार-धाराएँ चल रही हैं, उनका स्पष्टीकरण कीजिये।

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. 'जाति' राष्ट्रीयता के प्रतिकूल है--इस कथन की व्याख्या कीजिये। (लखनऊ, १९४९, १९५१)

२. 'श्रेणी' अर्थात् 'वर्ग' (Class) की परिभाषा कीजिये। ये कहाँ तक केवल आर्थिक भेद पर ही आधारित हैं? (लखनऊ, १९५२)

३. भारत की वर्ण-व्यवस्था (Caste system) में आजकल क्या परिवर्त्तन हो रहे हैं? (लखनऊ, १९५३)

४. 'जाति' (Caste) और 'श्रेणी' (Class) में भेद बताइये। आधुनिक-युग में जाति में भारत में क्या परिवर्त्तन हो रहे हैं? जाति का भविष्य क्या है? (आगरा, १९४९)

५. जाति-प्रथा की गतिशीलता का विश्लेषण कीजिये। विशेष रूप से उप-जातियों के परिवर्त्तनों का विवरण दीजिये। (आगरा, १९५०)

६. क्या जाति-प्रथा और प्रजातंत्र में विरोध है? यदि ऐसा है तो उसे किस प्रकार सुलझाया जा सकता है? (आगरा, १९५३; राजपूताना, १९५५)

७. जाति की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये। यह भी बताइये कि कौन-सी सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ जाति को बनाये रखने में योग देती हैं और कौन-सी उसे निर्बल करती हैं? (आगरा, १९५५)

८. जाति की परिभाषा कीजिये। वह किस प्रकार वर्ग, गोत्र और वन्य-जाति से भिन्न है? (आगरा, १९५५)

९. यह बताइये कि कैसे जाति केवल एक सामाजिक ढाँचा ही नहीं है, बल्कि अपरिवर्तनशील मानसिक-व्यवहार की अभिव्यक्ति भी है? (आगरा, १९५६)

१०. भारत की जाति-प्रथा में क्या परिवर्त्तन हो रहे हैं? ये परिवर्त्तन उद्योगीकरण से कहाँ तक सम्बद्ध हैं? (आगरा, १९५७)

१८

नस्ल (प्रजाति) तथा कौम

(RACE AND NATION)

हम पिछले अध्याय में देख आये हैं कि 'जाति' (Caste) का सम्बन्ध रुधिर से है। 'जाति' की तरह 'नस्ल' (Race) का सम्बन्ध भी रुधिर से है। एक दृष्टि से एक-'नस्ल' का विचार ही 'जाति' के विचार को जन्म देता है। 'जाति' को जन्म से मानने वाले यह समझते हैं कि एक 'जाति' के लोग एक रुधिर, अर्थात् एक 'नस्ल' के होते हैं। इस दृष्टि से 'जाति' का भी आधार-भूत विचार 'नस्ल' का विचार ही है। भारत में सिर्फ़ 'जाति' के आधार पर ही भेद बने हुए हैं, अन्य देशों में तो 'नस्ल' के आधार पर भेद बने हुए हैं। अमरीका में गोरे और कालों की नस्लें हैं। अफ्रीका में भी काले-गोरों के आधार पर कानून बन रहे हैं। यह जन्म के आधार पर ही तो भेद-भाव है, यही 'जाति-व्यवस्था' (Caste system) कहलाता है। ऐसी अवस्था में अगर कहा जाय कि भारत को छोड़ कर अन्य देशों में भी जहाँ 'नस्ल' के आधार पर भेद-भाव है जन्म की जाति मानी जाती है, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

'नस्ल' के विचार ने संसार में बड़े-बड़े उत्पात मचाये हैं। हिटलर का विचार था कि जर्मन-जाति उच्च-नस्ल की है, संसार में शासन करने के लिए पैदा हुई है। उस के इसी विचार ने संसार में रुधिर की नदियाँ बहा दीं, यहूदियों की नस्ल को मिटाने के लिए उसने जमीन-आस्मान एक कर दिया। नस्ल का विचार समाज में भेद-भाव उत्पन्न करता है, मनुष्य को मनुष्य से जुदा करता है, अतः इस अध्याय में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि नस्ल क्या है, यह कैसे पैदा हुई, इसका 'कौम' (Nation) से क्या सम्बन्ध है और आज की सामाजिक-रचना में इसका क्या स्थान है?

१. 'नस्ल'-शब्द की परिभाषा

भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'नस्ल' (प्रजाति) की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं जिनमें से कुछ निम्न हैं :—

[क] क्रोबर की व्याख्या—"नस्ल एक प्राणि-शास्त्रीय विचार है। नस्ल एक ऐसा समूह है जो वंशानुसंक्रमण द्वारा बँधा हुआ है। इसका पैदाइश से, वाहक-तत्त्वों से या उप-जाति से सम्बन्ध है।"

[क] "A race is a valid biological concept. It is a group united by heredity, a breed or genetic strain or sub-species." —*Kroeber*.

[ख] बीसेंज़ तथा बीसेंज़ की व्याख्या—"नस्ल एक ऐसा बड़ा समूह है जिसमें पैदाइश से ही कुछ शारीरिक लक्षण दूसरों से भिन्न प्रकार के पाये जाते हैं।"

२. नस्ल का प्राणि-शास्त्रीय आधार

'प्राणि-शास्त्र' (Biology) में प्राणियों के मुख्य तौर पर दो विभाग हैं। एक तो शेर, कुत्ता, बिल्ली—यह विभाग है, दूसरा शेरों में कई तरह के शेर, कुत्तों में कई तरह के कुत्ते, बिल्लियों में कई तरह की बिल्लियाँ हैं। शेर, कुत्ता, बिल्ली की तरह मनुष्य भी प्राणियों का एक विभाग है, और जैसे शेरों में कई तरह के शेर, और कुत्तों में कई तरह के कुत्ते होते हैं, वैसे मनुष्यों में कई तरह के मनुष्य होते हैं। शेर को 'नस्ल' नहीं कहा जाता, उसे 'प्राणि-विशेष' (Species) कहा जाता है, तरह-तरह के शेरों को शेर की नस्लें (Races) कहा जाता है इसी प्रकार 'मनुष्य' एक 'प्राणि-विशेष' या जाति (Species) है, जिसे 'मानव-जाति' (Homo sapien) कहा जाता है, और तरह-तरह के मनुष्य—काले, गोरे, पीले—ये सब मनुष्य की 'नस्लें' (प्रजातियाँ—Races) हैं। कुत्ते और शेर का यौन-सम्बन्ध नहीं होता, हो तो उससे सन्तान नहीं होती, परन्तु कुत्तों की नस्लों का आपस में यौन-सम्बन्ध होता है, और उनकी सन्तान भी होती है। जिन प्राणियों का आपस में यौन-सम्बन्ध हो, और इस सम्बन्ध से उनकी सन्तान हो सके, उन्हें एक ही प्रकार की 'नस्ल'-का कहा जाता है। शेर और कुत्ता एक प्रकार की नस्ल के नहीं, मनुष्य और शेर भी एक-जैसी नस्ल के नहीं, परन्तु जितने मनुष्य हैं वे सब मिलती-जुलती नस्ल के हैं, अगर मिलती-जुलती नस्ल के न होते, तो अमरीकन और हबशी के संयोग से सन्तान न होती। 'समानप्रसवात्मिका जातिः'—जिनके मेल से अपनी-जैसी सन्तान उत्पन्न हो, वे एक-सी जाति के हैं, यह न्याय-दर्शन ने जाति का, नस्ल का लक्षण किया है, और ठीक है। हिन्दुस्तानी और अंग्रेज, चीनी और अफ्रीका के हबशी—सब मनुष्यों के संयोग से उन्हीं-जैसी सन्तान होती है, इसलिए मनुष्य-मनुष्य की नस्ल एक-सी है।

परन्तु अगर मनुष्य-मनुष्य की नस्ल एक-सी है, तो मनुष्य-मनुष्य में भिन्नता क्यों दीखती है? क्यों एक मनुष्य बिलकुल काला है, दूसरा मनुष्य बिलकुल गोरा है, तीसरा चीनियों की-सी शक्ल का है? इसका समाधान प्राणि-शास्त्र देता है। प्राणि-शास्त्र के 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) के इस नियम का हम पहले वर्णन कर आये हैं कि प्राणी में परिवर्तन 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) द्वारा होता रहता है। 'वंशानुसंक्रमण' का सन्तति पर कैसे प्रभाव पड़ता है? यह तो सब जानते हैं कि सन्तान रज-वीर्य के मिलने से पैदा होती है। रज और वीर्य दोनों

[ख] "A race is a large group of people distinguished by inherited physical differences."—*Biesanz and Biesanz.*

'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cell) कहलाते हैं। इन 'उत्पादक-कोष्ठों' (Generative cells) म एक कठोर गाँठ-सी होती है, जिसे 'न्यूक्लियस' (Nucleus) कहते हैं। इस 'न्यूक्लियस' में भी छोटे-छोटे रेशे-से होते हैं, जिन्हें 'वर्ण-सूत्र' (Chromosomes) कहते हैं। 'वर्ण-सूत्रों' की रचना अन्य छोटे-छोटे दानों से होती है, जिन्हें 'वाहकाणु' (Genes) कहते हैं। यही 'वाहकाणु' --'जेनीज़'--गोरापन, कालापन, पीलापन, मोटा बाल, पतला बाल--इन सब गुणों के 'वाहक' (Carriers या factors) होते हैं। कई हिन्दी-लेखक इन्हें 'पैत्र्य' कहते हैं—'पैत्र्य' वे इन्हें इसलिए कहते हैं क्योंकि माता-पिता से ये आते हैं--परन्तु 'पैत्र्य'-शब्द में सिर्फ़ पिता से आने का अर्थ निकलता है इसलिए इन्हें 'वाहक' कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि ये गुणों के 'वाहक' हैं। 'नस्ल' (Race) में जो-जो भी विशेष गुण दिखाई देते हैं, वे इन 'जेनीज़' के कारण हैं। 'वर्ण-सूत्र' (Chromosomes) २४ माता के और २४ पिता के मिल कर ४८ बनते हैं, परन्तु 'वाहकाणुओं' (Genes) की कोई संख्या नहीं। ये 'वाहकाणु' (Genes) ही वंशपरम्परा द्वारा प्राणी की शारीरिक-रचना को बनाते हैं। अगर कोई काला है तो इनके कारण, गोरा है तो इनके कारण, अगर किसी के बाल भेड़ के-से हैं तो इनके कारण, मुलायम हैं तो इनके कारण। नस्ल को बनाने वाले 'वाहकाणु' (Genes) ही होते हैं। जिनके 'वाहकाणु' (Genes) एक तरह के हैं वे एक नस्ल के, जिनके दूसरी तरह के हैं वे दूसरी नस्ल के। परन्तु प्रश्न हो सकता है कि शुरू-शुरू में तो मनुष्य में नस्ल का कोई भेद नहीं था, शुरू-शुरू में 'वाहकाणुओं' (Genes) में भेद कैसे हो गया? इसका उत्तर विकासवादी देते हैं। उनका कहना है कि 'पर्यावरण' (Environment) प्राणी में भेद उत्पन्न करता रहता है। 'पर्यावरण' प्राणी में भेद कैसे उत्पन्न करता है? डार्विन का कहना है कि प्रकृति में 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) का नियम काम कर रहा है। 'प्राकृतिक-चुनाव' कैसे होता है? विषम-पर्यावरणों में जो प्राणी बच रहते हैं, वे प्रकृति द्वारा चुन लिये जाते हैं, बाकी नष्ट हो जाते हैं। विषम-पर्यावरण में प्राणी के बचने का एक ही उपाय है। वह यह है कि विषमता को देखकर प्राणी अपने भीतर 'परिवर्त्तन' कर ले। इस परिवर्त्तन का प्रभाव 'वाहकाणुओं' (Genes) पर धीरे-धीरे तो होता ही है, और धीरे-धीरे ही एक सन्तति से दूसरी सन्तति में संक्रान्त होता है, परन्तु कभी-कभी यह परिवर्त्तन एकदम होता है, और एकदम 'वाहकाणुओं' (Genes) पर 'परिवर्त्तन' का प्रभाव पड़ता है। यह एकदम क्यों होता है, इसे कोई नहीं जानता। डार्विन ने सिर्फ़ इतना कहा है कि इस प्रकार के एकदम 'परिवर्त्तन' देखे जाते हैं। इन्हें 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' (Mutation) कहा जाता है। यह 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' (Mutation) ही एक नस्ल से दूसरी नस्ल के बन जाने का कारण है। इस प्रकार 'पर्यावरण' (Environment) के द्वारा जो 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' (Mutation) प्राणी के 'वाहकाणुओं' (Genes) में हो जाते हैं, वे 'वंश-परम्परा'

(Heredity) से आगे-आगे चलते चले जाते हैं और इससे एक नस्ल से अनेक नस्लें हो जाती हैं। जो आदि-पुरुष था, उसके 'वाहकाणुओं' (Genes) में 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' (Mutation) द्वारा कोई ऐसा प्रभाव पड़ा होगा जिससे उसकी सन्तति काले रंग की होने लगी। यह 'परिवर्त्तन' ऐसा था जिससे प्राणी विषम-पर्यावरण में भी टिक सकता था, इसलिए प्रकृति ने इसे चुन लिया, इसी को 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) कहते हैं। अगर यह ऐसा होता जिससे प्राणी विषम-पर्यावरण का मुकाबला न कर सकता, तो प्रकृति इसे यहीं छोड़ देती, इसे आगे बढ़ने ही न देती।

जब इस प्रकार प्राणी के रज-वीर्य के 'वाहकाणुओं' में परिवर्त्तन का तत्त्व घुस जाता है, और वे प्राणी भौगोलिक-पर्यावरणों के कारण एक-दूसरी नस्ल से पृथक् हो जाते हैं, और इस 'भौगोलिक-पृथक्ता' (Geographical isolation) के कारण आपस में ही यौन-सम्बन्ध करने लगते हैं, तब इस 'अन्तर्विवाह' (In-breeding) द्वारा उनके शारीरिक-गुण पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे-आगे चलते हैं, और कुछ काल के बाद एक भिन्न नस्ल बन जाती है, ऐसी नस्ल जिसके शारीरिक-लक्षण दूसरी नस्लों से अलग होते हैं, भिन्न होते हैं।

इस प्रकार प्राणि-शास्त्रीय आधार पर नस्ल की उत्पत्ति के निम्न कारण कहे जा सकते हैं :—

(क) प्राकृतिक-चुनाव (Natural selection)
(ख) आकस्मिक-परिवर्त्तन (Mutation)
(ग) भौगोलिक-पृथक्ता (Geographical Isolation)
(घ) अन्तर्विवाह (In-breeding)

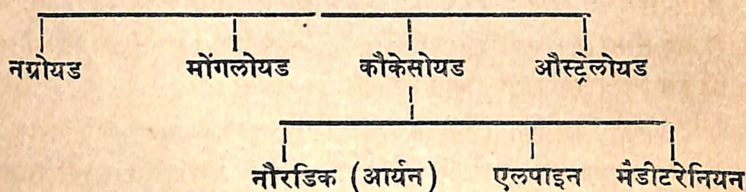
जो लोग भिन्न-भिन्न योनियों का एक ही जीवन-तत्त्व से विकास, अर्थात् 'एकल-उत्पत्ति के सिद्धान्त' (Monogenetic theory) को न मानकर एकदम अनेक योनियों की उत्पत्ति, अर्थात् 'बहुल-उत्पत्ति के सिद्धान्त'(Multiple-origin theory) को मानते हैं, सब प्राणी 'प्रोटोप्लाज़्म' नाम के एक ही तत्त्व के विकास से नहीं, किन्तु हिन्दू, ईसाई, तथा मुस्लिम विचार के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों के रूप में उत्पन्न हुए, ऐसा मानते हैं, उनका तथा 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' (Mutation) का सिद्धान्त कुछ मिलता-जुलता है क्योंकि 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' में नस्ल अर्थात् योनियों के भिन्न-भिन्न होने का कोई वैज्ञानिक कारण नहीं बताया जाता।

३. भिन्न-भिन्न नस्लें

प्राणि-शास्त्रियों ने इस प्रकार 'आकस्मिक-परिवर्त्तन' (Mutation) द्वारा हुई मनुष्य की 'बहुल-उत्पत्ति' की कई नस्लों का वर्णन किया है जिनमें से मुख्य चार हैं। पहली नस्ल 'नीग्रो' लोगों की है जिनकी काली चमड़ी और घुँघराले बाल होते हैं। दूसरी नस्ल 'मंगोल' लोगों की है जिनका पीला चेहरा, हल्के रंग की चमड़ी, अधखुली आँखें, और सीधे, काले बाल होते हैं। तीसरी नस्ल 'सफ़ेद' रंग वालों की

तथा चौथी आस्ट्रेलिया के रहने वालों की है। नीग्रो-नस्ल के लोगों को 'नेग्रोयड' (Negroids), मंगोल-नस्ल के लोगों को 'मोंगलोयड' (Mongoloids), श्वेत-नस्ल के लोगों को 'कौकेसोयड' (Caucasoids) तथा आस्ट्रेलिया में पायी जाने वाली नस्ल को 'औस्ट्रेलोयड' (Australoids) कहते हैं। कौकेसोयड-नस्ल को 'नौरडिक' (Nordic), 'एलपाइन' (Alpine) तथा 'मैडिटरेनियन' (Mediterranean)—इन तीन भागों में बाँटा जाता है। इस प्रकार मुख्य नस्लें छः मानी गई हैं। 'नीग्रो'-नस्ल अफ्रीका के रेगिस्तान के दक्षिण में, मैलेनेशिया तथा प्रशान्तसागर के दक्षिणी-पश्चिमी द्वीपों में फैली हुई है, 'मंगोल'-नस्ल एशिया में पायी जाती है, 'कौकेशियन'-नस्ल भूमध्यसागर के किनारे से लेकर पश्चिमी रूस और भारत तक पहुँची हुई है, 'आस्ट्रेलियन'-नस्ल आस्ट्रेलिया में पायी जाती है। 'कौकेसोयड (Caucasoids) के जो तीन हिस्से हमने किये हैं उनमें से 'नौरडिक' (Nordic) सबसे मुख्य है—इसे 'आर्य'-नस्ल भी कहते हैं। इस प्रकार मानवीय-नस्लों का वर्गीकरण निम्न प्रकार है:—

मानव-जाति



४: नस्लों के भिन्न-भिन्न लक्षण

वैसे तो नस्ल का आधार 'वाहकाणु' (Genes) हैं, उनमें क्या भेद है इसका पता रुधिर की परीक्षा से ही लग सकता है, स्थूल आँख से देख कर उसकी परीक्षा नहीं हो सकती, इसलिए नस्ल का पता लगाने के लिए प्राचीन-नस्लों के पण्डितों ने कुछ शारीरिक चिह्नों तथा उनके मापों का वर्गीकरण किया है। मुख्य-मुख्य शारीरिक चिह्न, जिनके आधार पर नस्ल का निर्णय किया जाता है, निम्न हैं:—

[निश्चित शारीरिक-लक्षण]

(क) शीर्ष-देशना (Cephalic index)—नस्लों के हिसाब से सिर की खोपड़ी के तीन प्रकार माने जाते हैं—'लम्बी', 'बीच-की' और 'चौड़ी'। लम्बी खोपड़ी 'डौलिको-सेफ़ैलिक' (Dolico-cephalic), बीच-की खोपड़ी 'मेसो-सेफ़ैलिक' (Meso-cephalic) तथा चौड़ी-खोपड़ी 'ब्रैकी-सैफ़ैलिक' (Brachy-cephalic) कहलाती हैं। इन तीनों प्रकार की खोपड़ियों की शीर्ष-देशना निकाली जाती है। शीर्ष-देशना निकालने का तरीका यह है कि खोपड़ी की चौड़ाई को खोपड़ी की लम्बाई से भाग देकर १०० से गुणा कर दिया जाता

है। इस प्रकार खोपड़ी की चौड़ाई और लम्बाई का पारस्परिक-अनुपात निकल आता है। लम्बाई और चौड़ाई में लम्बाई बड़ी होगी, तो खोपड़ी 'डौलिको-सेफ़ैलिक' कहलायेगी; बराबर होगी, तो 'मैसो-सेफ़ैलिक' कहलायेगी; चौड़ाई बड़ी होगी, तो 'ब्रैकी-सेफ़ैलिक' कहलायेगी। भिन्न-भिन्न नस्लों में खोपड़ी के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं।

सिर की खोपड़ी को इस प्रकार मापने में फ़ायदा यह है कि जीवित तथा मृत दोनों हालतों में खोपड़ी की लम्बाई-चौड़ाई में फ़रक नहीं आता, इसलिए वर्त्तमान तथा भूत की खोपड़ियों की तुलना आसानी से की जा सकती है। इसके अतिरिक्त दूसरा लाभ यह है कि बचपन में जो 'शीर्ष-देशना' होती है, अर्थात् खोपड़ी की लम्बाई-चौड़ाई का जो अनुपात होता है, जवानी और बुढ़ापे में यह अनुपात वैसे-का-वैसा बना रहता है, इसमें भेद नहीं आता।

(ख) खोपड़ी का घनत्व (Capacity of the skull)—खाली खोपड़ी में रेता भर कर पता लग जाता है कि इस खोपड़ी का कितना घनत्व है। नीग्रो-नस्ल की खोपड़ी का घनत्व काकेशियन या आर्य-जाति की खोपड़ी के घनत्व से कम होता है। यह विधि मरने पर ही काम में आ सकती है, जीवन-अवस्था में तो इस विधि का प्रयोग किया ही नहीं जा सकता।

(ग) नासिका-देशना (Nasal index)—नस्लों के हिसाब से नाक के तीन प्रकार माने जाते हैं—'लम्बी', 'चपटी', 'चौड़ी'। लम्बी नाक 'लैप्टोराइन' (Leptorrhine), चपटी नाक 'मैसोराइन' (Mesorrhine) तथा चौड़ी नाक 'प्लैटीराइन' (Platyrrhine) कहलाती है। इन तीनों प्रकार की नासिकाओं की नासिका-देशना निकाली जाती है। नासिका-देशना निकालने का तरीका यह है कि नासिका की चौड़ाई को नासिका की लम्बाई से भाग देकर १०० से गुणा कर दिया जाता है। इस प्रकार नासिका की चौड़ाई और लम्बाई का पारस्परिक अनुपात निकल आता है। नीग्रो नस्ल में चौड़ी नासिका-देशना, काकेशियन में लम्बी नासिका-देशना पायी जाती है।

(घ) शरीर का क़द (Stature)—किसी-किसी नस्ल के लोग लम्बे और किसी-किसी नस्ल के लोग नाटे पाये जाते हैं। इसे भी कई लोग नस्ल का एक विभेदक लक्षण मानते हैं।

(ङ) हाथ-पैर की लम्बाई—इसमें कन्धों से लेकर कोहनी और कोहनी से लेकर हाथों तक, और इसी प्रकार कमर से लेकर घुटनों तक और घुटनों से लेकर पैरों तक की लम्बाई मापी जाती है। यह लम्बाई भिन्न-भिन्न नस्लों में भिन्न-भिन्न पायी जाती है।

(च) रक्त-समूह (Blood-group)—नस्लों के हिसाब से रुधिर चार प्रकार का माना जाता है—अ (A), ब (B), अ ब (AB) तथा ओ (O)।

युनेस्को के प्रकाशन 'What is Race' में भिन्न-भिन्न नस्लों के रक्त-समूह का प्रतिशत में वर्गीकरण निम्न प्रकार दिया गया है :--

रक्त-समूह	अमरीका के श्वेत	अमरीका के नीग्रो	रूसी	चीनी
A	४१	३०.३	३४.४	३०.८
B	१०	२१.८	२४.९	२७.७
AB	४	३.७	८.८	७.३
O	४५	४४.२	३१.९	३४.२

[अनिश्चित शारीरिक-लक्षण]

(क) त्वचा का रंग (Pigmentation)--नस्ल के हिसाब से सफ़ेद, पीला और काला--ये तीन रंग त्वचा के माने जाते हैं जिनके अनुसार 'श्वेत-नस्ल' (White races), 'पीत-नस्ल' (Yellow races) तथा 'कृष्ण-नस्ल' (Black races)--ये तीन प्रकार की नस्लें हैं।

(ख) आँख का रंग--नस्लों के हिसाब से आँखों तथा आँखों के तारे का रंग भी भिन्न-भिन्न पाया गया है, इसलिए इसे भी नस्ल का विभेदक-लक्षण माना जाता है।

(ग) बाल--किसी नस्ल में बाल ज़्यादा, किसी में कम; किसी में लम्बे, किसी में भेड़नुमा छोटे-छोटे; किसी में मुलायम, किसी में कड़े; किसी में घुँघराले, किसी में सीधे; किसी में काले, किसी में भूरे--इस प्रकार भिन्न-भिन्न नस्लों में भिन्न-भिन्न प्रकार के बाल पाये जाते हैं।

(घ) पलकें--किसी-किसी नस्ल की पलकें अपने ही ढंग की होती हैं। मंगोल नस्ल के स्त्री-पुरुष की पलकें अध-खुली होती हैं।

(ङ) होठ--नीग्रो लोगों के होठ मोटे, आर्यों के पतले होते हैं--इस प्रकार होठों को भी नस्ल का एक विभेदक शारीरिक-लक्षण माना जाता है।

(च) जबड़ों का ढाँचा--नीग्रो नस्ल में चौड़े जबड़े पाये जाते हैं, मंगोलियन नस्ल में कम चौड़े, काकेशियन के साधारण।

आजकल ऐसे सूक्ष्म-यन्त्र बन गये हैं जिनसे उक्त सब बातों की परीक्षा सही-सही हो सकती है; परन्तु क्योंकि मरने के बाद बालों का रंग, अंगों का मुलायमपन आदि अधिक दिन तक नहीं टिकता इसलिए खोपड़ी आदि को छोड़कर नस्लों की परीक्षा का पूरा-पूरा हाल तो जिन्दा नस्लों के विषय में ही बतलाया जा सकता है, नष्ट हो चुकी नस्लों के विषय में नहीं।

५. नस्ल के आधार पर श्रेष्ठता
(Doctrine of Race-Superiority)

हमने भारत की 'जाति-व्यवस्था' (Caste system) के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा था कि जन्म की जाति भारत में ही मानी जाती है, युरोप में तो 'जाति' के स्थान में 'श्रेणी' (वर्ग) का विभाग चल पड़ा है। फिर भी यह कहना असंगत न होगा कि एक प्रकार की जन्म की जाति युरोप, अमरीका आदि देशों में भी चल रही है, और वह है 'नस्ल' के कारण अपने को अन्यों से श्रेष्ठ मानना। वैसे तो यह सिद्धान्त प्रायः सभी युरोपीय जातियों में थोड़ा-बहुत चला हुआ है, परन्तु पिछले-दिनों जर्मनी में इसका बहुत प्रचार हुआ, ख़ासकर हिटलर के नाज़ीवाद का तो यह एक मुख्य सिद्धान्त हो गया। हिटलर का कहना था कि संसार की सब नस्लों में 'आर्य'-नस्ल के लोग, जिन्हें 'नौरडिक' कहा जाता है, सर्व-श्रेष्ठ हैं। 'नौरडिक' अर्थात् 'आर्य' (Nordic or Aryan)-नस्ल के कई अवान्तर भेद हैं--इनमें से 'ऐंग्लो-सैक्सन' (Anglo-saxon) तथा 'ट्यूटौनिक' (Teutonic) मुख्य हैं। ऐंग्लो-सैक्सन-नस्ल के लोग इंग्लैण्ड में तथा ट्यूटौनिक-नस्ल के लोग जर्मनी में बसते हैं। हिटलर का कहना था कि केवल ट्यूटौनिक-नस्ल के लोगों में शुद्ध-नौरडिक रुधिर है। संसार के शुरू से आज तक नौरडिक-नस्ल ने ही सभ्यता को जन्म दिया, इसे बढ़ाया है। ग्रीक तथा रोम के लोग नौरडिक-नस्ल के थे। 'नौरडिक-वाद' (Nordicism) को जर्मनी में इतना बढ़ाया गया कि यह सिद्ध किया जाने लगा कि संसार में जो भी महापुरुष हुए हैं, वे सब 'नौरडिक' थे। ईसा, मुहम्मद, चंगेज़ खाँ--इन सब में नौरडिक ख़ून बह रहा था। जो नौरडिक नहीं हैं, वे संसार को कोई नई चीज़ नहीं दे सकते। यहूदी-लोग नौरडिक नहीं हैं, नीची नस्ल के हैं, इसलिए हिटलर ने उन्हें जर्मनी से निकाल बाहर किया।

नस्ल के आधार पर अपने को श्रेष्ठ मानने का सिद्धान्त अमरीका में भी कम नहीं है। वहाँ के नीग्रो लोगों को दासता से मुक्त कर दिया गया है, परन्तु उनका सभ्य-समाज से बहिष्कार है। कु-क्लक्स-क्लान (Ku Klux Klan) नाम की गुप्त-संस्था नीग्रो लोगों का वध तक कर देती है। शुरू-शुरू में अमरीका में चीनियों को कुली के तौर पर भरती करके ले जाया गया था, परन्तु उस देश में उनके साथ ऐसा दुर्व्यवहार हुआ कि १८९० में उनकी जन-संख्या जो १ लाख थी वह अब ८० हज़ार रह गई है। अमरीका में गन्दी-गन्दी बस्तियों में चीनी पड़े हैं, इन बस्तियों का नाम 'चाइना-टाउन' है। चीनी और जापानियों के साथ अमरीका में जो व्यवहार होता रहा उसी का उग्र रूप 'पीला-ख़तरा' (Yellow peril)--इस नाम से प्रसिद्ध हुआ। अमरीकी लोग कहने लगे कि इन नस्लों से अमरीका को ख़तरा पैदा हो गया है, अतः इनके बहिष्कार के कानून बनने लगे। रंग के आधार पर बनी यह जात-पात भारत की जात-पात से कम उग्र नहीं, कुछ अंशों में अधिक कठोर है। अमरीका में यहूदियों के साथ भी नस्ल के कारण इसी प्रकार का भेद-भाव का बर्ताव किया जाता है। दक्षिणी अफ्रीका में काले-

गोरों का जो भेद चल रहा है वह भी नस्ल के आधार पर बनी अपने को श्रेष्ठ मानने की नीति का ही परिणाम है।

हमने देखा कि जाति अर्थात् रुधिर से अपने को श्रेष्ठ मानने का सिद्धान्त सिर्फ़ हिन्दुओं में नहीं, संसार की सब नस्लों में पाया जाता है। परन्तु क्या इस सिद्धान्त में कोई सच्चाई है? सबसे पहली बात तो यह है कि संसार में रुधिर का इतना सम्मिश्रण हुआ है कि कहीं, कोई भी मनुष्य शुद्ध रुधिर का नहीं है। डा० अम्मौन (Ammon) के मित्र रिपले (Ripley) ने लिखा है कि जब डा० अम्मौन को कहा गया कि बिलकुल शुद्ध नस्ल के किसी व्यक्ति का फ़ोटो दिखलायें, तो वे चक्कर में पड़ गये। उन्होंने हज़ारों सिरों का माप लिया था, परन्तु अगर किसी का सिर एक नस्ल का था, तो नाक दूसरी नस्ल की थी, नाक एक नस्ल की थी, तो आँख किसी और नस्ल की थी। कहने का अभिप्राय यह, कि अगर किसी व्यक्ति को वे किसी एक नस्ल का समझते थे, तो उसी में अनेक बातें ऐसी मिल जाती थीं, जो उसमें होनी ही नहीं चाहिए थीं। भिन्न-भिन्न नस्लों में रुधिर का सम्मिश्रण इतना अधिक हुआ है कि हम फ्रेंच-नस्ल, जर्मन-नस्ल या अंग्रेज़ी-नस्ल---इन शब्दों का प्रयोग ही नहीं कर सकते। इनको 'कौमें' (Nations) तो कहा जा सकता है, 'नस्लें' (Races) नहीं। एक-एक कौम में कई-कई नस्लें मौजूद हैं। इंग्लैण्ड को ऐंग्लो-सैक्सन कहा जाता है, परन्तु उसमें ट्यूटौनिक ख़ून मौजूद है, जर्मनी को ट्यूटौनिक कहा जाता है, परन्तु उसमें भी अन्य रुधिर मिले हैं। जर्मनी के जो भाग्य-विधाता थे, जो नस्ल के सिद्धान्त को लेकर उसे आस्मान में चढ़ा रहे थे, उनके चेहरों को देखने से ही मालूम पड़ जाता है कि उनमें से कोई भी एक शुद्ध-नौरडिक अर्थात् आर्य-नस्ल के चेहरे का नहीं था।

अस्ल बात यह है कि जबसे मनुष्य पैदा हुआ है वह घुमक्कड़ रहा है। उन पहाड़ों और मैदानों के पीछे क्या है---यह उत्सुकता उसे आगे-ही-आगे धकेलती रही है। शुरू-शुरू में तो पहाड़-नदी-नाले-जंगल की 'भौगोलिक-पृथकता' (Geographical isolation) के कारण वह जिस नस्ल का था उसी नस्ल का बना रहा, दूसरी नस्लों के साथ उसका मेल न हो सका, परन्तु ज्यों-ज्यों मानव-समाज संख्या में बढ़ता गया, त्यों-त्यों अन्य नस्लों के लोग भी नदी-नाले-समुद्र पार करके इधर-उधर जाने लगे, और जहाँ मनुष्य का मनुष्य से मेल हुआ वह उससे रल-मिल गया। अगर ऐसा न होता, तो भिन्न-भिन्न नस्लें ही बनी रहतीं, इन 'नस्लों' (Races) के मिलने से 'कौमें' (Nations) न बनतीं। कोई कहता है, पहले तीन नस्लें थीं, कोई कहता है पाँच थीं। जितनी भी हों, अब सैंकड़ों नस्लें कैसे बन गईं? एक-दूसरे के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार करने से ही तो आज इतनी नस्लें दिखाई देती हैं, और नस्लें ही नहीं, कोई एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं दिखाई देता जो किसी एक शुद्ध नस्ल का हो। फिर नस्ल के कारण श्रेष्ठता के सिद्धान्त को ठीक कैसे कहा जा सकता है?

जो लोग नस्ल के कारण श्रेष्ठता के सिद्धान्त को मानते हैं उनके सिद्धान्त की आलोचना के लिए यह देखना आवश्यक है कि क्या नस्ल भिन्न होने के कारण व्यक्तियों की मानसिक-योग्यता में कोई भेद पड़ जाता है ? इस सम्बन्ध में कई मनोरंजक परिणाम निकले हैं जिनकी तरफ़ हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं :—

(क) भिन्न-भिन्न नस्लों की खोपड़ी का माप—मार्टिन (Martin) ने भिन्न-भिन्न नस्लों की खोपड़ियों का माप देख कर यह बतलाया है कि किस नस्ल की खोपड़ी कितनी छोटी और किस की कितनी बड़ी है। जिस नस्ल की खोपड़ी बड़ी हो उसमें ज्यादा दिमाग़ आने की गुंजाइश होनी चाहिए। युरोपियन नस्लों में आम तौर पर पुरुष की खोपड़ी में १४५० और स्त्री की खोपड़ी में १३०० क्यूबिक सेंटीमीटर जगह पायी गई है। आस्ट्रेलियन-नस्लों में पुरुष की खोपड़ी में १३४७ तथा स्त्री की खोपड़ी में ११८१ क्यूबिक सेंटीमीटर जगह है। इससे कहा जा सकता है कि युरोपियन-नस्लों में आस्ट्रेलियन-नस्लों की अपेक्षा खोपड़ी में ज्यादा स्थान है, इसलिए उनकी मानसिक-शक्ति ज्यादा होनी चाहिए। परन्तु अगर भिन्न-भिन्न नस्लों की खोपड़ियों का गहराई से अध्ययन किया जाय, तो पता चलता है कि खोपड़ी के माप का मानसिक-शक्ति के साथ कोई 'पारस्परिक-सम्बन्ध' (Correlation) नहीं है, अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि बड़ी खोपड़ी वाला बड़े दिमाग़ का, और छोटी खोपड़ी वाला छोटे दिमाग़ का ही होता है। चीनी लोग सभ्यता में बढ़े हुए हैं, परन्तु उनकी खोपड़ी का माप १४५६, और कलमक नाम की एक असभ्य फिरंदर नस्ल की खोपड़ी का माप १४६६ क्यूबिक सेंटीमीटर है; जापानी उन्नत लोग हैं, उनकी खोपड़ी १४८५ तथा जावा के पिछड़े हुए लोगों की खोपड़ी १५९० क्यू० सें० मी० है। इतना ही नहीं, एक ही नस्ल के लोगों में ज़मीन-आस्मान का भेद होता है। मार्टिन का कथन है कि एक ही नस्ल में ११०० से १७०० क्यूबिक सेंटीमीटर तक खोपड़ी के माप में भेद पाया जाता है। अगर एक ही नस्ल में खोपड़ी के माप में इतना भेद हो सकता है, तो कैसे कहा जा सकता है कि नीची नस्ल की खोपड़ी छोटी, और बड़ी नस्ल की खोपड़ी बड़ी होती है। विज्ञान के पास सब से छोटी खोपड़ी का रिकार्ड डांटे (Dante) का है, जो इटली का एक प्रतिभाशाली विद्वान् था। अक्सर देखा जाता है कि बड़े सिरवाले गँवार होते हैं, अतः बड़ी खोपड़ी से बड़ी नस्ल नहीं सिद्ध होती।

(ख) मस्तिष्क का तोल—कई कहते हैं कि भिन्न-भिन्न नस्लों में मस्तिष्क का भिन्न-भिन्न तोल होता है। यह बात ऊपरली बात का ही परिणाम है। खोपड़ी में जगह ज्यादा होगी, तो उसमें ज्यादा भारी दिमाग़ समा सकेगा। परन्तु जब ऊपर की बात ग़लत है, तब यह बात स्वयं ग़लत हो जाती है। टौपीनार्ड (Topinard) ने भिन्न-भिन्न नस्लों के ११,००० दिमाग़ों को तोला। वह कहता है कि युरोपियनों के दिमाग़ का आनुपातिक वजन पुरुषों में १३६१ और स्त्रियों

में १२०० ग्राम होता है। नौर्थ अमेरिकन नीग्रो का १३१६, जापानियों का १३६७, चीनियों का १४२८ ग्राम निकला। मार्टिन का कथन है कि पेसचेरा नस्ल पशु के निकट-की-सी मनुष्य की नस्ल है, परन्तु उसके दिमाग़ का वजन यूरोपियन-नस्लों के दिमाग़ से मिलता-जुलता है। ऐसी अवस्था में दिमाग़ के तोल के आधार पर क्या परिणाम निकाला जा सकता है।

(ग) 'बुद्धि-परीक्षा (Intelligence Tests) द्वारा परीक्षण—'बुद्धि-परीक्षा' के परीक्षणों के आधार पर कहा जाता है कि भिन्न-भिन्न नस्लों की बुद्धि में भेद है। 'बुद्धि-परीक्षा' का क्या अर्थ है? एक तो किताबें पढ़ कर मनुष्य विद्या ग्रहण करता है, दूसरे उसकी अपनी कुछ स्वाभाविक बुद्धि भी होती है। यह हो सकता है कि एक व्यक्ति बहुत साधारण बुद्धि का हो, परन्तु ऊँचे खान-दान का होने के कारण उसे पढ़ने-लिखने के साधन मिल जाँय, और वह पढ़-लिख जाय। यह भी हो सकता है कि दूसरा व्यक्ति उससे बहुत ज्यादा बुद्धि रखता हो, परन्तु उसे पढ़ने-लिखने का अवसर न मिले। 'विद्या' (Knowledge) तथा 'बुद्धि' (Intelligence) में भेद है। 'विद्या' सीखी जाती है, 'पर्यावरण' से प्राप्त की जाती है; 'बुद्धि' सीखी नहीं जाती, 'वंशानुसंक्रमण' से मिलती है। यह हो सकता है कि एक व्यक्ति विद्यावान् हो, बुद्धिमान् न हो, दूसरा व्यक्ति बुद्धिमान् हो, विद्यावान् न हो। इस प्रकार हमने देखा कि 'बुद्धि' जन्म से आती है, दूसरे शब्दों में यह नस्ल की चीज है। आजकल बुद्धि को मापने के जो परीक्षण होते हैं, उन्हें 'बुद्धि-परीक्षा' के परीक्षण कहा जाता है। अगर नस्लों के कारण भिन्नता होती है, तो 'बुद्धि-परीक्षा' से नीग्रो की बुद्धि अमरीकन से नीची होनी चाहिए, बराबर तो किसी हालत में नहीं होनी चाहिए। परीक्षणों से पता चलता है कि अगर गोरी-नस्लों की 'बुद्धि-लब्धि' (Intelligence quotient) १०० मानी जाय, तो चीनियों और जापानियों की ९९, मैक्सी-कनों की ७८, दक्षिणी-नीग्रो की ७५, उत्तरी-नीग्रो की ८५ और अमेरिकन-इण्डियन की ७० है। परन्तु 'बुद्धि-परीक्षा' के परीक्षणों पर मनोवैज्ञानिकों में मत-भेद है। उनका कहना है कि 'बुद्धि' को मापने के जो परीक्षण किये जाते हैं, वे बुद्धि को इतना नहीं मापते जितना व्यक्ति की संस्कृति को मापते हैं। एक बच्चा ऊँचे खानदान में रहता है, घर में रेडियो लगा है, रोज के समाचार सुनता है, उसका पर्यावरण उसे दूसरे बच्चे से स्वयं भिन्न बना देता है। इस बच्चे की अगर किसी दूसरे बच्चे के साथ तुलना की जायगी, तो स्वभावतः इसे ऐसी बहुत-सी बातों का पता होगा जिनका दूसरे को कुछ भी ज्ञान नहीं। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि 'बुद्धि-लब्धि' तो 'पर्यावरण' के अनुसार बदलती रहती है। गार्थ (Garth) का कहना है कि अगर एक हबशी को पहले नीची स्थिति के स्कूल में रखा जाय, और फिर ऊँची स्थिति के स्कूल में रख दिया जाय, तो उसकी 'बुद्धि-लब्धि' (I. Q.) बदल जाती है। ऐसी अवस्था में

'बुद्धि-परीक्षा' के आधार पर भी हम निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते कि भिन्न-भिन्न नस्लों की बुद्धि में भेद है।

(घ) भिन्न-भिन्न नस्लों का 'स्वभाव तथा आचार' (Temperament and character)——हम प्रायः सुनते हैं कि भारतीय लोग नस्ल से आलसी होते हैं, यहूदी क्रूर और कंजूस होते हैं, मंगोल सुस्त और जुआरी होते हैं, गोरी नस्लें परिश्रमी और उद्यमी होती हैं। जर्मनी के लिए कहा जाता है कि वे धीरे-धीरे प्रतिक्रिया करते हैं, परन्तु एक बार उठ खड़े हों, तो शक्ति के भंडार हो जाते हैं; अंग्रेज हर-बात में पहल करते हैं, गीदड़-भभकी देते हैं, परन्तु समझौते के लिए सदा तैयार रहते हैं, आचार के पक्के होते हैं; फ्रेंच बड़े बातून होते हैं, मिलनसार होते हैं, परन्तु अंग्रेजों के-से समर्थ नहीं होते। यह सब-कुछ ठीक है, परन्तु प्रश्न यह है कि जिस व्यक्ति को हम जर्मनों का, अंग्रेजों का या अन्य किसी नस्ल का कहते हैं वह व्यक्ति किसी एक नस्ल का तो है ही नहीं। अंग्रेज तो कौम का नाम है, इसी तरह जर्मन भी कौम का नाम है। इन कौमों में सब तरह की नस्लों का खून मिला हुआ है। एक लेखक का कहना है कि युरोप की हर कौम में 'नौरडिक' (Nordic), 'एलपाइन' (Alpine) तथा 'मैडिटरेनियन' (Mediterranean) नस्लों का रुधिर है——इसलिए जिस चीज को हम नस्लों का स्वभाव तथा आचार कहते हैं, वह 'नस्लों' (Races) का भेद नहीं, 'कौमों' (Nations) का भेद है। एक प्रसिद्ध जर्मन लेखक का कथन है कि नस्लों का इतना सम्मिश्रण हुआ है कि नौरडिक-शरीर और अ-नौरडिक-मन एवं अ-नौरडिक-शरीर तथा नौरडिक-मन युरोप में यत्र-तत्र सर्वत्र पाया जाता है। ऐसी अवस्था में हम किस नस्ल का क्या स्वभाव और क्या आचार कह सकते हैं? सिर्फ़ इतना कह सकते हैं कि नस्ल के आधार पर खड़ी की गई श्रेष्ठता का सिद्धान्त, जो संसार में जगह-जगह पाया जाता है, ग़लत है।

७. नस्ल के विषय में युनेस्को

'संयुक्त-राष्ट्रीय-संघ' की सांस्कृतिक-संस्था 'युनेस्को' है, जिसका कार्य शिक्षा तथा संस्कृति सम्बन्धी काम अन्तर्राष्ट्रीय-स्तर पर करना है। इस संस्था की तरफ़ से १९४९ में भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के शरीर के सम्बन्ध में जानकारी रखने वाले मानव-शास्त्रियों (Physical Anthropologists) की पैरिस में बैठकें हुई जिनमें विचार-विनिमय के बाद जो निश्चय किया गया उसका सार निम्न है:——

(क) मानव-समाज में शारीरिक-गुणों का अन्तर वंशानुसंक्रमण तथा पर्यावरण——इन दोनों के कारण होता है। इस समय जो शारीरिक गुणों के कारण नस्लों में एक-दूसरे से भेद पाया जाता है, वह वंशानुसंक्रमण तथा पर्यावरण——इन दोनों के कारण है, केवल वंशानुसंक्रमण के ही कारण नहीं।

(ख) नस्लों में एक-दूसरे से भेद या नस्लों का वर्गीकरण करते हुए उन्हीं शारीरिक-गुणों को किसी नस्ल का विशेष-गुण कहा जाना चाहिए जो निश्चित

रूप से उसी नस्ल में पाया जाता हो, दूसरी किसी नस्ल में पाया ही न जाता हो। ऐसे ही शारीरिक-गुण को वंशानुसंक्रमण से आया गुण समझा जा सकता है, और ऐसा ही गुण उस नस्ल का ही गुण कहा जा सकता है। परन्तु नस्लों का एक-दूसरे से इतना सम्मिश्रण हो चुका है कि आज किसी गुण को भी किसी एक नस्ल का नहीं कहा जा सकता।

(ग) वैज्ञानिक अनुसन्धान का निष्कर्ष यह है कि किसी शारीरिक या मानसिक गुण का किसी नस्ल के साथ किसी प्रकार का कार्य-कारण का सम्बन्ध नहीं है, इसलिए उचित यही है कि 'नस्ल'-शब्द को हम अपनी शब्दावली में से हटा दें और इसके स्थान में 'जाति-समूह' (Ethnic group)—इस शब्द का प्रयोग करें।

इस दृष्टि से हम देखते हैं कि नस्ल के आधार पर मानव-समाज में अबतक जो भेदभाव चला आ रहा था उसे प्रगतिशील विचार-धारा मानने को तैयार नहीं। मानव-समाज के शारीरिक तथा मानसिक भेद जिनका कारण नस्ल अर्थात् जन्म समझा जाता था वे अब पर्यावरण के कारण माने जा रहे हैं, यहाँ तक कि विद्वानों ने 'नस्ल'-शब्द के प्रयोग का बहिष्कार करना शुरू कर दिया है। जूलियन हक्सले (Julian Huxley), लेपियर (Lapiere) तथा डॉसन और गेटीज़ (Dawson and Gettys) ने अपनी पुस्तकों में 'नस्ल'-शब्द का ही बहिष्कार कर दिया है।

८. नस्ल तथा कौम

जैसा हम 'वंशानुसंक्रमण' तथा 'पर्यावरण' के अध्याय में दर्शा आये हैं, 'वंश' तथा 'पर्यावरण'—ये दो कारण हैं जिनसे परिवर्त्तन होता है। नस्ल के कारण श्रेष्ठता मानने वाले 'वंश' को महत्त्व देते हैं, परन्तु हमने देखा कि जो बातें नस्ल के विषय में कही जाती हैं, उनका नस्ल से कोई संबंध नहीं है। यह कहा जाता है कि नीग्रो इसलिए नीची हालत में है क्योंकि वह नीची नस्ल का है। परन्तु क्या यह बात ठीक है? कोई समय था जब ट्यूटौनिक-नस्ल के जर्मनी के लोग जंगली थे, आज वे सभ्य हो गये। अगर रोमन-राज्य के समय में कोई कहता कि किसी समय यह ट्यूटौनिक-नस्ल के लोग इतनी उन्नति कर लेंगे, तो इस पर कौन विश्वास करता? युरोपियन-नस्लों ने जो उन्नति की है, उसे दिन ही कितने हुए हैं? एच० जी० वेल्स ने लिखा है कि १६वीं शताब्दी में अगर कोई मंगोल और मुस्लिम-सभ्यता के उत्कर्ष को देख कर भविष्यवाणी करता, तो कह देता कि युरोप की पिछड़ी जातियाँ कुछ देर के बाद मंगोल या मुस्लिम सभ्यता को स्वीकार कर लेंगी। परन्तु यह सब-कुछ न हुआ, और युरोप ने आश्चर्य-जनक उन्नति की। यह उन्नति नस्ल के कारण नहीं हुई, पर्यावरण के कारण हुई। नस्ल तो कोई एक कहीं है ही नहीं। अगर कहीं कोई एक नस्ल होती, तब तो कहा जा सकता कि अमुक नस्ल ने तरक्की कर ली, परन्तु जब से मनुष्य के विषय में कुछ भी पता चला है, तब से यही पता है कि नस्लों के सम्मिश्रण के कारण

कहीं कोई एक नस्ल रही ही नहीं। प्रो० गौरडन चाइल्ड (Gordon Childe) का कहना है कि डैनमार्क तथा स्वीडन में पृथ्वी के नीचे दबे हुए 'प्रस्तर-युग' (Stone age) के जो नौरडिक-नस्ल के कंकाल मिले हैं, उनमें भी कई नस्लों का सम्मिश्रण है। ऐसी अवस्था में प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्य-समाज में भेद किस कारण है? यह तो हमने देखा कि नस्ल के कारण यह भेद नहीं है, क्योंकि शुद्ध-नस्ल तो कहीं रही नहीं है। अस्ल बात यह है कि 'पर्यावरण' ने मनुष्य-समाज को बहुत प्रभावित किया है। जन्म से 'नस्लें' (Races) बनीं, परन्तु कई नस्लों के मिलने से 'कौमें' (Nations) बनीं। जब कई नस्लें आपस में मिलकर रहने लगती हैं, उनके एक तरह के रीति-रिवाज, एक तरह के आचार-विचार बन जाते हैं, तब वे जन्म-जात भेदों को भूल जाते हैं, और एक कौम का निर्माण करते हैं। नस्ल पीछे को देखती है, कौम आगे को देखती है; नस्ल भूत का गाना गाती है, कौम भविष्यत् के स्वप्न लिया करती है; नस्ल जन्म पर ज़ोर देती है, कौम जन्म को उन्नति में बाधक नहीं बनने देती। आज संसार की दिशा नस्ल के घमंड को छोड़ कर मानव-समाज के एक हो जाने की तरफ़ है। जब कई नस्लों से एक कौम, और कई कौमों से मनुष्य मात्र की एक कौम बन जायगी, तब समाज की अनेकता से एकता को पाने की प्रक्रिया समाप्त होगी, उससे पहले नहीं। मानव-समाज के विकास की दिशा नस्लों के भेद को भूल कर कौमों की एकता की तरफ़ जा रही है।

९. 'कौम' अर्थात् 'राष्ट्र' की परिभाषा

भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'कौम' (Nation) की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य परिभाषाएँ निम्न हैं:—

[क] हक्सले की व्याख्या—"कौम अर्थात् राष्ट्र मानव-समाज के उस समूह का नाम है जिसके पास किसी देश का सामान्य-भू-खंड होता है, जो सामान्य-राज्य से एक-दूसरे के साथ बँधे होते हैं, जिनका एक ही इतिहास, एक ही भावना, एक ही परंपरा, एक ही सामाजिक-संगठन और जिनकी प्रायः एक ही भाषा होती है।"

[ख] मक्स वेबर की व्याख्या—"कौम अर्थात् राष्ट्र भावनाओं के संकलन को कहते हैं। ये भावनाएँ अपने को पर्याप्त रूप से अभिव्यक्त करने के लिए कौम का रूप धारण कर लेती हैं।"

[क] "A nation is a group of people with a common tract of country, bound together in a common state by a common history, common sentiment and traditions, common social organisation and usually by common language."—*Huxley*.

[ख] "A nation is a community of sentiment which would adequately manifest itself in a state of its own."—*Max Weber*.

१०. कौमियत अर्थात् राष्ट्रीयता की परिभाषा

'कौम' अर्थात् 'राष्ट्र' कैसे बनता है ? 'राष्ट्र' बनता है--'राष्ट्रीयता' से। इसलिए 'राष्ट्र' (Nation) को समझने के लिए 'राष्ट्रीयता' (Nationality) को समझ लेना आवश्यक है। 'राष्ट्रीयता' की भिन्न-भिन्न लेखकों न भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं, जिनमें से कुछ निम्न हैं :—

[क] हेज की व्याख्या—"राष्ट्रीयता मनुष्यों के ऐसे समूह का नाम है जो या तो एक ही भाषा बोलते हैं या ऐसी बोलियों का व्यवहार करते हैं जो एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। इन लोगों की ऐतिहासिक परम्पराएँ भी एक ही होती हैं। इस प्रकार इन लोगों का एक स्पष्ट सांस्कृतिक-समाज बन जाता है, या उक्त बातों के कारण ये समझते हैं कि इनका स्पष्ट तौर पर दूसरों से भिन्न एक सांस्कृतिक-समाज है।"

[ख] लॉर्ड ब्राइस की व्याख्या--"राष्ट्रीयता एक ऐसी जन-संख्या को कहते हैं जो किन्हीं बन्धनों से बंध जाती है। उदाहरणार्थ, भाषा, साहित्य, विचार, प्रथाएँ, परम्पराएँ--ये ऐसे बन्धन हैं जो जन-संख्या को बाँधने वाले हैं। एक तरह की भाषा, साहित्य, विचार, प्रथाएँ, परम्पराएँ एक राष्ट्र को बाँध कर एक तरह का राष्ट्र बना देती हैं, दूसरी तरह की ये ही बातें दूसरे राष्ट्र को बाँध कर दूसरी तरह का राष्ट्र बना देती हैं।"

११. राष्ट्रीयता कैसे बनती है ?

हमने अभी कहा कि 'राष्ट्र' बनता है 'राष्ट्रीयता' से, परन्तु 'राष्ट्रीयता' कैसे बनती है, 'राष्ट्रीयता' के घटक-तत्त्व क्या हैं ? 'राष्ट्रीयता' निम्न तत्त्वों से बनती है :—

(क) सामुदायिक-भावना-(Community sentiment)-'राष्ट्रीयता' का सबसे मुख्य तत्त्व 'सामुदायिक-भावना' है। लोगों के धर्म भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, उनमें रीति-रिवाज, प्रथाएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, भाषाएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, परन्तु अगर उनमें 'सामुदायिक-भावना' मौजूद है, तो वहाँ

[क] "Nationality is a group of people who speak either the same language or closely related dialects, who cherish common historical traditions and thus constitute or think they constitute a destinct cultural society."—*Hayes.*

[ख] "A nationality is a population held together by certain ties, for example, language and literature, ideas, customs and traditions, in such a way as to feel itself a coherent unity distinct from other populations held together by like ties of their own."
—*Lord Bryce.*

'राष्ट्रीयता' का मुख्य तत्त्व मौजूद है—यह समझना चाहिए। अन्य सब बातों में एक होते हुए भी 'सामदायिक-भावना' न होने से 'राष्ट्रीयता' का अभाव ही रहता है। भारत में भिन्न-भिन्न धर्म, भाषा, रीति-रिवाज, तथा प्रथाएँ होते हुए भी क्योंकि इस भिन्नता में 'सामुदायिक-भावना' की एकता है, इसलिए यहाँ 'राष्ट्रीयता' है।

(ख) एक-समान राजनैतिक आकांक्षा—(Common political aspiration)—'सामुदायिक भावना' का सूत्रपात मुख्य तौर पर एक-समान राजनैतिक-आकांक्षा से होता है, इसलिए 'राष्ट्रीयता' के पनपने में एक-समान राजनैतिक आकांक्षाएँ भी आवश्यक तत्त्व हैं। भारत में पांडुचरी तथा गोआ विदेशी उपनिवेश थे और हैं, परन्तु वहाँ के लोगों की राजनैतिक-आकांक्षाएँ भारतीय जनता की आकांक्षाओं के समान हैं, इसलिए भारत, पांडुचरी तथा गोआ के लोगों में एक ही प्रकार की 'राष्ट्रीयता' की भावना है।

(ग) सार्वजनिक-इच्छा (Popular will)—जब एक-समान राजनैतिक इच्छा प्रबल हो जाती है, वह इच्छा इने-गिने लोगों की न रहकर सर्व-साधारण की हो जाती है, तब उसे 'सार्वजनिक-इच्छा' कहा जाता है। 'सार्व जनिक-इच्छा' की प्रबलता 'राष्ट्रीयता' को बढ़ाती है।

(घ) कष्ट का सहन (Suffering)—एक-समान राजनैतिक आकांक्षाओं की प्रबलता से सार्वजनिक-इच्छा पैदा हो जाती है, और सार्वजनिक-इच्छा उत्पन्न होने पर राजनैतिक आदर्शों के लिए लोग अत्याचारियों के अत्याचार सहने के लिए तरह-तरह के कष्ट झेलने लगते हैं। वे जेल जाते हैं, गोलियों का मुकाबिला करते हैं, फाँसी की रस्सियों पर हँसते-हँसते झूल जाते हैं। इससे 'राष्ट्रीयता' दिन-दूनी और रात-चौगुनी फूलती-फलती है।

ये चार तो 'राष्ट्रीयता' के आवश्यक तत्त्व हैं। इनके अलावा नस्ल, भाषा, भूमि, धर्म, तथा संस्कृति भी 'राष्ट्रीयता' को बढ़ाने में सहारा देते हैं, परन्तु इन्हें 'राष्ट्रीयता' के लिए आवश्यक-तत्त्व नहीं कहा जा सकता। इनके सम्बन्ध में भी थोड़ी-बहुत चर्चा कर देना अप्रासंगिक न होगा।

(क) नस्ल—कई लोग नस्ल को 'राष्ट्रीयता' के लिए बहुत आवश्यक मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि एक ही नस्ल का होने से लोगों में 'सामुदायिक-भावना' उत्पन्न हो जाती है, और क्योंकि 'सामुदायिक-भावना' 'राष्ट्रीयता' के लिए आवश्यक है, इसलिए एक ही नस्ल का होना भी 'राष्ट्रीयता' को उत्पन्न करने में सहायक है। नीग्रो की नीग्रो के साथ सहानुभूति होना स्वाभाविक है। परन्तु सब से विकट प्रश्न तो यह है कि नस्लें रही कहाँ हैं? आज तो नस्लें मिटती जा रही हैं, और शुद्ध नस्ल कोई कहीं मिलती नहीं। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न नस्लों के लोगों में 'सामुदायिक-भावना' उत्पन्न हो जाने के कारण 'राष्ट्रीयता' आ जाती है। उदाहरणार्थ, अमरीका में भिन्न-भिन्न नस्लों के लोग आकर बस गये, उनकी नस्ल अलग-अलग है, परन्तु 'राष्ट्रीयता' की भावना एक है। अपने

देश में द्रविड़, हूण, शक, आर्य—न जाने कितनी नस्लें हैं, परन्तु उन्हें सब भुला चुके हैं, और 'सामुदायिक-भावना' के कारण सब में एक-ही-सी 'राष्ट्रीयता' की भावना है।

(ख) भाषा—कई लोग भाषा को 'राष्ट्रीयता' के लिए बहुत आवश्यक समझते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि एक ही भाषा का होने से 'सामुदायिक-भावना' उत्पन्न हो जाती है, और क्योंकि 'सामुदायिक-भावना' 'राष्ट्रीयता' के लिए आवश्यक है, इसलिए एक ही भाषा का होना भी 'राष्ट्रीयता' को उत्पन्न करने में सहायक है। परन्तु आज एक ही भाषा बोलने वाले भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयता और भिन्न-भिन्न भाषा बोलने वाले एक ही राष्ट्रीयता के उपासक हो रहे हैं। पंजाब के हिन्दू-मुसलमान एक ही भाषा बोलते थे, परन्तु राष्ट्रीयता की दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न हो गये, हिन्दुस्तान के मद्रासी तथा बंगाली भिन्न-भिन्न भाषा बोलते हैं, परन्तु राष्ट्रीयता की दृष्टि से ये दोनों एक हैं।

(ग) भूमि—कई लोग भौगोलिक-एकता को 'राष्ट्रीयता' के लिए बहुत आवश्यक समझते हैं। इसमें संदेह नहीं कि एक ही भू-भाग में रहने से लोगों में 'सामुदायिक-भावना' उत्पन्न हो जाती है, और क्योंकि 'सामुदायिक-भावना' 'राष्ट्रीयता' के लिए आवश्यक है, इसलिए एक ही भू-खंड में निवास करना 'राष्ट्रीयता' को उत्पन्न करने में सहायक है। परन्तु भिन्न-भिन्न भू-भागों में रहते हुए भी 'राष्ट्रीयता' हो सकती है। यहूदी लोग लगभग बीस शताब्दियों से भिन्न-भिन्न भू-भागों में रहते आये, परन्तु जहाँ भी रहे 'सामूहिक-भावना' के कारण उनकी अपनी 'राष्ट्रीयता' की भावना बनी रही। यह भावना इतनी उग्र रही कि अन्त में पैलेस्टाइन में उन्होंने एक भू-खंड को पा ही तो लिया। मातृभूमि के कण-कण में राष्ट्रीयता बसी रहती है, और इसी लिए मातृभूमि के लिए कई देश-भक्त प्राणों की आहुति तक दे देते हैं।

(घ) धर्म—कई लोग धर्म को 'राष्ट्रीयता' के लिए बहुत आवश्यक समझते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि एक ही धर्म को मानने के कारण लोगों में 'सामुदायिक-भावना' उत्पन्न हो जाती है, और क्योंकि 'सामुदायिक-भावना' 'राष्ट्रीयता' के लिए आवश्यक है, इसलिए एक ही धर्म का मानना 'राष्ट्रीयता' को उत्पन्न करने में सहायक है। परन्तु आज 'धर्म' मानव-समाज को एक सूत्र में बाँधने का अपना पुराना काम छोड़ता जा रहा है, भिन्न-भिन्न धर्मों के लोगों में भी राष्ट्रीय-एकता पायी जाती है। चीन में मुसलमान भी हैं, बौद्ध भी हैं, परन्तु उनमें एक-राष्ट्रीयता की भावना मौजूद है। समय था जब भिन्न-भिन्न धर्मों के लोग एक-साथ नहीं रह सकते थे, एक ही धर्म के मानने वाले एक-साथ रहते थे। मुसलमान मुसलमान को तो बर्दाश्त कर सकता था, हिन्दू को नहीं। ऐसा ही अन्य धर्मों का हाल था। आज यह बात नहीं रही। भारत ने भी अपने को 'धर्म-निरपेक्ष-राज्य' घोषित कर दिया है, और धर्म राष्ट्रीयता का आधार धीरे-धीरे हटता जा रहा है।

(ङ) संस्कृति---कई लोग संस्कृति को 'राष्ट्रीयता' के लिए बहुत आवश्यक समझते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि एक ही संस्कृति को मानने के कारण लोगों में 'सामुदायिक-भावना' उत्पन्न हो जाती है, और क्योंकि 'सामुदायिक-भावना' 'राष्ट्रीयता' के लिए आवश्यक है, इसलिए एक ही संस्कृति का अनुयायी होना 'राष्ट्रीयता' को उत्पन्न करने में सहायक है। हिन्दू तथा मुसलमान एक ही देश में रहते हुए, एक ही भाषा बोलते हुए, अपनी संस्कृति की भिन्नता के कारण एक-दूसरे से जुदा हो गये। परन्तु एक ही संस्कृति को मानने पर भी राष्ट्रीयता में भेद हो सकता है। आज युरोप के प्रायः सभी देशों की संस्कृति एक-सी है, परन्तु राष्ट्रीयता की दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के अनुयायी राष्ट्रीयता की दृष्टि से एक हो सकते हैं।

१२. राष्ट्रीयता तथा राष्ट्र

जब 'राष्ट्रीयता' की भावना प्रबल हो जाती है, जड़ पकड़ लेती है, तब 'राष्ट्र' का जन्म होता है। 'राष्ट्रीयता' की सत्ता बिना किसी 'राष्ट्र' के हो सकती है, परन्तु 'राष्ट्र' बिना 'राष्ट्रीयता' के नहीं हो सकता। 'राष्ट्रीयता' तथा 'राष्ट्र' का उदय साथ-साथ भी हो सकता है, 'राष्ट्रीयता' का उदय 'राष्ट्र' बनने से पहले भी हो सकता है। यहूदियों में जो संसार के कोने-कोने में बिखरे हुए थे, 'राष्ट्रीयता' की भावना पैदा हुई, जिससे बाद में पैलेस्टाइन में यहूदी-राष्ट्र बना; भारत के मुसलमानों में 'राष्ट्रीयता' की भावना ने जोर मारा, जिससे बाद में पाकिस्तान-नामक राष्ट्र बना।

१३. राष्ट्र कैसे बनता है ?

जैसे हमने पहले देखा कि राष्ट्रीयता कैसे बनती है, वैसे अब यह देखना है कि राष्ट्र कैसे बनता है, राष्ट्र के घटक-तत्त्व क्या हैं? राष्ट्र निम्न तत्त्वों से बनता है:--

(क) राष्ट्रीयता की भावना (Sentiment of nationality)--हम पहले लिख आये हैं कि राष्ट्रीयता के लिए 'सामुदायिक-भावना', 'एक-समान राजनैतिक-आकांक्षा', 'सार्वजनिक-इच्छा' तथा 'कष्ट का सहना'--ये चार तत्त्व आवश्यक हैं। जब किसी जन-संख्या में ये चार तत्त्व प्रबल रूप से उत्पन्न हो जाते हैं, तब मानो राष्ट्र बनने का सूत्रपात हो जाता है। परन्तु ये सब भावनाएँ भी मिलकर राष्ट्रों को तब तक नहीं पैदा करतीं जब तक इस जन-समूह का किसी निश्चित भू-भाग पर अधिकार नहीं हो जाता।

(ख) सामान्य भू-भाग (Common territory)--जब किसी जन-समूह में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो जाती है, तब वह किसी निश्चित भू-भाग पर अपना अधिकार कर लेता है। इस अधिकार के प्राप्त करते ही वह जन-समूह 'राष्ट्र' का रूप धारण कर लेता है। भारत के मुसलमानों का जब तक पाकिस्तान पर अधिकार नहीं हुआ तब तक वे अपनी राष्ट्रीयता की भावना को उग्र

रूप देते रहे, परन्तु पृथक् राष्ट्र नहीं बने, यहूदियों का जब तक पैलेस्टाइन पर अधिकार नहीं हुआ तब तक वे भी अपनी राष्ट्रीयता की भावना को तीव्र करते रहे, परन्तु पृथक् राष्ट्र नहीं बने। पाकिस्तान के बनते ही मुसलमानों का एक राष्ट्र बन गया, पैलेस्टाइन के मिलते ही यहूदियों का एक राष्ट्र बन गया।

(ग) राजनैतिक-स्वतंत्रता (Political liberty)—किसी राष्ट्र के राष्ट्र बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि वह दूसरे के आधीन न हो। आधीन होते ही राष्ट्रीयता तो बनी रह सकती है, परन्तु राष्ट्र नष्ट हो जाता है। भारत जब तक अंग्रेज़ों के आधीन रहा, हमारा राष्ट्र नहीं बना, यद्यपि हम राष्ट्रीयता की भावना को बनाये रहे। उसी राष्ट्रीयता की भावना का परिणाम था कि अन्त में हमें राजनैतिक-स्वतंत्रता प्राप्त हुई और अब हम एक राष्ट्र का रूप धारण कर सके।

१४. राष्ट्रीयता के भेद

राष्ट्रीयता से राष्ट्र बनता है, परन्तु यह हो सकता है कि जिस उग्र भावना को लेकर राष्ट्रीयता ने राष्ट्र का निर्माण किया, वह उग्रता राष्ट्र के निर्माण करने के बाद भी बनी रहे, और दूसरे राष्ट्रों को भी अपने में हड़पने का प्रयत्न करे। जब तक राष्ट्रीयता सिर्फ़ अपने लिए एक राष्ट्र को बनाने का प्रयत्न करती है तब तक यह ठीक है, जब यह सीमा से आगे निकल जाती है, जब राष्ट्रीयता की तीव्रता में यह अन्य राष्ट्रों को हड़पने लगती है, तब यह विश्व के लिए ख़तरे का रूप धारण कर लेती है। राष्ट्रीयता के ये रूप निम्न हैं :—

(क) राष्ट्रवाद (Nationalism)—राष्ट्रीयता से राष्ट्र बनता है। अब इस राष्ट्र बन जाने के बाद इसे अन्य राष्ट्रों से ख़तरा हो सकता है। राष्ट्रवाद का सिद्धान्त यह है कि हर राष्ट्र को अपनी स्वतंत्र राजनैतिक-सत्ता बनाये रखने का अधिकार है, इसमें दूसरे किसी राष्ट्र को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। यह ठीक भी है। क्यों कोई दूसरा राष्ट्र हमें दबाये और हम पर शासन करे? जिस देश में 'राष्ट्रवाद' की लहर उठी, उसने विदेशियों का डट कर मुकाबिला किया। राष्ट्रवाद से कई नये राष्ट्र बनते हैं, जैसे पाकिस्तान और यहूदिस्तान बने; राष्ट्रवाद से कई राष्ट्र विदेशी-शासन से मुक्त हो जाते हैं, जैसे भारत, सीलोन, बर्मा, इंडोनेशिया परदेसियों के चंगुल से स्वतंत्र हो गये; राष्ट्रवाद से कई राष्ट्र दूसरों का डटकर मुकाबिला करते हैं, जैसे ईजिप्ट ने स्वेज-नहर के मामले में अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों का मुकाबिला किया। यह सब 'राष्ट्रीयता' (Nationality) के कारण जो 'राष्ट्रवाद' (Nationalism) की भावना इनमें पैदा हुई थी, उसकी वजह से हुआ।

(ख) देशभक्ति (Patriotism)—राष्ट्रवाद एक विचार-धारा है। उस विचार-धारा को क्रिया में परिणत करने के लिए कदम बढ़ाना देशभक्ति है। देशभक्ति राष्ट्रवाद का हथियार है। राष्ट्रवादी लोग जनता को देशभक्ति के लिए ललकारा करते हैं। राष्ट्रवाद बिना राष्ट्र बने भी हो सकता है, परन्तु

देशभक्ति की बारी तो राष्ट्र बन चुकने के बाद ही आती है। देशभक्ति भी राष्ट्रवाद की तरह राष्ट्रीयता का ही एक रूप है, जो अपने राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रों के हमले से बचाती है और जिसे राष्ट्रीयता का राष्ट्रवाद की तरह एक स्वस्थ स्वरूप कहा जा सकता है। राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति राष्ट्रीयता के वे दो रूप हैं जिनमें राष्ट्रीयता अपनी सीमा के अन्दर रहती है, सीमा का अतिक्रमण नहीं करती।

(ग) उग्र-राष्ट्रीयतावाद (Chauvinism)—जबतक राष्ट्रीयता की भावना अपने राष्ट्र के हितों की रक्षा में तत्पर रहती है, तबतक तो यह सीमा में बंधी रहती है, परन्तु समय आता है जब यह अपने हितों की रक्षा के लिए दूसरे राष्ट्रों के हितों से संघर्ष करने लगती है, तब यह सीमा का उल्लंघन कर जाती है, और तब राष्ट्रीयता का स्वस्थ रूप न रहकर अस्वस्थ रूप हो जाता है। तभी युद्ध, लड़ाई-झगड़े पैदा होते हैं। राष्ट्रीयता का यह रूप संसार के लिए अहितकर है। इसे अंग्रेजी में 'शोविनिज्म' कहते हैं।

(घ) साम्राज्यवाद (Imperialism)—उग्र-राष्ट्रीयतावाद और अधिक भयंकर रूप धारण कर लेने पर साम्राज्यवाद बन जाता है। साम्राज्यवाद दूसरे कमजोर राष्ट्रों को अपना गुलाम बना कर रखना चाहता है। यह निर्बल राष्ट्रों का खून चूस कर पनपता है। भारत साम्राज्यवाद का दो-तीन सौ साल तक शिकार रहा। यद्यपि राष्ट्रवाद तथा साम्राज्यवाद दोनों राष्ट्रीयता की उपज हैं, तो भी जब साम्राज्यवाद किसी राष्ट्र को हड़पने लगता है, तब राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद का मुकाबिला करता है। साम्राज्यवाद किसी राष्ट्र को नष्ट करने के लिए उसकी 'सामुदायिक-एकता' को, उसकी भाषा, धर्म, संस्कृति—सब को नष्ट करने का प्रयत्न करता है, राष्ट्रवाद इन्हीं की रक्षा में जुट जाता है। भारत में यही-कुछ तो हुआ, अंग्रेजों ने यह सब-कुछ नष्ट करना चाहा, हमने इन-सब की रक्षा की। राष्ट्रीयता का यह रूप भी संसार के लिए अहितकर है, और अब धीरे-धीरे मिटता जा रहा है।

१५. राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता के जिन दो रूपों का हमन ऊपर वर्णन किया—उग्र राष्ट्रीयतावाद तथा साम्राज्यवाद—इन दोनों का १९वीं तथा २०वीं सदी में इतना वेग बढ़ा कि राष्ट्रीयता के अन्य दो रूपों ने—राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति ने—इनका सामना करके इन्हें समाप्त करने का प्रयत्न किया। उग्र-राष्ट्रीयतावाद तथा साम्राज्यवाद तो समाप्त हो सकते हैं, राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति तो समाप्त नहीं हो सकते। परन्तु जब तक राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति रहते हैं, तब तक किसी भी समय इनके फिर से प्रचण्ड रूप धारण करने की सम्भावना बनी रह सकती है, और अंग्रेजों के उग्र-राष्ट्रीयतावाद तथा फ्रांसीसियों के साम्राज्यवाद के समाप्त होने पर भी अमरीकनों या रूसियों के साम्राज्यवाद के उठ खड़े होने की सम्भावना है। ऐसी हालत में संसार को सब तरह के संघर्षों, लड़ाई-झगड़ों से बचाने के लिए

राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति के विचार को ही समाप्त करने की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में संसार सुरक्षित तब रह सकता है जब राष्ट्रीयता की भावना ही न रहे। राष्ट्रीयता की भावना न रहेगी, तो अलग-अलग राष्ट्र नहीं रहेंगे, उन राष्ट्रों की रक्षा के लिए देशभक्ति की जरूरत न रहेगी, ये दोनों न रहेंगे, तो राष्ट्रीयतावाद और साम्राज्यवाद भी न रहेंगे। इसी दृष्टिकोण को सामने रख कर आज 'राष्ट्रीयता' (Nationalism) के स्थान में 'अन्तर्राष्ट्रीयता' (Inter-nationalism) का विचार जड़ पकड़ता जा रहा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अलग-अलग राष्ट्रों की परिभाषा में सोचना छोड़ दें। जब हम अपने को दूसरे से पृथक राष्ट्र मानने लगते हैं, तभी हमारे स्वार्थ, हमारे हित, हमारी भूमि, भाषा, संस्कृति दूसरों से अलग हो जाती हैं, और हम या तो इनकी रक्षा करने में या इन्हें दुनियाँ भर में फैलाने में जुट जाते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीयता संसार में झगड़ों का बीज बो देती है। अगर विश्व भर को हम अपना समझने लगें, सब की साझी जमीन, साझे देश, साझी भाषा, साझी संस्कृति, फिर किसी राष्ट्र को अपना समझने के स्थान में सब राष्ट्रों को हम अपना समझेंगे, और तब विश्व में शान्ति का राज्य होगा। इसी भावना को सामने रख कर 'संयुक्त-राष्ट्र-संघ' (U.N.O.) की स्थापना हुई है, और आशा करनी चाहिए कि देर में, अबेर में, यह भावना विश्व में स्थिर रूप धारण कर लेगी और मानव-समाज एक नवीन दिशा की तरफ़ कदम बढ़ाने लगेगा।

१६. राष्ट्र तथा देश में भेद

राष्ट्रीयता की भावना जब किसी देश में साकार होती है, तब राष्ट्र बनता है। तो फिर 'राष्ट्र' (Nation) तथा 'देश' (Country) में क्या भेद है? क्या 'राष्ट्र' तथा 'देश' एक ही वस्तु हैं? वैसे तो बोल-चाल ी भाषा में दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग होता है, परन्तु वैज्ञानिक-दृष्टि से इन दोनों में भेद है। 'राष्ट्रीयता' के उत्पन्न होने पर ही 'राष्ट्र' बनता है, 'देश' के लिए 'राष्ट्रीयता' का होना लाजमी नहीं है। अफ्रीका एक देश है, राष्ट्र नहीं है, इसलिए राष्ट्र नहीं है क्योंकि वहाँ राष्ट्रीयता की भावना पैदा नहीं हुई। अगर अफ्रीकन लोगों में राष्ट्रीयता की भावना पैदा हो जाय, और इस भावना के परिणाम-स्वरूप उनका उस देश पर अधिकार हो जाय, तो वह देश सिर्फ़ देश ही न रहे, एक राष्ट्र हो जाय। राष्ट्र में राष्ट्रीयता का निवास होता है, देश में राष्ट्रीयता का निवास नहीं होता, देश में जब राष्ट्रीयता आ जाती है, तब यह देश ही राष्ट्र बन जाता है।

१७. नस्ल तथा राष्ट्र (कौम) में भेद

इस अध्याय का प्रारम्भ हमने 'नस्ल' तथा 'कौम'—इस शीर्षक से किया था। हमने देखा 'नस्ल' क्या है, हमने यह भी देखा कि 'कौम' क्या है। हमने यह भी देखा कि 'नस्ल' की एक-दूसरे से जुदा होने की भावना मिटा कर 'कौम' की एक-

दूसरे के साथ मेल-मिलाप की भावना की तरफ़ संसार पग बढ़ा रहा है। प्रश्न यह है कि 'नस्ल' तथा 'कौम' में मौलिक-भेद क्या है? इन दोनों के मौलिक भेद निम्न हैं :—

नस्ल (Race)	कौम (Nation)
(क) नस्ल एक प्राणि-शास्त्रीय (Biological) शब्द है।	(क) कौम एक राजनैतिक (Political) शब्द है।
(ख) नस्ल बदली नहीं जाती।	(ख) कौम बदली जा सकती है।
(ग) एक नस्ल का आदमी संसार में कहीं भी स्थिर तौर पर रह सकता है।	(ग) एक कौम के आदमी का अपने देश में ही स्थिर निवास होता है।
(घ) नस्ल के लिए 'सामुदायिक-भावना' ज़रूरी नहीं।	(घ) कौम के लिए 'सामुदायिक भावना' ज़रूरी है।
(ङ) कोई नस्ल शुद्ध रूप में नहीं मिलती।	(ङ) हर कौम दूसरी कौम से बिलकुल शुद्ध रूप में अलग है।
(च) एक नस्ल कई राष्ट्रों में रह सकती है।	(च) एक राष्ट्र में कई नस्लें रह सकती हैं।
(छ) नस्ल का आधार वंशानुसंक्रमण तथा पर्यावरण हैं।	(छ) राष्ट्र का आधार मनोवैज्ञानिक है।

प्रश्न

१. नस्ल का प्राणि-शास्त्रीय आधार क्या है? संसार की मुख्य-मुख्य नस्लें कौन-सी हैं? नस्लों को पहचानने के शारीरिक-लक्षण क्या-क्या हैं?
२. नस्ल के आधार पर श्रेष्ठता मानने के सिद्धान्त का दिग्दर्शन कराते हुए यह बतलाइये कि भारत, अमरीका तथा जर्मनी में इस सिद्धान्त का क्या-क्या रूप है, या रहा है?
३. क्या नस्ल के आधार पर श्रेष्ठता का सिद्धान्त ठीक है? अगर नहीं, तो भिन्न-भिन्न दृष्टियों से इसका खंडन कीजिये।
४. नस्ल तथा कौम में क्या भेद है?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. नस्ल (Race) किस प्रकार निश्चित होती है, और सामाजिक-चेतना में इसका क्या भाग है? (आगरा, १९५०)
२. 'प्रजाति' (नस्ल) क्या है? यह कैसे निश्चित की जाती है? (आगरा, १९५१, १९५३, १९५५ तथा राजपूताना, १९५५)
३. 'प्रजाति' (नस्ल) के सम्बन्ध में आधुनिकतम निष्कर्ष क्या है और कौन-सा शब्द अधिक उपयुक्त है और क्यों? (आगरा, १९५२)

४. एक राष्ट्र किस प्रकार बनता है ? क्या एक राष्ट्रीय-चरित्र होता है ? (आगरा, १९५३)

५. 'जाति' (Caste) और 'प्रजाति' (Race) का सम्बन्ध बताइये। (आगरा १९५४)

६. 'राष्ट्र' की परिभाषा कीजिये। क्या राष्ट्रीयता की भावना अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए अभिशाप है ? (आगरा, १९५२)

७. 'राष्ट्र और देश' तथा 'राष्ट्र और जाति' में क्या भेद है ? (आगरा, १९५४)

१६

समूह

(GROUPS)

१. समूह के सम्बन्ध में प्रारम्भिक विचार

(क) 'समूह' किसे कहते हैं—'समूह' सामाजिक-प्राणियों के उस संग्रह को कहते हैं, जो आपस में 'सामाजिक-सम्बन्ध' स्थापित कर लेते हैं। 'सामाजिक-सम्बन्ध' स्थापित करने का क्या अर्थ है? साठ-सत्तर बरस के कुछ लोग हैं, उनका आपस में कोई सम्बन्ध नहीं, अतः उसे 'समूह' नहीं कहेंगे; पचास-साठ रुपये की आमदनी वालों का एक तबका है, परन्तु उनका भी आपस में कोई सामाजिक-सम्बन्ध नहीं है, अतः उसे भी 'समूह' नहीं कहेंगे। ये ही साठ-सत्तर बरस के लोग अगर ऐसा सम्मेलन करें, जिसमें इसी आयु के बूढ़े आकर अपना-अपना अनुभव सुनाने लगें, या पचास-साठ रुपये की आमदनी के लोग अपनी तनख्वाह बढ़ाने के लिए आन्दोलन शुरू कर दें, तो ये 'समूह' बन जायेंगे, इसलिए क्योंकि उनका आपस में सामाजिक-सम्बन्ध स्थापित हो गया। 'समूह' (Group) बनने में आधारभूत वस्तु 'सामाजिक-सम्बन्ध' (Social relationship) है। यह 'सामाजिक-सम्बन्ध' कैसे पैदा होता है, इसका मनोवैज्ञानिक-आधार क्या है?

(ख) 'समूह' का मनोवैज्ञाजिक आधार क्या है?—'समूह' (Group) प्राणियों में 'सामाजिक-सम्बन्ध' उत्पन्न हो जाने से बनता है, परन्तु 'सामाजिक-सम्बन्ध' के उत्पन्न होने का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है?

मनुष्य जो-कुछ करता है किसी 'स्वार्थ' (Interest) से करता है। 'स्वार्थ' को हम दो दृष्टियों से देख सकते हैं—'एक-सा स्वार्थ' (Like Interest) और 'एक-स्वार्थ' (Common interest)। 'एक-सा' (Like) और 'एक' (Common) में यह फ़र्क है कि 'एक-सा' (Like) में एकता होते हुए भी भिन्नता है, 'एक' (Common) में एकता ही है, भिन्नता नहीं है। जो 'स्वार्थ' व्यक्ति-व्यक्ति का अलग-अलग है, उसका अपना निजी है, परन्तु एक-दूसरे से मिलता-जुलता है, वह 'एक-सा' (Like) है, जो सब का मिलकर बनता है,

वह 'एक' (Common) है। हर-एक व्यापारी मुनाफ़ा चाहता है, यह सब का अपना अलग-अलग, निजी स्वार्थ है, एक-दूसरे के स्वार्थ से मिलता-जुलता है, इसे 'एक-सा स्वार्थ' (Like interest) कहेंगे, परन्तु जब कई व्यापारी एक-से स्वार्थ के कारण मिलकर साझेदारी करेंगे, तब उनका स्वार्थ 'एक-सा' न रहकर 'एक-स्वार्थ' (Common interest) हो जायगा। पुरुष तथा स्त्री—इन दोनों का 'एक-सा' स्वार्थ है कि उन्हें रहने को मकान हो, खाने को रोटी हो, पहनने को कपड़ा हो, परन्तु इस 'एक-से'-स्वार्थ से 'एक'-स्वार्थ उत्पन्न हो जाता है, और वे 'परिवार' के 'समूह' को जन्म दे देते हैं। प्रत्येक देश का स्वार्थ है कि उसके यहाँ शान्ति रहे। यह 'एक-सा' स्वार्थ है। इस 'एक-से' स्वार्थ से संयुक्त-राष्ट्र-संघ नाम की 'एक' संस्था उत्पन्न हो गई। सामाजिक-प्रक्रिया की दिशा 'एक-से'-स्वार्थ को 'एक'-स्वार्थ बनाना है। इसी मनोवैज्ञानिक-प्रक्रिया में जब 'एक-से' लोग 'एक' हो जाते हैं, तब 'समूह' (Group) उत्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से 'समूह' (Group)—यह 'एक-से' (Like) लोगों में 'एक' (Common) होने के 'सामाजिक-सम्बन्ध' (Social relation) का नाम है। अगर मनुष्य 'एक-से' (Like) से 'एक' (Common) होने का प्रयत्न न करे, तो 'समूह' उत्पन्न न हो।

'एक-से' (Like) से 'एक' (Common) होने की प्रक्रिया जन्म से ही शुरू हो जाती है। बच्चा पहले-पहल अपने को ही संसार का केन्द्र समझता है। जैसे बिस्तर उसके सोने के लिए है, जैसे बोतल उसके दूध पीने के लिए है, वैसे उसके माता-पिता, उसके चारों तरफ़ की दुनिया, सब उसी के लिए है। यह 'स्व-केन्द्रीय' (Egocentric) अवस्था है। धीरे-धीरे यह अवस्था बदलने लगती है। वह देखने लगता है कि जैसे वह एक व्यक्ति है, वैसे दूसरों में भी स्वतंत्र व्यक्तित्व है, जैसे वह दूसरों से आशा करता है, वैसे दूसरे भी उससे आशा करते हैं। दूसरों के स्वतंत्र व्यक्तित्व का ज्ञान उसमें 'स्व'-'पर' भावना को उत्पन्न कर देता है, वह समझने लगता है कि जैसे संसार में वह है, वैसे दूसरे भी हैं। जब तक उसमें दूसरों के स्वतन्त्र-व्यक्तित्व का ज्ञान नहीं था, तब तक उसकी दृष्टि में 'स्व' के सिवाय किसी अन्य ऐसे पदार्थ की सत्ता नहीं थी जिसमें उसी की तरह का 'स्व' हो। अब वह चारों तरफ़ 'स्व'-ही-'स्व', 'व्यक्तित्व'-ही-'व्यक्तित्व' देखता है। 'स्व' की भावना 'अहम्' (I) का ज्ञान है, 'पर' की भावना 'सः' अर्थात् उस (He) का ज्ञान है, परन्तु 'पर' अर्थात् 'दूसरा' भी उसे दो तरह का दीखने लगता है। एक 'पर' वह, जो अपने-जैसा है, अपने माता-पिता, अपने सगे-सम्बन्धी, जो अपने से सहानुभूति रखते हैं; दूसरा 'पर' वह, जो वास्तव में पर है, जो उससे या तो किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखता, या सम्बन्ध रखता है तो लड़ने-झगड़ने का, असहानभूति का, शत्रुता का सम्बन्ध रखता है। ऐसी स्थिति में बच्चा क्या करता है? वह अपने से सहानुभूति रखने वालों के साथ अपने को एक बना लेता है, सहानुभूति न रखने वालों से अपने को पृथक् समझने

लगता है। यह प्रक्रिया 'अहम्' (I) से 'वयम्' (We) और 'सः' (He) से 'ते' (They) की प्रक्रिया है। अब जितने 'अपने-से' थे, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी सब 'अपने' हो जाते हैं, 'मैं' की परिभाषा में सोचने के स्थान में बच्चा 'हम' की परिभाषा में सोचने लगता है, और जितने 'पर' थे, वे पराये हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में 'एक-से' (Like) से 'एक' (Common) उत्पन्न हो जाता है, 'स्व-केन्द्रीयता' (Egocentricity) से 'समाजीकरण' (Socialization) हो जाता है, 'समूह' बन जाता है।

(ग) समूह के दो भेद––'अंतःसमूह' तथा 'बहिःसमूह' (In-groups and Out-groups)––हमने देखा कि 'समूह' कैसे बना। बच्चे में पहले 'मैं' का विचार उत्पन्न हुआ था। 'समाजीकरण' (Socialization) की प्रक्रिया से अपने को अपने नजदीकी लोगों के साथ एक कर देने से 'मैं' का 'हम' बन गया, और पहले जहाँ वह 'मैं' के लिए सब-कुछ करता था, वैसे अब 'हम' के लिए, अपने नजदीकी समाज के लिए, अपने 'समूह' के लिए वह सब-कुछ करने को तैयार हो गया। परन्तु 'मैं' (I) के साथ उसने 'वह' (He) को भी तो सीखा था। जैसे 'मैं' का 'हम' बन जाता है, वैसे 'वह' का 'वे' बन जाता है, और बालक के लिए समाज में दो प्रकार के 'समूह' उत्पन्न हो जाते हैं। एक वे 'समूह', जो 'मैं' और 'हम' की कोटि में आ जाते हैं––इन्हें 'अन्तःसमूह' (In-groups) कहते हैं, दूसरे वे समूह जो 'वह' और 'उन' की श्रेणी में आ जाते हैं––इन्हें 'बहिःसमूह' (Out-groups) कहते हैं। समूहों का यह वर्णन पहले-पहल १९०७ में समनेर (Sumner) ने किया था। 'अन्तःसमूह' (In-groups) तथा 'बहिःसमूह' (Out-groups) का आपस में विरोधी-सम्बन्ध होता है। मुसलमानों के लिए मुसलमान 'अन्तःसमूह' है, काफ़िर 'बहिःसमूह'; हिन्दुओं के लिए हिन्दू 'अन्तः-समह' है, म्लेच्छ या यवन 'बहिःसमूह'; कम्यूनिस्टों के लिए रशियन 'अन्तःसमूह' है, अमरीका-इंग्लैण्ड आदि 'बहिःसमूह'। 'अन्तःसमूह' (In-groups) के लिए हमारी सहानुभूति की भावना होती है, और इस समूह के अन्य व्यक्तियों के प्रति हम अपना-पन अनुभव करते हैं, 'बहिःसमूह' (Out-groups) के लिए उदासीनता की भावना रहती है, कभी-कभी विरोध की भावना भी हो जाती है। 'अन्तःसमूह' का 'बहिःसमूह' से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि कभी-कभी 'अन्तःसमूह' की रक्षा के लिए––'इस्लाम खतरे में'––इस प्रकार के नारे लगने लगते हैं, इस नारे में इस्लाम 'अन्तःसमूह' है, और बाकी सब लोग जिन से ख़तरा है 'बहिःसमूह' हैं। 'अन्तःसमूह' के प्रति अगाध-प्रेम को 'स्व-जाति-केन्द्रिता' (Ethnocentrism) कहते हैं। इस भाव में पगे हुए लोग 'हमारी जाति संसार की सर्व-श्रेष्ठ जाति है'––'हम संसार में शासन करने के लिए पैदा हुए हैं'––इस प्रकार की बातें किया करते हैं। 'अन्तःसमूह' (In-groups) तथा 'बहिःसमूह' (Out-groups) प्रारम्भिक अविकसित-समाजों और आजकल के विकसित-समाज दोनों में पाये जाते हैं।

२ः समूह की परिभाषा

ऊपर जो-कुछ कहा गया है उस सब के आधार पर समूह की परिभाषा भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न की है जिसमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं:—

[क] मैंक आइवर की व्याख्या—"समूह से हमारा अभिप्राय मनुष्यों के किसी भी ऐसे संग्रह से है जो आपस में एक-दूसरे के साथ सामाजिक-सम्बन्ध में आ जाते हैं।"

[ख] ऑगबर्न तथा निमकॉफ की व्याख्या—"जब भी दो या अधिक व्यक्ति एक-दूसरे के निकट आकर एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, तो उन्हें सामाजिक-समूह कहा जा सकता है।"

३ः 'प्रथम' तथा 'द्वितीय' समूह
(Primary and Secondary Groups)

प्रत्येक समाज के अपने-अपने 'अन्तःसमूह' (In-groups) होते हैं। अच्छे समाज हों, बुरे समाज हों, अच्छों के अच्छे और बुरों के बुरे 'अन्तःसमूह' होंगे। धर्मात्मा लोगों के लिए'एक-स्वार्थ' (Common interest) वाले अपने जैसे धर्मात्मा लोग 'अन्तःसमूह' (In-groups) हैं; चोरों-डकैतों के लिए, साथ देने वाले, अपने जैसे चोर-डकैत 'एक-स्वार्थ' रखते हैं, अतः उनके वे 'अन्तः समूह' (In-groups) हैं। 'अन्तःसमूह' का मतलब अच्छे लोगों से ही नहीं है, अच्छे हों या बुरे हों, जिनका अपने-जैसा 'स्वार्थ' (Interest) होगा, वे 'अन्तः समूह' के कहलायेंगे, जिनका अपने-जैसा 'स्वार्थ' नहीं होगा, वे 'बहिःसमूह' के कहलायेंगे। 'अन्तःसमूह' तथा 'बहिःसमूह' वास्तव में एक ही चीज हैं, आपस में एक दूसरे की अपेक्षा से वे 'अन्तः' या 'बहिः' कहलाते हैं, ये दो चीजें नहीं हैं, एक ही वस्तु के दो पहलू हैं, जो 'अन्तःसमूह' है वही 'बहिःसमूह' है, चोरों का जो समूह है वह चोरों की दृष्टि से 'अन्तःसमूह' है, परन्तु वही धर्मात्माओं की दृष्टि से 'बहिःसमूह' है। आजकल के विकसित-समाज में प्रत्येक व्यक्ति के कई 'अन्तःसमूह' (In-groups) हो सकते हैं। एक व्यक्ति आर्य-समाज का भी सदस्य है, कांग्रेस का भी सदस्य है, क्रिकेट-क्लब का और सिटी-बोर्ड का भी सदस्य है। उसके लिए ये सब 'अन्तःसमूह' हैं। समूह अपने प्रत्येक व्यक्ति से आशा रखता है कि वह समूह के रीति-रिवाजों, रूढ़ियों, प्रथाओं आदि का पालन करे। कभी-कभी ये रूढ़ियाँ एक-दूसरे के विरुद्ध भी जा पड़ती हैं। एक संस्था के

[क] "By group we mean any collection of human beings who are brought into social relationships with one another."
—*MacIver.*

[ख] "Whenever two or more individuals come together and influence one another, they may be said to constitute a social group."
—*Ogburn and Nimcoff.*

रीति-रिवाज दूसरी संस्था के साथ टक्कर खा सकते हैं। उस समय व्यक्ति के अपने मुख्य समूह की दृष्टि से खरे-खोटेपन की परख हो जाती है। इन 'अन्तः' अथवा 'बहिः' समूहों के दो भाग हैं---'प्रथम' तथा 'द्वितीय'। समाज में पहले-पहल जो समूह बनते हैं उन्हें 'प्रथम-समूह' (Primary group) तथा प्रथम के बाद जो समूह बनते हैं उन्हें 'द्वितीय-समूह' (Secondaty group) कहते हैं। पहले हम 'प्रथम-समूह' का वर्णन करेंगे, फिर 'द्वितीय-समूह' का और फिर इन दोनों समूहों के हानि-लाभ पर विचार करेंगे।

(क) प्रथम-समूह (Primary group)---समाज में छोटे-छोटे समूह भी होते हैं, बड़े-बड़े भी। प्रारम्भिक-समाज में छोटे समूह ही थे। छोटे समह में हर-एक व्यक्ति हर दूसरे व्यक्ति को जानता है, बड़े समूहों में ऐसा नहीं होता। बड़े समूहों के विषय में हम आगे लिखेंगे, अभी हमें छोटे समूहों के विषय में विचार करना है। छोटे समूहों में भी सबसे पहला छोटा-सा समूह 'परिवार' का होता है। बच्चा अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्ष अपने माता-पिता की परिधि में व्यतीत करता है। इस प्राथमिक-समूह में ही बच्चा अपने सामाजिक-व्यवहार सीखता है। इस समूह के 'प्रतिमान' (Patterns) उसके जीवन के आधार बनते हैं। परिवार की तरह दूसरे छोटे समूहों में भी समूह के सब व्यक्ति एक-दूसरे से परिचित होते हैं। परिवार तथा ये समूह 'आमने-सामने के समूह' (Face-to-face groups) कहलाते हैं। इनमें व्यक्ति एक-दूसरे के पास बैठ कर बातें करते हैं, हंसी-मज़ाक, प्रेम, मुबाहिसा, विचार-विनिमय---सब आमने-सामने बैठकर होता है। बड़ी-बड़ी फ़ैक्टरियों, बड़े-बड़े राजनैतिक संगठनों में भी छोटे-छोटे समूह बन जाते हैं, जिनमें समूह के लोग खुलकर बातें करते हैं, दूसरे के दिल की सुनते हैं, अपने दिल की सुनाते हैं। इन छोटे समूहों में नियम-उपनियम काम नहीं करते, ये मनुष्य के मनुष्य के साथ उस मेल-मिलाप के सूचक हैं, जो किसी प्रकार के बंधन से बँधा हुआ नहीं है। जहाँ लोग एक-दूसरे को नहीं जानते, वहाँ दिल से दिल बात नहीं करता, वहाँ मन में कुछ और वाणी में कुछ और होता है, परन्तु जहाँ कुछ छिपाकर नहीं रखा जाता है, वहाँ मन और वाणी से एक ही बात निकलती है। 'आमने-सामने के समूहों' (Face-to-face groups) में यही बात होती है। 'आमने-सामने का समूह' सामाजिक-रचना की इकाई है। समाज में जितने आगे-आगे समूह बने हैं---परिवार (Family), गोत्र (Clan), वन्य-जाति (Tribe), जाति (Caste), नस्ल (Race), कौम (Nation)---इन सब से पहले 'आमने-सामने का समूह' बना, और इसी से आगे-आगे के समूह उत्पन्न हुए। 'आमने-सामने के समूह' (Face-to-face group) में क्या होता है? इसमें हम 'एक-से स्वार्थ' (Like interest) को छोड़ कर 'एक-स्वार्थ' (Common interest) की तरफ़ चल पड़ते हैं। जबतक एक-दूसरे के सामने नहीं बैठते, घर बैठे अपनी-अपनी खिचड़ी पकाया करते हैं, तब तक हम एक-दूसरे के निकट भी नहीं जाते। आमने-सामने बैठने से, एक-दूसरे के

निकट आन से, अपनी बात दूसरे को बतलाने से 'एक-से' (Like) की जगह 'एक' (Common) की भावना पैदा हुई, छोटा समूह मिटा, बड़ा समूह बना, परिवार से गोत्र, गोत्र से जाति, जाति से नस्ल, नस्ल से राष्ट्र और राष्ट्र से अन्तर्राष्ट्रीयता का विचार उत्पन्न हुआ, इसलिए सम्पूर्ण समूहों का आधार-भूत समूह 'आमने-सामने का समूह' (Face-to-face group) ही है, और सामाजिक रचना में सबसे पहले होने के कारण १९०९ में इसे कूले (Cooley) ने 'प्रथम-समूह' (Primary group) का नाम दिया था। खेल के मैदान में, गप्पाष्टक की मण्डली में, दोस्तों की मजलिस में जब लोग मिल कर बैठते हैं, जिसमें वे नियमों के किसी बन्धन से बँधे नहीं होते, यह डर नहीं होता कि कौन क्या कहेगा, जिसमें मनुष्य मनुष्य के साथ मानवीयता के स्तर पर आकर मिलता है, —यह-सब मानव-समाज के 'प्रथम-समूह' (Primary group) का नमूना है। इसका सबसे बड़ा गुण 'स्वाभाविकता' (Spontaniety) है। जो-कुछ मन में होता है, वह सहज स्वभाव से, बिना किसी लाग-लपेट के सामने आ जाता है। 'आमने-सामने' के इस 'समूह' में, जिसे हमने 'प्रथम-समूह' (Primary group) का नाम दिया है, प्रेम, मित्रता, घनिष्ठता, भावुकता आदि का समावेश रहता है, इसलिए इस प्रकार के समूह में उलझनें पैदा नहीं होतीं, होती हैं तो जल्दी सुलझाई जा सकती हैं। इस प्रेम-भावना के कारण गाँवों का वातावरण सहानुभूतिपूर्ण होता है, शहरों का वातावरण उदासीनतामय होता है, और इसी कारण गाँव वालों की दृष्टि से शहर एक-प्रकार का 'शीत-जगत्' (Cold world) है। यह ठीक है कि कभी-कभी आमने-सामने होने के कारण ही कई उलझनें ज्यादा उलझ भी जाती हैं, तू-तू, मैं-मैं इतनी बढ़ जाती है कि मामला विकट रूप धारण कर लेता है। 'प्रथम-समूह' (Primary group) एक प्रकार का 'प्रत्यक्ष-सम्बन्ध' (Direct contact) है, 'अप्रत्यक्ष-सम्बन्ध' (Indirect Contact) नहीं, 'वैयक्तिक-सम्बन्ध' (Personal relation) है, 'अवैयक्तिक-सम्बन्ध' (Impersonal relation) नहीं।

(ख) द्वितीय-समूह (Secondary group)—बालक 'प्रथम-समूह' (Primary group) में जन्म लेता है, परन्तु उसे जीवन तो 'द्वितीय-समूह' (Secondary group) में बिताना होता है। 'प्रथम' तथा 'द्वितीय'—समूह में क्या भेद है? जैसा हम देख आये हैं, 'आमने-सामने के समूह' को 'प्रथम-समह' कहते हैं, जिस समूह में व्यक्तियों का आमने-सामने का सम्बन्ध नहीं होता, प्रत्यक्ष नहीं अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, उसे 'द्वितीय-समूह' कहते हैं। बच्चा बड़ा होकर स्कूल में भर्ती हुआ। घर में माँ-बाप के साथ उसका सीधा, प्रत्यक्ष, आमने-सामने का सम्बन्ध था, स्कूल में प्रधानाध्यापक से उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं, स्कूल के प्रबन्धकर्त्ता को तो वह जानता भी नहीं, परन्तु स्कूल के सारे संगठन का उस पर प्रभाव पड़ता है। स्कूल के प्रधानाध्यापक, प्रबन्ध आदि के साथ उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। यहाँ परिवार 'प्रथम-समूह' है, स्कूल

'द्वितीय-समूह' है। जब बालक पढ़-लिख कर विशाल समाज में प्रवेश करता है, तो अगर किसी बड़ी कम्पनी में नौकरी करता है, तो वहाँ भी उसका 'द्वितीय-समूह' के साथ ही सम्बन्ध होता है। 'द्वितीय-समूह' इसलिए क्योंकि कम्पनी का एक बड़ा संगठन है, उसमें कई डायरेक्टर हैं, एक मैनेजिंग-डायरेक्टर है, वह उनमें से किसी को भी नहीं जानता, परन्तु उसके वेतन, छुट्टी आदि सब बातों का नियन्त्रण वही लोग करते हैं, उनके साथ उसका आमने-सामने का कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु 'प्रत्यक्ष तथा वैयक्तिक' (Direct and personal) संबंध न होते हुए भी उसका उनके साथ 'अप्रत्यक्ष' तथा अवैयक्तिक' (Indirect and impersonal) सम्बन्ध है। छोटे-समूहों में समूह के छोटा होने के कारण प्रत्यक्ष, वैयक्तिक तथा आमने-सामने का सम्बन्ध हो सकता है, बड़े समूहों के बड़ा होने के कारण इस प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

(ग) 'प्रथम' तथा 'द्वितीय'-समूह के हानि-लाभ--'प्रथम-समूह' (Primary group) में व्यक्ति अपने को ज्यादा सुरक्षित पाता है। वह समूह के हर व्यक्ति को निकट-से जानता है, इसलिए जब भी उसे कठिनाई का सामना करना पड़े, दूसरे उसकी सहायता के लिए तैयार रहते हैं। उसे दूसरों के साथ, और दूसरों को उसके साथ सहानुभूति रहती है। प्रारम्भिक-समाज में व्यक्ति बचपन में 'प्राथमिक-समूह' (Primary group) में पैदा होता है, बड़ा होने पर उसे उन्हीं लोगों में जीवन बिताना होता है, अतः उसे जीवन में विषमता का सामना नहीं करना पड़ता। सहानुभूति और सुरक्षा के अतिरिक्त 'प्रथम-समूह' में व्यक्ति की कार्य-शक्ति भी बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ, अगर कुछ विद्यार्थी एक छोटा-सा समूह बनाकर पढ़ने लगते हैं, तो अलग-अलग हर-एक जितना पढ़ सकता, उससे ज्यादा पढ़ डालते हैं। दूसरा कितना पढ़ेगा, वह आगे न निकल जाय, इस दृष्टि से हर व्यक्ति आगे निकलने की कोशिश करता है। अगर किसी काम में कई व्यक्ति आमने-सामने बैठते हैं, तो दूसरों की दृष्टि सामने आ जाती है, दूसरे क्या कहेंगे--यह दृष्टि-कोण हमारी अपने काम में ही नई दिलचस्पी पैदा कर देता है। 'प्रथम-समूह' में व्यक्ति में नई कार्य-शक्ति, नवीन-स्फुरणा का यही कारण है। 'प्रथम-समूह' में अगर उसे किसी के प्रति या किसी को उसके प्रति कोई शिकायत होती है, तो वह पारस्परिक बातचीत से, या दूसरों के बीच में पड़ जाने से आसानी से दूर हो जाती है, परन्तु आमने-सामने की बात से कभी-कभी क्रोध की भावना प्रबल भी हो जाती है, और मामला बढ़ते-बढ़ते उग्र रूप धारण कर लेता है। इसके अतिरिक्त 'प्रथम-समूह' छोटे दायरे तक ही बन सकता है, बड़े दायरे में यह सम्भव नहीं होता कि सब व्यक्तियों का आमने-सामने का, जान-पहचान का सम्बन्ध हो सके।

'प्रथम-समूह' से जब काम नहीं चलता, तभी 'द्वितीय-समूह' (Secondary group) बनता है। जब समूह बहुत बड़ा हो जाता है, तब यह कैसे हो सकता

है कि हर व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ निकटता का सम्बन्ध हो ? द्वितीय-समूह में आदमी इतने ज्यादा होते हैं कि अगर हर व्यक्ति की अपनी-अपनी समस्याओं को सुलझाया जाय तो काम ही न चले। इसलिए 'द्वितीय-समूह' में व्यक्तियों की आपस की बातचीत के स्थान में नियमों-उपनियमों से काम चलता है। आमने-सामने का परिचय न होने पर भी एक-समान नियमों से सब शासित होते हैं, कहीं दया या अपवाद का स्थान नहीं होता, और इन नियमों द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का संगठन के हर व्यक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसमें किसी की रियायत नहीं होती, एक-से नियम होने के कारण सब से एक-सा व्यवहार होता है, परन्तु इसका यह गुण होते हुए यही इसका अवगुण बन जाता है। इसमें दफ़्तरशाही इतनी बढ़ जाती है कि मनुष्य को मनुष्य समझने के स्थान में एक चीज समझा जाने लगता है। अगर किसी के साथ अन्याय हो जाता है, तो उसके लिए उसे दूर कराना अत्यन्त कठिन और व्यय-साध्य हो जाता है। एक सरकारी नौकर है, उसके पाँच बच्चे हैं, जहाँ वह रहता है वहाँ के स्कूल में वे बच्चे दाखिल हैं। एकदम उसका तबादला हो गया। अब उसकी स्त्री मारी-मारी फिरती है। किसको अपना रोना सुनाये, किसे कहे कि बच्चों के इम्तिहान हो रहे हैं, बाद को तबादला कर देना। अगर उसकी किसी के पास पहुँच हो, तो उसकी सुनवाई हो जाती है, नहीं तो उसे और उसके बच्चों को दफ़्तरशाही का शिकार होना पड़ता है। कभी-कभी किसी अफ़सर के पास पहुँच हो जाने से उसकी समस्या हल हो जाती है, परन्तु यह तरीका 'प्रथम-समूह' की श्रेणी में आ जाता है। इसी का परिणाम है कि बड़े-बड़े संगठन जब व्यक्तियों की समस्याओं को नियमों की उलझनों में पड़कर हल नहीं करते तब क्रांतियाँ हो जाती हैं। जनता में प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है जो उन संगठनों को तोड़ देती है, नये संगठन बना देती है। जनसत्तावाद में इसी लिए हर पाँचवें साल नया चुनाव होना जरूरी है। जनता को फिर-से देखने का मौका होता है कि उनके चुने हुए व्यक्ति समझदारी से काम करते हैं, या नहीं। इसके अतिरिक्त 'द्वितीय-समूह' में भीतर-भीतर अनेक 'प्रथम-समूह' की तरह के छोटे-छोटे समूह सदा बनते रहते हैं। बड़ी-बड़ी फ़ैक्टरियों में भी दस-बीस छोटे-छोटे समूह होते हैं, जिनमें लोग आपस में दिल खोल कर अपनी समस्याओं को सुलझाया करते हैं। आजकल तो इस दिशा की तरफ़ फ़ैक्टरियों के मालिकों का भी ध्यान जा रहा है। वे अपने-अपने क्षेत्र में मजदूरों की क्लबों को प्रोत्साहन देते हैं, और इनके साथ अपना सम्पर्क बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं। स्कूलों-कालेजों में भी यूनियन बनी होती हैं। समझदार प्रिंसिपल वही है जो विद्यार्थियों के अपने बनाये हुए इन संगठनों के साथ अपना सम्पर्क बनाये रखता है। कालेज तो 'द्वितीय-समूह' है, परन्तु विद्यार्थियों की अपने-आप बनायी हुई यूनियन या उनके दूसरे छोटे-छोटे समूह 'प्रथम-समूह' हैं, और इनके सम्पर्क में रहने से प्रिंसिपल अपनी बहुत-सी समस्याओं को सुलझा सकता है। कालेज के प्रिंसिपल द्वारा

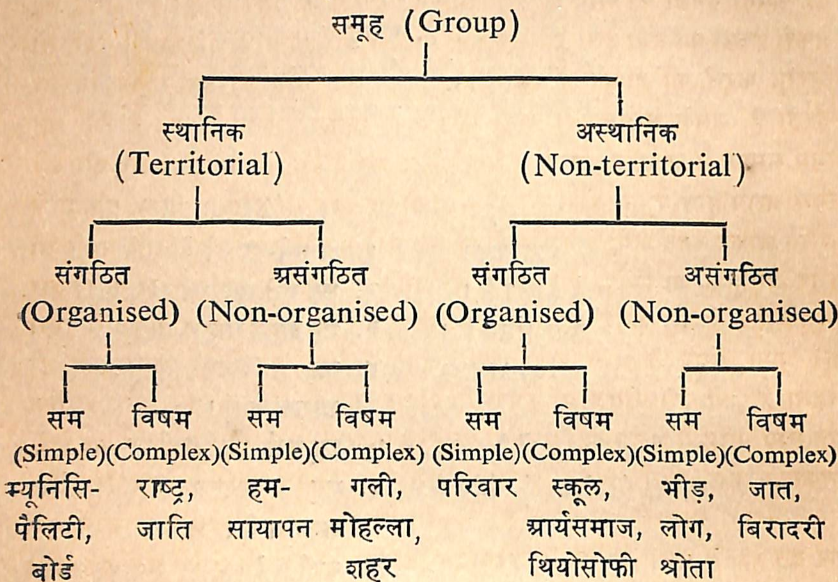
बनाई हुई यूनियन और विद्यार्थियों की अपने-आप बनाई हुई यूनियन में यही भेद है कि पहली 'द्वितीय-समूह' (Secondary group) का अंग है, और दूसरी 'प्रथम-समूह' (Primary group) का अंग है। 'प्रथम-समूह' में आमने-सामने की बात का होना अधिक आसान है, अतः वह संस्था की समस्याओं को ज्यादा आसानी से सुलझा सकती है, परन्तु कभी-कभी अनुभव यह भी बतलाता है कि इसमें उलझनों के उत्पन्न होने की भी सम्भावना हो जाती है। 'प्रथम' तथा 'द्वितीय' समूह के भेदों को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है :—

प्रथम-समूह (Primary group)	द्वितीय-समूह (Secondary group)
१. आमने-सामने की बातचीत।	१. आमने-सामने के मौके नहीं आते।
२. यह छोटे समूह में बनता है।	२. यह बड़े समह में बनता है।
३. यह गाँव में हर जगह होता है।	३. यह शहर में हर जगह होता है।
४. यह सरल (Simple) समाज में है।	४. यह विषम (Complex) समाज में है।
५. यह प्राथमिक-समाज में है।	५. यह वर्त्तमान विकसित-समाज में है।
६. यह प्रत्यक्ष (Direct) संबंध है।	६. यह अप्रत्यक्ष (Indirect) सम्बन्ध है।
७. यहाँ 'स्वाभाविकता' (Spontaniety) का सम्बन्ध है।	७. यहाँ देख-भाल कर बात की जाती है, 'स्वाभाविकता' नहीं होती।
८. यहाँ वैयक्तिक-सम्बन्ध है।	८. यहाँ नियम-उपनियमों का सम्बन्ध है।
९. यहाँ प्रेम, मैत्री, सहानुभूति है।	९. यहाँ दफ़्तरीपन चलता है।
१०. यह घरेलू (Informal) है।	१०. यह नियमित (Formal) है।
११. परिवार, हमसाया (Neighbours), गाँव के लोग, क्लब, नगरपालिका, छोटी-छोटी दुकानें, मन्दिर आदि इसके दृष्टान्त हैं।	११. राष्ट्र, राजनैतिक पार्टी, शहर के बड़े-बड़े व्यापार, बड़े-बड़े संगठन, स्कूल, कालेज आदि इसके दृष्टान्त हैं।

४. समूह का वर्गीकरण

'समूह' का भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न प्रकार का वर्गीकरण किया है। निम्न वर्गीकरण में 'समूह' को पहले दो हिस्सों में बाँटा गया है। एक ऐसा समूह जिसका किसी विशेष स्थान से सम्बन्ध है, 'स्थानिक' (Territorial), तथा दूसरा वह जो स्थान-विशेष से बंधा हुआ नहीं है, 'अस्थानिक' (Non-territorial)। स्थान से बंधे हुए और न बंधे हुए—दोनों को फिर 'संगठित' (Organised) तथा 'असंगठित' (Unorganised)—इन दो हिस्सों में बाँटा गया है। 'संगठित' तथा 'असंगठित' को फिर 'सम' (Simple) तथा 'विषम' (Complex) में बाँट दिया गया है। इन सब में 'अन्तःसमूह' (In-groups) तथा 'बहिःसमह'

(Out-groups) हो सकते हैं। इनमें से कुछ तो 'प्रथम-समूह' (Primary groups) हैं, जो 'द्वितीय-समूह' (Secondary groups) हैं उनमें भी 'प्रथम-समूह' (Primary group) बनते रहते हैं। चित्र में इस वर्गीकरण को निम्न प्रकार प्रकट किया जा सकता है :—



५. समूह के विशेष गुण
(Characteristics of Groups)

'समूह' में व्यक्ति 'मैं' को भूलकर, 'हम' की भावना से काम करता है। 'हम' की भावना के आते ही व्यक्ति की अपेक्षा समूह में कुछ ऐसे गुण आ जाते हैं, जिनकी तरफ़ ध्यान देना आवश्यक है। वे निम्न हैं :—

(क) समूह का क्षेत्र विस्तृत है—'समूह' में व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि वह अपने से किसी बड़े दायरे का अंग है, ऐसे दायरे का जिसमें उसकी वैयक्तिक इच्छा काम नहीं करती। कभी-कभी अपनी इच्छा के विरुद्ध भी उसे काम करना पड़ता है। अगर किसी गली-मोहल्ले में भारत-सेवक-समाज के बीस-तीस सदस्य झाड़ू देने लगें, तो न चाहते हुए भी मोहल्ले वाले इन सदस्यों के साथ काम में जुट जाते हैं, और फिर सेवा का जो आनन्द समाज के लोगों को आ रहा होता है, वही इन उदासीन व्यक्तियों को भी आने लगता है। इससे प्रतीत होता है कि 'समूह' की सत्ता 'व्यक्ति' से स्वतंत्र है, समूह व्यक्ति से बड़ा है, जो काम व्यक्ति स्वतंत्र रूप से नहीं करता वही समूह में करने लगता है। यह जरूरी नहीं कि समूह में व्यक्ति अच्छा काम ही करे—अच्छा भी, बुरा भी—समह में व्यक्ति अपनी इच्छा को नीचे रख देता है, समूह की इच्छा के साथ चलने लगता है।

(ख) समूह व्यक्ति पर प्रतिबन्ध लगाता है—समूह व्यक्ति पर प्रतिबन्ध लगा देता है, व्यक्ति जैसा चाहे वैसा नहीं कर सकता। अगर व्यक्ति की इच्छा और समूह की इच्छा में विरोध है, तो व्यक्ति के सामने दो रास्ते ह। या तो वह अपनी इच्छा को मार दे, या समह की इच्छा का विरोध करे। अगर वह अपनी इच्छा को दबा देता है, समूह के साथ चलने लगता है, तो ठीक, नहीं तो विरोध करने की हालत में क्या होता है? जो समूह की इच्छा का विरोध करता है, उसके सामने दो रास्ते खुले हैं। पहला रास्ता तो यह है कि वह स्वयं समाज से अलग हो जाय, दूसरा रास्ता यह है कि समाज उसे अलग कर दे। स्वयं अलग होने के भी दो रास्ते हैं—या तो वह साधु-संन्यासी हो जाय, दुनिया से अलग जाकर रहने लगे, न वह किसी से कुछ चाहे न कोई उससे कुछ चाहे, या किसी दूसरे समूह से जा मिले, ऐसे समूह से जिसके विचारों के अनुसार इसके विचार मिलते हैं। परन्तु अगर यह साधु-संन्यासी होकर या किसी दूसरे समूह से मिल कर अपने समह से अलग नहीं होता, अपने विचारों को लेकर समाज में ही रहता है, तो उसे पागल या अपराधी घोषित कर दिया जाता है, और क्योंकि वह स्वयं समूह से अलग नहीं हो गया इसलिए समूह ही उसे अपने से अलग कर देश-निकाला, जेल, फाँसी, आदि की सज़ा देकर उससे अपने को मुक्त कर लेता है।

(ग) समूह के साथ एकीभाव—जो व्यक्ति अपने को समूह के साथ एक कर देते हैं, वे समूह से ज्यादा-से-ज्यादा फ़ायदा उठा सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की अपने को समह के साथ अभिन्न करने की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। समूह के लिए जो अपने को बिलकुल अर्पण कर देता है, वह समूह का मुखिया हो जाता है। समूह में बैठ कर उसके सब सदस्य एक प्रकार की समता, घरेलूपन का अनुभव करते हैं, समूह से बाहर मनुष्य पानी से बाहर तड़पती मछली का-सा अनुभव करने लगता है।

(घ) विभिन्न-समूह के साथ भेदभाव—एक समह अपने से भिन्न समूह को तिरछी आँखों से देखता है। समूहों में 'मेरा-तेरा' की भावना बनी रहती है। जब एक व्यक्ति अपने समूह को छोड़ कर दूसरे समूह में जाता है, तब उसे आस्मान पर चढ़ा दिया जाता है। इसका कारण यही है क्योंकि जिस समूह में वह शामिल होता है वह इसे अपनी विजय समझता है। ऐसे व्यक्ति को आस्मान पर चढ़ाना उसका सम्मान नहीं, समूह का अपनी विजय मनाना है।

(ङ) आदान-प्रदान—समूह में 'आदान-प्रदान की भावना' (Reciprocity) बनी रहती है। परिवार में पिता बच्चे की रक्षा करता है, बच्चा पिता की आज्ञा का पालन करता है, फ़ैक्टरी में मजदूर मेहनत करके काम करता है, मालिक उसे पैसा देता है। समूह के लिए आदान-प्रदान आवश्यक है। जहाँ आदान-प्रदान में कहीं यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि मैं ज्यादा दे रहा हूँ, मेरे देने के मुताबिक मुझे मिल नहीं रहा, वहीं समूह में कच्चापन आ जाता है। मालिक-मजदूर का, पिता-पुत्र का, गुरु-शिष्य का झगड़ा इसीलिए तो होता

है कि मजदूर कहता है कि जितना काम मैं कर रहा हूँ उतना पैसा मुझे नहीं मिल रहा, पिता कहता है कि जो प्रेम मैंने बच्चों पर किया उसके प्रतिरूप सन्तान नहीं हुई, शिष्य कहता है कि मुझसे जितना शुल्क लिया जाता है उसके अनुसार मुझे प्रतिफल नहीं मिलता। समूह की स्थिरता बनाये रखने के लिए आदान-प्रदान में समता रखना जरूरी है।

प्रश्न

१. 'समूह' की परिभाषा क्या है? 'समूह' का मनोवैज्ञानिक-आधार क्या है?
२. 'अंतःसमूह'(In-groups) तथा 'बहिःसमूह' (Out-groups) क्या हैं?
३. 'प्रथम-समूह' (Primary group) तथा 'द्वितीय-समूह' (Secondary group) को समझाइये।
४. 'प्रथम-समूह' तथा 'द्वितीय-समूह' के क्या-क्या हानि-लाभ हैं?
५. 'प्रथम-समूह' तथा 'द्वितीय-समूह' की तुलना कीजिये।
६. समूह का वर्गीकरण कीजिये।
७. 'समूह' के क्या-क्या विशेष गुण हैं?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. 'प्रयोजन-मूलक समूहों' (Interest groups) तथा 'परिवार-मूलक-समूहों' (Familistic groups) के प्रमुख आधारों तथा लक्षणों का विवेचन कीजिये। (लखनऊ, १९५०)
२. 'प्रथम' तथा 'द्वितीय'-समूहों में भेद क्या है? प्रत्येक के नियन्त्रण की उचित विधियों का वर्णन कीजिये। (लखनऊ, १९५२)
३. "सामाजिक-समूह सामान्य-मूल्यों, पारस्परिक-कर्त्तव्यों एवं आशाओं द्वारा बंधे होते हैं"—इस कथन की व्याख्या एवं वर्णन कीजिये। (आगरा, १९५१)
४. व्यक्ति पर पड़ने वाले प्रभावों के आधार पर प्रथम तथा द्वितीय समूहों में क्या भेद है? (आगरा, १९५२)
५. "द्वितीय-समूह उस शीत-जगत् का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें, ग्रामीण-समुदाय के माता-पिता के अनुसार उनकी सन्तान घर छोड़ने के बाद जाती है।"—ऐसा क्यों है यह बतलाते हुए प्रथम तथा द्वितीय समूह में अन्तर बताइये। (आगरा, १९५६)
६. प्राथमिक-समूह का अर्थ और महत्त्व स्पष्टतया समझाइये। (राजपूताना, १९५३)
७. सम्पूर्ण सामाजिक-ढांचे में प्राथमिक समूहों का निर्माण क्यों किया जाता है? इन समूहों के सदस्यों को इस सम्बन्ध से ऐसा कौन-सा लाभ होता है जिस लाभ को वे स्वतंत्र रूप से नहीं प्राप्त कर सकते? (राजपूताना, १९५५)

२०

संस्था, समिति तथा महा-समिति

(INSTITUTION, ASSOCIATION, AND GREAT ASSOCIATION)

१: संस्था, समिति, महा-समिति का मनोवैज्ञानिक आधार

'समूह' (Group) के विषय में हम लिख आये हैं। छोटे 'समूह' से बड़े समूह बनते हैं, परिवार, संस्था, समिति, महा-समिति--सब 'समूह' से बनते हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि 'समूह' का मनोवैज्ञानिक-आधार 'स्वार्थ' (Interest) है। यह 'स्वार्थ' (Interest) समूह को बनाता है, यही परिवार, संस्था, समिति तथा महा-समिति को बनाता है। 'स्वार्थ' (Interest) तथा 'मनोवृत्ति' (Attitude) ये दोनों आपस में संबद्ध हैं। 'भय', 'प्रेम', 'सहानुभूति'--ये सब 'मनोवृत्तियाँ' (Attitudes) हैं। भय से 'शत्रु', प्रेम से 'मित्र', आश्चर्य से 'आविष्कार', सहानुभूति से 'परिवार' का सम्बन्ध है--ये शत्रु, मित्र, आविष्कार, परिवार, 'स्वार्थ' (Interests) हैं। 'स्वार्थ' तथा 'मनोवृत्ति' आपस में सम्बद्ध होते हुए भी आपस में भिन्न हैं। 'मनोवृत्ति' (Attitude) चेतना का आभ्यन्तर गुण है, इस आभ्यन्तर 'मनोवृत्ति' का 'स्वार्थ' (Interest) एक प्रकट रूप है। 'स्वार्थ' (Interest) का आधार-भूत तत्त्व 'मनोवृत्ति' (Attitude) है। चोर का भी कानून जानने में 'स्वार्थ' है, पुलिसवाले का भी, जज का भी--तीनों का 'स्वार्थ' (Interest) कानून का जानना है, परन्तु चोर की 'मनोवृत्ति' (Attitude) कानून को जान कर उसके शिकंजे से बच निकलना है, पुलिस की 'मनोवृत्ति' (Attitude) कानून को जान कर चोर को पकड़ना है, जज की 'मनोवृत्ति' (Attitude) कानून को जान कर उसके अनुसार चोर को दंड देना है। 'मनोवृत्ति' (Attitude) से 'स्वार्थ' (Interest) बनता है, और 'स्वार्थ' (Interest) से समूह, संस्था, समिति आदि का संगठन बन जाता है। 'मनोवृत्ति' (Attitude) किसी संगठन को नहीं बनाती, यह तो 'स्वार्थ' (Interest) को उत्पन्न कर देती है, और 'स्वार्थ' (Interest) भिन्न-भिन्न संगठनों को जन्म दे देता है।

'संस्था', 'समिति' तथा 'महा-समिति' में भेद

(INSTITUTION, ASSOCIATION, GREAT ASSOCIATION)

'स्वार्थ' (Interest) दो तरह का होता है: 'एक-सा-स्वार्थ' (Like interest) तथा 'एक-ही-स्वार्थ' (Common interest)। 'एक-से' अथवा 'एक-ही' स्वार्थ वाले व्यक्तियों के मिलने से जो संगठन बनता है, उसे 'समिति' (Association) कहते हैं। समाज-शास्त्र के ग्रन्थों में 'समिति (Association) तथा 'संस्था' (Institution)--ये दो शब्द बार-बार आते हैं, दोनों का आधार 'स्वार्थ' (Interest) है, परन्तु 'समिति' (Association) तथा 'संस्था' (Institution) में भेद है। 'समिति' (Association) एक 'संगठित-समूह' (Organised group) को कहते हैं, 'संस्था' (Institution) उस 'संगठित-समह' की अपने हितों को पूर्ण करने की 'कार्य-प्रणाली के रूप' (Form of procedure) को कहते हैं। 'परिवार' एक 'संगठित-समूह' है, इसलिए 'समिति' (Association) है; विवाह, दहेज, एक-विवाह-पद्धति आदि परिवार के हितों को पूर्ण करने के 'रूप' हैं, 'कार्य-प्रणालियाँ' हैं, इसलिए 'संस्था' (Institution) हैं। 'राष्ट्र' एक 'संगठित-समूह' है, इसलिए 'समिति' (Association) है; चुनाव-प्रणाली, विधान-परिषद् आदि राष्ट्र के हितों को पूर्ण करने के 'रूप' हैं, 'कार्य-प्रणालियाँ' हैं, इसलिए 'संस्था' (Institution) हैं। जब कोई आधार-भूत 'स्वार्थ' (Interest) होता है, तब उसे सिद्ध करने के लिए 'समिति' (Association) बनाई जाती है, परन्तु 'समिति (Association) का काम बिना कानून-कायदे के, बिना नियम-उपनियमों के, बिना किन्हीं विशेष उपायों के नहीं हो सकता। इन्हीं कानून-कायदों, नियम-उपनियमों, विशेष उपायों को 'संस्था' (Institution) कहा जाता है। इस दृष्टि से 'संस्था' (Institution) का काम 'समिति' (Association) के उद्देश्यों को पूर्ण करने में सहायता देना है। जब कोई 'संस्था' (Institution) अपनी 'समिति' (Association) के उद्देश्य को पूर्ण नहीं करती, तो उसे तोड़ देना पड़ता है, इसी प्रकार जब कोई 'समिति' अपने आधार-भूत 'स्वार्थ' (Interest) को पूर्ण नहीं करती, तो उसे भी तोड़ना जरूरी हो जाता है। जीवित-समाजों में ऐसा ही होता है, मृत-समाजों की बात दूसरी है। 'समिति' (Association) छोटी भी हो सकती है, बड़ी भी। प्रारम्भिक-समाज में छोटी-छोटी 'समितियाँ' (Associations) थीं। समाज छोटा था, इसलिए थोड़े-से 'स्वार्थ' (Interests) थे, आजकल की तरह बहुत अधिक नहीं थे। अगर कोई नया 'स्वार्थ' पैदा हो भी जाता था, तो उसके लिए अलग 'समिति' (Association) का निर्माण करने के स्थान में, पहले की बनी-बनाई 'समिति' (Association) ही उस 'स्वार्थ' को भी सिद्ध करने लगती थी। ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता गया, त्यों-त्यों ऐसा करना कठिन हो गया। विकसित समाज में 'स्वार्थ' (Interest) को सिद्ध

करने वाले छोटे-छोटे संगठन 'समिति' (Associations) कहलाते हैं, बड़े-बड़े संगठन 'महा-समिति' (Great Associations) कहलाते हैं। इस प्रकार के बड़े संगठन चार हैं---राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक। इन चारों का वर्णन हम अगले चार अध्यायों में करेंगे। इन चारों को 'महा-समिति' (Great Associations) कहते हैं।

३. मैक आइवर तथा अन्य लेखकों की परिभाषा में भेद

'संस्था' (Institution) तथा 'समिति' (Association)---ये दोनों शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों के द्योतक हैं, परन्तु इन शब्दों का प्रयोग समाज-शास्त्र की पुस्तकों में भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। ऑगबर्न तथा निमकॉफ़ (Ogburn and Nimkoff) एवं गिलिन-गिलिन (Gillin and Gillin) ने जिस अर्थ में 'संस्था' (Institution)-शब्द का प्रयोग किया है, मैक आइवर (MacIver) ने उस अर्थ में 'समिति' (Association)-शब्द का प्रयोग किया है, इसी प्रकार प्रथम लेखकों ने जिस अर्थ में 'समिति' (Association)-शब्द का प्रयोग किया है, मैक आइवर ने उस अर्थ में 'संस्था' (Institution)-शब्द का प्रयोग किया है। इसी लिए जहाँ अन्य लेखक राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक बड़े-बड़े संगठनों को 'महा-संस्था' (Great Institutions) कहते हैं, वहाँ मैक आइवर इनके लिए 'महा-समिति' (Great Association)-शब्द का प्रयोग करता है। हमने इस ग्रंथ में मैक आइवर की परिभाषा का ही प्रयोग किया है।

४. 'समिति' का आधार 'एक-स्वार्थ' है (Common-Interest is basis of Association)

हम बार-बार लिख आये हैं कि 'समिति' (Association) का आधार 'स्वार्थ' (Interest) है। 'स्वार्थ' दो तरह का होता है---'एक-सा स्वार्थ' (Like interest) तथा 'एक-ही-स्वार्थ' (Common interest)। जहाँ प्रतिस्पर्धा का थोड़ा-बहुत अंश भी रहता है, वहाँ 'एक-सा' स्वार्थ होता है, जहाँ प्रतिस्पर्धा का कोई अंश नहीं रहता, वहाँ 'एक-ही' स्वार्थ हो जाता है। राजनैतिक तथा आर्थिक-संगठनों में प्रतिस्पर्धा का अंश बना ही रहता है, अतः 'एक-से स्वार्थों (Like interests) से 'राजनैतिक तथा आर्थिक महा-समितियाँ (Political and Economic Great Associations) बनती हैं, 'एक-ही-स्वार्थों' (Common interests) से सांस्कृतिक तथा धार्मिक महा-समितियाँ' (Cultural and Religious Great Associations) बनती हैं। यह ध्यान देने की बात है कि जब एक 'समिति' (Association) बन जाती है, तब 'एक-से' (Like) तथा 'एक-ही' (Common) स्वार्थ रल-मिल जाते हैं।

उदाहरणार्थ, कालेज में एक क्रिकेट की टीम बनी। इसमें प्रत्येक खिलाड़ी का अपना-अपना स्वार्थ है, जो दूसरे के स्वार्थ से मिलता-जुलता है, दूसरे के स्वार्थ के साथ 'एक-सा' है। हर-एक खिलाड़ी खेलने से शारीरिक व्यायाम करना चाहता है, आनन्द उठाना चाहता है। यह इन सब का 'एक-सा' स्वार्थ है। परन्तु ये खिलाड़ी जब किसी दूसरी पार्टी से मैच करने लगते हैं, तब इन सब का स्वार्थ 'एक-सा' न रहकर, 'एक-ही' हो जाता है, सब चाहते हैं कि उनकी पार्टी जीत जाय, इसलिए नहीं चाहते क्योंकि इससे हर व्यक्ति को अलग-अलग, वैयक्तिक संतोष होता है, परन्तु इसलिए चाहते हैं क्योंकि पार्टी के जीतने से उन सब को 'एक-ही' प्रकार का संतोष मिलता है, यहाँ वैयक्तिक-स्वार्थ सामूहिक-स्वार्थ में अपने को लीन कर देता है। परिवार में भी ऐसा ही होता है। परिवार के हर व्यक्ति का अपना-अपना स्वार्थ रहता है, इस बात से कौन इन्कार कर सकता है, परन्तु परिवार की एक ऐसी भी भावना है जिसमें परिवार का हर व्यक्ति एक-दूसरे के साथ 'एक-सा-पना' अनुभव करने के स्थान में 'एक-पना' अनुभव करता है। तभी तो मनुष्य में, उसके मरने के बाद सन्तान असहाय न रहे, इसलिए सम्पत्ति को छोड़ जाने की भावना है। यह भावना इसलिए है क्योंकि पिता पुत्र के साथ 'एक-पना' अनुभव करता है। जो भी 'समिति' (Association) जिन्दा रहना चाहती है, वह 'एक-से-स्वार्थ' (Like interests) की जगह 'एक-ही स्वार्थ' (Common interest) की भावना को उत्पन्न करने का प्रयत्न करती है। इसी उद्देश्य से तरह-तरह के नारों का आविष्कार होता है, जुलूस निकाले जाते हैं, उत्सव मनाये जाते हैं, झंडे लहराये जाते हैं, शिविर खोले जाते हैं। इन सब का उद्देश्य सब सदस्यों के सामने 'एक-स्वार्थ' (Common interest) की भावना को बनाये रखना है। अगर किसी 'समिति' (Association) के व्यक्तियों में यह भावना उत्पन्न हो जाय कि उन्हें बाँध कर रखने वाला कोई एक बन्धन, एक स्वार्थ नहीं है, तब वह 'समिति' धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है। समाज के नेता क्या करते हैं? अगर उन्होंने किसी 'समिति' (Association) का निर्माण करना होता है, तो पहले-पहल जनता में उस 'स्वार्थ' (Interest) के प्रति चेतना उत्पन्न करते हैं, जिसके गिर्द उस संगठन का निर्माण करना होता है। अगर जनता की उसके लिए दिलचस्पी ही नहीं, तो वह उसके लिए आगे नहीं बढ़ सकती। यह चेतना उत्पन्न करने के बाद जनता को यह जतलाना जरूरी होता है कि यही उनका वास्तविक स्वार्थ है, अन्य जितने भी स्वार्थ हैं, वे हेच हैं, इसके सामने कुछ नहीं। इस प्रकार जब जनना में 'एक-से' स्वार्थ की भावना उत्पन्न हो जाती है, तब 'समिति' (Association) उत्पन्न होती है, और जब 'एक-से' से 'एक'-स्वार्थ की भावना उत्पन्न हो जाती है, तब उस संगठन की नींव पक्की हो जाती है। जिस अंश तक 'एक-स्वार्थ' (Common interests) की भावना बनी रहती है, उस अंश तक संगठन का आधार दृढ़ रहता है, जिस अंश में यह भावना कम होने लगती है, उस अंश तक संगठन भी शिथिल होने लगता है।

५. 'समिति' (Association) के वर्गीकरण में कठिनाइयाँ

'समिति' (Association) का आधार 'स्वार्थ' (Interest) है, और स्वार्थ के आधार पर 'समिति' (Association) का वर्गीकरण हो सकता है। स्वार्थ के आधार पर ही बड़े-बड़े स्वार्थों को सिद्ध करने वाली समितियों को हम 'महा-समिति' (Great Associations) कहते हैं। इसी के आधार पर हम राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक संगठनों की आगे चर्चा करेंगे, परन्तु 'स्वार्थ' के आधार पर वर्गीकरण करते हुए कुछ कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं जिन पर ध्यान देना आवश्यक है :--

(क) 'समिति' (Association) के दो तरह के 'स्वार्थ' (Interests) हो सकते हैं--'प्रत्यक्ष' (Immediate) तथा 'परोक्ष' (Remote)। 'समिति' का निर्माण 'प्रत्यक्ष-स्वार्थ' के आधार पर होता है, 'परोक्ष-स्वार्थ' के आधार पर नहीं। उदाहरणार्थ, एक आटे-दाल की दुकान है। उसका 'प्रत्यक्ष-स्वार्थ, मुनाफ़ा कमाना है, परन्तु दुकानदार कहने लगता है कि जनता की सेवा के लिए दुकान खोली गई है। अगर उसे मुनाफ़ा न हो, और फिर भी वह जनता की सेवा करता रहे, तब तो ठीक, परन्तु अगर उस हालत में वह दुकान बन्द कर दे, तो जनता की सेवा कहाँ गई? जब हम किसी 'समिति' (Association) का वर्गीकरण करने लगें--यह राजनैतिक है, आर्थिक है, सांस्कृतिक है, धार्मिक है, या क्या है--तब यह देखना आवश्यक है कि उसका 'प्रत्यक्ष-स्वार्थ' (Immediate interest) क्या है। 'परोक्ष-स्वार्थ' (Remote interest) उस संगठन के लिए प्रेरक-हेतु (Motivation) हो सकता है, असली 'स्वार्थ' (Interest) नहीं। हमें 'स्वार्थ' (Interest) तथा 'प्रेरक-हेतु' (Motivation) में फ़र्क करना होगा। 'प्रत्यक्ष-स्वार्थ' (Immediate interest) ही वास्तविक स्वार्थ है, 'परोक्ष-स्वार्थ' (Remote interest) तो 'प्रेरक-हेतु' (Motivation) है, वास्तविक स्वार्थ नहीं। 'समिति' बनने का आधार 'प्रत्यक्ष-स्वार्थ' होता है, 'परोक्ष-स्वार्थ' नहीं।

(ख) कभी-कभी जिन 'प्रत्यक्ष-स्वार्थों' को लेकर 'समिति' का निर्माण होता है, वे समय बीत जाने पर आँखों से ओझल हो जाते हैं, 'परोक्ष' हो जाते हैं। परिवर्त्तित समाज की आवश्यकताओं के अनुसार 'समिति' भी बदल जाती है, पुराना काम करने के स्थान में नये काम शुरू कर देती है, परन्तु नाम पुराना ही बना रहता है। उस अवस्था में यह कठिनाई आ पड़ती है कि उसे किस वर्गीकरण में रखा जाय? उदाहरणार्थ, वाई० एम० सी० ए० किस काम के लिए बनी थी, और अब क्या काम कर रही है? आज यह सब तरह के काम करती है। पढ़ाने-लिखाने का, खेलने-कूदने का, होटल का, नाचने-गाने का, धर्म-प्रचार का। इसे किस प्रकार की 'समिति' समझा जाय--सामाजिक, धार्मिक या आर्थिक--यह एक विकट समस्या है। कभी-कभी किसी विशेष 'स्वार्थ' के लिए कोई 'समिति'

बनती है। वह 'स्वार्थ' पूर्ण हो जाता है, स्वाभाविक तौर पर वह 'समिति' समाप्त हो जानी चाहिए, परन्तु अब तक कई व्यक्तियों के निजी स्वार्थ उसके साथ जुड़ चुके होते हैं, अतः वे उसे समाप्त नहीं होने देते, उस 'समिति' के नये-नये काम निकाल लेते हैं। स्त्रियों को मताधिकार दिलाने के लिए जिन 'समितियों' का निर्माण हुआ, वे अब मताधिकार मिल जाने पर भी बनी हुई हैं। उनके पुराने 'स्वार्थ' समाप्त हो चुके हैं, नये 'स्वार्थ' बन गये हैं। जिस प्रकार व्यक्ति मरना नहीं चाहता, उसी प्रकार 'समिति' भी मरना नहीं चाहती, परन्तु ऐसी अवस्था में उसके नये 'स्वार्थ' को देखकर ही निर्णय करना होगा कि वह किस प्रकार की 'समिति' है—आर्थिक है, राजनैतिक है, धार्मिक है या सांस्कृतिक है।

प्रश्न

१. 'संस्था' (Institution), 'समिति' (Association) तथा 'महा-समिति' (Great Association) में क्या भेद है, और इनका मनोवैज्ञानिक आधार क्या है?

१. मैक आइवर (MacIver) तथा अन्य समाज-शास्त्रियों ने 'संस्था' (Institution) तथा 'समिति' (Association) शब्दों का किन अर्थों में प्रयोग किया है? क्या इन दोनों के प्रयोग में कुछ भेद है?

३. 'समिति' (Association) का आधार 'एक-स्वार्थ' (Common interest) है—इसे समझाइये।

४. 'समिति' के वर्गीकरण में क्या कठिनाइयाँ आती हैं?

२१

'महा-समितियाँ'—राजनैतिक-संगठन

(THE GREAT ASSOCIATIONS—POLITICAL ASSOCIATIONS)

हम पहले यह दर्शा आये हैं कि 'समूह' के दो रूप हैं। एक वह जिसमें व्यक्ति का समूह के साथ 'आमने-सामने' का 'प्रत्यक्ष-सम्बन्ध' होता है, इसे 'प्रथम-समूह' (Primary group) कहते हैं; दूसरा वह जिसमें व्यक्ति का समूह के साथ 'अप्रत्यक्ष-सम्बन्ध' होता है, इसे 'द्वितीय-समूह' (Secondary group) कहते हैं। अब हम जिन संगठनों का अध्ययन करने वाले हैं, वे 'द्वितीय-समूह' (Secondary group) में आते हैं, जिनमें से पहला राजनैतिक-संगठन है। राजनैतिक-संगठन का मुख्य रूप 'राज्य' (State) है, अतः इस अध्याय में हम राज्य की उत्पत्ति, उसके विकास, उसके वर्त्तमान रूप तथा राज्य-सम्बन्धी अन्य समस्याओं पर विचार करेंगे।

१. राज्य का स्वरूप

देश में व्यवस्था रखने के अनेक संगठन हैं, छोटे संगठन, उनसे बड़े संगठन, और सबसे बड़े संगठन। देश में शान्ति तथा व्यवस्था रखने वाले छोटे संगठन 'समितियाँ' (Association) कहलाती हैं, इन संगठनों का संगठन, राजनैतिक-दृष्टि से, सबसे महान् संगठन, 'राज्य' कहलाता है, जिसे मैक आइवर के शब्दों में 'महा-समिति' (Great Association) तथा ऑगबर्न और निमकॉफ़ के शब्दों में 'महा-संस्था' (Great Institution) कह सकते हैं। राज्य के मुख्य तौर पर दो काम हैं:—

(क) किसी देश में जो लोग रहते हों, उनकी अन्दर के तथा बाहर के शत्रुओं से रक्षा करना राज्य का काम है। उदाहरणार्थ, अन्दर के चोर-डाकुओं से, नियम-भंग करने वालों से नागरिकों को बचाना राज्य का काम है। कोई दूसरा देश हमला कर दे, उससे रक्षा करना भी राज्य का काम है।

(ख) जिन 'एक-स्वार्थों' (Common interests) को राज्य के व्यक्ति अलग-अलग, व्यक्ति-रूप से पूरा नहीं कर सकते, उन्हें पूरा करना राज्य का काम है। हम पहले देख चुके हैं कि प्रत्येक 'समिति' (Association) का काम 'एक-से' या 'एक-ही' स्वार्थों की सिद्धि करना होता है। राज्य का काम भी व्यक्तियों

तथा समूहों के इस प्रकार के स्वार्थों को सिद्ध करने में सहायता देना है। उदाहरणार्थ, राज्य के हर व्यक्ति का 'एक-स्वार्थ' (Common interest) है कि देश समृद्ध हो, फले-फूले, देश का नाम हो। व्यक्तियों की इन सब भावनाओं को राज्य पूरा करता है। इस दृष्टि से राज्य समाज के उद्देश्यों को सिद्ध करने का एक संगठन है।

राज्य ही इन कामों को कर सकता है, दूसरी कोई 'समिति' (Association) नहीं कर सकती—इसके दो कारण हैं :—

(क) पहला कारण तो यह है कि व्यक्ति अन्य संगठनों का सदस्य हो या न हो, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। शादी करे, या न करे, करेगा तो परिवार बनायेगा, नहीं करेगा तो नहीं बनायेगा, परन्तु यह नहीं हो सकता कि वह किसी राज्य का अंग हो या न हो, राज्य का अंग तो हर-एक को होना ही पड़ेगा। जो 'समिति' (Association) हमें लाभ नहीं पहुँचाती उसकी सदस्यता को हम छोड़ सकते हैं, और अगर वह किसी को लाभ नहीं पहुँचाती तो उसे ख़त्म भी कर सकते हैं, परन्तु राज्य तो राज्य है, इसका सदस्य तो रहना ही पड़ता है। अगर राज्य हमें कोई लाभ नहीं पहुँचाता, हमारी रक्षा भी नहीं करता, और हम राज्य को छोड़ भी नहीं सकते, तो राज्य का राज्यपन ही क्या रहा? जब व्यक्ति के लिए राज्य का अंग होना आवश्यक है, तो राज्य के लिए व्यक्ति की रक्षा करना भी आवश्यक है।

(ख) दूसरा कारण यह है कि जहाँ अन्य संगठन बल-प्रयोग नहीं कर सकते, वहाँ राज्य बल-प्रयोग कर सकता है। डाकू हमला करें, हम बल प्रयोग न कर सकें क्योंकि कानून इसमें बाधक है, और राज्य बल-प्रयोग से हमारी रक्षा न करे, तब भी राज्य का राज्यपन क्या रहा? जब व्यक्ति को बल-प्रयोग का अधिकार नहीं है, सिर्फ़ राज्य बल-प्रयोग कर सकता है, तो राज्य के लिए अन्दर तथा बाहर के शत्रुओं से व्यक्ति की रक्षा करना आवश्यक हो जाता है।

व्यक्ति पर राज्य का अधिकार तथा राज्य को बल-प्रयोग का अधिकार कैसे प्राप्त हुआ, इसके पीछे क्या इतिहास छिपा है, इसे जानने के लिए राज्य की उत्पत्ति तथा विकास को जानना आवश्यक है।

२: राज्य की उत्पत्ति तथा विकास

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की जाती हैं। ये कल्पनाएँ दो भागों में बाँटी जा सकती हैं। कुछ लोग तो राज्य की उत्पत्ति का 'मनोवैज्ञानिक' (Psychological) कारण बतलाते हैं, कुछ लोग भिन्न-भिन्न, छोटे-छोटे प्रारम्भिक-संगठनों (Social Associations) से इस बड़े संगठन की उत्पत्ति बतलाते हैं। मोरले (Morley) का कथन है कि मनुष्य में सामाजिकता उसका सहज, नैसर्गिक गुण है। मनुष्य हर काम में आसान रास्ता ढूँढा करता है। सामाजिकता ही उसे आदि-काल में अपनी कठिनाइयों को हल करने

का सबसे आसान रास्ता सूझा, इसी से धीरे-धीरे राज्य की उत्पत्ति हो गई। यह राज्य का मनोवैज्ञानिक आधार है। जो लोग राज्य की उत्पत्ति का आधार किसी 'प्रारम्भिक-संगठन' (Social association) को कहते हैं, उनमें से कोई कहता है कि 'परिवार' से बढ़ते-बढ़ते राज्य की उत्पत्ति हुई, यह विचार विल्सन (Wilson) का है, कोई कहता है कि 'सम्पत्ति' की रक्षा के विचार से राज्य की उत्पत्ति हुई, यह विचार कॉमन्स (Commons) का है, कोई कहता है कि 'युद्ध' से राज्य की उत्पत्ति हुई, यह विचार गुम्पलोविज (Gumplowicz) का है। इनमें से कोई विचार, इकला, राज्य को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त नहीं है। 'राज्य' को उत्पन्न करने में इन सब ने हाथ बँटाया है। कितना हाथ बँटाया है, और किस मौके पर बँटाया है—यह राज्य के क्रमिक-विकास को देखने से स्पष्ट हो जाता है। तो फिर, 'राज्य' का क्रमिक-विकास कैसे हुआ?

(क) प्रारंभिक-समाज में राज्य नहीं था—राज्य का काम शासन में व्यवस्था स्थापित करना है, परन्तु प्रारम्भिक-समाज में अव्यवस्था के इतने अधिक कारण नहीं थे जितने आज उत्पन्न हो गये हैं, इसलिए उनमें शासन-व्यवस्था भी नहीं थी। प्रारम्भिक-समाज फल-फूल खाने वालों का, या शिकारियों का समाज था। एक समूह में १५–२० व्यक्ति होते थे। बहुत हुआ १५०–२०० हो गये। हर-एक हर-दूसरे को जानता था। सामाजिक भय से लोग बुराई से बचे रहते थे। जो जन्म से अपंग होते थे, वे स्वयं मर-खप जाते थे, उनकी रक्षा का भार आज के समाज की तरह किसी को उठाने की आवश्यकता नहीं थी। उस समय का समाज सैकड़ों नहीं, हजारों सालों तक एक-सा रहता था, भिन्न-भिन्न विचारों की सम्भावना ही नहीं थी, जब हजारों सालों से लोग एक ही तरह से सोच रहे हों, तब उनमें आपस में बहुत कम भेद उत्पन्न होता था। समाज की रचना में परिवर्त्तन विचारों की भिन्नता के कारण होता है, जब उस समय विचारों में परिवर्त्तन ही नहीं होता था तब समाज सदियों तक वैसे-का-वैसा बना क्यों न रहता? उनका समाज 'एक-तत्त्वीय-समाज' (Homogeneous Society) था, 'बहु-तत्त्वीय' (Heterogeneous) नहीं था। जब उनके भिन्न-भिन्न स्वार्थ बहुत थोड़े थे, तो उनका समन्वय करने वाली किसी शासन-व्यवस्था की भी जरूरत नहीं थी। इसके अतिरिक्त आज तो ज्यादातर अव्यवस्था सम्पत्ति के कारण है। कोई लूटता है, कोई चोरी करता है, परन्तु उस समय तो सम्पत्ति का विचार ही नहीं था, फिर शासन की क्या आवश्यकता रहती?

लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि उस समाज में अखण्ड शान्ति का राज्य था, किसी नियम की जरूरत ही नहीं थी। जहाँ कई लोग होंगे, लड़ाई-झगड़े-उत्पात-अव्यवस्था सभी-कुछ होगी, परन्तु उस समय समाज का नियमन राज्य नहीं करता था, राज्य के स्थान में अन्य संगठनों द्वारा यह काम होता था। इन संगठनों में सब से बड़ा स्थान 'परिवार' का था। आज भी परिवार द्वारा आचार-विचार का नियंत्रण होता है, उस समय भी होता था। जहाँ 'मातृ-सत्ताक'

(Matriarchal) परिवार था, वहाँ माता के सम्बन्धी, जहाँ 'पितृ-सत्ताक' (Patriarchal) परिवार था, वहाँ पिता के सम्बन्धी अपने छोटे-से दायरे में व्यवस्था रखते थे। अगर कोई परिवार के किसी व्यक्ति को हानि पहुँचाता था, तो सारे परिवार के लोग उसका बदला लेते थे। इसे 'पारिवारिक-द्वन्द्व' (Feuds) कहते थे। परिवार का सम्बन्ध रुधिर का सम्बन्ध था, और एक रुधिर के लोगों में माता के घराने का या पिता के घराने का कोई वृद्ध व्यवस्था करता था। परिवार का यह सूत्र बढ़ता जाता था। कई लोग जो दूर-दूर बिखरे होते थे, और अपने को किसी एक ही पूर्वज की सन्तान मानते थे, वे सब इस संगठन के अंग माने जाते थे। इन्हें एक 'गोत्र' (Clan) का कहा जाता था, और इन सब का शासन, इनकी व्यवस्था, इनके लड़ाई-झगड़ों का निपटारा परिवार का मुखिया करता था। जिस परिवार में अपने पूर्वजों का सारा इतिहास मौजूद होता था, सारी परम्परा वर्त्तमान थी, वही परिवार, 'गोत्र' (Clan) का मुखिया समझा जाता था। इस सारी प्रक्रिया में राज्य के आधार-भूत तत्त्व विकास पा रहे थे, राज्य विकसित नहीं हुआ था, परन्तु धीरे-धीरे राज्य के भाव का, इस भाव का कि अनेकों में कोई एक मुख्य हो, शासन करे, विकास हो रहा था।

(ख) प्रारंभिक-समाज में 'राज्य' के विकासोन्मुखी तत्त्व––समाज की प्रारम्भिक-अवस्था शिकारी समाज की अवस्था थी। शिकार करते हुए केवल 'परिवार' के, या अपने 'गोत्र' के ही लोग नहीं होते थे, बाहर के लोग भी शामिल होते थे। इन सब का नियंत्रण, इनकी व्यवस्था किये बग़ैर शिकार में सफलता नहीं हो सकती थी। शिकार के इन गिरोहों का संगठन करते हुए व्यवस्था का वह सूत्र जो पहले सिर्फ़ परिवार में काम करता था, अब परिवार से बाहर, उन लोगों में भी काम करने लगा जिनके साथ परिवार का, रुधिर का कोई सम्बन्ध ही न था, जो सिर्फ़ शिकार के लिए साथ आ मिले थे। परिवार में नहीं, परिवार के बाहर भी शासन करना––यही तो शासन कहलाता है। इस प्रकार 'राज्य' का आधार-भूत एक तत्त्व प्रकट हो गया। राज्य का एक दूसरा तत्त्व है––किसी 'भू-खंड' पर राज्य करना। जब तक मनुष्य शिकारी हालत में था तब तक तो उसके लिए भूमि का कोई मूल्य ही नहीं था, इसलिए तब तक इस दूसरे तत्त्व का विकास नहीं हो पाया था। परन्तु, जब मनुष्य ने शिकारी अवस्था से निकल कर कृषि करना शुरू किया, भूमि का मूल्य समझा, तब यह जरूरत पड़ी कि कोई किसी की भूमि को हड़पने न लगे। विकास की इस अवस्था में राज्य के भू-स्वामित्व का विचार उत्पन्न हुआ, और जैसे आज राज्य व्यक्ति के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारों की रक्षा करता है, वैसे उस समय प्रारम्भिक-समाज में मुखिया का काम शासन-व्यवस्था के साथ-साथ भूमि की व्यवस्था करना भी हो गया।

राज्य के विकास में युद्ध का बड़ा भारी हाथ था। जब भूमि को सम्पत्ति समझा जाने लगा, तब उसे प्राप्त करने के लिए युद्ध भी होने लगे। युद्ध में दूसरे लोगों को पकड़ कर दास बनाया जा सकता था, उनसे मुफ़्त में काम लिया जा

सकता था, इसलिए भी युद्ध लाभप्रद जान पड़ते थे। जब किसी समूह का दूसरे समूह से युद्ध होता था, तब तो संगठन और भी दृढ़ हो जाता था। युद्ध में सबको बाँध देने की, एक बना देने की अपूर्व शक्ति है। आज भी हम देखते हैं, देश में कितने ही उपद्रव क्यों न हो रहे हों, किसी शत्रु से युद्ध के छिड़ते ही सब लोग एक हो जाते हैं। कई राजा लोग तो देश में असन्तोष उत्पन्न हो जाने पर किसी भी देश से युद्ध छेड़ देते थे जिससे भीतर के सब लोग अपनी कहानी भूल कर दूसरी ही तरफ़ खिच जाते थे। इस प्रकार प्राचीन समाज में युद्ध भी राज्य के विचार को विकसित करने में सहायक सिद्ध हुआ। इस समय तक राज्य के विचार की उत्पत्ति नहीं हुई थी, राजा नहीं बना था। जब तक समाज में दास-प्रथा नहीं चली, तब तक जंगली मनुष्य समाज-वादी था, उसमें ऊँच-नीच का भेद नहीं था, सब एक थे, धनी-निर्धन का भी भेद नहीं था क्योंकि भूमि को सम्पत्ति नहीं माना जाता था। भूमि के सम्पत्ति माने जाने के बाद युद्ध प्रारम्भ हुए, दास पकड़े जाने लगे, और प्रारम्भिक समाजवाद के स्थान में, जिसमें सब एक-समान थे, भू-स्वामी तथा भूमि-हीन अथवा भू-स्वामी तथा दास---ये दो वर्ग उत्पन्न हो गये।

(ग) धीरे-धीरे 'राजा' का विचार उत्पन्न हो गया---भूमि के सम्पत्ति माने जाने के बाद समाज की जो व्यवस्था बन चुकी थी उसमें बड़े-बड़े भूमि-स्वामी उत्पन्न हो चुके थे जिनके पास दासों की भारी संख्या थी। ये भू-स्वामी दासों पर शासन करते थे। इसके अतिरिक्त भूमि के सम्पत्ति माने जाने के कारण एक भू-स्वामी अपने दासों की सहायता से दूसरे भू-स्वामी पर आक्रमण कर देता था, और इस प्रकार के युद्ध के लिए कुछ ऐसे योद्धा भी रखता था जो लड़ाई में काम आते थे। जब भू-स्वामी बहुत ज़मीन जीत लेता था, तो ज़रूरत के लायक अपने पास रख कर बाकी अपने आधीन लड़ने वाले योद्धाओं में बाँट देता था। ये योद्धा 'सरदार' कहलाते थे। धीरे-धीरे सरदारों के पास भी बहुत भूमि जमा हो जाती थी। विकास की इस प्रक्रिया में राजा का विचार उत्पन्न हुआ। जो भू-स्वामी था वह 'राजा' कहलाया, और जो सरदार थे, जिन्हें राजा ने भूमि दी थी, वे 'सामन्त' कहलाये। ये सामन्त स्वतन्त्र रूप से राजा की तरफ़ से भूमि के मालिक बना दिये गये थे, आवश्यकता पड़ने पर राजा इन्हें लड़ाई के समय बुला लेता था। राजा का स्थान मुख्य था, उसके नीचे 'सामन्त-पद्धति' (Feudal system) से शासन-व्यवस्था चलती थी।

(घ) विकास की दिशा विकेन्द्रीकरण की तरफ़---'सामन्त-पद्धति' (Feudal system) में 'राजा' था, और 'सामन्त' थे। इनके साथ एक भूमि-हीन वर्ग भी था। इस समय राज-शक्ति, धर्म-शक्ति तथा अर्थ-शक्ति---ये तीनों एक ही व्यक्ति अर्थात् राजा में ही केन्द्रित थीं। धीरे-धीरे 'केन्द्रीकरण' (Centralization) से 'विकेन्द्रीकरण' (Decentralization) की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। ये तीनों शक्तियाँ एक-दूसरे से अलग होने लगीं। पहले-पहल राज-शक्ति तथा धर्म-शक्ति का गठ-बन्धन टूटा। समय था जब यह समझा जाता था

कि 'धर्म' (Church) तथा 'राज्य' (State) एक ही वस्तु है, जो राजा का धर्म है वही प्रजा का धर्म है, धर्म की इतनी प्रधानता थी कि धर्म के लिए फ़ौजें चल पड़ती थीं, दूसरे देशों में अपने धर्म का प्रचार किया जाता था, अपने धर्म को न मानने वालों को मार डालना स्वर्ग का साधन समझा जाता था, राज्यों की लड़ाई धर्म की लड़ाई थी। युरोप में क्रूसेड शुरू हुए, उनका उद्देश्य पैलेस्टाइन को मुसलमानों से इसलिए छीनना था क्योंकि क्राइस्ट वहाँ उत्पन्न हुआ था। युरोप के मध्य-युग में १४८३ में लूथर का जन्म हुआ। उसका कहना था कि व्यक्ति का धर्म वह धर्म नहीं जो राजा या पोप का धर्म है। व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से भी धर्म पर विचार कर सकता है। उसके विचार ने युरोप में आग लगा दी। सारा युरोप दो भागों में बँट गया। पोप के अनुयायी रोमन-कैथोलिक कहलाते थे, लूथर के अनुयायी प्रोटेस्टेंट कहलाते थे। रोमन-कैथोलिक राजाओं ने प्रोटेस्टेंट लोगों को पकड़-पकड़ कर सूली पर चढ़ाना शुरू किया, धार्मिक-न्यायालय स्थापित किये जिनका नाम 'इन्क्वीज़ीशन' था। जिन पर ज़रा भी सन्देह हुआ कि वे रोमन-कैथोलिक नहीं हैं, उन्हें इन न्यायालयों के सामने पेश किया जाता था, और अगर यह साबित हो जाता कि वे कैथोलिक धर्म को नहीं मानते, तो उन्हें जीते-जी जला दिया जाता था। जिस प्रकार कुछ राजा पोप का साथ दे रहे थे, वैसे ही लूथर का भी कुछ राजा साथ देने लगे। इसलिए देने लगे क्योंकि इस समय धर्म-प्रधान युग होने के कारण पोप का शासन राजाओं पर भी चल रहा था, और क्योंकि धर्म और राज्य एक ही में केन्द्रित थे इसलिए पोप सिर्फ़ धर्म-गुरु ही नहीं था, एक तरह का राजा भी था, राजाओं को बना-बिगाड़ सकता था। होते-होते तथा-कथित धर्म की पीठ टूट गई, और इस घनघोर रक्त-पात में से धर्म के विषय में स्वतंत्र-सम्मति रख सकने के विचार का जन्म हुआ। इतिहास में यह युग 'सुधार-युग' (Reformation) कहलाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि राज-शक्ति तथा धर्म-शक्ति का भाव अलग-अलग हो गया। पूरी तरह से तो दोनों शक्तियाँ अलग नहीं हुईं, परन्तु यह समझा जाने लगा कि राज्य का काम धर्म की ख़ातिर दूसरों पर हमला करना नहीं है, धर्म के कारण अत्याचार करना नहीं है, व्यक्ति अपना स्वतंत्र धर्म रखता हुआ भी अपने राज्य का अंग हो सकता है, राज्य का काम धर्म में हस्तक्षेप करना नहीं।

इसी मध्य-युग में धर्म के क्षेत्र के 'सुधार-युग' (Reformation) ने दूसरे क्षेत्रों में 'पुनःजागृति' (Renaissance) के युग का रास्ता साफ़ कर दिया। विज्ञान के क्षेत्र में नये-नये विचार उत्पन्न होने लगे। पहले तो इन विचारों को कोई कह ही नहीं सकता था। बुद्धि-स्वातंत्र्य के परिणाम-स्वरूप नये-नये परीक्षण होने लगे। यह प्रक्रिया बढ़ती-बढ़ती १८वीं तथा १९वीं शताब्दी में 'औद्योगिक-क्रान्ति' (Industrial revolution) का रूप धारण कर गई। जहाँ पहले 'सुधार-युग' से धर्म-शक्ति तथा राज-शक्ति अलग-अलग हुई थीं, वहाँ अब 'औद्योगिक-युग' से अर्थ-शक्ति और राज-शक्ति भी एक-दूसरे से अलग हो गईं,

और राज्य का काम सिर्फ़ राजनैतिक रह गया। यह प्रक्रिया किस प्रकार हुई, इसे समझने की जरूरत है।

हम अभी देख चुके हैं कि मध्य-युग में 'सामन्त-पद्धति' (Feudal system) का बोलबाला था। 'सामन्त-पद्धति' में जमीन ही सबसे बड़ी दौलत थी। औद्योगिक-क्रांति से कल-कारखाने खुलने लगे, इनका माल बिकने लगा, व्यापार बढ़ने लगा। अब तक भूमि को ही दौलत माना जाता था, अब वाणिज्य-व्यापार के बड़े पैमाने पर बढ़ जाने के कारण सम्पत्ति का मुख्य रूप 'भूमि' न रहकर, 'रुपया' हो गया। 'अर्थ' की यह नई व्याख्या थी। अब तक तो 'अर्थ' का मतलब भूमि से ही होता था, परन्तु औद्योगिक-क्रांति के परिणाम-स्वरूप जिनके पास भूमि नहीं थी, वे भी व्यापार करने लगे, उनकी जेब में भी रुपया खनखनाने लगा। औद्योगिक-क्रांति से एक नवीन वर्ग उत्पन्न हो गया, यह 'पूँजीपति' वर्ग था। यह वर्ग 'भूमि' का मालिक होने के कारण समृद्ध नहीं हुआ था, अपितु 'अर्थ' का मालिक होने के कारण समृद्ध हुआ था। अब तक राजा या सामन्त ही समृद्ध समझे जाते थे, परन्तु अब दूसरे लोग भी समृद्ध समझे जाने लगे, और इस प्रकार राज-शक्ति तथा अर्थ-शक्ति जो एक-दूसरे में केन्द्रीभूत थे, एक-दूसरे से अलग हो गये, उनका विकेन्द्रीकरण हो गया, जो भूमि का स्वामी नहीं है वह भी धनी हो सकता है--इस विचार का जन्म हुआ।

पहले 'सुधार-युग' (Reformation) से 'राज-शक्ति' तथा 'धर्म-शक्ति' का विकेन्द्रीकरण हुआ, फिर 'पुनः जागरण' (Renaissance) तथा 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) से 'राज-शक्ति' तथा 'अर्थ-शक्ति' का विकेन्द्रीकरण हुआ। अब राजा के पास सिर्फ़ एक शक्ति रह गई। वह अपने को अब भी प्रजा का मालिक समझता था, उसी को सब अधिकार थे, वह जन्म-जन्म से राजा चला आता था, उसकी सन्तान उसके बाद राज्य करती थी, वह समझता था कि यह अधिकार उसका 'दैवीय-अधिकार' (Divine right) है। परन्तु विकास जिस विकेन्द्रीकरण की तरफ़ बढ़ रहा था उसमें यह शक्ति भी राजा में केन्द्रित न रही, राजा को सब अधिकार प्रजा को देने पड़े, कहीं-कहीं तो राज-सत्ता का ही सफ़ाया हो गया, राजा के स्थान में प्रजा का राज्य स्थापित हो गया। यह प्रक्रिया कैसे हुई ?

जब तक औद्योगिक-युग के कारण 'अर्थ' की उत्पत्ति नहीं हुई थी, भूमि तथा भूमि से उत्पन्न पदार्थ ही सम्पत्ति के रूप थे, तब तक 'पदार्थ-विनिमय' (Barter system) से ही अधिकतर काम चलता था, जब 'अर्थ' की उत्पत्ति हो गई, तो राजा को भी 'अर्थ' की आवश्यकता हुई। पहले वह भूमि की उपज ले लेता था, परन्तु अब वह कर के रूप में 'अर्थ'--'धन'--माँगने लगा। इस समय 'धन' वाला जो नवीन वर्ग उत्पन्न हो गया था उसने बिना विशेष अधिकारों के दिये जाने के राजा को धन देने से इन्कार कर दिया। इंग्लैण्ड में ज्यों-ज्यों राजा को धन की जरूरत पड़ती थी, त्यों-त्यों धनवान् लोग राजा से नये-

नये अधिकार तलब करते जाते थे। वहाँ जनता के अधिकारों का रूप 'पार्लियामेंट' ने ले लिया। विकेन्द्रीकरण की इस प्रक्रिया से राजा के अधिकारों के स्थान में जनता के अधिकारों का युग आ गया। इसी को 'प्रजा-सत्तात्मक-शासन' (Democracy) कहते हैं, इसी को 'राजनैतिक-अधिकार' (Political rights) कहते हैं, इसी को 'राजनैतिक-स्वतंत्रता' (Political independence) कहते हैं।

(ङ) 'राज्य' (State) के साथ-साथ राष्ट्र (Nation) के विचार का जन्म—शक्ति के विकेन्द्रीकरण से पहले सारी सत्ता राजा के हाथ में थी, धीरे-धीरे राज्य का काम व्यक्ति के धर्म में हस्तक्षेप करना न रहा, राज्य ने व्यक्ति की निजी सम्पत्ति को भी स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया। पहले व्यक्ति स्वतंत्र नहीं था, वह राज्य का दास था, अब शक्ति के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया से व्यक्ति स्वतंत्रता अनुभव करने लगा। उसने यह समझना शुरू किया कि देश राजा का ही नहीं उसका भी है, राज्य राजा का ही नहीं, उसका भी है। अब तक वह ज़बर्दस्ती राजा के लिए और राज्य के लिए लड़ता था, अब वह इच्छा-पूर्वक देश की रक्षा के लिए लड़ने लगा। जब इस प्रकार व्यक्ति में देश के लिए आत्म-भावना पैदा हो गई, तब 'राष्ट्र' (Nation) के भाव का उदय हुआ। 'राज्य' राजा का होता है, 'राष्ट्र' प्रजा का होता है। जब शक्ति का विकेन्द्रीकरण होता है, तब सारी शक्ति 'राज्य' के हाथ में केन्द्रित न रहकर प्रजा के हाथ में आ जाती है, तब 'राष्ट्र' का उदय होता है।

(च) व्यक्ति के अधिकारों के विचार का जन्म—जिस विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया का हमने ऊपर वर्णन किया उसका परिणाम यह हुआ कि आज प्रत्येक 'राज्य' में 'राष्ट्र' का विचार उत्पन्न हो रहा है, और प्रत्येक 'राष्ट्र' में व्यक्ति के मूल-भूत अधिकारों को माना जाने लगा है। आज कोई राज्य यह नहीं कह सकता कि तुम भूल जाओ तुम क्या हो—तुम किसान हो, कारीगर हो, व्यापारी हो, वैज्ञानिक हो, स्त्री हो, पुरुष हो—इस सब को भूल कर सिर्फ़ इतना याद रखो कि तुम राज्य के अंग हो। आज राजा के ईश्वरीय अधिकारों का ख़ातमा हो चुका है। राजा ही सब-कुछ है, व्यक्ति कुछ नहीं है—इसे आज कोई मानने को तैयार नहीं। राजा और राज्य का काम व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना है, अपने अधिकारों की डींग हाँकना नहीं। प्रत्येक देश के 'संविधान' में व्यक्ति के इन मूल-भूत अधिकारों की चर्चा की जाती है, भारत के 'संविधान' में भी व्यक्ति के मूल-भूत अधिकारों का परिगणन किया गया है। व्यक्ति ने अपने मूल-भूत अधिकारों की रक्षा के लिए परिवार बनाया, समाज बनाया, राज्य बनाया, और वही राज्य जब शैतान की तरह फैल कर व्यक्ति को खाने को आया, तो व्यक्ति ने राज्य के प्रति विद्रोह कर राजा द्वारा शासित राज्य को समाप्त कर प्रजा द्वारा शासित राज्य के विचार को जन्म दिया। मुश्किल यह है कि अपने देश

में प्रजा द्वारा शासित होने के विचार ने जन्म तो ले लिया है, परन्तु जो लोग इस विचार की दुहाई देते हैं, वे ही शक्ति और पद के लोलुप, स्वार्थ और लिप्सा में डूबे हुए ऐसी तिकड़म-बाजियाँ चलाते हैं जिससे जनता की आँखों में धूल डलती है, और उनका उल्लू सीधा होता है। परन्तु यह सब-कुछ कब तक चल सकता है? जो सत्य का प्रकाश इतिहास के सदियों के गहनतम अन्धकार को चीरता हुआ आगे बढ़ रहा है, वह इसके या उसके जनता की आँखों में धूल झोंकने से थोड़े ही छिप सकता है।

३. राज्य के वर्तमान स्वरूप

(क) प्रजा-सत्तात्मक-राज्य (Democracy)—१८वीं शताब्दी के अन्त में फ्रांस में राज्य-क्रांति हुई। राजा तथा प्रजा में घनघोर संग्राम छिड़ा जिसका परिणाम यह हुआ कि राजा के स्थान में प्रजा का राज्य हो गया। फ्रांस की राज्य-क्रांति का युरोप के अन्य देशों पर भी प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे कहीं-कहीं राजा समाप्त होने लगे, सारा अधिकार प्रजा के हाथ में आ गया, जहाँ-जहाँ राजा बने रहे, वहाँ वे नाम-मात्र के बने रहे। यह प्रक्रिया दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। बचे-खुचे राजा समाप्त होते जा रहे हैं। भारतवर्ष में जिस आसानी से राजा समाप्त हुए शायद इस आसानी से कहीं नहीं हुए। अब संसार के अधिक भाग पर जनता द्वारा जनता का राज्य है। मताधिकार द्वारा शासन बदला जाता है। मताधिकार का भी प्रयोग थोड़े-थोड़े सालों के बाद होता रहता है जिससे अगर जनता को शासन में परिवर्त्तन की आवश्यकता जान पड़े तो परिवर्त्तन होता रहे। परन्तु अभी हमारी या अन्य देशों की जनता इतनी विकसित नहीं हुई जिससे जो अधिकार उसे मिला है उसका वह पूरा-पूरा उपयोग कर सके। कई दृष्टियों से प्रजा-सत्तात्मक-राज्य कहने को प्रजा का राज्य है, असल में अब भी शक्ति कुछ-एक लोगों के ही हाथ में है। इसके कई कारण हैं जिनमें से कुछ निम्न हैं :—

(i) प्रजासत्तात्मक-राज्यों में कई दल होते हैं। इन दलों में से प्रत्येक दल का नियन्त्रण कुछ इने-गिने व्यक्तियों के गुट के हाथ में रहता है। जिन लोगों का गुट जबर्दस्त हो गया उन्होंने पार्टी की सारी मशीन को कब्जे में कर लिया और जनता के मुख पर करारी चपेट लगाई। जनता मुँह सहलाती रह जाती है, और ये पार्टीबाज 'जनता के राज्य' का नारा लगाते हुए जनता की छाती पर मूँग दलते हैं। प्रायः भले लोग गुट नहीं बनाते। अधिकार-लिप्सु, या स्वार्थी लोग गुट अधिक बनाते हैं। प्रजासत्तात्मक-प्रणाली में ऐसे ही व्यक्तियों की संख्या अधिक रहती है। जहाँ मत प्रदान करने वाले स्वयं योग्य होते हैं वहाँ ऐसा कम होने पाता है।

(ii) जनता को मत का अधिकार तो मिल गया है, परन्तु वह उसका इस्तेमाल कम करती है। मतदाताओं की उदासीनता के कारण भी गुटबाजों की प्रजासत्तात्मक-राज्यों में अधिक चल जाती है। जिन लोगों को मत का अधिकार

है, उनमें से बहुत थोड़ी संख्या मतदान के अधिकार का प्रयोग करती है। ग़रीब लोग इस अधिकार का प्रयोग इसलिए नहीं करते क्योंकि उनके पास इतना समय नहीं कि मजदूरी छोड़ कर वे वोट डालने जाँय। इसमें उसका आधा दिन तो बर्बाद हो ही जाता है। कई लोग यह समझते हैं कि कोई चुना जाय, उनसे क्या मतलब ? सब स्वार्थी हैं, अपना-अपना उल्लू सीधा करने के लिए खड़े हुए हैं, उनका भला करने वाला तो कोई भी नहीं ! स्त्रियों को मताधिकार मिल गया है, परन्तु वे सब से कम वोट डालने जाती हैं क्योंकि वे समझती हैं कि यह झगड़ेबाजी का काम उनका नहीं है। कुछ लोग, जो पैसा दे, उसी को वोट दे आते हैं। ऐसी अवस्था में पैसे वाला वोटों को ख़रीद लेता है।

(ख) सर्वेसर्वा-राज्य (Totalitarian State)—प्रजासत्तात्मक-राज्यों में तो 'दल-प्रणाली' (Party system) है, भिन्न-भिन्न राजनैतिक-दल अपनी-अपनी विचार-धारा को लेकर प्रजा के पास जाते हैं, हर दल को अपना विचार रखने की स्वतन्त्रता है, मतदाता का विचार जिस दल से मिलता है उसे वोट देता है, और अन्त में जो लोग चुने जाते हैं, यह समझा जाता है कि वे जनता के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके बाद भी प्रजासत्तात्मक-राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करता, एक समाजवादी है, दूसरा कम्यूनिस्ट है, तीसरा कुछ और है, व्यक्ति को अपने विचार रखने का पूरा हक है। इस प्रणाली के विपरीत जर्मनी में एक नई व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ जिसका जन्मदाता हिटलर था। उसकी व्यवस्था का आधारभूत-तत्त्व यह था कि राज्य को पूरा अधिकार है, किस पार्टी को रहने दे, किसे न रहने दे, बच्चों को क्या पढ़ाये, क्या न पढ़ाये, लोग किस प्रकार के विचार रखें, किस प्रकार के न रखें। प्रजासत्तात्मक-राज्यों की खिचड़ी से राज्य कमजोर हो जाता है, राज्य के मजबूत होने के लिए हर-व्यक्ति को एक-सी मशीन में ढालना जरूरी है, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कोई मतलब नहीं है, व्यक्ति पर राज्य का पूर्ण अधिकार है। यह विचार 'सर्वेसर्वा-प्रणाली' (Totalitarian system) कहलाती है। इटली में मुसोलिनी ने भी इसी विचार-धारा को अपनाया था। हिटलर की सर्वेसर्वा-प्रणाली का नाम नाज़ीइज्म (Nazi-ism) तथा मुसोलिनी की इसी प्रणाली का नाम फ़ैसिज़्म (Fascism) था। इस समय ये दो प्रणालियाँ तो समाप्त हो चुकी हैं, परन्तु रूस में एक सर्वेसर्वा-प्रणाली चल रही है जिसका नाम सोवियटिज़्म (Sovietism) है।

सर्वेसर्वा-प्रणाली में व्यक्ति को वह स्वतंत्रता नहीं, जो प्रजासत्तात्मक-प्रणाली में है, यह इसका सबसे बड़ा दोष है। आख़िर, मूल प्रश्न यह है कि व्यक्ति के विकास के लिए राज्य है, या राज्य के विकास के लिए व्यक्ति है ? व्यक्ति ने ही तो राज्य का विकास किया है, राज्य ने तो व्यक्ति के विकास में सिर्फ़ सहायता दी है। फिर ऐसी प्रणाली जो व्यक्ति की स्वतंत्रता को ही छीन ले, मनुष्य

को कब तक सन्तोष दे सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति की अनेक समस्याओं को प्रजासत्तात्मक-राज्यों की अपेक्षा सर्वेसर्वा-राज्य अधिक सन्तोष-पूर्वक हल कर लेते हैं, क्योंकि वहाँ हर-किसी की सम्मति लेने की जरूरत नहीं रहती, जो ठीक जँचा झट-से कर दिया, परन्तु मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या, उसकी आधार-भत समस्या स्वतंत्रता की समस्या है। अगर रोटी की समस्या हल हो गई, और व्यक्ति की स्वतंत्रता की एक नई समस्या उठ खड़ी हुई, तो हल क्या हुआ? इसके अतिरिक्त सर्वेसर्वा-प्रणाली युद्ध के समय की प्रणाली है, शान्ति के समय की नहीं। जब युद्ध होता है, तब प्रजासत्तात्मक-राज्य भी सर्वेसर्वा-प्रणाली का आश्रय ले लेते हैं। उस संकट के समय बहस करने और प्रस्ताव पास करने की बातें नहीं की जा सकतीं। इससे भी स्पष्ट है कि जब संकट-काल न हो तब भी सर्वेसर्वा-राज्य-प्रणाली का आश्रय लेना स्वाभाविक अवस्था नहीं है। इसी लिए आज संसार में इन दो विचार-धाराओं का टाकरा हो रहा है। प्रजासत्तात्मक-विचारधारा, जिसमें व्यक्ति को स्वतंत्रता है, यह ठीक है, या सर्वेसर्वा-प्रणाली, जिसमें व्यक्ति को स्वतंत्रता नहीं है, यह ठीक है, ये दो विचार आज आपस में टकरा रहे हैं, इन्हीं के गिर्द संसार की राजनैतिक-शक्तियाँ केन्द्रित हो रही हैं, और भविष्य ने यह निर्णय करना है कि कौन-सी राजनैतिक विचार-धारा संसार में टिकने वाली है?

४. राज्य क्या कार्य करे, क्या न करे?
(Functions of the State)

इस बात का निर्णय कैसे होगा कि राज्य को कौन-से काम करने चाहिएँ, कौन-से नहीं करने चाहिएँ, किन कामों में हस्तक्षेप करना चाहिए, किनमें नहीं करना चाहिए? सर्वेसर्वा-प्रणाली का कहना तो यह है कि हर काम में हस्तक्षेप करना चाहिए, परन्तु साधारण तौर से भी विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है, कि (क) कई काम ऐसे हैं जिन्हें राज्य ही कर सकता है, (ख) कई ऐसे हैं जिन्हें दूसरे संगठन भी कर सकते हैं, परन्तु राज्य को उन्हें करने की ज्यादा सुविधा है, (ग) कई ऐसे हैं, जिन्हें राज्य न करे, तो अच्छा रहता है, (घ) कई ऐसे हैं जिन्हें राज्य कर ही नहीं सकता, करने लगता है तो बिगाड़ देता है। इन चारों के विषय में विचार करना आवश्यक है:—

(क) जो काम सिर्फ़ राज्य ही कर सकता है—कई ऐसे काम हैं जो सिर्फ़ राज्य ही कर सकता है, दूसरा कोई संगठन नहीं कर सकता, उन्हें करना राज्य का काम है। उदाहरणार्थ, नियम, व्यवस्था, शान्ति-स्थापना राज्य के सिवाय और कौन कर सकता है? राज्य के पास ही शक्ति है, दूसरा कोई शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता। व्यक्ति व्यक्ति के, व्यक्ति समूह के, या कोई समूह किसी दूसरे समूह के अधिकारों में हस्तक्षेप न करे, इस अव्यवस्था को राज्य के सिवाय कौन रोक सकता है? परन्तु राज्य में व्यवस्था दो तरह से रखी जा सकती है। एक न्याय

के आधार पर, दूसरी अन्याय के आधार पर। अगर राज्य मनुष्यता के अधिकारों को कुचल कर एक वर्ग का साथ देता है, दूसरे को दबाता है, तो इस प्रकार की शक्ति और व्यवस्था न्याय पर आश्रित नहीं कही जा सकती। राज्य का काम है कि भले ही कोई कितना शक्तिशाली हो, अगर वह असहाय पर हाथ उठाता है, तो शक्तिशाली को दण्ड दे, यही न्याय है, और इस प्रकार का न्याय करने का सामर्थ्य राज्य का ही हो सकता है, अन्य का नहीं। केवल व्यवस्था रखना राज्य का काम नहीं है, उसका काम ऐसी व्यवस्था रखना है, जो न्याय पर आश्रित हो। अगर कोई किसी को लूट ले, तो शोर तो वही मचायेगा, जो लूटा गया है। उसे दबा देने से भी शान्ति हो जाती है। कभी-कभी पुलिस ऐसा ही करती है। जो पिटा है, उसी को चुप कराकर व्यवस्था कायम कर देती है, परन्तु जो राज्य ऐसा होने देता है, वह न्याय पर शान्ति-व्यवस्था को कायम नहीं करता। लोगों के तो स्वार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं, अगर उन्हें अपने-अपने रास्ते पर चलने के लिए खुला छोड़ दिया जाय, तो आपाधापी मच जाय। इन भिन्न-भिन्न स्वार्थों में उन स्वार्थों को बढ़ावा देना जो सब के समान हैं, यह काम राज्य का है। तोल, माप, मूल्य, भूमि की व्यवस्था आदि काम भी राज्य के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं कर सकता।

(ख) जो काम राज्य दूसरों से अच्छा कर सकता है—कई ऐसे काम हैं जिन्हें राज्य दूसरों से अच्छा कर सकता है। उदाहरणार्थ, जंगलों की रक्षा, खनिज पदार्थों की देख-भाल, पशु-धन का संरक्षण, शिक्षा आदि ऐसे कार्य हैं जिन्हें दूसरे भी कर सकते हैं, परन्तु राज्य दूसरों से अधिक अच्छी तरह कर सकता है। क्रीड़ा-क्षेत्र बनाना, सार्वजनिक बाग़-बगीचे तथा ऐसे काम जिनमें आमदनी से ख़र्च ज्यादा होता है, दूसरे धनी-मानी लोग भी कर सकते हैं, परन्तु इन कामों को करने के लिए राज्य ज्यादा उपयुक्त संगठन है। 'समाज-कल्याण' के कार्य भी राज्य दूसरों से अच्छा कर सकता है क्योंकि इनमें आमदनी नहीं होती, ख़र्च ही होता है।

(ग) जिन कामों को राज्य न करे तो ठीक है—कई ऐसे काम हैं जिनमें राज्य हाथ न डाले तो ठीक रहता है। राज्य तो सम्पूर्ण देश के स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करता है, परन्तु हो सकता है कुछ छोटे-छोटे समूह अपने छोटे-छोटे स्वार्थों को लेकर मिलते हों, जिनका राज्य के स्वार्थों से कोई टाकरा न होता हो। उनमें राज्य हस्तक्षेप क्यों करे? करेगा, तो बेकार लोगों को चिड़चिड़ा बना देगा, उनमें प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगेगी।

(घ) जिन कामों को राज्य कर ही नहीं सकता—कई बातें ऐसी हैं जिन्हें राज्य कर ही नहीं सकता। उदाहरणार्थ, मनुष्य के विचारों, विश्वासों को राज्य कैसे दबा सकता है? विचार एक ऐसी चीज है जो दबाने से दबती नहीं, बढ़ती है। हमने देखा, 'सुधार-युग' (Reformation) तथा 'पुनःजागरण-युग' (Renaissance) का प्रादुर्भाव ही विचारों को दबाने से प्रतिक्रिया के रूप में हुआ।

मनुष्य का यह स्वभाव है, वह कुछ देर तक दबता है, परन्तु दबते-दबते एक ऐसा समय आ जाता है, जब वह दबने से इन्कार कर देता है। इसी कारण प्रतिक्रियाएँ हुआ करती हैं, क्रान्तियाँ हुआ करती हैं। वैयक्तिक-स्वतन्त्रता को, विचार की आजादी को कुछ देर तक दबाया जा सकता है, अनन्त-काल तक नहीं दबाया जा सकता।

५. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन

१९१४ के विश्व-युद्ध के बाद यह अनुभव किया गया कि विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिए सब राष्ट्रों का एक संगठन बनाने की आवश्यकता है। इस उद्देश्य से 'राष्ट्र-संघ' (League of Nations) की स्थापना हुई। परन्तु इसके बावजूद १९३९ का युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध के बाद फिर उसी भावना से 'संयुक्त-राष्ट्र-परिषद्' (U.N.O.) की स्थापना की गई। यह अनुभव किया जा रहा है कि राज्य अपने देश के भीतर तो शान्ति-व्यवस्था लाता है, परन्तु आज के दिनोंदिन बढ़ते संसार में प्रत्येक राष्ट्र का अपने साथ ही तो सम्बन्ध नहीं, दूसरों के साथ भी सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में हर समय झगड़े होते रहते हैं, वही युद्धों का रूप धारण कर लेते हैं। इन झगड़ों को बातचीत से, एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझ कर, क्यों न निपटाया जाय? अगर ऐसा किया जाय, तो अपने देश के कानून के अतिरिक्त 'अन्तर्देशीय-कानून' (International law) बनाने की, अन्तर्देशीय-संगठन बनाने की, अन्तर्देशीय सेना बनाने की आवश्यकता है। कोरिया की लड़ाई के समय अन्तर्राष्ट्रीय सेना बनाई गई थी। हाल में १९५६ में स्वेज नहर पर जब अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों ने हमला किया तब भी अन्तर्राष्ट्रीय-सेना स्वेज क्षेत्र में भेजी गई। हो सकता है, अगर यह प्रगति बढ़ती जाय, तो विश्व का एक राज्य बनाने की आवश्यकता अनुभव होने लगे। अगर झगड़े नहीं निपटते, तो दो ही तो रास्ते रह जाते हैं, या तो कोई एक राज्य इतना प्रबल हो जाय, जो सब को जीत कर अपना प्रभुत्व स्थापित कर ले, या सब मिल कर स्वयं एक नवीन राष्ट्र का निर्माण कर लें। जैसे अब तक संसार के इतिहास में नवीन-नवीन संगठन बनते रहे हैं, वैसे क्या यह नहीं हो सकता कि किसी समय संसार में सब मिल कर 'एक-राष्ट्र' के विचार को जन्म दें? क्या 'राष्ट्र-संघ' का बनना, उसके बाद 'संयुक्त-राष्ट्र-परिषद्' का बनना इस दिशा की तरफ़ संकेत नहीं कर रहे?

प्रश्न

१. राज्य का स्वरूप क्या है? इसके क्या-क्या काम हैं? अन्य 'समितियों' (Associations) से इसमें क्या भिन्नता है?

२. राज्य के भाव की उत्पत्ति तथा इसका विकास किस तरह हुआ?

३. राजा के विचार की किस प्रकार उत्पत्ति हुई, और कैसे नाश हो गया?

४. पहले 'राज-शक्ति', 'धर्म-शक्ति' तथा 'अर्थ-शक्ति'—ये तीनों केन्द्रिय थीं, फिर इनका 'विकेन्द्रीकरण' हुआ, इस प्रक्रिया में 'सुधार-युग' (Reformation), 'पुनः जागृति-युग' (Renaissance) तथा 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) का क्या हाथ था ?

५. प्रजासत्तातमक-राज्य (Democracy) की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? इसमें क्या-क्या दोष दीख रहे हैं ?

६. सर्वेसर्वा-राज्य-पद्धति (Totalitarianism) क्या है ? इसकी प्रजा-सत्तात्मक-राज्य से तुलना कीजिये। आपके मत में अन्त तक टिकने-वाली प्रणाली कौन-सी है, और क्यों ?

७. राज्य को क्या-क्या कार्य करने चाहियें, और क्या-क्या नहीं करने चाहियें ?

८. क्या यह सम्भावना है कि किसी समय संसार भर में 'एक-राष्ट्र' (One Nation) का विचार उठ खड़ा हो ?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. 'राज्य' 'समुदाय' की एजेंसी है—इस कथन की व्याख्या करते हुए कारण समझाइये कि राज्य क्यों समुदाय की एजेंसी है ?

(आगरा, १९५५)

२. 'भूल जाओ कि तुम किसान, श्रमिक, व्यापारी, वैज्ञानिक, पत्नी या माता हो। केवल इतना याद रखो कि तुम एक नागरिक हो। अपने ऊपर अन्य सभी के अधिकार भूल जाओ क्योंकि राज्य की तुलना में कोई भी महत्त्वपूर्ण नहीं।"—क्या यह कथन आपकी सम्मति में राज्य की शक्ति तथा उसके कार्यों का उचित वर्णन है ? (आगरा, १९५६)

२२

'महा-समितियाँ'—आर्थिक-संगठन

(THE GREAT ASSOCIATIONS—ECONOMIC ASSOCIATIONS)

मनुष्य के सब आर्थिक-संगठन 'भोजन' तथा 'सम्पत्ति'—इन दो के इर्द-गिर्द घूमते हैं। भोजन के लिए वह पहले शिकार करता था, फिर चरवाहे का जीवन व्यतीत करने लगा, फिर खेती करने लगा, अब कल-कारख़ाने चलाने लगा है। इस प्रक्रिया में से गुजरते-गुजरते सम्पत्ति उत्पन्न हो गई, उसका मूल्य होने लगा, वह बिकने लगी, और आज का यह विशाल आर्थिक-संगठन उठ खड़ा हुआ। ये आर्थिक-संगठन स्वतंत्र रूप से नहीं उत्पन्न हो जाते। जिस देश का जैसा भौतिक या सामाजिक पर्यावरण होता है, उसी के अनुकूल आर्थिक-व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। आर्थिक-संगठनों पर अपने समय की पूरी-पूरी छाप दिखाई देती है। जहाँ बरफ़ पड़ती हो, खेती हो ही न सकती हो, वहाँ कृषि की आर्थिक-व्यवस्था उत्पन्न नहीं होती, जहाँ भूमि की कोई आवश्यकता न हो, वहाँ भूमि का कोई मूल्य नहीं होगा, जहाँ आविष्कार न हुए हों, वहाँ सोने की कानों के होते हुए भी लोग निर्धन होंगे। हम इस अध्याय में देखेंगे कि देश-काल के प्रभाव से किस-किस समय में किस-किस प्रकार का आर्थिक-संगठन उत्पन्न हो जाता है। मनुष्य पहले शिकारी था, फिर चरवाहा और कृषक बना, फिर वर्त्तमान अवस्था में पहुँचा---इस क्रम से गुजरते हुए उसने कौन-कौन से आर्थिक संगठन उत्पन्न किये?

१. शिकारी जीवन में आर्थिक-संगठन

जब मनुष्य शिकार करके अपना निर्वाह करता था, तब उसे भोजन की चिन्ता ज्यादा नहीं थी। थोड़े मनुष्य थे, जंगल के जानवर और वृक्षों के फल जरूरत से ज्यादा थे, उन्हीं को वह खा-पी लेता था। उस समय किसी प्रकार का आर्थिक संगठन नहीं के बराबर था। आज के विकसित समाज में जितने आर्थिक संगठन उत्पन्न हो गये हैं उनका बीज रूप से तो उसी समय से प्रारम्भ हो गया था, परन्तु वह प्रारम्भ अत्यन्त संक्षिप्त-सा था। उदाहरणार्थ :--

(क) 'श्रम-विभाग' (Division of labour) का रूप उस समय 'आयु तथा लिंग' (Age and sex)---बस इतना ही था। कुछ वृद्ध थे, कुछ युवा थे, कुछ पुरुष थे, कुछ स्त्री थे---इसके अतिरिक्त उनमें दूसरा विभाग ही नहीं

था। वृद्ध अनुभवी थे, युवा उनके अनुभव से सीखते थे; पुरुष शिकार मार कर लाते थे, स्त्रियाँ उसे पका देती थीं---यह प्रारम्भिक श्रम-विभाग की व्यवस्था थी।

(ख) वैयक्तिक-सम्पत्ति का विचार भी अभी अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में था। सम्पत्ति तो तब बनती है जब बहुत-सी चीज़ें हों। जब हो ही कुछ नहीं, तब सम्पत्ति क्या, और उनमें निजूपन क्या? फिर भी तीर-कमान, भाला, लाठी, ओढ़ने की छाल आदि निजी सम्पत्ति थी, भूमि को सम्पत्ति मानने का विचार अभी नहीं उत्पन्न हुआ था। वे अपने तीर-भाले को तो ले-दे सकते थे, परन्तु आज जैसे जमीन को लिया-दिया जाता है, बेचा जाता है, वैसे ज़मीन या अन्य किसी वस्तु को वे लेते-देते नहीं थे। भूमि उनकी सबकी साझी थी, शिकार मारते थे, तो वह भी सब का साझा होता था, सब को बाँट दिया जाता था। इस दृष्टि से उस समय की आर्थिक-व्यवस्था समाजवादी व्यवस्था थी।

(ग) उन्हें जिस चीज की ज़रूरत पड़ती थी उसे अपने-आप पूरा कर लेते थे, किसी दूसरे से लेने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। एक तरह से वे आत्म-निर्भर थे। आज पैदा कोई करता है, उसका इस्तेमाल कोई दूसरा करता है---इस प्रकार की व्यवस्था उस समय नहीं थी। ऐसी व्यवस्था नहीं थी, तो व्यापार भी नहीं था, अगर थोड़ा-बहुत लेन-देन होता था, तो मुफ़्त होता था, दिया तो दे दिया, लिया तो ले लिया, जो चीज ली-दी जाती थी, वह ज़रूरत निकल जाने पर वापस कर दी जाती थी, उन लोगों में हमारी तरह बनियापन न था। आतिथ्य की भावना ज़बर्दस्त थी, किसी को ज़रूरत पड़ती थी, तो उसकी पूरी मदद की जाती थी, ज़्यादा-से-ज़्यादा यह भावना हो सकती थी कि हमें ज़रूरत पड़ेगी तो हमारा भी आतिथ्य होगा, दूसरे लोग हमारी भी मदद करेंगे।

२. पशु-पालन तथा कृषि-जीवन में आर्थिक-संगठन

(क) शिकारी जीवन में एक व्यक्ति के पालने के लिए कम-से-कम एक वर्गमील ज़मीन की, और कभी-कभी दस से बीस वर्गमील ज़मीन की ज़रूरत पड़ती है। ज्यों-ज्यों आबादी बढ़ती जाती है, अनुपात में ज़मीन कम होती जाती है। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। ऐसे समय में मनुष्य ने दो आविष्कार किये। एक तो था, पशुओं को पालना, दूसरा था, खेती करना। पहला आविष्कार पुरुष ने किया, दूसरा आविष्कार स्त्री ने किया। जंगली हालत में हर समय भोजन नहीं मिल सकता था, शिकार हो तभी भोजन मिलता था, अब पशुओं के पालने पर, जब चाहें दूध निकाल सकते थे, खेती करने पर आगे के लिए बचाकर भी रख सकते थे। आगे के लिए बचाकर अगर किसी चीज को रखा जा सकता है, तो उस चीज का बड़ा मूल्य है, इसलिए मूल्य है क्योंकि अगर वह नष्ट हो जाय, तो मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसका नुकसान हो गया। इसके अतिरिक्त पशु-पालन तथा कृषि-जीवन से भूमि का मूल्य भी बढ़ गया। शिकारी हालत में तो मनुष्य को जगह-जगह भागना पड़ता था, जहाँ शिकार पहुँचता था

वहीं उसे पहुँचना होता था, इसलिए उसके लिए भूमि का कुछ मूल्य न था, परन्तु अब उसे पशुओं को पालने और खेती करने के लिए एक निश्चित भूमि की ज़रूरत पड़ गई, इसलिए भूमि का मूल्य समझा जाने लगा। शिकारी हालत में किसी वस्तु का कोई मूल्य नहीं था, भूमि का मूल्य लगाना ऐसी बात थी जैसे कोई बादलों का और हवा-पानी का भाव-ताव करे, परन्तु पशु तथा कृषि-युग में भूमि का मूल्य समझा जाने लगा, परन्तु अब भी भूमि साझी सम्पत्ति थी, सारा-का-सारा कुनबा या कबीला उसका मालिक था, वह किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति नहीं थी, सुविधा के लिए उसे भिन्न-भिन्न घरानों में बाँट दिया जाता था ताकि वे खेती करें, खायें-पीयें, और अपनी आजीविका का निर्वाह करें।

(ख) जब किसी को कोई चीज़ दे दी जाती है, और उसका लाभ उसी को पहुँचता है, दूसरे को नहीं, तब वह ज़्यादा जी तोड़ कर काम करता है—इस भावना से भूमि के निजीपन का विचार उत्पन्न हुआ। हर-एक घराना अपनी-अपनी खेती करने लगा और भूमि के मूल्य का विचार दिनोंदिन बढ़ता चला गया। किसान के लिए ज़मीन ही सब-कुछ हो गई क्योंकि वही उसकी आजीविका का साधन थी, वही उसकी तथा उसके बाल-बच्चों की परवरिश करती थी।

(ग) धीरे-धीरे पशु-पालन तथा कृषि का काम एक-साथ होने लगा। किसान का काम बैल के बग़ैर नहीं चलता था, बैल के साथ वह अन्य पशुओं को भी पालने लगा। भेड़-बकरी को पालने से उसे ऊन मिल जाती थी, उससे वह कपड़े बनाने लगा। पहले-पहल तो वह अपने लायक ही अनाज पैदा करता था, अपने लायक ही कपड़े बना लेता था, बचा हुआ अनाज और ऊन जिनको उनकी ज़रूरत होती उन्हें दे देता था, किसी चीज़ का कोई मूल्य नहीं लेता था, परन्तु धीरे-धीरे अवस्था ऐसी भी आयी जब एक किसान के पास अनाज था, दूसरे के पास ऊन थी, इन दोनों ने अदला-बदला कर लिया। इस समय इस विचार ने जन्म लिया कि मुफ़्त लेने-देने के बजाय अदला-बदला क्यों न कर लिया जाय। इसी विचार से वस्तु-विनिमय (Barter)-पद्धति उत्पन्न हो गई। अब आगे से जिसको किसी चीज़ की ज़रूरत होती थी, वह उसके बदले में दूसरी चीज़ देकर उसे बदल लेता था। अभी 'विनिमय' (Exchange) के लिए सिक्के का आविष्कार नहीं हुआ था।

(च) किसान ने गाय-बैल-बकरी पाली, तो दूर-दूर जाने के लिए घोड़ा भी पाला। जब अदला-बदला होने लगा, तो आस-पास के लोगों में भी अदला-बदला होने लगा। घोड़ों ने इस काम में बहुत सहायता पहुँचायी। मनुष्य घोड़े पर चढ़ कर दूर-दूर सामान पहुँचा सकता था। उस समय रास्ते तो बने नहीं थे, पगडंडियों से एक-दूसरे गाँव में लोग घोड़ों पर आते-जाते थे। किसी के घर अनाज ज़्यादा था, किसी के घर कपड़ा ज़्यादा था, वे दूसरे गाँवों में जाकर अनाज से कपड़ा, कपड़े से अनाज बदल लाते थे। इसी से व्यापार का श्रीगणेश हुआ। जो गाँव नदियों के किनारे थे, वहाँ नौकाओं द्वारा आसानी से आना-

जाना हो सकता था, वहाँ माल लेकर लोग आने-जाने लगे, साल में एक-दो बार माल बेचने के लिए वहाँ मेले भरने लगे, वही गाँव बढ़ कर शहर हो गये।

(ङ) व्यापार प्रकृति की देन नहीं है, मनुष्य की ईजाद की हुई चीज है। जब मनुष्य ने भेड़ की ऊन से कपड़ा बुनना शुरू किया, तब उसने एक नये आर्थिक-संगठन को जन्म दिया। हाथ से एक नहीं, अनेक काम बनने लगे। जब किसी ने चर्खे की खोज की तो कपड़ा बना, जब कुम्हार ने चाक की खोज की तो बर्तन बने, अन्य खोजों से टोकरियाँ बनीं, और न-जाने क्या-क्या बनने लगा। ये सब भिन्न-भिन्न दस्तकारियाँ (Handicrafts) थीं। एक आदमी हर-एक काम नहीं कर सकता था, अतः श्रम-विभाग का सिद्धान्त जो शिकारी हालत में सिर्फ़ पुरुष के शिकार लाने और स्त्री के शिकार पका देने तक सीमित था अधिक विस्तृत होने लगा, भिन्न-भिन्न दस्तकारियों को भिन्न-भिन्न लोग करने लगे। इसमें स्त्री ने भी पुरुष का साथ दिया। वह भी घर में बैठी कोई-न-कोई दस्तकारी का काम करती थी। सूत कातती थी, कपड़ा बुनती थी, दूसरा-कुछ बना सकती तो वह भी बनाती थी। इस समय घर ही दस्तकारी का केन्द्र था। स्त्री-पुरुष-बच्चे सब मिल कर काम करते थे, घर से बाहर जाकर किसी दूसरी जगह काम करने की जरूरत नहीं थी। शुरू-शुरू में तो अपनी जरूरियात के लिए ही वे सब-कुछ बनाते थे, धीरे-धीरे जो आर्डर दे जाता था उसके लिए भी चीज बनाने लगे। अभी ऐसे बाजार नहीं उत्पन्न हुए थे जिनमें आता-जाता कोई ग्राहक वस्तु को देख कर उसे ख़रीद ले। धीरे-धीरे दस्तकारी बढ़ी, व्यापार बढ़ा, व्यापार के ऐसे केन्द्र भी बनने लगे जिनमें आर्डर की चीज ही नहीं बनती थी, ढेरों माल बन कर आता था, और जिसे जो चीज पसन्द आयी वह उसे मोल ले लेता था।

३. सामन्तशाही-जीवन में आर्थिक-संगठन

कृषि-जीवन के बाद 'सामन्त-शाही' (Feudalism) का युग आया। सामन्तशाही का शुद्ध रूप युरोप के इतिहास में दीख पड़ता है, अतः इसे समझने के लिए हमें युरोप की तरफ़ दृष्टि डालनी होगी। युरोप में एक ऐसा समय आया, जब रोमन राज्य पर जंगली जातियों ने आक्रमण करके उसे तहस-नहस कर दिया। चारों तरफ़ अव्यवस्था फैल गयी। इन जंगलियों ने किसानों से भूमि छीननी शुरू की, और उस पर अपना आधिपत्य जमाना शुरू किया। इन जंगलियों के आक्रमण से बचने के लिए कमजोर किसानों ने अपने से बलशाली किसानों की शरण ग्रहण की। उनकी रक्षा प्राप्त करने के बदले में उन्होंने अपनी भूमि उन्हीं को दे दी, और स्वयं उन्हीं की तरफ़ से नियुक्त किये किसान की तरह उसे जोतने लगे। इस प्रकार दो वर्ग उत्पन्न हो गये। एक वर्ग तो वह था जो 'भूमि-धर' कहा जा सकता है, दूसरा वर्ग वह था जो 'भूमि-हीन' कहा जा सकता है। इन भूमिहीनों में दास भी थे। भूमिहीन-वर्ग जोतता था, बोता था, खेती करता था, किन्तु इस सब सम्पत्ति का मालिक भूमिधर-वर्ग था। भूमिधर-वर्ग ही सामन्त-वर्ग कहलाता था। लैटिन में "फ़ीएफ़" (Fief) का अर्थ उस भूमि-

खंड से है जिसका मालिक कोई और होता था, परन्तु उसे जोतता-बोता कोई दूसरा था। इस पद्धति में भूमि का मालिक तो 'सामन्त' हो गया था, वही किसान को भूमि जोतने-बोने के लिए देता था, बदले में किसान की जान-माल की रक्षा की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता था, इसलिए 'फ़ीएफ़' (Fief) के कारण इसे 'फ्यूडलिज़्म' (Feudalism) कहते थे। सामन्त-लोग जिन लोगों को भूमि-खंड (Fief) देते थे उनका यह कर्त्तव्य था कि सामन्त की नौकरी बजायें, अपने को उसकी आधीनता में रखें, और समय पर उसके लिए युद्ध लड़ें। इनको 'वैसल' (Vassal) कहा जाता था। इस प्रकार भूमिधरों को 'सामन्त' (Feudal lords) तथा सामन्तों से प्राप्त भूमि का उपयोग करने वालों को 'किसान' अथवा दूसरे शब्दों में 'दास' (Vassal) कहते थे। जैसे सामन्त-पद्धति के शुरू-शुरू में सामन्त लोग किसानों को भूमि-खंड (Fief) देते थे, वैसे आगे चलकर जब सिक्के का चलन हुआ, तब १३वीं शताब्दी में वे इन लोगों को भूमि-खंड देने के बजाय कुछ बंधी हुई रकम देने लगे, और जिन लोगों को इस प्रकार की रकम मिलती थी, वे सेना का काम कराने लगे। क्योंकि सामन्तों को हर समय ऐसे लोगों की जरूरत रहती थी जो किसानों की जान-माल की रक्षा कर सकें, इसलिए उनके लिए इस प्रकार की सेना रखना आवश्यक था। किसानों को दिये गये भूमि-खंडों में कृषि कराने से सामन्तों को जो आमदनी होती थी, वह उनके अपने गुज़ारे और इस सेना के काम आती थी।

भारत में ठीक इस तरह की 'सामन्त-पद्धति' (Feudalism) तो नहीं थी, परन्तु ऐसी पद्धति जरूर थी जिसका परिणाम जमींदारी-प्रथा हुई। सामन्त-पद्धति में भी भूमि का स्वामी सामन्त था, जमींदारी-प्रथा में भी भूमि का स्वामी जमींदार था। हमें इसके ऐतिहासिक-विवेचन में जाने की ज़रूरत नहीं, विषय को समझने के लिए इतना समझ लेना काफ़ी है कि हम जिस अगले युग, अर्थात् औद्योगिक क्रांति से पहले का वर्णन करने लगे हैं, जमींदारी-प्रथा उस युग से भी पहले की वस्तु है।

४. सामन्तवाद के बाद तथा औद्योगिक-क्रांति से पहले के आर्थिक-संगठन

संसार की वर्त्तमान आर्थिक-व्यवस्था पर मुख्य प्रभाव युरोप की आर्थिक-व्यवस्था का पड़ा है, अतः वर्त्तमान आर्थिक-व्यवस्था को समझने के लिए युरोप के आर्थिक-संगठनों का अध्ययन आवश्यक है। सामन्तवाद के बाद, और औद्योगिक-क्रांति से पूर्व, आर्थिक-संगठनों ने भिन्न-भिन्न रूप धारण किये। इन रूपों में किन्हीं का प्रारम्भ मनुष्य के शिकारी जीवन के समय, और किन्हीं का पशु-पालन तथा कृषि-जीवन के समय हो चुका था, किन्हीं का प्रारम्भ सामन्तशाही के युग में, और किन्हीं का इस युग के बाद तथा औद्यो[illegible]क-क्रांति से पूर्व हुआ। हमारे कहने का अभिप्राय सिर्फ़ यह है कि इस युग में इ[illegible] संगठनों का रूप स्पष्ट-स्पष्ट दीखने लगा। वे संगठन निम्न थे :—

(क) दस्तकारी (Hand-manufacture)—कृषि-युग में ही किसान ने खेती-बाड़ी के साथ-साथ हाथ के दूसरे काम शुरू कर दिये थे जिससे श्रम-विभाग का नियम समाज में काम करता हुआ दीखने लगा था। जब ग्रीक तथा रोमन सभ्यताओं का विकास हुआ, तब भिन्न-भिन्न दस्तकारियाँ भी चमक उठीं, तथा श्रम-विभाग और अधिक बढ़ा। ग्रीक तथा रोमन राज्यों के विनाश के बाद यह आर्थिक-संगठन लुप्त-प्राय हो गया था, परन्तु सामन्तशाही के समय फिर भिन्न-भिन्न प्रकार की दस्तकारियाँ प्रारम्भ हुईं। सामन्त की जमींदारी में कई कारीगर रहते थे जो सामन्त के लिए सामान तैयार करते थे, और जरूरत से ज्यादा जो-कुछ बन जाता था, उसका दूसरे सामान के साथ विनिमय कर लेते थे। एक तरह से इस समय हस्त-निर्मित वस्तुओं का प्रचार बढ़ा।

(ख) गृहोद्योग (Home Industry)—इस समय जो कारीगरी का काम होता था वह घर में ही होता था, और सामान घर में बन चुकने के बाद बाजार में जाता था। कारीगरों के यहाँ दस्तकारी सीखने के लिए शिष्य-गण आते रहते थे, जिन्हें जबतक वे काम सीखते थे 'एपरेंटिस (Apprentice) तथा सीख जाने पर 'जरनीमैन (Journeyman) कहा जाता था।

(ग) वस्तुओं के विनिमय की व्यवस्था (System of Exchange of Goods)—शुरू-शुरू में तो कारीगर घर-घर फिरता था और जिसे उसकी चीज की जरूरत होती उसके घर रहकर उस वस्तु को बना देता था। अगर किसी को जूते की जरूरत होती, तो जूते का कारीगर उसके घर ठहर कर घर भर के जूते बना देता, कपड़े की जरूरत होती, तो जुलाहा उसके घर रहकर घर भर के कपड़े तैयार कर देता था। धीरे-धीरे कारीगरों ने, ख़ास कर शहर के कारीगरों ने, अपनी-अपनी दुकानें खोल लीं। इन दुकानों में कुछ सामान तो वे आर्डर ला-लाकर बनाते थे, कुछ बना-बनाया बेचते थे। कहीं-कहीं सामान बेचने के लिए मेलों की, पैंठों की व्यवस्था होने लगी। जिनके पास सामान अधिक होता, वे उन पैंठों में जाकर सामान बेच आते। उस समय तक 'वस्तु-विनिमय' (Barter)-पद्धति द्वारा ही माल बेचा जाता था, पीछे जब सिक्के का चलन हुआ तब माल रुपए-पैसे से बेचा जाने लगा।

(घ) व्यापारियों तथा कारीगरों के संघ (Merchant Guilds and Craft Guilds)—ज्यों-ज्यों व्यापार बढ़ने लगा, त्यों-त्यों व्यापारियों के 'संघ' बनने लगे, जिनका काम व्यापार की सुविधाओं को बढ़ाना था। एक ही तरह का व्यापार करने वाले व्यापारी लोग 'संघ' बनाने लगे, और माल बनाने तथा उसकी खपत बढ़ाने की व्यवस्था करने लगे। इनका नाम 'व्यापारी-संघ' (Merchant Guilds) था। इनकी देखादेखी कारीगर भी अपने 'संघ' बनाने लगे जिनका काम एक ही तरह की कारीगरी में लगे लोगों का संग्रह करके माल बनाकर दूर-दूर भेजना था। 'व्यापारी-संघ' ११वीं से १४वीं शताब्दी तक फलते-फलते रहे, 'दस्तकारी-संघ' (Craft Guilds) १२वीं से १६वीं शताब्दी

तक फूले-फले। 'व्यापारी-संघों' का मुकाबिला 'दस्तकारी-संघों' ने किया, और इन्होंने 'व्यापारी-संघों' को प्रतियोगिता में समाप्त कर दिया। इधर 'दस्तकारी-संघों' का मुकाबिला 'गृहोद्योग-पद्धति' (Domestic system) ने किया, और इसने 'दस्तकारी-संघों' को समाप्त कर दिया। 'दस्तकारी-संघों' और 'गृहोद्योग-पद्धति' में संघर्ष का कारण यह हुआ कि जो कारीगर घरों में बैठे माल बनाते थे वे बाज़ार से दूर होने के कारण अपने माल को आसानी से नहीं बेच सकते थे। उन्होंने 'दस्तकारी-संघों' में शामिल होने का प्रयत्न किया, परन्तु उन्हें संघ में नहीं लिया गया। तंग आकर भिन्न-भिन्न गृहोद्योगों के कारीगरों ने 'दस्तकारी-संघों' का मुकाबिला करना शुरू किया, और सस्ता माल बेच सकने के कारण उन्हें समाप्त कर दिया।

(ङ) चुंगी (Toll and Taxes)--सामन्तशाही के समय एक सामन्त की ज़मींदारी से दूसरे सामन्त की ज़मींदारी में जब व्यापारी पहुँचता था, तो उससे चुंगी ली जाने लगी। व्यापारी अपने पहले सामन्त से तो पल्ला छुड़ा कर निकला था, दूसरे सामन्त ने जिसकी सीमा में वह प्रविष्ट हुआ था उससे लाभ उठाने का अच्छा मौका देखा तथा सड़कों पर चुंगी की चौकियाँ बैठ गईं। आज भी भिन्न-भिन्न राज्यों में चुंगी की यह व्यवस्था मौजूद है।

(च) साझेदारी तथा संयुक्त-पूंजी-संगठन (Partnership and Joint Stock Company)--इस समय की एक उपज 'साझेदारी' (Partnership) तथा 'संयुक्त-पूँजी-संगठन' (Joint Stock Company) है। ज्यों-ज्यों व्यापार बढ़ा, यह अनुभव किया जाने लगा कि अलग-अलग व्यापार करने की अपेक्षा एक-दूसरे के साथ साझेदारी में व्यापार करने से प्रतियोगिता कम होती है। इसके साथ ही, जिन लोगों के पास कम पूँजी थी, उन्होंने इस हिस्सेदारी के विचार को इतना बढ़ा दिया कि थोड़ी-थोड़ी पूँजी लगाकर बहुत भारी पूँजी इकट्ठी की जाने लगी और उससे बहुत बड़े-बड़े व्यापार चलाने लगे। 'साझेदारी' और 'संयुक्त-पूँजी-संगठन' में भेद यह था कि प्रथा के अनुसार 'साझीदारी' में प्रत्येक साझीदार की नफ़े-नुकसान में पूरी-पूरी ज़िम्मेदारी थी, 'संयुक्त-पूँजी-संगठन' में जिस साझीदार का जितना हिस्सा था उतने तक ही उसकी ज़िम्मेदारी सीमित थी, उससे अधिक नफ़े-नुकसान में वह हिस्सेदार नहीं था। अगर किसी का इस संगठन में सौ रुपया लगा है, तो सौ रुपए के अनुपात में जितना हानि-लाभ, लेना-देना बनता था उतनी ही उसकी ज़िम्मेदारी बनती थी, इससे जहाँ लाभ पर रोक पड़ जाती थी, वहाँ हानि पर भी रोक लग जाती थी।

५: औद्योगिक-क्रांति के बाद से वर्तमान-काल तक के आर्थिक-संगठन

[पूंजीवाद]

१८वीं सदी में युरोप में औद्योगिक-क्रांति का प्रारम्भ हुआ। भिन्न-भिन्न प्रकार के आविष्कार हुए जिनके परिणाम-स्वरूप उद्योग-धन्धे हाथ से चलने के

बजाय मशीन से चलने लगे। अबतक घर ही उद्योग का केन्द्र था, अब घर में मशीन लगा सकना कठिन हो गया। मशीन के लिए बहुत अधिक जगह तथा बहुत अधिक काम करने वालों की जरूरत थी। उद्योग घर से बाहर की ओर चल दिया, और श्रम, श्रमी तथा श्रम-धन जैसी चीजें उत्पन्न हो गईं। अबतक जमीन को ही सम्पत्ति समझा जाता था, अब बणिज-व्यापार के बड़े पैमाने पर बढ़ जाने के कारण सम्पत्ति का मुख्य रूप 'भूमि' न रहकर, 'रुपया' हो गया। अबतक 'भूमि' की उपज के अदला-बदला करने से वस्तुओं का 'विनिमय' (Exchange) होता था, इसे 'वस्तु-विनिमय' (Barter) कहा जाता था, अब रुपए-जैसी वस्तु का आविष्कार हो गया, और भूमि को जमा करने के बजाय रुपया जमा करना मनुष्य का लक्ष्य हो गया। क्योंकि इस युग में रुपये का, पूँजी का महत्त्व बढ़ गया, इसलिए इस युग को 'पूँजीवाद' (Capitalism) का युग कहा जाता है। 'पूँजीवाद' में जो नये-नये आर्थिक-संगठन बने उनमें से निम्न मुख्य थे :—

(क) सम्पत्ति-जायदाद (Property)—सामन्तशाही के समय 'भूमि' को ही जायदाद या सम्पत्ति समझा जाता था। इस युग में 'भूमि' (Land) और 'धन' (Money) पृथक्-पृथक् हो गये। आवश्यक भी था, क्योंकि इस युग में व्यापार इतना बढ़ गया था कि विनिमय के लिए किसी ऐसे पदार्थ की आवश्यकता थी जिसे आसानी से किसी भी वस्तु में बदला जा सकता था। रुपया-पैसा तो ऐसी चीज है जिसे कहीं भी रखा जा सकता है, किसी भी चीज में तब्दील किया जा सकता है, दूसरी कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे आसानी से संभाल कर रखा जा सके या अन्य वस्तुओं के साथ अदला-बदला जा सके। इसके साथ अबतक सम्पत्ति पर किसी व्यक्ति का स्वामित्व केवल प्रथा के आधार पर तो माना जाता रहा था, अन्य किसी आधार पर नहीं। इस युग में मनुष्य की निजी सम्पत्ति पर उसका स्वामित्व प्रथा के आधार पर नहीं, कानून के आधार पर माना जाने लगा। यह समझा जाने लगा कि प्रत्येक व्यक्ति की निजी सम्पत्ति की रक्षा करना राज्य का काम है। कहाँ तो शिकारी अवस्था में मनुष्य की निजी सम्पत्ति ही नहीं थी, कहाँ अब मनुष्य की निजी भूमि तथा रुपए-पैसे के रूप में स्थावर एवं जंगम सम्पत्ति का निर्माण हो गया।

(ख) पूंजी तथा साख (Money and Credit)—पहले तो 'भूमि' से 'धन' का विचार अलग हुआ, फिर ज्यों-ज्यों व्यापार बढ़ने लगा त्यों-त्यों धन को जमा रखना भी कठिन हो गया। इसके अतिरिक्त इतना सिक्का कहाँ से आता। इसलिए 'पूँजी' (Money) के साथ-साथ पूँजी के लिए 'साख' (Credit) का विचार उत्पन्न हुआ। साख का मतलब यह है कि रुपया न हो, तब भी काम चल सके। पहले कभी सम्पत्ति के लिए 'भूमि' की जरूरत थी, फिर 'भूमि' की जगह 'धन' की जरूरत होने लगी, अब 'धन' की जगह भी 'साख' की जरूरत हो गई। जिसके पास 'धन' नहीं, पर 'साख' है, वह जितना 'धन' चाहिए उससे भी ज्यादा रुपए का व्यापार कर सकता है।

(ग) बड़े पैमाने पर पैदावार (Large-scale Production)—पहले घर में छोटे-छोटे कारख़ाने लगे होते हैं, अब नवीन आविष्कारों के कारण औद्योगिक-क्रांति हो जाने से बड़ी-बड़ी मशीनें लगने लगीं, बड़े पैमाने पर पैदावार होने लगी। एक-एक श्रमी के पास मशीन की इतनी ताकत हो गई जिससे १८–२० आदमियों का काम इकला आदमी कर सकता था। इन साधनों से पहले से कई गुना माल पैदा होने लगा।

(घ) कौरपोरेशन (Corporation)—'संयुक्त-पूँजी-संगठन' (Joint Stock Company) का विकास होते-होते 'कौरपोरेशन' का विकास हुआ। वर्त्तमान युग का यह आर्थिक-संगठन अत्यन्त महत्त्व का है। इसके अनेक लाभ हैं, अनेक हानियाँ भी हैं। लाभ तो ये हैं :—

[कौरपोरेशन के लाभ]

(i) इनके सदस्यों की देनदारी उतने ही तक सीमित रहती है जितनी रकम की इनकी पूँजी है। अगर १ करोड़ की एक कम्पनी है, और १० करोड़ की उसकी देनदारी है, तो उस कम्पनी की कानूनी देनदारी १ करोड़ तक ही है, उससे अधिक नहीं।

(ii) इस उपाय से थोड़ी-थोड़ी रकमों से एक बड़ी भारी रकम इकट्ठी हो जाती है। एक व्यक्ति १० करोड़ रुपया किसी व्यापार में नहीं लगा सकता, परन्तु १० लाख आदमी सौ-सौ रुपया लगाकर एक बड़ा भारी व्यापार कर सकते हैं।

(iii) साझीदारी में तो अगर एक साझीदार मर जाय, तो साझीदारी ख़त्म करनी पड़ती है, या नई साझीदारी बनानी पड़ती है, परन्तु 'कौरपोरेशन' तो अमर है। कितने ही हिस्सेदार क्यों न मर जाँय, कौरपोरेशन वैसे-का-वैसा बना रहता है। अब तक राज्य ही एक अमर संगठन था, परन्तु वर्त्तमान आर्थिक-व्यवस्था में कौरपोरेशन भी एक अमर संगठन हो गया है।

(iv) कौरपोरेशन के हिस्से आसानी से बेचे जा सकते हैं, क्योंकि वे थोड़ी-सी रकम के होते हैं। अगर किसी को अपना रुपया वापस चाहिए, तो वह आसानी से उसे रोकड़ में बदल सकता है।

(v) कौरपोरेशन का प्रबन्ध उसके हिस्सेदारों को नहीं करना पड़ता। बड़े-से-बड़ा हिस्सेदार आराम से घर बैठे व्यापार का मुनाफ़ा ले सकता है। प्रबन्ध के लिए अच्छे-से-अच्छे व्यापार में निपुण व्यक्ति ऊँचा वेतन देकर मिल सकते हैं।

[कौरपोरेशन की हानियाँ]

(i) कौरपोरेशन का संचालन केवल कानूनी दृष्टि-कोण से होता है अतः कानून की चंगुल से बाहर रहते हुए जहाँ तक हो सके वहाँ तक लोग इसे लूटने का प्रयत्न करते हैं। कौरपोरेशन के पास इतना बेतहाशा रुपया होता है कि उसका फ़ायदा उठाने की जिससे हो सकता है कोशिश किये बग़ैर नहीं चूकता।

(ii) कौरपोरेशन को कोई एक छोटा-सा गुट जिधर चाहता है घुमाता है। कभी-कभी एक आदमी ५१ प्रतिशत हिस्से ख़रीद कर इसका मालिक बन बैठता है; कभी इससे कम हिस्से ख़रीद कर भी इसे जिधर चाहता है घुमाता है। इसके हिस्सेदार इतने ज्यादा होते हैं कि सब मिलकर इकट्ठे नहीं हो सकते इसलिए जो लोग ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं वे अपना गुट बनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगते हैं।

(ङ) कारटल (Cartels)—जब एक ही स्वार्थ से काम करने वाले भिन्न-भिन्न देशों के कौरपोरेशन मिलकर एक गुट बना लेते हैं, और भिन्न-भिन्न देशों के व्यापारिक-क्षेत्रों को बाँट लेते हैं, अमरीका में अमुक कम्पनी माल भेजेगी, दूसरी नहीं भेजेगी, जर्मनी-फ्रांस में अमुक कम्पनी माल भेजेगी, दूसरी नहीं भेजेगी—इस प्रकार आपस में बाँट लेते हैं; तब उन अन्तर्राष्ट्रीय-आर्थिक-संगठनों को 'कारटल' कहते हैं। इनका उद्देश्य 'प्रतियोगिता' (Competition) को बिलकुल ख़त्म कर देना और संसार भर में 'एकाधिकार' (Monopoly) प्राप्त करना होता है। वर्त्तमान युग के नवीन-नवीन आविष्कारों से जो दिनोंदिन प्रतियोगिता बढ़ती जाती है उसका मुकाबिला कर के, किसी का भला न हो, अपना भला हो, अपना लाभ बढ़े—सिर्फ़ इसी उद्देश्य से 'कार्टलों' का संगठन हुआ है।

(च) होल्डिंग-कम्पनियाँ (Holding Companies)—वर्त्तमान आर्थिक संगठन में कई ऐसी कम्पनियाँ बनी हैं जो दूसरी कम्पनियों में इतने हिस्से ख़रीद लेती हैं जिससे उन कम्पनियों का स्वामित्व होल्डिंग-कम्पनी के हाथ में आ जाता है। इस प्रकार ये होल्डिंग-कम्पनियाँ अन्य पचासों कम्पनियों के अधिकांश हिस्से ख़रीद कर उनकी मालिक बन बैठती हैं। कई ऐसी होल्डिंग-कम्पनियाँ बनती हैं, जो इनके भी अधिकांश हिस्से ख़रीद लेती हैं, और इस प्रकार एक-के-ऊपर-एक होल्डिंग-कम्पनी बनती चली जाती है। अन्त में जाकर कुछ इने-गिने लोगों के हाथ में देश की सारी सम्पत्ति आ जाती है।

(छ) मज़दूरी (Wages)—हम पहले देख आये हैं कि सामन्त-युग में 'किसान' अथवा 'दास' (Vassal) अपने को 'सामन्त' (Feudal lord) की शरण में ले आता था, और उसी के लिए काम करता था। वह खेती करता, कपड़े बुनता, टोकरियाँ बनाता तथा अन्य दस्तकारी के काम करता था, परन्तु यह सब-कुछ अपने 'सामन्त' के लिए। सामन्त-युग के बाद का जो समय आया उसमें 'व्यापारी-संघ' (Merchant guilds) बने, जो इन किसानों से काम कराते थे, और उनके बनाये हुए माल को बाज़ारों में और मेलों में बेचते थे। व्यापारी लोग इन कारीगरों को कच्चा माल और औज़ार देते थे, साथ-साथ कुछ मज़दूरी देते थे। इस समय बहुत-से 'दास-किसान' (Vassals) इन व्यापारियों से पैसा पैदा करके अपने मालिकों की दासता से मुक्त हो गये और स्वतंत्र रूप से मज़दूरी लेकर व्यापारियों के लिए माल बनाने लगे। होते-होते जैसे पूँजीपति के पास धन था, वह उससे पैसा पैदा करता था, वैसे मज़दूर या कारीगर के पास अपना

श्रम था, वह उसे खुले बाज़ार में बेच कर पैसा पैदा करने लगा। पहले स्वामी और भृत्य का जो पारस्परिक स्नेह का भाव था वह अब न रहा। जैसे पहले भूमि ही धन था, अब धन भूमि से अलग हो गया था, वह पूँजी का रूप धारण कर चुका था, किसी भी व्यापार में इस धन को लगाया जा सकता था, वैसे श्रम भी पहले भूमि के साथ ही बंधा हुआ था, अब श्रम भूमि से अलग हो गया, मजदूर अपने श्रम को जगह-जगह बेच कर पैसा पैदा करने लगा। पूँजीवाद के युग की सब से बड़ी देन यह थी कि 'पूँजी' और 'श्रम'—ये दोनों जो पहले ज़मीन के साथ बंधे हुए थे, अब ज़मीन से स्वतंत्र हो गये, पूँजीपति के हाथ में 'पूँजी' आ गई, मजदूर के हाथ में 'श्रम' आ गया, ये दोनों चीज़ें इनकी अपनी-अपनी ताकत बन गईं।

(ज) श्रमियों तथा पूंजीपतियों के संघ (Unions of Labourers and Associations of Employees)—मजदूर जब अपनी मज़दूरी बेचने को निकला तो उसका यह चाहना स्वाभाविक था कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा मजदूरी मिले, कम-से-कम घंटे काम करना पड़े। इकला तो कोई मजदूर लड़ नहीं सकता था, इसलिए अपने हितों के लिए उन्होंने 'श्रमी-संघ' (Trade unions) बनाये। इनके मुकाबिले में अपने हितों की रक्षा के लिए कारख़ानों के मालिकों ने अपने संगठन बनाये। जब मज़दूर असन्तुष्ट होते हैं तब सब एका करके काम छोड़ देते हैं, जब मालिक असन्तुष्ट होते हैं तब वे कारख़ानों में ताला डाल देते हैं। इन दोनों के स्वार्थों को सुरक्षित रखने के लिए सरकार समय-समय पर कानून बनाती रहती है जिससे श्रमियों के स्ट्राइक करने तथा मालिकों के तालेबन्दी—लाक-आऊट—अर्थात् कारख़ाने में ताला डाल देने पर प्रतिबन्ध रहे।

(झ) ठेका (Contract)—हम देख चुके हैं कि सामन्तशाही में किसान का कर्त्तव्य था कि अपने सामन्त के लिए काम करे, और सामन्त का कर्त्तव्य था कि अपने आधीन जितने किसान हैं उन सब की रक्षा करे। इसी समझौते पर दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध हुआ था। परन्तु अगर वे दोनों इस समझौते को पूरा न करते, तो कौन क्या कर सकता था? यह ठेका कोई कानूनी ठेका नहीं था, इसका निभाना प्रथा तथा चलन के ऊपर आश्रित था। पूँजीवादी युग में ऐसा नहीं रहा। इस युग में ठेके को कानूनी हैसियत प्राप्त हो गई। अगर कोई किसी काम के लिए पैसा ले लेता है, अथवा किसी प्रकार की उनमें लेन-देन की कानूनी वचनबद्धता हो जाती है, तो पैसा लेने पर या वचन-बद्ध होने पर उसे पूरा करना उसका कर्त्तव्य ही नहीं, उसके लिए लाज़मी है, अगर वह उस काम को नहीं करता, तो कानूनी तौर पर हर्जाने का देनदार हो जाता है।

(ञ) प्रतियोगिता तथा एकाधिकार (Competition and Monopoly)—क्योंकि एक ही काम को करने वाले कई व्यक्ति होते हैं, अतः व्यापार के साथ-साथ 'प्रतियोगिता' रहती ही है। शुरू-शुरू में प्रतियोगिता से ही व्यापार चला। व्यापारी व्यापारी का गला काटता था। इससे ग्राहक को बहुत लाभ था। प्रतियोगिता न होती, तो व्यापारी बेचारे ग्राहक का गला घोट देता।

परन्तु व्यापारी का सदा लक्ष्य यह रहा है कि प्रतियोगिता को व्यापारी में से निकाल दे। इसी उद्देश्य से 'कौरपोरेशन', 'कारटल' तथा 'होल्डिंग-कम्पनियाँ' बनीं। इन सब का उद्देश्य 'प्रतियोगिता' (Competition) के स्थान में 'एकाधिकार' (Monopoly) प्राप्त करना है ताकि मनचाहा मुनाफ़ा कमाया जा सके।

(ट) दलाली का मुनाफ़ा (Middleman's profit)—वर्त्तमान आर्थिक-व्यवस्था में एक बिलकुल नया संगठन उत्पन्न हुआ जिसे दलाली कहते हैं। पहले कारीगर सामान बनाता था और स्वयं बेच आता था, पर धीरे-धीरे सामन्तशाही के बाद के युग में 'व्यापारी-संघों' ने मजदूरों से सामान बनवा-बनवा कर बेचना शुरू किया। यही संगठन बढ़ते-बढ़ते एक व्यापक दलाली का रूप धारण कर गया। उद्योगीकरण के बाद से तो व्यापार का रूप ही लगभग दलाली का हो गया। पूँजी कोई लगाता है, बनाता कोई है, बेचता कोई है। ग्राहक के पास माल सीधा बनाने वाले के पास से न आकर बीच के आदमी से पहुँचता है। यह बीच का दलाल अपना मुनाफ़ा लगाकर माल को बेचता है।

(ठ) सहयोगी-संगठन (Co-operatives)—ग्राहक को बीच के दलाल का मुनाफ़ा देने के कारण माल बहुत महंगा पड़ता है इसलिए एक नये संगठन ने जन्म लिया, जो माल की सीधी खपत करने वालों का संगठन था। इसे सहयोगी-संगठन कहते हैं। जो माल का इस्तेमाल करने वाले हैं वे थोड़ी-थोड़ी पूँजी लगाकर मिल जाते हैं, और इतने मुनाफ़े से माल बेचते हैं जिससे उन्हें चीजें महँगी न पड़ें, और साल के अन्त में जो मुनाफ़ा होता है उसे आपस में ही बाँट लेते हैं।

[समाजवाद]

वर्त्तमान-काल के आर्थिक-संगठनों का वर्णन करते हुए हमने 'पूँजीवाद' का वर्णन किया। वर्त्तमान-काल का दूसरा आर्थिक-संगठन 'समाजवाद' (Socialism) है। समाजवाद क्या है—इसे समझ लेना आवश्यक है।

(क) आर्थिक-स्वतन्त्रता—हम २१वें अध्याय में राजनैतिक-संगठनों का वर्णन करते हुए लिख आये हैं कि युरोप में औद्योगिक-क्रांति के कारण 'सामन्तवाद' (Feudalism) से जब 'पूँजीवाद' (Capitalism) आया, तब 'अर्थ', अर्थात् 'धन' के उत्पन्न होने के कारण आया। 'सामन्तवाद' में जब राजा राज करता था, तब भूमि ही सम्पत्ति थी, औद्योगिक-क्रांति के परिणाम-स्वरूप जब 'पूँजीवाद' आया, तब 'अर्थ'-'धन'-सिक्का'—यह पैदा हो गया। सिक्के के बिना 'पूँजीवाद' के युग में काम नहीं चलता था। राजा भी सिक्के के बिना काम नहीं चला सकता था। उसे भी सेना को सिक्का ही देना पड़ता था, अपने अन्य निजी ख़र्चों के लिए भी सिक्के की, धन की जरूरत थी। उस समय राजा ने पूँजीपति से धन माँगा, तो पूँजीपति ने राजा से राजनैतिक-अधिकार माँगे, राजनतिक-स्वतंत्रता माँगी। राजनैतिक-स्वतंत्रता को देने के लिए राजा ने पूँजीपतियों को वोट का अधिकार दिया, जनतंत्र-प्रणाली का अधिकार दिया, पार्लियामेंट का

अधिकार दिया। इस दृष्टि से लोकतंत्र का राजनैतिक अधिकार पूँजीवाद की उपज है।

परन्तु 'राजनैतिक-अधिकार' और 'राजनैतिक-स्वतंत्रता' (Political independence) पूँजीपतियों को तो सन्तुष्ट कर सकती है, समाज के हर व्यक्ति को सन्तुष्ट नहीं कर सकती। जो व्यक्ति भूखा है, नंगा है, बेघर-बार है, उसे तो 'आर्थिक-स्वतन्त्रता' (Economic independence) चाहिए। उसे खाने को मिले, कपड़ा मिले, मकान मिले—तभी तो वह राजनैतिक-अधिकारों का प्रयोग कर सकता है। अगर कोई व्यक्ति आर्थिक-दृष्टि से मोहताज है, तो वह अपने राजनैतिक-अधिकार को, अपने वोट को पैसे की ख़ातिर बेच देगा। राजनैतिक-अधिकार आर्थिक-अधिकारों के बिना बेकार हैं। तभी तो ग़रीब लोग अपना वोट बेचते हैं. अमीर लोग पैसे के ज़ोर पर यह वोट का अधिकार उन से ख़रीद लेते हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि समाज में राजनैतिक-समानता से ही काम नहीं चलेगा, आर्थिक-समानता को भी लाना होगा। राजनैतिक-समानता के साथ-साथ आर्थिक-समानता को लाने का नाम ही 'समाजवाद' (Socialism) है। 'पूँजीवाद' ने राजनैतिक-अधिकारों का युद्ध लड़ा, यह उसके लिए शाबासी की बात है, परन्तु आर्थिक-विषमता के कारण यह अधिकार पूँजीपतियों तक ही सीमित रहा, यह उसके लिए धिक्कार की बात है। अब 'समाजवाद' आर्थिक-अधिकारों का युद्ध लड़ रहा है--ऐसा युद्ध जिसमें कोई पेट के लिए किसी का मोहताज न रहे, जिससे राजनैतिक-अधिकार सही अर्थों में अधिकार बन सकें, आर्थिक-स्वतन्त्रता आ सके।

(ख) उत्पादक-साधनों पर समाज का अधिकार--परन्तु प्रश्न यह है कि आर्थिक-समानता कैसे आये, क्या उपाय किया जाय जिससे कोई भूखा, नंगा, बेघर-बार न रहे? समाजवादियों का कहना है कि समाज में आर्थिक-विषमता इसलिए है क्योंकि उत्पादन, विनिमय तथा वितरण के साधनों पर कुछ इने-गिने पूँजीपतियों का अधिकार है। मिलों, कारख़ानों, बैंकों पर पूँजीपतियों के अधिकार का होना, और जो लोग मेहनत-मजदूरी करते हैं, जो मिलों, कारख़ानों, बैंकों को अपने ख़ून-पसीने से चलाते हैं, उनका अधिकार न होना, यही आर्थिक-विषमता का कारण है। पहले ज़माने में छोटे-छोटे गृहोद्योग होते थे, उनसे आमदनी इतनी अधिक नहीं होती थी, थोड़ी आमदनी हुई, उससे समाज का कुछ बनता-बिगड़ता न था। आज औद्योगिक-क्रांति के कारण औद्योगिक-युग आ गया है, कल-कारख़ाने खुल गये हैं, बेतहाशा पैसा आता है। यह सारा पैसा पूँजीपति की जेब में जाता है। उत्पत्ति के इन साधनों पर, जिनसे पैसा पैदा होता है, समाज का अधिकार होना चाहिए, व्यक्ति का अधिकार नहीं होना चाहिए। जब समाज का इन उत्पादक-साधनों पर अधिकार होगा, तब कमाई व्यक्ति की न होकर समाज की होगी, और समाज उसका व्यक्तियों में आवश्यकतानुसार समान वितरण कर सकेगा। इस प्रकार 'पूँजीवाद' ने जो आर्थिक-विषमता उत्पन्न

कर दी है वह नष्ट हो जायगी, और तब 'राजनैतिक-जनतंत्रवाद' (Political democracy) के साथ-साथ 'आर्थिक-जनतंत्रवाद' (Economic democracy) आ जायेगा।

(ग) समाजवाद का दार्शनिक-आधार--वैसे तो 'समाजवाद' युरोप में देर से चला आ रहा था, परन्तु इसको दार्शनिक-आधार जर्मनी के कार्ल-मार्क्स ने दिया। उसके समय के अध्यात्मवादी लोग सृष्टि की आदि-सत्ता को आध्यात्मिक मानते थे, मार्क्स अध्यात्मवादी नहीं था, भौतिकवादी था, इसलिए वह आदि-सत्ता को जिससे संसार शुरू-शुरू में चला, आध्यात्मिक नहीं, भौतिक मानता था। जैसे अध्यात्मवादी कहते थे कि 'आदि-चेतन-सत्ता' के परिवर्त्तन की प्रक्रिया में से गुज़रते-गुज़रते एक ख़ास मौके पर जड़ प्रकृति उत्पन्न हुई, वैसे मार्क्स कहता था कि 'आदि-जड़-प्रकृति' के परिवर्त्तन की प्रक्रिया में से गुज़रते-गुज़रते एक ख़ास मौके पर चेतन-सत्ता उत्पन्न हुई। इसी लिए मार्क्स के वाद को 'भौतिकवाद' (Materialism) का सिद्धान्त कहा जाता है।

परन्तु 'जड़' से 'चेतन' पैदा कैसे हुआ? यह पैदा हुआ परिवर्त्तन की प्रक्रिया से। कोई वस्तु या तो उसी हालत में रहती है, या परिवर्त्तित होती रहती है। अनुभव बताता है कि संसार में एक-ही हालत में कोई वस्तु नहीं बनी रहती, इसलिए परिवर्त्तन की प्रक्रिया हर समय चलती रहती है।

परिवर्त्तन दो तरह का हो सकता है--'संख्यात्मक' (Quantitative) या 'गुणात्मक' (Qualitative)। 'संख्यात्मक'-परिवर्तन का अर्थ है कि वही चीज दुगुनी, तिगुनी होती रहे, संख्या में बढ़ती-घटती रहे; 'गुणात्मक'-परिवर्त्तन का अर्थ है कि उसके गुण में, उसकी प्रकृति में परिवर्त्तन आता रहे। संसार में 'संख्यात्मक' के साथ-साथ 'गुणात्मक' परिवर्त्तन भी सदा होता रहता है। इतना ही नहीं कि वस्तु 'संख्या' में बढ़ती-घटती रहती है, परन्तु उसके 'गुण' में भी परिवर्त्तन आता रहता है, रद्दोबदल होता रहता है।

'गुणात्मक-परिवर्त्तन' में भी एक ख़ास नियम काम कर रहा है। वह नियम क्या है? वह नियम यह है कि जो वस्तु है, उसमें गुणात्मक-परिवर्त्तन तभी आ सकता है, जब उस वस्तु की सत्ता भंग हो जाय, वह वस्तु वैसी न बनी रहे। अगर वस्तु का अपना रूप बना रहा, तो उसके गुण में तो कोई परिवर्त्तन न आया। वस्तु के अपने रूप को 'अन्वय' (Thesis) कहते हैं, 'अन्वय' के भंग को, उसके टूट जाने को 'व्यतिरेक' (Anti-thesis) कहते हैं। गुणात्मक-परिवर्तन का नियम यह है कि जो वस्तु जैसी होती है, वह कुछ काल के बाद अपने विरोधी गुण को उत्पन्न कर देती है। 'अन्वय' (Thesis) से कुछ काल के बाद 'व्यतिरेक' (Anti-thesis) उत्पन्न हो जाता है। परन्तु यह 'व्यतिरेक' (Anti-thesis) भी बना नहीं रहता, और 'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक' (Thesis and Anti-thesis) से 'समन्वय' (Synthesis) पैदा हो जाता है। पैंडुलम गति कर रहा है। यह एक तरफ़ अपने वेग से आया--यह 'अन्वय' (Thesis)

है। इस 'अन्वय' का परिणाम यह होता है कि वह उतने ही वेग से दूसरी तरफ़ जाता है--यह 'व्यतिरेक' (Anti-thesis) है। परन्तु न वह इस छोर पर टिकता है, न उस छोर पर, दोनों छोरों से टकराता हुआ यह बीच में आ टिकता है--यह 'समन्वय' (Synthesis) है। इसी विचार को अपने दर्शनों में कहा गया है---'अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां वस्तु-सिद्धिः'--'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक' इन दोनों के समन्वय से 'वस्तु' बनती है।

परन्तु प्रश्न होता है कि 'अन्वय' (Thesis) से 'व्यतिरेक' (Anti-thesis), जो उसका बिलकुल विरोधी तत्त्व है, वह कैसे पैदा होता है? इसका उत्तर मार्क्स यह देता है कि हर वस्तु में उसके विरोधी गुण हर समय मौजूद रहते हैं। ये विरोधी-गुण उस वस्तु की 'आन्तरिक-असंगतियाँ' (Inner contradictions) हैं। जिसे हम जीवन कहते हैं, उसी में मृत्यु के बीज क्या नहीं रहते? जब कोई चीज़ बन रही होती है, तभी उसके बिगड़ने की प्रक्रिया भी उसमें निहित रहती है। एकदम मृत्यु थोड़े-ही आती है, एकदम कोई चीज़ थोड़े-ही बिगड़ती है। जो प्रक्रिया लगातार चल रही है, वह जब इकट्ठी हो जाती है, तभी वह दीखने लगती है, न दीखने पर भी प्रक्रिया तो चलती रहती ही है। हर वस्तु में 'आन्तरिक-असंगतियाँ' (Inner contradictions) मौजूद रहती हैं, और ये 'असंगतियाँ' ही जब स्थूल रूप धारण कर लेती हैं, तब इन्हीं को हम 'व्यतिरेक' (Anti-thesis) कहते हैं। क्योंकि 'अन्वय' (Thesis) तथा 'व्यतिरेक' (Anti-thesis) दोनों एक-साथ नहीं बने रह सकते, इसलिए एक तीसरी प्रक्रिया उत्पन्न होती है जिसका काम 'असंगतियों' (Contradictions) को, 'व्यतिरेक' (Anti-thesis) को मिटा देना होता है, और यही प्रक्रिया 'समन्वय' (Synthesis) की प्रक्रिया कहलाती है।

'समन्वय' (Synthesis) के बाद 'परिवर्त्तन' की प्रक्रिया समाप्त नहीं हो जाती। यह 'समन्वय' फिर एक प्रकार का 'अन्वय' (Thesis) का रूप धारण कर लेता है, इसकी 'आन्तरिक-असंगतियाँ' फिर 'व्यतिरेक' (Anti-thesis) को उत्पन्न कर देती हैं, उसके बाद फिर 'समन्वय' (Synthesis) आ जाता है, और यह प्रक्रिया लगातार चलती रहती है।

परन्तु क्या यह प्रक्रिया लगातार चलती ही रहती है, कहीं रुकती नहीं? मार्क्स का कहना है कि 'समन्वय' (Synthesis) का उद्देश्य विरोधों को दूर करना है। वस्तु की 'आन्तरिक-असंगति' के कारण ही तो 'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक' उत्पन्न होते हैं। वस्तु की 'आन्तरिक-असंगतियों' को मिटा देने से ये दो तत्त्व नहीं उत्पन्न होंगे, और ऐसा 'समन्वय' उत्पन्न हो जायगा, जो वास्तविक 'समन्वय' होगा, जिस 'समन्वय' के बाद किसी दूसरे 'समन्वय' की आवश्यकता न होगी।

यह 'समन्वय' होता कैसे है? 'अन्वय' से 'व्यतिरेक' पैदा हुआ, फिर 'समन्वय' पैदा हुआ, यह 'समन्वय' क्या धीरे-धीरे होता है, या एकदम हो जाता है? मार्क्स का कहना है कि यह दोनों तरह से हो सकता है, धीरे-धीरे भी,

एकदम भी। जब समाज की किसी बात में परिवर्त्तन धीरे-धीरे होता है, तब उसे 'सुधार' (Reform) कहते हैं, जब एकदम परिवर्त्तन होता है, तब उसे 'क्रांति' (Revolution) कहते हैं।

कार्ल-मार्क्स ने इस दार्शनिक-विचार को समाज पर घटाया और कहा कि 'समाजवाद' (Socialism) उक्त दार्शनिक-विचारधारा का अवश्यम्भावी परिणाम है। उक्त दार्शनिक-विचारधारा का 'समाजवाद' परिणाम कैसे है?

मार्क्स का कहना है कि 'पूँजीवाद' से पहले 'सामन्तवाद' था। 'सामन्त-वाद' (Feudalism) को हम उस समय का 'अन्वय' (Thesis) कह सकते हैं। हम देख चुके हैं कि हर 'अन्वय' में कुछ 'आन्तरिक-असंगतियाँ' (Inner contradictions) रहती हैं जिनसे 'व्यतिरेक' (Anti-thesis) पैदा हो जाता है। 'सामन्तवाद' में कुछ लोगों के पास ज़मीन थी, कुछ लोगों के पास ज़मीन नहीं थी। जिनके पास ज़मीन थी, वे धनी थे, जिनके पास नहीं थी, वे निर्धन थे। इस बीच औद्योगिक-युग आया, मशीन-कल-कारख़ाने बने। जिनके पास ज़मीन नहीं थी, निर्धन थे, वे भी अपनी विद्या-बुद्धि-चातुरी से इन उद्योगों के ज़रिये धनी होने लगे। 'सामन्तवाद' में 'आन्तरिक-असंगति' यह पैदा हो गई कि सामन्त तो ज़मीन के कारण धनी थे ही, उद्योगों के खुलने के परिणाम-स्वरूप जिनके पास ज़मीन नहीं भी थी, वे भी धनी होने लगे। यही 'पूँजीवाद' की शुरू-आत थी। 'सामन्तवाद' की 'आन्तरिक-असंगतियों' का परिणाम यह हुआ कि इन असंगतियों के 'समन्वय' के रूप में 'पूँजीवाद' का जन्म हुआ। 'सामन्तवाद' के पेट के बीच में जो 'अन्वय' (Thesis) तथा 'व्यतिरेक' (Anti-thesis) उत्पन्न हो गये थे, उन दोनों का 'समन्वय' (Synthesis) ही 'पूँजीवाद' था।

'पूँजीवाद' के आने के बाद उसके पेट में फिर 'अन्वय' (Thesis) तथा 'व्यतिरेक' (Anti-thesis) बनने लगे, और उनके 'समन्वय' (Synthesis) के रूप में 'समाजवाद' का जन्म हुआ।

'पूँजीवाद' में 'अन्वय' (Thesis) तथा 'व्यतिरेक' (Anti-thesis) कैसे बने? 'पूँजीवाद' में ये दोनों विरोधी-तत्त्व कैसे उत्पन्न हुए—उसकी भी अपनी कहानी है।

'पूँजीवाद' से पहले 'सामन्तवाद' था और उस समय ज़मीन ही धन था। ज़मीन से कोई कितना-कुछ कमा सकता था? इस बीच औद्योगिक-युग आया, और कल-कारख़ाने खड़े हो गये। कल-कारख़ानों में जो काम पहले २० मज़दूर करते थे, वह एक मज़दूर करने लगा। इस एक मज़दूर को २० मज़दूरों की मज़दूरी तो कोई क्या देता, इसे एक मज़दूर की मज़दूरी देकर १९ मज़दूरों की मज़दूरी कारख़ाने का मालिक अपनी जेब में डालने लगा। यह १९ मज़दूरों की मज़दूरी करता तो एक मज़दूर था, परन्तु जाती यह कारख़ाने के मालिक के पेट में थी। उस एक मज़दूर को जितनी मज़दूरी दी गई थी, कारख़ाने के मालिक के पेट में जाने वाला रुपया उसी एक मज़दूर की मज़दूरी का 'अतिरिक्त-मूल्य' (Surplus

value) था। 'अतिरिक्त-मूल्य' इसलिए क्योंकि इस पैसे को पैदा तो उसी एक मजदूर ने किया था; पैदा उसने किया, परन्तु यह पैसा मिला उसे नहीं। इस प्रकार मजदूर की मजदूरी का 'अतिरिक्त-मूल्य' (Surplus value) मिल-मालिक के पास जमा होने लगा। पहले सामन्तवादी-युग में मालिक इतना धनी नहीं हो सकता था, क्योंकि पहले कल-कारखाने नहीं थे, उनके न होने के कारण मजदूर का 'अतिरिक्त-मूल्य' इतना अधिक नहीं हो सकता था। अब इस 'अतिरिक्त-मूल्य' से जहाँ धनी-वर्ग बना, वहाँ उसके साथ-साथ निर्धन-वर्ग भी उत्पन्न हो गया। 'पूँजीवाद' की यही 'आन्तरिक-असंगति' (Inner contradiction) थी। पूँजीपति-वर्ग 'अन्वय' (Thesis) था, पूँजीपति-वर्ग की 'आन्तरिक-असंगति' ने निर्धन-वर्ग नाम के 'व्यतिरेक' (Anti-thesis) को उत्पन्न कर दिया। जब 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' उत्पन्न हो जाते हैं, तब उनमें संघर्ष चलता है, और इस संघर्ष का परिणाम 'समन्वय' होता है। 'पूँजीवाद' में धनी-निर्धन का 'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक' उत्पन्न हो गया, इन दोनों का संघर्ष उठ खड़ा हुआ, इस संघर्ष का नाम 'वर्ग-संघर्ष' (Class conflict) कहा जाता है। इस वर्ग-संघर्ष से इन दोनों का 'समन्वय' पैदा हुआ—उसी 'समन्वय' का नाम 'समाजवाद' (Socialism) है—ऐसा वाद जिसमें न धनी रहें, न निर्धन रहें, जिसमें सब में समानता हो, ऐसी समानता जिससे आगे 'अन्वय' तथा 'व्यतिरेक' की प्रक्रिया ही ख़त्म हो जाय।

'समाजवाद' का यह स्वरूप, जैसा हम पहले कह आये हैं, उत्पत्ति के साधनों पर समाज का एकाधिकार कर लेने की शक्ल में होगा। धनी-निर्धन वर्ग इसी से तो बनते हैं क्योंकि उत्पत्ति के साधन पूँजीपतियों के हाथ में हैं। उनके हाथ में न रहकर ये मेहनत-मजदूरी करने वालों के हाथ में हों, समाज के हाथ में हों—यही स्वरूप है समाजवाद का कार्ल-मार्क्स के शब्दों में।

यह प्रक्रिया धीरे-धीरे भी हो सकती है, जबर्दस्ती एकदम भी लायी जा सकती है। कुछ समाजवादी इस प्रक्रिया को धीरे-धीरे लाने के पक्ष में हैं, वे 'सुधारवादी' (Reformers) कहलाते हैं, कुछ इस प्रक्रिया को एकदम, जबर्दस्ती, जोर-जब्र से, जरूरत पड़े तो ख़ून-ख़राबी से लाने के पक्ष में हैं, वे 'क्रांतिकारी' (Revolutionary) कहलाते हैं। उनका कहना है कि पानी को जब गर्म करते हैं, तब देर तक तो पानी की वैसी ही हालत बनी रहती है, परन्तु काफ़ी गर्मी पहुँचने के बाद पानी एकदम बुदबुदाने लगता है, उसकी भाप बनने लगती है। पानी के गर्म होने की पहली प्रक्रिया के बाद पानी बुदबुदाने लगता है, यही 'क्रांति' कहलाती है। बच्चा ९ मास तक माता के गर्भ में परवरिश पाता है, परन्तु ९ मास के बाद माता को एकदम प्रसव-पीड़ा होती है, यही 'क्रांति' कहलाती है। क्रांति मानो सामाजिक-परिवर्त्तन की भाप है, उसकी प्रसव-पीड़ा है।

यह 'क्रांति' होती क्यों है—इस सम्बन्ध में भी मार्क्स के अपने ही दार्शनिक विचार हैं। उसका कहना है कि यह तो मानी हुई बात है कि हर वस्तु में 'अन्वय'

(Thesis) तथा 'व्यतिरेक' (Anti-thesis) पैदा हो जाते हैं। ये दोनों तत्त्व उलटे हैं, असंगत हैं, विरोधी हैं। विरोधी-तत्त्व एक-साथ नहीं रह सकते। सामाजिक-संगठन में जब विरोधी-तत्त्व उत्पन्न हो जाते हैं, और संगठन नहीं बदलता, तब इन विरोधी तत्त्वों का संघर्ष छिड़ जाता है, और क्रांति द्वारा समाज का संगठन बदल दिया जाता है। जब विरोधी-तत्त्व उत्पन्न हो जाँय, तब सामाजिक-संगठन को बदल देना बुद्धिमानी है, अगर बुद्धिमत्ता-पूर्वक स्वयं सामाजिक-संगठन को नहीं बदला जायगा, तो ये दोनों तत्त्व लड़ मरेंगे, और अपने-आप 'समन्वय' उत्पन्न हो जायगा। यही समन्वय आज पैदा हो रहा है, उसी का नाम 'समाजवाद' है।

[कम्यूनिज़्म]

'समाजवाद' का जो रूप रूस में पाया जाता है, उसे 'कम्यूनिज़्म' कहते हैं। 'समाजवाद' (Socialism) के सिद्धान्तों के भवन को पत्थर की चट्टान पर खड़ा कर देने का काम मार्क्स ने किया, उन सिद्धान्तों के आधार पर 'कम्यूनिज़्म' (Communism) को रशिया में खड़ा करने का काम लेनिन ने किया। लेनिन ने मार्क्स के 'समाजवाद' के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए 'सोश्यल डैमोक्रेट पार्टी' की स्थापना की जिसके नियम-उपनियम बनाने के लिए १९०३ में एक कांग्रेस बुलाई गई। इस पार्टी के नियम-उपनियम बनाते हुए दो दल बन गये—एक था 'मैन्शवीक-दल', दूसरा था 'बोलशवीक-दल'। मैन्शवीकों का कहना था कि समाजवाद तो ठीक है, परन्तु उसके लिए क्रांति की आवश्यकता नहीं, बोलशवीकों का कहना था कि बिना क्रांति के समाजवाद नहीं आ सकता। इस क्रांति के लिए हिंसा, मार-धाड़ की जरूरत पड़े, तो इनका अवश्य प्रयोग करना होगा। १९१२ में 'सोश्यल डैमोक्रेट पार्टी' का अधिवेशन हुआ जिसमें 'मैन्शवीक' लोगों को दल से अलग कर दिया गया, और 'बोलशवीक'-दल का नेता लेनिन बना।

इस समय रशिया में रोमनेव-वंश का स्वेच्छाचारी शासन चल रहा था, सम्राट् निकोलस द्वितीय रशिया की गद्दी पर था। १९१४ के युद्ध के परिणाम स्वरूप देश में लोग भूखे मर रहे थे, सिपाही थक चुके थे। ऐसे समय ८ मार्च १९१७ को रूस में क्रांति हो गई और १५ मार्च को सम्राट् ने राजगद्दी छोड़ दी। यह रूस की पहली राज्य-क्रांति थी। क्योंकि युद्ध के कारण रूसी सेनाएँ मित्र-सेनाओं के सम्पर्क में आ चुकी थीं, और मित्र-देशों में 'गण-तंत्र' (Democracy) चल रहा था, इसलिए करेंस्की आदि नेताओं द्वारा रूस में भी 'गण-तंत्र' शासन स्थापित करने का इस समय प्रयत्न किया गया, परन्तु लेनिन का कहना था कि 'गणतंत्र' तो पूँजीपति देशों की उपज है, इससे पैसे वालों का ही फ़ायदा होता है, हमें 'गण-तंत्र' की जगह अपना ही नया संगठन बनाना होगा। इस समय तक सेना में, कल-कारख़ानों में और किसानों में लेनिन की बोलशेविक-पार्टी अपने संगठन बना चुकी थी, इन संगठनों का नाम 'सोवियट' था, ये 'सोवियट' एक तरह की अपने देश की 'पंचायतों' की तरह की थीं। लेनिन ने कहा कि

'गणतंत्र' में ज़िले के लोग मिल कर एक प्रतिनिधि को चुनते हैं, वह प्रतिनिधि चुने जाने के बाद फिर अपने इलाके को भूल जाता है, उसका अपन साथियों से कोई सम्पर्क नहीं रहता। पूँजीवाद की उपज इस प्रकार के 'गणतंत्र' की जगह शुद्ध-पद्धति यह होनी चाहिए कि पहले प्रतिनिधि 'सोवियटों' में, 'पंचायतों' में चुने जाँय, जो इन पंचायतों में चुने जाँय, वही अपने में से आगे के लिए प्रतिनिधि चुनें, और इस प्रकार नीचे से चुनाव होता-होता पिरेमिड की तरह ऊपर तक चला जाय। इसका परिणाम यह होगा कि जो व्यक्ति ऊपर तक पहुँचेगा, क्योंकि वह नीचे से चुन कर आया होगा, इसलिए वह अपने साथियों के हितों को सदा ध्यान में रखेगा। इस विचारधारा को लेकर ७ नवम्बर १९१७ को बोलशविकों न एक और क्रांति की और रशिया में 'प्रतिनिधि-शासन' (Democratic government) की जगह 'सोवियट-शासन' (Soviet government) प्रतिष्ठापित हो गया। यह रशिया की द्वितीय क्रांति थी।

इस राजनैतिक-क्रांति के बाद क्रांति को सुसंगठित बनाने का प्रयत्न किया गया। यह विचार जड़ पकड़ने लगा कि जब तक सारे संसार में रशिया की विचार-धारा नहीं फैलती, तब तक इस क्रांति को सदा विरोधियों से ख़तरा रहेगा। इस उद्देश्य से विश्व-व्यापी क्रांति के विचार को लेकर १९१९ में 'थर्ड इंटरनेशनल' की स्थापना की गई। इसका नाम 'कौमिन्टर्न' रखा गया--'कौम्यूनिस्ट'-शब्द से 'कौमिन' तथा 'इन्टरनेशनल' शब्द से 'इन्टर्न' लेकर 'कौमिन्टर्न'-शब्द की रचना की गई। इसका उद्देश्य संसार भर में उस क्रान्ति के बीज फैलाना था जो रूस में हुई थी। पहले तो इसी विचार के आधार पर काम होता रहा। लेनिन के ट्राटस्की तथा स्टालिन--ये दोनों दाँयें-बाँयें हाथ थे, परन्तु लेनिन की मृत्यु के बाद स्टालिन के विचार बदल गये, उसने कहना शुरू किया कि हमें दुनिया भर की फ़िक्र करने के स्थान में अपने देश में ही क्रांति को सुदृढ़ बनाना चाहिए। ट्राटस्की अपने पुराने विचारों पर दृढ़ था, वह क्रांति को विश्व-व्यापी बनाना चाहता था। ट्राटस्की तथा स्टालिन में इस बात पर झगड़ा बढ़ा और ट्राटस्की को देश निकाला दे दिया गया, 'कौमिन्टर्न' को भी भंग कर दिया गया।

रशिया में राजनैतिक-संगठन को बदल कर जो आर्थिक-संगठन बनाया गया वह अपने ढंग का निराला था। ७ नवम्बर १९१७ को जो बोलशविक क्रांति हुई उसमें बोलशविक सरकार ने जिस नई आर्थिक-नीति की घोषणा की उसका परिणाम निम्न था :--

(क) देश भर के कारख़ाने राज्य के आधीन घोषित कर दिये गये,

(ख) वैयक्तिक व्यवसाय समाप्त कर दिया गया,

(ग) बैंक बंद कर दिये गये, रुपये का लेन-देन सरकार द्वारा होने लगा,

(घ) श्रमियों को पारिश्रमिक रुपए के रूप में न देकर जिन्स के रूप में देने की व्यवस्था की गई। उन्हें कार्ड दिये गये जिन्हें दिखा कर वे भोजन, मकान, सवारी आदि प्राप्त कर सकते थे,

(ङ) जमींदारों से जमीनें छीन ली गईं, जमीन राज्य की हो गई, किसान खेती करते थे, उनके खाने लायक अनाज उनके पास छोड़ कर बाकी अनाज राज्य का था।

जमीनें किसानों के पास रहें या न रहें, क्या जमीनें राज्य की हो जाँय---यह विषय देर तक रशिया में भी विवादास्पद रहा। किसान जमीनों पर के अधिकार को आसानी से छोड़ने के लिए तैयार नहीं हो सकते, परन्तु छोटे-छोटे खेत होने के कारण उन पर इक्के-दुक्के की खेती भी देश के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती। खेती की पैदावार को बढ़ाना हो, तो खेतों का बड़ा होना जरूरी है, तभी उसमें ट्रैक्टर आदि आधुनिक उपकरण लाभप्रद हो सकते हैं। यह सब सोच कर १९२९ में स्टालिन ने घोषणा कर दी कि खेती राज्य की तरफ़ से होगी। इस उद्देश्य से रशिया में तीन तरह के फ़ार्म बनाये गये। वे तीन तरह के फ़ार्म निम्न थे :--

(क) सहकारी फ़ार्म---इसमें कई किसान मिल कर पारस्परिक-सहयोग से खेती करते थे। उनके पशु, उपकरण आदि तो अपने-अपने होते थे, परन्तु जमीन सब की साझी थी। बड़ा खेत हो जाने के कारण पैदावार ज्यादा हो सकती थी जिसे वे सब अपने-अपने श्रम के अनुपात में बाँट लेते थे।

(ख) सामूहिक फ़ार्म---ये वे फ़ार्म थे जिनमें जमीन, पशु, उपकरण --सब समूह के थे, सिर्फ़ मकान, गौएँ, बकरी, मुर्गी आदि किसान की अपनी समझी जाती थीं।

(ग) कम्यून---इसमें जमीन, पशु, उपकरण, मकान, गौएँ, बकरी, मुर्गी--सब-कुछ सब का साझा था। सब लोग इकट्ठा कमाते, इकट्ठे रहते, इकट्ठे खाते-पीते और इकट्ठे हर चीज का उपभोग करते थे।

'कम्यूनिज़्म' का आदर्श इस तीसरे प्रकार के जीवन का अपने समाज में विकास करना है जिसमें सब एक-साथ रहें, एक-साथ खायें-पीयें और एक-साथ सुख-दुःख में साथ दें। इन 'कम्यूनों' के आधार पर ही रूस के 'साम्यवाद' को 'कम्यूनिज़्म' कहते हैं।

६. 'समाजवाद' तथा 'साम्यवाद' में भेद (Socialism Vs. Communism)

ऊपर हम 'समाजवाद' तथा 'साम्यवाद' का विवरण दे चुके हैं। उसके आधार पर इन दोनों के भेद निम्न हैं :--

समाजवाद (Socialism)	साम्यवाद (Communism)
१. यह वाद उत्पादक-साधनों पर समाज का नियन्त्रण चाहता है। उत्पादन समाज द्वारा हो, व्यक्ति द्वारा नहीं, परन्तु उपभोग जो व्यक्ति जैसा चाहे करे, उपभोग में	१. यह वाद उत्पादक-साधनों तथा उपभोग्य-पदार्थों दोनों पर समाज का नियन्त्रण चाहता है। उत्पादन समाज द्वारा हो, व्यक्ति द्वारा नहीं; उपभोग भी व्यक्ति जैसा

व्यक्ति स्वतन्त्र हो, उसमें समाज की तरफ़ से किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न हो।	चाहे वैसा नहीं, परन्तु समाज जितना भोगने को दे उतना भोगे, उससे ज्यादा नहीं।
२. इसका आधार प्रजातंत्रवाद है। प्रजातंत्र-प्रणाली द्वारा प्रतिनिधि चुने जाते हैं और वे समाजवादी व्यवस्था के अनुसार समाज के नियम बनाते हैं।	२. इसका आधार प्रजातंत्रवाद नहीं है। हमारे यहाँ की पंचायतों की तरह रूस में सोवियटें हैं और वे सोवियटें अपने प्रतिनिधि चुनती हैं। ये प्रतिनिधि मिलकर ऊपर के संगठनों के लिए प्रतिनिधि चुनते हैं।
३. इस वाद को वैज्ञानिक-आधार कार्ल मार्क्स ने दिया।	३. कार्ल मार्क्स के समाजवाद को अपने ढंग से लेनिन ने रूस में क्रियान्वित किया।
४. इसमें प्रजातंत्र के साथ-साथ व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण नहीं किया जाता।	४. इसमें राज्य ही सब-कुछ है, वैयक्तिक-स्वतंत्रता का इस व्यवस्था में स्थान नहीं है।

७. आर्थिक-संगठनों का सामाजिक-प्रभाव

समाज के जीवन पर पिछले १५० सालों में आर्थिक-संगठनों का इतना जबर्दस्त प्रभाव पड़ा है कि कई विद्वान् तो यह कहने लगे हैं कि समाज जो-कुछ है, आर्थिक-परिस्थितियों के कारण ही है। इसे 'आर्थिक-भाग्य-निर्णय-वाद' (Economic determinism) का सिद्धान्त कहते हैं। इसका वर्णन हम ११वें अध्याय में कर आये हैं। इसके समर्थकों में कार्ल-मार्क्स मुख्य है। यह ठीक है कि आर्थिक-कारणों से समाज का जीवन बहुत-कुछ प्रभावित होता है, परन्तु यह कहना कि सामाजिक-जीवन को बनाने वाला यही एक कारण है, अत्युक्ति है। आज आर्थिक-संगठन समाज के जीवन को किस प्रकार प्रभावित कर रहे हैं यह नीचे लिखी कुछ-एक बातों से प्रकट हो जायगा :--

(क) हमने देखा कि पहले-पहल 'वस्तु-विनिमय' (Barter) से व्यापार चला, फिर 'धन' (Money) की उत्पत्ति हुई, उसके बाद 'साख' (Credit) से काम चलने लगा। साख से काम तभी चल सकता है जब परस्पर विश्वास की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाय। आर्थिक-संगठनों का उत्तरोत्तर विकास सिद्ध करता है कि वर्त्तमान आर्थिक ढाँचे में मनुष्य का मनुष्य के प्रति विश्वास बढ़ गया है, नहीं तो कोई किसी पर क्यों विश्वास करे, और क्यों किसी की साख बने ?

(ख) व्यापार से मनुष्य को अपनी स्वाभाविक-प्रवृत्ति और योग्यता के अनुसार काम करने का अवसर मिला। श्रम-विभाग के द्वारा यह संभव हुआ कि

हर-एक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार अपना काम बाँट ले, और उसमें कमाल हासिल करे। इसके साथ ही व्यापार से देश-देश तथा जाति-जाति का पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ने से उनका एक-दूसरे से सांस्कृतिक-सम्बन्ध बढ़ता है, वे एक-दूसरे से कुछ लेते हैं, और एक-दूसरे को कुछ देते हैं। प्राचीन इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि व्यापारियों के साथ-साथ संस्कृतियाँ भी एक देश से दूसरे देश को जाती हैं। भारतवर्ष में युरोप के व्यापारी ही पहले-पहल आये, और उनके साथ उनकी संस्कृति ने भी यहाँ इतना प्रवेश किया कि आज देश के स्वतंत्र हो जाने और अंग्रेजों के चले जाने पर भी उनकी संस्कृति यहाँ मौजूद है।

(ग) व्यापार की बढ़ती के साथ-साथ भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रगतियाँ समाज में चल पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, पहले सामन्त और किसान थे, अब पूँजीपति और मजदूर-वर्ग उत्पन्न हो गये, पहले प्रतियोगिता थी, फिर एकाधिकार की भावना जागी, अब सहकारिता की, कहीं-कहीं समता की भावना जाग रही है। भिन्न-भिन्न आर्थिक अवस्थाओं के कारण भिन्न-भिन्न सामाजिक-रचनाओं का निर्माण होता रहता है।

(घ) घर की रचना पर तो आर्थिक-संगठनों ने बहुत बड़ा प्रभाव डाला है। पहले घर ही किसी आर्थिक उद्योग का केन्द्र था, इसलिए मनुष्य ज्यादा समय घर में बिताता था, अब आर्थिक-समस्या को हल करने के लिए मनुष्य को अधिक समय घर से बाहर बिताना पड़ता है, इसलिए घर टूटता-सा नजर आ रहा है। पहले बाल-बच्चों की शिक्षा घर में होती थी, क्योंकि माता-पिता का अधिक समय घर में ही बीतता था, अब घर में बैठने की किसी को फुर्सत नहीं, इसलिए बच्चे भी अधिक समय घर से बाहर स्कूल में बिताते हैं। पहले माता-पिता घर में ही बच्चों को पढ़ा-लिखा लेते थे, अब शिक्षा-संस्थाओं का घर से बाहर खुल जाना वर्त्तमान आर्थिक-परिस्थितियों का ही परिणाम है। साथ ही इसका यह लाभ भी हुआ कि अब शिक्षा कुशल व्यक्तियों के हाथ में आ गई है, बाप-दादे की उन्हीं पुरानी बातों को सीखने के बजाय बालक घर से बाहर जाकर नयी-नयी बातें सीखने लगा है।

(ङ) औद्योगिक-क्रांति के बाद समाज का आर्थिक-ढाँचा बिलकुल बदल गया। इस बदले हुए ढाँचे का प्रभाव समाज पर चौमुखा हुआ। धर्म के क्षेत्र में 'धर्म' एक वैयक्तिक बात मानी जाने लगी, उद्योग के क्षेत्र में मजदूरों के हित में अनेक कानून बने, स्वास्थ्य के क्षेत्र में सर्व-साधारण को छूत की बीमारियों से बचाने का काम राज्य ने ले लिया, अपराधों के क्षेत्र में अपराधी को दण्ड देने के बजाय उसके नैतिक-सुधार की तरफ़ ध्यान जाने लगा, शिक्षा के क्षेत्र में अनिवार्य-शिक्षा के कानून बने। यह सब-कुछ आर्थिक कारणों से ही हुआ ऐसा नहीं कहा जा सकता, परन्तु व्यक्ति तथा राज्य आर्थिक-दृष्टि से जब कुछ सम्पन्न अवस्था में पहुँचे, तो उसका प्रभाव इन बातों पर हुआ, ऐसा अवश्य कहा जा सकता है।

८. आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टि

(क) आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टि में भेद--आर्थिक-दृष्टि केवल मुनाफ़े को देखती है। दूसरों का कितना ही नुकसान क्यों न हो, अगर अपने को फ़ायदा है, तो आर्थिक-दृष्टि से देखने वाला उस काम को अवश्य करेगा। लड़ाई के समय जब देश के प्राण संकट में होते हैं, तब भी कई पैसे के पीर देश को नुकसान पहुँचाकर भी अपना फ़ायदा उठाने की सोचते हैं। राजनैतिक-दृष्टि में अपने लाभ के स्थान में सब के लाभ का विचार होता है। जब राज्य की तरफ़ से सार्वजनिक उद्यान बनते हैं, हस्पताल खुलते हैं, तब किसी के वैयक्तिक-लाभ की बात नहीं सोची जाती, सारी जनता का लाभ सोचा जाता है। जब तक कोई वस्तु आर्थिक-क्षेत्र में रहती है, तब तक उसका विनिमय हो सकता है, जब राजनैतिक-क्षेत्र में आ जाती है, तब वह विनिमय के दायरे से बाहर निकल जाती है। तब कितना भी दाम कोई क्यों न दे, उस वस्तु का अदला-बदला नहीं हो सकता। आर्थिक-दृष्टि में वैयक्तिक स्वामित्व है, राजनैतिक-दृष्टि में सामाजिक-स्वामित्व है, आर्थिक-दृष्टि में निरा स्वार्थ है, राजनैतिक-दृष्टि में किसी व्यक्ति-विशेष का स्वार्थ नहीं, एक तरह से परमार्थ है, दूसरों का भला करने की भावना है, इसी लिए व्यक्ति तो पैसा कमाने के लिए किन्तु राष्ट्र जन-कल्याण के लिए बाग़ लगाते हैं, हस्पताल खोलते हैं, और दूसरे काम करते हैं।

(ख) आर्थिक तथा राजनैतिक-दृष्टि का संघर्ष--हमने देखा कि आर्थिक-विकास की दिशा वैयक्तिक-लाभ की तरफ़ रही है, मुनाफ़ा ही उसका उद्देश्य रहा है। इसी कारण पूँजीवादी युग में 'न्यूनतम हस्तक्षेप' (Laissez-faire) की नीति का प्रयोग किया गया, जिसका अभिप्राय यह था कि राज्य को व्यापार में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, उसे स्वतन्त्र चलने देना चाहिए। परन्तु इसका क्या परिणाम हुआ? इसका परिणाम यह हुआ कि व्यापारियों ने निरे स्वार्थ के दृष्टिकोण से सब काम शुरू किया, इस बात का ख्याल नहीं किया कि इससे देश को, या दूसरों को, लाभ है या नुकसान। इसकी प्रतिक्रिया होना लाज़मी था। प्रतिक्रिया के दो रूप हो सकते थे। एक तो यह कि राज्य जहाँ देखे वहाँ हस्तक्षेप करे, और व्यापारियों के बढ़ते हुए स्वार्थपरक दृष्टि-कोण पर लगाम लगाये। दूसरा यह कि आर्थिक-व्यवस्था को व्यापारियों के हाथ से बिलकुल छीन ले, और व्यापार की सारी मशीन राज्य अपन हाथ में ले ले ताकि वैयक्तिक-स्वामित्व के कारण दूसरों को जो हानि होती है वह न हो सके, और सामाजिक-स्वामित्व के कारण जो दूसरों को लाभ हो सकता है वह मिल जाय। आज की आर्थिक रचना इन्हीं दो दिशाओं की तरफ बढ़ रही है। किसी-किसी देश में आर्थिक-संगठनों पर राज्य की तरफ़ से प्रतिबन्ध लग रहे हैं, और रूस में तो व्यापार को ही राज्य ने व्यापारी के हाथ से छीन कर अपने हाथ में ले लिया है।

प्रश्न

१. वर्तमान आर्थिक-संगठनों का शिकारी-जीवन, पशु-पालन के जीवन तथा कृषि-जीवन में कहाँ तक बीज पाया जाता है ?

२. युरोप के सामन्त-शाही जीवन में आर्थिक-संगठन का क्या रूप था, उसके बाद औद्योगिक-क्रांति के पहले तक उसका क्या रूप रहा ?

३. पूँजीवाद के युग में आर्थिक-संगठन के मुख्य-मुख्य क्या रूप थे ?

४. कौरपोरेशन, कार्टल, होल्डिग-कम्पनी, प्रतियोगिता तथा एकाधिकार को ध्यान में रखते हुए एक सिलसिलेवार निबन्ध लिखिये ।

५. आर्थिक-संगठनों का सामाजिक-प्रभाव क्या है ?

६. आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टिकोण में क्या भेद है, और इस भेद के कारण जो संघर्ष हुआ, उसका क्या परिणाम हुआ ?

७. राज्य को आर्थिक-व्यवस्था में दखल देना चाहिए या नहीं, इस सम्बन्ध में क्या-क्या दृष्टियाँ उत्पन्न हो गई हैं ?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. 'समाजवाद' (Socialism) और 'साम्यवाद' (Communism) में क्या भेद है ? क्या इस देश में 'साम्यवाद' (Communism) सम्भव है ? (लखनऊ, १९४७)

२. पूंजीवाद के आधुनिक-समाज और आधुनिक-संस्कृति पर पड़ने वाले प्रभाव को व्याख्या कीजिये । (लखनऊ, १९४९)

३. 'सामन्तवाद' अथवा 'पूंजीवाद'—इन दोनों में से किसी एक की शक्ति के कारण बतलाते हुए इनके द्वारा जो समस्याएँ उत्पन्न हुई उन पर विवेचना कीजिये । (राजपूताना, १९५३)

४. पूंजीवाद की आर्थिक-संस्थाएँ क्या हैं ? पूंजीवाद की इन संस्थाओं के भारत की परिस्थितियों में सामाजिक-प्रभाव क्या हैं ? (आगरा, १९५६)

२३

'महा-समितियाँ'—सांस्कृतिक-संगठन

(GREAT ASSOCIATIONS—CULTURAL ASSO.)

किस संगठन को हम सांस्कृतिक कहें, किसे न कहें? हम पहले १२वें अध्याय में 'सभ्यता' (Civilization) तथा 'संस्कृति' (Culture) में भेद दर्शा चुके हैं। 'सभ्यता' साधन का नाम है, 'संस्कृति' उस साधन के लक्ष्य का नाम है; रेडियो 'सभ्यता' का सूचक है, रेडियो द्वारा संगीत का प्रसार 'संस्कृति' का सूचक है; 'सभ्यता' को उपयोगिता और कार्य-क्षमता (Utility and efficiency) की दृष्टि से जाँचा जाता है, 'संस्कृति' को मूल्य (Valuation) करने वाले माप-दंड की दृष्टि से जाँचा जाता है। राजनैतिक तथा आर्थिक-संगठन जिनका हम अभी वर्णन कर चुके हैं, 'सभ्यता' के अन्तर्गत हैं; धार्मिक-संगठन, शिक्षा के संगठन तथा इसी प्रकार के अन्य संगठन 'संस्कृति' के अन्तर्गत हैं। परन्तु प्रश्न होता है कि क्या राज्य का संगठन जनता के हित की साधना नहीं करता? अगर करता है, तो क्या यह सांस्कृतिक ध्येय नहीं है? इसी तरह क्या आर्थिक-संगठन इसलिए भी नहीं बनते कि वे साहित्य का निर्माण करें, जीवन में जो अच्छी-अच्छी बातें हैं, उनको बढ़ावा दें। अगर बनते हैं, तो क्या ये काम सांस्कृतिक नहीं है? तो फिर, 'सांस्कृतिक-संगठन' क्या वस्तु है, इसका आर्थिक, राजनैतिक आदि संगठनों से क्या भेद है, किस कसौटी पर कसकर हम कह सकते हैं कि यह संगठन सांस्कृतिक ही है, आर्थिक या राजनैतिक नहीं है; इसकी 'संस्कृति' में गणना है, 'सभ्यता' में गणना नहीं है? इनका आपस का भेद जानने की निम्न दो कसौटियाँ हैं :—

सांस्कृतिक-संगठन तथा आर्थिक एवं राजनैतिक-संगठन में भेद

(क) सांस्कृतिक-संगठन प्राथमिक-समूह है—'समूह' (Group) के अध्याय में हम देख आये हैं कि 'समूह' दो प्रकार के होते हैं—'प्रथम-समूह' (Primary groups) तथा 'द्वितीय-समूह' (Secondary groups)। 'प्रथम-समूह' वह है जिसमें व्यक्तियों का एक-दूसरे से आमने-सामने का, वैयक्तिक सम्बन्ध होता है। 'सांस्कृतिक-संगठन' (Cultural association) में आमने-सामने का सम्बन्ध होना आवश्यक है, इसलिए यह 'प्रथम-समूह' (Primary group) है। संगीत-समाज, साहित्य-गोष्ठी, नाटक-मंडली, सत्संग—ये सब सांस्कृतिक-संगठन हैं, परन्तु अगर इन संगठनों में आमने-सामने का, वैयक्तिक

सम्बन्ध न हो, तो ये संगठन किस काम के? आर्थिक अथवा राजनैतिक संगठनों में आमने-सामने का सम्बन्ध नहीं होता। अगर कोई व्यक्ति किसी कम्पनी का हिस्सेदार है, तो उसका कम्पनी के डायरेक्टरों से वैयक्तिक-सम्बन्ध होने की आवश्यकता ही नहीं होती। किसी राज्य का अंग बनने के लिए भी मैजिस्ट्रेट या जज से परिचय प्राप्त करने की कोई जरूरत नहीं है। आर्थिक या राजनैतिक संगठन 'द्वितीय-समूह' (Secondary group) में आ जाते हैं, उनमें आमने-सामने के सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती। सांस्कृतिक-संगठन में जितना निजीपन है, अन्य संगठनों में उतना निजीपन नहीं है, और जितने अंश में अन्य संगठनों में निजीपन, आमने-सामनेपना आता है, उतने अंश में वे भी सांस्कृतिक हैं। इसीलिए बड़ी-बड़ी मिलों में छोटे-छोटे ग्रुप बने होते हैं, बड़े-बड़े राज्यों में छोटी-छोटी पार्टियाँ बनी होती हैं--ये ग्रुप तथा पार्टियाँ आर्थिक तथा राजनैतिक संगठन के अन्तर्गत होती हुई भी सांस्कृतिक हैं।

(ख) एक ही देश में सांस्कृतिक-संगठन में विविधता रह सकती है--अन्य संगठनों में 'एकता' की, तथा सांस्कृतिक-संगठनों में 'भिन्नता' की, विविधता की प्रवृत्ति होती है। उदाहरणार्थ, एक देश में राज्य दो नहीं रह सकते, एक राज्य ही रहता है। आर्थिक-क्षेत्र में भिन्न-भिन्न आर्थिक-संगठन हो सकते हैं, परन्तु सब एक सूत्र में बँधे होते हैं। यह नहीं हो सकता कि एक ही आर्थिक-संगठन में रुपया भी चले, पौण्ड भी चले, और डालर भी चले। इससे अव्यवस्था फैलने की संभावना रहती है। आर्थिक-संगठन का राजनैतिक संगठन से इतना गठ-बन्धन है कि एक राज्य के साथ एक आर्थिक व्यवस्था होना स्वाभाविक है। परन्तु एक राज्य और एक आर्थिक-संगठन के साथ-साथ एक ही संस्कृति हो, यह आवश्यक नहीं है। एक राज्य में अनेक संस्कृतियाँ साथ-साथ रह सकती हैं, और रहती हैं। उदाहरणार्थ, धर्म संस्कृति का ही एक रूप है। कोई समय था जब राज्य और धर्म एक थे, परन्तु जब अनुभव ने सिखा दिया कि ये अलग-अलग हैं, तब से एक राज्य के अन्दर अनेक धर्मों का पाया जाना कोई विलक्षण बात नहीं है। इतना ही नहीं कि एक धर्म की भिन्न-भिन्न शाखाएँ हर-एक देश में साथ-साथ पायी जाती हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न, और कभी-कभी विरोधी धर्म एक ही देश में पाये जाते हैं, यहाँ तक कि एक ही देश में आस्तिक, नास्तिक--सभी तरह के लोग पाये जाते हैं। संस्कृति अन्तरात्मा के विकास का नाम है। मनुष्य की प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं, अतः उनको भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकसित होने की स्वतंत्रता से ही मनुष्य पूर्णता की तरफ़ जा सकता है, और इस भिन्नता से ही नूतन विचारों तथा आविष्कारों का विकास कर सकता है। अगर मनुष्य की इस स्वाभाविक विकासशीलता पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय, तो संसार की उन्नति रुक जाय। अगर पिछले इतिहास से मनुष्य ने कुछ सीखा है, तो यही कि सांस्कृतिक-विकास जब तक समाज के प्रति विरोधी रूप ही ग्रहण न कर ले, तब तक उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना उन विकासोन्मुखी शक्तियों का दमन

करना है, जो मानव-समाज का कल्याण कर सकती हैं। आर्थिक तथा राजनैतिक संगठनों का काम इन सांस्कृतिक-धाराओं को दूर बैठ कर देखते रहना, और समय-समय पर इनकी प्रवृत्ति में रुकावट बनने के स्थान पर इनमें सहायता पहुँचाना है।

सांस्कृतिक-संगठन कई प्रकार के हैं, उन सब का वर्णन करना इस पुस्तक का विषय नहीं है। इन सांस्कृतिक-संगठनों में सबसे मुख्य धार्मिक-संगठन है। हम अगले अध्याय में इसी पर कुछ विचार करेंगे।

प्रश्न

१. आर्थिक तथा राजनैतिक संगठनों को सांस्कृतिक नहीं कहा जा सकता। क्यों ?

२. आर्थिक तथा राजनैतिक संगठनों एवं सांस्कृतिक तथा धार्मिक संगठनों में आधारभूत भेद क्या है ?

३. क्या कोई ऐसी भी स्थिति हो सकती है जिसमें आर्थिक-संगठन को सांस्कृतिक कहा जा सके ?

२४

'महा-समितियाँ'—धार्मिक-संगठन

(GREAT ASSOCIATIONS—RELIGIOUS ASSO.)

१. धर्म का स्वरूप

समाज-शास्त्र को इससे कोई मतलब नहीं कि जिस धर्म में हम विश्वास करते हैं, वह सच्चा है या नहीं। समाज-शास्त्र का काम सामाजिक-जीवन पर धर्म के प्रभाव का अध्ययन करना है। धर्म का स्वरूप क्या है? धर्म हमें भिन्न-भिन्न संस्थाओं के रूप में दिखाई देता है, कोई ईसाइयत को धर्म समझता है, कोई इस्लाम को, कोई हिन्दुत्व को, परन्तु ईसाइयत ही तो धर्म नहीं, इस्लाम या हिन्दुत्व ही तो धर्म नहीं। कुछ ऐसी बातें हैं, जो प्रायः सब धर्मों में एक-सी पायी जाती हैं, वे ही धर्म हैं। वे क्या हैं?

(क) आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास (Belief in Supernatural)—मनुष्य जंगली हो या सभ्य, वह हर बात का कारण जानना चाहता है। भौतिक बातों का कारण उसे अपनी आँखों से दीखता है, परन्तु कई बातें ऐसी हैं जिनका कारण उसे आँखों से नहीं दीखता। बादल गरजते हैं, बिजली कड़कती है, आस्मान में इन्द्र-धनुष दिखाई देता है—यह सब कैसे होता है? आज तो विज्ञान ने इन सब का समाधान हमें बता दिया है, परन्तु आदिकालीन-मनुष्य जब इन घटनाओं को देखता था, तब कल्पना का सहारा लेकर अपना एक काल्पनिक संसार बना लेता था। जैसे हम सब काम करते हैं, वैसे इन कामों को भी कोई महान् सत्ता करती होगी। वह सत्ता एक शक्ति के रूप में है, या व्यक्ति के रूप में है? कोई अशरीर महा-शक्ति की कल्पना करते थे, कोई सशरीर महा-व्यक्ति की कल्पना करते थे, कोई समुद्र, पहाड़, नदी, नाले में ही चेतन की कल्पना करते थे, कोई एक देवता की, कोई अनेक देवताओं की कल्पना करते थे। इसी पारलौकिक आध्यात्मिक सत्ता का नाम ही वे परमात्मा रखते थे। अशरीर शक्ति को मानने वाले 'निर्गुण-ब्रह्म' के उपासक, सशरीर-व्यक्ति को मानने वाले 'सगुण-ब्रह्म' के उपासक थे। 'सगुण' मानने वालों में जो सूर्य, चंद्र, तारे, पहाड़, नदी, नाले, पृथिवी, वायु, अग्नि को अपने-जैसा चेतन समझते थे, वे 'भूत-चेतन-वादी' (Animists), जो सिर्फ़ एक सर्व-शक्तिमान् को मानते थे, वे 'एकेश्वर-वादी' (Monotheists), जो अनेक शक्तियों में विश्वास करते थे, वे

'बहु-देवतावादी' (Polytheists), जो सूर्य का वर्णन करते हुए सूर्य को ही सब-कुछ, चन्द्र का वर्णन करते हुए चन्द्र को ही सब-कुछ और अन्य किसी देवता का वर्णन करते हुए उसी को सब-कुछ कहते थे, वे 'हीनोथीयिस्ट' (Henotheists) कहलाते थे। देवी, देवता, भूत, पिशाच, आदि का मानना भी किसी पारलौकिक-शक्ति में विश्वास के कारण ही था।

(ख) धर्म तथा मानसिक-उद्वेग (Religion and Emotion)—प्रत्येक धर्म में भय, चिंता, आतंक, श्रद्धा, प्रेम, आनन्द तथा इसी प्रकार के अन्य मानसिक-उद्वेगों का सम्मिश्रण रहता है। जो महान् शक्ति है उसका आतंक, उससे भय तो बना ही रहता है। इसी भय के परिणाम-स्वरूप नरक की कल्पना की गई है, और इसी लिए उस शक्ति के प्रति श्रद्धा तथा उसकी आज्ञा पालने से मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है। उस आध्यात्मिक-शक्ति को प्रसन्न करने के लिए जो संसार का नियन्त्रण करती है, कई लोग अपने शरीर को कष्ट देना एक धार्मिक कृत्य समझते थे। धर्म के साथ 'उद्वेग' (Emotion) जुड़ा रहता है, उसी का परिणाम है कि धर्म प्रायः असहिष्णु होता है। धार्मिक-व्यक्ति में सहिष्णुता हो तो वह भी पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है, असहिष्णुता हो तो उसकी भी कोई सीमा नहीं रहती। अन्धापन 'उद्वेग' (Emotion) का स्वाभाविक गुण है। जो व्यक्ति किसी 'उद्वेग' (Emotion) के आधीन होता है, वह बुद्धि से काम नहीं लेता। धर्म के साथ 'उद्वेग' के मेल होने के कारण ही धर्म ने इतिहास में क्षुद्र-मनस्कता, असहिष्णुता तथा मदान्धता का परिचय दिया है, और 'उद्वेग' के कारण ही धर्म में सेवा, त्याग, निःस्वार्थ-भाव खिल उठे हैं। 'उद्वेग' के कारण ही ईसाइयत में इन्क्वीज़ीशन की स्थापना हुई, इस्लाम में जिहाद का नारा बोला गया, और उद्वेग के कारण ही दधीचि ऋषि ने अपनी हड्डियों को दे दिया, राजा हरिश्चन्द्र ने अपने-आप को वचन की रक्षा के लिए बेच दिया। मानसिक-उद्वेग की, समाधि की, अपने को पारलौकिक दैवीय-शक्ति में खो देने की भावना से ही मन्दिरों में घंटा-घड़ियाल बजाते हैं, ढोल पीटते हैं, प्राणायाम करते हैं, कहीं-कहीं भाँग और धतूरा चढ़ाते तथा दूसरे नशे करते हैं।

(ग) धार्मिक-कृत्य (Religious activities)—धर्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के कृत्य, विधि-विधान किये जाते हैं, जिनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जिनका उद्देश्य दैवीय-शक्ति को जादू-टोने के द्वारा अपने वश में करना होता है, दवीय-शक्ति की आराधना करके उसकी कृपा का पात्र बनना होता है। कुछ का उद्देश्य दैवीय-शक्ति के कोप से बचने के लिए उससे दूर रहना होता है।

(i) जादू-टोने से दैवीय-शक्ति को वश में करना (Magic)—दैवीय-शक्ति संसार का संचालन करती है। रोग, दुःख सब उसी के द्वारा होता है। जादू के ज़ोर से उस शक्ति पर अधिकार प्राप्त कर लिया जाता है। मन्त्रों का उच्चारण इसी उद्देश्य से करते हैं। जादू के ज़ोर से मनुष्य में देवता की अपेक्षा अधिक शक्ति आ जाती है, और वह जैसा चाहे देवता को नचाता है। इसे

'मन्त्र सिद्ध करना' कहते हैं। जादू दो तरह का माना गया है—'संक्रामक-जादू' (Contagious magic) तथा 'सम-वेदन जादू' (Sympathetic magic)। 'संक्रामक-जादू' में शत्रु के नख आदि किसी वस्तु को भस्म कर दिया जाता है ताकि शत्रु नष्ट हो जाय, यह समझा जाता है कि शत्रु के नख का शत्रु के शरीर के साथ सम्बन्ध होने के कारण नख पर की गई क्रिया उसके शरीर तक पहुँचेगी। 'सम-वेदन-वाद' में शत्रु की मोम की प्रतिमा बनाई जाती है, और प्रतिमा को बींधने से समझा जाता है कि शत्रु बिंध जायगा, मोम की प्रतिमा की वेदना शत्रु की वेदना बन जायगी।

(ii) आराधना से दैवीय-शक्ति को वश करना (Prayer)—दैवीय शक्ति को जबर्दस्ती वश में करने का तरीका तो ओझाओं का, जादू-टोने का है, परन्तु उसे रिझा कर, उसकी ख़ुशामद करके भी उससे मनचाही माँग पूरी कराई जा सकती है। यह तरीका प्रार्थना, स्तुति, स्तोत्र, वेदी के सामने नत-मस्तक होने तथा कभी-कभी अपने को उस दैवीय-शक्ति के प्रति आत्म-समर्पण कर देने का, बलि चढ़ा देने का है।

(iii) दैवीय-शक्ति से दूर रहना (Taboo)—दैवीय-शक्ति के कोप से बचने का तरीका यह भी है कि उससे दूर रहा जाय। जिन मकानों में भूत रहने की बात चल पड़ती है उनमें फिर कोई नहीं रहता, कभी-कभी उन्हें गिरवा दिया जाता है। कभी-कभी ख़ास-ख़ास भोजन 'निषिद्ध' (Taboo) माने जाते हैं। इसका अभिप्राय भी दैवीय कोप से बचना होता है। कई लोग अलौकिक शक्तियों से बचने के बजाय उन्हें ही डराते-धमकाते हैं। जिन्न, भूत आदि को रिझाया भी जाता है, धमकाया भी जाता है।

(घ) धार्मिक-सामग्री (Religious objects)—प्रत्येक धर्म में कुछ भौतिक वस्तुएँ होती हैं, जो उस धर्म के लिए उपयोगी तो समझी जाती हैं, परन्तु साथ-ही-साथ उनका एक विशेष रूप निश्चित होता है। वेदी की उपयोगिता है, परन्तु वेदी किस तरफ़ बने, पूर्वाभिमुख हो, या पश्चिमाभिमुख, यह भी महत्त्व की वस्तु है। गंडा, तावीज़, कवच भी धार्मिक-सामग्री हैं, जो दैवीय-शक्ति को वश कर लेती हैं। धूप-बत्ती-आचमनी-आसन-हवनकुंड-हवनकुंड की अग्नि-समिधा—ये सब उपयोगी हैं, परन्तु साथ ही अगर अग्नि अरणियों से जलाई जाय, समिधा पलाश की हो, जल गंगा का हो तो विशेष महत्त्व रखता है।

(ङ) धार्मिक-प्रतीक (Religious symbols)—धर्म में हर वस्तु किसी बात की प्रतीक होती है। प्रतिमा भगवान् की प्रतीक है, मोम-बत्ती आत्मिक प्रकाश की प्रतीक है, धूप-बत्ती आध्यात्मिक-सुगन्ध की प्रतीक है। यहाँ तक कि एक ख़ास प्रकार की पोशाक धार्मिक समझी जाती है। हिन्दुओं में कुशा के आसन पर और रेशम का वस्त्र धारण करके सन्ध्या करना पवित्रता का प्रतीक है। बाइबिल, कुरान तथा वेद ईश्वरीय-ज्ञान के प्रतीक हैं।

२. धर्म तथा समाज

(क) 'धर्म' समाज की हित-साधक प्रवृत्ति है—धर्म ने आदि-काल से मनुष्य की समाज-विरोधी प्रवृत्तियों को काबू में रखा है। इसके साथ ही धर्म ने मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक-शक्ति को समाज के हित में लगाने का प्रयत्न किया है। मनुष्य के लिए स्वाभाविक तो यह था कि वह दूसरे पर जबर्दस्ती अपनी इच्छा को आरोपित करे, परन्तु धर्म के प्रभाव में आकर उसने इस समाज-विरोधी प्रवृत्ति को बढ़ने नहीं दिया। धार्मिक-दृष्टि से जो ठीक समझा जाता था, वही वह करता था, जो अनुचित समझा जाता था, उसे करने का कितना ही बड़ा प्रलोभन क्यों न हो, वह नहीं करता था। सभ्यता के आदि-युग में कानून की कोई सत्ता नहीं थी, परन्तु उसके न होते हुए भी धार्मिक-भावना से प्रेरित होकर परिवार, बिरादरी के नियमों का अविचल रूप में पालन होता था। उस समय जब कि कानून नहीं था, कानून को चलाने वाला कोई संगठन नहीं था, समाज को व्यवस्था में रखने का काम धर्म का ही था। शुरू-शुरू में राजा के डर से नहीं, परन्तु ईश्वर के दण्ड के भय से लोग सदाचार का उल्लंघन नहीं करते थे, उसके बाद जब आत्मा की अमरता का विचार उत्पन्न हुआ, तब स्वर्ग या नरक के ख़्याल से अच्छा काम करते थे, बुरे काम से बचते थे। इसमें सन्देह नहीं कि अच्छा क्या है और बुरा क्या है, इस विषय में उस समय के विचार और आज के विचार में मत-भेद हो सकता है। आज हम सती-प्रथा को बुरा समझते हैं, आज से डेढ़-सौ साल पहले इसे अच्छा समझा जाता था। सती-प्रथा को रोकने का धर्म ने विरोध किया था। इस दृष्टि से धर्म कभी-कभी जिस बुरी बात को भी अच्छा समझ बैठता है, उसे हटने नहीं देता। धर्म की इस बुराई के होते हुए भी धर्म ने मनुष्य-समाज को पथ-भ्रष्ट होने से बचाया है। धर्म ने जिन बातों को मनुष्य-समाज के सामने रखा था उस समय वे ठीक ही थीं, पीछे उनकी आवश्यकता न रही, परन्तु रूढ़ि के पीछे चलते हुए हम वही लकीर पीटते रहे, यह धर्म की ग़लती थी। जब राज्य का उदय नहीं हुआ था, कायदे-कानून नहीं बने थे, दंड-विधान नहीं रचा गया था, तब ईश्वर का भय ही तो परिवार को, बिरादरी को, और सम्पूर्ण सामाजिक-व्यवस्था को थामे हुए था। जब किसी जाति पर दूसरी जाति आक्रमण करती थी, तब अपने धर्म की रक्षा करने के लिए ही जातियाँ युद्ध करती थीं, तब धर्म ही उनके हृदय में देश-भक्ति का स्रोत बहाता था। हमें स्मरण रखना होगा कि संसार की बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ धर्म-प्रवर्त्तकों ने की हैं। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद ने संसार को आमूल-चूल बदल दिया, परन्तु उनकी विचार-धाराएँ धर्म की उर्वरा भूमि में पनपी थीं, और धर्म को आधार बना कर ही उनके विचारों का जन्म हुआ था।

(ख) 'धर्म' समाज का अहित भी करता है—जब समाज में राज्य तथा कायदे-कानून की सृष्टि नहीं हुई थी, तब धर्म ने राज्य का काम किया, इसलिए

जब राज्य तथा कायदे-कानून की सृष्टि हो गई, तब इसने समाज पर शासन करने के अपने अधिकार को छोड़ने से इन्कार कर दिया। सदियों तक धर्म का यह दावा रहा कि समाज पर शासन करने का उसी का अधिकार है। इसी कारण देर तक राजा पर भी धर्म ही शासन करता रहा। राज्य तथा धर्म में लगातार सदियों के संघर्ष के बाद मानव-समाज ने धर्म तथा राज्य को अलग-अलग करना सीखा। धर्म एक सांस्कृतिक-प्रवृत्ति है, यह एक देश में अनक हो सकते हैं, राज्य एक सभ्यता के विकास की प्रवृत्ति है, यह एक देश में एक ही हो सकता है---यह पाठ था, जो सदियों की कश्मकश के बाद मानव ने सीखा। आज भी कई लोग राज्य को धर्म के पीछे चलाना चाहते हैं। इसका एक ही अर्थ हो सकता है। वह यह कि जैसे एक देश में एक राष्ट्र रह सकता है, वैसे एक देश में एक ही धर्म रह सकता है, जैसे एक देश में दो राष्ट्र रहें, तो उनमें युद्ध छिड़ना लाजमी है, वैसे एक देश में दो धर्म रहें, तो उनमें भी युद्ध छिड़ना लाजमी है। पाकिस्तान बनने का आधार यही मनोवृत्ति थी। परन्तु क्या यह स्थिति युक्ति-युक्त है? क्या एक देश में दो धर्म नहीं रह सकते, रहें तो क्या उनमें युद्ध छिड़ना लाज़मी होना चाहिए? मानव-समाज ने इस परीक्षण को किया, और करके सदियाँ हुई जब छोड़ दिया। धर्म तो मनुष्य की अन्तरात्मा का विकास है, संस्कृति की देन है। मनुष्य का आभ्यन्तर नाना प्रवृत्तियों से बना है, उनके निर्बाध विकास से ही मानव-समाज उन्नति करता है। कला, संगीत, धर्म---ये सब एक कोटि की वस्तुएँ हैं, इनमें एकता लाना जोर-जब्र से ही हो सकता है, परन्तु इनकी एकता मनुष्य को विकास के पथ से भ्रष्ट कर देती है। इसी लिए भारत ने धर्म-निरपेक्ष राज्य (Secular State) की कल्पना को अपने विधान में स्थान दिया है। धर्म ने राज्य के काम में हस्तक्षेप करके समाज का कई बार गला घोटा है। अनेक सुधार जो समाज के लिए आवश्यक थे, धर्म के नाम पर उनका विरोध किया गया है। स्त्रियों को धर्म के नाम पर दहकती चिता में धकेल कर सती-प्रथा को देर तक जीवित रखा गया। स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकारों को देने वाले हिन्दू-कोड बिल का धर्म के नाम पर विरोध किया गया। युरोप में गैलिलियो के यह कहने पर कि सूर्य पृथिवी के गिर्द नहीं घूमता, पृथिवी सूर्य के गिर्द घूमती है, जेल में डाल दिया गया, ब्रूनो को यह कहने पर कि पृथिवीन हीं, सूर्य इस विश्व का केन्द्र है, आग में जला दिया गया। धर्म ने समाज का हित किया, तो अहित भी कम नहीं किया। धर्म समाज का अहित इसलिए कर सका क्योंकि धर्म के हाथ में राज-सत्ता थी। राज-सत्ता सदा एकता की तरफ़ जाना चाहती है, अनेकता से इसे वैर होता है, इसलिए जब राज्य तथा धर्म मिले होते हैं, तब धर्म भी एकता की तरफ़ जाना चाहता है, और अनेकता से, भिन्न विचार से इसमें असहिष्णुता उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। धर्म यह भूल जाता है कि यह स्वयं संस्कृति की उपज है, और संस्कृति के विशाल-वृक्ष में भिन्न-भिन्न शाखाओं से ही इसकी शोभा है।

(ग) फिर धर्म जीवित क्यों है ?—धर्म के दो काम थे। पहला काम तो समाज को कायदे-कानून में बाँध कर रखना था, दूसरा काम विश्व की गुत्थी को सुलझाना था। कायदे-कानून के लिए राज्य की सृष्टि हो गई है, विश्व की गुत्थियाँ विज्ञान सुलझाने लगा है। आज धर्म के बनाये कायदे-कानून को कोई नहीं मानता, धर्मों में क्षुद्र-दृष्टि से काम लिया जाता है, न ही कोई सूर्य कैसे उत्पन्न हुआ, पृथिवी की क्या आयु है—इन बातों को समझने के लिए धर्म की तरफ़ देखता है। फिर धर्म अब भी क्यों जीवित है ? धर्म की आज के युग में क्या आवश्यकता है ? यह कहना कि सिर्फ़ मूर्ख लोगों के लिए धर्म बचा हुआ है, ग़लत धारणा है। धर्म का मुख्य काम समाज को कायदे-कानून में बाँधना या विश्व की गुत्थियों को सुलझाना नहीं है। धर्म यह काम करता रहा है, इसमें सन्देह नहीं परन्तु इसका मुख्य काम मनुष्य को क्रिया के लिए प्रेरित करना है। मनुष्य में दो मानसिक-प्रक्रियाएँ हैं—'ज्ञान' तथा 'कर्म'। ज्ञान भी तो कर्म के लिए है। जो ज्ञान सिर्फ़ ज्ञान बना रहता है, वह किस काम का ? ज्ञान का परिणाम होना चाहिए—'कर्म'। आज हम ज्ञानी हैं, परन्तु वह ज्ञान हमारे कर्म में नहीं दिखाई देता। धर्म का काम मनुष्य को 'कर्म' के लिए प्रवृत्त करना है। धर्म के क्षेत्र में, सही या ग़लत, जो-कुछ ज्ञान था, उसका उद्देश्य भी सिर्फ़ मनुष्य को कुछ करने के लिए प्रेरित करना था। आदि-काल से मनुष्य में यह भावना, यह विश्वास कि संसार में मनुष्य से भी कोई ऊँची शक्ति है, ऐसी शक्ति जिसके दरबार में, अन्याय की कोई सम्भावना नहीं, मनुष्य को भिन्न-भिन्न संकटों में सहन-शीलता तथा साहस देती रही है, इसी विश्वास के आधार पर मनुष्य अबतक जिन्दा है, इसी विश्वास के आधार पर वह आत्मघात नहीं कर बैठता। इसमें सन्देह नहीं कि आज के मानव को वर्षा से बचने के लिए, उत्तम खेती के लिए, रोग से मुक्त होने के लिए धर्म की आवश्यकता नहीं, आदि-काल का मनुष्य इन बातों के लिए भी धर्म की तरफ़ ताकता था, परन्तु अन्याय से चारों तरफ़ से सटे हुए इस विश्व में अगर कहीं प्रकाश की किरण दीखती है, अगर मनुष्य अत्याचार की इन शक्तियों के साथ जूझता है, तो इसी आशा से, और इसी विश्वास से कि विश्व की संचालक शक्ति संसार को असत्य से सत्य की तरफ़ और अन्याय से न्याय की तरफ़ ले जा रही है। यही निष्ठा, यही विश्वास जो मनुष्य को कर्म करने की, बुराई के साथ लड़ते चले जाने की प्रेरणा देता है, धर्म है, और इस निष्ठा को जागरूक रखने के लिए, मनुष्य में कर्म करने की भावना बनाये रखने के लिए धर्म जिन्दा है, और जिन्दा रहेगा।

परीक्षा में आये हुए प्रश्न

धर्म का सामाजिक-महत्त्व क्या है—इसे स्पष्ट कीजिए। (लखनऊ, १९५३)

२५

अन्तःसामाजिक-सम्बन्ध या सामाजिक-प्रक्रिया
(SOCIAL INTER-RELATIONS OR SOCIAL PROCESSES)

अन्तःसामाजिक-सम्बन्ध की व्याख्या

'सामाजिक-सम्बन्ध' का अर्थ 'अन्तः सामाजिक-सम्बन्ध' है। सामाजिक-सम्बन्ध तभी स्थापित होता है जब यह कुछ व्यक्तियों के बीच हो; अनेक व्यक्तियों के बीच यह सम्बन्ध नहीं होगा, तो इसे 'सामाजिक-सम्बन्ध' का नाम ही कैसे दिया जा सकता है। 'अन्तः सामाजिक-सम्बन्ध' का रूप 'अन्तः सामाजिक-क्रिया' (Social inter-action) का ही हो सकता है क्योंकि जिस सम्बन्ध का परिणाम कोई क्रिया नहीं, वह बेकार है। इसकी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने निम्न व्याख्याएँ की हैं :—

[क] डॉसन तथा गेटीज़ की 'अन्तः सामाजिक-सम्बन्ध' की व्याख्या—"अन्तः सामाजिक-सम्बन्धी कार्य वह कार्य होता है या वह प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा व्यक्ति एक-दूसरे के मन में घुस जाता है।"

[ख] ग्रीन की 'अन्तः सामाजिक-सम्बन्ध' की व्याख्या—"अन्तः सामाजिक-क्रिया का अभिप्राय उन प्रभावों से है, जो व्यक्तियों तथा समूहों द्वारा, उनकी समस्याओं को सुलझाने के लिये तथा उनके उद्देश्यों तक पहुँचने के लिए वे एक-दूसरे पर डालते हैं।"

[ग] जिस्ट की 'अन्तः सामाजिक-सम्बन्ध' की व्याख्या—"अन्तः सामाजिक-क्रिया मनुष्यों के उस एक-दूसरे पर प्रभाव को कहते हैं, जो वे एक-दूसरे पर उत्तेजना तथा प्रत्युत्तेजना के रूप में डालते हैं।"

उक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि 'सामाजिक-सम्बन्ध' का रूप 'अन्तः 'सामाजिक-सम्बन्ध' है, 'अन्तः सामाजिक-सम्बन्ध' का रूप 'अन्तः सामाजिक-

---

[क] "Social interaction is a process whereby men inter-penetrate the minds of each other."—*Dawson and Gettys.*

[ख] "By social interaction is meant the mutual influences that individuals and groups have upon one another in their attempts to solve problems in their striving towards goals."
—*Green.*

[ग] "Social interaction is the reciprocal influences human beings exert on each other through interstimulation and response."—*Gist.*

क्रिया' है। 'अन्तः सामाजिक-सम्बन्ध' या 'अन्तः सामाजिक-क्रिया' वहीं होती है, जहाँ मनुष्य का मनुष्य के साथ किसी प्रकार का भी मानसिक-सम्बन्ध होता है, शारीरिक-सम्बन्ध को सामाजिक-सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। सामाजिक-सम्बन्ध रेता के कणों का-सा सम्बन्ध नहीं, दूध-पानी का-सा, एक-दूसरे को प्रभावित करने वाला सम्बन्ध है जो एक मन के दूसरे मन के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट होता है। जब दो या अनेक व्यक्ति सामाजिक सम्बन्ध में आते हैं तब उनकी एक-दूसरे के प्रति सहयोग, असहयोग आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की 'अन्तः सामाजिक-प्रक्रिया' होती है—इसी को 'अन्तः सामाजिक-सम्बन्ध' कहते हैं।

१९वें अध्याय में हम बता आये हैं कि 'सामाजिक-सम्बन्ध' (Social relation) के उत्पन्न होने का मनोवैज्ञानिक आधार 'स्वार्थ' (Interest) है। मनुष्य के दो तरह के स्वार्थ हैं—'एक-से (Like) और 'एक-ही' (Common)। हर-एक व्यापारी के दूसरे व्यापारी के साथ 'एक-से' स्वार्थ हैं, परन्तु जब दो व्यापारी साझेदारी में मिल जाते हैं, तब उनके स्वार्थ 'एक-से' (Like) से हट कर, 'एक-ही' (Common) हो जाते हैं। 'एक-से' स्वार्थ, और 'एक-ही' स्वार्थ—ये दो प्रकार के सामाजिक-सम्बन्धों को सूचित करते हैं। 'एक-से' स्वार्थों में स्वार्थों की एकता के साथ भिन्नता भी रहती है, 'एक-ही' स्वार्थों में भिन्नता नहीं रहती, एकता ही रहती है।

'एक-से' तथा 'एक-ही'—ये दो भेद स्वार्थों की एकता को दृष्टि में रखकर किये गये हैं। परन्तु हमने अभी देखा, स्वार्थों में एकता होती है, तो भिन्नता भी होती है। 'एक-से'—शब्द का प्रयोग ही भिन्नता को दृष्टि में रखकर किया गया है। यदि स्वार्थों की भिन्नता भी होती है, तो भिन्नता को सामने रखते हुए भी स्वार्थ के दो भेद किये जा सकते हैं। 'सहकारी-स्वार्थ' (Associative interests) तथा 'असहकारी-स्वार्थ' (Dissociative interests)। 'एक-से' तथा 'एक-ही' स्वार्थ तो 'सहकारी-स्वार्थ' में आ जाते हैं, एक-दूसरे से भिन्न स्वार्थ 'असहकारी-स्वार्थ' में आ जाते हैं। 'स्वार्थ' (Interest) ही 'सामाजिक-सम्बन्ध' (Social relation) का कारण है। 'सहकारी-स्वार्थों' (Associative interests) से 'सहकारी-सामाजिक-सम्बन्ध' (Associative social relations) उत्पन्न हो जाते हैं; 'असहकारी-स्वार्थों (Dissociative interests) से 'असहकारी-सामाजिक-सम्बन्ध' (Dissociative social relations) उत्पन्न हो जाते हैं। 'सहकारी-सामाजिक-सम्बन्ध' हैं—'सहयोग' (Co-operation), 'व्यवस्थान' (Accommodation), तथा आत्मसात्-करण (Assimilation); 'असहकारी-सामाजिक-सम्बन्ध' हैं—'प्रतिस्पर्धा' (Competition) तथा 'संघर्ष' (Conflict)। अन्य सब 'सामाजिक-सम्बन्ध' इन्हीं में से किसी एक में समा जाते हैं। इस अध्याय में हम इन्हीं 'अन्तः सामाजिक-सम्बन्धों' की व्याख्या करेंगे।

१. सहयोग (Co-operation)

सैमुअल बटलर का कथन है कि हमारे एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध या तो मानो रस्सी से बंधे होते हैं, या चाकू से कटे होते हैं। लोग विवाह करते हैं, तलाक करते हैं; काम करते हैं, स्ट्राइक कर देते हैं; अपने को भाई-भाई कहते हैं, या एक दूसरे का खून बहाने लगते हैं। जब वे एक-दूसरे से मेल करते हैं, तो इसे 'सहयोग' (Co-operation) कहते हैं, जब एक-दूसरे से मेल नहीं कर सकते, एक-दूसरे को हानि पहुँचाते हैं, तो इसे 'विरोध' (Opposition) कहते हैं। 'सहयोग' के भिन्न-भिन्न दृष्टियों से निम्न भिन्न-भिन्न भेद किये गये हैं :—

(क) ऑगबर्न तथा निमकॉफ़ का कहना है कि 'सहयोग' तीन तरह का हो सकता है। पहला सहयोग तो वह है जब हम किसी अपनी या दूसरे की आवश्यकता के कारण सहयोग नहीं करते, दिल-बहलाव के कारण सहयोग देते हैं। घर में नौकर खाना बना रहा है, गृह-पत्नी रसोई में जाकर बैठ जाती है, वह भी पूरी बेलने लगती है। दूसरा सहयोग वह है जब हम किसी की आवश्यकता को पूरा करते हैं। एक यात्री की मोटर कीचड़ में फँस गई, वह इकला उसे निकाल नहीं सकता, हम भी मोटर को कीचड़ में से निकालने के लिए अपना हाथ लगा देते हैं। तीसरा सहयोग वह है जिसमें भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न काम कर रहे होते हैं, परन्तु उन सब के मिलने से एक काम बन जाता है। लोहार लोहा बनाता है, बढ़ई लकड़ी घड़ता है, पथेरा ईंटें पाथता है, राज चिनाई करता है, और इन सब के सहयोग से मकान बनकर खड़ा हो जाता है।

(ख) मैक आइवर ने एक अन्य दृष्टि से 'सहयोग' के दो भेद किये हैं—'प्रत्यक्ष' (Direct) तथा 'अप्रत्यक्ष' (Indirect)। 'प्रत्यक्ष-सहयोग' वह है जहाँ व्यक्तियों का आमने-सामने का, वैयक्तिक सम्बन्ध होता है, वे किसी काम को एक-साथ करते हैं। एक-साथ खेलना, एक-साथ पूजा-पाठ, एक-साथ खेती-बाड़ी 'प्रत्यक्ष-सहयोग' के उदाहरण हैं। जिन कामों को लोग इकले भी कर सकते हैं, उन्हें भी वे 'प्रत्यक्ष-सहयोग' में मिलकर करते हैं। मिलकर क्यों करते हैं? इसलिए, क्योंकि मिलकर करने से एक तो काम करने में उत्साह बढ़ता है, मनुष्य ज्यादा जोश से काम करता है, और कुछ दिल-बहलाव, कुछ सन्तोष भी होता है। परन्तु यह जरूरी नहीं कि 'प्रत्यक्ष-सहयोग' में वे ही काम गिने जाँय, जिन्हें मनुष्य इकला भी कर सकता है। जिन्हें इकला भी नहीं कर सकता, उन्हें भी 'प्रत्यक्ष-सहयोग' द्वारा करता है। उदाहरणार्थ, जब मोटर कीचड़ में धँस गई तब वह इकला तो उसे नहीं निकाल सकता। दूसरे आकर जो सहारा देते हैं—यह 'प्रत्यक्ष-सहयोग' ही है। 'अप्रत्यक्ष-सहयोग' क्या है? जब लोहार लोहा बनाता है, बढ़ई लकड़ी बनाता है, पथेरा ईंटें पाथता है, राज चिनाई करता है, तब मकान बन जाता है। मकान बनाने में इन सब का आपस में 'अप्रत्यक्ष-सहयोग' है। सारा-का-सारा 'श्रम-विभाग' (Division of labour) 'अप्रत्यक्ष-सहयोग' का दृष्टान्त है।

वर्त्तमान समाज में प्रत्यक्ष-सहयोग का स्थान अप्रत्यक्ष-सहयोग ले रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता जा रहा है, त्यों-त्यों ऐसे संगठन बनते जा रहे हैं जिनमें व्यक्ति-व्यक्ति का आमने-सामने का सम्बन्ध सम्भव नहीं रहा है। एक मजदूर मिल में काम करता है, उसे नहीं मालूम कौन मैनेजर है, कौन मालिक है, उसका मिल-मालिकों के साथ 'अप्रत्यक्ष-सहयोग' ही हो सकता है। यही बात हमारे सम्पूर्ण सामाजिक-संगठन में बढ़ती जा रही है। इसका बुरा परिणाम भी निकलता है। मैनेजर और मालिक को अपने आधीन कार्य करने वालों की समस्याओं का ठीक-ठीक पता नहीं चलता, इससे कई समस्याएँ भी उठ खड़ी होती हैं। इस सब का प्रतीकार यही है कि अप्रत्यक्ष-सहयोग के होते हुए भी भिन्न-भिन्न संगठनों के मालिकों को प्रत्यक्ष-सहयोग, आमने-सामने के वैयक्तिक सम्पर्क को स्थापित करते रहना चाहिए, इससे समस्याएँ उतना उग्र रूप नहीं धारण करेंगी जितना प्रायः वे धारण कर लेती हैं।

२. व्यवस्थान (Accommodation)

मनुष्य के मन की दो अवस्थाएँ हैं—प्रेम तथा द्वेष। जब प्रेम-भावना प्रबल हो जाती है तब 'सहयोग' उत्पन्न होता है, जब द्वेष-भावना प्रबल हो जाती है, तब 'विरोध' उत्पन्न होता है। परन्तु मनुष्य का स्वभाव द्वेष-भावना में देर तक रहने का नहीं है। जेरसिल्ड (Jersild) ने २४ बच्चों पर परीक्षण किया, और इस परिणाम पर पहुँचा कि हर पाँचवें मिनट में उनमें झगड़ा होता था, परन्तु झगड़ा २० से ३० सेकेण्ड से ज्यादा नहीं रहता था। सोरोकिन (Sorokin) ने पाश्चात्य देशों की भिन्न-भिन्न मुख्य जातियों के इतिहास का अध्ययन करने पर यह परिणाम निकाला कि इन जातियों का युद्ध की अपेक्षा शांति में अधिक समय बीता। गत महायुद्ध में जब युद्ध स्थगित करने की घोषणा की गई, तो शत्रु-देशों के सिपाही बड़ी उत्सुकता से आपस में गले-गले मिले। मनुष्य का स्वभाव देर तक द्वेष-भावना को नहीं पाल सकता इसलिए जब लड़ाई-झगड़े से देर तक फ़ैसला नहीं होता तब वह अपने दिल को समझा कर न द्वेष-भावना रखता है, न प्रेम-भावना रखता है, अपितु इन दोनों के अतिरिक्त मन की एक ऐसी वृत्ति बना लेता है जिसमें न द्वेष होता है न प्रेम होता है, द्वेष तथा प्रेम दोनों को गुंजायश रहती है। इस मानसिक-अवस्था को 'व्यवस्थान' (Accommodation) कहते हैं, क्योंकि इससे मन की व्यवस्थित दशा हो जाती है।

बालक का जीवन 'व्यवस्थान' की प्रक्रिया का बहुत अच्छा उदाहरण है। शुरू-शुरू में माता-पिता बच्चों को ख़ूब लाड़-प्यार करते हैं, जो आता है उसे दिखाते हैं, उसे चूमते हैं, प्यार करते हैं, दो साल का हो जाय तो उससे आशा करते हैं कि वह कहे पर चले, अपनी मर्जी से जो चाहे न करे। ठीक इस समय माता-पिता तथा बच्चे में संग्राम छिड़ जाता है। बच्चा अपनी मर्जी से चलना चाहता है, माता-पिता उसे अपनी मर्जी से चलाना चाहते हैं। बच्चा रोता है, चिल्लाता

है, हाथ-पैर पटकता है, परन्तु धीरे-धीरे समझ जाता है कि उसे अपने को बदलना होगा, माता-पिता की आज्ञा के अनुकूल चलना होगा। यही प्रक्रिया 'व्यवस्थान' (Accommodation) है। जब वह १६–१७ वर्ष का हो जाता है तब फिर दोबारा उसमें माता-पिता के प्रति विद्रोह उठ खड़ा होता है, वह अपनी स्वतंत्र इच्छा से अपने रास्ते पर चलना चाहता है। अगर माता-पिता उसे दबाते हैं, तो उसके हृदय में उनकी हर बात से नफ़रत पैदा हो जाती है। जिस धर्म को वे मानते हैं उसका वह विरोध करता है, जिस खेल में वे दिलचस्पी लेते हैं उसकी वह मज़ाक उड़ाता है, उनके काम से, धन्धे से, उनकी हर बात से उसे चिड़ हो जाती है। यह समय फिर 'व्यवस्थान' (Accommodation) का समय है। पहले छुटपन में वह असहाय था अतः उसे अपने को बदलना पड़ा था, अब वह प्रौढ़ हो गया है, इस लिए कुछ माता-पिता को, कुछ उसे बदलना होता है, दोनों एक दूसरे का ख्याल करके अगर अपने को नहीं बदलते, एक-दूसरे के अनुकूल नहीं बनते तो घर में कलह मचा रहता है। यह 'व्यवस्थान' की प्रक्रिया व्यक्तियों में, समूहों में, देशों में, जातियों में, संस्कृतियों में, सब जगह चलती रहती है। 'व्यवस्थान' के निम्न भेद किये जा सकते हैं :—

(क) 'तुल्य-बल वालों का व्यवस्थान (Co-ordinate accommodation)—जब समान-बल के व्यक्ति या देश आपस में टकरा जाते हैं, तब देर तक झगड़ा न रखने की इच्छा से कुछ फैसला करते हैं। दोनों कुछ लेते, कुछ देते हैं, ऐसा फ़ैसला करते हैं जिससे दोनों की बात रह जाय, किसी एक की ही न चले। पति-पत्नी के झगड़े इसी प्रकार निपटते हैं। बड़े-बड़े देशों में, जो एक-सी शक्ति रखते हैं, जब झगड़े उठ खड़े होते हैं, तब किसी तीसरी शक्ति को बीच में डाल कर फ़ैसला करना इस कोटि में आता है। तुल्य-बल वालों का आपस में जो फ़ैसला होता है, उसके कई उपाय हैं, जिनमें 'समझौता' (Compromise), 'सहिष्णुता' (Toleration), 'समाधान' (Arbitration or Conciliation), तथा 'विचार-परिवर्त्तन' (Conversion) मुख्य हैं।

(ख) बली-निर्बल का 'व्यवस्थान' (Superordinate-subordinate accommodation)—जब विषम-बल के व्यक्ति या देश आपस में टकरा जाते हैं, तब अगर उन दोनों में से कोई एक अपना पराजय स्वीकार कर ले, तो लड़ाई समाप्त हो जाती है। अगर स्वीकार न करे, तो उसके सामने दो ही रास्ते हैं—या तो वह शत्रु को हरा दे, या स्वयं नष्ट हो जाय। जिसमें शत्रु को हराने का सामर्थ्य होता है वह पराजय को स्वीकार नहीं करता, जिसमें सामर्थ्य नहीं होता वह नष्ट होने से बचने के स्थान पर आत्म-समर्पण कर देता है। आत्म-समर्पण का अर्थ है अपने को निर्बल तथा दूसरे को बलवान् स्वीकार कर लेना।

मनुष्य का जब पहले-पहल किसी के साथ सम्पर्क होता है, तब वह तय कर लेना चाहता है कि उसका दूसरे व्यक्ति के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध होगा। क्या वह दूसरे व्यक्ति के मुकाबिले में समान-बल का है, उससे ज्यादा बलशाली

है, या उससे किसी बात में कमज़ोर है ? बल का अभिप्राय शारीरिक-बल से नहीं। शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, सामाजिक—सभी प्रकार का बल हो सकता है। अगर उसका दूसरे के बराबर बल है, तो वह उसी तरह से पेश आता है, अगर वह दूसरे से ज्यादा बल रखता है, तो अहंकार की भावना से पेश आता है, अगर वह दूसरे से कमज़ोर है, तो हाथ जोड़कर मस्तक नवा कर पेश आता है। देशों का, जातियों का और संस्कृतियों का भी जब आपस में सम्पर्क होता है, तो इसी दृष्टि-कोण से वे अपने को एक-दूसरे के अनुकूल बना लेते हैं। जिस भावना को हमने समाज-शास्त्र में 'बली-निर्बल का व्यवस्थान' (Superordinate-subordinate accommodation) कहा है उसी को मनोविज्ञान में 'ऊर्ध्व-निम्न भावना' (Ascendance-submission) कहा जाता है।

व्यवस्थान के तरीके को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—मध्यस्थता (Mediation), अनुरंजन (Conciliation) तथा पंचायत (Arbitration)। मध्यस्थता में जो व्यक्ति मध्यस्थ होता है उसका काम दोनों पक्षों की बात एक-दूसरे तक पहुँचाना होता है, इससे अधिक नहीं; अनुरंजन में जो मध्यस्थ होता है वह अपने सुझाव भी साथ देता है ताकि दोनों पक्षों का व्यवस्थान हो जाय, परन्तु किसी को बाधित नहीं करता; पंचायत में जो मध्यस्थ होता है उसका निर्णय अनिवार्य रूप से दोनों पक्षों को मान्य होता है। व्यक्तियों के झगड़े समाप्त करने के लिये व्यवस्थान की प्रक्रिया काम में लाई जाती है, मानव-समाज के झगड़े समाप्त करने के लिए संयुक्त-राष्ट्र-संघ की स्थापना हुई है।

'व्यवस्थान'-'सामंजस्य'-'अनुकूलन' में भेद
(ACCOMMODATION; ADJUSTMENT; ADAPTATION)

(क) 'व्यवस्थान' तथा 'सामंजस्य' में भेद (Difference between Accommodation and Adjustment)—'सामंजस्य' करना पड़ता है, 'व्यवस्थान' किया जाता है; सामंजस्य बाह्य है, व्यवस्थान आन्तरिक है; सामंजस्य के बाद प्रायः व्यवस्थान की अवस्था आ जाती है। उदाहरणार्थ, श्रमिकों की हड़ताल असफल हो गई, उन्हें सामंजस्य करना पड़ा; पति-पत्नी का झगड़ा समाप्त हो गया, उन्होंने व्यवस्थान किया। श्रमिकों के सामंजस्य होने के बाद भी मन-मुटाव बना रहा—इनका मेल बाह्य है; पति-पत्नी के झगड़े के बाद मन-मुटाव भी नहीं रहा, इनका सामंजस्य नहीं अपितु व्यवस्थान हो गया—इनका मेल आन्तरिक है। श्रमिकों के सामंजस्य के कारण बाह्य-मेल के उपरान्त हो सकता है इनका व्यवस्थान भी हो जाय और केवल बाह्य-मेल ही न रहे, आन्तरिक-मेल भी हो जाय।

(ख) 'व्यवस्थान' तथा 'अनुकूलन' में भेद (Difference between Accommodation and Adaptation)— 'व्यवस्थान' सामाजिक-अनुकूलन को कहते हैं, 'अनुकूलन' प्राणि-शास्त्रीय या जैविक अनुकूलन को कहते हैं।

मनुष्य अपनी आदतों, अपने व्यवहार, अपनी भावनाओं को सामाजिक-पर्यावरण के अनुसार बना ले तो यह 'व्यवस्थान' (Accommodation) है; अगर अपने को सर्दी-गर्मी-वर्षा के सहन के अनुकूल बना ले तो यह 'अनकूलन' (Adaptation) है। इस दृष्टि से 'व्यवस्थान' एक सामाजिक-प्रक्रिया है, 'अनुकूलन' एक प्राणि-शास्त्रीय प्रक्रिया है।

'अनुकूलन' का अर्थ पर्यावरण के साथ शारीरिक-अनुकूलता स्थापित करना है, 'सामंजस्य' का अर्थ पर्यावरण के साथ बाह्य तौर से मानसिक अनुकूलन स्थापित करना है, 'व्यवस्थान' का अर्थ पर्यावरण के साथ आन्तरिक तौर से मानसिक-अनुकूलता स्थापित करना है। जब इस सब प्रकार की अनुकूलता उत्पन्न हो जाती है, तब इनका अन्त 'आत्मसात्-करण' में होता है।

३. आत्मसात्-करण (Assimilation)

'आत्मसात्-करण' उस प्रक्रिया का नाम है जिससे भिन्न प्रकृति के व्यक्ति या समह एक प्रकृति के हो जाते हैं, उनका भिन्न-स्वार्थ एक-स्वार्थ हो जाता है, भिन्न दृष्टि-कोण एक दृष्टि-कोण हो जाता है। जब कोई संस्कृति दूसरी संस्कृति के साथ अपने को एक कर देती है, उसमें घुल-मिल जाती है, अपनी पृथक्-सत्ता को खो कर उसमें अपने को विलीन कर देती है, तब 'आत्मसात्-करण' (Assimilation) की प्रक्रिया होती है। जब किसी देश में दूसरे देश के लोग आकर उसकी संस्कृति में अपने को एक कर देते हैं, तब जो प्रक्रिया होती है, उसे समाज-शास्त्री 'संस्कृति-करण' (Acculturation) कहते हैं। 'संस्कृति-करण' में क्या होता है? अमरीका में भिन्न-भिन्न देशों से लोग आये। अपनी-अपनी संस्कृति को लेकर आये, परन्तु अमरीका में आकर वे वहीं की संस्कृति के रंग में रंग गये। यह 'संस्कृति-करण' की प्रक्रिया है। संस्कृति की इस प्रक्रिया का आधार 'आत्मसात्-करण' (Assimilation) की प्रक्रिया है। शरीर में जो भोजन जाता है वह भोजन के रूप में न रह कर भिन्न-भिन्न अंगों का रस बन जाता है। यह भोजन का 'आत्म-सात्-करण' है। बच्चे के जीवन में 'आत्मसात्-करण' की प्रक्रिया लगातार होती रहती है। बच्चा बड़ा होकर युवक-समाज में घुल-मिल जाता है, जिन बच्चों को दूसरे घरों में पाला जाता है वे अपने निजी माता-पिता की विचार-परम्परा को भूल कर अपने पालक माता-पिता की विचार-परम्परा में रल-मिल जाते हैं, पति-पत्नी एक-दूसरे में अपने को एक कर देते हैं। यह सब 'आत्मसात्-करण' है।

'आत्मसात्-करण' (Assimilation) तथा 'व्यवस्थान' (Accommodation) में भेद है। यह हो सकता है कि कोई जाति दूसरे देश में अपने को अनुकूल तो बना ले, परन्तु उस देश में अपने को घुला-मिला न सके। अमरीका में चीनी तथा जापानी अपने को अनुकूल तो बना सके हैं, परन्तु अमरीका में अपने को अमरीकनों के साथ एक नहीं कर सके, दूसरे शब्दों में उनका 'व्यवस्थान' (Accommodation) तो हो गया है, 'आत्मसात्-करण' (Assimilation)

नहीं हुआ। जब तक कोई समूह अहंकार से ओत-प्रोत रहता है, तब तक 'आत्मसात्-करण' की प्रक्रिया नहीं हो सकती। अमरीका के अहंकार के कारण एशियाई जातियों का वहाँ 'आत्मसात्-करण' नहीं हो सका। जहाँ 'आत्मसात्-करण' (Assimilation) न हो सके, वहाँ 'व्यवस्थान' (Accommodation) की प्रक्रिया से संघर्ष तथा विरोध को मिटाया जाता है।

'आत्मसात्-करण' के तरीकों को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—'सहिष्णुता' (Toleration), 'समान-अवसर' (Equal opportunity), 'सम्मिश्रण' (Amalgamation), 'सांस्कृतिक-समानता' (Cultural similarity) तथा 'सामाजिक-सम्पर्क' (Social contact)। 'सहिष्णुता' द्वारा एक-दूसरे की भिन्नता को सहन कर लिया जाता है, संघर्ष को मिटाया जाता है; 'समान-अवसर' भिन्न-भिन्न लोगों को भी एक-समान मिलें तो वे एक-दूसरे के नज़दीक आने लगते हैं; 'सम्मिश्रण' की प्रक्रिया से भिन्न-भिन्न जातियों के लोग परस्पर विवाह आदि करने लगते हैं; 'सांस्कृतिक-समानता' हो तो भारत के काले ईसाई और गोरे अंग्रेज़ों की तरह वे अपने को दूसरों की अपेक्षा अधिक निकट अनुभव करने लगते हैं; 'सामाजिक-सम्पर्क' होने से जब भिन्न-भिन्न प्रकार के लोग आपस में मिलते-जुलते रहते हैं तो उनमें 'आत्मसात्-करण' की प्रक्रिया चल पड़ती है और भेद-भाव मिटने लगता है। ये पाँचों प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न समाजों को एक-दूसरे में घुला-मिला देती हैं और उनमें 'आत्मसात्-करण' हो जाता है।

'आत्मसात्-करण' के उक्त सहायक-तत्त्वों की तरह 'आत्मसात्-करण' के विरोधी तत्त्व भी हैं। वे तत्त्व हैं—'पृथक्ता' (Isolation), 'वर्ण-भेद' (Colour-distinction), 'आत्माभिमान' (Superiority-sense), 'संपीडन' (Persecution)। 'पृथक्ता' का अभिप्राय है अपने को दूसरों से अलग रखना, जैसे अफ्रीका में वहाँ के अंग्रेज़ अपने को हिन्दुस्तानियों से अलग रखते हैं, अपने मकान भी अलग ही बनाते हैं। 'वर्ण-भेद' का अर्थ है काले-गोरे के आधार पर अपने को एक-दूसरे से भिन्न समझना जैसे गोरी जातियाँ नीग्रो जातियों से अपने को भिन्न समझती हैं। 'आत्माभिमान' का अर्थ है अपने को जन्म आदि के कारण दूसरों से बड़ा समझना जैसे ब्राह्मण अपने को इतर वर्णों से ऊँचा समझते हैं। 'संपीडन' का अर्थ है दूसरों को पीड़ा देना जैसे हमारे यहाँ शूद्रों के साथ सदा से दुर्व्यवहार होता रहा है। इन सब के कारण समाज में 'आत्मसात्-करण' की प्राक्रया में बाधा पड़ा करती है।

४. प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता (Competition)

['प्रतिस्पर्धा' तथा 'विरोध' में भेद]

'प्रतिस्पर्धा' (Competition) तथा 'विरोध' (Conflict) में इतना बारीक फ़र्क है कि इस फ़र्क को समझे बिना 'प्रतिस्पर्धा' को समझना कठिन है। कई लेखकों का मत है कि 'प्रतिस्पर्धा' में वैयक्तिक सम्पर्क नहीं होता,

'विरोध' में होता है ; 'प्रतिस्पर्धा' लगातार रहने वाली प्रक्रिया है, 'विरोध' कभी होता है, कभी हट जाता है, हर समय नहीं रहता। परन्तु यह लक्षण ठीक नहीं है। यह ठीक है कि एक अमरीका और दूसरा जापान का व्यापारी एक-दूसरे के सम्पर्क में आये बिना व्यापार में एक-दूसरे से होड़ कर रहे होते हैं, भिन्न-भिन्न स्कूलों के विद्यार्थी एक-दूसरे को बिना जाने परीक्षा में प्रथम आने की प्रतिस्पर्धा कर रहे होते हैं, परन्तु क्या एक ही गली में और एक ही स्कूल में एक-दूसरे को जानने वाले, वैयक्तिक सम्पर्क में आने वाले व्यापारी और विद्यार्थी प्रतिस्पर्धा नहीं करते ? उनकी 'प्रतिस्पर्धा' होती है, 'विरोध' नहीं होता। इसी प्रकार यह भी ठीक है कि 'प्रतिस्पर्धा' लगातार रहने वाली प्रक्रिया है, परन्तु आज के युग में जहाँ एकाधिकार द्वारा कहीं-कहीं 'प्रतिस्पर्धा' को ख़त्म किया जा रहा है, क्या इसे लगातार रहने वाली प्रक्रिया कहा जा सकता है ? तो फिर, "प्रतिस्पर्धा' तथा 'विरोध' में क्या भेद है ?

(क) प्रतिस्पर्धा अहिंसात्मक तथा विरोध हिंसात्मक है––जब कोई व्यक्ति या समूह दूसरे व्यक्ति या समूहों के साथ किसी एक ही बात के लिए अहिंसात्मक उपायों से होड़ करता है, तो उसे 'प्रतिस्पर्धा' कहते हैं, जब इस होड़ में हिंसात्मक उपायों का प्रयोग होने लगता है तो उसे 'विरोध' कहते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ लोगों में नौकरी के लिए होड़ हो सकती है, माल बेचने के लिए होड़ हो सकती है, कौन-सा धर्म ठीक है कौन-सा नहीं है, कौन-सी शिक्षा-प्रणाली ठीक है, कौन-सी नहीं है, कौन-सी वैज्ञानिक खोज ठीक है, कौन-सी नहीं है, कौन-सी आर्थिक-व्यवस्था समाज के हित में है, कौन-सी नहीं है, कौन-सी शासन-प्रणाली ठीक है, कौन-सी नहीं है, कौन-सी संस्कृति हमारा भला कर सकती है, कौन-सी नहीं––इन बातों का निर्णय अपना गुण दिखलाकर शान्तिमय उपायों से भी किया जा सकता है, एक दूसरे पर डंडे चलाकर भी किया जा सकता है। यह हो सकता है कि एक व्यापारी अपना माल सस्ता बेचे, यह भी हो सकता है कि दूसरे के माल को आग लगाकर अपने माल के लिए ग्राहक पैदा करे, यह हो सकता है कि एक विद्यार्थी दिन-रात पढ़कर दूसरे विद्यार्थी से आगे निकल जाय, यह भी हो सकता है कि वह दूसरे की किताबें चुराकर उसे पढ़ने ही न दे। शान्तिमय अहिंसात्मक उपायों द्वारा अन्यों के मुकाबिले में एक वस्तु को प्राप्त करने की प्रक्रिया 'प्रतिस्पर्धा' है, अशान्तिमय हिंसात्मक उपायों द्वारा उसी वस्तु को प्राप्त करने की प्रक्रिया का नाम 'विरोध' है।

(ख) प्रतिस्पर्धा में दो के अतिरिक्त तीसरा भी होता है––'विरोध' में तो दो पक्ष होते हैं, वे ज़ोर-जब्र से किसी बात का फैसला करना चाहते हैं, परन्तु 'प्रतिस्पर्धा' में दोनों पक्षों की बात का निर्णय करना किसी तीसरे के हाथ में होता है। व्यापारी अपने-अपने माल को बढ़िया बतलाते हैं, परन्तु ग्राहक के हाथ में इस बात का निर्णय करना होता है कि किस का माल उत्तम है। हर विद्यार्थी अपने को दूसरे से योग्य समझता है, परन्तु परीक्षक इनके बीच का निर्णायक है। दो

प्रेमी जब किसी लड़की को प्रेम करते हैं, तो लड़की इन दोनों में से किसी एक को चुन लेती है।

इस दृष्टि से 'प्रतिस्पर्धा' (Competition) तथा 'विरोध' (Conflict) का लक्षण क्या हुआ ? 'प्रतिस्पर्धा' उस सामाजिक-प्रक्रिया का नाम है जिसमें दो पक्ष किसी एक ही बात के लिए अहिंसात्मक उपायों द्वारा होड़ करते हैं और निर्णय के लिए अपने से अतिरिक्त किसी तीसरे की तरफ़ देखते हैं; 'विरोध. उस सामाजिक-प्रक्रिया का नाम है जिसमें दो पक्ष किसी एक ही बात के लिए हिंसात्मक उपायों द्वारा एक-दूसरे के साथ जूझ पड़ते हैं और निर्णय के लिए अपने बल पर भरोसा रखते हैं, किसी तीसरे का मुँह नहीं ताकते।

[प्रतिस्पर्धा के दो 'प्रकार' (Types)]

'प्रतिस्पर्धा' के दो प्रकार हैं—'वैयक्तिक' (Personal) तथा 'अवैयक्तिक' (Impersonal)। 'वैयक्तिक-स्पर्धा' में कुछ व्यक्ति किसी नौकरी, किसी व्यापार या अन्य किसी बात के लिये होड़ करते हैं। 'अवैयक्तिक-स्पर्धा' में व्यक्ति का स्थान समूह ले लेता है। उदाहरणार्थ, आर्थिक-क्षेत्र में एक कम्पनी दूसरी कम्पनी के साथ प्रतिस्पर्धा कर रही है, एक धार्मिक-समाज दूसरे धार्मिक-समाज के साथ शास्त्रार्थ करके अपने मत को जनता के सामने सत्य सिद्ध करना चाहता है, एक संस्कृति दूसरी संस्कृति के मुकाबिले में अपनी श्रेष्ठता जतलाती है। इन सब में 'प्रतिस्पर्धा' का रूप वैयक्तिक न होकर अवैयक्तिक है, सामूहिक है। आज के विकसित समाज में वैयक्तिक-स्पर्धा के स्थान में सामूहिक-स्पर्धा का स्थान बढ़ता जाता है। समाजवाद ठीक है या जन-सत्तावाद, संसार के प्रारम्भ में भिन्न-भिन्न योनियाँ उत्पन्न हुईं या विकासवाद के कथन के अनुसार प्राणियों में विकास होते-होते मनुष्य बना——ये सब सिद्धान्तों की समस्याएँ 'अवैयक्तिक-प्रतिस्पर्धा' के दृष्टान्त हैं।

[प्रतिस्पर्धा के चार 'रूप' (Forms)]

'प्रतिस्पर्धा', अर्थात् 'प्रतियोगिता' के चार रूप हैं——आर्थिक, सांस्कृतिक, स्थिति-सम्बन्धी तथा जन्म-सम्बन्धी। ये चार रूप क्या हैं ?

(क) 'आर्थिक-प्रतियोगिता' (Economic competition)–जब उत्पादन कम होता है, और लेने वाले ज्यादा होते हैं, तब ग्राहकों में ख़रीदने की प्रतियोगिता होती है, रद्दी माल भी बाज़ार में निकल जाता है; जब उत्पादन अधिक होता है तो दुकानदारों में प्रतियोगिता होती है, और माल बनाने वाले एक-दूसरे से अच्छा माल बनाने की कोशिश करते हैं। आज के युग में जहाँ मशीनें धड़ाधड़ माल बनाती हैं, कम उत्पादन की गुंजाइश नहीं है, अतः अच्छा माल पैदा करने की कोशिश होती है। इस दृष्टि से 'प्रतियोगिता' अच्छा माल पैदा करने की तरफ़ स्वयं प्रेरित करती है। समाज में 'प्रतियोगिता' के कारण हर-एक आदमी जिस स्थान के लायक होता है उसमें पहुँच जाता है। डार्विन के

सिद्धान्त के अनुसार 'प्रतियोगिता' का नाम ही जीवन-संग्राम है, इस संग्राम में जो समर्थ होता है वह रह जाता है, असमर्थ नष्ट हो जाता है। परन्तु 'प्रतियोगिता' का यह एक पहलू है। 'प्रतियोगिता' का काम सिर्फ़ संघर्ष ही नहीं, सहयोग भी है। समाज में श्रम-विभाग चल रहा है। इसमें 'प्रतियोगिता' है, परन्तु क्या यह 'प्रतियोगिता' संघर्ष उत्पन्न करने के लिए ही है? इस 'प्रतियोगिता' का उद्देश्य यह है कि सब अपने-अपने काम के विशेषज्ञ हों, और विशेषज्ञ होने के बाद परस्पर सहयोग करें जिससे इनके सहयोग से समाज की गाड़ी आगे चले। क्रोपोटकिन (Kropotkin) ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि डार्विन ने जीवन में 'प्रतियोगिता' को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे दिया है। प्रकृति में जितना स्थान 'प्रतियोगिता' का है, उससे कम स्थान 'सहयोग' का नहीं है। छोटे-से-छोटे प्राणियों में 'सहयोग' पाया जाता है। जब अमरीका में जंगल-ही-जंगल थे, और युरोप से लोग आकर वहाँ बसे थे, तो कभी-कभी उन्हें जंगली जानवरों के गिरोह-के-गिरोहों का सामना करना पड़ता था। ये जानवर आपस में सहयोग से रहते थे। असल में, क्रोपोटकिन के कथनानुसार प्राणियों में आपस में इतना संघर्ष नहीं है, जितना सहयोग है। हाँ, उन्हें प्रकृति के साथ संघर्ष करना पड़ता है, प्रकृति की शक्तियों के साथ संघर्ष करना पड़ता है, परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उन्हें आपस में भी संघर्ष करना पड़ता है। इस दृष्टि से देखा जाय, तो प्रकृति में अगर 'प्रतियोगिता' है, तो वह 'सहयोग' के लिए है। हम एक-दूसरे के विचार की क्यों आलोचना करते हैं? क्यों कहते हैं, यह ठीक है, यह ग़लत है? हम यह सब-कुछ इसलिए कहते हैं कि इस 'प्रतियोगिता' में से सत्य निखर आये, और उससे समाज का भला हो। 'प्रतियोगिता' संघर्ष पैदा करने के लिए नहीं होती, सहयोग पैदा करने के लिए होती है।

(ख) सांस्कृतिक प्रतियोगिता (Cultural competition)——किसी भी देश की संस्कृति में भिन्न-भिन्न विचारों में प्रतियोगिता होती रहती है। पाश्चात्य-सभ्यता में यह समझा जाता है कि जो मरते हुए लाखों रुपया छोड़ जाय वह सफल है, अमरीका की डैकोटा जाति के किसी व्यक्ति की स्त्री या लड़की मरती थी, तो वह अपनी सारी सम्पत्ति लुटा देता था, भारत के प्राचीन-काल में लड़के के बड़े होने पर घर-बार छोड़ देना, वानप्रस्थ-संन्यास ले लेना व्यक्ति के विकास का सूचक था। अन्य देशों में प्रतियोगिता से रुपया जमा करना जीवन का लक्ष्य है, रूस में आर्थिक प्रतियोगिता से जो दूसरों से बहुत आगे निकलने का प्रयत्न करता है उसे घूर कर देखा जाता है। आज स्त्री आर्थिक-दृष्टि से स्वतन्त्र हो गई है। आज घरेलू उद्योगों की जगह कल-कारखाने खुल गये हैं। इन सब से नई आर्थिक-व्यवस्था उत्पन्न हो गई है। स्त्री स्वयं कमाने लगेगी, तो पति पर कम निर्भर रहने लगेगी। इस नवीन आर्थिक-व्यवस्था की पुरानी परिवार-पद्धति से प्रतियोगिता होने लगी है, और परिवार का संगठन बच रहेगा, या नष्ट हो जायगा, यह समस्या उठ खड़ी हुई है। ये सब सांस्कृतिक 'प्रतियोगिता' के दृष्टान्त

हैं, परन्तु यह सारी 'सांस्कृतिक-प्रतियोगिता' फिर एक विशाल सहयोग के लिए है, इसलिए है ताकि जीवन का एक ऐसा क्रम उत्पन्न हो जाय जिसमें मनुष्य अशान्ति से शान्ति की तरफ़, असन्तोष से सन्तोष की तरफ़ कदम बढ़ा सके। जैसा हम पहले कह चुके हैं 'प्रतियोगिता' किसी तरह की भी हो, आर्थिक हो, सांस्कृतिक हो, उसकी सफलता 'सहयोग' उत्पन्न करने में है।

(ग) स्थिति-सम्बन्धी प्रतियोगिता (Competition for status)—प्रत्येक व्यक्ति समाज में ऐसी स्थिति चाहता है जिससे दूसरे उसे 'कुछ' समझें। जब तक वह ऐसी स्थिति नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक वह स्थिति-सम्बन्धी प्रतियोगिता करता रहता है। यह प्रतियोगिता समूह-रूप में घरानों के, धर्म के, जाति के, देश के अभिमान के रूप में प्रकट होती है, और व्यक्ति-रूप में व्यक्ति के समाज में अपनी स्थिति बनाने के रूप में प्रकट होती है। हर-एक व्यक्ति कहीं-न-कहीं चौधरी बनना चाहता है। कोई पंचायत का चुनाव लड़ता है, कोई सिटी बोर्ड का, कोई एसेम्बली का, कोई पार्लियामेंट का। जो जहाँ अपनी स्थिति बना सकता है बना लेता है, यह जरूरी नहीं कि यह स्थिति योग्यता के आधार पर ही हो। नालायक लोग ऊपर चढ़ जाते हैं, लायक नीचे पड़े रह जाते हैं। सिफ़ारिश, मेल-जोल, हो-हल्ला सभी चलता है। परन्तु इस सब 'प्रतियोगिता' का लक्ष्य भी यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी स्थिति प्राप्त हो जाय, और फिर समाज की गाड़ी एक-दूसरे के सहयोग से आगे चले। जबतक व्यक्ति को समाज में ठीक-ठीक स्थिति नहीं प्राप्त होती तब तक वह समाज में गड़बड़ मचाया करता है। ३१वें अध्याय में 'सामाजिक-विगठन' (Social Disorganisation) पर लिखते हुए हम इस विषय पर अधिक प्रकाश डालेंगे।

(घ) जन्म-सम्बन्धी प्रतियोगिता (Racial competition)—जन्म-सम्बन्धी भेद के कारण भी मानव-समाज में 'प्रतियोगिता' चलती है। काले-गोरों की, सफ़ेद-पीलों की 'प्रतियोगिता' का आधार जन्म है। भारत की ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतरों, जात-बिरादरियों, छूत-अछूतों की 'प्रतियोगिता' भी जन्म-जात है। असल में हर-एक व्यक्ति आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक फ़ायदा उठाना चाहता है, और क्योंकि 'प्रतियोगिता' के क्षेत्र में बहुत लोग हैं, अतः किसी को काला होने के कारण, किसी को नीच जाति का होने के कारण, किसी को किसी अन्य कारण से 'प्रतियोगिता' के क्षेत्र में हटा देना चाहता है। खुली 'प्रतियोगिता' हो, तो काले गोरों को और अछूत छूतों को भी पटक सकते हैं, परन्तु मनुष्य 'प्रतियोगिता' को कम-से-कम करना चाहता है, इसलिए और कुछ नहीं तो जन्म के भेदों को बढ़ाने-चढ़ाने लगता है और कहता है कि अमुक क्योंकि जन्म से ही अयोग्य है इसलिए उसे प्रतियोगिता के क्षेत्र में मेरे साथ खड़े होने का भी अधिकार नहीं। अब यह स्थिति बदलती जा रही है।

५. संघर्ष (Conflict)

'संघर्ष' सामाजिक-सम्बन्धों की वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति या समूह अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन करते हैं। संघर्ष के निम्न रूप हो सकते हैं :--

(क) वैयक्तिक-संघर्ष (Personal conflict)--जब दो व्यक्ति मिलते हैं, तो कभी-कभी वे एक-दूसरे पर ऐसे गुर्राते हैं जसे कुत्ते को देखकर कुत्ता गुर्राता है। वे एक-दूसरे को गाली देते हैं, और कभी-कभी हाथा-पाई की नौबत आ जाती है। सब प्रकार के संघर्षों में घृणा का केन्द्र कोई व्यक्ति बन जाता है। प्रथम विश्व-युद्ध में मित्र-राष्ट्रों की घृणा का केन्द्र कैसर था, द्वितीय विश्व-युद्ध में हिटलर तथा मुसोलिनी थे।

(ख) नस्ल-सम्बन्धी संघर्ष (Racial conflict)--वैयक्तिक-संघर्षों के अतिरिक्त सामूहिक-संघर्ष भी होते हैं। इनमें से मुख्य नस्ल पर आश्रित संघर्ष है। अमरीका में नीग्रो और गोरों का संघर्ष, अफ्रीका में वहाँ के आदिवासियों एवं भारतीयों के मुकाबिले में वहाँ की गोरी-सरकार का संघर्ष इसके उदाहरण हैं। असल में जीवन-संग्राम की प्रतियोगिता में एक पक्ष अपने लिए रास्ता साफ़ करना चाहता है, और नस्ल के भेद के सवाल को खड़ा करके यह सिद्ध करना चाहता है कि दूसरी नस्ल के लोग जन्म से ही इस योग्य नहीं हैं कि उन्हें दूसरों के बराबर अधिकार दिया जाय। अंग्रेज भारत में क्या करते रहे? यही कहते रहे कि हिन्दुस्तानी नस्ल से ही स्व-शासन के योग्य ही नहीं हैं। परन्तु ऐसी बात तो नहीं थी। अपने आर्थिक-स्वार्थ को सुरक्षित रखने के लिए दूसरों को नस्ल से नीचा समझने की प्रवृत्ति मानव-समाज में सर्वत्र पायी जाती है। इस प्रवृत्ति के विरोध में संघर्ष उठ खड़ा होता है।

(ग) वर्गों का संघर्ष (Class conflicts)--मानव-समाज के प्रारम्भ से आज तक अपने-अपने स्वार्थ को सुरक्षित रखने के लिए भिन्न-भिन्न वर्ग बनते रहे हैं, और इस वर्ग-निर्माण में जिनको घाटा रहता है वे वर्गों को तोड़ने का यत्न करते रहे हैं। जाति के आधार पर वर्ग बने, शासक-शासितों के आधार पर वर्ग बने, यन्त्रीकरण के इस युग में धनी-निर्धन, मालिक-मज़दूर के नाम पर वर्ग बन रहे हैं। औद्योगिक-क्रांति से पहले मालिक-मजदूर एक ही जगह बैठ कर काम करते थे, उनका आपस का संघर्ष नहीं उत्पन्न होता था। मशीन बनने के बाद मालिक-मजदूर के लिए एक जगह बैठकर काम करना असम्भव हो गया। पहले दस-बीस मजदूरों से काम चलता था, अब हजारों मजदूर एक ही कारख़ाने में काम करने लगे। घर में इतने आदमी कहाँ काम कर सकते थे। बड़ा भारी कारख़ाना बना, मालिक का दफ़्तर बना, मैनेजर बना। मालिक-मजदूर-मैनेजर का कोई आमने-सामने का सम्बन्ध नहीं रहा। मजदूर को सिर्फ़ मजदूरी के पैसे मिलने लगे, और उसे सिर्फ़ इतना पता चलता कि बड़ा मुनाफ़ा हो रहा है, सब

मुनाफ़ा मालिक हज़म कर रहा है। बस, इसी से मालिक और मजदूर का संघर्ष चल पड़ा, मजदूरों ने हड़तालें शुरू कर दीं, मिल मालिकों ने कारख़ानों पर ताले डालने शुरू कर दिये। कुछ साल हुए कलकत्ता में ट्रामों की हड़ताल हुई, बसें और ट्राम गाड़ियाँ जला दी गईं, खूब मार-पीट हुई। आज जिस प्रकार सम्पत्ति का असमान विभाग हो रहा है, उससे इस प्रकार का वर्गों का संघर्ष अनिवार्य है। १९२९ में अमरीका की सारी सम्पत्ति का ४२.५ प्रतिशत केवल २.३ प्रतिशत व्यक्तियों के हाथ में था, बाकी ५७.५ प्रतिशत सम्पत्ति ९७.७ प्रतिशत व्यक्तियों में बँटी हुई थी। यह असमान विभाग अब और अधिक बढ़ गया है। मनुष्य कब तक इस प्रकार की असमानता को बर्दाश्त कर सकता है? वर्गों के संघर्ष का यही कारण है।

(घ) राजनैतिक-संघर्ष (Political conflict)---राजनतिक-संघर्ष दो तरह का होता है---आन्तरिक-संघर्ष तथा बाह्य-संघर्ष। जिस देश में भी राजनैतिक स्वतन्त्रता है, लोग अपने विचारों को आजादी से प्रकट कर सकते हैं, उसमें अनक राजनतिक दल होते हैं। कांग्रेस है, समाजवादी हैं, जन-संघी हैं, हिन्दू-सभाई हैं---ये सब जनता से वोट माँगते हैं, कभी-कभी एक-दूसरे पर हमला भी कर बैठते हैं। जबतक ये अपने मत का प्रचार करते हैं, तबतक ये 'प्रतियोगिता' के क्षेत्र में हैं, जब ये गाली-गलौज पर उतर आते हैं, लट्ठ चलाने लगते हैं, तब 'संघर्ष' के क्षेत्र में आ जाते हैं। बाह्य-संघर्ष तब होता है, जब एक देश दूसरे देश पर आक्रमण कर देता है। यह युद्ध की अवस्था है। इस संघर्ष में देश के अन्दर जितने भी समूह हैं, वे सब पारस्परिक प्रतियोगिता तथा संघर्ष छोड़ कर एक हो जाते हैं। कभी-कभी राजनैतिक नेता जब देखते हैं कि देश में पारस्परिक-संघर्ष बढ़ता जा रहा है, तब वे बाहर के असली या काल्पनिक ख़तरे का शोर मचाने लगते हैं। उनका उद्देश्य यह होता है कि उस ख़तरे का मुकाबिला करने के लिए देश के भीतर सब लोग एक हो जाँय, और जो फिर भी अपना अलग सुर अलापें उन्हें दबाने का शासकवर्ग को मौका मिल जाय। पाकिस्तान यही कर रहा है। वहाँ देश की आन्तरिक-स्थिति डाँवाडोल रहती है, इसलिए पिछले कई सालों से काश्मीर का नारा लगाकर सब को एक करने का यत्न होता रहता है।

६. प्रतिस्पर्धा तथा संघर्ष की तुलना

प्रतिस्पर्धा (COMPETITION)	संघर्ष (CONFLICT)
१. यह अहिंसात्मक है।	१. यह हिंसात्मक है।
२. प्रतिस्पर्धा में दो पक्षों के अतिरिक्त निर्णायक-तत्त्व तीसरा होता है।	२. संघर्ष में दोनों पक्ष अपने बल-बूते पर निर्णय करते हैं, तीसरा तत्त्व नहीं होता।
३. यह प्रायः अवैयक्तिक होती है।	३. यह प्रायः वैयक्तिक होता है।

४. कइयों के मतानुसार यह लगातार रहने वाली प्रक्रिया है।	४. कइयों के मतानुसार यह कभी होता है, कभी हट जाता है।
५. प्रतिस्पर्धा में कभी-कभी प्रतिद्वन्द्वियों को एक दूसरे का ज्ञान नहीं होता।	५. संघर्ष में प्रतिद्वन्द्वियों को सदा एक-दूसरे का ज्ञान होता है।
६. इसका उद्देश्य अपना स्वार्थ पूरा करना होता है, प्रतिद्वन्द्वी का नाश करना नहीं।	६. इसका उद्देश्य स्वार्थ पूरा करने के अतिरिक्त विरोधी का नाश करना भी होता है।
७. इसमें सामाजिक-नियमों को तोड़ा नहीं जाता।	७. इसमें सामाजिक-नियमों का पालन नहीं किया जाता।
८. इसमें दोनों को प्रायः लाभ ही होता है।	८. इसमें दोनों को प्रायः हानि ही होती है।
९. इसमें द्वेष-भावना नहीं होती।	९. इसमें द्वेष-भावना होती है।

प्रश्न

१. 'सहकारी-सामाजिक-सम्बन्ध' (Associative social relations) तथा 'असहकारी-सामाजिक-सम्बन्ध' (Dissociative social relations) क्या हैं? दोनों की गणना कीजिये।

२. 'प्रत्यक्ष' (Direct) तथा 'अप्रत्यक्ष' (Indirect) सहयोग के दृष्टान्त दीजिये।

३. 'व्यवस्थान' (Accommodation) क्या है? इसके क्या-क्या भेद हैं?

४. 'आत्मसात्-करण' (Assimilation) क्या है, इसका 'व्यवस्थान' (Accommodation) से क्या भेद है?

५. 'प्रतिस्पर्धा' (Competition) की व्याख्या कीजिये।

६. 'वैयक्तिक' (Personal) तथा 'अवैयक्तिक' (Impersonal) प्रतिस्पर्धा को समझाइये।

७. 'प्रतिस्पर्धा' के चार रूप क्या हैं? 'प्रतिस्पर्धा' के साथ 'सहयोग' भी रहता है—इसका क्या अर्थ है?

८. इस कथन को स्पष्ट समझाइये कि 'प्रतिस्पर्धा', अर्थात् 'प्रतियोगिता' के आधार में 'संघर्ष' रहता है, परन्तु प्रतिस्पर्धा, अर्थात् प्रतियोगिता का उद्देश्य 'संघर्ष' को हटा कर 'सहयोग' को पैदा करना है।

९. 'संघर्ष' के क्या-क्या रूप हैं?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. सामूहिक-संघर्ष के सामाजिक कारण क्या हैं? समान शक्तिवाले दो समूहों के संघर्ष का वर्णन कीजिये। (आगरा, १९५४)

२. "समाज ऐसे 'सहयोग' (Co-operation) का नाम है जिसमें 'संघर्ष' (Conflict) उसको चीरता रहता है।"—इस कथन की व्याख्या कीजिये। (आगरा, १९५५)

३. यह बतलाइये कि प्रतिस्पर्धा, प्रतिकूलता और संघर्ष की सामाजिक-प्रक्रियाओं में सामाजिक एकीकरण की अपेक्षा सामाजिक विगठन के लक्षण अधिक होते हैं। (राजपूताना, १९५५)

४. प्रतिस्पर्धा और संघर्ष में क्या भेद है? (राजपूताना, १९५६)

५. समाज में संघर्ष कैसे पैदा होता है? विभिन्न प्रकार के संघर्षों की विवेचना करते हुए वर्ग-संघर्ष का विश्लेषण कीजिये।
(राजपूताना, १९५७)

६. व्यवस्थान तथा आत्मसात्-करण पर टिप्पणी दीजिये।
(आगरा, १९५५; राजपूताना १९५६)

७. अन्तःसामाजिक-क्रिया क्या है? भारतीय-समाज के कुछ दृष्टान्तों से इसके कुछ मूल रूपों की व्याख्या कीजिये। (राजस्थान, १९५७)

२६

सामाजिक-नियन्त्रण

(SOCIAL CONTROL)

'सामाजिक-रचना' (Social structure) की जान 'सामाजिक-नियन्त्रण' (Social control) है। 'सामाजिक-रचना' का क्या अर्थ है? समाज जिस रूप में बना हुआ है, एक विशेष प्रकार का समूह, ऐसा समूह जिसमें परिवार के विशेष-विशेष नियम हैं, विवाह किस आयु में करना चाहिए, किस बिरादरी में करना चाहिए, तलाक की छूट हो या न हो, छोटों का बड़ों के साथ, बड़ों का छोटों के साथ क्या व्यवहार होना चाहिए, राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक मामलों में हमारा एक-दूसरे के साथ कैसा बर्ताव हो, अतिथि के साथ कैसे बरतना होगा---समाज के इन सब रूपों के नियमित रूप में बने रहने को 'सामाजिक-रचना' (Social structure) कहते हैं। परन्तु क्या समाज के ये रूप बने रह सकते हैं? समाज तो व्यक्तियों से बनता है, और व्यक्ति सदा समाज के बन्धनों से स्वतंत्र होना चाहता है। व्यक्ति नहीं चाहता कि उसे परिवार के बन्धनों में बाँधा जाय, वह चाहता है कि वह जब चाहे जिससे शादी करे, जब चाहे जिसे छोड़ दे, व्यक्ति नहीं चाहता कि वह बिरादरी के साथ बंधा रहे, वह चाहता है कि जैसा बिरादरी कहे वैसा नहीं, परन्तु जैसा वह चाहता है, वैसा बिरादरी करे। अगर व्यक्ति को हर बात की छूट दे दी जाय, तो क्या 'सामाजिक-रचना' (Social structure) बनी रह सकती है? नहीं, एक दिन भी बनी नहीं रह सकती, व्यक्ति को मनमानी करने की छूट देते ही समाज की रचना छिन्न-भिन्न हो जायगी। ऐसी हालत में समाज क्या करता है? 'सामाजिक-रचना' (Social structure) को कायम रखने के लिए, उसे छिन्न-भिन्न न होने देने के लिए समाज 'सामाजिक-नियन्त्रण' (Social control) करता है, इस तरह के कायदे-कानून बनाता है जिनसे व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बंधन पड़ता है, इस तरह की प्रथाएँ, इस तरह के रीति-रिवाज चलाता है जिनके फल-स्वरूप व्यक्ति मनमानी नहीं कर सकता और इन 'सामाजिक-नियन्त्रणों' से 'सामाजिक-रचना' छिन्न-भिन्न होने से बच जाती है। तो कायदे-कानून रीति-रिवाज, प्रथाएँ, धार्मिक-कृत्य, विधि-विधान---ये सब-कुछ क्या हैं? समाज में इनका स्थान मनुष्य के व्यवहार का नियन्त्रण करना

है। मनुष्य के व्यवहार के इस प्रकार के नियन्त्रण को ही 'सामाजिक-नियन्त्रण' (Social control) कहते हैं।

१. सामाजिक-नियन्त्रण की परिभाषा

'सामाजिक-नियन्त्रण'' की भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य व्याख्याएँ निम्न हैं :—

[क] गिलिन और गिलिन की व्याख्या—"सामाजिक-नियन्त्रण समाज के उन प्रयत्नों का नाम है जिनके द्वारा समाज अपने अन्तर्गत किसी समूह को या समूह अपने सदस्यों को अपने स्वीकृत-आदर्शों, माने हुए प्रतिमानों के अनुसार ढाल लेता है। ये प्रयत्न भिन्न-भिन्न रूपों को धारण कर सकते हैं—संकेतों का रूप, समझाने-बूझाने का रूप, प्रतिबन्धों का रूप, ज़बर्दस्ती का रूप, शारीरिक-दंड का रूप या कोई अन्य रूप।"

[ख] पार्क और बरगेस की व्याख्या—"साधारण तौर पर सामाजिक-नियन्त्रण से हमारा अभिप्राय किसी व्यक्ति, अधिकारी, कार्यकर्ता या नेता का सामाजिक-प्रक्रिया में हस्तक्षेप करना होता है।'

इसी आशय को श्री टॉमस ने एक दूसरी तरह व्यक्त किया है। उसका कहना है कि प्रत्येक समाज अपने सदियों के निरीक्षण-परीक्षण के बाद, सदियों के अनुभव के बाद कुछ परिणामों, कुछ तथ्यों पर पहुँचा होता है। उदाहरणार्थ, स्त्री-पुरुष में एक-दूसरे के प्रति आकर्षण है, यौन-भावना है। इस यौन-भावना को खुला छोड़ दिया जाय, या नियन्त्रित किया जाय—यह मानव-समाज का सदियों तक सिरदर्द का विषय रहा। अन्त में निरीक्षण-परीक्षण तथा अनुभव के बाद समाज ने एक धारणा बना ली, एक आदर्श कल्पित कर लिया, अपने व्यवहार का एक 'प्रतिमान' (Pattern) बना लिया कि विवाह कर लेने के बाद यौन-सम्बन्ध की आज्ञा देनी चाहिए, विवाह न हो तो यौन-सम्बन्ध वर्जित समझना चाहिए। इसी तरह समाज में एक प्रश्न तो नहीं, सैंकड़ों, हज़ारों प्रश्न हैं। इन सब प्रश्नों, इन सब समस्याओं के सम्बन्ध में समाज ने अपनी धारणाएँ बना लीं—ऐसा करना ठीक होगा, ऐसा करना ग़लत होगा। इसे श्री टॉमस ने 'समूह

[क] "Social control is that system of measures—suggestion, persuation, restraint and coercion of whatever means including physical force—by which a society brings into conformity to the approved pattern of behaviour a sub-group, or by which a group moulds into conformity its members."—*Gillin and Gillin.*

[ख] "What we ordinarily mean by social control is the arbitrary intervention of some individual—official, functionary or leader—in the social process."—*Park and Burgess.*

की परिभाषाओं' (Group definitions) का नाम दिया है। इन्हीं 'समूह की परिभाषाओं' को गिलिन तथा गिलिन के शब्दों में 'व्यवहार के प्रतिमान' (Patterns of behaviour) कहा जा सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति का आचार-व्यवहार 'समूह' की 'परिभाषाओं' या समूह के 'व्यवहार-प्रतिमानों' के अनुसार होना चाहिए, इनके विपरीत नहीं। इसी बात को 'सामाजिक-नियन्त्रण' कहा जाता है। 'सामाजिक-नियन्त्रण' व्यक्ति व्यक्ति के व्यवहार पर समूह का नियन्त्रण है।

२. सविधिक तथा अविधिक सामाजिक-नियन्त्रण (Formal and Informal Social control)

सामाजिक-नियन्त्रण दो प्रकार का हो सकता है--'सविधिक' (औपचारिक) तथा 'अविधिक' (अनौपचारिक)। 'सविधिक-सामाजिक-नियन्त्रण' क्या है? समाज में हमने कायदे-कानून बनाये हुए हैं, ये कायदे-कानून विधि-पूर्वक बनाये गये हैं, विधान-सभा हैं, पार्लियामेंट है, उनमें बहस होने के बाद ये कायदे-कानून बनते हैं, इसलिए इन्हें 'सविधिक' कहा जाता है। 'सविधिक'-कायदे-कानून को तोड़ने से सज़ा मिलती है, कभी-कभी जान से भी हाथ धोना पड़ता है। 'अविधिक-सामाजिक-नियन्त्रण' क्या है? समाज में हमने कई रीतियाँ, चलन जारी कर रखे हैं, उन्हें कहीं बैठकर किसी ने नहीं बनाया, वे अपने-आप देर से चले आ रहे हैं। क्योंकि इनको विधि-पूर्वक नहीं बनाया गया, इसलिए इन्हें 'अविधिक' कहा जाता है। 'अविधिक'-कायदे-कानून को तोड़ने से राज्य की तरफ़ से सज़ा तो नहीं मिलती, परन्तु समाज का बल, समाज की परम्परा इतनी जबर्दस्त है कि व्यक्ति राज्य के कानून तोड़ देता है, परन्तु समाज के इन कानूनों को नहीं तोड़ता। क्यों नहीं तोड़ता? इसलिए नहीं तोड़ता क्योंकि राज्य के कानूनों को वह अपने पर थोपा हुआ समझता है, यह समझता है कि ये कानून उसकी इच्छा के विरुद्ध उस पर लाद दिये गये हैं, उनका पालन करता है तो डर से, इच्छा से नहीं, परन्तु समाज के बनाये रीति-रिवाज, 'अविधिक'-नियमों के विषय में वह समझता है कि वे उसके अपने बनाये हुए हैं, उस पर लादे गये नहीं हैं, वे उसके अपने अभिन्न अंग हैं, इसलिए वह उन्हें तोड़ना चाहे भी तो नहीं तोड़ सकता। 'सविधिक'-नियन्त्रण जटिल समाज में चलता है, ऐसे समाज में जिसमें व्यक्ति का व्यक्ति के साथ सम्बन्ध नहीं होता, जिसे 'समूह' के प्रकरण में हम 'द्वितीय-समूह' (Secondary group) कह आये हैं, 'अविधिक'-नियन्त्रण सरल समाज में चलता है, ऐसे समाज में जिसमें व्यक्ति का व्यक्ति के साथ सीधा सम्बन्ध होता है, जिसे हम 'प्रथम-समूह' (Primary group) कह आये हैं। शहरों का नियन्त्रण प्रायः 'सविधिक'-नियन्त्रण से, राज्य की तरफ़ से बने कायदे-कानूनों से होता है, गाँवों का नियन्त्रण प्रायः 'अविधिक'-नियन्त्रण से, समाज की तरफ़ से बनी प्रथाओं, रीति-रिवाजों, धार्मिक-बन्धनों से होता है।

'सविधिक'-नियन्त्रण (Formal Controls) तो राज्य के कायदे-कानून हैं, वे सोच-समझ कर विधान-सभाओं में बनाये जाते हैं, उनका आधार युक्ति है, और उनका पालन डर से होता है; 'अविधिक'-नियन्त्रण (Informal control) राज्य के नहीं, समाज के नियम हैं, वे समाज ने अपने पिछले सदियों के निरीक्षण-परीक्षण से बनाये होते हैं, उनका आधार युक्ति नहीं, अनुभव होता है, परन्तु व्यक्ति उन नियन्त्रणों का इच्छा-पूर्वक पालन क्यों करता है ? इसके निम्न कारण हैं :—

(क) सिद्धान्तीकरण (Indoctrination)—बाहर से थोपे हुए कायदे-कानूनों का मनुष्य पर इतना प्रभाव नहीं होता, जितना अपने-आप बनाये हुए नियमों का होता है। इसका मुख्य कारण 'सिद्धान्तीकरण' की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया क्या है ? बच्चा जब से पैदा होता है तब से वह माता-पिता की, बड़ों की देख-रेख में जीवन व्यतीत करता है। पद-पद पर उसे यह घोट कर पिला दिया जाता है कि यह ठीक है, वह ग़लत है। वह भी जब बड़ा होता है, तब अपने बाल-बच्चों को यही ठीक-ग़लत का पाठ पढ़ाता है। सामाजिक-परम्परा की बातें उसके भीतर अमिट सिद्धान्तों के रूप में प्रवेश कर जाती हैं। जैसी आशा उसके माँ-बाप, बड़े-बूढ़े, उससे करते थे, वैसी ही आशा वह अपनी सन्तान से करता है। समाज के आज के कर्ता-धर्ता आगामी सन्तति में अपने माने हुए सिद्धान्तों को जन्म-घुट्टी में पिला देते हैं, इसलिए बालक बड़ा होकर राज्य के नियन्त्रणों को भले ही तोड़ दे, समाज के नियन्त्रणों को नहीं तोड़ सकता, क्योंकि वह इनमें रच-मिच गया होता है, उसकी नस-नस का सिद्धान्तीकरण हो चुका होता है।

(ख) अभ्यस्तता (Habituation)—मनुष्य समाज द्वारा बनाये गये नियन्त्रणों को इसलिए भी नहीं तोड़ता क्योंकि उनके अनुसार जीवन बिताने की उसे आदत पड़ जाती है। जिस बात के लिए हम अभ्यस्त हो जाँय, वह हमें स्वाभाविक-सी लगने लगती है, और इसलिए उसके विरुद्ध हम सोच ही नहीं सकते। समाज के रीति-रिवाजों, प्रथाओं तथा धर्म के नियन्त्रणों को आदत, अभ्यास पड़ जाने के कारण भी हम तोड़ने की हिम्मत नहीं करते।

(ग) नेतृत्व (Leadership)—हर समाज में कुछ नेता होते हैं, बिरादरी में मुखिया होता है। ये नेता लोग, बिरादरी के मुखिया लोग सामाजिक-परम्परा को सदा बनाये रखने की प्रेरणा हर समय देते रहते हैं। बिरादरी के पुरखा हर बात को इसी कसौटी से तो परखते हैं कि बड़ों की चलाई हुई बातें कहाँ तक समाज चलाता है। किसी भी समाज के पुरखों का हर युवक पर सदा रोब छाया रहता है, इसलिए भी 'अविधिक-नियन्त्रणों' का समाज में 'सविधिक-नियन्त्रणों' की अपेक्षा अधिक प्रभाव रहता है।

(घ) उपहास-बहिष्कार आदि (Derision, Ex-communication)—'अविधिक'-नियन्त्रणों का प्रभाव 'सविधिक'-नियन्त्रणों की अपेक्षा इसलिए भी अधिक होता है क्योंकि जो व्यक्ति समाज में प्रचलित चलन के विरुद्ध चलता है,

उसकी सब लोग मज़ाक उड़ाते हैं, उसका उपहास करते हैं, कभी-कभी उसे समाज से बहिष्कृत कर देते हैं, उसका हुक्का-पानी बन्द कर देते हैं। समाज अपनी परम्परा मनवाने के लिए राज्य की तरह बल-प्रयोग तो नहीं करता, परन्तु जिन साधनों का प्रयोग करता है, उनका प्रभाव बल-प्रयोग से भी अधिक शक्तिशाली है।

हम अगले कुछ अध्यायों में 'सामाजिक-नियन्त्रण' के भिन्न-भिन्न स्वरूपों पर विचार करेंगे और देखेंगे कि व्यक्ति के नियन्त्रण करने के साधन 'सामाजिक-स्मृति-विधानों' (Social codes) का क्या रूप है, व्यक्ति का नियन्त्रण धर्म कैसे करता है, नीति कैसे करती है, प्रथा कैसे करती है, कानून कैसे करता है, और व्यक्ति तथा समाज के इस झगड़े का समन्वय कैसे होता है ?

परीक्षाओं मे आये हुए प्रश्न

१. विभिन्न प्रकार के 'सामाजिक-नियन्त्रणों' को बताइये। (लखनऊ, १९४८)

२. 'सामाजिक-नियन्त्रण' का अर्थ समझाइये तथा उसके साधनों में परिवार और शिक्षा-व्यवस्था का महत्त्व स्पष्ट कीजिये। (लखनऊ, १९५०)

३. सामाजिक-नियन्त्रण पर टिप्पणी लिखिये। (आगरा, १९५५)

४. सामाजिक-ढाँचे को बनाये रखने में प्रथाओं और रूढ़ियों का महत्त्व बताइये। (राजपूताना, १९५४)

२७

सामाजिक स्मृति-विधान

(SOCIAL CODES)

मनुष्य पर्यावरणों के अनुसार अपने को बदलता रहता है, और क्योंकि मनुष्य ही सामाजिक-संगठन को बनाता है, इसलिए समाज भी बदलता रहता है। परिवर्त्तन समाज का प्राण है, अगर परिवर्त्तन न हो, और पर्यावरणों के बदल जाने पर समाज न बदले, तो पर्यावरण समाज को नष्ट कर दें। समाज में धनी-निर्धन का भेद न हो, तो एक संगठन बनेगा, इनका भेद बढ़ जाएगा, तो दूसरा संगठन बनेगा; पुरुषों की संख्या स्त्रियों से बहुत अधिक बढ़ जाय, तो एक संगठन बनेगा, स्त्रियों की संख्या पुरुषों से बढ़ जाय, तो दूसरा संगठन बनेगा। परन्तु इस अविरत परिवर्त्तन के बीच कई ऐसी भी शक्तियाँ हैं जो समाज को बाँधे हुए हैं, समाज को इतना नहीं बदलने देतीं कि यह बिलकुल ही बदल जाय, पहचाना ही न जा सके, जो समाज की स्थिरता को बनाये रखती हैं। समाज की स्थिरता बनाये रखने वाली ये शक्तियाँ ही 'सामाजिक-नियन्त्रण' (Social controls) हैं। इसी 'सामाजिक-नियन्त्रण' के भिन्न-भिन्न रूप 'सामाजिक स्मृति-विधान' (Social codes) हैं, 'सामाजिक-परम्पराएँ' (Social traditions) हैं, 'सामाजिक-विरासत' (Social heritage) हैं, 'सामाजिक-प्रथाएँ' (Social customs) हैं, 'सामाजिक-रूढ़ियाँ' (Mores) हैं। ये सब भिन्न-भिन्न शब्द हैं, परन्तु इन सब का लक्ष्य सामाजिक-संगठन को तितर-बितर होने से बचाना, उसे एक बनाये रखना, उसका नियन्त्रण करना है।

'सामाजिक-परम्परा' (Social tradition) तथा 'सामाजिक-विरासत' (Social heritages) एक ही चीज हैं। वे 'विचार' (Ideas), वे 'प्रथाएँ' (Customs) तथा वे 'रूढ़ियाँ' (Mores) जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती-चली आ रही हैं, 'सामाजिक-परम्परा' अथवा 'सामाजिक-विरासत' हैं। इनका जन्म भूत में हुआ था। 'सामाजिक स्मृति-विधान' (Social codes) में भूत तथा वर्त्तमान दोनों कालों की बातें हो सकती हैं, भूत के विचार, प्रथाएँ तथा रूढ़ियाँ भी इसमें हो सकती हैं, वर्त्तमान के नवीन विचार भी इसमें हो सकते हैं। हम इस प्रकरण में समाज को स्थिर बनाये रखने वाले इन सब तत्त्वों की चर्चा न करके केवल 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social codes) की चर्चा करेंगे,

यद्यपि बहुत-सी बातें जो हम 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social codes) के विषय में कहेंगे, वे 'सामाजिक-परम्परा' (Social traditions), 'सामाजिक-विरासत' (Social heritage), 'सामाजिक-प्रथाओं' (Social customs) तथा 'सामाजिक-रूढ़ियों' (Social Mores) पर भी बहुत अंश तक चरितार्थ होंगी।

१. 'सामाजिक-स्मृति-विधान' का क्या अर्थ है ?

'मनु-स्मृति' का नाम सब ने सुना है। 'स्मृति' (code) क्या है ? 'स्मृति' उन शृंखला-बद्ध सामाजिक नियमों को कहते हैं, जो प्राचीन-काल से याददाश्त, अर्थात् स्मृति के आधार पर चले आ रहे हैं, या पुराने अनुभव की स्मृतियों के आधार पर नये बनाये जा रहे हैं। 'स्मृति' का सम्बन्ध मुख्यतः भूत से है, परन्तु स्मृति में भूत के आधार पर वर्त्तमान में भी नियमों का निर्माण हो सकता है। 'मनु-स्मृति' जिस समय बनी थी, उस समय, जो भूत-काल से, परम्परा से, पुराने अनुभव से प्रथाएँ तथा रूढ़ियाँ चली आ रही थीं, उन्हीं को शृंखलाबद्ध कर दिया गया था। आज जो भूत-काल के अनुभव हैं, उनके आधार पर नवीन 'हिन्दू-स्मृति' (Hindu code) बनी है। इसे 'स्मृति' इसलिए कहते हैं क्योंकि पुराने की याददाश्त इसमें किसी-न-किसी रूप में बनी रहती है। 'विधान' का अर्थ नियम है। क्योंकि पुराने या नये अनुभव के आधार पर बने इन नियमों का काम समाज का नियन्त्रण करना होता है और नियन्त्रण नियमों द्वारा होता हैं, इसलिए स्मृति-विधान के ये नियम 'सामाजिक-नियम' (Social laws) हैं, और इन्हीं नियमों के आधार पर बने विधान को 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social code) कहा जाता है।

हमने अभी देखा कि 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social codes) के आधार में 'सामाजिक-नियम' (Social laws) काम कर रहे होते हैं। इन 'सामाजिक-नियमों' (Social laws) का काम समाज में व्यवस्था पैदा करना, उसे नियन्त्रण में, मर्यादा में रखना है। परन्तु 'सामाजिक-नियमों' (Social laws) तथा 'भौतिक-नियमों' (Physical laws) में भेद है। 'भौतिक-नियम' भी व्यवस्था पैदा करते हैं, 'सामाजिक-नियम' भी व्यवस्था पैदा करते हैं, परन्तु 'भौतिक-नियम' जड़ पदार्थों में व्यवस्था पैदा करते हैं, 'सामाजिक-नियम' चेतन पदार्थों में, उनमें भी ख़ास कर मानव-समाज में व्यवस्था पैदा करते हैं। 'भौतिक-नियमों' के अनुसार सूर्य अपनी परिधि से नहीं हिलता, पृथिवी सूर्य के गिर्द चक्कर काटती है, 'सामाजिक-नियमों' के अनुसार विवाहित स्त्री-पुरुष ही साथ-साथ रह सकते हैं, अविवाहित नहीं। 'भौतिक-नियमों' का काम भौतिक जगत् में स्थिरता पैदा करना है, 'सामाजिक-नियमों' का काम मानव-जगत् में स्थिरता पैदा करना है। परन्तु इन दोनों प्रकार के नियमों की समानता होते हुए भी इनमें भिन्नता है। 'भौतिक-नियमों' को कोई बदल नहीं सकता।

यह नहीं हो सकता कि पृथिवी, जब तक वह नष्ट ही नहीं हो जाती, किसी भी अवस्था में सूर्य के गिर्द घूमना छोड़ दे। 'सामाजिक-नियमों से ऐसा नहीं होता। वे समाज में स्थिरता उत्पन्न करते हैं, परन्तु समाज के पर्यावरण बदल जाँय, तो स्वयं मनुष्य ही उन नियमों को बदल देता है। 'भौतिक-नियम' अपरिवर्त्तन-शील हैं, 'सामाजिक-नियम' परिवर्त्तनशील हैं। इसके अतिरिक्त 'भौतिक-नियम' परमाणु से सूर्य तक एक-समान हैं, जो गुरुत्वाकर्षण अणु में है, वही अन्त तक चला गया है। ये नियम 'निरपेक्ष' (Absolute) हैं। 'सामाजिक-नियम' निरपेक्ष नहीं, 'सापेक्ष' (Relative) हैं। परिवार का जो स्वार्थ है वह समूह का नहीं है, समूह का जो स्वार्थ है वह समाज का नहीं है, एक देश का जो स्वार्थ है वह दूसरे देश का नहीं है। हर-एक के स्वार्थों की आपस में टक्कर लगती है, मानव-समाज का काम इन विरोधी स्वार्थों का समन्वय करना है, यही सामाजिक-नियमों की 'सापेक्षता' (Relativity) है।

२. 'स्मृति-विधान' समाज का नियन्त्रण कैसे करता है?

हमने देखा कि 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social Codes) का काम भौतिक नियमों की तरह तो नहीं, परन्तु फिर भी, नियम बनाकर समाज का नियन्त्रण करना है। ये नियम कई तरह के के हो सकते हैं। कई नियम व्यक्ति बनाते हैं, कई समितियाँ बनाती हैं, कई संस्थाएँ बनाती हैं, कई समुदाय बनाते हैं, कई राज्य बनाते हैं, परन्तु इन नियमों द्वारा समाज का नियन्त्रण कैसे होता है? 'राज्य' (State) जिन नियमों को बनाता है उनको तोड़ने से तो दण्ड मिलता है, इसलिए दण्ड के भय से उन नियमों को कोई नहीं तोड़ता, उनका सब लोग पालन करते हैं, परन्तु 'समाज' (Society) के बनाये नियमों का लोग क्यों पालन करते हैं, समाज के पास नियन्त्रण की क्या व्यवस्था है, दंड का क्या विधान है?

यह स्पष्ट है कि 'स्मृति-विधान' (Code) तब तक नहीं चल सकता जब तक उसकी पीठ पर कोई 'बल' न हो। 'स्मृति-विधान' (Code) का क्या 'बल' (Sanction) है? हम इस समय उन नियमों की चर्चा नहीं कर रहे जो राज्य द्वारा बनाये जाते हैं। उन्हें तो राज्य दंड के ज़ोर से मनवाता है। प्रश्न यह है कि जो 'स्मृति-विधान', जो 'नियम' राज्य नहीं बनाता, जो परम्परा से चले आते हैं, जिन्हें समाज ने ही बनाया है, जिन्हें हम प्रथा, रूढ़ि, परम्परा कहते हैं, इन्हें किस भय से लोग पालते चले जाते हैं? कभी-कभी ये प्रथाएँ, ये रूढ़ियाँ, ये परम्पराएँ मानव-समाज पर इतना जबर्दस्त असर रखती हैं कि इन्हें बदलने में विप्लव हो जाता है, क्रांति हो जाती है। समाज में इन नियमों के पीछे आँखें मूँद कर चलने के दो कारण हैं। एक तो यह है कि सहस्रों वर्षों की निन्दा-स्तुति के कारण हमें इन नियमों को पालने की आदत पड़ गई है। समाज ने जिस प्रथा, जिस रूढ़ि को किसी समय चलाया, उस समय अपनी ज़रूरत को देखकर ही चलाया होगा। जो उस प्रथा के अनुसार चले, उनकी प्रशंसा होती होगी, जो उसे

भंग करते होंगे, उनकी निन्दा होती होगी। मनुष्य प्रशंसा का भूखा है, इसलिए उन नियमों को पालना आसान हुआ होगा। इसके अतिरिक्त समाज के पास बहिष्कार का सबसे बड़ा यन्त्र है। जो समाज के बनाये नियम को न माने, उसका हुक्का-पानी बन्द कर देना, उसके साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध तोड़ देना, उसे बिरादरी में से निकाल देना, उसे जुर्माना कर देना—ये सब समाज के पास 'बल' (Sanctions) हैं, जिनके आधार पर 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social Code) समाज में नियन्त्रण और व्यवस्था कायम रख सकता है। समाज के बनाये इन नियमों का पालन करने का दूसरा कारण समाज के दंड का भय नहीं, परन्तु सब की अपनी-अपनी 'आन्तरिक-प्रेरणा' भी है। हम यह नहीं कह सकते कि 'चिकित्सा'-सम्बन्धी जो नियम बने हुए हैं, उन्हें सब चिकित्सक इसलिए पालन करते हैं, क्योंकि उन्हें समाज का भय है, वे इसलिए भी उनका पालन कर सकते हैं क्योंकि उन नियमों को उनकी अन्तरात्मा कहती है कि यही होना चाहिए, इससे उल्टी बात होनी ही नहीं चाहिए। हम यह नहीं कह सकते कि बाजार में चलते हुए सब लोग दुकानदार को इसलिए नहीं लूट लेते क्योंकि उन्हें पुलिस का डर है, कुछ इने-गिने ऐसे होंगे, परन्तु ज्यादातर लोग लूट-पाट इसलिए नहीं करते क्योंकि उनकी अन्तरात्मा इसे उचित नहीं समझती। असल में, प्रथा, रूढ़ि, परम्परा बनती ही इसलिए है क्योंकि जिस समय यह बनती है उस समय मनुष्य की अन्तरात्मा इसे उचित समझती है, एक मनुष्य की नहीं, उस समय के मानव-समाज की यह पुकार होती है, तभी कोई प्रथा या रूढ़ि बनती है। यह बात दूसरी है कि जब पर्यावरण बदल जाँय, तब भी प्रथा या रूढ़ि बनी रहती है, परन्तु तब बदले हुए पर्यावरणों में ऐसे लोग उठ खड़े होते हैं, जो उन प्रथाओं तथा रूढ़ियों को जड़ से उखाड़ फेंकते हैं। ऋषि दयानन्द तथा राजा राममोहन राय इसी कोटि के महापुरुष थे।

३. 'सामाजिक-स्मृति-विधान' के चार रूप

समाज अपने नियन्त्रण के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के 'स्मृति-विधान' (Code) बनाता है। समाज में कौन-कौन हैं? समाज में व्यक्ति (Individuals) हैं, व्यक्तियों के छोटे-बड़े समूह हैं, जिन्हें 'समिति' (Association) कहते हैं, समिति के बाद 'समुदाय' (Community) हैं, फिर 'राज्य' (State) हैं। ये चारों अपने-अपने लिए कुछ विधान, कुछ नियम बना लेते हैं, जिनका उल्लंघन करना अनुचित समझा जाता है, इसलिए इन चारों को दृष्टि में रखते हुए मुख्य-मुख्य 'स्मृति-विधान' (Codes) चार कहे जा सकते हैं। हम यहाँ इन चारों का संक्षिप्त विवरण देंगे :—

(क) 'वैयक्तिक-स्मृति-विधान'—कभी-कभी समाज जिन नियमों को बनाता है उन्हें व्यक्ति का अन्तरात्मा मानता है, कभी-कभी उन्हें नहीं भी मानता। हमने अभी कहा था कि हम बाजार में चलते हुए दुकानदार को सिर्फ़ इसलिए ही

नहीं लूटते क्योंकि हमें पुलिस का डर है, परन्तु इसलिए नहीं लूटते क्योंकि ऐसा करना हमारा अन्तरात्मा ठीक नहीं मानता। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि समाज जिसे ग़लत समझता है उसे वैयक्तिक तौर पर हम ठीक समझते हैं, समाज जिसे ठीक समझता है उसे हमारा अन्तरात्मा ग़लत समझता है। उदाहरणार्थ, भ्रूण-हत्या समाज की दृष्टि से पाप है, परन्तु अगर एक अजनबी-सा दो-सिर और चार टाँगों का बच्चा पैदा हो जाय, तो कोई डाक्टर तो उसे मार देना उचित समझेगा, कोई इसे अनुचित समझेगा। एक तड़पती हुई गाय है। कोई उसे गोली मार कर उसका कष्ट समाप्त कर देना ठीक समझेगा, कोई गाय को कष्ट से छुड़ाने के लिए भी उसकी हत्या न करना ठीक समझेगा। यदि ऐसा पर्यावरण उत्पन्न हो जाय, जब व्यक्ति सामाजिक-विधान के विरुद्ध अपने आत्मा के दृष्टि-कोण से सोचता है, तो उस अवस्था में व्यक्ति 'वैयक्तिक-स्मृति-विधान' की दृष्टि से सोच रहा होता है। इसे समाज-शास्त्र की पुस्तकों में 'नैतिक-स्मृति-विधान' (Moral Code) कहा जाता है। इस विधान में व्यक्ति की नैतिक-दृष्टि तथा समाज की नैतिक-दृष्टि में भेद पड़ जाता है। समाज कुछ कहता है, व्यक्ति का आत्मा कुछ दूसरी बात कहता है।

(ख) 'समिति के स्मृति-विधान'––व्यक्तियों के बाद छोटे-बड़े समूह आते हैं। कोई क्लब है, सभा है, सोसाइटी है, परिवार है, इनकी अपनी-अपनी प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, रीति-रिवाज, लिखित तथा अलिखित नियम होते हैं––ये सब इनके 'स्मृति-विधान' (Codes) हैं। इनका जो पालन न करे उसे सदस्यता से पृथक् कर दिया जाता है, उसे उस समाज में घृणा से देखा जाता है, उसकी निन्दा होती है। इन समूहों के बने रहने का, इनके न टूटने का, निन्दा-स्तुति, सदस्यता-सदस्यता-भंग आदि ही 'बल' (Sanction) हैं। समाज-शास्त्र की पुस्तकों में इस प्रकार के नियमों को 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Associational Codes) कहा जाता है।

(ग) 'सामुदायिक-स्मृति-विधान'––'समिति' (Association) के बाद 'समुदाय' (Community) आता है। 'समिति', अर्थात् क्लब, सभा, सोसाइटी आदि के नियमों का भंग करने से व्यक्ति को सदस्यता से हटा दिया जाता है, 'समुदाय' के नियमों का भंग करने से व्यक्ति 'समुदाय' का अंग तो बना रहता है, परन्तु उसका सब जगह मज़ाक उड़ता है, जग-हँसाई होती है। इसी भय से हिन्दू हिन्दुओं के रीति-रिवाजों, प्रथाओं तथा रूढ़ियों को पालता चला जाता है, मुसलमान मुसलमानों के रीति-रिवाजों, प्रथाओं तथा रूढ़ियों को पालता जाता है। हिन्दुओं की प्रथाओं को तोड़ने से हिन्दू, और मुसलमानों की प्रथाओं को तोड़ने से मुसलमान अपने समुदाय से तो किसी को नहीं निकाल देते, परन्तु जो ऐसा करता है उसे घृणा की दृष्टि से ज़रूर देखने लगते हैं। सोसाइटी में अगर कोई नियमों का उल्लंघन करे, तो उसे तो सदस्यता से ही पृथक् कर देते हैं, समुदायों म इतना ज़बर्दस्त कदम नहीं उठाते, परन्तु जैसा हमने अभी कहा, उसे बुरी

दृष्टि से जरूर देखने लगते हैं। सभा, सोसाइटी तो किसी खास उद्देश्य से बने होते हैं, अगर कोई उनके विरुद्ध जायगा तो वह उन संगठनों का सदस्य कैसे रह सकता है, समुदाय तो किसी खास लक्ष्य को लेकर नहीं बनाये जाते, ये तो मानव-समाज की दीर्घ-कालीन विकास-यात्रा में बन जाते हैं, इसलिए समुदायों के स्मृति-विधान के विरुद्ध चलने वाले को सख्त सजा न देकर निन्दा-स्तुति-उपहास की हल्की सजा दी जाती है, परन्तु ये ही मनुष्य को समुदाय के नियमों का भंग नहीं करने देते। समाज-शास्त्र की पुस्तकों में इस प्रकार की नियम-व्यवस्था को 'सामुदायिक-स्मृति-विधान' (Communal code) कहते हैं।

(घ) 'कानूनी स्मृति-विधान'––जो नियम 'व्यक्ति', 'समिति' या 'समुदाय' तो नहीं, 'राज्य' बनाता है, उनका उल्लंघन करना तो महा-कठिन है। उनके पीछे डंडे का 'बल' (Sanction) होता है। अन्य 'सामाजिक-स्मृति-विधानों' (Social codes) का पालन न करने से तो बहिष्कार, निन्दा, घृणा, उपहास आदि ही का सामना करना पड़ता है, राज्य के नियमों का उल्लंघन करने से जेल और कभी-कभी मृत्यु-दंड का शिकार होना पड़ता है। अन्य 'स्मृति-विधान' (Codes) बल-प्रयोग नहीं करते, राज्य का 'स्मृति-विधान' (Code) दंड-प्रयोग करता है। समाज-शास्त्र में इस प्रकार की नियम-व्यवस्था को 'कानूनी-स्मृति-विधान' (Legal code) कहते हैं।

४. उक्त चार के अतिरिक्त 'स्मृति-विधान' के रूप

हमने मुख्य चार 'स्मृति-विधानों' (Codes) का वर्णन किया है, परन्तु हर-एक सामाजिक-संगठन के अपने-अपने नियम, अपना-अपना विधान है। इन नियमों का काम संगठन को दृढ़ बनाये रखना, उसे नियंत्रित तथा सुव्यवस्थित रखना है। प्रारम्भिक-समाज में धार्मिक, कानूनी, आर्थिक 'स्मृति-विधान' अलग-अलग नहीं होते, ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता जाता है, धर्म अलग हो जाता है, आर्थिक-व्यवस्था अलग हो जाती है, परिवार अलग हो जाता है, त्यों-त्यों समाज के हर क्षेत्र के अलग-अलग नियम, अलग-अलग रीति-रिवाज, अलग-अलग प्रथाएँ, रूढ़ियाँ तथा परिपाटियाँ बनती जाती हैं। इनके अनुसार 'धार्मिक-स्मृति' (Religious code), 'आर्थिक-स्मृति' (Economic code), 'पारिवारिक-जीवन की स्मृति' (Code of family life) आदि हर क्षेत्र के, अपने-अपने क्षेत्र के लिए नाना-प्रकार के नियम, नाना-प्रकार की प्रथाएँ, रूढ़ियाँ तथा परम्पराएँ बनती जाती हैं। इस दृष्टि से 'स्मृति' (Code) चार ही नहीं, अनेक हो सकती हैं। भिन्न-भिन्न 'स्मृति-विधानों' (Codes) को चित्र में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है:––

'स्मृति-विधान' तथा उसके पीछे 'बल'
(Codes and their Sanctions)

'स्मृति' को बनाने-वाला संगठन	'स्मृति-विधान' (Code) का नाम	स्मृति का 'बल' (Sanction)
१. राज्य (State)	कानूनी-विधान (Legal code)	शारीरिक बल-प्रयोग, जुर्माना, जेल, मृत्यु-दंड, मुआविज़ा देना।
२. धार्मिक-संस्था (Church)	धार्मिक-विधान (Religious code)	प्रायश्चित्त, धर्म-बहिष्कार, ईश्वर का कोप।
३. भिन्न-भिन्न व्यवसाय (Professions)	भिन्न-भिन्न व्यवसायों के अपने-अपने कायदे-कानून, प्रथा (Occupational codes)	सदस्यता से पृथक् कर देना।
४. परिवार (Family)	पारिवारिक-विधान (Familial code)	पितृ-क्रोध, विरासत में ख़ारिज कर देना, पैतृक-सम्पत्ति से वंचित कर देना।
५. सभा-सोसाइटी (Club)	नियम-उपनियम (Rules and regulations)	सदस्यता में रुकावट या सदस्यता से पृथक् कर देना।
६. डाकू-लुटेरे (Gangs)	लुटेरों के कायदे-कानून (Codes of the 'underworld')	मृत्यु-दंड।
७. समुदाय (Community)	प्रथा (Custom)	निन्दा, उपहास।
८. व्यक्ति (Individual)	नैतिक-विधान (Moral code)	उचित-अनुचित की आन्तरिक भावना, आत्मा की आवाज़।

प्रश्न

१. जब राष्ट्र नहीं बना था, और इसीलिए कानून भी नहीं बना था, तब सामाजिक-संगठन की स्थिरता का क्या कारण था?

२. 'सामाजिक-स्मृति-विधान के नियमों' (Laws of Social code) की 'भौतिक-नियमों' (Physical laws) के साथ तुलना कीजिये।

३. राष्ट्र के नियमों के पीछे शारीरिक 'बल' है, इसलिए कोई उनका उल्लंघन नहीं करता। सामाजिक-नियमों के पीछे कौन-सा 'बल' है, जो उनका भी कोई उल्लंघन नहीं करता? क्या यह 'बल' सिर्फ सामाजिक-भय का है, या इसमें कोई और बात भी काम करती है?

४. 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social codes) के चार भिन्न-भिन्न रूप कौन-से हैं? इन चार के अतिरिक्त अन्य भी क्या 'स्मृति-विधान' (Codes) हो सकते हैं? अगर हाँ, तो कौन से? उन स्मृति-विधानों के पीछे क्या 'बल' (Sanction) है?

२८

'धर्म' तथा 'नीति'

(RELIGIONS AND MORALS)

हमने देखा कि जब राज्य की उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब भी समाज को बाँधने-वाले एक प्रकार के नहीं अनेक प्रकार के नियम थे। राज्य की उत्पत्ति के बाद तो कानून के डर से हर-एक आदमी सामाजिक-नियमों का पालन करने लगा, परन्तु जब राज्य नहीं उत्पन्न हुआ था, तब भी अनेक प्रकार के नियमों का पालन होता था, जिसकी जो मर्ज़ी आयी नहीं कर बैठता था। समाज ने जिस बात को ठीक समझ लिया था, वह बात यदि हमारे आज के दृष्टि-कोण से सही है या नहीं है, उसका हर-एक व्यक्ति पालन करता था। इसका यही कारण था कि उस समय समाज को बाँधे रखने वाला कानून तो नहीं उत्पन्न हुआ था, परन्तु धार्मिक-नियम, प्रथा के नियम, आर्थिक-नियम, परिवार के नियम—हर-एक क्षेत्र के अपने-अपने नियम बने हुए थे, और समाज में अपनी स्थिति बनाये रखने के लिये निन्दा तथा उपहास से बचने के लिए, जात-बिरादरी में बने रहने के लिए, हुक्का-पानी और रोटी-बेटी का व्यवहार टूट न जाय इसलिए, समाज के नियमों का पालन करना हर व्यक्ति आवश्यक समझता था। ये धार्मिक-नियम ही 'धार्मिक-स्मृति-विधान' (Religious code) था, ये प्रथा के नियम ही 'प्रथा का स्मृति-विधान' (Code of Custom) था, ये आर्थिक-नियम ही 'आर्थिक-स्मृति-विधान' (Economic code) था, ये परिवार के नियम ही 'परिवार का स्मृति-विधान' (Familial code) था।

ये नियम हर-एक समाज के भिन्न-भिन्न थे। किसी समाज में एक-विवाह का नियम था, किसी में बहु-विवाह का, किसी में हर-एक वस्तु को जीवित माना जाता था, हर वस्तु में परमात्मा प्रकट हो रहा था, किसी में परमात्मा सातवें आसमान में बैठा संसार का शासन कर रहा था, किसी में रुपये-पैसे को दाँत से पकड़ा जाता था, किसी में उसे लुटा दिया जाता था, किसी में स्त्री को देवी समझ कर पूजा जाता था, किसी में उसे पैर की जूती समझा जाता था। जिस समाज की जैसी संस्कृति थी, उसी के रंग में उसके नियम, उसका स्मृति-विधान रंगा जाता था, उस-उस समाज में संस्कृति-सम्बन्धी जो आदर्श-कल्पना की हुई थी, उसी को जीवन में उतारने के लिए धार्मिक, नैतिक, आर्थिक, पारिवारिक नियम तथा स्मृति-विधान

बनाया हुआ था, और उस स्मृति-विधान का पालन करने के लिए समाज के पास निन्दा-स्तुति, प्रतिष्ठा-परिहास, सदस्यता-बहिष्कार--ये ही शस्त्र थे, यही बल थे, समाज के पास इन्हें पालन कराने का और कोई बल नहीं था, परन्तु फिर भी समाज इनका पालन करता चला जाता था।

प्रारम्भिक-समाज में जीवन के इतने क्षेत्र नहीं थे जितने आज के विकसित समाज में हो गये हैं। उस समय धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक आदि सब क्षेत्र मिले-जुले थे, इसलिए उनके स्मृति-विधान भी अलग-अलग नहीं थे। 'धार्मिक-स्मृति-विधान' (Religious code) ही सब-कुछ था। धर्म जो कहता वही परिवार को करना, वही सत्य, वही प्रथा, और वही हर मनुष्य के लिए मानना और करना लाज़मी था। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों समाज का विकास होने लगा, मनुष्य के क्रिया के क्षेत्र बढ़ने लगे, त्यों-त्यों उसे हर क्षेत्र के लिए अलग-अलग नियमों की, अलग-अलग 'स्मृति-विधान' बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई। हम सब 'स्मृति-विधानों' की यहाँ चर्चा नहीं कर सकते। हम मुख्य-मुख्य चार 'स्मृति-विधानों' (Codes) को लेकर उनकी चर्चा करेंगे। वे चार 'स्मृति-विधान' हैं--'धार्मिक-स्मृति-विधान' (Religious code), 'नैतिक-स्मृति-विधान' (Moral code), 'प्रथा-सम्बन्धी-स्मृति-विधान' (Code of Custom) तथा 'कानूनी-स्मृति-विधान' (Legal code)। इन 'स्मृति-विधानों' में 'धर्म' (Religion) तथा 'नीति' (Morality) का क्षेत्र एक-सा है, 'प्रथा' (Custom) तथा 'कानून' (Law) का क्षेत्र एक-सा है, इसलिए इस अध्याय में हम 'धर्म तथा नीति' (Religion and Morality) तथा अगले अध्याय में 'प्रथा तथा कानून' (Custom and Law) का वर्णन करेंगे।

१. धार्मिक तथा नैतिक स्मृति-विधान में भेद

'धर्म' (Religion) तथा 'नीति' (Morality) को आम बोलचाल की भाषा में एक ही समझा जाता है, क्योंकि दोनों का क्षेत्र एक ही है। दोनों का विषय मनुष्य का आचार-व्यवहार, उसकी रोजमर्रा की दिनचर्या है, परन्तु एक ही क्षेत्र के होते हुए भी दोनों का दृष्टि-कोण अलग-अलग है। इनके दृष्टि-कोण में निम्न भेद हैं--

(क) धर्म 'उत्सामाजिक', बुद्धि पर अनाश्रित, और नीति 'सामाजिक', बुद्धि पर आश्रित है--'धर्म' (Religion) की दृष्टि से वही बात ठीक है, जो वेद-शास्त्र, बाईबल-कुरान, पंडित-मौलवी-मुल्ला-पादरी ने कही है। जिस बात को देवी-देवता की दृष्टि से ठीक समझा जाय, वह हमारे वैयक्तिक दृष्टि-कोण से कितनी ही बुरी क्यों न प्रतीत होती हो, ठीक है; जो बात हमारी आत्मा की दृष्टि से ठीक मालूम पड़ती है, वह अगर शास्त्र की दृष्टि से, पंडितों-मौलवी-पादरी की दृष्टि से ग़लत है, तो वह ग़लत है। 'नीति' (Morality) में ऐसी बात नहीं है। नीति की दृष्टि, धर्मशास्त्र की, पंडित-मौलवी की दृष्टि नहीं

है। यह अन्तरात्मा की दृष्टि है, व्यक्ति की अपनी दृष्टि है, 'स्वस्य च प्रियमात्मनः'—की दृष्टि है। 'पाप' (Sin) और 'अनुचित' (Wrong)—इन दो शब्दों में जो भेद है, वह 'धर्म' और 'नीति' में भेद है। 'पाप' वह होता है जिसे 'धर्म' (Religion) बुरा समझे, 'अनुचित' वह होता है जिसे 'नीति' (Morality) बुरा समझे। यह हो सकता है कि एक बात को हम अपने विचार की दृष्टि से उचित समझते हों, परन्तु धर्म की दृष्टि से वह पाप कही जाती हो, यह भी हो सकता है कि दूसरी बात धर्म की दृष्टि से ठीक हो, परन्तु हमारा अन्तरात्मा उसे न मानता हो। 'धर्म' (Religion) का आधार मनुष्य नहीं, ईश्वर है, 'नीति' (Morality) का आधार ईश्वर नहीं, मनुष्य है। क्योंकि धर्म का आधार ईश्वर है, इसलिए 'धर्म' का आधार 'उत्सामाजिक' (Supra-social) है, और क्योंकि नीति का आधार मनुष्य है, इसलिए 'नीति' का आधार 'सामाजिक' (Social) है। 'धर्म' कहता है, यह करो, इसलिए नहीं क्योंकि यही बात ठीक है, परन्तु इसलिए क्योंकि यही ईश्वर का विधान है, यही ईश्वर की इच्छा है; 'नीति' कहती है, यह करो, इसलिए नहीं क्योंकि यह ईश्वरीय-विधान है, परन्तु इसलिए क्योंकि यही ठीक है, यही उचित है, यही हमारा आत्मा कहता है, यही युक्ति-युक्त है। 'नीति' का आधार युक्ति है, 'धर्म' का आधार युक्ति नहीं है; 'नीति' बुद्धि-पूर्वक है, 'धर्म' बुद्धि-पूर्वक नहीं है। इसका यह मतलब नहीं कि धर्म बुद्धि का तिरस्कार करता है, इसका मतलब सिर्फ़ इतना है कि मनुष्य की बुद्धि और ईश्वर के विधान के मुकाबिले में धर्म मनुष्य के निर्णय के स्थान में जिसे, सही या ग़लत, ईश्वर का निर्णय समझता है, उसे महत्त्व देता है।

(ख) धर्म अनैतिक भी हो सकता है—आज हमारे 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social codes) समाज की आवश्यकता को आधार बनाकर बनते हैं। जैसी स्थिति होती है, जिस बात की समाज को आवश्यकता होती है, वैसा 'स्मृति-विधान' (Code) बना दिया जाता है। आदि-समाज में भी बहुत-कुछ ऐसा ही हुआ होगा। परन्तु 'धार्मिक-स्मृति-विधान' (Religious code) मनुष्य की आवश्यकताओं को सामने रखकर नहीं बना था, वह तो देवी-देवताओं के भय से, प्राकृतिक-शक्तियों के यथार्थ ज्ञान न होने से बना था। धार्मिक-रीति-रिवाजों को इसलिए चलाया गया था जिससे देवी-देवताओं का क्रोध शान्त किया जाय। इसका यह परिणाम था कि अनेक समाज-विरोधी बातों का धर्म में समावेश था। उदाहरणार्थ, यहूदियों में अपने पहले बच्चों को देवता पर बलि चढ़ा दिया जाता था, हिन्दुओं में माइसोर, मद्रास आदि में लड़की को मन्दिर के देवता के साथ ब्याह दिया जाता है, इस प्रथा को 'देवदासी' कहा जाता है, कहीं-कहीं देवता पर अपने किसी अंग को काट कर चढ़ाया जाता है, कलकत्ते में काली के मन्दिर पर बकरों को मार कर चढ़ाया जाता है। ये सब समाज-विरोधी काम 'धर्म' के आधार पर चल सकते हैं, 'नीति' के आधार पर नहीं चल सकते, ये कहने को भले ही धार्मिक कृत्य कहे जाँय, परन्तु अनैतिक हैं।

२. धार्मिक तथा नैतिक दृष्टि-कोण में विरोध

'धार्मिक' तथा 'नैतिक' दृष्टि-कोण में जो भेद है, उसके कारण इन दोनों में विरोध का उठ खड़ा होना स्वाभाविक है। जिस बात को 'धार्मिक-स्मृति' (Religious code) ठीक कहती है, उसे 'नैतिक-स्मृति' (Moral code) ग़लत कह देती है। यह विरोध निम्न रूप में दिखाई देता है :—

(क) मनुष्य जब नयी-नयी सचाइयों को देखता है, तब वह अपना नैतिक कर्त्तव्य समझता है कि उनके अनुसार व्यवहार करे, परन्तु ऐसे मौकों पर धर्म उसके रास्ते में रुकावट बनकर खड़ा होता रहा है। जब गैलिलियो ने इस बात का पता लगाया कि सूर्य पृथिवी के गिर्द नहीं घूमता, पृथिवी सूर्य के गिर्द घूमती है, तो उसने अपना नैतिक कर्त्तव्य समझा कि इस सचाई को ज़ाहिर करे। उसने जब इस सत्य को प्रकट किया, तब धर्म के ठेकेदारों ने उसे जेल में डाल दिया, और उसे तब छोड़ा जब उसने कह दिया कि मेरा विचार ग़लत था। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि धर्म सत्य को दबाता रहा है, रूढ़िवाद बुद्धिवाद का विरोध करता रहा है। इस दृष्टि से 'धर्म' और 'विज्ञान' (Religion and Science) की लड़ाई एक तरह से 'धर्म' और 'नीति' (Religion and Morality) की लड़ाई है। संसार का उद्भव कैसे हुआ, क्या बने-बनाये जीव-जन्तु परमात्मा ने घड़कर रख दिये, या डार्विन के विकासवाद के अनुसार उनका क्रमिक-विकास हुआ है— इसकी जब चर्चा चली, तब ईसाइयत ने इसका विरोध किया। जब दर्द को कम करने के लिए दवाइयों का प्रयोग हुआ, तब भी ईसाई धर्म ने इसका विरोध किया। पादरियों का कहना था कि बाइबल में जब लिख दिया कि बनी-बनायी योनियाँ पैदा हुईं, तब यह कहना कि उनका क्रमिक-विकास हुआ अधार्मिक है, अनुचित है; दर्द का काम मनुष्य के पापों का फल है, इसलिए दर्द को दवाई से हटाना ईश्वरीय-विधान में हस्तक्षेप करना है। आज हिन्दुओं में तलाक के नाम पर कितना शोर उठ खड़ा होता है। स्त्री पर कितना ही अत्याचार क्यों न हो, उसका पति अत्याचारी, दुराचारी, जन्म का रोगी, कोढ़ी, कुछ भी क्यों न हो, धर्म के नाम पर तलाक का विरोध होता है, परन्तु क्या नैतिक-दृष्टि से यह समझाया जा सकता है कि दुराचारी, व्यभिचारी और कोढ़ी पति के साथ स्त्री जन्म भर क्यों बंधी रहे? असल बात यह है कि 'नीति' मनुष्य को आगे खींचती है, 'धर्म' उसे आगे बढ़ने से रोकता है।

(ख) 'धर्म' सदा अपने को सत्य मानता रहा है। 'धर्म' का यह दावा रहा है कि उसका उद्भव परमात्मा से हुआ है, इसलिए जो-कुछ 'धर्म' कहता है, वह सच है, दूसरे लोग जो-कुछ कहते हैं, वह झूठ है। इसी का परिणाम यह रहा है कि धर्म के नाम पर संसार में जिहाद बोले गये हैं। मुसलमानों ने धर्म के नाम पर तलवार उठाई, ईसाइयों ने धर्म के नाम पर क्रूसेड किये। परन्तु नैतिक-दृष्टि से अगर कोई पूछे कि कौन-सा धर्म सच्चा है, कौन-सा झूठा, ईसाइयत सच्ची है या इस्लाम, ईसाइयत में रोमन कैथोलिक सचाई पर हैं या प्रोटेस्टेंट, इस्लाम में शिया

ठीक हैं या सुन्नी, तो धर्म के पास इसका क्या उत्तर है ? धार्मिक तथा नैतिक दृष्टि-कोण में यह विरोध सदा से चला आ रहा है, और जब तक इन दोनों दृष्टियों का समन्वय नहीं हो जायगा, तब तक यह विरोध चलता चला जायगा।

धार्मिक तथा नैतिक स्मृति-विधान में जो भेद है, और धार्मिक तथा नैतिक दृष्टिकोण में जो विरोध है वह निम्न तुलना में स्पष्ट हो जायगा :--

धर्म (Religion)	नीति (Morality)
१. धर्म 'उत्सामाजिक' (Supra-social) आधार पर खड़ा है, ईश्वर, देवी-देवता के आधार पर।	१. नीति 'सामाजिक' (Social) आधार पर खड़ी है, ईश्वर नहीं, मनुष्य के आधार पर।
२. धर्म बुद्धि पर आश्रित नहीं, अतः इसे 'बुद्धि पर अनाश्रित' (Irrational) कह सकते हैं।	१. नीति बुद्धि पर आश्रित है, अतः इसे 'बुद्धि-पूर्वक' (Rational) कह सकते हैं।
३. धर्म नीति-विरुद्ध हो सकता है।	३. नीति धर्म-विरुद्ध हो सकती है।
४. आजतक के चलते हुए धर्म सत्य को दबाते भी रहे हैं।	४. नीति सत्य का ही दूसरा नाम है, अतः नीति ने सत्य को कभी नहीं दबाया।
५. धर्म का सम्बन्ध परलोक से है।	५. नीति का सम्बन्ध इहलोक से है।
६. धर्म का उल्लंघन 'पाप' कहलाता है।	६. नीति का उल्लंघन 'दोष' कहलाता है।
७. धर्म बुद्धि पर नहीं, 'रूढ़ि' पर आश्रित है।	७. नीति रूढ़ि पर नहीं, 'बुद्धि' पर आश्रित है।

३. धर्म तथा नीति में से पहले किस का विकास हुआ ?

आदि-समाज में 'धर्म' तथा 'नीति' में इतनी समानता है, और आज भी इन दोनों विचारों में इतनी समानता है कि कभी-कभी तो इन दोनों में कोई भेद है--यही समझ नहीं आता। इन दोनों में भेद है, यह हमने देखा। अगर भेद है, तो प्रश्न उठ खड़ा होता है कि विकास की दृष्टि से इन दोनों से कौन-सा पहले हुआ, कौन-सा पीछे ? क्या मानव-समाज के विकास में 'धर्म' पहले हुआ, बाद को 'नीति' का विकास हुआ, या 'नीति' पहले हुई, बाद को नीति से 'धर्म' का विकास हुआ ?

कौम्टे (Comte) का कथन है कि मानव-समाज के विकास में धर्म का स्थान पहले है। मनुष्य प्रकृति में विचरण करता था। कभी आँधी, कभी तूफ़ान, कभी भयंकर सर्दी, कभी भयंकर गर्मी--वह समझता था कि इन आँधी-तूफ़ानों, को लाने वाली कोई महाशक्ति है, उसके कोप से ही यह सब-कुछ होता है। उसकी पूजा-आराधना करना, उसे मनाना--यही पहले-पहल 'धर्म' के विकास का स्रोत था। इस धर्म के विचार के जड़ पकड़ लेने के बाद 'नीति' के विचार का

जन्म हुआ। इसके विपरीत दुरखीम (Durkheim), टॉनीज (Tonnies) आदि का कथन है कि पहले-पहल मनुष्य समूह में रहता था, प्रकृति की समस्याएँ उसके लिए इतनी विकट नहीं थीं जितनी समूह की समस्याएँ थीं। समूह की इन समस्याओं को हल करने के लिए—हम एक-दूसरे के साथ कैसे बर्तें, सत्य बोलें, किसी के साथ बुरा व्यवहार न करें—ये सब नैतिक-नियम पहले-पहल बने। इन नैतिक-नियमों के परिणाम-स्वरूप धर्म की उत्पत्ति हुई।

'धर्म' पहले हुआ, या 'नीति' पहले हुई—इसका हम कुछ निर्णय नहीं कर सकते, इतना अवश्य कह सकते हैं कि आदि-समाज में ये दोनों मिले-जुले पाये जाते हैं, इतने मिले-जुले कि शुरू-शुरू के समाज में इन दोनों में कोई भेद नहीं दीखता, जो धर्म है वही नीति है, जो नीति है, वही धर्म है। परन्तु ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता गया, त्यों-त्यों धर्म तथा नीति में भेद स्पष्ट होता गया, ये एक-दूसरे से स्वतंत्र दीखने लगे, और आज तो ये दोनों एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न, एक-दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र हो चुके ह, इतने भिन्न और इतने स्वतंत्र कि आजकल के दृष्टि-कोण से धार्मिक काम अनैतिक कहा जा सकता है, और नैतिक काम अधार्मिक कहा जा सकता है। मूर्ति पर बलि का बकरा चढ़ाना धार्मिक-कृत्य समझा जाता है, परन्तु यह काम अनैतिक है; काफ़िर पर हाथ न उठाना नैतिक कहा जा सकता है, परन्तु इस्लाम की दृष्टि से यह काम अधार्मिक है।

४. धार्मिक तथा नैतिक दृष्टि-कोण का समन्वय

समाज की प्रारम्भिक-अवस्था में जो 'धर्म' (Religion) था, वही 'नीति' (Morality) थी, जो 'नीति' थी, वही 'धर्म' था, परन्तु ज्यों-ज्यों समाज विकसित होने लगा, त्यों-त्यों मनुष्य को यह जान पड़ने लगा कि 'धर्म' अलग वस्तु है, 'नीति' अलग वस्तु है, जिसे 'धर्म' ठीक कहता है, वह 'नीति' की दृष्टि से ठीक नहीं जँचता, जिसे 'नीति' ठीक कहती है, उसे 'धर्म' ग़लत कहता है। पहले मनुष्य बुद्धि से काम नहीं लेता था, इसलिए उसे 'धर्म' और 'नीति' का विरोध नहीं दीखता था, अब वह बुद्धि से काम लेने लगा, सब-कुछ पण्डित-मुल्ला-पादरी पर न छोड़ कर स्वयं सोचने लगा, तो इन दोनों में उसे विरोध दीखने लगा।

परन्तु 'धर्म' और 'नीति' का यह विरोध क्या विरोध के रूप में बना रहेगा? आज मनुष्य विचार के जिस क्षेत्र में पहुँच चुका है, वहाँ 'नीति' (Morality) 'धर्म' (Religion) को प्रभावित करने लगी है, बुद्धि का प्रभाव पड़ने लगा है, और 'धर्म' अपने-आप को नैतिक-विचारों के अनुसार बदलने लगा है। अब 'धर्म' के क्षेत्र में यही नहीं समझा जाता कि सचाई का ठेकेदार 'धर्म' ही रह गया है। 'धर्म' एक नहीं अनेक हैं, सभी में एक-दूसरे से विरोध है, इसलिए सब एक-समान सच्चे नहीं हो सकते। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि इन सब में कोई एक ही सच्चा है। इस विचार-धारा का यह परिणाम है कि 'धर्म' अपने संकुचित दृष्टि-कोण को बदलने लगे हैं। जहाँ प्रतीत होता है कि धार्मिक दृष्टि-कोण नैतिक दृष्टि-

कोण के विरोध में है, वहाँ धर्म-गुरु लोग अपने शास्त्रों के भाष्य करके उसे नैतिक दृष्टि-कोण के साथ मिलाने लगे हैं, इन दोनों का समन्वय करने लगे हैं। वेद, बाइबल, कुरान के जो नये-नये भाष्य हो रहे हैं, वे सब इन ग्रन्थों को बुद्धि-वाद के साथ मिलाने का प्रयत्न कर रहे हैं, नैतिक-दृष्टि के निकट ला रहे हैं। आदि-समाज में 'धर्म' और 'नीति' एक ही थीं, आगे चलकर इन दोनों का विरोध प्रकट हुआ, अब जब फिर 'धर्म' और 'नीति' के भेद को मिटा दिया जायगा, धर्म में कोई अनैतिक बात न रहेगी, तब इन दोनों का फिर समन्वय हो जायगा। भेद इतना है कि आदि-समाज में इन दोनों में विरोध के रहते हुए भी क्योंकि विरोध दीखता न था, इसलिए समन्वय था, अब इन दोनों का विरोध दीखने लगा है, इसलिए उस विरोध को मिटाकर समन्वय होगा।

प्रश्न

१. 'धर्म' (Religion) तथा 'नीति' (Morality) का विषय एक ही है, परन्तु दृष्टि-कोण अलग-अलग है--इस कथन का अर्थ समझाइये।
२. धार्मिक तथा नैतिक स्मृति-विधान में क्या भेद है?
३. धार्मिक तथा नैतिक स्मृति-विधान में क्या विरोध है, और इस विरोध को दूर कैसे किया जा सकता है?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. सामाजिक-नियन्त्रण की एजेंसियों के नाते 'धर्म' और 'नीति' की तुलना कीजिये। उनकी प्राथमिकता तथा संघर्ष की विवेचना कीजिये। (आगरा, १९५६)
२. धर्म के सामाजिक महत्त्व की व्याख्या कीजिये। (लखनऊ, १९५३)

२६

'प्रथा' तथा 'कानून'

(CUSTOM AND LAW)

१. प्रथा (Custom)

(क) जब कोई 'व्यक्ति' किसी काम को बार-बार करता है, तब उस व्यक्ति को उस काम की 'आदत' (Habit) हो जाती है।

(ख) जब कोई 'समाज' किसी काम को बार-बार करता है, तब उस काम को समाज की 'आदत' न कहकर, 'प्रचलन' (Usage) कहते हैं।

(ग) जब कोई समाज किसी काम को बार-बार करता है, और उसे करना उचित समझता है, उसे न करना अनुचित समझता है, तब उसे 'आदत' (Habit) या 'प्रचलन' (Usage) न कहकर, 'प्रथा' (Custom) कहते हैं।

मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से 'आदत'—'प्रचलन'—'प्रथा'—इन तीनों का आधार एक ही है। तीनों का आधार एक बात को बार-बार करना है। जब तक यह बार-बार करना व्यक्ति तक सीमित रहता है, इसे 'आदत' (Habit) कहते हैं, जब यह समाज के क्षेत्र में आ जाता है, तब इसे 'प्रचलन' (Usage) कहने लगते हैं। 'प्रचलन' (Usage) की तरह 'प्रथा' (Custom) भी एक तरह से समाज की 'आदत' (Habit) है, परन्तु 'प्रचलन' (Usage) में उचित-अनुचित का प्रश्न नहीं उठता, 'प्रथा' (Custom) में उचित-अनुचित का भेद उठता है। 'प्रचलन' (Usage) के विरुद्ध कुछ किया जाय, तो बड़ा अपराध नहीं माना जाता है, 'प्रथा' (Custom) के विरुद्ध चलना तो अपराध माना जाता है।

(क) प्रथा की उत्पत्ति (ORIGIN OF CUSTOM)

'प्रथा' की उत्पत्ति कैसे होती है? 'आदत' (Habit) और 'प्रचलन' (Usage) में तो कुछ नई बात और कुछ पुरानी बात मिली-जुली रहती हैं, परन्तु 'प्रथा' (Custom) में नया कुछ नहीं होता। अगर कोई नई 'प्रथा' चलती है, तो वह भी किसी पुरानी 'प्रथा' से ही उत्पन्न होती है। संसार में बिलकुल नई कोई भी 'प्रथा' नहीं हो सकती। 'प्रथा' का मतलब ही है—'पुरानी चाल'। एक व्यक्ति की 'आदत' का जब किसी दूसरे व्यक्ति की 'आदत' से टाकरा होता है, तब उन दोनों की 'आदतों' में कुछ-कुछ परिवर्त्तन होता है, दोनों अपने को एक-

दूसरे के अनुकूल बनाने के लिए कुछ अपना छोड़ते हैं, दूसरे का लेते हैं। इस प्रकार सहस्रों व्यक्तियों की 'आदतों' के आदान-प्रदान से, पारस्परिक-विनिमय से समाज जिस 'आदत' को ठीक या उचित समझता है, वह बच रहती है, बाकी 'आदतें' छोड़ दी जाती हैं, बस इसी प्रक्रिया में से गुज़रते-गुज़रते जिन बातों को समाज ठीक समझ कर पकड़ लेता है, उन्हीं के संग्रह से 'प्रथा' (Custom) उत्पन्न हो जाती है। अब भी तो यही प्रक्रिया हो रही है। कुछ व्यक्ति अपनी विचार-धारा को जन्म देते हैं, उनके मुकाबिले में दूसरे व्यक्तियों की विचार-धारा फूट पड़ती है, इन सब विचारों का मेल, इनका टाकरा, इनका संघर्ष होता जाता है, और इस संघर्ष से एक नवीन विचार-धारा उत्पन्न होती जाती है, जिसमें दोनों का कुछ-कुछ अंश रह जाता है, और यही नई विचार-धारा अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करने लगती है। विचारों के विकास की जो प्रक्रिया आज हो रही है, वही आदि-समाज में हुई होगी, इस संघर्ष में जो विचार-धारा टिक सकी, वही 'प्रथा' बन गई, इसे किसी ने बैठ कर नहीं बनाया, सोच-विचार कर, समझ-बूझ कर नहीं गढ़ा, धीरे-धीरे पर्यावरणों की टक्करें खाकर यह बन गई।

(ख) प्रथा का उपयोग (FUNCTION OF CUSTOM)

३५वें अध्याय में हमने 'सहज-क्रिया' (Reflex action) तथा 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) के विषय में विस्तार-पूर्वक लिखा है, यहाँ इतना लिखना पर्याप्त है कि जो काम शरीर में 'नैसर्गिक-क्रिया', अर्थात् 'सहज-क्रिया' (Reflex action) का है, जो काम शरीर-धारियों में 'नैसर्गिक-प्रवृत्ति' अर्थात् 'सहज-प्रवृत्ति' या 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) का है, वही काम, समाज में 'प्रथा' (Custom) का है। जो 'सहज-क्रियाएँ' (Reflex actions) आज हमारा शरीर अपने-आप करता है, उन्हें कभी-न-कभी सीखा गया होगा। आज माता-पिता द्वारा वे 'सहज-क्रियाएँ' हमें विरासत में मिली हैं। अगर हर-एक 'सहज-क्रिया' को नये सिरे से सीखना होता, तो मनुष्य का काम कैसे चलता? इसी-प्रकार अगर प्राणी में 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) न होती, और हर सन्तति को हर बात नये सिरे से सीखनी होती, तो कैसे काम चलता? आदि-काल में जिस बात को प्राणियों ने बार-बार करके सीखा था, वह अब उन्हें बार-बार सीखनी नहीं पड़ती, जन्म से ही उसका उन्हें ज्ञान होता है। 'प्रथा' भी वह ज्ञान-परम्परा है, जिसे हमारे पूर्वजों ने अनुभव के लम्बे-चौड़े सिलसिले में से गुज़र कर प्राप्त किया था। आज उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को हर प्रकार के अनुभव में से गुजरने की जरूरत नहीं, 'प्रथा' (Custom) के रूप में वह अनुभव हम तक पहुँच जाता है। इस दृष्टि से 'प्रथा' (Custom) एक तरह की 'सामाजिक-विरासत' (Social heredity या Social heritage) है, जो हर सन्तति को अपने पूर्वजों से प्राप्त होती है।

(ग) प्रथा की शक्ति (POWER OF CUSTOM)

'प्रथा' की शक्ति बड़ी प्रबल है। किसी ने इसे मानव-जीवन की कर्त्ता-धर्त्ता कहा है, तो किसी ने 'प्रथा' को प्रकृति से भी ज्यादा शक्तिशालिनी बतलाया है। आदि-समाज के मनुष्य का सम्पूर्ण-जीवन प्रथा के इर्द-गिर्द घूमता था, आज के सभ्य-मानव के जीवन पर भी इसका प्रभुत्व कम नहीं है। शुरू-शुरू में जब मनुष्य ने जीवन-यात्रा शुरू की थी, तब समाज को नियमों में बाँध रखने के लिए 'प्रथा' के बिना दूसरी कोई व्यवस्था नहीं थी। इसलिए 'प्रथा' को एक ऐसा विधान माना गया था जिसके विरोध में चलना उस समय के मनुष्य के लिए मानो दैवीय-विधान के विरुद्ध चलना था। जो 'प्रथा' के विरुद्ध चलता था, उसे बहिष्कृत कर दिया जाता था, इसलिए इसको तोड़ने की किसी में सामर्थ्य नहीं थी। जो सब लोग मानते हों, वही तो 'प्रथा' है, और सब लोगों के खिलाफ़ कौन चल सकता था? इसके अतिरिक्त मनुष्य का स्वभाव है—जाने-पहचाने रास्ते पर चलना। जिस मार्ग को वह जानता नहीं है, उस पर चलने से उसे भय लगता है। 'प्रथा' के अनुसार चलने में तो मनुष्य उसी रास्ते पर चलता है जिस पर दूसरे लोग अब तक चलते चले आये हैं। उस रास्ते में ख़तरा होता, तो मानव-समाज उस मार्ग पर अब तक क्यों चला आता? इसलिए मनुष्य सदा 'प्रथा' का आदर करता आया है, और नवीन बात से भय खाता रहा है। यही कारण है कि अगर समाज-सुधारक कोई नई बात भी कहना चाहते हैं, तो यही कहते हैं कि यह कोई नई बात नहीं है, पहले भी यही बात चलती थी। एक लेखक ने कहा है कि मनुष्य के लिए सबसे ज्यादा कष्ट-दायक बात कोई नया विचार है। नये विचार से वह हौए की तरह डरता है। 'प्रथा' मनुष्य की किसी-न-किसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए चलती है, परन्तु 'प्रथा' में वह जकड़न है कि जब आवश्यकता नहीं भी रहती, तब भी वह 'प्रथा' बराबर समाज को जकड़े रहती है। ऐसी मरी हुई 'प्रथाओं' से समाज का पल्ला छुड़ाने के लिए समाज-सुधारकों को हिमालय-जैसे कठिन प्रयत्न करने पड़ते हैं।

२. कानून (Law)

'प्रथा' की तथा 'कानून' की शक्ति में भेद

'प्रथा' तथा 'कानून'—इन दोनों का काम समाज को अव्यवस्थित होने से बचाना है, परन्तु 'प्रथा के स्मृति-विधान' (Code of Custom) तथा 'कानून के स्मृति-विधान' (Legal code) में भेद यह है कि कानून के पीछे राज्य-शक्ति है, प्रथा के पीछे राज्य की नहीं, समाज की शक्ति है। जो 'प्रथा' को तोड़े उसे समाज में से बहिष्कृत किया जा सकता है, उसकी निन्दा होती है, उपहास होता है, इससे ज्यादा कुछ नहीं हो सकता; परन्तु जो कानून का भंग करे, उसे जेल में डाला जा सकता है, ऐसे भी अवसर आ सकते हैं कि जिनमें उसे मृत्यु-दंड भी दिया जा सकता है। 'प्रथा' समाज की उपज है, 'कानून' राज्य की उपज है; 'प्रथा'

का स्वतः विकास होता है, 'कानून' बनाया जाता है; 'प्रथा' मनुष्य के अन्तरात्मा तक को जकड़ लेती है, 'कानून' उसके आभ्यन्तर को नहीं, उसके बाह्य-व्यवहार पर प्रभाव डालता है; 'प्रथा' को तोड़ने के लिए मनुष्य में प्रेरणा ही नहीं होती, 'कानून' को वह दंड के भय से नहीं तोड़ता।

वर्त्तमान-समाज में 'प्रथा' अपर्याप्त है

आदि-समाज में थोड़े-से-लोग थे, हर-एक मनुष्य दूसरे को जानता था, उसका आमने-सामने का दिन-रात का वैयक्तिक-सम्बन्ध था, अगर कोई समाज के नियमों का उल्लंघन करता था, तो कानाफूसी शुरू हो जाती थी, कोई बुरा-भला कहता, कोई हँसी उड़ाता, कोई निन्दा करता था, इसलिए लोग सीधे रास्ते पर रहते थे। आज वह हालत नहीं रही, समाज बहुत विकसित हो गया है, लोग एक-दूसरे को जानते-पहचानते भी नहीं। ऐसी अवस्था में समाज को व्यवस्थित रखने के लिए 'प्रथा' पर्याप्त नहीं रही, इसे 'कानून' का सहारा मिलने की जरूरत हो गई है, इसी लिए समाज ने 'कानून' का आविष्कार किया है। वर्त्तमान-समाज में 'प्रथा' को 'कानून' का सहारा देना पड़ेगा। इसके निम्न कारण हैं :—

(क) अगर किसी ने किसी को कोई नुकसान पहुँचाया है, तो 'प्रथा' के पास उस नुकसान को पूरा करने का क्या साधन है? वह यही तो कर सकती है कि ईंट का जवाब पत्थर से देने की इजाजत दे, जो एक थप्पड़ लगाये उसे दो मारने दे। परन्तु इसमें दण्ड-व्यवस्था सिर्फ़ उन दो के हाथ में रह जाती है जो झगड़ रहे हैं, और क्योंकि वे ही झगड़ने वाले पक्ष हैं, इसलिए कितने अपराध का कितना दण्ड होना चाहिए, यह निर्णय नहीं हो पाता। छोटे-छोटे अपराध के बड़े बदले निकल सकते हैं, इसलिए उन दो के अतिरिक्त किसी तीसरी शक्ति की आवश्यकता है, जो अपराध और दण्ड का अनुपात निश्चित करे, वही 'कानून' है।

(ख) आदि-समाज में हर व्यक्ति का दूसरे के साथ आमने-सामने का, वैयक्तिक सम्बन्ध था, इसलिए 'प्रथा' के अनुसार झट-से ठीक-ग़लत का फैसला हो जाता था, आज समाज इतना विकसित हो गया है कि कोई किसी को जानता नहीं, किसी का दूसरे के साथ वैयक्तिक-सम्बन्ध नहीं रहा। पहले के समाज 'प्रथम-समूह' (Primary groups) थे, आज के समाज 'द्वितीय-समूह' (Secondary groups) हैं। 'प्रथम-समूह' में हर व्यक्ति के आमने-सामने होने से प्रथा चल सकती है, 'द्वितीय-समूह' में जहाँ कोई किसी को जानता-पहचानता नहीं, 'प्रथा' से काम नहीं चल सकता। आज समाज की नई-नई आवश्यकताएँ पैदा हो रही हैं, समाज दिनोंदिन बदलता जा रहा है, इस बदलते हुए समाज की नई हालतों को अपरिवर्त्तन-शील 'प्रथा' कैसे पूरा करे? ऐसी हालत में 'कानून' ही ऐसी चीज है जो झट-झट बदला जा सकता है, जैसे ही समाज बदला वैसे ही, 'प्रथा' तो नहीं, परन्तु 'कानून' बदला जा सकता है।

(ग) वर्त्तमान-समाज तो अनेक छोटे-छोटे समूहों से मिलकर बना है। हर समूह की अपनी 'प्रथाएँ' हैं। इन सब से मिलकर जो समाज बना है, उसको रास्ते पर डालने के लिए किसी ऐसी व्यवस्था की जरूरत है, जो व्यवस्था सब पर एक समान लागू हो सके। हिन्दू अपने ढंग से काम करता है, मुसलमान अपने ढंग से। दोनों के ढंग, दोनों की प्रथाएँ कहीं-कहीं टकरा भी सकती हैं। ऐसी अवस्था में दोनों अपने-अपने ढंग से चलें, कोई किसी पर चोट न करे, यह व्यवस्था तो 'कानून' ही बना सकता है।

'कानून' की उत्पत्ति

क्योंकि वर्त्तमान-समाज में 'प्रथा' अपर्याप्त है, इसलिए 'कानून' की उत्पत्ति हुई। आदि-समाज में 'प्रथा' तथा 'कानून' में भेद नहीं था। 'प्रथा' की उत्पत्ति समाज की अपनी इच्छा से होती है। वर्त्तमान-समाज में 'प्रथा' का पालन करना-न-करना, अपनी इच्छा पर निर्भर है। 'कानून' की उत्पत्ति समाज नहीं, राज्य करता है। 'कानून' का पालन करना-न-करना अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं है। परन्तु 'प्रथा' तथा 'कानून' का यह भेद आज प्रकट हुआ है, आदि-कालीन समाज में जैसे 'धर्म' और 'नीति' में भेद नहीं था, वैसे 'प्रथा' तथा 'कानून' में भी भेद नहीं था। परिवार में पिता या माता के प्रभुत्व की तरह, समाज में जिस व्यक्ति का स्थान था, उसे भारतीय-परिभाषा में 'पितर' (Patriarch) कहा जाता था। धीरे-धीरे 'पितर' का स्थान 'राजा' को मिला। समाज में 'प्रथा' तथा 'कानून' का भेद स्पष्ट हुआ। राजा के बनने के बाद शक्ति का प्रयोग, विवादास्पद बात में निर्णय का अधिकार, युद्ध आदि करना, 'पितर' के हाथ में न रहकर राजा के हाथ में चला गया। जैसे 'प्रथा' और 'कानून' अलग-अलग समझे जाने लगे, वैसे 'कानून' के भी दो हिस्से हो गये। जो अपराध वचन-बद्धता को तोड़ने पर आश्रित थे, वे दीवानी के कानून (Civil laws) तथा जो मारने-पीटने, चोरी-डकैती पर आश्रित थे, वे फ़ौजदारी के कानून (Criminal laws) कहलाये। समाज में लगातार परिवर्त्तन हो रहा है, नई-नई स्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं, इसी कारण 'कानून' भी दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। शासक-वर्ग भी एक बार शासन-सूत्र अपने हाथ में आ जाने के बाद शक्ति पर एकाधिकार जमाना चाहता है, इसलिए भी नये-नये 'कानून' बनते रहते हैं, ऐसे कानून जो शक्ति को उसके हाथ से निकलने न दें। परन्तु 'कानून' बनाने वाले एक बात भूल जाते हैं। 'कानून' का मनुष्य पर बाह्य शासन हो सकता है, उसके अन्तरात्मा पर अधिकार नहीं हो सकता। जब जनता को दबाने वाले 'कानून' बनने लगते हैं, जिसे चाहा जेल डाल दिया, जिसे चाहा फाँसी पर लटका दिया, जिसे चाहा अनिश्चित अवधि के लिए बन्द कर दिया, जिसे चाहा बिना मुकदमा चलाये पकड़े रक्खा, तब जनता उन्हें काला-कानून कहने लगती है, और समय आता है जब जनता का क्रोध इन कानूनों और कानून बनाने वालों को ही समाप्त कर देता है। संसार के बड़े-बड़े राज्यों के

समाप्त होने की यही कहानी है, परन्तु आश्चर्य इसी बात का है कि कानून बनाने वाले अपनी सत्ता को कायम रखने के लोभ में इतने अन्धे हो जाते हैं कि इतिहास के मोटे-मोटे अक्षरों में लिखी चेतावनियों को भी नहीं पढ़ पाते।

३. 'प्रथा' तथा 'कानून' का संघर्ष

कभी-कभी समाज में 'प्रथा' का ऐसा अनर्थकारी प्रभाव होता है कि उसे दबाने के लिए 'कानून' बनाना पड़ता है। अपने देश में सती-प्रथा को हटाने के लिए 'कानून' बनाना पड़ा, बाल-विवाह को रोकने के लिए 'कानून' बनाना पड़ा, हरिजनों के साथ अन्याय दूर करने के लिए 'कानून' बनाना पड़ा। जिस 'प्रथा' का 'कानून' को मुकाबिला करना पड़ता है, उसमें और 'कानून' में यह भेद रहता है कि 'प्रथा' का लोग बिना ननु-नच के पालन करते हैं, 'कानून' पर नुकताचीनी करने लगते हैं, और कभी-कभी यह नुकताचीनी 'कानून' के प्रति विद्रोह का रूप धारण कर लेती है। इसी लिए शासक लोग जिस 'कानून' को बनाना चाहते हैं, उसके प्रति पहले अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर लेते हैं, अनुकूल वातावरण न हो, तो किसी 'कानून' को 'प्रथा' के विरुद्ध चलाना कठिन हो जाता है।

४. 'प्रथा तथा 'कानून' में भेद

'प्रथा' तथा 'कानून' में जो भेद है वह निम्न तुलना से स्पष्ट हो जायगा :—

प्रथा (Custom)	कानून (Law)
१. प्रथा समाज में अपने-आप विकसित होती है, बनायी नहीं जाती।	१. कानून बनाया जाता है।
२. प्रथा समाज के बल पर चलती है, इसलिए कानून से ज्यादा बलशाली है।	२. कानून राज्य के बल पर चलता है, इसलिए कम बलशाली है।
३. प्रथा का लोग अपने-आप पालन करते हैं।	३. कानून का अपने-आप नहीं, राज्य के डर से पालन करते हैं।
४. प्रथा को लोग तोड़ते नहीं।	४. कानून को लोग तोड़ते हैं।
५. प्रथा जिस कारण चली थी उसके हट जाने पर भी बनी रहती है।	५. जो प्रथा बिना कारण के बनी रहती है, उसे कानून जबर्दस्ती बदल देता है।
६. आदि-समाज प्रथा से चलता था।	६. वर्त्तमान-समाज कानून से चलता है।
७. प्रथा 'प्रथम-समूह (Primary group) में चलती है।	७. कानून 'द्वितीय-समूह' (Secondary group) में चलता है।

५. 'कानून' तथा 'प्रथा' का समन्वय

समाज का सम-विकास तभी हो सकता है, जब 'कानून' तथा 'प्रथा' का विरोध न रहकर, समन्वय हो। समाज का शासक-वर्ग ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है जिससे अनुकूल वातावरण बनाकर 'कानून' बने, और 'कानून' बनने के

बाद उसके गिर्द उसे पुष्ट करने वाली 'प्रथाएँ' बनती चली जाँय। 'प्रथा' जब 'कानून' का विरोध करने के स्थान में उसे बल देने लगती है, तब समाज की गाड़ी बड़े मजे में चल पड़ती है।

प्रश्न

१. 'प्रथा' (Custom), 'आदत' (Habit), 'प्रचलन' (Usage) तथा 'कानून' (Law) में क्या भेद है?
२. 'प्रथा' की उत्पत्ति, उसका उपयोग तथा उसकी शक्ति के विषय में आप क्या जानते हैं?
३. 'कानून' तथा 'प्रथा' की शक्ति में क्या भेद है?
४. क्या वर्त्तमान-समाज को नियन्त्रित रखने के लिए 'प्रथा' का बल काफ़ी नहीं है जो 'कानून' की आवश्यकता अनुभव हुई है?
५. 'कानून' की उत्पत्ति कैसे हुई?
६. 'कानन' तथा 'प्रथा' के संघर्ष का समन्वय कैसे हो सकता है?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. 'प्रथाएँ' क्या होती हैं? सामाजिक-नियन्त्रण के दूसरे रूप क्या-क्या हैं? (आगरा, १९५५)
२. सामाजिक-नियन्त्रण को बनाये रखने में प्रथाओं और रूढ़ियों का महत्त्व बतलाइये। (राजपूताना, १९५४)

३०

समाज तथा व्यक्ति

(SOCIETY AND THE INDIVIDUAL)

१. 'समाज' तथा 'व्यक्ति' का पारस्परिक-सम्बन्ध

मनुष्य को हम सामाजिक-प्राणी कहते हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि 'सामाजिक-प्राणी' कहने से हमारा क्या अभिप्राय होता है? मनुष्य का, अर्थात् 'व्यक्ति' का 'समाज' से क्या सम्बन्ध है, और 'समाज' का 'व्यक्ति' से क्या सम्बन्ध है? इस सम्बन्ध में दो सिद्धान्त हैं। एक सिद्धान्त तो यह है कि 'व्यक्ति' ने 'समाज' का निर्माण किया है। इस सिद्धान्त को 'व्यक्ति-रचित समाज' (Social contract) कहते हैं। दूसरा सिद्धान्त यह है कि 'व्यक्ति' ने 'समाज' की रचना नहीं की, अपितु 'व्यक्ति' 'समाज' के शरीर का एक अंग है, अवयव है। इस सिद्धान्त को 'सामाजिक अवयवी' (Social organism) का सिद्धान्त कहते हैं। 'समाज' तथा 'व्यक्ति' के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए इन दोनों सिद्धान्तों का समझना आवश्यक है।

(क) 'व्यक्ति-रचित-समाज' का सिद्धान्त
(THEORY OF SOCIAL CONTRACT)

इस सिद्धान्त को मानने वालों का कहना है कि 'व्यक्ति' ने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए 'समाज' की रचना की है। 'व्यक्ति' मुख्य है, 'समाज' व्यक्ति के उद्देश्य को पूरा करने का सिर्फ़ एक साधन है। थॉमस हौब्स (Thomas Hobbes) का कथन था कि मनुष्य का स्वभाव उच्छृंखल है। एक-दूसरे की उच्छृंखलता से बचने के लिए मनुष्य ने 'समाज' का निर्माण किया है। अर्थशास्त्री एडम स्मिथ (Adam Smith) का कथन है कि मनुष्य ने आर्थिक-सहयोग के लिए समाज को रचा है। १८वीं शताब्दी के 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वादियों' (Individualists) का कथन था कि प्रकृति ने सब मनुष्यों को स्वतन्त्र तथा एक-समान उत्पन्न किया है, मनुष्य ने नियम, व्यवस्था तथा आत्म-रक्षा के लिए सामाजिक-बन्धनों में अपने को बाँध लिया है। इन सब सिद्धान्तों का आधारभूत विचार यही एक विचार है कि 'समाज' का निर्माण 'व्यक्ति' ने अपने लक्ष्य को सामने रख कर किया है। इस सिद्धान्त को आधार बनाकर कई लोग तो यह कहते हैं कि क्योंकि 'समाज' को 'व्यक्ति' ने पैदा किया है, इसलिए 'व्यक्ति' की स्वतन्त्रता की 'समाज' से रक्षा करनी चाहिए, ऐसा नहीं होना चाहिए कि 'समाज' ऐसे नियमों का निर्माण करने लगे

जिससे व्यक्ति की 'व्यक्ति'-रूप से सत्ता ही नष्ट हो जाय, कई लोग इसी सिद्धान्त के आधार पर यह भी कहने लगते हैं कि 'समाज' तब तक 'व्यक्ति' की रक्षा कर ही नहीं सकता जब तक यह अपना क्षेत्र विस्तृत न करे, दूसरे शब्दों में जब तक 'व्यक्ति' को किसी प्रकार की भी स्वतन्त्रता है, तब तक 'समाज' उस लक्ष्य को पूरा नहीं कर सकता जिसके लिए इसकी रचना हुई है। ये दोनों विरुद्ध बातें इसी 'व्यक्ति-रचित-समाज' के सिद्धान्त को आधार बनाकर कही जाती हैं।

परन्तु 'समाज' के सम्बन्ध में यह दृष्टि कहाँ तक ठीक है? जो लोग कहते हैं कि 'व्यक्ति' ने 'समाज' की रचना की, उनसे अगर पूछा जाय कि 'व्यक्ति' ने कब 'समाज' की रचना की, क्या कोई ऐसा समय था जब 'समाज' नहीं था, और 'व्यक्ति' था, तो उनके पास क्या उत्तर है? असल में, 'व्यक्ति' तथा 'समाज' अलग-अलग नहीं हैं, ये दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं, जब 'व्यक्ति' था, तब 'समाज' भी था, जब 'समाज' था, तब 'व्यक्ति' भी था, इन दोनों में कोई पहले-पीछे नहीं था, दोनों हर समय एक-साथ थे। ऐसी अवस्था में यह कैसे कहा जा सकता है कि 'व्यक्ति' ने 'समाज' की रचना की?

(ख) 'सामाजिक-अवयवी' का सिद्धान्त
(THEORY OF SOCIAL ORGANISM)

Holism

'समाज' के विषय में दूसरा सिद्धान्त यह है कि 'समाज' एक अवयवी है। 'अवयवी' का अर्थ है, शरीर। ठीक इस तरह जैसे हम सब का प्राणि-शास्त्रीय शरीर हैं, वैसे समाज का भी शरीर है। हमारा शरीर पैदा होता है, जवान और बूढ़ा होता है, मर जाता है, इसी तरह 'समाज' पैदा होता है, जवान होता है, बूढ़ा हो जाता है, और मर जाता है। जैसे शरीर के 'जीवन-कोष्ठ' (Cells) होते हैं, इसी प्रकार 'समाज' के जीवन-कोष्ठ (Cells) 'व्यक्ति' हैं। सभा-समाज-संस्थाएँ भी 'समाज' के 'जीवन-कोष्ठ' (Cells) हैं। कई लोग 'समाज' के मस्तिष्क, फेफड़े तथा अन्य अंगों का वर्णन भी करते हैं। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत'—यह भी तो सामाजिक-शरीर की प्राणि-शास्त्रीय कल्पना है। कई विचारक 'समाज' के शरीर की चर्चा न करके उसके मन की चर्चा करते हैं। विलियम मैक्डूगल (William Mc.Dougall) का कथन है कि 'समाज' का मन होता है, इसे उसन 'सामूहिक-मन' (Group-mind) का नाम दिया है।

जो लोग 'सामाजिक-अवयवी' (Social organism) या 'सामूहिक-मन' (Group-mind) के सिद्धान्त को मानते हैं, वे कहा करते हैं—'एशिया जाग गया', 'भारत तेजी से आगे बढ़ रहा है', 'इंग्लैण्ड बूढ़ा हो गया है', 'टर्की युरोप का बीमार देश है'। ऐसे ही सिद्धान्तों को लेकर हिटलर और मुसोलिनी कहते थे कि 'व्यक्ति' की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, 'व्यक्ति' तो 'समाज' का एक अग है, देश एक जीवित-जागृत वस्तु है, उसके लिए 'व्यक्ति' की आहुति दे देना

लाज़मी बात है। परन्तु 'समाज' के शरीर अथवा मन से क्या अभिप्राय है ? अगर शरीर तथा मन शब्दों का प्रयोग आलंकारिक रूप में है, तब तो किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। अगर शरीर से मतलब मनुष्य-जैसे ज़िन्दा शरीर से नहीं तब दूसरी बात है, परन्तु इस सिद्धान्त को मानने वाले, दिमाग़ी लोगों को, सचमुच का समाज का शरीर मानते हैं, शत्रुओं के साथ लड़ने वालों को समाज की भुजाएँ मानते हैं। अगर मन से मतलब यह हो कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के जो मानसिक लक्षण होते हैं, वे व्यक्तियों के कारण, समूह में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, तब भी किसी को कोई आपत्ति न हो, परन्तु इस सिद्धान्त को मानने वाले तो कहते हैं कि समाज का अपना मन होता है, ऐसा मन जो व्यक्ति के मन से भिन्न, समाज का मन है। जैसे यह सिद्धान्त ग़लत है कि 'व्यक्ति' ने 'समाज' को रचा है, वैसे यह सिद्धान्त भी ग़लत है कि 'समाज' का कोई शरीर या मन होता है। पहला सिद्धान्त 'समाज' को कुछ नहीं, और 'व्यक्ति' को सब-कुछ समझता है, दूसरा सिद्धान्त 'समाज' को सब-कुछ और 'व्यक्ति' को कुछ नहीं समझता। सचाई की दृष्टि से दोनों की बात में आधी-आधी सचाई है।

सचाई यह है कि 'व्यक्ति' की सत्ता 'समाज' के बिना कुछ नहीं, 'समाज' की सत्ता 'व्यक्ति' के बिना कुछ नहीं। 'व्यक्ति' ने 'समाज' को बनाया, यह ग़लत है; यह भी ग़लत है कि 'व्यक्ति' 'समाज' का अंग है, इस प्रकार का अंग जैसे वृक्ष का अंग पत्ता, या शरीर का अंग 'जीवन-कोष्ठ' (Cell) होता है। 'व्यक्ति' तथा 'समाज' की एक-साथ सत्ता है, दोनों की अलग-अलग सत्ता नहीं है। 'समाज' की इकाई 'व्यक्ति' है, और 'व्यक्ति' की दहाई 'समाज' है।

२. 'समाज' तथा 'व्यक्ति' एक-दूसरे पर आश्रित हैं

'समाज' तथा 'व्यक्ति' के विषय में हमने अभी जिन दो सिद्धान्तों का वर्णन किया, ये दोनों ग़लत हैं, ये दोनों एक-दूसरे से अलग-अलग नहीं, एक-दूसरे पर आश्रित हैं। 'समाज' तथा 'व्यक्ति' का घनिष्ठ सम्बन्ध है, दोनों एक-दूसरे के बिना कुछ नहीं। 'व्यक्तियों' से 'समाज' बनता है, और 'समाज' से 'व्यक्ति' बनता है। इन दोनों के एक-दूसरे पर आश्रित होने को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक तो वह अवस्था है जिसमें 'व्यक्ति' को 'समाज' से अलग रख कर हम विचार कर सकते हैं; दूसरी वह अवस्था है जिसमें 'व्यक्ति' को 'समाज' के अन्दर रख कर हम विचार कर सकते हैं। इन दोनों अवस्थाओं को हम क्रमशः 'असमाजीकृत-व्यक्ति' (Unsocialized individual) तथा 'समाजीकृत-व्यक्ति' (Socialized individual) कह सकते हैं। 'असमाजीकृत-व्यक्ति' को समझने के लिए हमें देखना होगा कि समाज के बिना 'व्यक्ति' क्या है; 'समाजीकृत-व्यक्ति' को समझने के लिए हमें देखना होगा कि समाज में रहकर 'व्यक्ति' का 'समाजीकरण' (Socialization) किस प्रकार होता है ?

(क) 'असमाजीकृत-व्यक्ति' (Unsocialized individual)—व्यक्ति को अगर समाज से अलग कर लिया जाय, तो वह क्या रह जाता है ? ऐसी

हालत में माता-पिता से, शिक्षा-संस्था से, समाज से वह जो-कुछ सीखता है, उसमें से वह कुछ नहीं सीखेगा। वह भाषा नहीं बोलेगा, सभ्यता का कोई काम वह नहीं करेगा। उस हालत में प्रकृति से उसे जो-कुछ प्राप्त हुआ है, वह सब-कुछ तो वह कर सकेगा, समाज से वह जो-कुछ सीखता है, वह कुछ नहीं कर सकेगा। प्रकृति से उसे क्या-कुछ मिला है? प्रकृति से उसे वही-कुछ मिला है जिसे वह जन्म से साथ लाता है, सीखता नहीं। प्रकृति से उसे मिला है--'सहज-क्रियाएँ' (Reflexes), 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts), 'स्वभाव' (Temperament) तथा 'क्षमता' (Capacity)।

'सहज-क्रियाएँ' (Reflexes) क्या हैं? साँस लेना, अधिक प्रकाश में आँख के तारे का सिकुड़ जाना, टट्टी-पेशाब आना--ये सब सहज-क्रियाएँ हैं। इन्हें समाज में नहीं सीखा जाता। जो व्यक्ति समाज में नहीं पला होगा, वह पशु की तरह जब और जहाँ टट्टी-पेशाब आया वहीं कर देगा, समाज से सीखने के बाद मनुष्य हर जगह टट्टी-पेशाब नहीं करता। 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' (Instincts) क्या हैं? मैक्डूगल ने १२ 'प्राकृतिक-शक्तियों' का परिगणन किया है--पलायन, युयुत्सा, निवृत्ति, भोग आदि। ये भी जन्म से आती हैं, सीखी नहीं जातीं। सामने ख़तरा देख कर प्राणी चिल्लाता है, भागता है, या लड़ पड़ता है--ये सब जन्मजात 'प्राकृतिक-शक्तियाँ' हैं। मैक्डूगल कहता है कि प्रत्येक 'प्राकृतिक-शक्ति' के साथ कोई-न-कोई 'उद्वेग' (Emotion) जुड़ा रहता है। सामने ख़तरा देख कर जब प्राणी भागता है, तब 'डर' का 'उद्वेग' पैदा हो जाता है, जब बच्चे को देख कर प्राणी उसे पुचकारता है, तब 'प्रेम' का 'उद्वेग' उत्पन्न हो जाता है। 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) तथा 'उद्वेग' (Emotion) एक ही वस्तु के दो पहलू हैं, और ये समाज में रहकर सीखने से नहीं, जन्म से आते हैं। 'स्वभाव' (Temperament) क्या है? कोई प्राणी सुस्त है, कोई तेज़-चालाक, कोई कामुक है, कोई काम-रहित, कोई जन्म से क्रोधी है, कोई ठंडा। ये सब स्वभाव में जन्म से आते हैं। 'क्षमता' (Capacity) क्या है? एक प्राणी जन्म से ही एक काम को कर सकता है, दूसरा नहीं। बन्दर जन्म से ही वृक्ष पर चढ़ सकता है, गाय नहीं चढ़ सकती, गाय का बछड़ा जन्म से ही कान हिला सकता है, आदमी का बच्चा नहीं। यह सब क्षमता कहलाता है।

अगर 'व्यक्ति' को समाज से अलग रखा जाय, तो उसमें जन्मजात बातें तो उत्पन्न हो जाँयगी, समाज के सम्पर्क में आने से जो-कुछ वह बन सकता है, वह कुछ नहीं आयेगा। 'व्यक्ति' समाज में बनता है। 'असमाजीकृत व्यक्तियों' के अनेक दृष्टान्त पाये गये हैं जिनसे उक्त बात की पुष्टि होती है।

(ख) 'असमाजीकृत-व्यक्तियों' अर्थात् जंगली बच्चों के दृष्टान्त (Feral cases)--कई लोगों ने बच्चे को समाज से बिलकुल अलग रख कर यह जानने का प्रयत्न किया है कि 'समाज' के सम्पर्क के बिना 'व्यक्ति' का किस प्रकार का विकास होता है। अकबर ने यह जानने के लिए कि बिना सिखाये मनुष्य कौन-

सी भाषा बोलता है, दस बच्चों को बिलकुल अलग रखकर पाला था, वे ऐं-बें के सिवा कुछ नहीं बोलते थे। ईजिप्ट के बादशाह सैमेटिकस तथा स्काटलैंड के राजा जेम्स चतुर्थ ने भी कुछ ऐसे परीक्षण किये थे। इनके अतिरिक्त समाज-शास्त्र की पुस्तकों में तीन एसे दृष्टान्तों का ज़िक्र आता है, जिनमें 'व्यक्ति' किसी प्रकार 'समाज' के सम्पर्क से अलग पला। इन सब में बिना सिखाये वह कुछ न सीख सका। पहला दृष्टान्त कास्पर हाउसर (Kaspar Hauser) का है। कुछ राजनैतिक कारणों से यह बालक 'समाज' के सम्पर्क से सर्वथा अलग कर दिया गया। १८२८ में वह भटकता-भटकता न्यूरेम्बर्ग आ निकला। वह सीधा खड़ा होकर चल-फिर नहीं सकता था, सत्रह वर्ष का था परन्तु बालक-जैसा उसका दिमाग़ था, एक-दो निरर्थक शब्दों के सिवा कुछ बोल भी नहीं सकता था। वह जड़ पदार्थों को भी चेतन समझता था, उनके साथ चेतन-जैसा ही व्यवहार करता था। दूसरा दृष्टान्त दो हिन्दू बच्चियों का है, जो १९२० में भेड़ियों की गुफ़ा में पायी गयीं। इनमें से एक दो-वर्ष की और दूसरी आठ-वर्ष की थी। छोटी बच्ची तो मर गई, परन्तु बड़ी जिसका नाम कमला (Kamala) रखा गया, १९२९ तक जीवित रही। कमला जब मिली, तब उसमें शक्ल-सूरत को छोड़ कर एक बात भी ऐसी नहीं थी जिससे उसे मनुष्य कहा जा सकता। वह खड़ा होकर चलना नहीं जानती थी, भेड़िये की तरह गुर्राने के सिवा बोल नहीं सकती थी। बहुत-कुछ सिखाने के बाद मरने से पहले वह खड़ा होकर चलना, कपड़ा पहनना, खाना तथा थोड़ा-थोड़ा बोलना सीख सकी। भेड़िये के इस मानवीय-बच्चे में व्यक्तित्व की भावना जो पहले बिलकुल नहीं थी, बहुत धीरे-धीरे प्रकट हुई। तीसरा दृष्टान्त एक अमरीकी नाजायज़ बच्ची का है, जो पैदाइश के छः महीने बाद एक कमरे में छोड़ दी गई, और पाँच वर्ष बाद १९३८ में पायी गई। उसे दूध के सिवा कुछ नहीं दिया गया था, किसी प्रकार की शिक्षा नहीं दी गई थी, मनुष्य के सम्पर्क में वह नहीं आयी थी। इस बच्ची का नाम एना (Anna) रखा गया। जब यह बच्ची मिली तब न चल सकती थी, न बोल सकती थी। एना १९४२ में मर गई, परन्तु छोटी होने के कारण कमला की अपेक्षा 'समाज' के सम्पर्क में आकर अधिक सीख गई।

पिछले दिनों १९५४ में लखनऊ में भेड़िये द्वारा पालित एक बच्चे के किस्से ने दुनिया भर में तहलका मचा दिया था। उसका नाम 'रामू' रखा गया। उत्तर-प्रदेश के राज्य-पाल श्री कन्हैयालाल मुन्शी ने इस 'भेड़िया-बालक' (Wolf-boy) के विषय में जो मनोरंजक लेख समाचार-पत्रों में लिखा उसका कुछ अंश निम्न है :—

"आज से ३००० वर्ष पूर्व रोम में रोमुलुस और रेमस दो भेड़िया-बालक थे। भेड़ियों द्वारा पालित ये बालक जब कुछ बड़े हुए, तो इनमें अदम्य कामवासना जागृत हो उठी, वे लड़-भिड़ कर अपने आनन्द के लिए रोम-कन्याओं का अपहरण करते थे। परन्तु लखनऊ के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसके तो ठाट-बाट ही अलग हैं, यहाँ रामू है—जिसे किसी भेड़िये ने पाला है, जो सम्भवतः

किसी शिकारी दल के हाथ पड़ गया और जिन लोगों ने इसे अनुपयोगी समझ रास्ते में छोड़ दिया, किन्हीं अज्ञात ग्रामीणों के हाथ में यह पड़ गया जिन लोगों ने इसे कम्बल में लपेट कर रेल के डब्बे में लाकर रख दिया और १७ जनवरी १९५४ को एक पुलिस-दल के हाथ लग गया जिसने इसे बलरामपुर के हस्पताल में पहुँचा दिया। अब वहाँ इसकी देखभाल डा० डी० एन० शर्मा कर रहे हैं, इस समय तक इस बालक पर जो-कुछ भी भेड़िये के संस्कार पड़ चुके हैं उन्हें वे हटाने के लिए तुले हुए हैं।

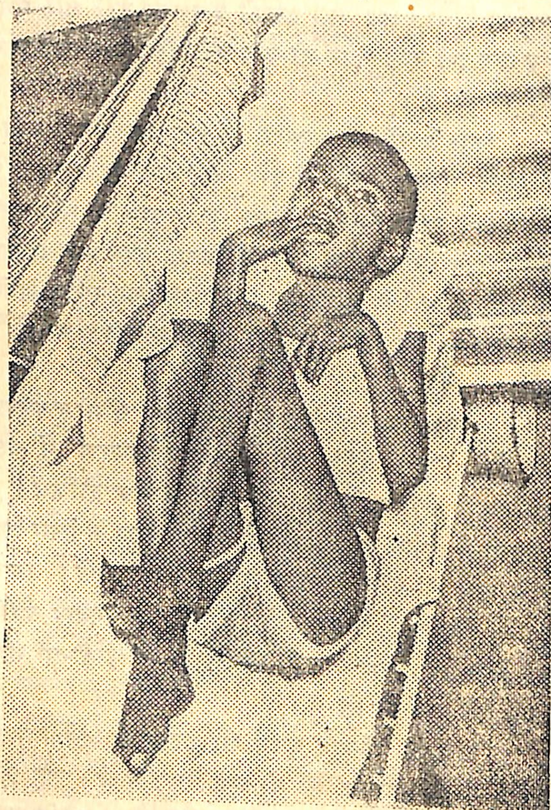
"कुछ दिनों तक लखनऊ में इस समाचार से बड़ी हलचल रही, अब संसार की सभी राजधानियों में इस समाचार से तूफान खड़ा हो गया है कि 'लखनऊ में भेड़िया-बालक मिला है।' हाथ में स्टैथिस्कोप लिये उस स्थान पर डाक्टर लोग पहुँचने लगे; मनोवैज्ञानिक लोग हाथ में काग़ज पेंसिल लिये पहुँचने लगे और भेड़ियों के स्थान पर सारा यश स्वयं लूटने के लिए प्रयत्नशील होने लगे, पर कुछ न कर सके। हमारा भेड़िया-पोषित बालक भेड़िया-बालक ही सिद्ध हुआ।

"समुद्र पार के कोमल हृदय के लोगों में भी हलचल मच गई। कुछ लोगों ने तार भेजे: 'कृपा करके उसे मानवी-वातावरण में मत रखिए। उसे उसके पुराने प्यारे भेड़िया माता-पिता के पास भेज दीजिये।' बहुत दूर के कुछ स्कूलों के बच्चों ने अपनी सद्भावनाओं के साथ रामू के लिए खिलौने भेजे, वे चाहने लगे कि वे रामू का स्नेह के साथ आलिंगन कर सकें। परन्तु वह इन सब बातों से नितान्त बेख़बर है, उसे इसकी रत्ती भर भी परवाह नहीं है। सारा विश्व उसके लिए किस प्रकार चिन्तित हो उठा है इसकी थोड़ी-सी भी चिन्ता उसे नहीं है, और न वह इसे जानता ही है।

"रामू के माँ-बाप बनने की इच्छा से अनेक माता-पिता लखनऊ भागे हुए आये। भेड़िया-बालक भी तो एक सम्पत्ति है। वह एक स्नातक-पुत्र की अपेक्षा शीघ्र धनोपार्जन कर सकता है। किसी भी क्षुधापीड़ित परिवार के लिए वह एक आशा सिद्ध हो सकता है, इस कारण अनेक लोग उसके माता-पिता बन कर आये। कुछ लोगों ने न्यायालय की भी शरण ली, परन्तु भाग्य ने उनका साथ नहीं दिया। वे न्यायालय को यह संतोष नहीं दिला सके कि वह उनका ही लड़का है जो आज अचानक विश्व-विख्यात हो गया है, और वे हार कर लौट गए। अब लाचार होकर डा० शर्मा ही उस भेड़िया-बालक के पिता बन गए हैं।

"जनवरी की समाप्ति पर रामू के हस्पताल में आने के कुछ दिन बाद पहले-पहल मैंने उसे जब देखा तब उसके लम्बे, बिखरे और धूल-मिट्टी से भरे बाल काटे जा चुके थे। उसकी खोपड़ी, कनपटी, माथे तथा दूसरी उभड़ी हुई जगहों पर जो घाव थे, वे तब तक भर चुके थे। उसका शरीर बिलकुल रूखा और दुबला-पतला था, बहुत समय से अन्न न मिलने से जो अवस्था होती है, वह उस पर लक्षित होती थी, और वह पर्याप्त भयभीत-सा दीखता था। प्रकाश में आने से वह घबराता था।

"उसके गाल भीतर धँसे हुए थे, मुँह में तीखे-तीखे दाँत बाहर निकले हुए थे, उसका मुँह सदा खुला रहता था जिससे लार बहती रहती थी। बुलाने या पुचकारने पर भी वह किसी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता था। जब उसका ध्यान खींचने के लिए एक छड़ी उसकी छाती से छुआई गई, तो वह प्रयत्नपूर्वक, बारीक और कमजोर आवाज़ में गुस्से से गुर्राया। या तो वह गूँगा पैदा हुआ था, अथवा मानवी-संगत न मिलने से वह बोलना ही नहीं सीख पाया, तो भी उसकी सुनने की शक्ति बहुत तीव्र और अद्वितीय थी यद्यपि वह कोई भी मानवी-ध्वनि नहीं कर सकता था।



रामू (एक भेड़िया-बालक)

"उसके हाथ पैर पर चमड़ी और हड्डी के अतिरिक्त कुछ नहीं था। नाममात्र को भी मांसपेशियाँ वहाँ नहीं थीं। न तो वह चल सकता था, न खड़ा हो सकता था, यदि कभी वह खड़ा हुआ होगा, और चला भी होगा, तो अब बरसों से इसमें असमर्थ था। अपनी इच्छा से वह अपने हाथ भी नहीं हिला सकता था और शायद हाथ हिलाना जानता भी नहीं था। उसकी हथेलियाँ बच्चों की तरह कोमल थीं परन्तु उसकी उँगलियाँ पंजे के समान थीं और उन्हें वह हमेशा बन्द रखता था। उसका बायाँ हाथ विशेष रूप से इस प्रकार का था और उस पर लम्बे-लम्बे मुड़े हुए नाखून थे। स्पष्टतः यह प्रतीत होता था कि चलने-फिरने के लिए वह अपनी कोहनियों की सहायता से खसकता होगा, क्योंकि उसे किसी छोटी-सी कन्दरा में रहना पड़ा होगा जहाँ वह खड़ा भी नहीं हो पाता होगा।

"जब वह पहले-पहल आया तो जो भी पका हुआ भोजन उसे दिया जाता था वह उसे नहीं लेता था, यदि उसे जबर्दस्ती दिया जाता तो वह फेंक देता या उगल देता था। जब कच्चा मांस लाकर उसे दिया जाता, तो उसकी आँखें चमक उठती

थीं, उसकी नाक फड़कन लगती और नाक से फों-फों करने लगता था। कच्चा मांस चाहे पर्याप्त दूरी पर ही क्यों न रखा हो उसकी गन्ध उसे तत्काल मिल जाती थी और उसे ख़ूब स्वाद से खाता था, पहले वह उसे एक-दो बार चबाता था और फिर एकदम निगल जाता था। अब १४ सप्ताह हस्पताल में बीत जाने पर भी पके हुए भोजन की बजाय वह कच्चा मांस अधिक पसन्द करता है। इस प्रकृति-पुत्र को न किसी कप की आवश्यकता होती है, न गिलास की; वह तो एक ही तरीका जानता है और वह है प्लेट में मुँह डालकर कुत्तों की भाँति पानी लपलप कर पी जाना!

"मल-त्याग आदि के बारे में भी उसे हम लोगों जैसी कोई बाधा न थी; वह पूर्ण रूप से एक पशु था।

"जब मैंने उसे पिछली बार देखा था तब से वह अधिक स्वस्थ था, उसकी हड्डियों पर कुछ मांस भी चढ़ आया था। उसका भार भी बढ़ गया था, परन्तु १४ सप्ताह के बाद भी वह दस साल के लड़के की तरह नहीं दिखाई देता था।

"रामू अब भी किसी मानव-प्राणी को पहचानने में असमर्थ है। और तो और, उसकी धाय बना हुआ व्यक्ति जब उसे पुकारता है, तो वह उसका प्रत्युत्तर तक नहीं देता। परन्तु जब उसके पास अलसेशियन कुत्ता (भेड़िये की तरह का कुत्ता) लाया जाता है, तो उसमें उसकी तत्काल रुचि जागृत हो उठती है, और वह उसे बाँहों में जकड़ कर उससे चिपटने का प्रयत्न करने लगता है। मैं बहुत उत्सुक था कि रामू को चिड़ियाघर में ले जाकर भेड़िये दिखाये जाएँ। मई के आरम्भ में सरदार पणिक्कर, जो उस समय हमारे अतिथि थे, मम्मी, मैं और डाक्टर लोग रामू को लेकर लखनऊ चिड़ियाघर के भेड़िये के पिंजरे के पास ले गये। उसे जब पिंजरे के पास ले गये, तो भीड़ को देखकर भेड़िये पिंजरे के दूसरी ओर चले गये, इससे रामू उन्हें देखने में असमर्थ हो गया।

"बहुत दिक्कत से भेड़िये को प्रेरित करके हमारी ओर लाया गया, परन्तु जब वे हमारी ओर आये तो गोला बना कर भाग खड़े हुए। परन्तु रामू की ज्यों ही उन पर नजर पड़ी तो उसके चेहरे पर एकदम मुस्कराहट दौड़ गई। वह न तो चीख़ा, न चिल्लाया, ना ही उसने अन्य कोई लक्षण प्रकट किए, परन्तु स्पष्टतः वह प्रसन्न दिखाई देता था।

"दुर्भाग्यवश, भेड़िये हम सब से बहुत भयभीत थे, हम सब लोग रामू की कुर्सी के साथ पिंजरे के पास खड़े हुए थे, इसलिए भेड़ियों को कुर्सी के सामने लाना कठिन हो रहा था। अन्त में १५ दिन का एक चीते का बच्चा रामू के पास लाया गया। अचानक ही उसके चेहरे पर रौनक आ गई और प्रयत्न करने लगा कि अपने हाथों में उसे ले ले यद्यपि उसके हाथ काम नहीं कर पा रहे थे। जब वह बच्चा उसके घुटने पर रख दिया गया, तो उसने स्नेहवश उसके चारों ओर अपनी बाँहें डाल दीं और मुस्कराने लगा।

"वस्तुतः, रामू का किस्सा ऐसा था कि उसकी जाँच-पड़ताल का कार्य शॉरलक होम्स जैसे किसी चतुर जासूस को सौंपा जाना चाहिए था। वह ही खोज सकता कि वह भेड़िया-बालक था, मानसिक-दृष्टि से अविकसित बालक था, गूँगा और लंगड़ा था अथवा कोई ऐसा बालक था जिसका जान-बूझकर निर्दयतापूर्वक विकास रोक दिया गया था।

"इसमें तो कोई सन्देह की बात ही नहीं थी कि रामू ने कभी अपने हाथ-पैर का उपयोग नहीं किया, कभी वह बोल नहीं सका, हाथों से पानी पीना नहीं सीख सका, सिवाय लुढ़कने और खिसकने के कभी चलना नहीं सीख सका। उसने कभी पका हुआ भोजन नहीं लिया था, केवल कच्चा मांस ही खाया था। इससे यही स्पष्ट होता है कि उसका पालन-पोषण ऐसे स्थान पर हुआ है जहाँ खड़े होकर चलना असम्भव था और मानव-प्राणी का नामोनिशान नहीं था।

"प्रकाश और मनुष्यों के प्रति उसकी अरुचि, अलसेशियन कुत्ते के प्रति उसका प्रेम, भेड़ियों को देख कर प्रसन्नता प्रकट करना और चीते के बच्चे को देखकर हर्षोन्मत्त हो उठना तथा उससे चिपट जाना यह बतलाता है कि उसका भेड़िया जाति के साथ बहुत सम्पर्क रहा है।

"कुछ भी हो, रामू को देख कर यह नहीं कहा जा सकता है कि वह मानवीय वातावरण में रहा है और मानसिक-दृष्टि से उसकी प्रगति रोक दी गई है। यदि केवल यही बात होती तो वह निश्चित रूप से प्याले से पानी पीने के तरीके से परिचित होता, और कम-से-कम उसके प्रति जो स्नेह और कृपाभाव प्रदर्शित किया जाता है—उसे वह अवश्य हृदयंगम करने में समर्थ होता। चौदह सप्ताह के बाद वह कम-से-कम अपना नाम अवश्य पहचानने लगता; हँसता; अपने परिचारकों को पहचानता और अपने खिलौनों से प्यार करने लगता।

"यह मान्यता कि उसके वात-संस्थान के विकृत हो जाने के कारण वह गूँगा और लंगड़ा हो गया है, उपयुक्त नहीं प्रतीत होती। चिकित्सा-शास्त्र के विशेषज्ञ अभी तक उसमें किसी वातिक-विकार को खोजने में असफल रहे हैं। उसकी घ्राण-शक्ति बहुत तीव्र है; उसकी स्वाद, सुनने की शक्ति और स्पर्श-शक्ति भी बहुत तीव्र है।

"पशु-जगत् के विशेषज्ञों का कहना है कि जंगली पशुओं की तीन ऐसी जातियाँ हैं जो मानव-बालक को मातृ-स्नेह के साथ पाल सकती हैं। वे हैं: अफ्रीका के बैबून, भालू और भेड़िया। यह भी स्मरणीय है कि एक ईसाई पादरी श्री सिंह ने एक भेड़िये की माँद में से दो छोटी लड़कियों 'अमला' और 'कमला' का उद्धार किया था। उनका अध्ययन करने के लिए श्री सिंह ने उन्हें ९ वर्ष तक मिदनापुर के अनाथालय में रखा था। लखनऊ के सिविल सर्जन की भी कुछ वर्ष पूर्व एक और भेड़िया-बालक से भेंट हुई थी।

"जिन लोगों ने भेड़ियों का अध्ययन किया है उन लोगों का कहना है कि यह प्राणी बच्चों का सब प्रकार के मानव-सम्पर्क से दूर रख कर पालन-पोषण कर सकता है, भेड़िया-स्त्री ही बच्चे की क्षुधा निवृत्ति करती है, भेड़ियों का समूह इसे अपना बच्चा मान लेता है, और जब भी समूह खुले में निकलता है, तो बच्चे के चारों ओर एक सुरक्षात्मक किलेबन्दी कर लेता है।

"तो भी एक प्रश्न अवश्य उठता है कि यदि रामू भेड़िया-बालक है, तो उसकी चलने-फिरने की शक्ति कहाँ गायब हो गई? डाक्टर ने मुझे बताया कि वह एक और भेड़िया-बालक के बारे में जानता है कि जो कि घुटनों और कोहनियों के बल पर खूब तेजी से दौड़ सकता था।

"फिर, यदि रामू का पालन-पोषण भेड़िये ने किया है, तो बिना चलने-फिरने की शक्ति के वह अन्न-जल कैसे प्राप्त करता रहा? यह हो सकता है कि उसकी भेड़िया-धात्री उसके लिए छोटे-छोटे मृतक-जन्तु इकट्ठे कर लाती हो, और उसे चबाकर मांस दे देती हो तथा जमीन पर लुढ़कते-खसकते वह पानी तक पहुँच जाता हो। इसका यह भी अभिप्राय होगा कि जब यह बालक भेड़ियों के हाथ लगा होगा तो वह अपने हाथ-पैर चलाने में असमर्थ रहा होगा, और उसकी इस शारीरिक-असमर्थता को देखते हुए उसकी धात्री ने उसका विशेष प्रकार से पालन-पोषण किया होगा।

"यदि ऐसा ही हो, तो मानना होगा कि भेड़ियों द्वारा प्रदर्शित स्नेह और दयाभाव बहुत कम देखने में आता है, और इस प्रकार एक दुर्बल बालक का ऐसे असाधारण पर्यावरणों में बच रहना भी बहुत कम देखने में आता है।

"इस प्रकार भेड़िया-बालक की कथा एक रहस्य है।"



परशुराम (एक अन्य भेड़िया-बालक)

पिछले दिनों १९५६-५७ में एक और भेड़िया-बालक का किस्सा समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ। फ़िरोज़ाबाद के रेलवे स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर डा० विपिन-विहारी को ८ वर्ष का एक

बालक बुरी हालत में मिला। डाक्टर ने उसे फ़िरोज़ाबाद के एक साइकलों के व्यापारी को दे दिया जिसने उसकी छः मास तक देख-भाल की। इस बच्चे को जंजीर से बाँध कर रखा जाता था क्योंकि यह काटने को आता था, कच्चा मांस खाता था। इस बच्चे का नाम 'परशुराम' रखा गया। इसके बाद फ़िरोज़ाबाद के दादमपुर स्थान की एक चमारिन के पास यह बच्चा रहा। उसने भी इसे बाँध कर रखा। इस बीच आगरा के लगभग ८ मील के फ़ासले के जरका नंगला गाँव में यह समाचार पहुँचा, तो उसके माँ-बाप ने आकर इस बच्चे को पहचान लिया। छः साल पहले इसे भेड़िये उठा ले गए थे। वह उन्हीं में रहता था, चार टाँगों की तरह चलता था। कुछ शिकारी जंगल में जा रहे थे, तब उन्होंने भेड़ियों के साथ उसे भी एक जोहड़ में पानी पीते देखा। शिकारियों ने उसका पीछा किया। भेड़िये आगे निकल गए, यह पीछे रह गया। इसे शिकारियों ने पकड़ लिया। जब पकड़ा तब इसके बाल बड़े-बड़े थे, नाख़ून पंजों की तरह हो गए थे, शरीर से अत्यन्त बदबू आती थी। वे ही इसे स्टेशन पर कहीं पटक गए जहाँ से डा० विपिनविहारी को यह मिला। अब इसकी देख-रेख आगरा के सेंट स्टीफ़न्स कालेज के मनोविज्ञान-विभाग के अध्यक्ष प्रो० हकीम कर रहे हैं। इसकी मानसिक आयु दो साल के बच्चे की-सी है, परन्तु यह इसीलिए क्योंकि इसका अभी तक समाज से कोई सम्पर्क नहीं रहा। यह धीरे-धीरे बोलना सीख रहा है, और रोटी को ओटी कहने लगा है।

इन सब दृष्टान्तों से सिद्ध होता है कि मनुष्य में मनुष्यपना तभी विकसित होता है जब वह सामाजिक प्राणी बनता है, जब वह अन्य अनेक मनुष्यों में एक मनुष्य होता है, जब 'व्यक्ति' तथा 'समाज' अपन को अलग-अलग न मानकर, एक इकाई मानते हैं, जब व्यक्ति तथा समाज दोनों की सत्ता एक-साथ होती है, और इन दोनों की एक-साथ सत्ता के साथ-साथ व्यक्ति का 'समाजीकरण' (Socialization) हो रहा होता है।

[समाजीकृत-व्यक्ति—Socialized individual]

(क) 'समाजीकरण' से व्यक्तित्व का निर्माण—(Formation of Individuality through Socialization)—ऊपर के दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि 'व्यक्ति' तथा 'समाज'—इन दोनों की मिलकर इकाई बनती है। 'व्यक्ति' में 'मैं-पना'—'अहं-भाव'—'व्यक्ति-सत्ता' (Individuality or Self)—कैसे उत्पन्न होती है—इसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाय, तो भी यह सिद्ध होता है कि समाज में रहने से ही 'व्यक्तित्व' का निर्माण होता है। बच्चा जब पैदा होता है, तब पहले-पहल उसे जड़-चेतन का ज्ञान भी नहीं होता। माता के स्तन अथवा बोतल की रबड़ से दूध पीना उसके लिए एक-समान है। वह खिलौने से खेलता है, माता की तरफ़ टुकर-टुकर देखता है, परन्तु अपने को, खिलौनों को, माता-पिता को, सब को एक कोटि में रखता है। उसके लिए सब एक हैं—वह स्वयं, सारा जगत्, इस जगत् में जड़-चेतन, माता-पिता, खिलौने—उसके लिए

किसी की स्वतंत्र-सत्ता नहीं है। वह माता-पिता से बात करता है, तो खिलौनों से भी बातें करता है, उन्हें मारता है, पीटता है, पुचकारता है, प्यार करता है। धीरे-धीरे वह देखता है कि माता-पिता उसकी बात का उत्तर देते हैं, खिलौने कोई उत्तर नहीं देते। इस अवस्था में वह 'व्यक्ति' (Person) तथा 'वस्तु' (Thing) का भेद समझ जाता है। परन्तु 'व्यक्ति' में भी वह कैसे समझे कि एक 'व्यक्तित्व' मेरा है, दूसरा 'व्यक्तित्व' दूसरों का है? बच्चा गुड़िया से खेल रहा है। जैसे माता-पिता उसे पुचकारते हैं, वैसे वह गुड़िया को पुचकारता है, जैसे माता-पिता उसे निल्हाते-खिलाते-सुलाते हैं, वैसे वह गुड़िया को निल्हाता, खिलाता, सुलाता है। माता-पिता का पार्ट स्वयं अदा करता है, अपना पार्ट गुड़िया से अदा कराता है। इस प्रकार, अपने से बाहर, गुड़िया में अपने को रख कर, वह देख लेता है कि मेरा 'व्यक्तित्व' माता-पिता के 'व्यक्तित्व' से अलग है, माता-पिता तो मैं बन गया, और मैं यह गुड़िया बन गई, अर्थात् मेरा 'व्यक्तित्व' और माता-पिता का 'व्यक्तित्व'—ये दोनों अलग-अलग हो गये! परन्तु गुड़िया किसी बात का जबाब नहीं देती, कितना ही प्यार करें, प्यार नहीं करती, कितना ही मारें, मारती नहीं। बस, बालक गुड़िया को छोड़ देता है, जो नाटक वह गुड़िया के साथ खेलता था, वही नाटक अब अपने-जैसे बालकों के साथ खेलने लगता है। इस सारे खेल में यह बात ध्यान देने की है कि जैसा पार्ट दूसरे उसके साथ खेलते हैं, वैसा ही वह दूसरों के साथ खेलता है। माता-पिता उसको गाली देते हैं, तो वह दूसरों को गाली देता है, अगर वे उससे प्यार करते हैं, तो वह दूसरों को प्यार करता है। जिस तरह के 'समाज' में उसके 'व्यक्तित्व' का निर्माण हो रहा है, अपने 'व्यक्तित्व' से वह वैसे ही 'समाज' का निर्माण करता जाता है। बड़ा होने पर भी मनुष्य दूसरों के साथ वैसे ही बरतता है, जैसे उसके साथ जीवन भर बरता गया होता है। 'व्यक्ति' वही-कुछ है, जो 'समाज' ने उसे बनाया है, और वह अगले 'समाज' को वही-कुछ बनाता जाता है, जो-कुछ उसका 'व्यक्तित्व' बन चुका होता है। 'व्यक्तित्व'-रूपी भवन के निर्माण की एक-एक ईंट, जहाँ 'व्यक्तित्व' का निर्माण करती है, वहाँ 'व्यक्तित्व' के निर्माण के साथ-साथ 'समाज' का निर्माण करती जाती है। इससे स्पष्ट है कि 'व्यक्तित्व' की उत्पत्ति समाज में रहने से होती है, कास्पर हाउसर (Kaspar Hauser) समाज में नहीं रहा था, वह जड़-चेतन में भेद नहीं कर सकता था। इसी को समाज-शास्त्र की परिभाषा में 'समाजीकरण' (Socialization) कहते हैं। 'व्यक्ति' क्या है? अगर समाज के प्रभाव से उसे अलग रखा जाय, तो वह कुछ नहीं है। समाज ही उसे वह-कुछ बनाता है, जो वह आगे चलकर बन जाता है। 'समाजीकरण' के बिना 'व्यक्ति' का 'व्यक्तित्व' कुछ न होने के बराबर है।

(ख) व्यक्तित्व का विकास (Development of Individuality) —जैसा हमने अभी देखा, 'व्यक्तित्व' का प्रथम निर्माण 'समाज' में होता है। इस

प्रथम 'निर्माण' के बाद, व्यक्तित्व का 'विकास' भी 'समाजीकरण' (Socialization) की प्रक्रिया द्वारा 'समाज' में ही होता है। 'सामाजिक-परम्परा' (Social heritage) तथा 'सांस्कृतिक-परम्परा' (Cultural heritage) के बीच पलकर ही 'व्यक्ति' विकसित होता है। 'व्यक्ति' के लिए 'समाज' सिर्फ़ ऐसे ही नहीं है, जैसे बीज के लिए भूमि, यह उसके लिए इससे बहुत-कुछ बढ़कर है। भूमि तो बीज के उगने के लिए सिर्फ़ पर्यावरण का काम करती है, उसके अन्दर कोई परिवर्त्तन नहीं करती, परन्तु 'समाज' 'व्यक्ति' की आन्तरिक-भावनाओं का, व्यक्ति के आचार-व्यवहार, उसके धार्मिक-विश्वास, वह जो-कुछ है, उस सबका निर्माण करता है। बीज और भूमि अलग-अलग करके दिखाये जा सकते हैं, 'व्यक्ति' तथा 'समाज' अलग-अलग करके नहीं दिखाये जा सकते। 'सामाजिक-परम्परा' (Social heritage) तथा 'सांस्कृतिक-परम्परा' (Cultural heritage) के बिना 'व्यक्तित्व' प्रकट ही नहीं हो सकता, प्रत्येक व्यक्ति 'सामाजिक-परम्परा' का ही बच्चा है। 'व्यक्ति' आदि नहीं है, अन्त भी नहीं है, 'समाज' के अनन्त जीवन की शृंखला में यह एक कड़ी है, इन अनन्त कड़ियों के जुड़ने से 'समाज' बनता है। शृंखला का अस्तित्व कड़ी से अलग नहीं है, और कड़ी शृंखला के बिना बेकार है।

(ग) व्यक्तित्व के विकास की सामाजिक-प्रक्रिया (Social process of the development of Individuality)—हमने देखा कि समाज के बिना 'व्यक्तित्व' का निर्माण नहीं होता। हमने यह भी देखा कि 'व्यक्तित्व' के निर्माण हो जाने पर भी 'व्यक्तित्व का विकास' समाज के बिना नहीं होता। परन्तु 'व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया' क्या है? 'व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया' है—'सहयोग' (Co-operation), 'व्यवस्थान' (Accommodation), 'आत्मसात्-करण' (Assimilation), 'प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता' (Competition) तथा 'संघर्ष' (Conflict)। इन पाँचों का वर्णन हम २५वें अध्याय में विस्तार-पूर्वक कर आये हैं। इन पाँच प्रकार की प्रक्रियाओं में से गुजर कर ही 'व्यक्तित्व का विकास' होता है।

(घ) व्यक्तित्व के विकास के साधन (Means of development of Individuality)—'व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया' जान लेने के बाद अगला प्रश्न यह रह जाता है कि इस विकास के साधन क्या हैं?' 'व्यक्ति' जब 'समाज' में आता है, तब 'संकेत' (Suggestion), 'अनुकरण' (Imitation) तथा 'सहानुभूति' (Sympathy) द्वारा उसका विकास होता है। माता-पिता उसे संकेत देते रहते हैं, ऐसा करो, ऐसा न करो; जो दूसरे करते हैं उसका वह अनुकरण करता रहता है; जिस बात में समाज सहानुभूति दिखलाता है उसे वह करता है, अन्य बातों को नहीं करता—ये साधन हैं जिनसे उसके 'व्यक्तित्व' का दिनोंदिन विकास होता जाता है। 'संकेत', 'अनुकरण' तथा 'सहानुभूति' पर हम विस्तार से ३६वें अध्याय में लिखेंगे।

३. 'समाज' तथा 'व्यक्ति' का समन्वय

हमने देखा कि 'व्यक्ति-रचित-समाज' की कल्पना (Social Contract Theory) 'व्यक्ति' को जरूरत से ज्यादा महत्त्व देती है; 'सामाजिक-शरीर' की कल्पना (Organismic Theory) 'व्यक्ति' को कोई महत्त्व ही नहीं देती, 'समाज' को ही सब-कुछ समझती है। हमने यह भी देखा कि ये दोनों विचार ग़लत हैं, 'व्यक्ति' तथा 'समाज' की सत्ता अलग-अलग नहीं है, 'व्यक्ति' से 'समाज' बनता है और 'समाज' व्यक्ति' को बनाता है, ये दोनों मिलकर एक बनते हैं। अगर 'समाज' की शरीर रूप में कल्पना की जाय, तो सबसे बड़ा प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि 'समाज' का वह अंग कौन-सा है, जिसे 'समाज' के लिए ज्ञान का 'केन्द्रीय-अंग' (Central organ) कहा जा सके। मनुष्य के ज्ञान का केन्द्रीय अंग मस्तिष्क है, 'समाज' का मस्तिष्क कहाँ है ? 'समाज' में भिन्न-भिन्न व्यक्ति तो हैं, वे देखते हैं, सुनते हैं, मस्तिष्क से सोचते हैं, उन्हीं के देखने, सुनने तथा मस्तिष्क को समाज का मस्तिष्क कहा जा सकता है, उनके अलावा समाज की न आँख है, न कान है, न मस्तिष्क है। हमें दुःख हो, दर्द हो, तो दूसरे हमारे दुःख-दर्द में हमारे साथ सहानुभूति तो प्रकट कर सकते हैं, परन्तु जो दर्द हमें अनुभव हो रहा है, वह दुःख-दर्द दूसरों को नहीं हो सकता। हर-एक 'व्यक्ति' अपने दुःख-दर्द को लेकर मानो इकला खड़ा है। मानसिक-अनुभूतियाँ 'एक-सी', (Like) तो हो सकती हैं, 'एक-ही' (Common) नहीं हो सकतीं। 'व्यक्ति' अपने दुःख-दर्द को व्यक्ति रूप में इकला अनुभव करता है, दूसरा उसे वैसे-का-वैसे अनुभव नहीं कर सकता। मन का मन के साथ सम्बन्ध है, परन्तु 'समाज' के सब मन मिलकर, एक अलग मन नहीं बन जाते। ऐसी हालत में 'व्यक्तियों' की तरह एक अलग 'सामाजिक-शरीर की कल्पना' (Organismic Theory) का कुछ अर्थ नहीं रहता। हमें 'समाज' का अगर कुछ ज्ञान है, तो 'व्यक्तियों' के रूप में है, 'व्यक्तियों' के अतिरिक्त 'समाज' की सत्ता कहाँ है, जिसके शरीर की कल्पना की जाय ? परन्तु इसका यह मतलब भी नहीं कि समाज की सत्ता ही कुछ नहीं है। हमने कास्पर हाउसर, कमला, एना तथा रामू के दृष्टान्तों से देखा था कि 'व्यक्ति' जो-कुछ है, 'समाज' के कारण है, 'सामाजिक-विरासत' के कारण है। 'सामाजिक-विरासत' न हो, 'सामाजिक-परम्परा' न हो, तो व्यक्ति जंगली-का-जंगली रह जाता है। अंग्रेज अपनी परम्परा के कारण अंग्रेज है, हिन्दुस्तानी अपनी परम्परा के कारण हिन्दुस्तानी है। 'व्यक्ति' तथा 'समाज' का समन्वय ही असली सचाई है। इस सचाई को न समझने का परिणाम है कि कुछ लोग जो 'व्यक्ति' पर बल देते हैं, कहा करते हैं कि 'व्यक्ति' तथा 'समाज' का पारस्परिक-विरोध है। थॉमस हौब्स (Thomas Hobbes) का कथन था कि 'समाज' सदा 'व्यक्ति' की स्वतन्त्रता को नियन्त्रित करने का प्रयत्न करता है। इसी कारण आज विधान-परिषदों में 'व्यक्ति' की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए आवाज उठा करती है, और शासक-वर्ग की नियम-पर-नियम बनाने की नीति की कड़ी

आलोचना की जाती है। इसके विरोध में जो लोग 'व्यक्ति' पर बल न देकर 'समाज' पर बल देते हैं, उनका कहना है कि 'व्यक्ति' का कोई अधिकार नहीं है, 'समाज' के लिए 'व्यक्ति' का बलिदान देना पड़े तो हिचकना मूर्खता है, हमें 'व्यक्ति' का भला नहीं, 'समाज' का भला देखना है। हिटलर तथा मुसोलिनी आदि इसी कोटि के व्यक्ति थे, वे वैयक्तिक स्वतन्त्रता को मूर्खता समझते थे। ये दोनों दृष्टियाँ एकांगी हैं, इन दोनों का आधार 'व्यक्ति' तथा 'समाज' की स्वतंत्र सत्ता मानने का विचार है, परन्तु जैसा हमने देखा, बीज और भूमि तो अलग-अलग हैं, व्यक्ति तथा समाज अलग-अलग नहीं हैं, व्यक्तियों के मिलने से समाज बनता है, और सामाजिक-परम्परा व्यक्ति का निर्माण करती है, दोनों का विरोध नहीं, समन्वय है।

४. 'समाज' में 'वैयक्तिक-सत्ता' का स्थान

'व्यक्ति' तथा 'समाज' की अलग-अलग सत्ता नहीं है, व्यक्तियों से 'समाज' बनता है, और समाज अपनी परम्परा द्वारा 'व्यक्ति' को बनाता है, इन दोनों की समता है, एकता है, भिन्नता नहीं है। परन्तु 'समाज' तथा 'व्यक्ति' की इस एकता का क्या रूप है? क्या 'व्यक्ति' को 'समाज' में रहते हुए अपनी स्वतंत्र 'वैयक्तिक-सत्ता' (Individuality) रखने का अधिकार है, या नहीं? क्या 'व्यक्ति' को अपनी वैयक्तिक-सत्ता' (Individuality) समाज की सत्ता में मिटा देनी होगी?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए पहले हमें यह देखना होगा कि 'वैयक्तिक-सत्ता' (Individuality) का क्या अर्थ है? 'वैयक्तिक-सत्ता' (Individuality) को तीन दृष्टियों से देखा जा सकता है:—

(क) 'भौतिक वैयक्तिक-सत्ता' (Physical Individuality)—किसी पदार्थ की 'भौतिक वैयक्तिक-सत्ता' तब मानी जाती है जब वह दूसरों से अलग दीखे। टेबल पर चार पुस्तकें रखी हुई हैं, चारों अलग-अलग दीखती हैं, इन चारों की अलग-अलग 'भौतिक वैयक्तिक-सत्ता' है। इस दृष्टि से 'समाज' तथा 'व्यक्ति' की अलग-अलग 'भौतिक वैयक्तिक-सत्ता' नहीं है, क्योंकि व्यक्तियों से अलग समाज की सत्ता हमें कहीं दिखाई नहीं देती। 'व्यक्ति' की तो स्वतंत्र रूप से 'भौतिक-सत्ता' हो सकती है, परन्तु 'समाज' की व्यक्ति से पृथक् 'भौतिक-सत्ता' नहीं कही जा सकती।

(ख) 'प्राणि-शास्त्रीय वैयक्तिक-सत्ता' (Biological Individuality)—जीवन का लक्षण प्रतिक्रिया करना है। जहाँ 'उत्तेजक-पदार्थ' (Stimulus) के सामने होने पर 'प्रतिक्रिया' (Response) होती है, वहाँ जीवन है। परन्तु प्रतिक्रिया तो एक नहीं, अनेक प्रकार की हो सकती है। अनेक प्रतिक्रियाओं में से जो प्रतिक्रिया जीवन के लिए सबसे ज्यादा उपयोगी है, उस प्रतिक्रिया को जो प्राणी करेगा वही जीवन-संग्राम में टिक सकेगा। अनेक सम्भव प्रतिक्रियाओं में से

सब से उपयोगी प्रतिक्रिया को करना, यह सब प्राणियों के अपने-अपने व्यक्तित्व पर निर्भर है। कई प्राणी ऐसी प्रतिक्रिया कर सकते हैं, जो उन्हें मृत्यु के पास ले जाये, कई ऐसी प्रतिक्रिया कर सकते हैं, जो कुछ थोड़े समय के लिए उनकी रक्षा करे, कई ऐसी प्रतिक्रिया कर सकते हैं, जो उनकी पूरी-पूरी रक्षा कर दे। जो प्राणी बहुत थोड़ी प्रतिक्रियाएँ कर सकेगा, उसकी 'प्राणि-शास्त्रीय वैयक्तिक-सत्ता' (Biological Individuality) बहुत थोड़ी विकसित हुई होगी, जो अनेक किन्तु जीवनोपयोगी प्रतिक्रियाएँ कर सकेगा, उसकी 'प्राणिशास्त्रीय वैयक्तिक-सत्ता' अधिक विकसित होगी। इस दृष्टि से 'व्यक्ति' की 'प्राणि-शास्त्रीय वैयक्तिक-सत्ता' (Biological Individuality) तो है, किन्तु 'समाज' का क्योंकि 'व्यक्ति' से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं, उसके अंग-प्रत्यंग नहीं, इसलिए समाज की 'प्राणि-शास्त्रीय वैयक्तिक-सत्ता' भी नहीं मानी जा सकती।

(ग) 'सामाजिक वैयक्तिक-सत्ता' (Sociological Individuality)—एक 'व्यक्ति' की दूसरे 'व्यक्ति' से भिन्न भौतिक-सत्ता है, जब वह 'व्यक्ति' पर्यावरण में 'अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया' करता है, तब उसकी 'प्राणि-शास्त्रीय-सत्ता' उत्पन्न हो जाती है, जब वह 'समाज' में सिर्फ़ दूसरों का अनुकरण या दूसरों के कहे के अनुसार ही नहीं चलता, सिर्फ़ रूढ़ि तथा प्रथा की लकीर ही नहीं पीटता, जिधर नाक में नकेल डालकर उसे चलाया जाय उधर ही नहीं चल पड़ता, परन्तु समाज में रहता हुआ देख-भाल कर, क्या उचित है, क्या अनुचित है, किधर जाने में उसका भला है, किधर जाने में नुकसान है, यह सब-कुछ समझ कर चलता है, जब कोई मनुष्य समाज में सिर्फ़ समाज का सदस्य ही नहीं, कुछ अपनापन भी रखता है, तब उसमें 'समाज-शास्त्र की दृष्टि से वैयक्तिक-सत्ता' (Sociological Individuality) कही जा सकती है। हम अक्सर कहा करते हैं—'अपने को समझो'—'अपने को बिलकुल खो मत दो'—इस कहने का क्या अर्थ है? इसका यही अर्थ होता है कि प्रत्येक 'व्यक्ति' के अन्तरात्मा के विकास की एक दिशा है, उस दिशा में विकास ही उसका अपना-आपा है, उस विकास को पाकर ही वह ठीक अर्थों में विकसित कहा जा सकता है। गीता में 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' कहा है, इसका यही अर्थ है। एक व्यक्ति दार्शनिक है, वह बाजार में तराज़ू लिये बैठा है; दूसरा बनिया-वृत्ति का है, वह कालेज में दर्शन का प्रोफ़ेसर है। यह व्यक्ति के अपने-आप का विकास नहीं है। हर-एक 'व्यक्ति' में उसका अपना बीज है, अपनी भिन्नता है, जब 'व्यक्ति' अपनी भिन्नता को समझ लेता है, उसी के विकास में जुट जाता है, तब अपनी ठीक 'समाज-शास्त्र की दृष्टि की वैयक्तिक-सत्ता' (Sociological Individuality) को पा लेता है। 'व्यक्ति' की तो 'समाज-शास्त्रीय वैयक्तिक-सत्ता' है, 'समाज' की ऐसी-कोई सत्ता नहीं है क्योंकि 'व्यक्ति' के अतिरिक्त समाज कोई वस्तु नहीं है।

जब हम कहते हैं, 'व्यक्तित्व' का 'समाज' में क्या स्थान है, तब हमारा क्या अभिप्राय होता है? 'व्यक्ति' तथा 'व्यक्तित्व' में भेद है। 'व्यक्तित्व'

(Individuality) का अर्थ है वह भेद, वह भिन्नता, जो एक 'व्यक्ति' (Individual) को दूसरे 'व्यक्ति' से पृथक् करती है। दुरखीम (Durkheim) का कथन है कि 'समाज' जितना विकसित होता जाता है, उतना 'व्यक्ति'-'व्यक्ति' में भेद बढ़ता जाता है। आदि-समाज के सब व्यक्ति एक-समान सोचते थे, एक-समान रहते थे, एक-समान रीति-रिवाज के अनुसार चलते थे। ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों 'एकता'-'एक-समानता' (Likeness) के अलावा 'भिन्नता'-'असमानता' (Difference) भी बढ़ती जाती है। 'समाज' का काम 'एकता' को ही अपने अन्दर खपाना नहीं है, 'भिन्नता' को भी अपने भीतर खपाना है। प्राथमिक-समाज के व्यक्तियों में वह भिन्नता, जिसे हमने 'समाज-शास्त्रीय वैयक्तिक-सत्ता' (Sociological Individuality) का नाम दिया है, होती ही नहीं, अतः उस समाज में 'एकता'-'एक-समानता' ही दृष्टि-गोचर होती है, परन्तु विकसित-समाज में 'व्यक्ति' के अन्दर रहने वाली 'भिन्नता' भी प्रकट होने लगती है। इस 'भिन्नता' को पनपने का पूरा-पूरा मौका देना——यही 'समाज' में 'व्यक्तित्व' (Individuality) को विकसित होने का मौका देना कहलाता है।

अगर 'समाज' में 'व्यक्तित्व' को, 'वैयक्तिक-सत्ता' (Individuality) को विकसित होने का मौका नहीं दिया जायगा, तो इसका अर्थ यह होगा कि 'समाज' में 'एक-समानता' (Unity) तो दिखाई देगी, स्वतंत्र 'वैयक्तिक-सत्ता' के आधार पर पनपने वाली 'भिन्नता' (Difference) नहीं दिखाई देगी। उस 'समाज' में सब एक-समान सोचेंगे, विचारेंगे, एक-समान बर्तेंगे, सब को एक पैमाने से मापा जायगा। क्या ऐसी समानता मनुष्य को सन्तोष दे सकती है? नवीनता न हो, तो संसार उन्नति ही नहीं कर सकता, सारा विकास नवीनता का ही दूसरा नाम है, परन्तु नवीनता हो नहीं सकती अगर 'समाज' में 'वैयक्तिक-सत्ता' (Individuality) को स्थान नहीं। कैसी 'वैयक्तिक-सत्ता'? 'भौतिक वैयक्तिक-सत्ता' नहीं, 'प्राणि-शास्त्रीय वैयक्तिक-सत्ता' भी नहीं, जिस 'समाज-शास्त्रीय वैयक्तिक-सत्ता' का हमने ऊपर वर्णन किया, वह 'वैयक्तिक-सत्ता'। 'समाज' के विकास, उसकी उन्नति के लिए 'व्यक्ति' का जहाँ 'एकता' के ताने को कातने का कर्त्तव्य है, वहाँ 'भिन्नता' के बाने को कातने का अधिकार है। व्यक्ति की इस 'एकता' और 'भिन्नता' के ताने-बाने से ही समाज का कपड़ा बुना जा सकता है। मुसोलिनी, हिटलर आदि सिर्फ़ 'एकता' के तत्त्व पर बल देते थे, समाज को एक पैमाने पर, एक साँचे में ढाल देना चाहते थे। रूस भी आज यही कर रहा है। जो देश सैन्यीकरण की दिशा की तरफ़ चल देगा, वह 'एकता' के तत्त्व को ही सब-कुछ कहने लगेगा। उस देश में व्यक्ति-व्यक्ति में कोई भेद नहीं दिखाई देगा। हिटलर के जर्मनी, मुसोलिनी के इटली तथा स्टालिन के रूस के विरोध में अन्य देशों का जन-सत्ता-वाद 'भिन्नता' के तत्त्व पर बल देता है, हर व्यक्ति को एक ही पैमाने में नहीं ढालना चाहता, हर व्यक्ति को अपने विकास में स्वतन्त्रता देता है। जैसा हम देख आये हैं, 'व्यक्ति' के अलावा 'समाज' कुछ नहीं है, परन्तु फिर भी

'समाज' ही 'व्यक्ति' का निर्माण करता है, 'सामाजिक-परम्परा' न हो तो व्यक्ति कुछ नहीं बनता, इसलिए 'व्यक्ति' की भिन्नता तथा 'समाज' की 'एकता' इन दोनों के समन्वय से ही 'व्यक्ति' तथा 'समाज' के संघर्ष को खत्म किया जा सकता है। 'व्यक्ति' अपनी भिन्नता के तत्त्व का विकास करे, परन्तु 'समाज' के 'एकता' के तत्त्व का नाश न करे, 'समाज' एकता के तत्त्व पर जोर दे, परन्तु 'व्यक्ति' के 'भिन्नता' के तत्त्व को समाप्त न कर दे, तभी 'व्यक्ति' तथा 'समाज' की एकतानता, इन दोनों का समन्वय हो सकता है, तब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को रखता हुआ समाज में रह सकता है, नहीं तो 'व्यक्ति' तथा 'समाज' के संघर्ष के बने रहने की सम्भावना है। 'व्यक्ति' तथा 'समाज' की एकता शरीर के अंग-प्रत्यंग की एकता की तरह नहीं है, 'शारीरिक-एकता' (Organic unity) में तो अंग-प्रत्यंग मिल कर शरीर को बनाते ह, उनका शरीर के अतिरिक्त स्वतन्त्र कोई काम नहीं होता; 'व्यक्ति' अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व से 'समाज' को बनाता है, 'समाज' के अतिरिक्त वह विकसित नहीं हो सकता, फिर भी उसकी स्वतंत्र 'समाजशास्त्रीय वैयक्तिक-सत्ता' (Sociological Individuality) होती है। 'व्यक्ति' तथा 'समाज' की एकता मशीन की एकता के समान भी नहीं है। 'यान्त्रिक-एकता' (Mechanical unity) 'शारीरिक-एकता' से भिन्न है, मशीन का एक-एक पुर्जा दूसरे पुर्जों के साथ मिलकर मशीन को चलाता है, शरीर के अंग-प्रत्यंग अलग-अलग भी शरीर का काम चलाते हैं। 'सामाजिक-एकता' (Social unity) शारीरिक तथा मशीन की एकता--इन दोनों से भिन्न है। अंगों के मिलने से शरीर बनता है, पुर्जों के मिलने से मशीन बनती है, व्यक्तियों के मिलने से समाज बनता है, परन्तु अंग और पुर्जे अपना स्वतंत्र 'व्यक्तित्व' नहीं रखते, व्यक्ति का समाज से भिन्न स्वतंत्र 'व्यक्तित्व' है, उस 'व्यक्तित्व' के आधार पर ही 'व्यक्ति' समाज में नवीनता का संचार करता है, उसे विकास के मार्ग पर डाल देता है।

प्रश्न

१. 'व्यक्ति-रचित-समाज' (Social contract) तथा 'सामाजिक-अवयवी' (Social organism) के सिद्धान्त क्या हैं, और उनमें क्या भेद है?
२. 'व्यक्ति' अपने विकास के लिए 'समाज' पर आश्रित है--इस कथन को पुष्ट कीजिये।
३. 'व्यक्तित्व' का विकास कैसे होता है?
४. 'व्यक्ति' तथा 'समाज' के विरोध का समन्वय कैसे होता है?
५. 'समाज' के विकास में 'वैयक्तिक-सत्ता' का क्या स्थान है?
६. 'एकता' तथा 'भिन्नता'--ये दोनों तत्त्व मिलकर 'व्यक्ति' तथा 'समाज' के संघर्ष को दूर कर सकते हैं--इस कथन की व्याख्या कीजिये।

परीक्षा में आये हुए प्रश्न

१. एक व्यक्ति के व्यक्तित्व को समझने के लिए उसके जीवन के पर्यावरणों को समझना क्यों आवश्यक है? (आगरा, १९५१)

३१

सामाजिक-विगठन

(SOCIAL DISORGANISATION)

१. सामाजिक-संगठन[1] क्या है ?

'सामाजिक-संगठन' (Social organisation) तथा 'सामाजिक-विगठन' (Social disorganisation) दोनों सापेक्षिक शब्द हैं। जैसे बीमारी को जानने के लिए स्वास्थ्य को जानना आवश्यक है, वैसे 'विगठन' को जानने के लिए 'संगठन' को जानना आवश्यक है। 'सामाजिक-संगठन' क्या है ? किसी वस्तु को जानने के लिए उसके 'बाह्य' तथा 'आभ्यन्तर' रूप को जान लेने से हम उस वस्तु को जान लेते हैं। 'सामाजिक-संगठन' का बाह्य-रूप 'समाज की रचना' (Structure of Society) है, 'सामाजिक-संगठन' का आभ्यन्तर-रूप 'समाज-की आन्तरिक-प्रक्रिया' (Process of Society) है। इन दोनों को जान लेने से 'सामाजिक-संगठन' का वास्तविक रूप हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है।

(क) सामाजिक-संगठन का बाह्य-रूप--संगठित-समाज' (Organised Society) की 'रचना' (Structure) कैसी होगी ? एक मकान है, जिसकी एक-एक ईंट अपनी जगह लगी हुई है, छत, दीवार, खिड़की, दरवाजे--सब ठीक हैं, ऐसे मकान को संगठित, सुव्यवस्थित मकान कहा जा सकता है। भूचाल आ जाय, तो ईंटें हिल जाँयगी, दरवाजे टूट जायेंगे, फिर वह मकान संगठित, सुव्यवस्थित नहीं कहा जा सकता। एक स्वस्थ मनुष्य है, अंग-अंग अपनी जगह ठीक सज रहा है, हर-एक अंग अपना काम कर रहा है, वह सुसंगठित, सुव्यवस्थित मनुष्य है। रोग आ जाय, अंजर-पंजर ढीले पड़ जाँय, तो शरीर असंगठित, अव्यवस्थित हो जाता है। इसी प्रकार समाज में जब प्रत्येक व्यक्ति, अपनी-अपनी जगह बैठा हुआ है, अपनी स्थिति के अनुसार अपना-अपना काम कर रहा है, किसी को अपनी स्थिति से असन्तोष नहीं, तब समाज सुसंगठित और सुव्यवस्थित है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी 'जगह बैठा', और अपनी-अपनी 'जगह काम कर रहा' है--

---

१. कई हिन्दी-लेखक 'संगठन' के विरोधी तत्त्व 'विगठन' को 'विघटन' लिखते हैं जो अशुद्ध है। 'संगठन' तथा 'विगठन' दोनों 'गठन' से बनते हैं। 'विघटन' शब्द 'घटन' से बनता है, 'घटन' तथा 'घटना' एक ही धातु से बने हैं। 'विघटन' का अर्थ होगा--'घटना' न होना।

इसका क्या अर्थ है ? समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अपना 'स्थान', अपनी 'जगह', अपना 'पद' (Status) होता है---यह सब-कोई जानता है। जब तक उसका समाज में वह 'स्थान', वह 'जगह', वह 'पद' (Status) कायम रहता है, तब तक समाज का संगठन बना रहता है। जब तक बड़ों का बड़ा, छोटों का छोटा, पुरुषों का पुरुषों का-सा, स्त्रियों का स्त्रियों का-सा, लायक आदमियों को लियाकत के मुताबिक, नालायकों को उनके अनुकूल स्थान मिलेगा, तब तक समाज में व्यवस्था, संगठन, शान्ति बनी रहेगी। बड़े स्थान का क्या मतलब है ? बड़े स्थान का यह मतलब है कि जिसका बड़ा 'स्थान' (Status) है, उससे बड़ेपन का ही 'कार्य' (Role) लिया जाय, यह न हो कि बड़ा स्थान हो, और छोटा काम हो। बुजुर्ग बुजुर्गों के तौर से बर्तें, छोटा छोटे के तौर से बर्ते, बुजुर्ग छोटों के तौर से और छोटे बुजुर्गों के तौर से बरतने लगेंगे, तो गड़बड़ मच जायेगी। सामाजिक-संगठन को कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में हर व्यक्ति का 'स्थान' हो, और जैसा 'स्थान' (Status) हो, उसके मेल का ही उसका 'कार्य' (Role) हो। समाज में व्यक्ति के 'स्थान' (Status) तथा 'कार्य' (Role) के समन्वय से समाज संगठित कहलाता है, नहीं तो समाज में अशान्ति और असन्तोष हो जाता है।

(ख) सामाजिक-संगठन का आभ्यन्तर-रूप---समाज की बाह्य-रचना के संगठित रहने के अलावा 'सामाजिक-संगठन' (Social organisation) को बनाये रखने वाली दूसरी चीज 'समाज की आभ्यन्तर-प्रक्रिया' (Process of Society) है। समाज में अधिकांश व्यक्तियों का अधिकांश बातों में एक तरह से सोचना-विचारना 'आभ्यन्तर-प्रक्रिया' कहलाता है। यह प्रक्रिया 'सामाजिक-संगठन' के लिए आवश्यक है। समाज की कई समस्याएँ होती हैं, परन्तु अगर एक व्यक्ति का एक विचार है, दूसरे का दूसरा, तो समाज संगठित कैसे रह सकता है ? जब तक समाज में किन्हीं बातों पर एकमति नहीं होती, तब तक वह किसी बात को क्रिया में कैसे परिणत कर सकता है ? समाज की बाह्य-रचना का रूप व्यक्ति के समाज में 'स्थान' (Status) तथा 'कार्य' (Role) का समन्वय है, परन्तु समाज की यह बाह्य-रचना तभी टिक सकती है, जब उसकी आन्तरिक-रचना में विचारों की एकता हो। समाज की इस आभ्यन्तर-एकता को 'एकमतिता' (Consensus) कहा जाता है। अगर समाज की आभ्यन्तरिक 'एकमतिता' (Consensus) नहीं होगी, तो समाज बाहर से एक दीखता हुआ भी भीतर से टूटा होने के कारण शीघ्र ही बाहर से भी टूट-फूट जायगा, क्योंकि जो-कुछ बाहर है वह भीतर से निकलता है। समाज में परिवार का, व्यक्ति का क्या स्थान है, सम्पत्ति-जायदाद के विषय में हमारे क्या विचार हैं---इन सब बातों के सम्बन्ध में जब सब की एक विचार-धारा होगी तभी समाज संगठित रह सकता है, अन्यथा नहीं।

२. सामाजिक-विगठन का लक्षण

'सामाजिक-विगठन' का स्वरूप क्या है---इस पर विचार करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि 'सामाजिक-विगठन' की परिभाषा क्या है ?

'सामाजिक-विगठन' की भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं जिनमें से कुछ निम्न हैं :--

[क] फ़ेरिस की व्याख्या--"समूह के कुछ माने हुए कार्य हैं। जब व्यक्तियों के आपस के सम्बन्ध इतने टूट जाते हैं कि ये कार्य होने बंद हो जाँय तब जो अवस्था पैदा हो जाती है, उसे 'सामाजिक-विगठन' कहते हैं।"

[ख] इलियट तथा मेरिल की व्याख्या--"सामाजिक-विगठन उस प्रक्रिया को कहते हैं जिससे किसी समूह के सदस्यों के आपसी सम्बन्ध या टूट जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं।"

ये परिभाषाएँ 'सामाजिक-विगठन' की हैं, परन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं, 'संगठन' को जान लेना 'विगठन' को जान लेने के समान है, और 'विगठन' को जान लेना 'संगठन' को जान लेने के समान है। 'सामाजिक-संगठन' के हमने दो भाग किये थे--'बाह्य' तथा 'आभ्यन्तर'। 'बाह्य' को हमने समाज की 'रचना' (Structure) तथा आभ्यन्तर को समाज की 'प्रक्रिया' (Process) कहा था। जैसे हमने 'संगठन' का विश्लेषण करते हुए समाज की 'रचना' तथा 'प्रक्रिया' का अध्ययन किया, वैसे अब हमने यह देखना है कि समाज की 'रचना' (Structure) में 'विगठन' का क्या रूप है, और समाज की 'प्रक्रिया' (Process) में 'विगठन' का क्या रूप है? इन दोनों का हम क्रमशः वर्णन करेंगे।

(क) 'समाज की बाह्य-रचना में विगठन' (Disorganisation in the structure of Society)--हमने देखा कि संगठित समाज में प्रत्येक व्यक्ति की 'निश्चित-स्थिति' (Status) होती है, और उस निश्चित-स्थिति के अनुसार वह 'काम' (Role) करता है। जब समाज में व्यक्ति की 'स्थिति' (Status) और 'काम' (Role) का मेल टूट जाता है, तब समाज असंगठित कहलाता है। 'स्थान' तथा 'काम' में मेल न रहने की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं :--

(i) एक अवस्था तो वह है जब समाज में ऐसी नवीन स्थिति उत्पन्न हो जाय कि व्यक्तियों की समाज में जो निश्चित 'स्थिति' (Status) थी, वह न रहे, और 'स्थिति' न रहने की वजह से उन्हें समझ न पड़े कि समाज रूपी रंग-मंच पर वे किस भूमिका में उतरें, क्या पार्ट अदा करें, क्या 'कार्य' (Role) करें। अगर दुर्भिक्ष पड़ जाय, लोग भूखे मरने लगें, तो एकदम व्यक्ति को नई परिस्थिति का सामना करना पड़ता है, कोई इस परिस्थिति का सामना कर सकता है, कोई नहीं कर सकता। मशीन के आविष्कार से पहले घर ही उद्योग

[क] "Social disorganisation is the disruption of the functional relations among persons to a degree that interferes with the performance of the accepted tasks of the group."—*Faris.*

[ख] "Social disorganisation is the process by which the relationships between members of a group are broken or dissolved."—*Elliot, Mabel and Francis Merrill.*

का केंद्र था, मशीन निकलने के बाद घर के बाहर कल-कारखाने खड़े हो गये। इस नवीन परिस्थिति में गृह-पत्नी की पहली 'स्थिति' (Status) में परिवर्त्तन आ गया। वह घर से बाहर जाने का 'कार्य' (Role) करे, या न करे--यह समस्या उसके सामने खड़ी हो गई। बहुत अधिक व्यक्तियों के शिक्षित हो जाने से आज सैंकड़ों युवकों को समाज में कोई जगह नहीं, कोई स्थान नहीं। जब पर्यावरण व्यक्ति को अपनी पहले की निश्चित-'स्थिति' (Status) से हिला देता है, वह मानो जड़ से उखड़ जाता है, तब समाज में एक ऐसा व्यक्ति पैदा हो जाता है जिसका जीवन असंगठित हो गया। जब ऐसे व्यक्तियों की संख्या समाज में बढ़ जाती है, तब समाज असंगठित हो जाता है।

(ii) दूसरी अवस्था वह है जब व्यक्ति की समाज में ऊँची 'स्थिति' (Status) तो बनी रहती है, परन्तु वह अपनी ऊँची स्थिति के अनुरूप 'कार्य' (Role) या तो स्वयं करना छोड़ देता है, या समाज की अवस्थाओं से बाधित होकर वह काम उससे छूट जाता है। ऐसी अवस्था में समाज तब तक संगठित नहीं होता जब तक 'स्थिति' (Status) नीचे गिर कर 'कार्य' (Role) के स्तर पर नहीं आ जाती, या 'कार्य' (Role) ऊपर उठ कर 'स्थिति' (Status) के स्तर पर नहीं पहुँच जाता। हिन्दू-समाज में ब्राह्मणों की 'स्थिति' ऊँची थी, 'काम' नीचा हो गया, यह अवस्था समाज के 'विगठन' की अवस्था थी। यह 'विगठन' बना रहेगा, जब तक 'स्थिति' तथा 'काम' का समन्वय नहीं हो जायगा। जात-पात के विरुद्ध आन्दोलन इस विगठन को दूर करने का ही एक प्रयत्न है। कर्म नीच होते हुए भी जन्म या नस्ल से किसी को ऊँचा मानना 'सामाजिक-विगठन' के अन्तर्गत है। जिस व्यक्ति को नीच-कर्म के होते हुए भी जन्म के कारण ऊँचा माना जाता है, उसके विरुद्ध समाज में प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है। यह प्रतिक्रिया ही समाज में असन्तोष, बेचैनी, विद्रोह पैदा करती है, और जब तक समाज में यह बेचैनी बनी रहती है तब तक समाज विगठित रहता है। लोगों को यह अक्सर शिकायत है कि कांग्रेस का टिकट देते हुए कहा तो यह जाता है कि सच्चरित्र व्यक्तियों को कांग्रेस का टिकट दिया जायगा, परन्तु जब चुनाव होता है तब अनेक दुश्चरित्र व्यक्तियों को पार्टीबाज़ी के कारण कांग्रेस का टिकट दे दिया जाता है। इससे नीच कर्म के व्यक्ति को ऊँचा स्थान मिल जाता है जिससे जनता में असन्तोष पैदा हो जाता है। कांग्रेस का कभी पतन होगा, तो इसी असन्तोष, इसी सामाजिक-विगठन की प्रक्रिया द्वारा होगा। यह हो सकता है कि किसी समाज में इस प्रकार की स्थिति के प्रति विद्रोह न हो, ऊँची स्थिति के लोग नीच काम करते रहें, नीच स्थिति के लोग ऊँचे काम करते रहें, परन्तु पहलों को ऊँचा और दूसरों को नीचा ही समझा जाता रहे, किसी के हृदय में इस अवस्था के प्रति असन्तोष उत्पन्न ही न हो। हिन्दू-समाज में सदियों तक ऐसा ही होता रहा। अच्छा कर्म होते हुए भी जन्म के कारण किसी को अछूत और व्यभिचारी होते हुए भी जन्म के ब्राह्मण होने के कारण किसी को पूज्य समझा जाता रहा, इस स्थिति के विरुद्ध किसी न आवाज नहीं उठाई।

ऐसी अवस्था में समाज विगठित नहीं, संगठित ही कहा जायगा, यद्यपि यह अवस्था किसी समाज की देर तक नहीं बनी रहती। समाज के विगठित होन के लिए 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) का बेमेलपन होना ही नहीं, परन्तु बेमेलपन को अनुभव करना आवश्यक है। समाज जब 'स्थिति' और 'काम' के बेमेलपन को अनुभव कर लेता है तब इसे दूर करने का प्रयत्न करता है। सामाजिक-संगठन का अर्थ ही 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) की विषमता को दूर कर इन दोनों में समता का स्थापन करना है। जब तक व्यक्ति को समाज में 'स्थिति' (Status) नहीं मिलती, और उस स्थिति के अनुकूल उसे 'कार्य' (Role) नहीं मिलता, तब तक वह व्यक्ति समाज के शरीर में रड़क पैदा करता रहता है, और समाज विगठित रहता है।

(iii) तीसरी अवस्था वह है जब व्यक्ति की समाज में 'स्थिति' (Status) नीची हो, परन्तु उसका 'कार्य' (Role) ऊँचा हो। ऐसी अवस्था तब आती है जब किसी देश में नीच कही जाने वाली जातियों को राजनैतिक-क्षेत्र में विशेषाकार दिया जाता है। आज अपने देश में हरिजन कहे जाने वाले लोगों को योग्यता के आधार पर नहीं, नीची 'स्थिति' के कारण कुछ विशेष अधिकार दिये गये हैं। जब कभी कोई ऐसा व्यक्ति मिनिस्टर बन जाता है, तब ऊँचा 'कार्य' (Role) रहते हुए उसकी समाज में नीची 'स्थिति' (Status) होती है। परन्तु यह अवस्था भी देर तक नहीं रहने पाती। समाज में 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) को एक स्तर पर लाने की प्रक्रिया लगातार होती रहती है, और समय आता है जब 'ऊँचे काम' वाले को 'ऊँची स्थिति' स्वयं मिल जाती है।

समाज में व्यक्ति की उक्त तीनों प्रकार की 'स्थिति' (Status) तथा 'काम' (Role) या तो 'जन्म' से होता है, या 'कर्म' से। व्यक्ति की समाज में जो 'जन्म' से स्थिति होती है उसे समाज में निश्चित किया होता है, उसे 'समाज-प्रदत्त' (Ascribed by society) कहा जाता है, अपने उद्योग से व्यक्ति ने जो स्थिति प्राप्त की होती है, वह 'कर्म-प्राप्त' (Achieved by effort) कही जाती है। समाज में जब तक 'जन्म' तथा 'कर्म' में विषमता रहती है, तब समाज विषम, असंगठित अवस्था में रहता है, जब 'जन्म' तथा 'कर्म' में समता स्थापित हो जाती है, तब समाज समावस्था, संगठित अवस्था में आ जाता है।

(ख) 'समाज की आभ्यन्तर-प्रक्रिया में विगठन' (Disorganisation in the Process of Society)––समाज का बाहर का ढाँचा तो व्यक्ति की समाज में 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) के मेल, इनके समन्वय से बना रहता है, इनके मेल के हट जाने से टूट जाता है; अन्दर का ढाँचा 'एकमतिता' (Consensus) से बना रहता है, 'एकमतिता' (Consensus) के न होने से टूट जाता है। समाज की आभ्यन्तर-प्रक्रिया में जहाँ एक दिशा में सोचने के स्थान में हर व्यक्ति ने भिन्न-भिन्न दिशा में सोचना शुरू किया, वहीं समाज के भवन में तरेड़ आ जाती है, और बिना मरम्मत के इसका टिकना असम्भव हो जाता है।

समाज के आभ्यन्तर में किन कारणों से 'एकमतिता' (Consensus) नष्ट हो जाती है, किन कारणों से विगठन की प्रक्रिया उत्पन्न हो जाती है, उन पर विचार करना आवश्यक है।

३. सामाजिक-विगठन के कुछ अन्य लक्षण

'सामाजिक-विगठन' किसे कहते हैं—इस सिलसिले में हमने दो बातों का अध्ययन किया। वे दो बातें हैं—समाज की बाह्य-रचना में विगठन, अर्थात् 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) का बेमेलपन तथा समाज की आन्तरिक-प्रक्रिया में विगठन, अर्थात् 'एकमतिता' (Consensus) का न होना। सामाजिक-संगठन इन्हीं दो पर आश्रित है, इसलिए 'सामाजिक-विगठन' के भी ये दो ही मुख्य रूप, मुख्य लक्षण हैं। इन दो के अतिरिक्त 'सामाजिक-विगठन' के कुछ अन्य भी लक्षण हैं, जो निम्न हैं:—

(क) एक प्रकार की रूढ़ियों तथा संस्थाओं का दूसरे प्रकार की रूढ़ियों तथा संस्थाओं के साथ संघर्ष—जब समाज में एक प्रकार की रूढ़ियों तथा संस्थाओं का दूसरे प्रकार की रूढ़ियों तथा संस्थाओं के साथ संघर्ष जारी हो जाता है तब समझ लेना चाहिए कि यह लक्षण समाज के विगठन का है। उदाहरणार्थ, पर्दा एक रूढ़ि है, पर्दे को हटाकर खुले मुँह रहना एक दूसरी रूढ़ि है। किसी समाज में पर्दा चलता है, किसी समाज में बेपर्दगी चलती है। जब किसी समाज में पर्दे की रूढ़ि, पर्दे की प्रथा चल रही हो, और वहाँ पर्दा हटाने की बात ही न उठे, तब उस समाज में विगठन नहीं कहा जायगा। परन्तु अगर उस समाज में पर्दा करने के स्थान में पर्दा हटाने के लिए आन्दोलन उठ खड़ा हो, तो पर्दा और बेपर्दा—इन दो रूढ़ियों के संघर्ष के कारण यह लक्षण विगठन का लक्षण कहा जायगा। इसी प्रकार संस्थाओं का एक-दूसरे के साथ संघर्ष उठ खड़ा होता है। परिवार एक संस्था है। स्त्री का काम परिवार में रहकर बच्चों का लालन-पालन करना, रसोई बनाना, पति की सेवा करना—परिवार की संस्था का यह काम रहा है। अब नये विचारों के कारण परिवार में स्त्री के काम के विचार में परिवर्त्तन आता जा रहा है। लोग कहते हैं, स्त्री का काम बच्चे पालना, रसोई की देख-रेख और पति की सेवा नहीं है। स्त्री का काम पुरुष की तरह समाज में जद्दोजहद करके पुरुष की तरह आजीविका का उपार्जन करना है। परिवार का पुराना तरीका चलता रहता, तो कोई विगठन न होता, परन्तु पुराने परिवार और नये परिवार में संघर्ष उत्पन्न हो गया, और इन दोनों का संघर्ष हो जाना समाज के विगठित होने का सूचक है। समाज का विगठन कोई बुरी बात नहीं है। जब विगठन होता है, तब विगठन में से फिर संगठन का निर्माण होता है, इसलिए 'विगठन'-शब्द से घबराने की कोई बात नहीं है।

(ख) एक प्रकार के संगठन द्वारा दूसरे प्रकार के संगठन का कार्य शुरू कर देना—जब समाज में एक प्रकार का संगठन जिसका कोई निश्चित कार्य है, दूसरे प्रकार के संगठन के निश्चित कार्य को उससे छीन कर अपने हाथ में ले लेता

है, तब भी समझना चाहिए कि समाज विगठन की अवस्था में आ गया है। उदाहरणार्थ, ट्रावन्कोर-कोचीन में जब कम्यूनिस्टों ने उपद्रव मचाने शुरू कर दिये, तब वहाँ प्रतिनिधि-शासन स्थगित करके राष्ट्रपति का शासन घोषित कर दिया गया। क्यों ऐसा किया गया? इसलिए क्योंकि वहाँ संगठन टूट गया था, विगठन की अवस्था उत्पन्न हो गई थी। युद्ध के समय अन्न आदि पर राज्य का नियन्त्रण हो जाता है, अनाज आदि की दुकानदारी का रोज़मर्रा का लेन-देन समाप्त कर दिया जाता है। ऐसा क्यों किया जाता है? ऐसा इसलिए किया जाता है क्योंकि समाज विगठित हो चुका होता है, या उसके विगठन की सम्भावना हो जाती है। लोग काला-बाज़ार चलाने लगते हैं। इस सब को रोकने के लिए शासन-सम्बन्धी असाधारण उपाय बरतने पड़ते हैं। जब साधारण अवस्था आ जाती है, तब इन सब असाधारण उपायों को समाप्त कर दिया जाता है क्योंकि तब समाज फिर से असंगठित अवस्था से संगठित अवस्था में आ जाता है।

(ग) सामाजिक-बन्धनों से व्यक्ति का अपने को मुक्त कर लेना——जब व्यक्ति समाज का अपने को अभिन्न अंग समझता है तब तो उसमें तथा समाज में कोई भेद नहीं होता, वह समाज होता है, समाज वह होता है, और इसलिए अपने को समाज के बन्धनों से बाँधता हुआ भी वह अपने को बंधनों से मुक्त, सर्वथा स्वतंत्र समझता है। परन्तु हर-एक व्यक्ति के साथ तो ऐसी अवस्था नहीं होती। कभी-कभी व्यक्ति समाज के साथ एकात्मता नहीं बना सकता, वह समाज के हर बंधन को बंधन समझता है। ऐसी अवस्था में वह समाज के बंधनों को काट गिराना चाहता है। जब किसी समाज में व्यक्ति इस प्रकार समाज के बन्धनों के साथ विद्रोह करने लगते हैं, तब समझना चाहिए कि यह लक्षण भी 'सामाजिक-विगठन' का है।

४. सामाजिक-विगठन के चार कारण

समाज के आभ्यन्तर को जो कारण छिन्न-भिन्न कर देते हैं, 'एकमतिता' (Consensus) नहीं रहने देते, जिनके कारण समाज का अन्तरात्मा विगठित हो जाता है, और क्योंकि अन्तरात्मा विगठित हो जाता है, इसलिए शरीर भी विगठित हो जाता है, वे चार हैं:—

(क) सामाजिक-विगठन का पहला कारण 'सामाजिक-परिवर्त्तन' (Social change)——पहले का समाज सैंकड़ों नहीं, हजारों सालों तक एक-जैसा रहा। जब से युरोप में औद्योगिक-क्रांति हुई है तब से रहन-सहन, आचार-विचार सब में परिवर्त्तन ही नहीं हुआ, जो परिवर्त्तन हजारों सालों में नहीं हुआ, वह देखते-देखते हो गया। मनुष्य का जीवन, अब तक जो रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, रीति-रिवाज, दृष्टिकोण बने हुए थे, उनके आधार पर चल रहा था, अब एकदम नये-नये पर्यावरण उत्पन्न हो गये। इन नये पर्यावरणों के अनुसार प्रथाएँ और रूढ़ियाँ एकदम कैसे बदलें? अगर कोई समाज बदले हुए पर्यावरणों के अनुसार अपनी

प्रथाओं, रूढ़ियों को उठाकर फेंक देता है, और नये ढंग से चलने लगता है, तब तो उसका विगठन नहीं होता, परन्तु ऐसा कब हुआ है? प्रथाएँ और रूढ़ियाँ, जो किसी समय समाज की रक्षा के लिए बनी थीं, अब परिवर्त्तित पर्यावरणों में भी समाज को बांधे रखती हैं, पर्यावरण बदल जाते हैं, प्रथाएँ और रूढ़ियाँ नहीं बदलतीं। लड़कियाँ पढ़-लिख गईं, ऊँची-ऊँची बातें करने लगीं, पर्यावरण कहते हैं कि पढ़ने-लिखने के बाद तो पर्दा मत करो, प्रथा कहती है पर्दा करो, पर्यावरण कहते हैं स्त्री को आर्थिक स्वतन्त्रता दो, प्रथा कहती है उसे घर में बन्द रखो। हम क्योंकि पर्यावरणों के अनुसार अपने विचारों को नहीं बदलते इसलिए समाज विगठन की, बेचैनी की, विषमता की अवस्था में रहता है। हम विचारों को क्यों नहीं बदलते, क्यों रूढ़ि के दास बने रहते हैं, इसका एक कारण है। हमारी संस्कृति के दो रूप हैं—'भौतिक' (Material) तथा 'अभौतिक' (Non-material)। भौतिक-संस्कृति का स्थूल-रूप हमारी 'सभ्यता' है, अभौतिक-संस्कृति का रूप हमारे 'विचार' हैं। 'सभ्यता' की वस्तुएँ हमें दीखती हैं। मोटर है, हवाई-जहाज है, रेलगाड़ी है—ये सब दीखने वाली वस्तुएँ हैं। बैलगाड़ी से मोटर गाड़ी अच्छी है, हल चलाने से ट्रैक्टर चलाना अच्छा है, यह निर्णय करने में हमें देर नहीं लगती। दोनों के परिणाम आँखों के सामने दीखते हैं। परन्तु अभौतिक वस्तुओं में, विचार के क्षेत्र में हमें यह नहीं दीखता कि यह विचार दूसरे विचार से अच्छा है। विचार तो दीखने वाली वस्तु ही नहीं है। हम कैसे मान लें कि जिस विचार को हमारे बाप-दादा, सैंकड़ों-हजारों सालों से मानते चले आये, वह आज के नूतन विचार से किसी प्रकार भी निकृष्ट है। इसलिए भौतिक-पर्यावरण के परिवर्त्तन को, बैल-गाड़ी की जगह मोटर के प्रयोग को हम बर्दाश्त कर लेते हैं, विचारों के परिवर्त्तन को हम बर्दाश्त नहीं कर सकते। परन्तु कई ऐसे परिवर्त्तन हैं जिनको भौतिक-क्षेत्र में अगर हम मान जाते हैं, तो उनसे सम्बन्ध रखने वाले अभौतिक-क्षेत्र के विचारों को मानना हमारे लिए लाजमी हो जाता है। परन्तु विचार के क्षेत्र में परिवर्त्तन के लिए मनुष्य आसानी से तैयार नहीं होता। परिणाम यह होता है कि भौतिक-क्षेत्र में जिस बात को हम मान रहे होते हैं, उससे सम्बद्ध बात को, अभौतिक, अर्थात् विचार के क्षेत्र में नहीं मान रहे हाते। तभी कोट-पतलून पहनने वाले भी बिल्ली रास्ता काट जाय, तो सोच में पड़ जाते हैं। भौतिक-क्षेत्र में हम आगे निकल गये होते हैं, अभौतिक-क्षेत्र में पीछे पड़े हाते हैं। इसी अवस्था का नाम हमने १२वें अध्याय में 'संस्कृति के एक भाग का पछड़ जाना' या 'सांस्कृतिक-विलम्बना' (Cultural lag) कहा था। आज दूरी लगभग खत्म हा चुकी है। दूर-दूर के देशों की सीमाएँ मिलने लगी हैं। संसार के देश मानो हथेली पर आ बैठे हैं। यह भौतिक-संस्कृति का परिणाम है। इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होना चाहिए कि संसार के देश अपनी-अपनी कौम, जाति, नस्ल का अभिमान छोड़ दें, मनुष्य-मात्र को एक समझने लगें। दूरी दूर होने से ही तो एकता होती है। परन्तु फिर भी एक देश दूसरे

देश से जो दूर होता जा रहा है वह इसीलिए तो है क्योंकि हम बदलते हुए पर्यावरणों में भी अपने विचारों के बदलने के लिए तैयार नहीं हैं। यह अवस्था सामाजिक-विगठन की अवस्था है।

(ख) सामाजिक-विगठन का दूसरा कारण 'सामाजिक-धारणाएँ' (Social attitudes)——अभी हमने परिवर्त्तन का वर्णन किया। परिवर्त्तन के कारण पर्यावरण आगे निकल जाते हैं, मनुष्य का विचार पीछे रह जाता है। परिवर्त्तित पर्यावरणों के साथ वह पुराने विचारों का मेल नहीं कर सकता। यह अवस्था 'सामाजिक-विगठन' को जन्म देती है। यह विगठन की अवस्था परिवर्त्तन के कारण तो पैदा होती है, परन्तु पैदा अपने-आप हो जाती है। समाज में हर-क्षण जो लगातार यान्त्रिक तथा आर्थिक परिवर्त्तन हो रहे हैं, उनका यह स्वाभाविक परिणाम है। कभी-कभी 'विगठन' की अवस्था स्वयं नहीं पैदा होती, समाज उत्पन्न करता है। एक रूसी बच्चे को पाठशाला में शिक्षा देते हुए पूँजीवाद के विरुद्ध भर दिया जाता है। वह पूँजीवाद के विरुद्ध दूसरी बात सोच ही नहीं सकता। अमरीका में सामाजिक-परंपरा द्वारा प्रत्येक व्यक्ति नीग्रो के विरुद्ध ही सोचता है। भारत में ब्राह्मण के प्रति श्रद्धा की भावना बच्चा-बच्चा यहाँ के वायु-मंडल से सीखता है। मन की ये अवस्थाएँ जो मनुष्य को एक खास दिशा में चलने के लिए मानो बाधित कर देती हैं, उसे उधर चाहे-अनचाहे खेंचती हैं, मनुष्य की 'धारणाएँ' (Attitudes) हैं। 'धारणाएँ' अगर पुरानी 'धारणाओं' के अनुकूल हैं, तब तो ठीक, नहीं तो नवीन धारणाएँ पुरानी धारणाओं से टकराती रहती हैं। कभी-कभी मनुष्य ऐसे समूह में जन्म लेता है, या पर्यावरणों के कारण पड़ जाता है, जिसकी धारणाएँ प्रचलित सामाजिक-धारणाओं से उल्टी होती हैं। चोरों, लुटेरों, डाकुओं के बच्चों की धारणाएँ उन्हें समाज-विरोधी कामों के लिए प्रवृत्त करती हैं, उनकी ऐसी धारणाएँ बन जाती हैं, जो समाज के अधिकांश व्यक्तियों की धारणाओं के विरुद्ध होती हैं। कई बच्चों को जन्म से ही कटु अनुभव होने लगते हैं, माता-पिता उन्हें मारते-पीटते हैं, गाली देते हैं। जुल्मों के बीच और लाड़-प्यार के बीच पले बालक की धारणाएँ अलग-अलग हो जाती हैं। जिसकी जैसी धारणाएँ बन जाती हैं, वह उन धारणाओं को लेकर हो समाज में व्यवहार करता है। कोमल धारणाओं का व्यक्ति संसार में कोमलता बहाता है, कठोर धारणाओं का व्यक्ति हर-एक व्यक्ति पर तनी आँखों से देखता है। प्रेम की धारणाएँ समाज में 'संगठन' पैदा करती हैं, द्वेष की, कठोरता की, तनातनी की धारणाएँ समाज को 'विगठित' कर देती हैं।

(ग) सामाजिक-विगठन का तीसरा कारण 'सामाजिक-मूल्य' (Social values)——'धारणा' (Attitude) से 'मूल्य' (value) पैदा होता है। 'धारणा' शून्य के प्रति तो नहीं होती, किसी वस्तु, किसी पदार्थ या किसी विचार के प्रति होती है। अगर किसी वस्तु या विचार के प्रति यह 'धारणा' हो गई कि वह आवश्यक है, तो उसका 'मूल्य' उत्पन्न हो गया, अगर यह धारणा हो गई कि वह

अनावश्यक है, तो उसका 'मूल्य' कुछ न रहा। समाज जिस चीज़ को मूल्यवान् समझ लेता है, उसकी जी-जान से रक्षा करता है। जिस चीज़ के प्रति हमारी अनुकूल धारणा है उसका सामाजिक-मूल्य बढ़ा-चढ़ा है, जिसके प्रति प्रतिकूल धारणा है उसका सामाजिक-मूल्य कुछ नहीं है। सामाजिक-मूल्य की वस्तु जहाँ हाथ से जाती दीखती हो, वहाँ समाज उद्विग्न हो उठता है। विवाह के प्रति समाज की अनुकूल धारणा है, अतः समाज की दृष्टि में इसका मूल्य है। तलाक से विवाह टूटता नज़र आता है, अतः तलाक का विचार हमारी ऐसी संस्था पर आक्रमण करता है जो हमारे लिए मूल्यवान् है। परन्तु विवाह में पति-पत्नी के आपस में बेमेलपन का क्या इलाज है ? इस बेमेलपन के कारण तलाक का विचार उत्पन्न हुआ, इसलिए इस विचार के प्रति भी समाज के कुछ लोगों की अनुकूल धारणा बन गई, तो इस विचार का भी कुछ मूल्य उत्पन्न हो गया। विवाह तथा तलाक इन परस्पर-विरोधी विचारों का मूल्य पड़ जाने के कारण दोनों मूल्यों में संघर्ष उत्पन्न हो गया। कोई विवाह के मूल्य को बढ़ा-चढ़ा कर कहने लगा, कोई तलाक के मूल्य को बढ़ा-चढ़ा कर कहने लगा। जब तक तलाक के प्रति सब की विरोधी धारणा थी, तब तक तलाक के विचार का कोई मूल्य न था, और संघर्ष की यह प्रक्रिया भी उत्पन्न नहीं हुई थी। एक वस्तु या विचार के प्रति एक धारणा का बना रहना 'संगठन' को पैदा करता है, दो धारणाओं का उत्पन्न हो जाना 'विगठन' को उत्पन्न कर देता है, क्योंकि दो धारणाओं से समाज की 'एकमतिता' (Consensus) टूट जाती है, 'बहुमतिता' उत्पन्न हो जाती है। वर्त्तमान-समाज में किसी बात में 'एकमतिता' नहीं है, किसी बात में हम सब की एक-सी धारणाएँ नहीं हैं, इसलिए किसी बात का एक-सा मूल्य नहीं है। यही कारण है कि आज का समाज प्रगतिशील तो है, परन्तु अत्यन्त विगठित है। आज के समाज में धर्म, अर्थशास्त्र, राजनीति, स्त्री की समाज में स्थिति, यौन-सम्बन्ध---सब बातों में नई-नई धारणाएँ उत्पन्न हो रही हैं, अतः नये-नये मूल्य बन रहे हैं---और इसी लिए 'विगठन' बढ़ता चला जा रहा है।

'सामाजिक-मूल्यों' (Social values) का सामाजिक-विगठन पर कैसे प्रभाव पड़ता है ? प्रत्येक समाज के अपने कुछ 'सामाजिक-मूल्य' बने हुए होते हैं। इनके विषय में हम यह नहीं सोचते कि ये अच्छे हैं या बुरे हैं, सही हैं या ग़लत हैं। ये जो-कुछ हैं, उसी क माप से हम अपने व्यवहार को ठीक या ग़लत कहते हैं। इन 'सामाजिक-मूल्यों' में परिवर्त्तन नहीं होता, परन्तु क्या मनुष्य के पर्यावरणों में भी परिवर्त्तन नहीं होता ? पर्यावरण बदलते रहते हैं, उनके अनुसार मनुष्य का 'कार्य' (Role) भी बदलता रहता है, परन्तु 'सामाजिक-मूल्य' तो नहीं बदला। पर्यावरण बदल गये, उन के अनुसार हमारा 'कार्य' (Role) बदल गया, परन्तु 'सामाजिक-मूल्य' नहीं बदला---इसका क्या परिणाम होता है ? इसका परिणाम यह होता है कि बदली हुई अवस्थाओं में किसी बात के सम्बन्ध में जो 'स्थिति' (Status) होनी चाहिए, उसे स्वीकार करने के लिए हम

तैयार नहीं होते। उदाहरणार्थ, स्त्री का वर्त्तमान-युग में 'कार्य' (Role) बदल गया। कल-कारख़ानों के कारण वह घर पर काम करने के स्थान में फ़ैक्टरी में काम करने लगी। 'कार्य' (Role) बदल गया, तो स्त्री की 'स्थिति' (Status) भी बदल जानी चाहिए, वह पैसा पैदा करके घर लाती है, इसलिए उसकी पराश्रिता की 'स्थिति' (Status) भी नहीं रहनी चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। 'कार्य' (Role) बदल जाने पर भी उसकी 'स्थिति' (Status) पहले की-सी पराश्रित बनी रहती है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि 'स्थिति' (Status) का निर्धारण होना तो 'कार्य' (Role) से चाहिए, परन्तु 'कार्य' (Role) से न होकर 'सामाजिक-मूल्य' (Social value) से होता है। 'सामाजिक-मूल्य' किसे कहते हैं? समाज ने सदियों से जो रीति-रिवाज, प्रथाएँ, धारणाएँ, परिणाम बना रखे हैं, वे समाज के लिए असंदिग्ध-निर्णय बन चुके हैं, उनके विषय में समाज किसी प्रकार का विवाद खड़ा ही नहीं होने देता। इन निर्णयों के अनुसार स्त्री की समाज में पराश्रित 'स्थिति' (Status) निश्चित हो चुकी है। अब नवीन-पर्यावरणों के अनुसार स्त्री नया 'कार्य' (Role) करने लगी है, नये 'कार्य' के अनुसार उसे नयी 'स्थिति' मिलनी चाहिए, परन्तु हमारे पुराने 'सामाजिक-मूल्य' (Social values) कहते हैं—'नहीं मिलेगी'। स्त्री का 'कार्य' कहता है, मिलनी चाहिए, 'सामाजिक-मूल्य' कहते हैं, नहीं मिलनी चाहिए—यह सारे झगड़े की जड़ है। 'सामाजिक-मूल्य' जल्दी-जल्दी नहीं बदलते, ये तो वे 'प्रतिमान' (Patterns) हैं जिनके अनुसार हम अपने प्रत्येक व्यवहार को मापते हैं, जो बात इनके माप से ठीक उतरे वह ठीक, जो ठीक न उतरे, वह ग़लत। ये ही स्त्री की 'स्थिति' (Status) का निर्धारण कर रहे हैं, ऐसी अवस्था में जब तक ये 'प्रतिमान' (Patterns), ये 'सामाजिक-मूल्य' नहीं बदलते, तब तक स्त्री की 'स्थिति' (Status) 'नया कार्य' (New Role) करने पर भी डाँवाडोल है, और समाज विगठित है। वर्त्तमान समाज के विगठित होने का सबसे बड़ा कारण यह है कि नवीन-युग की माँग के अनुसार हर-एक वस्तु का 'कार्य' (Role) तो रेल-गाड़ी की रफ़्तार से बदल रहा है, इसके अनुसार उसकी 'स्थिति' (Status) भी बदल जानी चाहिए, परन्तु हमारे 'सांस्कृतिक-प्रतिमान' (Cultural patterns), हमारे 'सामाजिक-मूल्य' (Social values) किसी प्रकार की 'स्थिति' (Status) में परिवर्त्तन नहीं आने देते। जो बात सदियों से जैसी चली आ रही है वह वैसी ही रहेगी, उसकी स्थिति में बाल के बराबर भी परिवर्त्तन नहीं आयेगा। समाज-सुधारक का काम 'सांस्कृतिक-प्रतिमानों' (Cultural patterns) को, 'सामाजिक-मूल्यों' (Social values) को ललकारना है, उन्हें ढीला करना है, उन्हें बदल देना है ताकि हर वस्तु का जो वर्त्तमान स्वरूप है उसके अनुसार ही उसकी स्थिति को मान लिया जाय। पर्यावरण जो स्थिति उत्पन्न कर रहे हैं, उसके अनुसार जब हमारे 'सांस्कृतिक-प्रतिमान' (Cultural patterns) और 'सामाजिक-

मूल्य' (Social values) बदल जायेंगे, तब 'कार्य' (Role) के अनुसार 'स्थिति' (Status) उत्पन्न हो जायगी, और तब सामाजिक-विगठन अपने-आप मिट जायगा। जो बात हमने स्त्री की 'स्थिति' (Status) के सम्बन्ध में कही है, वही अन्य बातों पर लागू है। हमारा 'स्थिति' से अभिप्राय पुरुष या स्त्री की 'स्थिति' से नहीं है। समाज में जो-कुछ है, हम जो-कुछ मानते हैं, जो बातें चल रही हैं, पुरुष की स्थिति, स्त्री की स्थिति, शिक्षा-सम्बन्धी हमारी धारणाएँ, धार्मिक-विचार, आर्थिक-विचार—इन सब की 'स्थिति' (Status) आज के नये पर्यावरण में, नये-नये परिवर्त्तनों में बदल जानी चाहिए, परन्तु पुराने 'सामाजिक-मूल्य' (Social values) और 'सांस्कृतिक-प्रतिमान' (Cultural patterns) इनमें से किसी को बदलने नहीं दे रहे। परिणाम यह हो रहा है कि हर-एक वस्तु जिस स्थान पर होनी चाहिए वहाँ से हिल गई है, स्थान-भ्रष्ट हो गई है, अपना ठीक-ठीक स्थान ढूँढ रही है, हर-एक वस्तु और हर-एक विचार डाँवाडोल हो रहा है, और इसी लिए अब सीधा हमला 'सामाजिक-मूल्यों' (Social values) पर होने लगा है, लोगों को समझ आ रहा है कि जब तक इन मूल्यों की जगह दूसरे मूल्य नहीं आ बैठते, तब तक समाज की हर बात अनिश्चित अवस्था में रहेगी। 'सामाजिक-मूल्यों' की इस लड़ाई में जिन विचारों में आन्तरिक बल होगा वे टिकेंगे, दूसरे देर-अवेर में, मैदान छोड़ देंगे।

(घ) सामाजिक-विगठन का चौथा कारण 'सामाजिक-संकट' (Crisis)—जब कभी समाज में एक बिलकुल नवीन पर्यावरण उत्पन्न हो जाता है तब व्यक्ति या समूह उस पर्यावरण का मुकाबिला नहीं कर सकते। उस समय समाज के सामने संकट उपस्थित हो जाता है, और समाज विगठित हो जाता है। संकट दो प्रकार का हो सकता है—'आकस्मिक' (Precipitate) तथा 'क्रमिक' (Cumulative)। 'आकस्मिक-संकट' भारत के विभाजन के समय, महात्मा गांधी की अकस्मात् मृत्यु के समय, बिहार तथा क्वेटा के भूचाल के समय, बंगाल के दुर्भिक्ष के समय, पीपल्स बैंक के फ़ेल होने के समय, विश्व-युद्ध के समय आया था। जब अप्रत्याशित अवस्था सामने आ खड़ी हो, समझ न पड़े क्या करें, क्या न करें, एकदम सैंकड़ों, हजारों व्यक्तियों की 'स्थिति' (Status) तथा 'काम' (Role) का मेल एकदम टूट जाय, तब आकस्मिक संकट होता है। इसमें समाज एकदम 'विगठित' हो जाता है। कभी-कभी संकट धीरे-धीरे बढ़ता है, यह संकट की क्रमिक-अवस्था है। राजपूताना का रेगिस्तान धीरे-धीरे बढ़ रहा है, परन्तु इससे दिल्ली के आस-पास गर्मी बढ़ रही है, बारिश कम होने लगी है। इन संकटों का जो समाज सामना कर लेगा वह संगठित, और जो नहीं कर सकेगा वह विगठित कहलायेगा। युरोप में औद्योगिक-क्रांति के बाद से आर्थिक-संगठन बदलने लगा। परिवार धीरे-धीरे टूटने लगा, स्त्री भी पुरुष के साथ मजदूरी करने लगी, होते-होते पूँजीवाद उत्पन्न हुआ, पूँजीवाद से मजदूरों के संघ बने, अब हड़तालें होती हैं, कारख़ानों में क्रोध भड़क उठने पर आग लगा दी जाती है।

ये सब संकट उद्योगीकरण और यन्त्रीकरण के कारण हैं, परन्तु धीरे-धीरे बरसों में प्रकट हुए हैं। ये सब समाज को विगठित कर रहे हैं।

५: सामाजिक-विगठन के परिणाम

आदि-समाज की अवस्था में 'सामाजिक-विगठन' नहीं होता, ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों 'सामाजिक-विगठन' बढ़ता जाता है। समाज की आदि-अवस्था 'स्थिर-अवस्था' (Static) है, वर्त्तमान-अवस्था 'गति-शील' (Dynamic) अवस्था है। स्थिरता में भिन्नता नहीं होती, गति में भिन्नता होती है। आदि-अवस्था 'संगठित' (Integrated) थी, वर्त्तमान-अवस्था 'असंगठित' (Disintegrated) है, आदि-अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की 'स्थिति तथा काम' (Status and role) निश्चित था, वर्त्तमान-अवस्था में अनिश्चित हो गया है, आदि-अवस्था 'जन्म' पर आश्रित थी, वर्त्तमान-अवस्था 'कर्म' पर आश्रित है, किसी को कुछ नहीं सूझता वह क्या करे, क्या न करे, उसकी समाज में क्या 'स्थिति' है, इस सब का परिणाम यह है कि आदि-अवस्था में 'विगठन' (Disorganisation) नहीं था, वर्त्तमान-अवस्था में दिनोंदिन 'विगठन' बढ़ रहा है, आदि-अवस्था में 'एकमतिता' (Consensus) थी, वर्त्तमान अवस्था में 'बहुमतिता' बढ़ रही है, और इन सब के बढ़ने के साथ-साथ बेकारी, बीमारी, अपराध, ग़रीबी, व्यभिचार, शराबख़ोरी, दुराचार, अत्याचार——न जाने क्या-क्या बढ़ रहा है। हम इनमें से कुछ एक का वर्णन अगले अध्यायों में करेंगे, परन्तु इसका यह मतलब नहीं समझना चाहिए कि ये सब बढ़ते ही रहेंगे। समाज की प्रक्रिया तब तक सन्तोष से नहीं बैठती जब तक 'विगठन' की प्रक्रिया फिर से 'संगठन' की तरफ़ नहीं चल देती। बीमारी आरोग्यता प्राप्त करने की तरफ़ ध्यान खेंचती है, विगठन संगठन की आवश्यकता को उग्र कर देता है।

६. सामाजिक-विगठन के माप-दंड
(Indices of Social Disorganisation)

सामाजिक-विगठन के कई रूप हो सकते हैं। ये रूप हैं——वैयक्तिक-विगठन, पारिवारिक-विगठन, सामुदायिक-विगठन, राष्ट्रीय-विगठन, अन्त-र्राष्ट्रीय-विगठन। वैयक्तिक-विगठन का अर्थ है व्यक्ति का सामाजिक माप-दंडों के प्रतिकूल चलना। समाज के मापदंड हैं——चोरी न करना, दूसरे की बहु-बेटी की इज्जत करना, आदि। अगर व्यक्ति इन माप-दंडों का उल्लंघन करता है तो समाज में वैयक्तिक-विगठन हो रहा है। पारिवारिक-विगठन का अर्थ है परिवार में शान्ति न होना, विवाह का भंग होना, बच्चों का माता-पिता की आज्ञा का न पालना। अगर परिवार में पति-पत्नी में खिचाव रहे, रोज जूतम-पैजार हो, बच्चे माँ-बाप की न मानें, तो समाज में पारिवारिक-विगठन हो रहा है। सामुदायिक-विगठन का अर्थ है डाकुओं के गिरोहों का उठ खड़ा होना,

बेकार लोगों का बढ़ जाना, एक समुदाय का दूसरे समुदाय से लड़ भिड़ना। राष्ट्रीय-विगठन का अर्थ है कि एक ही राष्ट्र में दो परस्पर-विरोधी राष्ट्रीय दलों का बन जाना। अन्तर्राष्ट्रीय-विगठन का अर्थ है अन्तर्राष्ट्रीय-क्षेत्र में युद्धों की शुरूआत, साम्राज्यवाद आदि का बोलबाला।

ये सब विगठन हैं, परन्तु ये विगठन किस हद तक किसी समाज में हैं—इसे मापने का प्रयत्न सामाजिक-विगठन के माप-दंडों द्वारा किया जाता है। यह माना कि किसी समाज में वैयक्तिक-विगठन बढ़ गया है, परन्तु प्रश्न है कि वह विगठन किस हद तक बढ़ा है? यह माना कि किसी समाज में पारिवारिक-विगठन बढ़ गया है, परन्तु प्रश्न है कि वह विगठन किस हद तक बढ़ा है? यह माना कि किसी समाज में सामूहिक विगठन, राष्ट्रीय-विगठन बढ़ गया है, परन्तु प्रश्न है कि वह विगठन किस हद तक बढ़ा है?

विगठन की हद को संख्याओं द्वारा मापने को विगठन के माप-दंड, विगठन की 'सांख्यिकी' (Statistics) कहते हैं। उदाहरणार्थ, हमारे समाज में किस हद तक वैयक्तिक-विगठन बढ़ रहा है—इसे संख्याओं द्वारा मापा जा सकता है। १९४१ में अपने देश में १५ वर्ष से कम आयु के ४२५ बालक अपराधों के लिए जेलों में भेजे गये, १९४२ में ५००, १९४३ में ३२७, १९४४ में ३६७, १९४५ में २४२ तथा १९४६ में १५२। इन संख्याओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि १९४१ की अपेक्षा १९४६ में नवयुवकों में सामाजिक-विगठन की मात्रा कम होती गई। १९४७ तथा १९४८ में यह संख्या बढ़कर क्रमशः २८३ तथा २३०४ हो गई। इसका यह अर्थ हुआ कि नवयुवकों का विगठन १९४७—४८ में एकदम बढ़ गया। सम्भवतः इसका कारण भारत का विभाजन था। एकदम नये पर्यावरण उत्पन्न हो गये, और नव-युवक इन न` पर्यावरणों के अनुकूल अपने को नहीं बना सके। इसी प्रकार वैयक्तिक-विगठन के एक-एक विभाग का संख्याओं के माप-दंड से अध्ययन किया जा सकता है—युवकों में चोरी कितनी बढ़ी, बलात्कार के केस कितने हुए? पारिवारिक-विगठन को मापने के लिए आँकड़े तैयार किये जा सकते हैं कि अमुक वर्ष में विवाह-विच्छेद कितने हुए—जितने तलाक हुए उतना पारिवारिक-विगठन बढ़ा। सामुदायिक-विगठन को मापने के लिए यह देखा जा सकता है कि स्त्री-पुरुषों की संख्या में क्या भेद आया। साधारणतः किसी समुदाय में बच्चों की संख्या सब से अधिक होनी चाहिए, बूढ़ों की सबसे कम, स्त्री-पुरुषों की बराबर। अगर बच्चों की संख्या कम हो जाय, बूढ़ों की बढ़ जाय, पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की या स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या घट-बढ़ जाय, तो समुदाय का विगठन हो रहा है, और जिस हद तक इन संख्याओं में अन्तर बढ़ता जाय उसी हद तक विगठन बढ़ रहा है—यह समझना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय-विगठन को मापन के लिए युद्धों की, भिन्न-देशों के आन्तरिक-संघर्षों की गणना करनी होगी।

इस प्रकार हमने देखा कि सामाजिक-विगठन क्या है, उसके कारण क्या हैं, उसके परिणाम क्या हैं और सामाजिक-विगठन के माप-दण्ड क्या हैं? अगले तीन अध्यायों में हम कुछ मुख्य-मुख्य विगठनों की चर्चा करेंगे।

प्रश्न

१. 'सामाजिक-संगठन' (Social organisation) से आप क्या समझते हैं?

२. 'सामाजिक-विगठन' (Social disorganisation) से आप क्या समझते हैं?

३. प्रत्येक व्यक्ति की समाज में 'स्थिति तथा कार्य' (Status and role) होता है। 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) में विषमता की कौन-कौन-सी अवस्थाएँ हैं?

४. समाज की 'रचना' (Structure) में 'स्थिति तथा कार्य' (Status and role) का क्या भाग है?

५. 'एकमतिता' (Consensus) का सामाजिक-संगठन तथा विगठन में क्या हाथ है?

६. सामाजिक-परिवर्त्तन (Social change), सामाजिक-धारणाएँ (Social attitudes), सामाजिक-मूल्य (Social values) तथा सामाजिक-संकट (Social crisis) से सामाजिक-विगठन किस प्रकार होता है?

७. सामाजिक-विगठन से समाज में क्या-क्या दोष आ जाते हैं?

८. 'समाज में विगठन की प्रक्रिया हमारा ध्यान समाज के संगठन की तरफ़ खींचती है'—इस कथन की व्याख्या कीजिये।

९. सामाजिक-विगठन के माप-दंड से आप क्या समझते हैं?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. आपकी राय में आजकल सामाजिक-विगठन को करने वाले कौन-से कारण हैं? (आगरा, १९५२)

२. सामाजिक-विगठन की व्याख्या कीजिये। भारत में संयुक्त-परिवार के विगठन से स्त्रियों की स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ सकता है? इस पर अपने विचार लिखिये। (आगरा, १९५४)

३. आप 'सामाजिक-विगठन' से क्या अर्थ समझते हैं? विस्तार-पूर्वक लिखिये। (आगरा, १९५५)

४. 'सामाजिक-विगठन' एक 'प्रक्रिया' है—इसे समझाइये। सामाजिक-विगठन का परिवार पर क्या प्रभाव पड़ता है? (राजपूताना, १९५४)

३२

निर्धनता तथा पराश्रयता

(POVERTY AND DEPENDENCY)

समाज के 'विगठन' के अनेक रूपों में 'निर्धनता' तथा 'पराश्रयता'––ये भी एक रूप हैं। इस अध्याय में हम 'निर्धनता' तथा 'पराश्रयता' पर विचार करेंगे।

१. निर्धनता

जब धन नहीं था, तब धनी-निर्धन का भेद भी नहीं था। आदि-काल में तो वस्तुओं को जोड़ कर रखने की जरूरत नहीं थी। धीरे-धीरे बुरे वक्त के लिए जोड़ने की भावना उत्पन्न हुई, और इसके साथ ही सम्पन्न और असम्पन्न का भेद उत्पन्न हुआ। युरोप में 'सामन्त-पद्धति' (Feudal system) के समय यही भेद मालिक और गुलाम का रूप धारण कर गया, और औद्योगिक-क्रांति के बाद जब भूमि के स्वामित्व के बिना भी व्यक्ति धन का मालिक बनने लगा, जिनके पास जमीन नहीं थी वे भी कल-कारखाने खड़े करके रुपये-पैसे वाले हो गये, तब उन लोगों को जो असम्पन्न थे, जो पहले कभी सामन्त-युग में गुलाम कहे जाते थे, अब मजदूर कहा जाने लगा। पूँजीवाद के युग में दो वर्ग बड़े स्पष्ट रूप में समाज के सामन आ गये––एक पूँजीपति थे, दूसरे पूँजी-विहीन थे। इस समय धनी-निर्धन का भेद अत्यन्त स्पष्ट हो गया, और समाज में ये दो श्रेणियाँ बन गईं।

२. निर्धनता की परिभाषा

भिन्न-भिन्न लेखकों ने 'निर्धनता' की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं जिनमें से कुछ निम्न हैं :––

[क] गिलिन तथा गिलिन की व्याख्या––"निर्धनता उस अवस्था का नाम है जिसमें कोई व्यक्ति अपर्याप्त आय होने या बेसमझी से व्यय करने के कारण

[क] "Poverty is that condition in which a person, either because of inadequate income or unwise expenditure, does not maintain a scale of living high enough to provide for his physical and mental efficiency and to enable him and his natural dependents to function usefully according to the standards of the society of which he is a member."—*Gillin and Gillin.*

जीवन का ऐसा स्तर कायम नहीं रखता जिससे उसकी शारीरिक तथा मानसिक कार्य-कुशलता बनी रहे और वह अपने तथा अपने आश्रितों के लिए ऐसा स्तर न बनाये रख सके जो उस समाज के स्तर के अनुरूप हो जिसका वह सदस्य है।"

[ख] एडम स्मिथ की व्याख्या--"मनुष्य उसी अंश में धनी या निर्धन होता है जिस अंश में वह जीवन की आवश्यक वस्तुएँ, जीवन की सुविधाएँ और मानव-जीवन के आमोद-प्रमोद के साधनों का उपभोग कर सकता है।"

३. निर्धनता की उत्पत्ति तथा उसकी धारणा में परिवर्त्तन

अपर्याप्त आय तथा बेसमझी का व्यय जब जीवन के स्तर को गिरा देता है, तब व्यक्ति निर्धन कहलाता है, परन्तु निर्धनता की जिम्मेदारी किसकी है-- इस सम्बन्ध में धारणा समय-समय पर बदलती रही है। आदि-समय में हर चीज की बहुतायत थी इसलिए उस समय कोई निर्धन नहीं था। इसके अतिरिक्त उस समय का समूह आज का-सा समूह नहीं था। आज तो समूह में लोग इस तरह रहते हैं जैसे कोई किसी को जानता-पहचानता न हो, उस समय लोग साथ-साथ रहते थे, हर-कोई दूसरे की फ़िक्र करता था। जिसे हम पहले 'प्रथम-समूह' (Primary groups) कह आये हैं, उस तरह के समूह उस समय थे। अगर कोई भूखा था, तो दूसरे के बिलकुल साथ रहने के कारण उसकी भूख से दूसरे भी व्याकुल हो जाते थे, और उसकी हर तरह की सहायता करते थे। इस दृष्टि से वन्य-जीवन में एक तरह से निर्धनता का बिलकुल अभाव था। इस प्रकार के वन्य-जीवन के बाद कृषि-जीवन आया। इस जीवन में कुछ लोग भू-स्वामी बने, कुछ भूमि-हीन बने, जिनका काम मेहनत-मजदूरी करना था। इस जीवन में निर्धनता ने जन्म लिया। युरोप में यह व्यवस्था सामन्तशाही के समय उत्पन्न हुई, अपने देश में ज़मीदारी प्रथा के समय हुई। बाद को औद्योगिक-क्रांति आयी। कृषि-व्यवस्था में तो भूमि ही धन था और धनी-निर्धन का भेद भूमि के स्वामित्व से मापा जाता था, परन्तु औद्योगिक-युग में जब धन और भूमि आपस में अलग-अलग हो गये, भूमि से धन नहीं, परन्तु कल-कारख़ाने लगाकर धन पैदा किया जाने लगा, तब आजकल का-सा धनी-निर्धन का भेद उत्पन्न हो गया। किसी समय अधिक ज़मीन के मालिक को धनी कहते थे, अब ज़मीन भले ही न हो, बैंक-बैलेंस जिसका बढ़ा-चढ़ा हो, वह धनी कहलाने लगा। आज की धनी-निर्धन के भेद की ज़िम्मेवारी पूँजीवाद के सिर पर है। आज धनी-निर्धन का भेद बहुत ख़तरनाक रूप धारण करता जा रहा है। इन दोनों में भेद इतना बढ़ गया है कि इस भेद के विरोध में प्रतिक्रिया उत्पन्न हो रही है। पहले निर्धन की वन्य-जाति में, कृषि-युग में सहायता की जाती थी, 'प्रथम-समूहों' (Primary groups) में

[ख] "Man is rich or poor according to the degree in which he can afford to enjoy the necessaries, the conveniences and the amusements of human life."—*Adam Smith.*

निकट का सम्बन्ध होने या रक्त का सम्बन्ध होने के कारण लोग एक-दूसरे के सुख-दुःख में साथ देते थे, परन्तु अब पूँजीवाद के युग में 'द्वितीय-समूहों' (Secondary groups) का बोलवाला हो गया है, कोई किसी को जानता-पहचानता नहीं, कोई किसी की सहायता नहीं करता, सब को अपनी-अपनी पड़ी है। ऐसी हालत में धनी-निर्धन के भेद से उत्पन्न हुए असन्तोष को दूर करने के लिए लोग दान-दया की बातें करने लगते हैं, धनी लोगों से सहायता माँगी जाती है, परन्तु क्योंकि दान या दया करना, सहायता देना, देने वाले की इच्छा पर निर्भर करता है, इसलिए आजकल के नवीन विचारक समाज की दरिद्रता को दूर करने के काम को धनियों की इच्छा पर छोड़ना नहीं चाहते, और धनी-निर्धन के इस भेद से एक नवीन विचार जन्म ले रहा है। वह विचार क्या है? वह विचार यह है कि मनुष्य धनी इसलिए नहीं है क्योंकि उसकी मानसिक-शक्ति दूसरे से उच्च है, ना ही वह निर्धन इसलिए है क्योंकि वह मानसिक या अन्य शक्तियों में दूसरे से नीचे है। हमारे समाज की रचना ही ऐसे आधारों पर बनी हुई है जिससे कुछ लोग धनी-श्रेणी में हैं, कुछ निर्धन-श्रेणी में हैं। इन विचारकों का कहना है कि न धनी होने के लिए किसी की सराहना की जा सकती है, न निर्धन होने के लिए किसी को धिक्कारा जा सकता है। इन दोनों की उत्पत्ति का मूल-कारण समाज की विषम रचना है, और इस भेद-भाव को मिटाने के लिए इस रचना पर कठोर प्रहार करना होगा, इसे मूलतः बदलना होगा, समाज का समाजवादी ढंग पर निर्माण करना होगा। कहाँ पहले निर्धनता की धारणा ही नहीं थी, कहाँ बाद में धनी-निर्धन के भेद को स्वाभाविक माना जाने लगा, और कहाँ आज इस भेद को अस्वाभाविक माना जाने लगा है, धनी-निर्धन के भेद की जिम्मेदारी समाज की विषम रचना कही जा रही है, इसका उत्तरदायित्व व्यक्ति पर नहीं, समाज पर डाला जा रहा है, और राज्य का काम 'समाज-कल्याण' (Social welfare)—सब का भला—कहा जाने लगा है।

४. निर्धनता के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त

समाज की विषम-रचना के कारण 'निर्धनता' की उत्पत्ति होती है, इसलिए 'निर्धनता' के लिए व्यक्ति जिम्मेदार नहीं, समाज जिम्मेदार है। परन्तु समाज की किस प्रकार की विषम-रचना से 'निर्धनता' की उत्पत्ति होती है? इस सम्बन्ध में तीन 'वाद' प्रचलित हैं—एक वाद मालथस का है, दूसरा कार्ल-मार्क्स का है, तीसरा हैनरी जार्ज का है। ये तीनों 'वाद' क्या हैं?

(क) मालथस का निर्धनता का वाद—मालथस के सिद्धान्त का हम पहले उल्लेख कर आये हैं। उनका कथन था कि जन-संख्या 'गुणात्मक-क्रम' से बढ़ती है, खाद्य-सामग्री 'धनात्मक-क्रम' से बढ़ती है। जन-संख्या २ से ४, ४ से ८ और खाद्य-सामग्री २ से ३ और ३ से ४ होती जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि जन-संख्या और खाद्य-सामग्री में जो पहले अन्तर था वह समय के

साथ बहुत अधिक बढ़ता जाता है और कुछ काल के बाद जन-संख्या बहुत अधिक हो जाती है और खाद्य-सामग्री बहुत कम रह जाती है। निर्धनता का यह कारण है।

(ख) कार्ल-मार्क्स का निर्धनता का वाद--मार्क्स का कहना है कि जब से औद्योगिक-युग आया है, तब से पूँजीपति १४–१५ मजदूरों की जगह १–२ मजदूरों से काम लेने लगा है। जो काम पहले १४–१५ मजदूर करते थे, वह अब मशीन के ज़रिये १–२ मजदूर करने लगे हैं। इन १–२ मजदूरों से काम तो १४–१५ का लिया जाता है, परन्तु मजदूरी उन्हें १–२ मजदूरों की दी जाती है। इसका मतलब यह हुआ कि १२–१३ मजदूरों की मजदूरी से जो पैसा पैदा होता है, उसे पैदा तो मजदूर करते हैं, परन्तु जाता है वह पूँजीपति की जेब में। यह 'अतिरिक्त-मजदूरी का दाम' (Surplus value) जो मजदूर को नहीं मिलता, पूंजीपति को मिलता है, धनी-निर्धन के भेद को पैदा कर देता है।

(ग) हैनरी जार्ज का वाद--हैनरी जार्ज का कहना है कि निर्धनता का मुख्य कारण भूमि पर व्यक्तिगत एकाधिकार है। भूमि का असली मूल्य क्या है? भूमि तो प्रकृति की देन है--ठीक ऐसे जैसे पानी, हवा या रोशनी। परन्तु भूमि को कुछ व्यक्तियों ने अपने अधिकार में कर लिया है। ज़मीदार लोग खेती की ज़मीन को हड़प करके बैठे हैं, और श्रमी से पैदावार करवा कर उसे थोड़ा-सा देकर बाकी सब स्वयं खा जाते हैं। इसी प्रकार शहरों में साहूकार ज़मीन पर स्वामित्व जमा कर बैठे हैं। उस पर मकान बना कर उसके किराये के रूप में बिना हाथ-पैर चलाये दूसरे का सारा धन समेट लेते हैं। यह निर्धनता का मुख्य कारण है।

धनी तथा निर्धन सापेक्ष शब्द हैं। जिसे हम धनी समझते हैं वह दूसरे की अपेक्षा अपने को निर्धन समझता है, जिसे हम निर्धन कहते हैं वह दूसरे की अपेक्षा धनी होता है। परन्तु फिर भी, जैसा हम ऊपर दर्शा आये हैं, निर्धनता की परिभाषा की जा सकती है। निर्धनता मनुष्य की उस अवस्था का नाम है, जिसमें आमदनी की कमी या फ़िज़ूलख़र्ची से, वह अपनी तथा अपने आश्रितों की भौतिक तथा मानसिक आवश्यकताओं को पूरा करने के अपने उस स्तर को कायम नहीं रख सकता, जिसकी समाज के दूसरे लोग उससे आशा रखते हैं। अपनी दृष्टि में तो हर-एक अपनी अक्ल और दूसरे का धन अधिक समझता है। निर्धनता की असली परख यह है कि दूसरे भी यह समझें कि जो स्तर उसका होना चाहिए, वह नहीं है। हर-एक देश का अपना-अपना स्तर है, अपनी-अपनी वह रेखा है जिससे ऊपर के लोग धनी गिने जाते हैं, जिससे नीचे के लोग निर्धन गिने जाते हैं। अमरीका के स्तर के अनुसार जिसे निर्धन कहा जायगा, भारत के स्तर के अनुसार उसे धनी कहा जायगा, भारत के स्तर के अनुसार जिसे धनी कहा जायगा, अमरीका के स्तर के अनुसार उसे निर्धन कहा जायगा। निर्धनों की समस्या उन

लोगों की समस्या है जो समाज की दृष्टि में जीवन के स्तर को कायम नहीं रख सकते। निर्धनता के अनेक कारण हैं, जिनमें से मुख्य निम्न हैं :—

५. निर्धनता के कारण

(क) 'वैयक्तिक-असमर्थता' (Incapacity of the Individual)—मनुष्य की निर्धनता का एक कारण उसकी 'असमर्थता' है। 'असमर्थता' के दो कारण हो सकते हैं—एक वंशगत-असमर्थता, दूसरी पर्यावरणगत-असमर्थता। एक आदमी पैदाइश से बहुत ही छोटे दिमाग़ का है, न पढ़ सकता है, न लिख सकता है, न कोई काम कर सकता है। दूसरा जन्म से कोढ़ी है, अन्धा है, बहरा है। ऐसे लोग वंशगत-असमर्थता के कारण 'निर्धन' (Poor) होते हैं, इनमें कई तो 'दरिद्र' (Pauper) होते हैं ; पर्यावरण के कारण व्यक्ति में असमर्थता तब उत्पन्न होती है जब वह बीमारी के कारण, मशीन में हाथ कट जाने के कारण, लड़ाई में लंगड़ा हो जाने के कारण, दिमाग़ बिगड़ जाने के कारण जीवन-संग्राम के लिए अनुपयुक्त हो जाता है।

(ख) 'भौतिक-पर्यावरण' (Physical Environment)—भौतिक-पर्यावरण में कई ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनके कारण निर्धनता उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। इनमें से मुख्य हैं—(i) प्राकृतिक पदार्थों की कमी, (ii) ऋतु की प्रतिकूलता, (iii) जीव-जन्तुओं का उत्पात तथा (iv) प्रकृति का कोप। इन चारों के विषय में थोड़ा-थोड़ा विचार कर लेना आवश्यक है।

(i) प्राकृतिक-पदार्थों की कमी—भूमि के सम्बन्ध में किये गये अन्वेषणों से ज्ञात हुआ है कि कई भूमियाँ ऐसी होती हैं, जो दूसरों की अपेक्षा अधिक उपजाऊ होती हैं, उपजाऊ भूमि के तत्त्व भी कुछ समय के बाद वर्षा के कारण बह जाते हैं, उन्हें भूमि में फिर से डालने की आवश्यकता रहती है, कभी-कभी भूमि को एक-एक मौसम छोड़ कर जोतना होता है, ताकि उसकी नष्ट हुई ताकत फिर-से लौट आये। कृषि के अतिरिक्त भूमि में खनिज-पदार्थों की मात्रा भी परिमित होती है, अतः जब किसी स्थान का कोयला, लोहा, सोना, चाँदी समाप्त हो जाता है, तब वह स्थान उजड़ जाता है, जो लोग पहले धनी हो रहे थे, वही निर्धन हो जाते हैं। भूमि की उपजाऊ-शक्ति तथा उसके खनिज पदार्थों का कम हो जाना निर्धनता लान का एक कारण है।

(ii) ऋतु की प्रतिकूलता—कभी-कभी भारी सर्दी या ओले पड़ने से फ़सल नष्ट हो जाती है, बहुत ज्यादा गर्मी भी कभी-कभी खेती को सुखा देती है। जहाँ नहरें हों वहाँ खेती को बचाया जा सकता है, जहाँ पानी न मिले वहाँ क्या किया जाय ? ऐसे स्थानों में किसानों को बड़े कष्टों का सामना करना पड़ता है। दोनों पंच-वर्षीय योजनाओं में इसी लिए बड़े-बड़े बाँध बनाकर बड़ी-बड़ी नहरों के बनाने की योजना की गई है ताकि ऋतु की प्रतिकूलता के कारण वर्षा आदि न पड़े तो किसानों की समस्या का हल किया जा सके।

(iii) जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति—भारत में टिड्डी-दल अक्सर खेतों को नष्ट कर देते हैं। खेतों में तरह-तरह के कीड़े, जीव-जन्तु फ़सल को नष्ट किया करते हैं। हर पेड़ को कोई-न-कोई कीड़ा लगा करता है। किसान के पास इस सब के लिए साधन न होने के कारण उसकी आर्थिक समस्या विकट हो जाती है।

(iv) प्रकृति का कोप—प्रकृति का कोप भी मनुष्य को भटकाया करता है। अपने देश में बाढ़ से हर साल करोड़ों रुपये का नुकसान हो जाता है। भूचाल, आग लग जाना, ज्वालामुखी फूट पड़ना, जहाज़ का डूब जाना, हवाई जहाज़ का गिर पड़ना—ऐसे अनेक उपद्रव हैं, जो उन लोगों के लिए आजीविका की समस्या को खड़ा कर देते हैं जिन्हें इनका शिकार होना पड़ता है।

(ग) 'आर्थिक-कारण' (Economic factors)—निर्धनता को उत्पन्न करने वाला सबसे बड़ा कारण आर्थिक है। कोई समय था जब यह समझा जाता था कि संसार में मनुष्य बढ़ते जा रहे हैं, उनकी आवश्यकताओं को पूरा करन के लिए 'उत्पत्ति' (Production) कम होती जा रही है। यह समझा जाता था कि जिस मात्रा में 'जन-संख्या' बढ़ रही है, अगर उसी मात्रा में 'उत्पत्ति' को बढ़ाया जाता रहे, उसे कम न होने दिया जाय, तो सब के लिए खाने-पहनने को मिलता रहे, कोई निर्धन न रहे। जब से औद्योगिक-क्रांति हुई है, तब से 'उत्पत्ति' पहले से कई गुना बढ़ गई है, मशीन के जरिये 'उत्पत्ति' की मात्रा इतनी बढ़ गई है कि जितना उत्पन्न हो रहा है उतना खप नहीं रहा। परन्तु क्या कारण है कि फिर भी धनी-निर्धन का भेद बढ़ता जा रहा है, बढ़ता ही नहीं जा रहा, पहले से कहीं अधिक हो गया है? इसका कारण यह है कि 'उत्पत्ति' (Production) तो बढ़ गई है, परन्तु उत्पत्ति का 'वितरण' (Distribution) ठीक नहीं है। थोड़े व्यक्तियों के हाथ सब-कुछ आता जा रहा है, अधिक व्यक्तियों के हाथ कुछ नहीं आ रहा। 'उत्पादन के साधनों' (Means of Production) पर पूँजीपतियों का प्रभुत्व है, अतः इन साधनों से जो 'उत्पादन' होता है, वह पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रित होता जाता है। 'धन का अव्यवस्थित-वितरण' (Mal-distribution of wealth) आज के व्यक्ति की निर्धनता का सबसे बड़ा कारण है। इस अव्यवस्था को राज्य के सिवाय कौन दूर कर सकता है? इसका एक उपाय तो यह है कि राज्य ही 'उत्पादन के साधनों' को अपने हाथ में ले ले, और जो आमदनी हो, उसे वस्तुओं के दाम कम करके, या जनता की शिक्षा, स्वास्थ्य, अच्छे मकान आदि पर खर्च करके जनता को ही लौटा दे। ऐसा प्रयोग रूस में हो रहा है, दूसरे देश भी बड़े-बड़े व्यवसायों को अपने हाथ में लेने लगे हैं। दूसरा उपाय यह है कि वस्तुओं के दाम निश्चित कर दिये जाँय, यह तय कर दिया जाय कि इतने से अधिक कोई मुनाफ़ा नहीं ले सकता। यह काम भिन्न-भिन्न व्यवसायों के लोग स्वयं कर सकते हैं, परन्तु इसकी सम्भावना बहुत कम है, ऐसी हालत में यह काम भी राज्य का हो जाता है।

(घ) 'सामाजिक-कारण' (Social factors)—उक्त कारणों के अतिरिक्त कई सामाजिक कारण हैं जो आज के व्यक्ति की निर्धनता के कारण बन रहे हैं। वे हैं—(i) त्रुटिपूर्ण शिक्षा-प्रणाली, (ii) त्रुटि-पूर्ण स्वास्थ्य-रक्षा-प्रणाली तथा (iii) त्रुटि-पूर्ण मकानों की व्यवस्था। इन तीनों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार कर लेना ठीक होगा :—

(i) त्रुटि-पूर्ण शिक्षा-प्रणाली—आज हमारी शिक्षा-प्रणाली अत्यन्त दूषित हो रही है। पढ़ने के बाद आर्थिक-समस्या को किस प्रकार हल किया जायगा, इसे कोई नहीं जानता। हर-एक यूनिवर्सिटी हजारों ग्रेजुएटों की भरमार करती जा रही है, ऐसे ग्रेजुएट जो अपने को किसी काम के योग्य नहीं पाते। शिक्षित-व्यक्तियों की इस बेकार हालत को देखकर शिक्षा-विज्ञों ने शिक्षा-प्रणाली में सुधार शुरू किये हैं, दस्तकारी आदि विषयों को पाठ्य-क्रम में सम्मिलित किया जा रहा है, परन्तु अभी-तक यह हालत है कि किसानों के लड़के बी० ए०, एम० ए० बनना चाहते हैं, और पढ़कर न वे घर के काम के रहते हैं न घाट के, न उन्हें नौकरी मिलती है, न वे खेती कर सकते हैं। फ़ैशन करना वे सीख जाते हैं, पैसा पैदा करना नहीं सीखते, यह शिक्षा का दोष है।

(ii) त्रुटि-पूर्ण स्वास्थ्य-रक्षा प्रणाली—हमारी स्वास्थ्य-रक्षा सम्बन्धी व्यवस्था भी त्रुटि-पूर्ण है। सैंकड़ों, हजारों व्यक्ति रोगी होने के कारण कमाई नहीं कर सकते। रोगी हो जाने पर रोग का इलाज करने की अपेक्षा ऐसे उपायों का अवलम्बन करना चाहिए जिससे व्यक्ति रोगी ही न हो। ऐसी हालत में रोगी होने के कारण जो दिन बिना कमाई के निकल जाते हैं, उनमें कमाई कर सकने के कारण निर्धनता में कमी हो सकती है। मजदूर को दिहाड़ी पर काम मिलता है। वह रोज काम करता है, रुपया-डेढ़ रुपया कमा लाता है, और गुजारा चलाता है। जितने दिन वह बीमार रहता है, उतने दिनों का उसे रुपयों का नुकसान हो जाता है।

(iii) त्रुटि-पूर्ण मकानों की व्यवस्था—इस समय मकानों की व्यवस्था पैसेवालों के हाथ में है। जिनका अपना मकान नहीं, उन्हें किराये के मकानों में रहना पड़ता है। पैसेवाले किराये के लिए मकान बनाते हैं, सुविधा, आराम, स्वास्थ्य की दृष्टि से नहीं। परिणाम यह होता है कि बहुत थोड़े लोग हैं जिनको अपनी सुविधा के अनुसार मकान मिलता है, अधिकांश व्यक्ति ऐसी गन्दी-गन्दी झोंपड़ियों में गुजर करते हैं जिनमें आदमी सिर्फ़ सिर ढक सकता है, परन्तु अपना स्वास्थ्य नष्ट कर लेता है। ऐसे मकानों में निर्धन व्यक्ति ही रह सकता है, सम्पन्न व्यक्ति नहीं। समाज के निर्धन व्यक्तियों के इस कष्ट को दूर करने के लिए राज्य की तरफ़ से मकान बनने चाहियें, उनका स्वामित्व राज्य के पास हो, सिर्फ़ किराये की दृष्टि से नहीं, रहनेवाले की सुविधा, आराम की दृष्टि से मकान बनाये जाँय, राज्य उनका किराया ले, परन्तु किरायेदार को बिलकुल तबाह न कर दे।

अमरीका तथा इंग्लैण्ड में राज्य की तरफ़ से इस प्रकार के मकान बनाने का परीक्षण हो रहा है।

(ङ) 'युद्ध' (War)--निर्धनता का सबसे बड़ा कारण युद्ध है। युद्ध के समय रोटी तक मिलना कठिन हो जाता है, हर-एक वस्तु लड़ाई में चली जाती है, जो लोग मैदान में लड़ रहे होते हैं वे गिन-गिन पर दिन काटते हैं, जो पीछे रह जाते हैं, वे दाने-दाने को तरस कर जीते हैं। युद्ध जाति को धन-धान्य में ही निर्धन नहीं बनाता, मनुष्यता में भी दरिद्र बना देता है। उभरी छाती के बाँके नौ-जवान युद्ध की अग्नि में झोंक दिये जाते हैं, मरे-सड़े लोग समाज का सूत्र चलाने के लिए पीछे रह जाते हैं। जब तक लड़ाई चलती है तब तक नौ-जवान सन्तान नहीं उत्पन्न करते, यही बचे-खुचे, भले-बुरे लोग जो रह जाते हैं, कमजोर सन्तानों को उत्पन्न करते रहते हैं। ऐसी सन्तान जीवन-संग्राम में मुकाबिले में नहीं टिक सकती; इसलिए जब यह बड़ी होती है, तब समाज के लिए एक विषम समस्या बन जाती है। युद्ध के बाद जब सेनाएँ भंग की जाती हैं, तब वे बेकारों की संख्या इतनी बढ़ा देती हैं कि चारों तरफ़ निर्धनता-ही-निर्धनता का राज्य दीखने लगता है। इसलिए युद्ध के बाद जीवन का स्तर गिर जाता है, वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है, और समाज अपनी पूर्ण विघटित अवस्था में दीखने लगता है।

२. पराश्रयता

जैसे 'निर्धनता' (Poverty) समाज की एक विगठित अवस्था है, वैसे 'पराश्रयता' (Dependency) भी विगठित अवस्था है। बालक माता-पिता के आश्रित हैं, पत्नी पति के आश्रित है, परन्तु जब हम समाज की विगठित अवस्था का वर्णन कर रहे होते हैं, तब इनको पराश्रित नहीं कहते। हाँ, जो बालक माता-पिता के मर जाने के कारण अनाथ हो जाता है, जिस पत्नी को पति छोड़ देता है, वह पराश्रित अवश्य है। पराश्रित व्यक्ति मुख्य तौर पर तीन प्रकार के हैं--(क) अनाथ, (ख) वृद्ध तथा (ग) अपंग। हम इन तीनों का थोड़ा-थोड़ा वर्णन करेंगे :--

(क) अनाथ--जिस बालक के माता-पिता नहीं हैं, उसकी देख-रेख कोई नहीं करता। वह समाज में आवारा फिरता है। कई ऐसे बालक भी हैं, जिनके माता-पिता हैं, परन्तु वे इतने निर्धन हैं कि बालकों का पालन-पोषण नहीं कर सकते। वे खुद भीख माँगते हैं, बच्चे भी भीख माँगते हैं। ऐसे बालक निर्धन होने के साथ-साथ चोरी, गाँठ कतरना आदि सब बुरी आदतें सीख जाते हैं। समाज के लिए उनके भरण-पोषण का ही प्रश्न नहीं है, उनको शिक्षा देकर योग्य नागरिक बनाने का भी प्रश्न है। ऐसे बालकों को भीख देकर उन्हें जन्म भर के लिए अपाहिज बना देना है। उन्हें अनाथालयों में रखना उनके मन में सदा के लिए अनाथ-भावना उत्पन्न कर देना है। एसे बच्चों के लिए १९५२ में उत्तर-प्रदेश म 'बाल-सुधार-कानून' (Children's Act) पास हुआ, जिसके अनुसार १६ वर्ष के नीची आयु के बच्चों को आवारा फिरता देखकर पुलिस पूछ सकती है कि उनके

अभिभावक कौन है? अगर कोई न हो, और हों तो बच्चों की देख-रेख न कर सकते हों, उन्हें बाल-सुधार-आश्रमों में रखकर जीवनोपयोगी सब काम सिखाये जायेंगे। इसी आशय का कानून १९५६ में पार्लियामेंट में भी स्वीकृत हुआ है जिसमें बच्चों के आश्रम खोलने वालों के लिए कुछ शर्तें रखी गई हैं ताकि ये आश्रम वाले इन बच्चों से भीख ही न मँगवाते रहें।

(ख) वृद्ध—वृद्धावस्था में मनुष्य पराश्रित हो जाता है। बालक तो इसलिए पराश्रित है क्योंकि वह कमा ही नहीं सकता, वृद्ध इसलिए पराश्रित है क्योंकि उसने वृद्धावस्था के लिए काफ़ी बचाया नहीं होता। जो मजदूर सिर्फ़ उस दिन के लायक मजदूरी कमाता है जिस दिन वह काम करता है, वह बचा कहाँ सकता है! इसलिए या तो हर-एक आदमी का बीमा होना आवश्यक है, या बुढ़ापे में उसकी देख-भाल करना राज्य के लिए आवश्यक है। बीमा खुद करे या उसका मालिक कराये। कुछ राज्यों में वृद्धों की रक्षा के लिए आश्रम खुले हुए हैं, इन आश्रमों को 'निर्धनालय' (Poor Houses) कहते हैं। असल में, हर देश में भीख न माँगने का नियम है, और जो भीख माँगता पाया जाता है उसे इन दरिद्रालयों में भर्त्ती कर दिया जाता है। वैसे तो प्रत्येक वृद्ध के पुत्र-पौत्र उसकी देख-भाल करते हैं, परन्तु जहाँ किसी की देख-भाल करने वाला कोई नहीं होता, वहाँ उसे इन दरिद्रालयों में भर्त्ती कर दिया जाता है। जो लोग जवानी में अच्छे दिन गुजार चुके होते हैं, उन्हें इन दरिद्रालयों में रख देना कुछ अन्याय-सा दीखता है। उनके लिए 'वृद्धालय' (Old Peoples' Houses) खुलने चाहियें, जहाँ अच्छी स्थिति के वृद्ध लोग अपना जीवन व्यतीत कर सकें। वृद्धावस्था की पेंशनों का भी प्रबन्ध होना चाहिए। दरिद्रालय में प्रत्येक वृद्ध-व्यक्ति पर जो ख़र्च होता है, वह पेंशन के रूप में दे दिया जाय, तो ख़र्च अधिक नहीं बढ़ता। परन्तु ये सब संस्थाएँ युरोप में हैं, भारत में किसी समय 'वानप्रस्थ' आश्रम की व्यवस्था थी जिसमें राज्य की तरफ़ से वानप्रस्थियों के खाने-पीने की व्यवस्था होती थी।

(ग) अपंग—बालक तथा वृद्ध के अलावा तीसरी श्रेणी अपंगों की है, जो पराश्रित कहे जा सकते हैं। पागल, मृगी के शिकार, जन्म के रोगी, अंग कटे हुए, अन्धे, लूले, लंगड़े—ये सब अपंग हैं। ग़रीब आदमियों की जिन बीमारियों को दूर किया जा सकता है, उन्हें दूर करना राज्य का काम है, नहीं तो इतने ही निराश्रितों की संख्या बढ़ती जाती है, और राज्य पर आर्थिक बोझ भी बढ़ता जाता है।

३. 'निर्धनता' तथा 'पराश्रयता' का इलाज

जब तक 'निर्धनता' और 'पराश्रयता' को परमात्मा की देन, कर्मों का फल तथा अनिवार्य समझा जाता था, तब तक दान-पुण्य से इन लोगों की सहायता की जाती थी, परन्तु विज्ञान के युग में अनिवार्य बातें बहुत थोड़ी रह गई हैं। ऐसे लोगों को भीख देकर सहायता करके उनकी रक्षा करना धर्म नहीं है, परन्तु

स्वास्थ्य आदि के कानून बनाकर, रोगी तथा अपाहिज सन्तान उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों को उत्पादन के अयोग्य बनाकर ऐसे व्यक्तियों की तथा समाज की रक्षा की जा सकती है। बीमारी, वृद्धावस्था, अपंगता आदि के समय पराश्रय न होना पड़े, इस बात को ध्यान में रख कर ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैण्ड में बीमा करने की व्यवस्था है। यह बीमे का धन मालिक को देना होता है। इन व्यवस्थाओं के अतिरिक्त सबसे बड़ा काम समाज-सेवक (Social Worker) का है। जो काम राज्य जबर्दस्ती कराना चाहता है, वही समाज-सेवक समझा-बुझा कर, उन लोगों के साथ उठ-बैठ कर करता है। समाज-सेवक का काम अपने क्षेत्र के निर्धन तथा पराश्रित व्यक्तियों की गणना करना, किसको क्या काम मिल सकता है, किसे दवा-दारू की ज़रूरत है, यह सब देखकर उनकी सहायता करना है। इस दिशा में 'भारत-सेवक-समाज' के कार्यकर्त्ता बहुत अच्छा काम कर सकते हैं। इस प्रकार राज्य के कानून तथा समाज-सेवक की प्रेम-पूर्ण-सेवा के सहयोग से 'निर्धनता' तथा 'पराश्रयता' की समस्या थोड़ी-बहुत हल हो सकती है। इसका असली हल तो सारे-के-सारे आर्थिक ढाँचे को बदलना है।

प्रश्न

१. 'निर्धनता' की क्या व्याख्या है?

२. समाज में 'निर्धनता' के क्या कारण हैं, और उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है?

३. 'पराश्रयता' के क्या प्रकार हैं, और उनका क्या इलाज है?

४. 'निर्धनता' तथा 'पराश्रयता' को दूर करने में समाज-सेवक क्या काम कर सकता है?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. निर्धनता के मुख्य कारण क्या हैं। इनके निवारण या सुधार के क्या उपाय हो सकते हैं? (आगरा, १९५० तथा राजपूताना, १९५५)

२. निर्धनता, बेकारी तथा अपराध का संबंध बताइये। (आगरा, १९५५)

३. निर्धनता व्यक्ति तथा समाज को किस प्रकार प्रभावित करती है और सामाजिक व्याधि (Social pathology) की दशाएँ किस प्रकार पैदा होती हैं? (राजपूताना, १९५३)

४. किन तत्त्वों से समाज में निर्धनता उत्पन्न होती है? भारतीय अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए निर्धनता का हल बतलाइये। (राजपूताना, १९५४)

३३
बेकारी
(UNEMPLOYMENT)

१. बेकारी की परिभाषा

भिन्न-भिन्न लेखकों ने बेकारी पर लिखते हुए इसकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य परिभाषाएँ निम्न हैं :—

[क] कार्ल प्रिब्राम की व्याख्या —"बेकारी श्रम-बाजार की उस अवस्था को कहते हैं जिसमें श्रम-शक्ति काम करने के स्थानों की संख्या से अधिक हो जाती है ।"

[ख] फ़ेयरचाइल्ड की व्याख्या—"सामान्य-मजदूरी करने वाले वर्ग के किसी सदस्य का, सामान्य वेतन पर, सामान्य अवस्थाओं में, सामान्य काम करने वाले समय में अनिच्छापूर्वक या जबर्दस्ती काम से अलग कर दिये जाने को बेकारी कहते हैं ।"

किसी ऐसे काम में लगे रहना जिसमें अर्थ-प्राप्ति हो, बारोजगारी और सशक्त-व्यक्तियों को इच्छा रहते भी काम न मिलना बेकारी कहलाता है । कई काम मौसमी होते हैं, ऐसे होते हैं, जिन्हें कुछ आज, और कुछ एक-दो दिन छोड़ कर करना होता है, इसलिए किसी देश में पूर्ण रोजगारी होते हुए भी कुछ-न-कुछ बेकारी तो रहती ही है । संयुक्त-राष्ट्र-संघ ने अपने सदस्य देशों को पूर्ण रोजगारी का मान-दंड निश्चित करने को कहा था । उसके आधार पर कहा जा सकता है कि २ से ५ प्रतिशत तक बेरोजगारी होने पर भी उस देश में पूर्ण रोजगारी कही जाती है, इससे ऊपर बेकारी चली जाय, तो वह बेकारी समझी जाती है ।

[क] "Unemployment is the condition of the labour-market in which the supply of labour-power is greater than the number of available openings."—*Karl Pribram.*

[ख] "Unemployment is forced and involuntary separation from remunerative work of a member of the normal working force, during normal working time, at normal wages, and under normal conditions."—*Fairchild..*

२. बेकारी के भेद

बेकारी दो तरह की है—'स्व-विषयक' (Subjective) तथा 'पर-विषयक' (Objective)। 'स्व-विषयक' बेकारी वह है जिसका कारण मनुष्य अपन-आप है। गुस्से में आकर नौकरी छोड़ दी, शारीरिक अथवा मानसिक बीमारी के कारण नौकरी छोड़नी पड़ी। 'पर-विषयक' बेकारी वह है जिसका कारण हमारे बस से बाहर-का है। उदाहरणार्थ, मौसमी बेकारी, भावों के गिर जाने से बेकारी, आदि। 'पर-विषयक' बेकारी को निम्न भागों में बाँटा जा सकता है :—

(क) मौसमी-बेकारी—जिस बेकारी का सम्बन्ध मौसम से है, वह मौसमी बेकारी कहलाती है। वर्षा के दिनों में कुछ काम-काज नहीं हो पाता। अपने देश में जब खेती बो दी जाती है तब से जब तक पक नहीं जाती तब तक किसान बेकार हो जाता है। गन्ने की अपनी मौसम है, उसके बाद गन्ने बोने वाले बेकार हो जाते हैं। इस बेकारी को दूर करने के लिए ही गृहोद्योगों की तरफ़ ध्यान देना आवश्यक है। इस बेकारी का सम्बन्ध मुख्यतः कृषि से है।

(ख) प्राविधिक-बेकारी—कुछ बेकारियाँ ऐसी हैं जिनका सम्बन्ध 'प्रविधि' (Technology) से, उद्योग से, व्यापार से है। उदाहरणार्थ, पुरानी मशीनों की जगह नई मशीनें लगा दी जाती हैं, वे पहले से ज्यादा काम करती हैं, मजदूर बेकार हो जाते हैं। कानपुर में कपड़े की मिलों में 'अभिनवीकरण' (Rationalization) किया गया, तो मजदूरों ने हड़तालें शुरू कर दीं क्योंकि उनके बेकार होने की समस्या उठ खड़ी हुई। व्यापार के कारण प्रायः चाक्रिक-बेकारी हो जाया करती है। इसका अर्थ यह है कि मशीनें इतना अधिक पैदा कर देती ह कि वह सारा एकदम खप नहीं सकता। माल ज्यादा इकट्ठा हो जाता है। उस समय मशीनें बन्द कर देनी पड़ती हैं, और बेकारी शुरू हो जाती है। माल खप जाने पर फिर काम बढ़ जाता है, और बेकारी हट जाती है। इस प्रकार का चक्र औद्योगिक-व्यवस्था में, जिसका आधार यन्त्र हैं, प्रायः चलता रहता है। इसी प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था में किसी व्यापार के असफल हो जाने से बेकारी हो सकती है; भावों के एकदम गिर जाने से बेकारी हो सकती है; प्रतिस्पर्धा के कारण एक-दूसरे के भाव गिराने के प्रयत्न से बेकारी हो सकती है। इस सब प्रकार की बेकारी का सम्बन्ध यन्त्रों से और यंत्रों द्वारा चलने वाले व्यापार से है।

(ग) अव्यवस्था-जन्य बेकारी—कुछ बेकारी ऐसी है जो सामाजिक-अव्यवस्था से उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, एक उद्योग कानपुर में पनप रहा है, सब मजदूर वहीं इकट्ठे हो जाते हैं, दूसरी जगह मजदूरों की आवश्यकता है, परन्तु उधर कोई जाता नहीं। जहाँ सब इकट्ठे हो जायगे, वहाँ बेकारी अपने-आप बढ़ जायगी। सामाजिक-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिससे जहाँ जरूरत है, वहाँ अपने-आप मजदूरों का आना-जाना बना रहे।

(घ) साधारण-बेकारी—कुछ बेकारी तो हर समय बनी रहती है। जैसा हम पहले कह आये हैं, २ से ५ प्रतिशत बेकारी को बेकारी में नहीं गिना जाता।

संसार में कुछ व्यक्ति आलसी रहेंगे ही, कुछ बीमार रहेंगे ही, कुछ निखट्टू रहेंगे ही, ये माई के लाल बिना हाथ-पैर चलाये खाया ही करेंगे।

भारतवर्ष में कहाँ तक बेकारी है, यह बात ठीक-ठीक नहीं कही जा सकती। कुछ-कुछ अन्दाज 'रोजगार-दफ्तर' (Employment Exchange) के आँकड़ों से लगाया जा सकता है। परन्तु ये अंक विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते क्योंकि इनके आँकड़ों में शहरों के उन व्यक्तियों की ही गणना है जिन्होंने अपना नाम रजिस्टर में लिखवा दिया है। इसके अतिरिक्त ये केवल शहरों के आँकड़े हैं। गाँवों की बेरोजगारी का इनसे कुछ भी पता नहीं चलता। फिर भी इन आँकड़ों के अनुसार मार्च १९५१ में बेरोजगारों की संख्या ३.३७ लाख से बढ़ कर दिसम्बर १९५१ तक ५.२२ लाख तक पहुँच गई और मार्च ११५७ में यह संख्या ७,४७,३४१ लाख तक हो गई। १९५८ के अन्त तक के 'रोजगार-दफ्तरों' के जो आँकड़े प्रकाशित हुए हैं उनके अनुसार दिसम्बर १९५६ के अन्त में उनके रजिस्टरों पर चढ़े हुए बेरोजगारों की संख्या ७.६ लाख थी जो दिसम्बर १९५८ के अन्त में ११.८ लाख हो गई। इस विषय में ठीक-ठीक जानकारी हासिल करने के लिए प्लैनिंग कमीशन के अनुसार केन्द्रीय 'अर्थ-मन्त्रालय' (Finance Ministry) की तरफ़ से 'राष्ट्रीय स्थाली-पुलाक-सर्वेक्षण' (National Sample Survey) प्रारम्भ हुआ है। इस तरीके को संस्कृत में 'स्थाली-पुलाक-न्याय' कहा जाता है। जैसे एक चावल देखकर जान लेते हैं कि सब चावल पक गये या नहीं, वैसे देश के कुछ हिस्सों की परीक्षा से वहाँ की समस्या को समझ लेते हैं। इस स्थाली-पुलाक-सर्वेक्षण का काम कुछ-कुछ हिस्सों को लेकर, उनकी जाँच करके, उसके आधार पर बेकारी तथा अन्य प्रकार के आँकड़े तैयार करना होता है। उदाहरणार्थ, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, अमृतसर आदि के आस-पास चार-चार हज़ार घरों के आँकड़े तैयार करके वहाँ की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की जानकारी हासिल करने से जहाँ और बातों का पता चलेगा, वहाँ उन स्थानों की बेकारी का भी पता चलेगा। यह समझा जाता है कि इस प्रकार की जाँच से जो परिणाम निकलते हैं, वे प्रायः सारे देश पर ठीक बैठते हैं। इस सर्वेक्षण द्वारा जाँच करने पर पता चला कि शहरों में १९५४ में २० लाख २४ हज़ार बेकार थे। इसका यह मतलब नहीं है कि बेकारों की संख्या इतनी ही है। ये तो अन्दाज की बातें हैं। इसी प्रकार के सर्वेक्षण से यह परिणाम निकाला गया है कि अपने देश में १४२ लाख व्यक्ति ३ आने से कम में, ३७५.११ लाख व्यक्ति ६ आने से कम में, १०७९ लाख व्यक्ति १० आने से कम में गुजर कर रहे हैं। ये आँकड़े १९५३ के हैं। इतनी ग़रीबी इसलिए है क्योंकि बेकारी भी इसी कदर ज्यादा है। ज्यादा लोग बेकार होंगे, तो ज्यादा ग़रीब क्यों न होंगे?

भारत की बेकारी की समस्या को तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है। गाँवों में लोग खेती-बाड़ी का काम करते हैं, उनके पास भूमि न रहने से 'कृषि-बेकारी' (Agricultural unemployment) बढ़ रही है। शहरों में कल-

कारखाने बढ़ रहे हैं। इन कारखानों में नये-नये आविष्कारों के परिणाम-स्वरूप आदमी का काम यन्त्र करने लगे हैं। इससे 'यान्त्रिक-बेकारी' (Technological unemployment) बढ़ रही है। तीसरी बेकारी पढ़े-लिखे लोगों में है। हमारे शिक्षित नौजवान नौकरी के सिवाय दूसरा काम कर नहीं पाते, इसलिए इस वर्ग में 'शिक्षितों की बेकारी' (Educational unemployment) बढ़ रही है। इन तीनों के विषय में कुछ विचार कर लेना आवश्यक है :—

३. कृषि बेकारी तथा उसका इलाज

भारत कृषि-प्रधान देश है। यहाँ की ८७ प्रतिशत जनता ५ लाख गाँवों में रहती है और उनमें से अधिकांश भूमि-माता का वरदान पाकर ही पेट पालती है, परन्तु जन-संख्या के बहुत अधिक बढ़ जाने तथा भूमि के बँट जाने के कारण लाखों लोग बेकार हो गये हैं। जिनके पास भूमि है भी, वह इतनी थोड़ी है कि उसकी उपज से उनके कुटुम्ब का भरण-पोषण नहीं हो पाता। पहले कृषि आमदनी का साधन थी, अब यह आमदनी का साधन नहीं रही, इसलिए किसान खेती छोड़ कर मज़दूरी करना ज्यादा पसन्द करते हैं। १९४८–४९ के सम्बन्ध में 'राष्ट्रीय-आय-कमेटी' (National Income Committee) की रिपोर्ट १९५१ में प्रकाशित हुई थी। इस रिपोर्ट के अनुसार भारत के ६८ प्रतिशत व्यक्ति जो कृषि में लगे हुए थे, उनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय १८० और अन्य व्यवसायों में लगे हुए व्यक्तियों की आय ४१६ रुपया कूती गई थी, जो कृषि की अपेक्षा अढ़ाई गुणा के लगभग थी। इसी कारण १९४१ से १९५१ तक दस साल के भीतर १ करोड़ आदमी गाँव छोड़ कर शहरों में काम की तलाश में आये—इससे स्पष्ट है कि या तो उनके पास भूमि थी ही नहीं, थी तो काफ़ी नहीं थी, काफ़ी थी तो उपजाऊ नहीं थी। किसान इसलिए भी बेकार रहता है क्योंकि सालभर तो जमीन में वह पैदा नहीं कर सकता। एक खेती बो देने के बाद उसके पकने तक उसे प्रतीक्षा में बैठा रहना पड़ता है। जहाँ नहरें आदि हैं, हर समय पानी मिल सकता है, वहाँ भी दो-अढ़ाई महीने उसे बेकार बैठना पड़ता है, परन्तु जहाँ पानी की पूरी व्यवस्था नहीं है, वहाँ पाँच-छः महीने आसमान में बादलों की ताक में वह गिन-गिन कर दिन निकाल देता है। हमारा किसान खेती के लिए ज्यादातर वर्षा पर निर्भर करता है।

इस सब समस्या का हल यही है कि बंजर जमीनों को नहरों, वैज्ञानिक खादों आदि से उपजाऊ बनाया जाय, उन्हें भूमिहीन किसानों में बाँटा जाय, जिनके पास जरूरत से ज्यादा जमीन पड़ी है उस भूमि को वे भूदान-यज्ञ में दान दे दें या राज्य की तरफ़ से कानून द्वारा वे जमीनें लेकर उन्हें किसानों में बाँट दिया जाय, किसानों की जो भूमियाँ इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं, उनकी चकबन्दी की जाय, उनका ऐसा बटवारा किया जाय जिससे एक किसान की सारी जमीन एक जगह आ जाय। इन सब बातों के अतिरिक्त खाली समय में किसान को काम देने के

लिए ग्रामों में कुटीरोद्योग खोलना, मौसमी बेकारी को दूर करने के लिए सार्वजनिक कार्यों का जारी कर देना, घनी जन-संख्या के क्षेत्र के लोगों को विरल जन-संख्या के क्षेत्र में ले जाकर बसाना, कृषि-सम्बन्धी बाज़ारों का संगठन करना आदि उपाय भी कृषि-बेकारी की समस्या को हल कर सकते हैं।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में २०५ लाख एकड़ भूमि को कृषि-योग्य बनाने का प्रयत्न किया गया, जो-कुछ प्रथम पंच-वर्षीय योजना में नहीं हो सका, वह द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में किये जाने का प्रयत्न हो रहा है। १९५१ से पूर्व समुद्र को बह जाने वाले जल में से कुल ५.६ प्रतिशत जल का सिंचाई के लिए उपयोग हो सकता था, विभाजन के बाद से इस जल का पूर्ण उपयोग करने के लिए १७० छोटी-बड़ी नई योजनाओं को चलाया गया जिससे १९५६ में यह जल-राशि ५.६ प्रतिशत से १० प्रतिशत हो गई और द्वितीय-योजना के अन्त तक कृषि के काम आने वाली यह जल-राशि और अधिक बढ़ जायगी। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में कृषि पर ३७२ करोड़ रखा गया था, द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में ५६५ करोड़ रखा गया है। प्रथम-योजना में सिंचाई पर ३९५ करोड़ रखा गया था, द्वितीय में ४५८ करोड़ रखा गया है। इतना रुपया ख़र्च करने पर कृषि-सम्बन्धी बेकारी घटेगी—यह आशा करना असंगत नहीं है।

पानी के अतिरिक्त भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए वैज्ञानिक खादों तथा ट्रेक्टर आदि के उपयोग से भी कृषि की उपज बहुत बढ़ सकती है। १९४८ में प्रतिव्यक्ति कृषि-योग्य भूमि का क्षेत्रफल .७१ एकड़ था, जापान में प्रतिव्यक्ति एक-तिहाई एकड़ था, परन्तु भारत के किसान की अपेक्षा थोड़ी भूमि होते हुए भी जापान के किसान की उपज भारत के किसान से ज्यादा है। भारत का किसान अगर बेकारी से बचना चाहता है, तो उसे फ़सलों को अच्छी तरह से अदल-बदल कर, अच्छे बीजों को लेकर, अच्छा वैज्ञानिक खाद देकर, वैज्ञानिक यन्त्रों का इस्तेमाल करके, सहकारिता के उपायों का प्रयोग करके अपनी स्थिति को सुधारना होगा। उसे यह भी जान लेना होगा कि खेती छोड़ कर सिर्फ़ शहर की ओर चल देने से उसकी समस्या का हल नहीं हो सकता, क्योंकि शहरों की बेकारी गाँवों की बेकारी से भी ज्यादा भीषण रूप धारण करती जा रही है।

४. यांत्रिक बेकारी तथा उसका इलाज

बेकारी का एक बहुत बड़ा कारण यांत्रिक-युग है। यंत्र-युग में मनुष्य का स्थान यन्त्र ले रहे हैं। जहाँ दस आदमी काम करते थे, वहाँ एक आदमी यन्त्र द्वारा दस मनुष्यों का काम कर रहा है। इसका यही मतलब है कि जितना यन्त्रीकरण बढ़ता जायगा, उतनी बेकारी बढ़ती जायगी। युरोप में 'यन्त्रीकरण' (Mechanization) से पहले बेकारी की समस्या नहीं थी। ज्यों-ज्यों 'प्राविधिक' अर्थात् 'यान्त्रिक'-आविष्कार (Technological inventions) बढ़ते गये, त्यों-त्यों मनुष्य का स्थान यन्त्र लेते गये। १९३२ में अमरीका में १ करोड़ ४०

लाख आदमी बेकार हो गए। जो लोग किसी के सामने सिर नहीं झुकाते थे, वे दर-दर भीख माँगने लगे। इस काल को 'महा-मंदी' (The Great Depression) का नाम दिया जाता है। असल में, पूँजीवाद का स्वाभाविक परिणाम बेकारी है। यन्त्र का काम थोड़े-से-थोड़े मनुष्यों द्वारा ज्यादा-से-ज्यादा पैदा करना है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो जाने पर वह खपे कहाँ? माल खपाने के लिए ही 'उपनिवेशवाद' (Colonialism) चला था। अन्दर माल नहीं खपता, यन्त्रों द्वारा ज़रूरत से ज्यादा बनता है, इसलिए नये-नये बाज़ार कब्जे में किये जाते थे, ज़बर्दस्ती की जाती थी। जिन देशों के पास उपनिवेश नहीं हैं, उनका माल अगर देश के अन्दर नहीं खप सकता, तो देश के बाहर माल भेजना पड़ता है। परन्तु बाहर भेजने वाले भी तो एक नहीं, अनेक देश हैं। समय आता है, मुकाबिले में माल का भाव गिराना पड़ता है। भाव इतना गिर जाता है कि अन्दर तथा बाहर लागत के भाव भी नहीं बिकता। कारख़ाने बन्द कर देने पड़ते हैं, जो थोड़े-बहुत लोग काम में लगे थे, वे भी बेकार हो जाते हैं। जो देश जबर्दस्ती दूसरे देशों को अपने आधीन रख सकते हैं, वे ज़बर्दस्ती दूसरों के गले माल उतारते हैं, परन्तु अब तो सभी देश जागने लगे हैं, कोई देश दूसरे के आधीन रहने को तैयार नहीं है, भारत स्वतन्त्र हो गया है, अन्य एशियाई देश अब किसी की घुड़की सुनने को तैयार नहीं हैं। बढ़ते हुए माल की खपत न हो, तो कारख़ानों का बन्द होना स्वाभाविक है, कारख़ानों के बन्द होने से बेकारी का और अधिक बढ़ जाना स्वाभाविक है। परन्तु अन्य देशों तथा भारत में एक भेद है। युरोप के देशों की जन-संख्या अधिक नहीं है, भारत की जन-संख्या का कोई अन्त नहीं। अन्य देशों में जन-संख्या की कमी के कारण यन्त्रों की वृद्धि की जा सकती है, भारत में जन-संख्या इतनी अधिक है कि यहाँ जितना 'यन्त्रीकरण' होगा, उतनी बेकारी बढ़ेगी।

भारत में यन्त्रीकरण के सम्बन्ध में दो पक्ष हैं। एक पक्ष का कथन तो यह है कि 'यन्त्रीकरण' को और अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है। जितने कल-कारख़ाने खुलेंगे, उतनी ही उत्पत्ति बढ़ेगी, जितनी उत्पत्ति बढ़ेगी, उतना दाम कम होगा। वस्तुओं के दाम कम होने से हर-एक व्यक्ति सब-तरह की वस्तुओं को ख़रीद सकेगा, जीवन का स्तर ऊँचा होगा। दूसरे पक्ष के लोगों का कहना है कि 'यन्त्रीकरण' तो मजदूर कम करने का तरीका है। जब मज़दूर कम हो जायेंगे, तो जो लोग मजदूरी तक नहीं कर सकते, वे सस्ती वस्तुओं को भी कैसे ख़रीद सकेंगे? ख़रीदने के लिए जीवन का स्तर नहीं, क्रय-शक्ति का स्तर ऊँचा होना चाहिए, परन्तु बेकारी में तो क्रय-शक्ति ही नहीं रहती। इस सारी स्थिति को सोच-समझ कर महात्मा गांधी ने बड़ी दूर-दर्शिता से स्वदेशी-आन्दोलन खड़ा किया था। स्वदेशी-आन्दोलन केवल अंग्रेज़ों के साथ ही लड़ाई का साधन नहीं था, यह बेकारी दूर करने का भी सबसे उत्तम उपाय था। यह ठीक है कि जो बड़े-बड़े कल-कारख़ाने हैं, वे हटाये नहीं जा सकते, परन्तु इतना तो किया

जा सकता है कि जो काम छोटे कारखानों से नहीं चल सकता वही बड़ों से लिया जाय, जो काम छोटे कारखानों से चल सकता है, वह बड़ों से न लिया जाय। दस्तकारी में मशीन के बजाय मनुष्य काम करता है, इसलिए जिस देश के पास जन-संख्या कम हो, उसे मशीन तथा जिसके पास जन-संख्या अधिक हो, उसे मनुष्य द्वारा काम लेना होगा। मशीन की आवश्यकता तो तब होनी चाहिए जब मनुष्य काम न कर सके, अगर मनुष्य के रहते मशीन काम करेगी, तो मनुष्य स्वयं बेकार हो जायगा।

उद्योगों को तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है--'बड़े पैमाने के उद्योग' (Large scale Industries), 'छोटे पैमाने के उद्योग' (Small scale Industries) तथा 'गृहोद्योग' (Cottage Industries)। 'गृहोद्योगों' के स्थान में जितने 'छोटे पैमाने के उद्योग' बढ़ेंगे, उतना ही कम आदमियों से काम चलेगा, और 'छोटे पैमाने के उद्योगों' के स्थान में जितने 'बड़े पैमाने के उद्योग' बढ़ेंगे, उतनी ही बेकारी बढ़ेगी। इसके साथ ही जितने आविष्कार बढ़ते जायेंगे, उतनी ही ऐसी मशीनें निकलती आयेंगी जिनके द्वारा बिना कारीगर के भी काम चलने लगेगा। ये स्वयं चलने वाले यन्त्र मनुष्य को बिलकुल बेकार करके छोड़ेंगे। ऐसी अवस्था को देख कर भारत को अपनी आर्थिक-नीति में परिवर्त्तन करना होगा, और बड़े-बड़े कारखाने खोलने के बजाय गृहोद्योग जारी करने होंगे। गृहोद्योगों में सारा काम मनुष्य करता है, इसलिए जितने ये उद्योग बढ़ेंगे, उतनी बेकारी घटेगी।

इसमें सन्देह नहीं कि शुरू-शुरू में गृहोद्योगों के पनपने के लिए सरकार को उनकी मदद करनी पड़ेगी। इन उद्योगों द्वारा जो माल बनेगा, वह मशीनों के माल के मुकाबिले में कुछ घटिया दर्जे का होगा, उस पर व्यय भी अधिक पड़ेगा, परन्तु जनता में स्वदेशी की भावना को जागृत करना होगा। हमारे सामने दो विकल्प हैं--या तो गृहोद्योगों द्वारा बनी हुई सादी चीजों का इस्तेमाल करके बेकारी को कम करें, या मनुष्यों के स्थान पर मशीनों द्वारा बनी हुई चीजों को बढ़ा कर बेकारी को बढ़ायें। देश-भक्ति इसी बात में है कि हम गृहोद्योगों को बढ़ा कर अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को काम में लगायें। जब तक एक-एक व्यक्ति काम में नहीं लग जाता, तब तक बड़े कल-कारखाने खोलना बेकारी को बढ़ाना है। राज्य को इन गृहोद्योगों के बढ़ाने के लिए इन्हें सहायता देनी होगी। इसी दृष्टि को सामने रख कर जहाँ प्रथम पंच-वर्षीय योजना में पहले २,०६९ करोड़ रुपये का खर्च रखा गया था, वहाँ १७५ करोड़ रुपया और बढ़ा दिया गया, और खर्च २,०६९ के स्थान में २,२४४ करोड़ कर दिया गया। खादी के विस्तार के लिए २ करोड़ रुपया स्वीकृत किया गया। खादी एक गृहोद्योग है। इस २ करोड़ की स्वीकृति का यह परिणाम है कि खादी के दाम में रुपए पीछे ३ आना छूट दी जाती है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में कुल ४,८०० व्यय होगा, जिसमें से अखिल-भारतीय चर्खा तथा ग्रामोद्योग-संघ को २०० करोड़ दिये

जाने की व्यवस्था है जिसमें से ५९ करोड़ लगभग खादी के विस्तार के लिए व्यय होगा। अम्बर-चर्खे बनेंगे और बेकारी दूर होगी। मिल के कपड़े की जगह खादी का जितना प्रचार बढ़ेगा उतनी बेकारी कम होगी क्योंकि खादी को पैदा करने के लिए मिलों में काम करने वालों की अपेक्षा अधिक व्यक्ति काम करेंगे। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। जैसे बड़े-बड़े कामों के लिए आविष्कार होते हैं, वैसे गृहोद्योगों में उत्तम माल पैदा करने के लिए, कारख़ानों में बने माल का मुकाबिला करने के लिए नवीन-आविष्कार भी होने लगेंगे, और ऐसी अवस्था स्वयं आ जायगी जब गृहोद्योगों का माल मिलों के माल से किसी कदर कम नहीं होगा। खादी की तरह घानी का तेल, हाथ से कुटा चावल, गाँव में बनी शक्कर और खांड, हाथ से बने जूते, घर में बना साबुन, रेशमी कीड़े पालना, उनका सूत, करघे पर बुना सूती, ऊनी तथा रेशमी कपड़ा आदि अनेक ऐसे गृहोद्योग हैं जिनके विकास से लाखों-करोड़ों व्यक्ति जीविका उपार्जन करने में लग जायेंगे, और इन सब उद्योगों द्वारा बना हुआ माल नये-नये आविष्कारों से, ऐसे आविष्कारों से जो छोटे पैमाने पर बने माल को मिल जैसा बना सकेंगे, उत्कृष्ट कोटि का बन सकेगा। मशीन का काम माल को सस्ता तथा अच्छा बनाना है। मशीन माल को सस्ता इसलिए बनाती है क्योंकि कई आदमियों को बेकार कर देती है। नये आविष्कार गृहोद्योगों द्वारा बने माल को सस्ता तथा उत्तम बनान में सहायता दे सकेंगे, और साथ ही गृहोद्योगों द्वारा बेकारी की समस्या भी दूर होगी। आख़िर, आविष्कार तो आविष्कार है। जैसे बड़ी मशीनों के लिए आविष्कार हुए हैं, वैसे ऐसे आविष्कार भी हो सकते हैं, जो गृहोद्योगों का माल सस्ता भी बना सकें, और उत्तम भी बना सकें ताकि बेकारी हट सके। ऐसे ही आविष्कारों में अम्बर-चर्खे का आविष्कार है।

गृहोद्योगों से यह भी फ़ायदा होगा कि जो किसान साल में कई महीने बेकार बैठे रहते हैं उन्हें ख़ाली समय में अपनी आमदनी बढ़ाने का अवसर मिलेगा, और करोड़ों किसान जो खेती को घाटे का धंधा समझ कर शहरों को चल देते हैं, वे फिर से गाँवों को लौटने लगेंगे, और भारत की बेकारी की समस्या हल हो जायगी।

हमारे कहने का यह मतलब नहीं है कि हमें बड़े-बड़े कल-कारख़ाने बन्द कर देने होंगे। कई वस्तुएँ तो बड़े कारख़ानों द्वारा ही बन सकती हैं। लोहे के कारख़ाने इसी श्रेणी के हैं। कई प्रकार का ऐसा कच्चा माल है, जो अपने देश में बहुत ज्यादा होता है, दूसरे देशों में होता ही नहीं। ऐसे माल को कच्ची हालत में भेजने के बजाय उसको पक्का बनाकर भेजने से देश की आय बढ़ सकती है, और उस माल को तैयार करने के लिए बड़े-बड़े नये कारख़ाने खोलना भी जरूरी है। बाहर से जिस माल का 'आयात' (Import) होता है, उसे यहाँ पैदा करने के लिए भी कल-कारख़ाने खोलने की आवश्यकता है। इस प्रकार के जितने बड़े-बड़े कारख़ाने खुलेंगे, वे भी बेकारी की समस्या को हल करेंगे। इन कारख़ानों

को खोलने के लिए 'निजी-क्षेत्र' (Private sector) की पूंजी को प्रोत्साहन देना होगा, इस प्रकार की पूंजी लगाने वालों को 'निर्यात' (Export) की पूरी सुविधा देनी होगी, उनका कर भी कम करना होगा ताकि ऐसी पूंजी व्यापार के क्षेत्र में अधिकाधिक आये, परन्तु जो काम गृहोद्योगों द्वारा हो सकते हैं, उनके लिए बड़े-बड़े कारख़ाने खड़े करने से तो देश की बेकारी बढ़ती ही जायेगी, इसलिए इतने अंश तक ही 'यन्त्रीकरण' करना होगा जितने अंश में वह गृहोद्योग में रुकावट न हो। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में यह आशा की गई है कि निजी-क्षेत्र में २,४०० करोड़ रुपया ख़र्च होगा। यह रुपया देश की जन-संख्या के काफ़ी हिस्से को काम दे सकेगा।

५. शिक्षितों की बेकारी तथा उसका इलाज

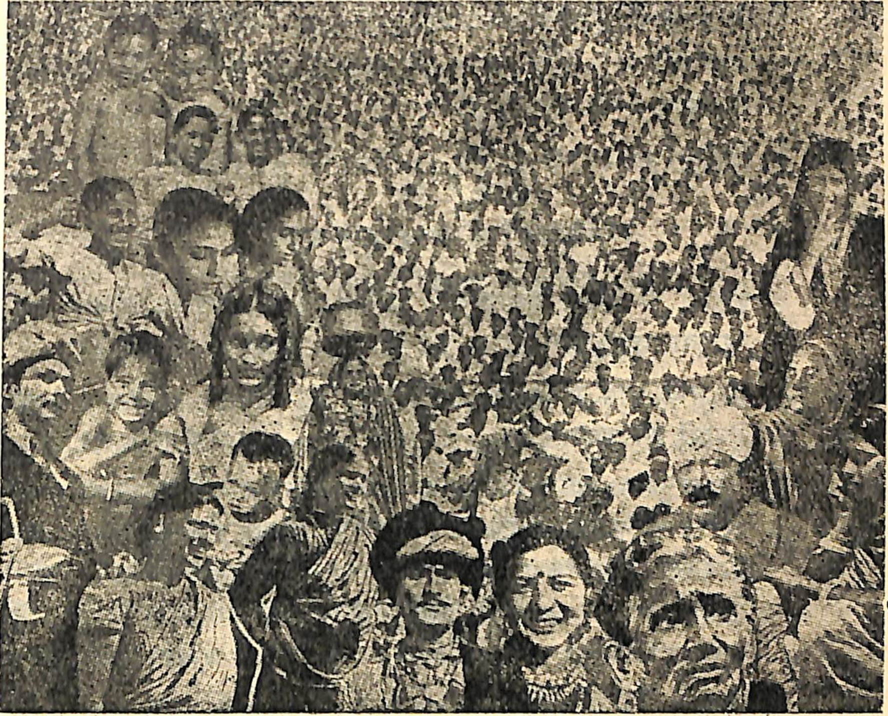
अपने देश में शिक्षा का उद्देश्य रोज़गार देना था। १८३५ में लार्ड मैकाले ने इस शिक्षा-प्रणाली को जन्म ही इसलिए दिया था ताकि पढ़-लिख कर लोग सरकारी नौकरियों में भरती हो सकें। इस समय पढ़े-लिखे व्यक्तियों की संख्या नौकरियों की संख्या से कई गुना अधिक हो गई है, परन्तु फिर भी पढ़ाई-लिखाई को आजीविका का प्रश्न हल करने का साधन समझा जाता है। इस दिशा में दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है। माध्यमिक-शिक्षा के बाद हर बालक की मानसिक-परीक्षा होनी चाहिए। जो आगे चल सकने योग्य हों, वही आगे चलें, बाकी को किसी उद्योग-धंधे की शिक्षा दी जाय, तो पढ़ाई के बाद बेकार रहने की आवश्यकता नहीं होगी। इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रख कर केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-मंत्रालय ने स्कूल की शिक्षा १२ के स्थान पर ११ साल कर देने की योजना बनाई है ताकि ११ साल पढ़ लेने के बाद एक मंज़िल पूरी हो जाय, और लड़का किसी व्यवसाय में चला जाय। हर-एक लड़का बी० ए०, एम० ए० ही हो, इसकी क्या ज़रूरत है? अगर पढ़ना-लिखना आजीविका के प्रश्न को हल करने के लिए है, तो इतना ही पढ़ना चाहिए जितना अत्यन्त ज़रूरी है। कुछ साल पहले पढ़े-लिखों की बेकारी को दूर करने के लिए योजना-कमीशन ने प्रारम्भिक-शिक्षा के लिए ८० हज़ार नये शिक्षकों को नियुक्त करने का निश्चय किया था। परन्तु इस प्रकार कहाँ तक भर्त्ती की जा सकती है? असली हल शिक्षा की दिशा को बदलना है। राधाकृष्णन-कमीशन ने यह देख कर कि देश की अधिक संख्या खेती के क्षेत्र से आती है यह सिफ़ारिश की थी कि सारी शिक्षा को, अन्य विषयों के साथ-साथ कृषि के विचार से ओत-प्रोत कर दिया जाय। प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च-शिक्षा में कृषि को सर्वोत्तम स्थान मिलना चाहिए। कृषि के साथ दस्तकारी को भी ऊँचा स्थान देना होगा। विद्यार्थियों तथा माता-पिता का यह विचार कि पढ़-लिख कर लड़का नौकरी करेगा—यह दृष्टिकोण सर्वथा बदल देना होगा, तभी शिक्षितों की बेकारी की समस्या का हल हो सकेगा, अन्यथा नहीं। इस दिशा में उत्तर-प्रदेश की सरकार ने यह घोषणा की थी कि वह गाँवों के सभी प्राथमिक-शिक्षणालयों को कृषि-विद्यालयों का रूप दे देगी। इससे गाँवों की

८० प्रतिशत आबादी जो प्राथमिक-स्कूलों में शिक्षा ग्रहण कर रही है, आत्म-निर्भर होना सीखेगी क्योंकि इस प्रकार की शिक्षा से कमाई का एक साधन उनके हाथ में आ जायगा। प्रत्येक शिक्षणालय के साथ एक १० एकड़ का फ़ार्म होगा जिसमें विद्यार्थी तथा शिक्षक प्रतिदिन दो घंटे कृषि करेंगे। कृषि के साथ उन्हें पशु-पालन, ग्रामीण अर्थ-शास्त्र आदि विषयों की शिक्षा भी दी जायगी। इसी उद्देश्य से उत्तर-प्रदेश सरकार ने तीन हज़ार दो-सौ कृषि-पंडितों की भर्त्ती की थी जो अब विद्यार्थियों को कृषि की शिक्षा दे रहे हैं। अनेक उच्चतर-माध्यमिक-विद्यालयों को उत्तर-प्रदेश की सरकार पोलीटेक्नीक या मल्टी-परपज़ संस्थाओं का रूप दे रही है जिससे प्राथमिक-शिक्षणालयों से आने वाले विद्यार्थी किसी हुनर की विशेष योग्यता प्राप्त कर सकें। आशा की जानी चाहिए कि इस प्रयत्न से शिक्षितों की बेकारी की समस्या का कुछ हल होगा क्योंकि कृषि की ही विशेष तौर पर तथा अन्य उद्योगों की शिक्षा ग्रहण करने के अनन्तर विद्यार्थी इधर-उधर दूसरे धंधों में भागने के स्थान पर कृषि तथा गृहोद्योगों में ही अपने ध्यान को केन्द्रित कर सकेंगे।

६. बेकारी के विषय में कुछ अन्य बातें

(क) विस्थापितों की बेकारी--१५ अगस्त १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ, और उसी दिन से भारत तथा पाकिस्तान को एक अभूतपूर्व समस्या का सामना करना पड़ा। ५० लाख व्यक्ति पश्चिमी पाकिस्तान से और ३२ लाख पूर्वीय पाकिस्तान से भारत में आये। यह संख्या १९५० तक की है, उसके बाद भी अनेक व्यक्तियों को इस देश में आना पड़ा। उनके बने-बनाये घर-बार मिनटों में उजड़ गये, और भारत को एक अत्यन्त संकट का सामना करना पड़ा। भारत का करोड़ों रुपया इन विस्थापितों को रोज़गार देने में लग गया, परन्तु इनके ठीक-ठीक पुनर्वास के लिए 'कृषि' (Agriculture) तथा 'उद्योग' (Industry) के सम्बन्ध में जो विचार हम ऊपर प्रकट कर आये हैं उनका क्रियारूप में परिणत होना आवश्यक है। जितना हम कृषि तथा गृहोद्योगों में उन्नति करेंगे उतना ही विस्थापितों का पुनर्वास होगा, और उनकी बेकारी भी दूर होगी।

(ख) जन-संख्या की बढ़ती के कारण बेकारी--भारत की जन-संख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ रही है। स्वास्थ्य आदि कारणों के कारण मृत्यु-संख्या में तो कमी होती जा रही है, परन्तु उत्पत्ति में कोई कमी नहीं है। १९४१ से १९५१ तक इस देश की जन-संख्या में १३.४ प्रतिशत वृद्धि हुई है। १९५१ में हमारे देश की जन-संख्या ३६,१८,५१,६०४ थी। हिसाब लगाने वालों का कहना है कि १९६१ में यह आबादी बढ़ कर ४० करोड़ हो जायगी। इस प्रकार जन-संख्या की वृद्धि के साथ आर्थिक-स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। १९५६ में संसार की कुल जन-संख्या २ अरब ७० करोड़ थी जिसमें प्रति घंटा ५ हज़ार तथा प्रति-दिन १ लाख २० हज़ार व्यक्ति बढ़ रहे ह। यू० एन० ओ० के विशेषज्ञों का कथन



हर साल भारत की आबादी ५० लाख बढ़ती है जो स्विट्ज़रलैण्ड की आबादी के बराबर है

है कि संसार में जन्म-दर प्रति हज़ार ३४ तथा मृत्यु-दर प्रति हज़ार १८ व्यक्ति है।* इस अवस्था को नियंत्रित करने के लिए आवश्यक है कि सन्तति-निरोध पर बल दिया जाय। प्रत्येक देश की जनता में यह विचार उत्पन्न हो जाना आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को उतनी ही सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार है जिनको वह खिला-पिला सकता है, जिनकी देख-रेख कर सकता है। यह निरोध ब्रह्मचर्य-पूर्वक हो, अविवाह द्वारा हो, संतति-निरोध के उपायों से हो, किसी तरह भी हो, परन्तु जन-संख्या का बेतहाशा बढ़ना किसी भी देश में बेकारी को बढ़ाने में ही कारण बन सकता है।

प्रश्न

१. 'कृषि-बेकारी' (Agricultural unemployment) क्या है? इसे दूर करने के क्या उपाय हैं? भारत-सरकार इसे दूर करने के लिए क्या उपाय कर रही है?

---

*U.N. Demographic Year Book for 1956.

२. 'यन्त्रीकरण' (Mechanization) तथा 'गृहोद्योग' (Cottage Industries) में से भारत की बेकारी की समस्या को कौन-सी प्रक्रिया हल कर सकती है ?

३. शिक्षितों की बेकारी को कैसे दूर किया जा सकता है ?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. बेकारी के कितने प्रकार हैं? प्रत्येक के निवारण के साधनों की व्याख्या कीजिए। (लखनऊ, १९५०)

२. भारतीय कृषि में बेकारी के कारणों का विवेचन कीजिए। मुख्य उपायों को बताइए। (आगरा, १९५३)

३. "किसी अन्य कारण की तुलना में बेकारी के कारण अधिकांश अच्छे व्यक्ति सामाजिक-क्रांति के पृष्ठ-पोषक हो गये।"—इस कथन की विवेचना भारतीय पर्यावरणों को सम्मुख रखकर कीजिये, और बेकारी को दूर करने के लिये भारतीय-सरकार द्वारा किये जाने वाले उपायों का वर्णन कीजिये। (आगरा, १९५६)

४. 'बेकारी' एक सामाजिक-समस्या है—इस कथन का विश्लेषण करते हुए बेकारी के रुख, उसके कारण तथा उसके परिणामों का विवेचन कीजिए। बेकारी को दूर करने के उपायों का भी वर्णन कीजिए। (राजपूताना, १९५४)

३४

बालापराध तथा युवापराध

(DELINQUENCY AND CRIME)

'अपराध' पर आयु की दृष्टि से विचार किया जाय, तो कहना पड़ेगा कि ७ बर्ष से कम आयु के बालक को अच्छे-बुरे का ज्ञान नहीं होता अतः वह 'अपराध' नहीं करता; ७ से १८ वर्ष के बालक को अच्छे-बुरे का ज्ञान होता है, परन्तु वह सुधर सकता है अतः इस आयु के अपराधों को कई लोग 'बालापराध' तथा कई 'किशोरापराध' कहते हैं--यह आयु कई लोग १८ तक, कई २१ तक खींच ले जाते हैं; १८ या २१ के बाद की आयु में जो अपराध किये जाते हैं उनके विषय में समझा जाता है कि ऐसा व्यक्ति बड़ी कठिनाई से सुधरेगा, वह जान-बूझ कर अपराध करता है, वह युवा होने पर भी अपराध करता है अतः उसके अपराधों को 'युवापराध' कहते हैं। अंग्रेज़ी में 'बालापराध' को 'डिलेन्क्वेन्सी' तथा 'युवापराध को 'क्राइम' कहते हैं। 'बालापराध' के विषय में ऊपर हमने जो-कुछ कहा उस दृष्टि से 'डिलेन्क्वेन्सी' एक तरह से अपराध के लिए प्रवृत्ति का नाम है, 'युवापराध' तो शुद्ध अर्थों में अपराध ही है।

१. अपराध की परिभाषा

'अपराध' की परिभाषा भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न की है जिसमें से मुख्य-मुख्य परिभाषाएँ निम्न हैं:--

[क] लेन्डिस और लेन्डिस की व्याख्या--"अपराध उस काम को कहते हैं जिसे राज्य ने समूह के कल्याण के लिए हानिकर घोषित कर दिया है और जिसे करने पर राज्य दण्ड दे सकता है।"

[ख] इलियट तथा मैरिल की व्याख्या--"अपराध उस समाज-विरोधी व्यवहार को कहते हैं जिसे समूह ने त्याज्य तथा दण्डमीय घोषित कर दिया है।"

[क] "Crime is an act which the state has declared harmful to group-welfare and which the state has power to punish." —*Landis and Landis.*

[ख] "Crime may be defined as an anti-social behaviour which the group rejects and to which it attaches penalties." —*Elliot and Merrill.*

[ग] गिलिन तथा गिलिन की व्याख्या--"कानूनी दृष्टि-कोण से देश के कानून के विरुद्ध व्यवहार को अपराध कहा जाता है।"

इस दृष्टि से समाज-विरोधी-कार्य 'अपराध' (Crime) है। इसका आधार कानूनी-दृष्टिकोण है। धर्म-शास्त्र विरोधी कार्य को 'पाप' कहते हैं; नीति-शास्त्र विरोधी कार्य को 'दुराचार' या 'अनैतिक' कहते हैं; समाज-शास्त्र विरोधी कार्य को 'अपराध' कहते हैं। पाप का दंड लोग ईश्वर के आधीन समझते हैं; दुराचार तथा अनैतिकता का दण्ड मनुष्य की अन्तरात्मा देती रहती है, मनुष्य को इससे आत्म-ग्लानि होती रहती है; अपराध का दण्ड राज्य देता है।

२. अपराध पर दार्शनिक विचार

जो अपराध बालक करते हैं, उन्हें 'बालापराध' या 'किशोरापराध' (Delinquency) तथा जो बड़ी आयु के व्यक्ति करते हैं, उन्हें 'युवापराध' (Crime) कहते हैं। बालक के विषय में समझा जाता है कि उसका अपना दोष इतना नहीं है, वंशानुगत कारणों या पर्यावरण से वह बिगड़ रहा है, उसका सुधार हो सकता है; बड़े आदमी के विषय में समझा जाता है कि वंशानुगत या पर्यावरण जिस भी कारण से वह बिगड़ा हो, अब अपनी जिम्मेदारी को समझने लगा है, फिर भी बिगड़ा है, इसलिए उसका दोष ज्यादा है। वैसे आधारभूत दृष्टि से देखा जाय, तो बालकों तथा युवाओं के अपराध के रूप में विशेष भेद नहीं है।

(क) 'अपराध किसे कहते हैं ?

सबसे पहला प्रश्न यह है कि 'अपराध' कहते किसे हैं? समाज में व्यक्ति भिन्न-भिन्न पर्यावरण में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया करता है। भूखा होने पर एक बालक माँ से रोटी माँगता है, दूसरा बालक जब कोई देख न रहा हो, तो दूसरे के घर से रोटी उड़ा लाता है। बालक के सामने दो 'विकल्प' थे--एक माँ से रोटी माँग लेना, दूसरा मौका मिलते ही रोटी उड़ा लेना। इन दोनों विकल्पों में से रोटी उड़ा लेने के विकल्प को हम अपराध कहते हैं, रोटी माँग लेने के विकल्प को अपराध नहीं कहते। परन्तु क्यों? इसका विश्लेषण करते हुए श्री लिन्टन (Linton) ने 'आचार' को तीन भागों में बाँटा है--'सार्वत्रिक' (Universals), 'वैशेषिक' (Specialities) तथा 'वैकल्पिक' (Alternatives)। प्रत्येक संस्कृति में कुछ ऐसे आचार, कुछ ऐसे व्यवहार होते हैं जो समाज में सर्व-मान्य कहे जाते हैं--इन्हें सब जगह चलने के कारण 'सार्वत्रिक' कहते हैं। यह नहीं कि शुरू में ही ये 'सार्वत्रिक' होते हैं। शुरू-शुरू में तो हर आचार, हर व्यवहार परीक्षण के स्तर पर होता है। जब समाज अनुभव कर लेता है कि यह आचार ठीक है, तब वह उसे अपना लेता है, ठोक-बजा कर अपना लेने के बाद वह उसे छोड़ता नहीं। उदाहरणार्थ, दूसरे की वस्तु को बिना पूछे

[ग] "From legal point of view crime is an offence against the law of the land."—*Gillin and Gillin.*

न लेना, ईमानदारी, सच बोलना, आदि 'सार्वत्रिक'-आचार बन चुके हैं। एक-पत्नी-विवाह अब धीरे-धीरे 'सार्वत्रिक'-आचार बनता जा रहा है। परन्तु किसी देश की संस्कृति इन थोड़े-से 'सार्वत्रिक'-आचारों में समाप्त नहीं हो जाती। हर-एक संस्कृति के अपने-अपने 'सार्वत्रिक'-आचार होते हैं। एक संस्कृति में दूसरी संस्कृति से भिन्न 'सार्वत्रिक'-आचार भी हो सकते हैं। जितनी भी प्रथाएँ तथा रूढ़ियाँ हैं, वे जिस-जिस समाज में प्रचलित हैं, उस-उस समाज के लिए वे सब 'सार्वत्रिक'-आचार हैं। उस-उस समाज के लोग उन-उन आचारों को सर्व-मान्य समझते हैं, उनके प्रतिकूल नहीं जाते। इस प्रकार के 'सार्वत्रिक'-आचार दस-पाँच नहीं, सैंकड़ों-हजारों हो सकते हैं। जिस आचार पर समाज ने मुहर लगा दी, उसे अपनी सामाजिक-रचना का अंग बना लिया, वह उस समाज का 'सार्वत्रिक'-आचार बन गया। बैठकर भोजन खाना, बड़ों की आज्ञा पालना, हाथ जोड़कर नमस्ते करना, पढ़ना-लिखना—ये सब सर्व-मान्य हैं, और इन सब को 'सार्वत्रिक'-आचार कहा जा सकता है। अनेक आचार जो अब तक 'सार्वत्रिक' नहीं थे, धीरे-धीरे 'सार्वत्रिक' के क्षेत्र में आते-जाते हैं। इन 'सार्वत्रिक' (Universals) आचारों में से हर-एक व्यक्ति को हर आचार को व्यवहार में लाने का मौका नहीं मिलता। किसी भी संस्कृति में 'सार्वत्रिक'-आचार इतने अधिक होते हैं, ऐसे आचार जिनको उस संस्कृति के सब लोग बिना ननुनच के अपने लिए आदर्श समझते ह, कि अगर हर-एक आचार को क्रिया में लाने लगें, तो इसी परीक्षण में आयु समाप्त हो जाय। इन 'सार्वत्रिक'-आचारों को समाज का हर व्यक्ति जानता तो है, परन्तु व्यवहार में कुछ इने-गिने आचार ही उस के काम में आते हैं। पढ़ना-लिखना एक 'सार्वत्रिक'-आचार है, परन्तु कितने ही हैं जिन्हें पढ़ने-लिखने का अवसर ही प्राप्त नहीं होता, अगर वे पढ़ते-लिखते भी हैं, तो थोड़ा पढ़-लिख लेने के बाद किसी काम-धंधे में लग जाते हैं। कहने का मतलब यह है कि 'सार्वत्रिक'-आचारों में से कुछ आचार व्यक्ति करता है, कुछ नहीं करता। जिन आचारों को वह नहीं करता, उनके विषय में तो ठीक-ग़लत का सवाल ही नहीं उठ सकता, जिन आचारों को वह करता है, उन्हीं के विषय में ही तो कहा जा सकता है कि वे सही हैं, या ग़लत। क्योंकि व्यक्ति समाज के हर-किसी 'सार्वत्रिक'-आचार को नहीं कर सकता, उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उन सब को वह करना चाहे तो भी नहीं कर सकता, इस प्रकार के अनेक आचारों में से कुछ-एक को करता है, इसलिए जिन आचारों को वह करता है, उन्हें 'वैशेषिक' (Specialities) कहते हैं—'वैशेषिक' इसलिए क्योंकि अनेक 'सार्वत्रिकों' में ये 'विशेष' हैं, विशेष इसलिए हैं क्योंकि सब को व्यक्ति नहीं करता, सिर्फ़ इन 'विशेषों' को करता है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति है जिसने पढ़ना-लिखना शुरू कर दिया। वह अन्य किसी 'सार्वत्रिक'-आचार को भी कर सकता था। तरना सीखता, पहाड़ पर चढ़ना सीखता, अन्य अनेक बातें करता, परन्तु उसने और कुछ नहीं किया, अनेक 'सार्वत्रिक'-आचारों में से पढ़ने-लिखने के 'सार्वत्रिक'-आचार को चुन लिया। जैसा हमने अभी

कहा, जब कोई व्यक्ति अनेक 'सार्वत्रिक'-आचारों में से किसी एक 'सार्वत्रिक'-आचार को चुन लेता है, तब यह उसका 'विशेष'-आचार (Speciality) कहलाता है। यह 'विशेष'-आचार होता तो 'सार्वत्रिक' ही है, परन्तु सब 'सार्वत्रिक'-आचारों को तो व्यक्ति नहीं करता, अपने पर्यावरण के अनुसार जिस-किसी को चाहता है उसे करता है। जिसे वह करता है, वही 'विशेष-आचार' है। 'सार्वत्रिक'-आचार और 'विशेष'-आचार एक ही बात का नाम है—'सार्वत्रिक'-आचार अनेक होते हैं, उन अनेकों में से जिस एक को व्यक्ति व्यवहार में लाता है, वह उसका 'विशेष'-आचार है। इस 'विशेष'-आचार को क्रिया में परिणत करने के लिए अनेक काम अर्थात् अन्य अनेक आचार किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, लिखने का आचार 'सार्वत्रिक' था, अगर हमने लिखना शुरू कर दिया, तो वह 'सार्वत्रिक' होता हुआ भी 'विशेष' हो गया, परन्तु 'विशेष' होते हुए भी लिखना कई तरह से हो सकता है। लिखने के लिए पेंसिल से, कलम से, फौंटेन पेन से, फ़ौन्टेन पेनों में भी दर्जनों किस्में हैं उनमें से किसी भी एक से लिखा जा सकता है। हम पेंसिल से न लिख कर फौन्टेन पेन से लिखने लगते हैं। इसका यह मतलब हुआ कि हमने पेंसिल को छोड़ दिया, कलम को छोड़ दिया, फौन्टेन पेन को ले लिया। इस प्रकार इन अनेक 'विशेष'-आचारों में से किसी एक को चुन लेना और दूसरों को छोड़ देना 'वैकल्पिक'-आचार (Alternative) कहलाता है। इसको 'वैकल्पिक' इसलिए कहते हैं क्योंकि हमारे सामने कई 'विकल्प' थे जिनमें से एक 'विकल्प' को हमने चुन लिया, अन्य 'विकल्पों' को छोड़ दिया। 'अपराध' क्या है— इसे समझने के लिए इस बिन्दु को पकड़ लेना जरूरी है। यह 'वैकल्पिक'-आचार, जिसका हमने अभी ज़िक्र किया, दो तरह का हो सकता है। एक तो ऐसा, जो 'सार्वत्रिक'-आचार से मेल खाता हो, उसके विरुद्ध न जाता हो; दूसरा ऐसा, जो 'सार्वत्रिक'-आचार से मेल न खाता हो, उसकी भावना के, उसकी स्पिरिट के विरुद्ध हो। जो 'वैकल्पिक'-आचार 'सार्वत्रिक'-आचार से मेल खाते हैं, उसकी भावना के विरुद्ध नहीं हैं, उन्हें समाज ठीक आचार कहता है, जो 'वैकल्पिक'-आचार 'सार्वत्रिक'-आचार से मेल नहीं खाते, उसकी भावना के विरुद्ध हैं, उन्हें समाज 'अपराध' का नाम देता है। लिंटन ने उन 'वैकल्पिक'-आचारों को जो 'सार्वजनिक'-आचार से मेल खाते हैं, 'वैकल्पिक-सार्वत्रिक' (Alternate universals) का नाम दिया है; उन 'वैकल्पिक'-आचारों को जो 'सार्वत्रिक'-आचार से मेल नहीं खाते, 'विभेदक-विकल्प' (Variant alternatives) का नाम दिया है। उदाहरणार्थ, रुपया पैदा करना एक 'सार्वत्रिक'-आचार (Universal) है। एक व्यक्ति ने अनेक 'सार्वत्रिकों' में से इसको चुन लिया, इसलिए यह 'विशेष'-आचार (Speciality) हो गया। अब आगे चलिये। रुपया पैदा करने के लिए उस व्यक्ति के सामने कई 'विकल्प' हैं। मेहनत-मजदूरी करके, व्यापार करके भी वह रुपया पैदा कर सकता है, चोरी-डकैती से, चोर-बाजारी से, ठगी से भी वह रुपया पैदा कर सकता है। इनमें से व्यापार करके, मेहनत-मजदूरी करके रुपया पैदा करने के 'विकल्प'

(Alternatives) हमारी संस्कृति में सर्व-मान्य हैं, 'सार्वत्रिक'-चरित्र की श्रेणी में आ चुके हैं। इन विकल्पों द्वारा रुपया पैदा करना 'वैकल्पिक-सार्वत्रिक' (Alternate universal) होगा, यह बुरा नहीं माना जायगा, इसलिए बुरा नहीं माना जायगा क्योंकि यह 'विकल्प' हमारे 'सार्वत्रिक'-आचार से मेल खाता है; चोरी-डकती से, चोर-बाज़ारी से, ठगी से रुपया पैदा करना बुरा माना जाता है, यह विकल्प हमारे 'सार्वत्रिक'-आचार से मेल नहीं खाता, उससे भिन्न है, इसलिए इसे 'विभेदक-विकल्प' (Variant alternative) कहते हैं, यह 'अपराध' माना जाता है। तो फिर 'अपराध' किसे कहते हैं? हमारा जो आचार 'सार्वत्रिक'-आचार से मेल नहीं खाता, उससे भिन्न है, जो 'विभेदक-विकल्प' है, वह 'अपराध' है।

परन्तु प्रश्न हो सकता है कि 'सार्वत्रिक'-आचार पैदा कैसे होते हैं? हमने अभी कहा था कि हम जब कोई 'आचार' करना चाहते हैं, तब हमारे सामने कई 'विकल्प' होते हैं। हम रुपया पैदा करना चाहते हैं। ईमानदारी और सचाई से रुपया पैदा करना आजकल 'सार्वत्रिक'-आचार बना हुआ है, परन्तु क्या शुरू से ही यह इस प्रकार का 'सार्वत्रिक'-आचार बन गया था? जब समाज में रुपया पैदा करने की दौड़ मची, तब व्यक्ति के सामने कई 'विकल्प' (Alternatives) थे। ईमानदारी से, बेईमानी से, सच से, झूठ से, चोरी से, डकैती से—इन सब विकल्पों से रुपया पैदा हो सकता है। शुरू-शुरू में इन सब 'वैकल्पिक-आचारों' में संघर्ष होता है, समाज कभी ईमानदारी की तरफ़ झुकता है, कभी बेईमानी की तरफ़। जो 'विकल्प' हर पहलू से समाज को ठीक जँचता है, वह 'विकल्प' अन्त में 'सार्वत्रिक' बन जाता है, जो 'विकल्प' समाज को ठीक नहीं जँचता, उस 'विकल्प' को समाज समाप्त कर देता है। रुपया पैदा करने के लिए मज़दूरी या व्यापार करने का 'विकल्प' हमारे समाज को, हमारी संस्कृति को सैंकड़ों सालों के अनुभव के बाद ठीक जँचा, इसलिए यह विकल्प 'सार्वत्रिक'-आचार मान लिया गया, रुपया पैदा करने के लिए चोरी-डकैती करने का 'विकल्प' ठीक नहीं जँचा, इसलिए इस 'विकल्प' को समाप्त कर दिया गया। अब समाज में यह 'विकल्प' नहीं चलता। जिस 'विकल्प' को समाज ने अपना लिया वह 'वैकल्पिक-सार्वत्रिक' (Alternate Universal) कहलाता है, जिस 'विकल्प' को समाज ने छोड़ दिया है, वह 'विभेदक-विकल्प' (Variant alternative) कहलाता है। समाज न तो 'विभेदक-विकल्प'—चोरी-डाका, लूट-खसोट—को स्वीकार नहीं किया, इसे 'सार्वत्रिक' बनने नहीं दिया, परन्तु कई लोग ऐसा होने पर भी इन 'विभेदक-विकल्पों' (Variant alternatives)—चोरी, डाका, काला-बाज़ार को—अपनाते हैं, रुपये के लिए व्यापार न करके जेब कतरते हैं, अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए सच न बोल कर झूठ बोलते हैं, यौन-सम्बन्ध के लिए विवाह न करके व्यभिचार करते हैं, शिकायत को दूर करने के लिए अदालत में न जाकर लट्ठ चलाते हैं। ये 'विभेदक-विकल्प' (Variant alternatives) ही अगर साधारण हों तो 'दोष' (Faults), और अगर समाज की दृष्टि से असाधारण हों, तो

बालकों के एसे आचार 'बालपराध' (Delinquency), और युवाओं के ऐसे आचार 'युवापराध' (Crime) कहलाते हैं। इस दृष्टि से 'विभेदक-विकल्प' (Variant alternative) का ही दूसरा नाम 'दोष' अथवा 'अपराध' है।

जैसे, जब व्यक्ति का प्रश्न हो, तब 'सार्वत्रिक', 'वैशेषिक', 'वैकल्पिक-सार्वत्रिक' तथा 'विभेदक-विकल्प'--आचार के ये चार भाग किये गये हैं, वैसे जब समाज का प्रश्न हो, तब समाज का आचार भी 'सार्वत्रिक', 'वशेषिक', 'वैकल्पिक-सार्वत्रिक' तथा 'विभेदक-विकल्प'—इन चार प्रकार का हो सकता है। समाज का यह 'विभेदक-विकल्प' (Variant alternative) ही जातियों का, देशों का, समाजों का 'अपराध' कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, स्वेज नहर को ईजिप्ट ने अपने कब्जे में कर लिया। उसकी चीज है, उसने ले ली। अंग्रेज और फ्रांसीसी उसमें से बिना रोक-टोक गुजरने का अधिकार ही तो माँग सकते हैं। सुलह-सफ़ाई से यह अधिकार प्राप्त करना वर्त्तमान-युग का 'सार्वत्रिक'-आचार है। उसमें से गुजरने के लिए सुलह-सफ़ाई की बात न करके जबर्दस्ती करना भी आचार के अनेक विकल्पों में से एक 'विकल्प' है, परन्तु आचार का यह 'विकल्प' 'विभेदक-विकल्प' (Variant alternative) होगा, और जैसा हम पहले कह चुके हैं, 'विभेदक-विकल्प' का ही दूसरा नाम 'अपराध' है।

(ख) अपराध का मनोवैज्ञानिक-आधार क्या है ?

हमने देखा कि 'अपराध' क्या है। परन्तु 'अपराध' का मनोवैज्ञानिक-आधार क्या है ? प्रत्येक व्यक्ति की आधार-भूत कुछ मानसिक-रचना होती है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की आँखों में उठना चाहता है, धनी होना चाहता है, स्त्री-पुत्र-कलत्र चाहता है। इन्हें भारतीय-शास्त्रों में 'एषणाएँ' (Urges) कहा गया है। दूसरे की आँखों में उठने की अभिलाषा 'लोकैषणा' (Power urge), धनी होने की अभिलाषा 'वित्तैषणा' (Money urge) तथा स्त्री-पुत्र-कलत्र की अभिलाषा 'पुत्रैषणा' (Sex urge) कहलाती हैं, और सब में भिन्न-भिन्न दर्जों में पायी जाती हैं। हर-एक व्यक्ति समाज में अपनी ऐसी 'स्थिति' चाहता है जिसमें वह इन एषणाओं को पूरा कर सके। सब के सामने यही प्रश्न है कि किस 'स्थिति' (Status) में रहकर वह इन एषणाओं की तृप्ति का 'कार्य' (Role) पूरा कर सकता है ? यदि समाज की रचना ऐसी है जिसमें व्यक्ति की 'स्थिति (Status) तथा 'कार्य' (Role) आपस में इस प्रकार बंधे हुए हैं कि उनके द्वारा वह अपनी तीनों एषणाएँ पूरी कर सकता है, तब तो व्यक्ति 'अपराध' नहीं करता, परन्तु ऐसा होता कहाँ है ? समाज की रचना इस ढंग की है कि उसमें सैंकड़ों, हजारों व्यक्ति जिस 'स्थिति' (Status) में हैं, उसमें अपनी एषणाओं की तृप्ति के 'कार्य' (Role) को पूरा नहीं कर सकते। अगर समाज का संगठन इस प्रकार का है, अगर उसकी रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, नियम, कायदे-कानून इस प्रकार के हैं कि सब की एषणाएँ पूरी हो सकें, तब तो कोई इन नियमों को नहीं तोड़ता; अगर एसा नहीं है, तब रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, नियम, कायदे-कानून एक-के-बाद-एक

टूटने लगते हैं, और अपराध शुरू हो जाते हैं। लोग अपराध करते क्यों हैं? वे अपराध इसलिए करते हैं क्योंकि समाज की रचना ऐसी नहीं है कि जिस 'स्थिति' (Status) में वे हैं, उस स्थिति में रहते हुए वे अपनी 'एषणाओं' (Urges) को पूरा कर सकें। एक आदमी निर्धन है, धनी होना चाहता है। समाज की रचना ऐसी है कि बिना मेहनत-मजदूरी किये, या बिना व्यापार-धंधा किये कोई धनी नहीं हो सकता। इधर उसकी 'स्थिति' (Status) ऐसी है कि आलसी होने के कारण न वह मजदूरी करना चाहता है, और पूँजी न होने के कारण न वह व्यापार कर सकता है। परिणाम यह होता है कि वह रूढ़ि, प्रथा, कायदे-कानून, तोड़ कर चोरी करने लगता है। एक लड़के-लड़की का प्रेम हो गया। लड़का ऊँचे खानदान का है, लड़की नीचे खानदान की है। माता-पिता विवाह की स्वीकृति नहीं देते। लड़के-लड़की की अपनी-अपनी 'स्थिति' (Status) ऐसी है कि वर्त्तमान सामाजिक-रचना में उनका विवाह नहीं हो सकता। परिणाम यह होता है कि लड़का-लड़की को भगा ले जाता है। कहने का मतलब यह है कि 'अपराध' तब होता है जब समाज की रचना इस प्रकार की हो कि व्यक्ति जिस 'स्थिति' (Status) में है, उसमें रहता हुआ वह अपनी 'एषणाओं' (Urges) की पूर्त्ति न कर सके। ऐसी अवस्था में समाज-विरोधी उपायों द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति करता है, 'अपराध' करता है। जब व्यक्ति के सामने इस प्रकार का विषम पर्यावरण उत्पन्न हो जाय, तब 'अपराध' से बचने के दो ही रास्ते हैं। पहला रास्ता तो यह है कि व्यक्ति समाज की रचना को ही बदल दे, इस प्रकार बदल दे कि वह जो-कुछ चाहता है उसे समाज ठीक कहने लगे, दूसरा रास्ता यह है कि व्यक्ति अपन को बदल दे, समाज जो-कुछ ठीक कहता है उसके अनुसार अपने को बना ले, उन सामाजिक-मूल्यों का उल्लंघन न करे और अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति नहीं होती तो भी संतोष कर ले। समाज किसी बात को ठीक और किसी बात को ग़लत क्यों कहता है? इसलिए कहता है क्योंकि समाज के अपने कुछ 'सामाजिक-मूल्य' (Social values), अपने कुछ 'सार्वत्रिक'-आचार (Universals), अपने कुछ मान-दंड, अपने कुछ 'सांस्कृतिक-प्रतिमान' (Cultural Satterns), अपनी कुछ रूढ़ियाँ, कायदे-कानून बने हुए हैं। हो सकता है कि ये सामाजिक-मूल्य, मान-दंड, सार्वत्रिक-आचार, रूढ़ियाँ, कायदे-कानून ठीक हों, हो सकता है ग़लत भी बने हुए हों। जो व्यक्ति इन सामाजिक-मूल्यों को न बदल कर इनको तोड़ने लगता है उसे समाज 'अपराधी' कहता है, जो व्यक्ति इन मूल्यों को ही बदल देता है, उसे इन कायदे-कानूनों को तोड़ने पर भी 'अपराधी' नहीं कहा जाता क्योंकि वह तो कायदे-कानून ही बदल देता है। समाज-सुधारक तथा राजनैतिक-दल समाज के मूल्यों को बदलने के प्रयत्न हैं, ये समाज के पुराने 'सामाजिक-मूल्यों', पुराने 'सार्वत्रिक-आचारों' को छिन्न-भिन्न कर, इनके स्थान में नये 'सामाजिक-मूल्य', नये 'सार्वत्रिक-आचार' खड़े कर देते हैं। ये प्रयत्न इस बात को अनुभव करने के परिणाम हैं कि व्यक्ति अपनी

'एषणाओं' (Urges) को पूरा करने के लिए समाज में जो स्थिति' (Status) चाहता है वह उसे वर्त्तमान संगठन में, समाज के वर्त्तमान 'सामाजिक-मूल्यों' के रहते हुए नहीं मिल सकती। जब तक ये लोग 'सामाजिक-मूल्यों' (Social values), 'सांस्कृतिक-प्रतिमानों' (Cultural patterns), 'सार्वत्रिक-आचारों' (Universals) को नहीं बदल देते, तब तक इन्हें अपराधी माना जाता है, इन्हें जेल में डाला जाता, फाँसियों पर लटकाया जाता, देश-निर्वासन दिया जाता, जाति से बहिष्कृत किया जाता है; जब ये समाज की धारणाओं को, मान्यताओं को, माप-दंडों, मूल्यों, प्रतिमानों, सार्वत्रिक-आचारों को बदल देते हैं, तब ये समाज की नये सिरे से आर्थिक, सामाजिक या राजनैतिक रचना कर देते हैं, ऐसी रचना जिसमें इन्हें अपनी 'एषणाओं' को अपनी इच्छानुसार पूरा करने का अवसर मिलता है। जब ये लोग समाज के मूल्य, माप-दण्ड, प्रतिमान, सार्वत्रिक-आचार बदल देते हैं तब इन्हीं को जिन्हें पहले सूली पर चढ़ाया जाता था, समाज पूजने लगता है। इस दृष्टि से 'अपराध' कोई ईश्वर की तरफ़ से बनी-बनाई चीज नहीं उतरी, 'अपराध' एक सामाजिक-धारणा है, सामाजिक-मान्यता है। आज जिसे लोग अपराध कहते हैं, कल उसे गुण भी कह सकते हैं; आज जिसे गुण कहते हैं, कल उसे अपराध भी कह सकते हैं। समाज के दृष्टि-कोण के बदल जाने से अपराध गुण और गुण अपराध बन जाता है। राजनैतिक-क्षेत्र में तो यह बात आये-दिन हुआ करती है। जो लोग कभी सींकचों में बन्द हुआ करते हैं, वे ही राजनैतिक-मूल्य, माप-दंड तथा प्रतिमान बदल जाने पर शासन-सूत्र के संचालक बन जाते हैं। असली बात समाज की मूल-धारणा, माप-दण्ड तथा प्रतिमान है। यह धारणा सही भी हो सकती है, ग़लत भी हो सकती है। सही हो, ग़लत हो, जो इस धारणा के अनुकूल नहीं चलता वह अपराधी है, और समाज की दृष्टि से दण्डनीय है। इस धारणा को बदल देने की जिनमें शक्ति है वे समाज में अपवाद रूप से पाये जाते हैं। परन्तु इस प्रकार समाज के प्रतिमानों को बदल देना हर-किसी के बूते की बात नहीं है। इन अपवाद-रूप व्यक्तियों के अतिरिक्त समाज में दो तरह के व्यक्ति रह जाते हैं। एक तो वे जो समाज के मूल्यों को बदलने के स्थान में अपनी एषणाओं को बदल देते हैं, वे समझ जाते हैं कि उनकी इच्छाएँ ही बेहूदी हैं, और चुप कर के समाज की रचना के अनुसार अपने को ढाल लेते हैं। ये कानून-पसन्द, शान्ति-प्रिय व्यक्ति हैं। समाज में अधिक संख्या इसी प्रकार के व्यक्तियों की होती है, नहीं तो हर समय उपद्रव न मचा रहता। समाज में दूसरी तरह के वे व्यक्ति हैं जो समाज-सुधारकों तथा राजनतिक-नेताओं की तरह सामाजिक-मूल्यों को नहीं बदल सकते, शान्ति-प्रिय लोगों की तरह अपनी एषणाओं को बुझा कर भी नहीं बैठ सकते। वे जिस 'स्थिति' (Status) में हैं उसमें समाज के नियमों के कारण, अपनी 'एषणाओं' (Fundamental wishes or urges) को पूरा नहीं कर सकते, इसलिए उन नियमों को तोड़ डालते हैं, और तोड़ कर अपनी जो 'स्थिति' (Status) बनाना चाहते

हैं उसे बनाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु समाज ने इच्छाओं को पूरा करने के कुछ रास्ते अपने 'सामाजिक-मूल्यों' के पैमाने से स्वीकार किये हुए हैं, कुछ स्वीकार नहीं किये हुए। जो लोग अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति के लिए उन उपायों का सहारा लेते हैं जिनको समाज ने स्वीकार नहीं किया हुआ उनका रास्ता 'अपराध' का रास्ता कहलाता है। यह 'अपराध' का मनोवैज्ञानिक-आधार है।

३. अपराधियों का वर्गीकरण

जैसा हम पहले लिख आये हैं, अपराधी दो तरह के हो सकते हैं--बालक तथा युवा। इनमें से 'बालापराधी' को अंग्रेज़ी में 'डिलेन्क्वेंट' (Delinquent) तथा 'युवापराधी' को अंग्रेज़ी में 'क्रिमिनल' (Criminal) कहते हैं। 'युवा-पराधियों' का भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न वर्गीकरण किया है जो निम्न है :--

(क) सदरलैंड का वर्गीकरण--सदरलैंड ने अपराधियों को मुख्य तौर पर दो भागों में बाँटा है--निम्न-श्रेणी के तथा उच्च-श्रेणी के। निम्न-श्रेणी के अपराधी वे हैं जो निम्न सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति के कारण अपराध करते हैं, अशिक्षित होते हैं, अपराधों को छिपा नहीं सकते, पकड़े जाते हैं, सज़ा पाते हैं। उच्च-श्रेणी के अपराधी वे हैं जो उच्च सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति के होते हैं; बड़े-बड़े व्यापारी और सरकारी अफ़सर, शिक्षित होते हैं, अपराधों को छिपा सकते हैं, पकड़े नहीं जाते, पकड़े भी जाँय तो पैसे तथा प्रभाव के ज़ोर पर छूट जाते हैं, सज़ा नहीं पाते। आजकल ऐसे अपराधी ज्यादा हैं और समाज के लिए ख़तरनाक हैं। एक बार नैपोलियन के सामने एक डाकू को पकड़ कर लाया गया। उसने नैपोलियन से कहा कि उसमें और नैपोलियन में इतना ही तो भेद है कि वे दोनों डाका डालते हैं, नैपोलियन पकड़ा नहीं गया, वह पकड़ा गया है, जिस दिन नैपोलियन पकड़ा जायगा उस दिन उसे भी लोग डाकू कहने लगेंगे। यह बात बहुत अंश तक ठीक है, इस प्रकार के अपराधियों को सदरलैंड ने सफ़ेदपोश-डाकू (White-collar criminals) का नाम दिया है।

(ख) हेज़ का वर्गीकरण--हेज़ ने अपराधियों को चार वर्गों में बाँटा है। 'प्रथम-अपराधी' (First offender); 'आकस्मिक-अपराधी' (Occasional criminal); 'स्वभाव-अपराधी' (Habitual criminal) तथा 'पेशेवर-अपराधी' (Professional Criminal)।

(ग) लोम्ब्रोसो का वर्गीकरण--लोम्ब्रोसो ने भी अपराधियों को चार वर्गों में बाँटा है। 'जन्मजात-अपराधी' (Born criminal); 'अपस्मारी-अपराधी' (Epileptic criminal); 'आकस्मिक अपराधी' (Occasional criminal) तथा 'कामुक-अपराधी' (Criminal by passion)।

४. अपराधों का वर्गीकरण

अपराधियों की तरह अपराधों का भी वर्गीकरण किया जा सकता है। मुख्य तौर पर अपराध दो तरह के होते हैं--'साधारण-अपराध' (Misdemea-

nour) तथा 'गम्भीर-अपराध' (Felony)। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न वर्गीकरण किया है जो निम्न है :—

(क) बोन्जर का वर्गीकरण—बोन्जर ने अपराधों को चार भागों में बाँटा है। आर्थिक-अपराध; यौन-अपराध; राजनैतिक-अपराध; विविध-अपराध।

(ख) लेमर्ट का वर्गीकरण—लेमर्ट ने अपराधों के तीन वर्ग किये हैं—'पर्यावरण-जन्य अपराध', 'आयोजित-अपराध' तथा 'विश्वासघात के अपराध'। 'पर्यावरण-जन्य-अपराध' वे हैं जो पर्यावरण से विवश होकर किये जाते हैं। भूखा आदमी चोरी कर बैठता है। 'आयोजित'-अपराध वे हैं जिनके लिए पूरी योजना बनाई जाती है, पर्यावरण से नहीं उत्पन्न होते। डाका डाला, किसी का कत्ल करने की स्कीम बनाई। उक्त दोनों अपराध दूसरे का विश्वास प्राप्त करके नहीं किये जाते, परन्तु अगर वे दोनों अपराध दूसरे का विश्वास प्राप्त करके किये जाँय, तो वे विश्वासघात के अपराध कहलाते हैं।

(ग) हेज़ का वर्गीकरण—हेज़ ने भी अपराधों को तीन वर्गों में बाँटा है। 'समाज' की व्यवस्था अथवा सामाजिक-शान्ति के विरुद्ध अपराध, जैसे कोई १४४ दफ़ा का भंग करे; 'सम्पत्ति' के विरुद्ध अपराध, जैसे कोई चोरी करे, डाका डाले; 'व्यक्ति' के विरुद्ध अपराध, जैसे कोई मार-पीट करे, अपमान करे, हत्या करे।

५. अपराध के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न 'वाद'

अपराध के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न 'वाद' प्रचलित हैं। कोई किसी सिद्धान्त का पृष्ठ-पोषक है, कोई किसी का। हम यहाँ अपराध-विषयक भिन्न-भिन्न वादों की संक्षेप में चर्चा करेंगे :—

(क) धर्म-हीनता वाद (Theological school)—युरोप में मध्य-युग में यह समझा जाता था कि शैतान के बस में आकर लोग अपराध करते हैं। अपराध क्या, रोग को भी शैतान के शरीर में घुस जाने से यह होता है—ऐसा समझा जाता था। अपने देश में भी देवी-देवता का शरीर में आ जाना, और फिर व्यक्ति से तरह-तरह के काम कराना—इस बात को आज तक कई लोग मानते हैं। इतना तो प्रायः सभी मानते हैं कि ईश्वर की सत्ता से इन्कार करना अपराध का सब से बड़ा कारण है। दैवी-प्रकोप या धर्म-हीनता को अपराध का कारण मानने वाले अपराध का दंड भी ईश्वर के आधीन छोड़ते हैं और समझते हैं कि वही कर्मों के चक्र को चला कर अपराधों का दण्ड देता रहता है।

इतिहास यह बतलाता है कि धर्म-हीनता का तथा अपराध का कोई सम्बन्ध नहीं है। अगर धर्म-हीनता के कारण अपराध होते हैं, तो यह स्पष्ट है कि जितनी धर्म-हीनता बढ़ेगी उतने अपराध बढ़ेंगे, जितनी धार्मिक-भावना बढ़ेगी उतने अपराध कम होंगे, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसा देखने में नहीं आता। मध्य-

युग में युरोप में ईसाइयत का बहुत अधिक प्रचार था, परन्तु इसके साथ ही अपराधों की संख्या भी बहुत अधिक थी; बाद की सदी में अधार्मिकता बढ़ गई, परन्तु साथ ही अपराध भी घट गये। फ़ैरी ने लिखा है कि उसने ७०० हत्यारों की जाँच की जिनमें से सिर्फ़ एक नास्तिक था; हार्सिले पादरी ने लिखा है कि उसने २८,३५१ अपराधियों की जाँच की जिनमें से सिर्फ़ ५७ नास्तिक थे; जोली लिखता है कि पेरिस में ३० साल में फाँसी पर चढ़ाये जाने वाले कैदियों में से सिर्फ़ १ नास्तिक था। असल बात यह है कि धार्मिकता नैतिकता में कारण तो हो सकती है, परन्तु नैतिकता धार्मिकता के बिना भी रह सकती है। नैतिक व्यक्ति ईश्वर को न भी मानता हो, अपराध इसलिए नहीं करता क्योंकि वह उसे समाज-विरोधी कार्य समझता है; धार्मिक-व्यक्ति अपराध इसलिए कर बैठता है क्योंकि पाप करते समय ईश्वर तो उसे दीखता नहीं, परन्तु यह वह सोच लेता है कि पाप कर चुकने के बाद वह ईश्वर से माफ़ी माँग सकता है।

(ख) सुख-प्राप्ति वाद (Hedonistic school)—मनुष्य जो-कुछ करता है सुख प्राप्त करने और दुःख से हटने के लिए करता है। इस वाद को पाश्चात्य-दर्शन में 'सुख-प्राप्ति-वाद' (Hedonism) कहा जाता है। सुख-दुःख के इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को १७७५ में बैन्थम (Bentham) ने अपराध-शास्त्र पर घटाने का प्रयत्न किया। उसका कहना था कि अपराध करने से कितना सुख होगा और अपराध के दण्ड-स्वरूप कितना दुःख होगा—इन दोनों बातों को तोल लेने के बाद जब उसे सुख का पलड़ा भारी दिखाई देता है तब वह 'अपराध' करता है। इस वाद के अनुसार यह स्वाभाविक है कि दण्ड ऐसा दिया जाय, जो अपराध करने के प्रत्याशित सुख से कहीं अधिक हो। अगर दण्ड अपराध के प्रत्याशित सुख से अधिक नहीं होगा, तो व्यक्ति अपराध करता रहेगा।

परन्तु क्या हर व्यक्ति सुख प्राप्त करने की इच्छा से ही अपराध करता है ? क्या ऐसे अपराध नहीं हैं जिन्हें करने की कई लोगों को आदत-सी पड़ जाती है ?

(ग) भौतिक-पर्यावरण वाद (Ecological school)—अनुसंधान से मालूम हुआ है कि अपराध पर भौगोलिक अवस्थाओं, सर्दी-गर्मी, ऋतु तथा मौसम का बड़ा प्रभाव है। १८३० में कुछ अपराध-शास्त्रियों ने यह विचार प्रकट किया कि मार-पीट के अपराध पहाड़ी इलाकों में सब से ज्यादा, ऊबड़-खाबड़ इलाकों में उससे कम, और सम-स्थलों में सब से कम होते हैं। बलात्कार पहाड़ी इलाकों में और सम-स्थलों में ज्यादा होता है। गर्म मुल्कों में मार-पीट, और सर्द मुल्कों में चोरी-डकैती की ज्यादा घटनाएँ होती हैं। शीत ऋतु में सम्पत्ति तथा ग्रीष्म ऋतु में व्यक्ति सम्बन्धी अपराध ज्यादा देखे गये हैं। जनवरी, फ़रवरी, मार्च, अप्रैल में बच्चों की हत्या, जुलाई में आक्रामण तथा मनुष्य-हत्या, जनवरी तथा अक्तूबर में माता-पिता की हत्या, मई, जुलाई तथा अगस्त में बलात्कार, दिसम्बर में बलात्कारों का अत्यन्त कम हो जाना पाया जाता है। सर्द देशों तथा सर्दी की मौसम में मार-पीट इसलिए कम हो जाती है, क्योंकि लोग

सर्दी की वजह से ज्यादातर घरों में बन्द रहते हैं, गर्म मुल्कों तथा गर्मी की मौसम में मार-काट इसलिए बढ़ जाती है क्योंकि लोगों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अधिक अवसर मिलता है। सर्दी में चोरी आदि इसलिए बढ़ जाती है क्योंकि सर्दी के कारण अर्थोपार्जन के साधन कम हो जाते हैं। डैक्सटर (Dexter) ने देखा कि सर्दी के बढ़ने के साथ-साथ अपराध बढ़ जाते हैं, ऋतु मध्यम होने के साथ-साथ लड़ाई झगड़े बढ़ने लगते हैं, ऋतु की भयानकता के साथ-साथ अपराध घट जाते हैं।

ये सब परिणाम अभी और देखने होंगे, परन्तु इन सब अपराधों का कारण यही प्रतीत होता है कि ऋतु का सीधा अपराध करने पर तो प्रभाव नहीं पड़ता, मनुष्य की मनोवृत्ति पर अवश्य प्रभाव पड़ता है, और उस प्रभाव के कारण पहले से अपराधी-मनोवृत्ति का व्यक्ति अपराध कर सकता है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इन ऋतुओं के कारण मनुष्य अपराध करता है।

(घ) प्रकृति-भेद वाद (Typological school)——१८७५ में इटली के लोम्ब्रोसो (Lombroso) ने अनेक अपराधियों के सिर, नाक, कान आदि की परीक्षा करके इस बात पर जोर दिया कि अपराधी तो जन्म से अपराधी की बनावट, अपराधी का ढाँचा लेकर पैदा होते हैं, उनका टाइप ही अलग होता है, उनकी प्रकृति ही अपराध करने की होती है। लोम्ब्रोसो का कहना था कि चोरों के कपाल की लम्बाई-चौड़ाई सामान्य-व्यक्तियों से कम होती ह, माथा छोटा होता है। भारत में भी ज्योतिषी लोग हाथ की रेखाएँ देख कर चोर, ठग, व्यभिचारी को पहचानने का दावा करते हैं। कई जेल-खानों के कैदियों की शारीरिक-परीक्षा से यह ज्ञात हुआ है कि अपनी आयु के अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अपराधियों के शारीरिक गठन में कुछ न्यूनाधिकता होती है। यौन-अपराधों के स्त्री-पुरुषों की परीक्षा से ज्ञात हुआ है कि उनकी शारीरिक-वृद्धि असाधारण तौर से बढ़ी हुई होती है, इसलिए वे दुराचार-बलात्कार आदि कर बैठते हैं। शरीर की ग्रन्थियों के सम्बन्ध में जो-कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है उसके आधार पर भी कहा जा सकता है कि अनेक अपराध 'ग्रन्थि-रस' (Glandular secretion) के कम-अधिक होने के कारण होते हैं। थॉयरायड-ग्रन्थि के घट जाने से व्यक्ति मोटा, सुस्त हो जाता है, काम नहीं करता, एड्रिनल-ग्रन्थि के बढ़ जाने से मनुष्य लड़ाकू हो जाता है, स्त्री पुरुष-जैसी हो जाती है, जनन-ग्रन्थियों के बढ़ जाने से व्यक्ति विषयी हो जाता है। सुस्त आदमी चोरी कर सकता है, लड़ाकू आदमी कत्ल कर सकता है, विषयी व्यक्ति बलात्कार कर सकता है। भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोग भिन्न-भिन्न अपराध कर सकते हैं।

लोम्ब्रोसो के 'वाद' का तो बर्ट तथा पीयरसन ने खंडन कर दिया, परन्तु 'प्रकृति-भेद-वाद' के अन्तर्गत अन्य विचारकों ने अपने कुछ विचार रखे। इनमें एक विचार यह था कि व्यक्ति के मानसिक-विकास का अपराधों पर प्रभाव पड़ता है। अगर किसी व्यक्ति का मानसिक-विकास नहीं हुआ, तो वह तरह-तरह के

अपराध कर बैठता है। मानसिक-विकास के अलावा एक विचार मनोविश्लेषण-वादियों (Psycho-analysts) का था जिसके अनुसार मानसिक-क्षोभ के कारण अनेक अपराध होते हैं। इसका विस्तृत-विवेचन हमने अपनी पुस्तक 'समाज-कल्याण तथा सुरक्षा' में 'किशोरापराध' (Delinquency)—इस प्रकरण में किया है।

(ङ) समाजवादी अथवा आर्थिक वाद (Economic school)–१८४८ में मार्क्स तथा एंजल्स ने समाजवादी विचार-धारा का घोषणा-पत्र प्रकाशित किया जिसका वर्णन हमने अपनी 'समाज-कल्याण तथा सुरक्षा' पुस्तक के दूसरे अध्याय में किया है। मार्क्स की इस विचार-धारा में 'आर्थिक भाग्य-निर्णय' (Economic determinism) का सिद्धान्त आधार-भूत है जिसका अभिप्राय यह है कि समाज की हर बात का आधार आर्थिक होता है। परिणामस्वरूप, अपराध का आधार भी आर्थिक है। आर्थिक कारणों तथा अपराधों का पारस्परिक सम्बन्ध है। ग़रीबी और बेकारी में प्रायः अनेक व्यक्ति चोरी करते हैं, स्त्रियाँ वेश्या-वृत्ति करती हैं। इस वाद के अनुसार ग़रीबी, बेकारी तथा धन की अधिकता—ये ही अपराध के एकमात्र कारण हैं। इस वाद के मानने वाले अपराध के अन्य कारणों को नहीं मानते। इनका कहना है कि कल्पना करो एक व्यक्ति बेकार है, सुबह से शाम तक काम की तलाश में मारा-मारा फिरता है, जहाँ जाता है वहीं दरवाज़ा बन्द देखता है। वह भूखा-प्यासा, थकावट से चूर रात को घर लौटता है। घर में घुसते ही वह क्या देखता है? वह देखता है कि उसकी बीबी-बच्चे भी उसकी तरह ही भूख से बिलबिला रहे हैं, घर में एक दाना नहीं है, उनके तन-बदन पर सर्दी से बचने के लिए कपड़ा भी नहीं है। ऐसा व्यक्ति क्या करेगा? वह क्या समाज के मूल्यों, उसकी प्रथाओं, रीति-रिवाजों, क़ायदे-क़ानूनों को देखता रहेगा, या जैसे भी हो सकेगा, चोरी से, डाके से, छीना-झपटी से कुछ-न-कुछ लाकर बाल-बच्चों का पेट भरेगा? वह 'अपराध' करने के लिए निकल पड़ेगा, एक बार 'अपराध' करने के बाद दूसरी बार पक्का अपराधी बन जायगा। अपने दुःखों को भुलाने के लिए वह शराब भी पीयेगा, नशा भी करेगा। अगर वह बूढ़ा है, जीवन के आर्थिक-संघर्ष को बर्दाश्त नहीं कर सकता, तो वह आत्मघात भी कर लेगा। उसके लड़के जेब काटने को निकल पड़ेंगे, लड़कियाँ वेश्यालयों में जा बैठेंगी।

परन्तु मार्क्स का यह कहना कि अपराध पैसे की ख़ातिर ही होता है, अन्य किसी कारण से नहीं, ग़लत है। क्या द्वेष से, बदला लेने के लिए क़त्ल नहीं होते? पैसे वाले भी तो अपराध करते हैं, केवल ग़रीब ही तो अपराध नहीं करते। इसमें सन्देह नहीं कि ग़रीबी के कारण अपराध होते हैं, परन्तु अपराध का ग़रीबी सिर्फ़ इकला कारण नहीं कहा जा सकता।

(च) समाजशास्त्रीय वाद (Sociological school)—इस वाद का प्रारम्भ १९१५ से कहा जा सकता है। यह वाद प्रायः शिक्षा-शास्त्रियों के दृष्टि-कोण पर आधारित है। ड्यूई, मीड, कूले आदि का कथन है कि जैसे मनुष्य

और बातों को समाज में सीखता है, वैसे अपराध को भी सीखता है। एक व्यक्ति जिसका ईश्वर में विश्वास है, जो शारीरिक-दृष्टि से बिलकुल स्वस्थ ह, जो पैसे से भी तंग नहीं है, बुरी संगत में पड़ कर बुरा हो जाता है, अपराध करना सीख जाता है, दूसरा ईश्वर और धर्म में विश्वास न करता हुआ, शरीर से भी अपंग होता हुआ, निर्धन होता हुआ मौका मिलने पर भी अपराध नहीं करता। इसका कारण क्या है? इसका कारण यही है कि मनुष्य सामाजिक-प्राणी है, वह समाज से बनता है, अच्छे सामाजिक-पर्यावरण में वह अच्छा बन जाता है, बुरे सामाजिक-पर्यावरण में बुरा बन जाता है। जिस मनुष्य के सामने प्रलोभन लगातार बना रहेगा वह स्वभाव से अच्छा होता हुआ भी बिगड़ सकता है, जिसके सामने प्रलोभन नहीं आयेगा वह बिगड़ा हुआ भी अपराध नहीं करेगा। इस विषय को विस्तार से समझने के लिए पुस्तक के 'पर्यावरण क्या है'—इस अध्याय का अध्ययन करना लाभ-प्रद है।

(छ) बहु-कारणता वाद (Multiple-cause school)—ऊपर हमने जो-कुछ लिखा उससे स्पष्ट है कि 'अपराध' का एक कारण नहीं, अनक कारण हैं, प्रायः वे सभी हैं जिनका अभी तक उल्लेख किया गया। इसके अतिरिक्त स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक अपराध करते हैं, वृद्धों की अपेक्षा जवान अधिक अपराध करते हैं, ग्रामीणों की अपेक्षा शहरी लोग अधिक अपराध करते हैं, समाज के उच्च-स्तर के व्यक्तियों की अपेक्षा निम्न सामाजिक तथा आर्थिक स्तर के लोग अधिक अपराध करते हैं और इन सब अपराधों के एक नहीं, अनेक कारण होते हैं।

६. अपराध के कारण

बालकों तथा युवाओं—इन दोनों के अपराध के कारणों को छः भागों में बाँटा जा सकता है :—

(क) पर्यावरण-सम्बन्धी कारण (Physical environment),
(ख) व्यक्ति के शारीरिक दोष (Physical characteristics),
(ग) व्यक्ति के मानसिक दोष (Mental characteristics),
(घ) आनुवंशिक कारण (Hereditary characteristics),
(ङ) आर्थिक कारण (Economic factors),
(च) सामाजिक कारण (Social factors)।

(क) पर्यावरण-सम्बन्धी कारण

अनुसंधान से मालूम हुआ है कि बालकों तथा युवाओं के अपराध पर भौगोलिक अवस्थाओं, सर्दी-गर्मी, ऋतु तथा मौसम का बड़ा प्रभाव पड़ता है। लोम्ब्रोसो (Lombroso) का कथन था कि मार-पीट के अपराध पहाड़ी इलाकों में सबसे ज्यादा, ऊबड़-खाबड़ इलाकों में उससे कम, और सम-स्थलों में सबसे कम होते हैं। बलात्कार पहाड़ी इलाकों में और सम-स्थलों में ज्यादा होता है। गर्म मुल्कों में मार-पीट, और सर्द मुल्कों में चोरी-डकैती की ज्यादा घटनाएँ होती हैं।

शीत ऋतु में सम्पत्ति तथा ग्रीष्म ऋतु में व्यक्ति-सम्बन्धी अपराध ज्यादा देखे गये हैं। जनवरी, फ़रवरी, मार्च, अप्रेल में बच्चों की हत्या, जुलाई में आक्रमण तथा मनुष्य-हत्या, तथा अक्तूबर में माता-पिता की हत्या, मई, जुलाई तथा अगस्त में बलात्कार, दिसम्बर में बलात्कारों का अत्यन्त कम हो जाना आदि पाया जाता है। सर्द देशों तथा सर्दी की मौसम में मारपीट इसलिए कम हो जाती है, क्योंकि लोग ज्यादातर घरों में बन्द रहते हैं, गर्म मुल्कों तथा गर्मी के मौसम में मार-पीट इसलिए बढ़ जाती है, क्योंकि उन्हें एक-दूसरे के सम्पर्क में आन का अधिक अवसर मिलता है। सर्दी में चोरी आदि इसलिए बढ़ जाती है, क्योंकि सर्दी के कारण अर्थोपार्जन के साधन कम हो जाते हैं। डैक्सटर (Dexter) ने देखा कि सर्दी के बढ़ने के साथ-साथ अपराध बढ़ जाते हैं, ऋतु मध्यम होने के साथ-साथ लड़ाई-झगड़े बढ़ जाते हैं, ऋतु की भयानकता के साथ-साथ अपराध घट जाते हैं। ये सब परिणाम अभी और देखने होंगे, परन्तु इन सब का कारण यही प्रतीत होता है कि ऋतु का सीधा अपराध करने पर तो प्रभाव नहीं, परन्तु मनुष्य की मनोवृत्ति पर अवश्य प्रभाव पड़ता है, और उस प्रभाव के कारण मनुष्य अपराध करता है।

(ख) व्यक्ति के शारीरिक दोष

समाज की रचना इस बात को आधार मान कर हुई है कि व्यक्ति की शारीरिक-शक्ति स्वाभाविक होनी चाहिए, देखने में वह बहुत बदसूरत या बेढंगा नहीं होना चाहिए। अगर किसी का शारीरिक-गठन अस्वाभाविक होगा, देखन में वह बहुत अजीब-सा होगा, तो उसे जीवन में कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। अगर कोई बीमार रहेगा, किसी का अंग-भंग हो जायगा, तो वह आर्थिक-क्षेत्र में पछड़ जायगा। ऐसी अवस्था में मनुष्य क्या करेगा? हो सकता है, शारीरिक असमर्थता के परिणाम-स्वरूप वह चोरी कर बैठे, ऐसा व्यक्ति अपराधी मनोवृत्ति के कारण नहीं, अपितु शारीरिक कारणों से चोर बन जायगा। कई जेलख़ानों के कैदियों की शारीरिक परीक्षा से यह ज्ञात हुआ है कि अपनी आयु के अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अपराधियों के शारीरिक-गठन में कुछ कमी होती है। यौन-अपराधों के बालक-बालिकाओं तथा पुरुष-स्त्रियों की परीक्षा से ज्ञात हुआ है कि उनकी शारीरिक-वृद्धि असाधारण तौर से बढ़ी हुई होती है, इसलिए वे दुराचार-बलात्कार आदि कर बैठते हैं। शरीर की ग्रन्थियों के सम्बन्ध में जो-कुछ ज्ञात हुआ है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि अनेक अपराध 'ग्रन्थि-रस' (Glandular secretion) के कम-अधिक होने के कारण होते हैं। थॉयरायड-ग्रन्थि के घट जाने से व्यक्ति मोटा, सुस्त हो जाता है, काम नहीं करता, एड्रिनल-ग्रन्थि के बढ़ जाने से मनुष्य लड़ाकू हो जाता है, स्त्री पुरुष-जैसी हो जाती है; जनन-ग्रन्थियों के बढ़ने से व्यक्ति विषयी हो जाता है। सुस्त आदमी चोरी कर सकता है, लड़ाकू आदमी कत्ल कर सकता है, विषयी व्यक्ति बलात्कार कर सकता है—ये शारीरिक दोष बालक तथा युवा के अपराध का कारण हो सकते ह।

(ग) व्यक्ति के मानसिक दोष

(१) हीन-बुद्धिता—'बालापराध' (Delinquency) तथा 'युवापराध' (Crime) में 'हीन-बुद्धिता' (Feeble-mindedness) का बड़ा हाथ है। गोरिंग (Goring) ने ९४८ अपराधियों की परीक्षा की, और यह परिणाम निकला कि झोंपड़ियों में आग लगा देने वाले बालकों तथा युवा अपराधियों में ५२.९ प्रतिशत हीन बुद्धि के थे। इसी प्रकार अन्य अपराधियों की परीक्षा से पता चला कि बच्चों पर बलात्कार करने वालों में १५.८ प्रतिशत, डकैती डालने तथा हिंसा का प्रयोग करने वालों में १५.६ प्रतिशत, अप्राकृतिक व्यभिचार करने वालों में १४.३ प्रतिशत हीन-बुद्धि थे। हीन-बुद्धि व्यक्ति सामाजिक-रचना के अनुसार अपने व्यवहार को नहीं बना सकता। इसके साथ ही बुद्धि की कमी के कारण वह समाज-विरोधी तत्त्वों के प्रभाव में जल्दी आ जाता है। बुद्धि-हीनता के कारण जो बालक अपराधी होते हैं, वे युवा होकर भी अपराध करते हैं, इसलिए 'बालापराध' (Delinquency) 'युवापराध' (Crime) का कारण बन जाता है।

(२) अवरुद्ध-इच्छा—अनेक अपराधों का कारण सीधे रास्ते से इच्छा का पूर्ण न कर सकना है। बालक या युवा के हृदय में कोई इच्छा उत्पन्न हुई। समाज की रचना ऐसी है कि जिस 'स्थिति' (Status) में वह व्यक्ति है, उसमें वह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती। वह इच्छा सीधे रास्ते से पूर्ण हो नहीं सकती, तो किसी दूसरे रूप में पूर्ण होती है। यह दूसरा रूप ही अपराध है। किसी बहुमूल्य वस्तु को पाने की हमारी इच्छा हुई। हमारे पास उसे प्राप्त करने के लिए पैसा नहीं है। ऐसी हालत में, या तो व्यक्ति चुप करके बैठ जाता है, या अगर इच्छा अत्यन्त प्रबल है, तो वह चोरी करता, या डाका डालता है। यह तो युवा व्यक्ति की बात हुई।

बचपन में कई अवस्थाएँ ऐसी आती हैं, जिनमें 'अवरुद्ध-इच्छा' (Repressed desire) के कारण व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन का व्यवहार बदल जाता है। 'अवरुद्ध-इच्छा' किस प्रकार बालक के व्यवहार को बदल देती है, इस विषय में श्रीमती चन्द्रावती लखनपालन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिक्षा-मनोविज्ञान' में निम्न चार बातों की तरफ़ ध्यान आकर्षित किया है :—

(क) अवरुद्ध-इच्छा भावना-ग्रन्थि को पैदा कर बेचैनी पैदा करती है—दबी हुई इच्छाओं के विषय में जानने की पहली बात यह है कि प्रत्येक 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) के साथ एक 'उद्वेग' (Emotion) जुड़ा रहता है। उदाहरणार्थ, 'पलायन' एक 'सहज-प्रवृत्ति' है, इसके साथ 'भय' का उद्वेग जुड़ा हुआ है। जब आदमी शेर को देखकर भागेगा, तो उसके हृदय में डर अवश्य होगा। यह 'उद्वेग' एक प्रकार का 'क्षोभ' है, 'बेचैनी' है, इसका काम 'सहज-प्रवृत्ति' को वेग देना है। पशु इस 'उद्वेग' को रोकने का प्रयत्न नहीं करता, मनुष्य प्रायः इसे रोकता है, इसलिए रोकता है क्योंकि 'उद्वेग' का इस प्रकार का नग्न-

प्रदर्शन समाज में उचित नहीं समझा जाता। एक लड़का एक लड़की को चाहता है। लड़के-लड़की का एक-दूसरे को चाहना एक 'सहज-प्रवृत्ति' है। इसमें प्रेम एक 'उद्वेग' है। परन्तु विवाह से पहले इस प्रकार का प्रेम प्रदर्शित करना समाज ठीक नहीं समझता, इसलिए वे इसे दबा देते हैं। 'उद्वेग' का नियम यह है कि यह क्रिया में आकर ही निवृत्त होता है, अन्यथा यह वैसा ही बना रहता है, या दूसरा रूप धारण कर लेता है। जिस 'उद्वेग' को हमने दबा दिया, वह चेतना के भीतरी तह में जाकर भावना की एक गाँठ बना देता है। यह गाँठ वहाँ पड़ी-पड़ी रड़क पैदा किया करती है। इसी को 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) कहते हैं। ये 'कम्प्लेक्स'––अतृप्त-इच्छा––उद्वेग की गाँठ होती हैं, और हमारे व्यवहार को भीतर से ही प्रभावित करती रहती हैं।

(ख) भावना-ग्रन्थि अपनी बेचैनी अन्य इच्छाओं को भी प्रदान करती है––दबी हुई इच्छाओं के विषय में जानने की दूसरी बात यह है कि जब कोई 'सहज-प्रवृत्ति' अवरुद्ध होकर 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) उत्पन्न करती है, तो भीतर जाकर इसकी बेचैनी इसी तक सीमित नहीं रहती। यह अपनी बेचैनी दूसरी इच्छाओं को भी दे देती है, और इसलिए धमकाये जाने पर बच्चा झूठ भी बोल सकता है, चोरी भी कर सकता है, घर से भाग भी सकता है। यही कारण है कि जो बच्चे या युवा अपराध करते हैं वे एक ही नहीं, सभी प्रकार के अपराध करने लगते हैं।

(ग) भावना-ग्रन्थि की बेचैनी रूपान्तरित हो जाती है–दबी हुई इच्छाओं के विषय में जानने की तीसरी बात यह है कि दबाये जाने पर यह रूपान्तरित होकर प्रकट होती है। हमने किसी लड़के को किसी लड़की के साथ मिलने-जुलने से मना किया। अब वह उस लड़की की फ़ोटो को उसकी जगह रखने लगा। फ़ोटो भी छीन लिया, तो अनजाने ही वह उसी लड़की से मिलती-जुलती किसी दूसरी लड़की के साथ मिलने लगा। जिस अध्यापक ने मना किया था उसके किसी प्रिय शिष्य पर उसने हमला कर दिया। दबी हुई इच्छा रूपान्तरित हुई, परन्तु फिर भी वह एक ख़ास दिशा में चली। जिस लड़की से मिलने से उसे मना किया गया था उसके कोट में एक फूल लगा हुआ था। वह लड़का बगीचे में जहाँ फूल देखता तोड़ लेता। लड़के में फूलों को तोड़न की एक बुरी लत पड़ गई। 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) बालक के व्यवहार में परिवर्त्तन ही नहीं करती, एक ख़ास दिशा में परिवर्त्तन करती है। जो 'सहज-प्रवृत्ति' दबाई गई है, उसके साथ मिलते-जुलते किसी 'स्थानापन्न'––'उपलक्षक'––(Substitute) को लेकर बालक के व्यवहार में परिवर्त्तन हो जाता है। परिणाम यह होता है कि बालक डर के कारण लड़की का पीछा करना तो छोड़ देता है, परन्तु लड़की के साथ जिस फूल का सम्बन्ध था उसे तोड़ने लगता है, लड़की की जो मित्र थी उसे मार बैठता है, जो-कुछ करता है, उसका उस लड़की के साथ दूर का या निकट का कोई सम्बन्ध होता है।

(घ) अवरुद्ध-इच्छा अन्तर्द्वन्द्व पैदा करती है—'अवरुद्ध-इच्छा' के विषय में जानने की चौथी बात यह है कि ये 'अन्तर्द्वन्द्व' (Mental conflict) उत्पन्न कर देती हैं। बच्चा घर में मिठाई देखता है। उसमें इसे लेने की इच्छा भी होती है—उठा लूँगा तो पिटूँगा, यह डर भी पैदा होता है। बालक में जो भावना प्रबल होगी उसी के अनुसार वह कर गुज़रेगा, और प्रायः मिठाई को उठाकर वह 'अन्तर्द्वन्द्व' को शीघ्र ही समाप्त कर देगा। अगर माता-पिता के लिए सम्मान की भावना उसमें प्रबल है, तो वह बिना पूछे मिठाई को हाथ नहीं लगायेगा। परन्तु अगर उसे बार-बार वह मिठाई दीखे, और बार-बार ही माता-पिता के डर या सम्मान के कारण उसे अपनी इच्छा दबानी पड़े, तो दोनों भावनाओं के प्रबल हो जाने के कारण 'अन्तर्द्वन्द्व' लम्बा हो जायगा। साधारणतः अच्छे वातावरण में पला हुआ बालक दिल में कहेगा—'मैं बिना पूछे तो लूँगा नहीं, परन्तु मिठाई को छोड़ूँगा भी नहीं, माँ से जाकर पूछ आता हूँ, मिठाई ले लूँ?' ऐसे बालक का 'अन्तर्द्वन्द्व' शीघ्र समाप्त हो जायगा। परन्तु प्रायः या तो बालक ही इस इच्छा को दबा लेता है, या माता-पिता बच्चे की इच्छा पूरी न करके उसे दबा देते हैं। परन्तु यह दबी हुई इच्छा नष्ट होने के स्थान में 'अज्ञात-चेतना' में जाकर मानो अन्दर का फोड़ा बन जाती है। मवाद अन्दर रुक नहीं सकता, फोड़ा तो फूटकर रहेगा। कोई क्षण आता है कि माता-पिता के डर या सम्मान की भावना को बालक परे फेंक देता है, वह मिठाई चुरा लेता है। वह अपने दिल में कहता है—'मैं पकड़ा नहीं जाऊँगा, फिर मुझे क्या डर है?' परन्तु कुछ देर बाद वह क्या देखता है कि उस के आत्मा पर एक बोझ-सा आ पड़ा है, उसके अन्तरात्मा में एक गाँठ-सी पड़ गई है, वह दुःखी रहने लगा है। कभी-कभी बालक इस प्रलोभन का मुकाबिला करता है, वह दिल में कहता है—'मैं चोरी नहीं करूँगा।' कुछ देर बाद ही हम देखते हैं कि वह अनजाने चिड़-चिड़ा हो गया है, और यों ही किसी से लड़ने लगा है। कभी-कभी हमारी ज्ञात-चेतना में 'अन्तर्द्वन्द्व' होता है, हमें इसका पता होता है, परन्तु प्रायः 'अन्तर्द्वन्द्व' अज्ञात-चेतना में 'भावना-ग्रन्थि' द्वारा चल रहा होता है, इसका हमें पता भी नहीं होता—हम सब-कुछ भूल चुके होते हैं। बच्चों तथा युवाओं के अनेक अपराधों का कारण ये 'अन्तर्द्वन्द्व' (Mental conflicts) होते हैं।

(घ) आनुवंशिक कारण

'अपराध' के आनुवंशिक कारण भी होते हैं। जिस अर्थ में काली आँखें और नीली आँखें माता-पिता से सन्तान में अनुसंक्रान्त होती हैं, उस अर्थ में तो 'अपराध' माता-पिता से सन्तान में अनुसंक्रान्त नहीं होता, परन्तु माता-पिता के ऐसे शारीरिक तथा मानसिक दोष अवश्य सन्तान में अनुसंक्रान्त होते हैं जो अनुकूल पर्यावरण पाकर अपराध का रूप धारण कर लेते हैं। जो लोग बार-बार अपराध करके जेलों में पहुँचते हैं, उनका अध्ययन करके श्री हीली (Healy) इस परिणाम

पर पहुँचे कि शिकागो में ऐसे १ हजार 'बालापराधियों' (Juvenile delinquents) में से ६६८ बालकों को माता-पिता से विरासत में हीन-बुद्धिता मिली थी जिसके कारण माता-पिता तो अपराधी थे ही, उनके बालक भी अपराध करने लगे थे।

(ङ) आर्थिक कारण

आर्थिक-कारणों और अपराधों का पारस्परिक-सम्बन्ध है। ग़रीबी और बेकारी में प्रायः अनेक व्यक्ति चोरी करते हैं, लड़कियाँ वेश्या-वृत्ति करती हैं, परन्तु यह भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति भयंकर-से-भयंकर संकट में भी चोरी न करे। आर्थिक-कष्ट एक ऐसा पर्यावरण अवश्य है जिसमें चोरी आदि समाज-विरोधी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सकती है। भयंकर रूप में बेकारी और ग़रीबी हो, तो देश में लूट-मार, डकैती आदि शुरू होने लगते हैं, और कभी-कभी ग़रीबी और बेकारी के कारण राज ही पलट जाते हैं। प्रजासत्ताक देशों में प्रत्येक दल जनता को यह समझाने का प्रयत्न करता है कि वह ग़रीबी और बेकारी को दूर करेगा क्योंकि सुसंगठित राज्य में आर्थिक व्यवस्था के ठीक रहने से अपराध कम होते हैं।

(च) सामाजिक कारण

कई सामाजिक कारण हैं जिनसे बालकों तथा युवाओं को 'अपराध' करने का अवसर मिलता है। उनमें से कुछ का वर्णन हम यहाँ करेंगे :—

(१) घर—कई घर ही बच्चों को तबाह कर देते हैं। वहाँ के वातावरण में बच्चा अपराधी बने बग़ैर रह ही नहीं सकता। माता-पिता में रोज़ डंडा चलता है, शराब के नशे में दोनों चूर होकर बालक के लिए एक अजीब तमाशा बन जाते हैं। जहाँ माता-पिता दुराचारी, व्यभिचारी हों, वहाँ बालक से क्या आशा की जा सकती है। कभी-कभी माता-पिता की ग़रीबी से भी बच्चे बिगड़ जाते हैं। घर इतने छोटे होते हैं कि उन्हीं में छः-छः, सात-सात बच्चे और माता-पिता इकट्ठे सोते हैं। जो बातें बच्चों की नज़र में नहीं आनी चाहियें वे भी आती हैं, अतः उनके चरित्र शुरू से गिर जाते हैं।

(२) खेल—बच्चे खेल-खेल में बहुत-सी गन्दी बातें सीख जाते हैं। माता-पिता तो समझते हैं, बच्चा खेल रहा है, परन्तु वह किसी दूसरे साथी से कोई बुरी बात सीख रहा होता है। बच्चे सब तरह के होते हैं, अच्छे होते हैं, तो कई स्वभाव के अपराधी भी होते हैं। ऐसों के साथ खेलने से अच्छे भी बुरे हो जाते हैं। यही छोटे बड़े होकर अपराध किया करते हैं।

(३) पाठशाला—हमारे आज के स्कूल-कॉलेज जहाँ पढ़ाई सिखाते हैं, वहाँ लड़के-लड़कियों की भारी तादाद होने के कारण अनेक अपराध भी सिखा देते हैं। समूह में बच्चा जहाँ अच्छी बातें सीखता है, वहाँ बुरी बातें भी सीखता है। प्रायः देखा गया है कि अशिक्षित व्यक्ति मार-पीट के और शिक्षित व्यक्ति चोरी, चालाकी, ग़बन आदि के अपराध अधिक करते हैं। स्कूल का वातावरण अगर

पढ़ने-लिखने के अनुकूल नहीं है, तो लड़कों को स्कूल से भाग जाने की आदत पड़ जाती है। माता-पिता के डर के मारे वे घर तो जाते नहीं, आवारागर्दी किया करते हैं। इस अवारागर्दी में ही वे सब तरह के अपराध सीख जाते हैं। स्कूलों की पाठविधि ऐसी रखनी चाहिए जिससे हर प्रकार के बालक को उसमें दिलचस्पी हो। दस्तकारी आदि कामों में लड़कों को लगाये रखने में उनका ध्यान इधर-उधर कम जाता है।

(४) समाज—हमारे चारों तरफ़ के समाज का बालक तथा युवा के चरित्र पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। अदालतों में अनेक ऐसे व्यक्ति अपराधों के लिए पकड़ कर लाये जाते हैं, जो अच्छे-अच्छे घरानों के होते हैं, परन्तु बुरी संगत और बुरे समाज के सम्पर्क से बिगड़ जाते हैं। हमारा सामाजिक-वातावरण चारों तरफ़ से इतना गन्दा है, कहीं सिनेमा, कहीं नाच-घर, कहीं आकाशवाणी द्वारा गन्दे गीत माता-पिता के अच्छे-से-अच्छे संस्कारों को भी मिटा देते हैं। ऐसे गन्दे संस्कारों में अपराधों का अधिकाधिक बढ़ना आश्चर्य की बात नहीं है।

(५) सामाजिक-रचना—हमारे समाज की रचना में कई मूल-भूत ख़राबियाँ हैं। इस समय समाज का आधार आर्थिक-विषमता है। एक बहुत अमीर, दूसरा बहुत ग़रीब है। पैसा पैदा करने, और उसे दाँत से पकड़ रखने के लिए मनुष्य नीच-से-नीच काम करता है। जो व्यक्ति परले दर्जे के झूठे और गिरे हुए आचार के हैं, उनकी भी समाज में धनी होने के कारण प्रतिष्ठा है। ऐसे समाज के प्रति विद्रोह होना स्वाभाविक है। जब कोई करोड़पति किसी अच्छे काम के लिए रोता हुआ एक रुपया दान देता है, या उसके लिए भी बीसियों झूठे बहाने बनाता है, तो समाज-सुधारक का मन उसे गोली से उड़ा देना चाहता है। वह बेचारा तो चुप हो बैठ रहता है, परन्तु क्रांतिकारी राजनैतिक-दल इस व्यवस्था को बदलने में जुट जाता है, सीधे-तौर से वह इस व्यवस्था को नहीं बदल सकता, तो अमीरों की लूट-पाट शुरू कर देता है। समाज में हर-एक व्यक्ति की 'स्थिति' (Status) ऐसी क्यों नहीं है कि हर व्यक्ति अपनी उचित 'एषणाओं' (Urges) को पूरा कर सके, हर व्यक्ति की समाज में 'स्थिति' (Status) हो, और 'कार्य' (Role) हो? हमारा समाज ऐसा नहीं है, समाज की रचना को इस प्रकार बदलना होगा जिससे सबके साथ न्याय हो—यह भावना कुछ व्यक्तियों से ऐसे काम करा देती है जिन्हें हम आज की परिभाषा में 'अपराध' कहते हैं, परन्तु स्थिति बदल जाने पर वे अपराध नहीं, क्रांति कहे जा सकते हैं। आर्थिक-विषमता की तरह जन्म के ऊँच-नीच का भेद है, अमरीका तथा अफ़्रीका में काले-गोरे का भेद है, इस भेद को मिटाने वाले झगड़ा-उत्पात करते हैं, इस प्रकार के भेद-भाव को रखने वाले इन झगड़ों को 'अपराध' कहते हैं।

७. अपराध के लिए दंड-विधान के 'वाद'

अपराध के रोकने के लिए आदि-काल से दण्ड का विधान है, परन्तु प्रश्न यह है कि दण्ड का उद्देश्य क्या होना चाहिए? दण्ड के उद्देश्य को सामने रखते हुए ही यह निर्णय किया जा सकता है कि किस प्रकार का दंड दिया जाय। इस सम्बन्ध में तीन 'वाद' हैं---'प्रतीकार-वाद' (Retributive theory), 'निरोध-वाद' (Deterrent theory) तथा 'सुधार-वाद' (Reformative theory)।

(क) प्रतीकार-वाद---इस वाद का आधार यह नैतिक विचार है कि अच्छे काम का अच्छा और बुरे का बुरा फल मिलना चाहिए। अगर कोई शुभ-कार्य करता है तो उसे इनाम और अशुभ कार्य करे तो उसे वैसी ही सजा मिलनी चाहिए। ऐसी सजा देते हुए यह भी ख्याल रखना चाहिए कि जिसका हर्जाना हुआ है वह पूरा किया जाय। आजकल भी हम देखते हैं कि जिसका नुकसान होता है वह दूसरे पक्ष के लिए सजा तथा उससे हर्जाना---इन दोनों की माँग करता है।

(ख) निरोध-वाद---इस वाद का आधार यह है कि अपराधों के लिए इतना भय उत्पन्न कर दिया जाय कि आगे से समाज में वैसा अपराध न हो। सजा देते हुए ऐसी कड़ी सजा दी जाती है जिसे देख कर सब काँप उठें। प्राचीन-काल में चोरी के लिए हाथ काट देना, व्यभिचार के लिए गुप्तांग काट देना इसी उद्देश्य से होते थे। इस वाद का आधार भय है और इसलिए कड़ी-से-कड़ी सजा दी जाती है। आजकल भी कोड़े लगाना, मारना, पीटना सब इसी उद्देश्य से किये जाते हैं कि अपराधी दुबारा अपराध न करे और कड़ी-सजा देख कर दूसरे भी रुकें।

(ग) सुधार-वाद---इस वाद का आधार यह है कि अपराधी हमारी तरह ही मनुष्य है, समाज के वातावरण के कारण वह अपराधी बना है, जैसे वातावरण से वह अपराधी बना है, वैसे भिन्न वातावरण उत्पन्न कर देने से वह अपराध को छोड़ भी सकता है। दण्ड का उद्देश्य अपराधी का सुधार होना चाहिए, न कि बदला लेना। इस उद्देश्य से मृत्यु-दंड, तनहाई, कोड़े लगाना आदि का दण्ड-व्यवस्था में कोई स्थान नहीं होना चाहिए। मृत्यु-दण्ड से तो अपराधी मर ही जाता है, उसके सुधार का प्रश्न ही नहीं उठता, इसलिए यह दंड अनुचित है। अपराधी के साथ सहानुभूति से बरतना चाहिए। अगर आर्थिक-कारण से अपराध हुआ है, तो कड़ी सजा देने से तो वह चोरी-डकैती को नहीं छोड़ेगा, वह इन अपराधों को करेगा परन्तु पकड़ में न आने के तरीके ढूँढेगा। उसके लिए तो उसकी आर्थिक-समस्या को हल करना होगा और आर्थिक-समस्या को हल करने के लिए उसे किसी प्रकार के उद्योग-धंधे की शिक्षा देनी होगी। आजकल यही विचार-धारा प्रबल होती जा रही है। यह विचार २१ जनवरी १७९० में शुरू हुआ, जब इंग्लण्ड, अमरीका आदि देशों में अपराधी के सुधार का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। आज हर देश में सुधारवाद की दृष्टि से जलों का पुनः संगठन हो

रहा है। कड़ी सजाएँ हटाई जा रही हैं, उनकी जगह कैदी को कष्ट देने के बजाय उसके साथ सहानुभूति का बर्ताव किया जा रहा है। मनोवैज्ञानिकों को कैदियों की देख-रेख के लिए रखा जा रहा है जिससे वे प्रत्येक कैदी के वैयक्तिक-सम्पर्क में आयें और देखें कि उसकी अपनी निज की क्या समस्या है, क्या कठिनाई है, वह क्यों अपराध करता है, और इस प्रकार उसे अपने जीवन की दिशा को बदलने में सहायता दें। अपने देश में अभी यह प्रक्रिया प्रारम्भ ही हुई है, मुख्य तौर पर तो कैदियों के साथ बरतावे में ही भेद आया है। उनके रहने-सहने के तरीके बदल गये हैं, उनको आराम से रखा जाता है, उनके खेल-कूद के सामान बढ़ाये जा रहे हैं, उन्हें खाने-पहनने को अच्छा दिया जा रहा है। इससे लाभ है, परन्तु इससे हानि होने की भी सम्भावना है। यह हो सकता है कि कैदी को बाहर की अपेक्षा अच्छा खाना मिले, अच्छा पहनना मिले, खेलने-कूदने के सामान हों, बाहर उसे जो आराम नहीं मिलता अन्दर वह सब आराम मिले। इससे यह भी सम्भव है कि बेईमानी और चोरी करने पर एक कैदी को मक्खन-डबल रोटी मिले, और ईमानदारी से पसीना बहाकर पैसा पैदा करने वाले को सूखी रोटी भी न मिले। सुधारवाद के जोश में हम समाज के मूल्यों को ही न पलट दें, बेईमान को जेल में अच्छा खाना और ईमानदार को समाज में सूखा खाना नसीब हो——ऐसी हालत न पैदा हो जाय, इस बात का ख्याल रखना होगा।

८. अपराधों का इलाज

अपराधों को दूर करने के लिए समाज जिन उपायों का प्रयोग करता है, उनका वर्णन करके हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे। वे उपाय हैं——(क) पुलिस, (ख) अदालत, (ग) जेलखाना, (घ) युवा-सुधार तथा (ङ) बाल-सुधार।

(क) पुलिस——अपराधी को पकड़ने का सबसे पहला काम पुलिस का है। पुलिस के लोग यूँ ही भर्त्ती कर लिये जाते हैं, उन्हें किसी प्रकार की शिक्षा नहीं होती। काम करते-करते वे जो थोड़ा-बहुत सीख जाते हैं वही उनकी शिक्षा होती है। जब तक समाज प्रारम्भिक-अवस्था में था, ग्रामीण-पर्यावरण शहरी-पर्यावरणों के मुकाबिले में अधिक थे, तब तक किसी भी व्यक्ति को शान्ति-स्थापना का कार्य दिया जा सकता था। आज पर्यावरण बदल गये हैं। पुलिस का काम जिम्मेवारी का काम है। अपने देश में तो पुलिस वाला बहुत ही ग़ैर-ज़िम्मेवार आदमी है। वह बदमाशों का सहायक और भले-मानसों का शत्रु है। चोर, जुआरी, सट्टेबाज पुलिसवालों से मिले रहते हैं। इस अवस्था को बदलने की जरूरत है। पुलिस के आदमी का काम बहुत जिम्मेवारी का काम है। उसे साधारण-शिक्षा के साथ-साथ कानूनी शिक्षा भी मिलनी चाहिए। आज तो जैसे अन्य अपराधी हैं, वैसे पुलिसवाले भी उसी तरह के अपराधों में पकड़े जाते हैं। पुलिस की वर्दी पहन कर उन्हें अपराध करने की मानो खुली छूट मिल जाती है।

इस अवस्था को बदलना होगा, और पुलिस को पहले अपना सुधार करना होगा, तब सुधरी हुई पुलिस समाज को भी सुधारेगी। इस दिशा में अब कुछ होने लगा है।

(ख) अदालत--अपराधी को पकड़ कर अदालत के सामने पेश किया जाता है। कानून की इतनी बारीकियाँ हैं कि जो अच्छा-तगड़ा वकील कर सकता है वह भारी-से-भारी जुर्म करके भी छूट जाता है, कभी-कभी बेगुनाह आदमी अच्छा वकील न करने से मारा जाता है। अगर हम उन व्यक्तियों के मनों में प्रवेश कर सकते, जो अपराध करके छूट जाते और बिना अपराध किये सज़ा पा जाते हैं, तो अमरीका के प्रेज़ीडेन्ट टाफ़्ट की इस उक्ति का हमें सत्य समझ आ जाता है कि न्यायालयों में जिस प्रकार न्याय किया जाता है वह देश के लिए अत्यन्त लज्जा-जनक है। अमरीका में न्यायालयों के साथ मनोवैज्ञानिकों का सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। न्यायाधीश के सम्मुख जो भी व्यक्ति लाया जाय, उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने से सचाई का पता अधिक लग सकता है।

(ग) जेलखाना--मनुष्य की सब से प्रिय वस्तु स्वतंत्रता है, इसलिए अपराध करने के कारण उसको सबसे कड़ा दंड जेल में बन्द किये जाने का दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति समाज-विरोधी कार्य करता है, उसे समाज से हटा देना ही हितकर है। परन्तु जेल का उद्देश्य यह नहीं है कि अपराधी इसमें रहकर इसी योग्य रह जाय, समाज में आकर भलेमानस की तरह रह ही न सके। इस समय हमारी जेलों की जो हालत है, उसमें व्यक्ति का सुधार नहीं हो पाता। जेल में से अपराधी समाज के कठोर अत्याचारों के प्रति और अधिक विद्रोह की भावना को लेकर निकलता है। इसी का परिणाम है कि कई अपराधी बार-बार बन्दीगृहों के अतिथि बनते हैं। अवस्था यहाँ तक पहुँच गई है कि अगर कोई एक बार जेल पहुँच गया, तो अगर वह कच्चा अपराधी था तो पक्का बनकर निकलता है, और इसी जीवन को बार-बार दोहराता है। हमें अपराधियों के दो भाग कर लेने होंगे। एक तो वे, जो अपने को सुधार ही नहीं सकते। उन्हें समाज को अन्य व्यक्तियों से सदा के लिए अलग रखने का निश्चय करना होगा। दूसरे वे, जो अपनी ग़लती समझ गये हैं, अपना सुधार करने के लिए तैयार हैं। उनके लिए अलग व्यवस्था करनी होगी। ऐसे अपराधियों को उन अपराधियों से अलग रखना होगा जो किसी हालत में भी सुधर नहीं सकते। इनको सुधरने की सब सुविधाएँ देनी होंगी, इनको समाज में फिर से प्रतिष्ठित जीवन बिताने योग्य बनाना होगा, तभी समाज में से अपराध कम हो सकता है।

इन सुधार के विचारों को लेकर जेलों में अनेक सुधार हुए हैं। इस दिशा में उत्तर-प्रदेश ने अन्य प्रान्तों को मार्ग-प्रदर्शन का कार्य किया है। १९४९ में लखनऊ में आदर्श-बन्दीगृह की स्थापना की गई। इस बन्दी-गृह में रेडियो भी रखा गया है और बन्दियों को नागरिक बनने की सुविधाएँ दी गई हैं। उन्हें शिक्षा-प्रद फ़िल्में दिखाई जाती हैं। लखनऊ के इस आदर्श-बन्दी-गृह के एक कैदी को बलरामपुर अस्पताल में भेजा गया। वह बिना किसी प्रतिबन्ध के डेढ़ महीने वहाँ रहा और

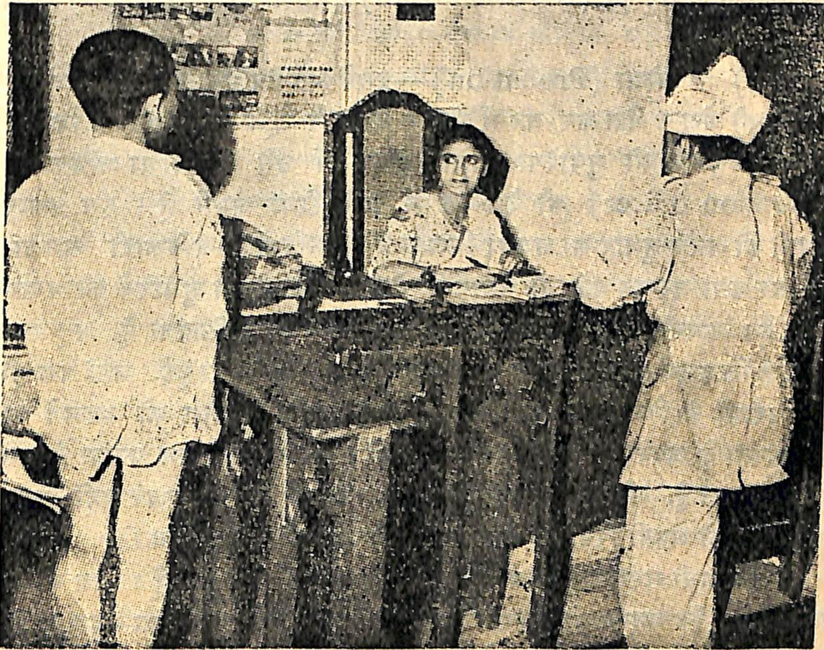
इलाज हो चुकने पर अपने बन्दी-गृह में वापस चला आया। इस बन्दी-गृह के ऐसे कैदी जो पढ़-लिख सकते हैं उन्हें अन्य बन्दी-गृहों में शिक्षक का काम करन के लिए भेजा जाता है। १९५२ में बनारस जिले की चकाई तहसील में चन्द्रप्रभा नदी के किनारे कैदियों का एक कैम्प खोला गया जो चारों तरफ़ की ऊँची-ऊँची दीवारों से घिरा हुआ नहीं था। इस कैम्प का नाम सम्पूर्णानन्द-कैम्प रखा गया क्योंकि श्री डा० सम्पूर्णानन्द जी की प्रेरणा से यह बन्दी-कैम्प खोला गया था। इस कैम्प में २,००० के लगभग बन्दी थे। ये चन्द्रप्रभा नदी के बाँध पर काम करते थे। प्रान्त भर के कैदियों की छान-बीन कर ऐसे कैदी चुने गये थे जिन पर भरोसा किया जा सकता था। इन लोगों ने बड़ी मेहनत से काम किया। इन पर जिम्मेदारी डाल दी गई थी इसलिए खुले रहते हुए भी किसी ने भागने का प्रयत्न नहीं किया, इतने कैदियों में से कुल दो भागे, बाकी सब दिल लगा कर काम करते रहे। इन्होंने इतना काम किया कि इनकी मजदूरी १ लाख रुपया थी। इनके लिए कैन्टीन खोली गई, अपनी आमदनी से ये कुछ रुपया घर भेज सकते थे, कुछ रुपया जमा कर सकते थे और कुछ बीड़ी, तेल में ख़र्च कर सकते थे। बिलकुल इस तरह के तो नहीं, परन्तु इससे मिलते-जुलते परीक्षण बम्बई में भी हुए। वहाँ जेल में मनोवैज्ञानिक लोग रखे गये, मनोविज्ञान की प्रयोग-शालाएँ भी रखी गईं। अगर जेलों के साथ मनोवैज्ञानिकों का सम्बन्ध जोड़ दिया जाय और अपराधियों के साथ मनोविज्ञान के पंडितों का वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाय, तो अपराधियों के सुधार में एक बहुत बड़ा कदम उठाया जा सकेगा।

(घ) युवा-सुधार---पुलिस, अदालत, जेलखाना---ये सब युवाओं को अपराध करने से रोकने के लिए रचे गए हैं, परन्तु अब एक नया विचार जन्म ले रहा है। इस नवीन विचार के अनुसार जो युवक बड़ी उम्र के हैं, उनका सुधार भी तो हो सकता है। दण्ड का उद्देश्य पहले कभी बदला लेना समझा जाता था, परन्तु ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक दृष्टिकोण बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों यह समझा जाने लगा है कि अपराध का कारण बुरी मंशा ही नहीं, पर्यावरणों की प्रतिकूलता से भी व्यक्ति अपराध कर बैठता है। दण्ड का प्रयोजन सुधार करना होना चाहिए। इसी दृष्टि से १९३८ में उत्तर-प्रदेश में 'बन्दी की परिवीक्षार्थ मुक्ति का कानून' (Prisoner's Release on Probation Act) पास किया गया। इसके अनुसार कोई भी अपराधी एक-तिहाई समय तक सज़ा भुगतने के बाद इस शर्त पर जेल से रिहाई माँग सकता है कि वह अब ठीक चाल-चलन रखेगा। इस प्रकार की प्रार्थना अपराधी स्वयं, उसके अभिभावक या 'परिवीक्षा-अधिकारी' (Probation Officer) कर सकते हैं। अपराधी को अपना सुधार करने का इस कानून से अच्छा अवसर मिल जाता है।

(ङ) बाल-सुधार---युवकों अर्थात् २१ वर्ष से अधिक आयु के व्यक्तियों के अतिरिक्त बालकों अर्थात् ७ से २१ वर्ष के व्यक्तियों का सुधार हो ही सकता है। उन्हें दण्ड देकर सीधा जेल भेज देने से वे पक्के अपराधी बन जाते हैं। अमरीका में

'किशोर-सुधार-कानून' (Youth Correction Act) बना हुआ है, जिसके अनुसार जज को २१ वर्ष से कम आयु के अपराधियों को 'किशोर-सुधार-अधिकारियों (Youth Correction Authority) के पास भेज देने का अधिकार है। उत्तर-प्रदेश में १९५२ में 'बाल-सुधार-कानून' (Children's Act) स्वीकृत हुआ है जिसके अनुसार १६ वर्ष से कम आयु के बालकों के सुधार के लिए आश्रम खोले जायेंगे, और जो बालक अपराधी पाये जायेंगे, या आवारा फिरते मिलेंगे, जिन बालकों के घर का वातावरण उनके स्वस्थ विकास के लिए ठीक नहीं होगा, उन्हें इन आश्रमों में रखकर दस्तकारी आदि की शिक्षा दी जायगी। ऐसे कानून सारे देश में बनने की भी व्यवस्था हो रही है।

बाल-सुधार के लिए कुछ नये परीक्षण किये जा रहे हैं। १९३८ में उत्तर-प्रदेश में 'प्रथम-अपराधी परिवीक्षा-कानून' (First Offender's Probation Act) पास हुआ। इस कानून के अनुसार १८ वर्ष से छोटी आयु का व्यक्ति अगर कोई अपराध करे, तो न्यायाधिकारी उसे दण्ड तो दे देता है, परन्तु जेल में भेजने के स्थान में 'परिवीक्षा-अधिकारी' (Probation Officer) के सुपुर्द कर देता है। इस समय उत्तर-प्रदेश में प्रायः सभी जिलों में 'परिवीक्षा-अधिकारी' हैं। मैजिस्ट्रेट पहले 'परिवीक्षा-अधिकारी' से रिपोर्ट माँगता है कि उसकी सम्मति में अमुक अपराधी को उसकी देख-रेख में छोड़ा जा सकता है या नहीं। 'परिवीक्षा-



दिल्ली की लेडी-मैजिस्ट्रेट श्रीमती गुरदीपकौर नौनिहालसिंह एक अपराधी बच्चे से प्रश्नोत्तर कर रही हैं

अधिकारी' जाँच-पड़ताल करके पता लगाता है कि वह अपराधी कैसा है, प्रयत्न से वह सुधर सकता है, या नहीं। अगर सुधर सकता है, तो अपराधी इस शर्त्त पर छोड़ दिया जाता है कि जितने समय का उसे दण्ड मिला है, उतने समय तक वह घर में रहता हुआ 'परिवीक्षा-अधिकारी' के सम्पर्क में रहेगा। 'परिवीक्षा-अधिकारी' को अपराधी नियत दिनों में मिलता रहता है, 'परिवीक्षा-अधिकारी' भी समय-समय पर अपराधी के घर पर जाकर उसकी पड़ताल करता रहता है। वह कितना कमाता है, कमाई घर लाता है या नहीं, चाल-चलन कैसा है, पड़ौसियों की उसके विषय में क्या सम्मति है--ये सब बातें पता लगा कर 'परिवीक्षा-अधिकारी' बालक का सुधार करने का यत्न करता है। दिल्ली, बम्बई, बिहार, मद्रास आदि में भी ऐसे ही कानून बने हुए हैं।

९. सुधारात्मक उपाय

हम कई जगह कह आये हैं कि हमें अपराध का बदला लेने के स्थान में अपराधी का सुधार करना चाहिए--यही वर्त्तमान विचार-धारा है। इसी के आधार पर आजकल जो नई प्रवृत्तियाँ जागी हैं उनके परिणामस्वरूप अपराधी का सुधार करने के कुछ नये उपाय निकाले गये हैं। इनमें से प्रोबेशन, पैरोल, खुले बन्दी-गृह तथा आदर्श बन्दी-गृह तो युवाओं अर्थात् २१ वर्ष से अधिक आयु के व्यक्तियों के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं; २१ वर्ष से कम आयु के व्यक्तियों के सुधार के लिए सुधार-गृह (Reformatories) तथा बोर्स्टल (Borstal) खोले जाते हैं।

(क) परिवीक्षा (Probation)--इसमें अपराध प्रमाणित हो जाने पर अपराधी को जेल न भेज कर घर में ही इस आशा से रहने दिया जाता है कि वह अपने चाल-चलन को सुधारेगा। ऐसी हालत में उसे 'परिवीक्षा-अधिकारी' (Probation officer) की देख-रेख में छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार अपराधी को आत्म-सुधार का अवसर मिलता है। 'परिवीक्षा-अधिकारी' समझा-बुझा कर तथा जरूरत पड़े तो चेतावनी देकर अपराधी को सुधारने का प्रयत्न करता है। परिवीक्षा-अधिकारी अपराधी की जीवन-गाथा लिखता है, यह पता लगाता है कि इसमें अपराध करने की प्रवृत्ति क्यों और कैसे पैदा हुई, जहाँ तक हो सके अपराधी के निकटतम सम्पर्क में आकर उसके दृष्टि-कोण को बदलने का प्रयत्न करता है, अपराधी की आर्थिक-स्थिति को सुधारने का प्रयत्न करता है, उसे काम दिलवाता है, और अगर अपराधी किसी तरह भी सुधरता नज़र नहीं आता, तो अदालत को अपनी रिपोर्ट दे देता है कि इसे जेल भेज दिया जाय।

पहले कभी समझा जाता था कि अपराधी जन्म से पैदा होते हैं। अब समझा जाने लगा है कि मनुष्य को अपराधी बनाने में उसके 'पर्यावरण' का बहुत अधिक हाथ होता है। पर्यावरण बदल देने से मनुष्य की अपराधी मनोवृत्ति नहीं रहती। अपराधी को दंड देकर पीड़ा देने के स्थान में उसके पर्यावरण को बदल देने के रूप में 'परिवीक्षा' (प्रोबेशन) का काम उसका सुधार करना है।

(ख) कारावकाश (Parole)––'परिवीक्षा' (प्रोबेशन) में तो अपराधी को जेल नहीं भेजा जाता, किसी 'परिवीक्षा-अधिकारी' की देख-रेख में रख दिया जाता है, 'कारावकाश' (पैरोल) में कुछ देर जेल भुगतने के बाद उसके या उसके अभिभावकों के आग्रह पर उसे छोड़ दिया जाता है। इस अवसर में वह 'परिवीक्षा-अधिकारी' (Probation Officer) की देख-रेख में ही रहता है। पैरोल 'सशर्त्त-मुक्ति' का नाम है। शर्त्त यह होती है कि वह आगे से सदाचरणपूर्वक रहेगा। अगर 'कारावकाश' (पैरोल) के समय वह फिर अपराध कर बैठता है, तो फिर उसे जेल भेज दिया जाता है, और पहले का शेष-दण्ड तथा नये अपराध का भी दण्ड उसे भुगतना होता है।

(ग) खुले बन्दी-गृह (Open or Wall-less prisons)––१९३३ में बिना ऊँची-ऊँची दीवारों के, खुले में वेकफ़ील्ट-नामक स्थान पर खुले में बन्दी-गृह बनाया गया। इसका नाम 'न्यू हॉल कैम्प' रखा गया। १५ वर्ष के अनुभव में इस प्रकार के खुले कारावास से केवल एक कैदी भागा। भारत में डा० सम्पूर्णानन्द-कैम्प का वर्णन हम पीछे कर आये हैं। यह कैम्प १९५२ में २००० कैदियों का लगाया गया था जिसमें कैदियों पर कोई बन्धन नहीं था। यह कैम्प भी बहुत सफल रहा। इस प्रकार के बन्दीगृहों में कैदियों में आत्म-सुधार की भावना जागृत होती है।

(घ) आदर्श बन्दी-गृह (Model prisons)––आदर्श बन्दी-गृह का अर्थ है, इस प्रकार का बन्दी-गृह बनाना जिसमें कैदियों को जीवन की सब सुविधाएँ प्राप्त हों, और उन्हें मनुष्य समझ कर मानवता का पाठ सिखाना। लखनऊ में एक ऐसा आदर्श बन्दी-गृह बनाया गया है। वहाँ वे घूम-फिर सकते हैं, फुलवाड़ी लगी है, नाटक के लिए हॉल है, रंग-मंच है, कभी-कभी उन्हें शहर जाने की भी आज्ञा दी जाती है। यह बहुत सन्देहास्पद है कि भारत जैसे ग़रीब देश में ऐसे बन्दी-गृह कहाँ तक सफल हो सकते हैं। अगर उन्हें जेल के बाहर जेल से बुरी हालत में रहना पड़े, तो वे जेलों में रहना ज्यादा पसन्द करेंगे।

(ङ) सुधार-गृह तथा बोर्स्टल (Reformatories and Borstals)––सुधार-गृह दो तरह के होते हैं, 'किशोर-सुधार-गृह' (Juvenile reformatories) तथा 'वयस्क-सुधार-गृह' (Adult reformatories)। ये एक प्रकार के 'औद्योगिक-स्कूल' होते हैं, जिनमें छोटों और बड़ों––सब को काम सिखा कर उन्हें अपराध से निवृत्त कराया जाता है। इन 'सुधार-गृहों' का एक प्रकार 'बोर्स्टल' है जिसमें बालापराधियों को रख कर उनका सुधार किया जाता है।

(च) 'उपरान्त रक्षा-संस्था या समितियाँ (After-care associations)––अपराधी की देख-रेख सिर्फ़ उस समय तक ही करने की जरूरत नहीं है जब तक वह जेल में है, या प्रोबेशन या पैरोल पर है, या रिफ़ॉर्मेटरी या बोर्स्टल में है। इन सब बन्धनों से छूट जाने के बाद उसकी देख-रेख की और अधिक आवश्यकता है ताकि वह फिर अपराधों की तरफ़ न मुड़ जाय। इस उद्देश्य से 'उपरान्त-

संरक्षण-समितियों' की आवश्यकता है, जो सार्वजनिक कार्य-कर्ता लोग बनाते रहते हैं और सज़ा पाये हुए व्यक्तियों को ठीक मार्ग दर्शाते रहते हैं। इस प्रकार की समितियों के दिनोंदिन अधिकाधिक बनने की आवश्यकता है। सरकार को भी ऐसी समितियों को सहायता देनी चाहिए।

'बालापराध' तथा 'युवापराध' पर विशेष रूप से जानकारी हासिल करने के लिए हमारे 'समाज-कल्याण तथा सुरक्षा'-ग्रन्थ के इस विषय के अध्यायों को पढ़ने से विशेष लाभ होगा।

प्रश्न

१. अपराध किसे कहते हैं ? 'विभेदक-विकल्प' (Variant Alternative) का अर्थ समझाइये।

२. अपराध का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है ?

३. अपराध के क्या-क्या कारण हो सकते हैं ?

४. व्यक्ति के मानसिक-दोष किस प्रकार बालक या युवा को अपराधी बनाने में सहायक होते हैं ?

५. सामाजिक-कारण किस प्रकार बालक या युवा को अपराधी बनाते हैं ?

६. 'बाल-सुधार-कानून' (Children's Act) तथा 'प्रथम-अपराधी-परिवीक्षा-कानून' (First Offender's Probation Act) क्या हैं ?

७. 'परिवीक्षा अधिकारी' (Probation Officer) के विषय में आप क्या जानते हैं ?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. दंड के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त लिखिये और बतलाइये कि इनमें से आप को कौन-सा अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है ? (आगरा, १९५४)

२. बालापराधी के सुधार में प्रोबेशन-अफ़सर के क्या कार्य होते हैं ? (आगरा, १९५३)

३. भारत में अपराध बढ़ने के क्या कारण हैं ? इस समस्या का आप क्या समाधान करेंगे ? (आगरा, १९५६)

४. 'सुधार-गृह', 'आदर्श-बन्दी-गृह' तथा 'पैरोल' पर टिप्पणी दीजिये। (राजपूताना, १९५३)

५. अपराध के कारणों का वर्णन कीजिये। अपराध को रोकने के उपायों का निर्देश कीजिये। (राजपूताना, १९५४)

६. 'बालापराधों' (Juvenile delinquency) के लिए कौन-से तत्त्व उत्तरदायी हैं ? बालापराधों को रोकने के लिए कौन-से साधन अपनाने चाहिएँ ? (राजपूताना, १९५५)

३५

'सहज-प्रवृत्ति' तथा 'व्यवहार'

(INSTINCT OR HUMAN NATURE AND BEHAVIOUR)

१. व्यवहार के 'प्रेरक-कारण'

(Motivations of Behaviour)

समाज में सैकड़ों आदमी दिखाई देते हैं। इन-सब के 'व्यवहार' (Behaviour) का 'प्रेरक-कारण' क्या है? एक व्यक्ति का व्यवहार अत्यन्त शिष्टता का व्यवहार है, दूसरा ऐसा व्यवहार कर बैठता है जिसकी हमें उससे कभी स्वप्न में भी आशा नहीं थी। एक-से पर्यावरणों में व्यक्ति-व्यक्ति के व्यवहार में इतना असाधारण भेद क्यों है? मनोवैज्ञानिकों ने मनुष्य के साधारण तथा असाधारण सामाजिक-व्यवहार के मुख्य तीन कारणों का पता लगाया है, जो निम्न हैं:—

(१) 'आर्थिक प्रेरक-कारण' (Economic motivations)—एक शताब्दी के लगभग समय बीता, जब एडम-स्मिथ तथा उसके अनुयायियों ने इस मत का प्रतिपादन किया कि मनुष्य की हर क्रिया का मूल-कारण आर्थिक होता है। उन्होंने मनुष्य की सब प्रेरणाओं का मूल-स्रोत रुपये-पैसे में देखा। उनका कहना था कि हर-एक व्यक्ति 'आर्थिक-मनुष्य' (Economic man) है, और हर काम को इसी दृष्टि से करता है जिसमें उसे ज्यादा-से-ज्यादा आर्थिक लाभ हो। मनुष्य के आर्थिक दृष्टि-कोण को ही आधार बनाकर कार्ल-मार्क्स ने 'श्रेणी-युद्ध' (Class-war) के सिद्धान्त को जन्म दिया। उसका कहना था कि राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक—जितने भी भवन मनुष्य खड़े करता है, सब की नींव में आर्थिक-शिला ही पड़ी होती है।

(२) 'मनोविश्लेषणवादी प्रेरक-कारण' (Psycho-analytical motivations)—मनोविश्लेषणवादी फ्रॉयड तथा उसके अनुयायियों का कहना था कि मानव-समाज के सम्पूर्ण व्यवहार का प्रेरक-कारण मनुष्य की 'यौन-सहज-प्रवृत्ति' (Sex instinct) है। 'यौन'-भावना से प्रेरित होकर ही मनुष्य बचपन से मृत्यु-पर्यन्त सारा व्यवहार करता है। 'योनि-सम्बन्धी सहज-प्रवृत्तियों' (Sexual instincts) को समाज बुरा समझता है, इसलिए बचपन से ही इन्हें दबाने का यत्न करता है, परन्तु ये दबती नहीं, मनुष्य की 'अव-चेतना' (Subconscious Self) में जाकर उसके व्यवहार को प्रेरित करती रहती हैं। जिसका यौन-जीवन स्वस्थ होता है, उसका सारा व्यवहार स्वस्थ होता है, परन्तु

प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के यौन-जीवन में कुछ-न-कुछ अस्वस्थता का अंश रहता है, अतः सभी के व्यवहार में भी कुछ-न-कुछ अजनबीपन बना रहता है।

(३) 'सहज-प्रवृत्ति-सम्बन्धी प्रेरक-कारण' (Instincts as motivations)—एडम-स्मिथ तथा कार्ल-मार्क्स ने मनुष्य की आर्थिक-प्रवृत्ति को एवं फ्रॉयड ने यौन-भावना को हर बात का प्रेरक-कारण माना है, परन्तु अन्य विचारकों ने इन दो के अलावा अन्य अनक 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) को मनुष्य के व्यवहार का 'प्रेरक-कारण' कहा है। 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) के विषय में वर्त्तमान-युग के सबसे बड़े पंडित मैक्डूगल माने जाते हैं। उन्होंने कुछ 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) की गणना की है, और उनका कहना है कि ये प्रवृत्तियाँ मनुष्य के व्यवहार का मूल-स्रोत हैं। हमारा सारा व्यवहार बदलता रहता है, परन्तु ये प्रवृत्तियाँ नहीं बदलतीं, ये मनुष्य में स्थिर रूप में रहती हुई उसके व्यवहार को प्रभावित करती रहती हैं। इनमें एडम-स्मिथ तथा कार्ल-मार्क्स की 'अर्थ-लालसा' तथा फ्रॉयड की 'यौन-भावना' भी शामिल हैं, परन्तु इन दो के अलावा ये प्रवृत्तियाँ अनेक हैं, जो मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित करती रहती हैं। मैक्डूगल के अनुसार हमारे व्यवहार की प्रेरक 'सहज-प्रवृत्तियाँ' ही हैं।

२: 'सहज-प्रवृत्तियाँ' (Instincts)

'सहज-प्रवृत्ति', अर्थात् 'प्राकृतिक-शक्ति' की उत्पत्ति

जीवन के सबसे पहले रूप, जीवन की इकाई का नाम 'कलल-रस' (Protoplasm) है। जहाँ जीवन है, वहाँ 'उत्तेजक' (Stimulus) के सामने होने पर 'प्रतिक्रिया' (Response) होती है, 'उत्तेजक' हो, और 'प्रतिक्रिया' न हो, तो जीवन ही नहीं होता। जीवन का जो सबसे छोटा पहला रूप है, उसमें 'प्रतिक्रिया', एक ही बात के लिए एक न होकर, अनेक होती हैं। उदाहरणार्थ, 'कलल-रस' (Protoplasm) में 'उत्तेजक' के सामने होने पर अनेक 'प्रतिक्रियाएँ' होती हैं। इन 'प्रतिक्रियाओं' में से कई जीवन के लिए लाभ-प्रद सिद्ध होती हैं, कई हानिकर। जीवन-संग्राम में जो 'प्रतिक्रियाएँ' लाभ-प्रद साबित होती हैं, वे चुन ली जाती हैं, बाकी छोड़ दी जाती हैं। ये चुनी हुई प्रतिक्रियाएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती चली जाती हैं, अन्त में, प्राणी के जीवन का अंग बन जाती हैं, इन्हें नये सिरे से सीखना नहीं होता, प्राणी जन्मते ही इन्हें साथ लाता है। इन्हीं को 'सहज-प्रवृत्ति' (Instincts) कहा जाता है। क्योंकि जो प्रतिक्रियाएँ लाभ-प्रद सिद्ध हुईं, वे प्रत्येक नस्ल के प्राणी में 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural Selection) द्वारा चुन ली गईं, इसलिए 'सहज-प्रवृत्तियों' को हिन्दी के कई लेखक 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) भी कहते हैं—'सहज-प्रवृत्ति', अर्थात् 'प्राकृतिक-शक्ति'।

'सहज-प्रवृत्ति' की विशेषताएँ

(१) प्रयोजन—सहज-प्रवृत्तियों में कोई-न-कोई 'प्रयोजन' (Purpose) होता है। पुराने मनोवैज्ञानिक यह मानते थे कि प्राणी में जो 'सहज-प्रवृत्ति' है,

वह प्रयोजन या लक्ष्य को लेकर नहीं, केवल 'यान्त्रिक-प्रतिक्रिया' (Mechanical reaction) होती है। परन्तु अब मनोवैज्ञानिक यह कहने लगे हैं कि प्राणी की 'सहज-प्रवृत्ति' निष्प्रयोजन नहीं होती, उसका लक्ष्य, ध्येय होता है, और उस लक्ष्य का उसे ज्ञान अवश्य होता है। भूख लगने पर दाना मुँह में डालना क्या सिद्ध करता है? यही कि मुँह में भोजन डालने से क्षुधा की तृप्ति होगी। बच्चा पैदा होने से पहले ही चिड़िया घोंसला क्यों बनाती है? इसीलिए कि जब बच्चे पैदा हो जायेंगे, तब बनाना कठिन होगा। विचार की यह लम्बी-चौड़ी प्रक्रिया उसके मन में नहीं उठती, परन्तु उसकी इस 'सहज-प्रवृत्ति' में 'प्रयोजन'--'लक्ष्य'--'उद्देश्य'--'ध्येय' (Purpose) अवश्य रहता है, यह प्रवृत्ति 'यान्त्रिक' (Mechanical) ही नहीं कही जा सकती।

(२) प्रयोजन की सफलता का आभास--प्रयोजन की सफलता-असफलता का भेद भी प्राणी कर सकता है। पर्यावरण के अनुसार अपने व्यवहार को थोड़ा-सा बदल भी लेता है। चिड़िया घोंसला बनाने का स्थान चुनते हुए यह देख लेती है कि स्थान सुरक्षित है, या नहीं, वर्षा की छींटें तो वहाँ नहीं पहुँचेंगी। किसी स्थान पर घोंसला बनाते हुए अगर बार-बार कोई उसे गिराता जाय, तो चिड़िया वह स्थान बदल देती है, वह समझ जाती है कि यह स्थान ठीक नहीं है।

(३) एक जाति में एक-सा होना--सहज-प्रवृत्तियाँ एक ही जाति के प्राणियों में एक-ही-सी होती हैं। ऐसा नहीं होता कि कुछ चिड़ियों में जमीन को कुरेदने की सहज-क्रिया हो, कुछ में न हो, कुछ मनुष्यों में काम की वासना हो, कुछ में न हो। इनके वेग में भेद हो सकता है, किसी में एक प्रवृत्ति ज्यादा है, दूसरे में कम, परन्तु इनकी विद्यमानता उस-उस नस्ल के सब प्राणियों में एक-ही-सी पायी जाती है।

(४) कुशलता--सहज-प्रवृत्ति में कुशलता पायी जाती है। चिड़िया का बच्चा पंख आते ही उड़ने लगता है, पशु पानी में पड़ते ही तैरने लगता है।

(५) परिवर्त्तन की सम्भावना--सहज-प्रवृत्ति के द्वारा उत्पन्न हुए व्यवहार को बदला जा सकता है, परन्तु कठिनता से। पशु जन्म से ही अपने व्यवहार में कुशल होता है, वह शिक्षा क्या सीखेगा, क्योंकि शिक्षा का अभिप्राय भी प्राणी को सिखा कर कुशल बनाना ही तो होता है। परन्तु नहीं, पशु एक व्यवहार में कुशल होता है, सब व्यवहारों में तो कुशल नहीं होता। जो व्यवहार उसके लिए सहज नहीं है, उसे सीखने के लिए उसे कठिनता अवश्य होती है, परन्तु वह सीख भी जाता है। कुत्ते को लोग बहुत-कुछ सिखा देते हैं। जैसे एक नये व्यवहार को वह सीख सकता है, वैसे अपने सहज-व्यवहार को वह बदल भी सकता है। कुत्ते के लिए भोजन देखते ही लपक पड़ना सहज-व्यवहार है, परन्तु उसे शिष्टता से भोजन की रक्षा करना, और जब तक मालिक अपने हाथ से कुछ न दे, तब तक चुप बैठे रहना भी सिखाया जा सकता है। शिक्षा में इस बात का बड़ा महत्त्व है। प्राणी का जितना व्यवहार है, वह 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) का परिणाम है, परन्तु

उसमें परिवर्त्तन किया जा सकता है। 'सहज-प्रवृत्ति' में परिवर्त्तन की इस सम्भावना के कारण ही तो मनुष्य का व्यवहार दिनोंदिन बदलता है।

(६) जन्मजात होना––सहज-प्रवृत्तियाँ जन्म से ही आती हैं, इन्हें सीखा नहीं जाता। इनका प्राणी को पहला कोई अनुभव नहीं होता।

'सहज-प्रवृत्ति' तथा 'सहज-क्रिया' में भेद

(१) सहज-क्रिया भौतिक तथा सहज-प्रवृत्ति मानसिक है––कई लोग 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) तथा 'सहज-क्रिया' (Reflex action) में भेद नहीं करते। उनका कहना है कि 'सहज-क्रिया' (Reflex action) ही 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) है, 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) की अलग सत्ता नहीं है। परन्तु नहीं, इन दोनों में भेद है। इनका भेद समझने के लिए यह समझना जरूरी है कि क्रिया तीन प्रकार की हो सकती है––'यान्त्रिक-क्रिया' (Mechanical action), 'सहज-क्रिया' (Reflex action) तथा 'सहज-प्रवृत्ति की क्रिया' (Instinctive action)। 'यान्त्रिक-क्रिया' में यन्त्र का अपना कोई 'प्रयोजन' नहीं होता, यन्त्र के मालिक का 'प्रयोजन' होता है; भीतर का नहीं, बाहर का 'प्रयोजन' होता है। 'सहज-क्रिया' तथा 'सहज-प्रवृत्ति की क्रिया' में किसी दूसरे का नहीं, प्राणी का अपना 'प्रयोजन' होता है, बाहर का नहीं, भीतर का 'प्रयोजन' होता है। परन्तु 'सहज-क्रिया' (Reflex action) तथा 'सहज-प्रवृत्ति की क्रिया' (Instinctive action) में क्या भेद है? हृदय की गति, श्वास का चलना, आँतों का अपने-आप भोजन पचाना, आँख का झपकना, गुदगुदाने से स्वयं सिमिट जाना, काँटा चुभने पर पाँव खींच लेना––ये सब 'सहज-क्रियाएँ' (Reflex actions) हैं, इनका लक्ष्य प्राणी की रक्षा करना है। भूख लगने पर खाना, इच्छा पूर्ण न होने पर क्रोध भड़क उठना, अपने बच्चे को देख कर प्रेम प्रकट होना, असहाय-दीन को देख कर दया का भाव उमड़ पड़ना––ये सब 'सहज-प्रवृत्ति की क्रियाएँ' (Instinctive actions) हैं, इनका लक्ष्य भी प्राणी की रक्षा करना है। जहाँ तक इन दोनों का लक्ष्य प्राणी की रक्षा करना है, वहाँ तक दोनों 'जीवन-रक्षा-सम्बन्धी' (Biological) क्रियाएँ हैं, परन्तु इस बात में दोनों की समानता होते हुए भी दोनों में भेद है। हृदय की गति, श्वास का चलना, आँख का झपकना, काँटा चुभने पर पाँव खींच लेना––इन-सब को मानसिक-प्रक्रिया नहीं कहा जा सकता; प्रेम, क्रोध, भूख, प्यास आदि के व्यवहार को मानसिक कहा जा सकता है। इसलिए, 'सहज-क्रिया' (Reflex action) 'जीवन-रक्षा-सम्बन्धी' (Biological) व्यवहार तो है, 'मानसिक' (Psychical) नहीं है; 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) 'जीवन-रक्षा-सम्बन्धी' (Biological) व्यवहार तथा 'मानसिक-व्यवहार' (Psychical) दोनों है।

(२) सहज-क्रिया निकटवर्त्ती तथा सहज-प्रवृत्ति दूरवर्त्ती प्रयोजन को देखती है––'सहज-क्रिया' (Reflex action) में 'निकटवर्त्ती-प्रयोजन' (Im-

mediate purpose) होता है। काँटा लगा, और हाथ काँटे की तरफ़ तत्काल गया । 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) में 'निकटवर्ती' के अतिरिक्त 'दूरवर्ती-प्रयोजन' (Remote purpose) भी हो सकता है। बया घोंसला बना रहा है। उसका प्रयोजन अण्डे देने पर उन्हें घोंसले में सुरक्षित रखना है। अभी अंडे हुए भी नहीं, और घोंसला बन रहा है, यह 'निकटवर्त्ती' या 'तत्काल'-प्रयोजन नहीं, 'दूरवर्त्ती-'प्रयोजन है। दूसरे शब्दों में, 'सहज-क्रिया' (Reflex action) की अपेक्षा 'सहज़-प्रवृत्ति' (Instinct) में 'प्रयोजन' की मात्रा अधिक दिखाई देती है।

(३) 'सहज-क्रिया' में एक हिस्सा तथा 'सहज-प्रवृत्ति में सारा शरीर काम करता है––'सहज-क्रिया' (Reflex action) में शरीर का एक हिस्सा काम कर रहा होता है, 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) में सारा शरीर किसी प्रयोजन को पूरा कर रहा होता है। काँटा लगा, हमने पाँव हटा लिया। इस प्रक्रिया में कई बातें शामिल नहीं हैं। घोंसला बनाने में पक्षी बार-बार उचित सामग्री ढूँढने के लिए जाता है, उसे ढूँढता है, जोड़ता है। इस दृष्टि से 'सहज-क्रिया' (Reflex action) साधारण है, सरल है; 'सहज-प्रवृत्ति' असाधारण है, विषम है।

'सहज-प्रवृत्ति' तथा 'बुद्धि' में भेद

'सहज-प्रवृत्तियाँ' (Instincts) जन्म से पूर्ण मौजूद होती हैं, 'बुद्धि' (Intelligence) जन्म से पूर्ण मौजूद नहीं होती । 'सहज-प्रवृत्ति' को प्राणी अनुभव से नहीं सीखता, 'बुद्धि' को अनुभव से सीखता है। 'बुद्धि' में मनुष्य को अपने लक्ष्य का पूरा-पूरा ज्ञान होता है, 'सहज-प्रवृत्ति' में ऐसा नहीं होता। 'सहज-प्रवृत्ति' को आधार बनाकर 'बुद्धि' विकसित होती है, और ज्यों-ज्यों 'बुद्धि' विकसित होती जाती है, त्यों-त्यों प्राणी 'सहज-प्रवृत्ति' के अनुसार चलने की अपेक्षा 'बुद्धि' के अनुसार चलना शुरू कर देता है। 'बुद्धि' के अनुसार प्राणी आगे की बात सोच सकता है, 'सहज-प्रवृत्ति' के अनुसार आगे की बात नहीं सोच सकता। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि 'सहज-प्रवृत्ति' में बुद्धि का कोई अंश नहीं। हम पहले देख आये हैं कि 'सहज-प्रवृत्ति' की उत्पत्ति अनुकूल अनुभवों को चुनने और प्रतिकूल अनुभवों को छोड़ देने से होती है। जब कोई नस्ल बन रही थी, विकास के मार्ग में आगे-आगे बढ़ रही थी, तब इसकी कुछ जीवन-रक्षा के अनुकूल प्रतिक्रियाएँ थीं, कुछ प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ थीं। इन अनुकूल प्रतिक्रियाओं को प्राणी ने संभाल लिया। इन्हें वंश-परम्परा द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे देना शुरू किया। इन्हीं का नाम 'सहज-प्रवृत्ति' (Instincts) हुआ। अनुकूल को ले लेना, प्रतिकूल को छोड़ देना, यह सब 'बुद्धि' के बिना कैसे हो सकता है? हाँ, यद्यपि जहाँ 'सहज-प्रवृत्ति' है, वहाँ कुछ-कुछ 'बुद्धि' भी मौजूद है, तो भी इन दोनों में जैसा हमने ऊपर कहा, भेद है।

'सहज-प्रवृत्ति' तथा 'उद्वेग' का सम्बन्ध

'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) एक 'मानसिक-प्रक्रिया' है। प्रत्येक 'मानसिक-प्रक्रिया' के तीन पहलू होते हैं—'ज्ञान' (Knowing), 'इच्छा' (Feeling) तथा 'कृति' (Willing)। यह तो हमने अभी देखा कि 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) में 'ज्ञान' (Intelligence) भी रहता है, परन्तु इसका विशुद्ध रूप 'ज्ञान' के साथ 'इच्छा' भी है। 'इच्छा' (Feeling) का ही दूसरा रूप 'उद्वेग' (Emotion) है। 'उद्वेग' भी कैसा ? प्रत्येक 'उद्वेग' में अपने को 'कृति' रूप में लाने की भावना निहित रहती है। अगर यह कहा जाय कि 'उद्वेग' ही 'इच्छा' को 'कृति', अर्थात् क्रिया में ले आता है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। 'उद्वेग' न हो, तो 'इच्छा' 'इच्छा' ही बनी रहे, 'इच्छा' के बाद 'क्रिया' न हो। इसीलिए 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) के साथ 'उद्वेग' (Emotion) सदा जुड़ा रहता है, यह 'उद्वेग' ही 'इच्छा' में वेग उत्पन्न करता है। मैक्डूगल ने 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) को निम्न भागों में बाँटा है, और प्रत्येक 'सहज-प्रवृत्ति' के साथ उसके सहचारी 'उद्वेग' का भी निर्धारण किया है :—

मैक्डूगल का सहज-प्रवृत्तियों का वर्गीकरण

'सहज-प्रवृत्ति' (INSTINCT)	सहज प्रवृत्ति का सहचारी 'उद्वेग' (EMOTION WITH INSTINCT)
पलायन–Escape	भय–Fear
युयुत्सा–Combat, Pugnacity	क्रोध–Anger
निवृत्ति–Repulsion	घृणा–Disgust
पुत्र-कामना–Parental	दया–Tender emotion
संवेदना–Appeal	दुःख–Distress
भोग–Mating, Sex	काम–Lust
जिज्ञासा–Curiosity	आश्चर्य–Wonder
दैन्य–Submission	आत्म-हीनता–Negative self-feeling
आत्म-प्रदर्शन–Self-assertion	आत्माभिमान–Positive self-feeling
सामूहिक-जीवन–Gregariousness	एकाकी-भाव–Loneliness
भोजनान्वेषण–Food-seeking	तृप्ति–Gusto
संचय–Acquisition	स्वत्व–Ownership
विधायकता–Constructiveness	कृति-भाव–Creativeness
हास–Laughter	आमोद–Amusement

मैक्डूगल के मत की आलोचना

मैक्डूगल का कथन है कि प्रत्येक 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) के साथ उसका सहचारी 'उद्वेग' (Emotion) जुड़ा रहता है। ड्रेवर तथा रिवर्स का कथन है कि 'सहज-प्रवृत्ति' के साथ 'उद्वेग' नहीं रहता, परन्तु जब 'सहज-प्रवृत्ति

के पूरा होने में देर होती है, या उसके पूरा होने में कोई रुकावट आ जाती है, तब 'उद्वेग' प्रकट होता है; अगर 'सहज-प्रवृत्ति' के क्रिया-रूप में परिणत होने में न देर हो, न बाधा हो, तो 'उद्वेग' प्रकट नहीं होता। शत्रु को सामने देख कर मनुष्य भागा जा रहा है, आगे दीवार आ गई, इस रुकावट के कारण 'भय' का 'उद्वेग' पैदा होता है, इससे पहले नहीं। कई 'सहज-प्रवृत्तियों' का सहचारी 'उद्वेग' ठीक तौर से बताया भी नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, 'संचय' तथा 'विधायकता' के साथ जो 'उद्वेग' कहे जाते हैं, वे शुद्ध अर्थों में 'उद्वेग' नहीं हैं। इस आलोचना के विषय में अगले अध्याय में हम कुछ विशेष चर्चा करेंगे।

'सहज-प्रवृत्तियों' से व्यवहार बनता है

'सहज-प्रवृत्तियाँ' (Instincts) वंश-परम्परा से अनुसंक्रान्त होती हैं। पशु में वे शुद्ध 'सहज-प्रवृत्तियों' के रूप में दिखाई देती हैं, परन्तु मनुष्य में वे उसी रूप में नहीं रहतीं जिसमें वे प्रकृति में पायी जाती हैं, उनका रूप बदलता रहता है, फिर भी मनुष्य के व्यवहार का कारण 'सहज-प्रवृत्तियाँ' ही हैं। एडम-स्मिथ तथा कार्ल-मार्क्स अर्थोपार्जन की सहज-प्रवृत्ति को मनुष्य के व्यवहार का आधार मानते हैं; फ्रॉयड यौन-प्रवृत्ति को व्यवहार का आधार मानता है, परन्तु 'सहज-प्रवृत्तियाँ' (Instincts) तो अनेक हैं। 'पर्यावरण' (Environment) के अनुसार 'वंश-परम्परा' (Heredity) से आने वाली 'सहज-प्रवृत्तियों' में परिवर्त्तन हुआ करता है, और उसी से मनुष्य का व्यवहार बनता है। हर-एक मानवीय-व्यवहार के आधार में कोई-न-कोई 'सहज-प्रवृत्ति' है, चाहे 'संचय' की आर्थिक-प्रवृत्ति हो, चाहे 'भोग' की यौन-प्रवृत्ति हो, चाहे ऊपर गिनाई हुई अन्य 'सहज-प्रवृत्तियों' में से अन्य कोई 'सहज-प्रवृत्ति' हो।

प्रश्न

१. एडम-स्मिथ, कार्ल-मार्क्स, फ्रॉयड तथा मैक्डूगल के कथनानुसार मानवीय-व्यवहार के क्या-क्या कारण हैं ?
२. 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) की उत्पत्ति कैसे हुई ?
३. 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) की क्या-क्या विशेषताएँ हैं ?
४. 'सहज-प्रवृत्ति' तथा 'सहज-क्रिया' में क्या भेद है ?
५. 'सहज-प्रवृत्ति' तथा 'बुद्धि' में क्या भेद है ?
६. 'सहज-प्रवृत्ति' तथा 'उद्वेग' का क्या सम्बन्ध है ?
७. 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) व्यवहार को कैसे प्रभावित करती है ?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. चार 'सहज-प्रवृत्तियों' के नाम लिखकर उनके सहचारी 'उद्वेगों' के भी नाम लिखिये। यह भी लिखिये कि आप उनमें से किस 'सहज-प्रवृत्ति' को सबसे अधिक शक्तिशाली समझते हैं, और क्यों ? (आगरा, १९५२)
२. क्या मैक्डूगल का 'सहज-प्रवृत्ति' का सिद्धान्त मानने योग्य है ? इसका 'उद्वेग' तथा 'बुद्धि' से क्या सम्बन्ध कहा जाता है ? (आगरा, १९५६)

३६

समाज में 'सहज-प्रवृत्ति'

(INSTINCT IN SOCIETY)

हमने पिछले अध्याय में देखा कि मनुष्य के व्यवहार का आधार 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) है। हमने दस-बारह 'सहज-प्रवृत्तियों' की गणना भी की। ये 'सहज-प्रवृत्तियाँ' प्रत्येक प्राणी में पायी जाती हैं। इनमें से कुछ 'सहज-प्रवृत्तियाँ' प्राणी को आत्म-रक्षा में सहायक सिद्ध होती हैं। उदाहरणार्थ, पलायन की 'सहज-प्रवृत्ति' से प्राणी भाग कर अपने को शत्रु से बचा सकता है। पुत्र-कामना की 'सहज-प्रवृत्ति' से वह विवाह करता है, जिज्ञासा की 'सहज-प्रवृत्ति' से वह बहुत-कुछ सीख जाता है। परन्तु समाज-शास्त्र में हमारे सामने प्राणी की आत्म-रक्षा का, उसके सन्तान उत्पन्न करने या सीखने का प्रश्न नहीं है, हमारे सामने प्रश्न यह है कि व्यक्ति के नहीं, परन्तु समाज के व्यवहार को उत्पन्न करने वाली कौन-सी 'सहज-प्रवृत्तियाँ' हैं ?

इस सम्बन्ध में मुख्य तौर पर चार विचार हैं। पहला विचार मैक्डूगल का है। उसका कथन है कि कुछ आधारभूत 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्तियों की अन्तःप्रक्रिया' (Inter-play of some Primary Instincts) से ही व्यक्ति का तथा समाज का व्यवहार चलता है। उदाहरणार्थ, 'पुत्र-कामना' (Parental Instinct) तथा उसके साथ जुड़ा हुआ, 'दया का उद्वेग' (Tender emotion) कई प्रकार के व्यक्ति के तथा समाज के व्यवहार को जन्म देता है। पुत्र-कामना की ही अन्तःप्रक्रिया, अन्तःविकास अनेक परोपकारों का रूप धारण कर लेता है। इसी तरह 'दैन्य' (Submission) से, इसी तरह 'आत्म-प्रदर्शन' (Self-assertion) से अनेक प्रकार के वैयक्तिक तथा सामाजिक व्यवहार उत्पन्न होते हैं। दूसरा तथा तीसरा विचार कुछ 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्तियों' को नहीं, अपितु किसी एक विशेष 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) को चुन लेता है, और कहता है कि इस ख़ास 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) से सामाजिक-व्यवहार उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, ट्रौटर का कथन है कि 'सामूहिक-जीवन' (Gregariousness) की 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) से सामाजिक-व्यवहार बनता है, फ्रॉयड का कहना है कि 'काम-भावना' (Libido) तथा 'आक्रमण' (Aggression) की 'सहज-प्रवृत्तियाँ' (Instincts) सामाजिक व्यवहार का आधार हैं। चौथा विचार

'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्तियों' को नहीं, किसी एक 'सहज-प्रवृत्ति' को भी नहीं, परन्तु तीन 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (General tendencies) को सामाजिक व्यवहार का आधार मानता है। ये 'सामान्य-प्रवृत्तियाँ' हैं—'संकेत' (Suggestion), 'अनुकरण' (Imitation) तथा 'सहानुभूति' (Sympathy)। 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) तथा 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (General tendencies) में भेद यह है कि 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) के साथ कोई-न-कोई 'उद्वेग' (Emotion) जुड़ा रहता है, 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) के साथ 'उद्वेग' (Emotion) नहीं जुड़ा रहता; 'सहज-प्रवृत्तियाँ' (Instincts) चौदह हैं, कम व्यापक हैं; 'सामान्य-प्रवृत्तियाँ' (General tendencies) तीन-चार हैं, अधिक व्यापक हैं। हम इस अध्याय में मैक्डूगल, ट्रौटर तथा फ्रॉयड के इन तीनों विचारों पर क्रमशः थोड़ा-थोड़ा विचार करेंगे और अगले अध्याय में चौथे विचार पर प्रकाश डालेंगे।

१. मैक्डूगल का विचार

(क) दया से उत्पन्न होने वाले सामाजिक-व्यवहार—मैक्डूगल का कथन है कि हमारे अनेक प्रकार के सामाजिक-व्यवहारों का आधार 'दया-भाव' (Tender feeling) है। शुरू-शुरू में माता में पुत्र के लिए दया-भाव था, माता से पिता में गया, बढ़ते-बढ़ते वह दीनों तथा असहायों की रक्षा का रूप धारण कर गया। 'दया-भाव' की ही अन्तःप्रक्रिया से, उसी के विकास से परोपकार आदि व्यवहारों का जन्म हुआ। मैक्डूगल का कथन है कि जितने 'परोपकार' (Altruism) के सामाजिक-व्यवहार हैं, उनका आधार पितृ-स्नेह की प्राथमिक 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) है जिसके साथ 'दया' की 'भावना' (Emotion) जुड़ी रहती है। यह भावना पहले छोटे क्षेत्र में सीमित होती है, फिर इसी का विस्तार विश्व के विशाल क्षेत्र में हो जाता है। हम पिछले अध्याय में लिख आये हैं कि 'सहज-प्रवृत्ति' का यह नियम है कि जब उसके पूर्ण होन में कोई रुकावट पैदा होती है, तो 'उद्वेग' (Emotion) पैदा हो जाता है। शत्रु को देख कर उससे बचने के लिए दौड़ते-दौड़ते अगर सामने कोई रुकावट आ जाय, तो 'भय का उद्वेग' पैदा हो जाता है। इसी प्रकार 'दया' की भावना के पूर्ण होने में जब रुकावट आ पड़ती है, तब 'मन्यु' उत्पन्न हो जाता है। गुस्से को 'क्रोध' (Anger) तथा अच्छे काम में रुकावट पड़ने पर होने वाले क्रोध को 'मन्यु' (Indignation) कहते हैं। हमारा बहुत-सा सामाजिक-व्यवहार 'दया'-'क्रोध'-'मन्यु' की ही कहानी है।

मैक्डूगल के इस विचार पर कइयों ने आलोचना की है। उनका पहला कहना तो यह है कि पितृ-स्नेह की सहज-प्रवृत्ति से परोपकार का सामाजिक-व्यवहार पैदा नहीं हो सकता। पितृ-स्नेह की दया वहीं उत्पन्न होती है, जहाँ ख़ून का रिश्ता हो। प्रश्न यह है कि जिन लोगों के साथ हमारा रुधिर का रिश्ता नहीं, जो हमारे सगे-सम्बन्धी नहीं, उनके प्रति दया, उनके प्रति उपकार का सामाजिक-व्यवहार

हम क्यों करते हैं? इन लोगों का दूसरा कहना यह है कि जैसे माता-पिता के हृदय में पुत्र तथा सगे-सम्बन्धियों के लिए स्नेह, दया, प्रेम की भावना है, वैसे जो लोग हमारे सगे-सम्बन्धी नहीं, उनके प्रति भी मनुष्य प्रेम का सामाजिक-व्यवहार करता है। यह व्यवहार पितृ-स्नेह की भावना का ही विकास नहीं, एक स्वतन्त्र व्यवहार होता है। जैसे हमने पितृ-स्नेह को एक स्वतंत्र-'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) माना, वैसे दूसरों के साथ सहानुभूति, मदद, प्रेम की भावना आदि को एक स्वतन्त्र-'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct or impulse) मानने में क्या आपत्ति है? क्यों न हम मानें कि इन 'स्वतंत्र-सहज-प्रवृत्तियों' से हमारे अलग-अलग स्वतंत्र सामाजिक-व्यवहार बनते हैं? क्यों इन्हें सिर्फ़ मातृ-प्रेम या पितृ-प्रेम की 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्ति' का ही विस्तार, उसी का विकास, उसी की अन्तःक्रिया माना जाय? क्यों न 'पितृ-स्नेह' (Parental instinct) तथा 'परोपकार' (Altruism) आदि सब को भिन्न-भिन्न, स्वतंत्र-'सहज-प्रवृत्ति' (Instincts) माना जाय? क्यों न ऐसा माना जाय कि हर-एक सामाजिक-व्यवहार अपनी स्वतंत्र सहज-प्रवृत्ति का परिणाम है? जो प्राणी सन्तान उत्पन्न होने से पहले मर जाता है, उसे सन्तान के प्रति दया का तो अवसर ही नहीं मिला होता, उसमें दूसरों के प्रति दया का सामाजिक-व्यवहार क्यों होता है? बाल-संन्यासी, जिसके कभी सन्तान नहीं हुई, वह क्यों दया का सामाजिक-व्यवहार करता है? इसलिए शैंड (Shand) आदि मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि मैक्डूगल का यह कथन कि माता-पिता का स्नेह ही विकसित होकर, अन्तःक्रिया द्वारा प्राणि-मात्र के स्नेह का रूप धारण कर लेता है, ठीक नहीं जँचता, प्राणि-मात्र के स्नेह की तथा मनुष्य के हर सामाजिक-व्यवहार की मनुष्य में एक अलग ही स्वतंत्र 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) है। इसके अतिरिक्त 'ज्ञान-प्रेम', 'सौन्दर्य-प्रेम' तथा इसी तरह के अन्य प्रेमों को माता-पिता के स्नेह का ही विकास कैसे माना जा सकता है? इन भावनाओं की तो स्वतंत्र सत्ता माननी पड़ेगी, मैक्डूगल के 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्तियों की अन्तःप्रक्रिया' (Inter-play of Primary Instincts) से काम नहीं चलेगा। मैक्डूगल का 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्तियों की अन्तःप्रक्रिया' का सिद्धान्त यह है कि मनुष्य में अनेक 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्तियाँ' हैं, वे एक-दूसरे के साथ मिलकर नहीं परन्तु अलग-अलग विकसित होती हुई, अपनी अन्तःक्रियाओं द्वारा भिन्न-भिन्न सामाजिक-व्यवहारों को जन्म देती हैं। शैंड का कहना यह है कि सामाजिक-व्यवहार अनेक हैं, वे एक ही सहज-प्रवृत्ति से विकसित नहीं होते, हर सामाजिक-व्यवहार की अलग-अलग सहज-प्रवृत्ति है।

(ख) दैन्य से उत्पन्न होने वाले सामाजिक-व्यवहार—'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्ति' से मनुष्य-समाज के व्यवहार उत्पन्न होते हैं, इस विषय में मैक्डूगल के 'पितृ-प्रेम' तथा 'दया'-सम्बन्धी विचार का हमने अध्ययन किया। हमने देखा कि 'पितृ-प्रेम' तथा 'दया' की 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्तियों' से ही परोपकार, मदद, दूसरे को सहारा आदि सामाजिक-व्यवहार उत्पन्न होते हैं—मैक्डूगल की यह बात

ठीक नहीं जँचती। 'दया' की तरह 'दैन्य' (Submission) तथा 'आत्म-प्रदर्शन' (Self-assertion) की भी 'सहज-प्रवृत्तियाँ' हैं। मैक्डूगल का कथन है कि मनुष्य में 'सदाचार' का सामाजिक-व्यवहार (Moral conduct) 'दैन्य' की 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्ति' के विकास से पैदा होता है। मनुष्य अपने समाज की रूढ़ियों, प्रथाओं तथा रीति-रिवाजों के सामने झुकता है। यह झुकना 'दैन्य' (Submission) की 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्ति' है, इससे जिसके सामने वह झुकता है, उसका रौब बढ़ता है, वह धीरे-धीरे 'शासक' (Authority) का रूप धारण कर लेता है। शासक के हाथ में जब दंड तथा पुरस्कार आ जाता है, तब दंड के भय से व्यक्ति निषिद्ध काम को करने से रुक जाता, और पुरस्कार के लोभ से निर्दिष्ट काम को करने के लिए उत्सुक हो जाता है। इसी को 'सदाचार का सामाजिक-व्यवहार' (Moral conduct) कहते हैं। 'दैन्य' की तरह 'आत्म-प्रदर्शन' (Self-assertion) की भी 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्ति' है, इससे, व्यक्ति अपने बड़ों की बातों को एक कान से सुनता और दूसरे कान से निकाल देता है, अपनी बात को दूसरों की बात से मुख्यता देने लगता है, बात-बात पर कहता है––'मैं आपसे सहमत नहीं'। इस प्रकार समाज की हाँ-में-हाँ मिलाना, समाज की हर बात को मानना, 'दैन्य' (Submission) की, तथा समाज की हर बात में अपनी स्वतंत्र सम्मति प्रकट करना, 'आत्म-प्रदर्शन' (Self-assertion) की 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्ति' से उत्पन्न होने वाला सामाजिक-व्यवहार है।

मैक्डूगल के इस कथन की भी आलोचना की जाती है। समालोचकों का कहना है कि मानव-समाज में दो तरह के व्यवहार पाये जाते हैं––समाज के 'अनुकूल' चलना, और 'प्रतिकूल' चलना। यह ठीक है कि अनुकूल चलने की प्रवृत्ति का स्रोत 'दैन्य' (Submission), तथा प्रतिकूल चलने की प्रवृत्ति का स्रोत 'आत्म-प्रदर्शन' (Self-assertion) है। परन्तु यह भी तो होता है कि एक व्यक्ति में ही किसी विषय के अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों प्रकार की प्रवृत्ति एक-साथ पायी जाती है। कोई नई चीज हो, तो जिज्ञासा-वश उसकी तरफ़, और डर से, उससे दूर जाने को मन करता है। अनेक अवसर ऐसे आते हैं, जिनमें प्रवृत्ति ही नहीं, निवृत्ति ही नहीं, प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों एक-साथ होती हैं। पाप के प्रति किसी-किसी में प्रवृत्ति होती है, किसी-किसी में और ज्यादातर लोगों में प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों एक-साथ होती हैं। पाप खींचता है, इसलिए उसकी तरफ़ मनुष्य जाता है, परन्तु यह बुरा है, इसलिए उससे हटता है। इस प्रकार का आचार, इस प्रकार का व्यवहार मनुष्य क्यों करता है? 'दैन्य' (Submission) की 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्ति' को 'सदाचार' का आधार मानने से व्यक्ति में एक ही प्रकार का, निश्चित व्यवहार होना चाहिए, यह अनिश्चित-सा, डाँवा-डोलपने का व्यवहार नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार 'आत्म-प्रदर्शन' (Self-assertion) की 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्ति' को अपने बड़प्पन का आधार मानने से

भी व्यक्ति में एक ही प्रकार का, निश्चित व्यवहार होना चाहिए, अनिश्चित-सा व्यवहार नहीं होना चाहिए। अनिश्चित व्यवहार तो तब होगा जब व्यवहार किसी एक प्रवृत्ति का परिणाम नहीं होगा। इन सब बातों से कुछ समालोचकों का कहना है कि सामाजिक-व्यवहार का आधार 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्तियों' का ही विकास नहीं है।

२. ट्रौटर का विचार

मैक्डूगल तो कई 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्तियों' के विकास को सामाजिक-व्यवहार का कारण मानता है, ट्रौटर सिर्फ़ एक 'सहज-प्रवृत्ति' को सामाजिक-व्यवहार का कारण मानता है। उसका कथन है कि 'सामूहिक-भावना' (Gregarious instinct) ही सामाजिक-व्यवहार का, सामूहिक-जीवन का आधार है। प्राणी, समूह में रहे बग़ैर रह नहीं सकता, समूह में रहना उसकी मूल-प्रवृत्ति है। तभी सब से कड़ी सज़ा देनी हो, तो व्यक्ति को समूह से जुदा कर दिया जाता है। जब वह समूह में रहता है तब जो-कुछ समूह चाहता है, वही वह करने लगता है, समूह की इच्छा, समूह के विचार, समूह के रीति-रिवाज, चलन, कायदे-कानून उसकी अपनी इच्छा, विचार, रीति-रिवाज, चलन और कायदे-कानून बन जाते हैं। तभी तो मनुष्य प्रायः ग़लत विचारों और धारणाओं को बिना ननु-नच के मानता है, उन्हें ठीक समझ कर ही चलता है, उसके विषय में सही-ग़लत का विचार ही नहीं करता, और अगर विचार करता भी है, तो युक्ति द्वारा उन्हें ठीक सिद्ध करने का ही प्रयत्न करता है। एक हिन्दू जिस समाज में पैदा हुआ है, उसमें विधवा शादी नहीं कर सकती, तलाक नहीं हो सकता। ये विचार प्रत्येक हिन्दू के हिन्दू-समाज में पैदा होने के कारण, इस कारण कि जिस समूह में वह रहता है उस समूह के यही विचार हैं, बने होते हैं, परन्तु तरह-तरह की ग़लत-सही युक्तियों से हिन्दू इन्हें ठीक सिद्ध करने का प्रयत्न करता है क्योंकि कोई अपने को युक्तिहीन कहलाना नहीं चाहता। वास्तव में वह इन विचारों को समूह के विचार होने के कारण मान रहा होता है। ट्रौटर कहता है—'आत्मा की आवाज़' (Voice of Conscience) क्या है? सारे-के-सारे समूह की जो एक आवाज़ होती है, वही 'आत्मा की आवाज़' कहलाती है। 'धर्म' क्या है? मनुष्य समूह पर आश्रित है, परन्तु समूह भी किसी पर आश्रित होना चाहिए। मनुष्य इस बात को अनुभव करता है कि वह स्वतंत्र नहीं रह सकता, इस बात को अनुभव करना ही उसे समूह पर आश्रित बना देता है; इसी प्रकार समूह का अनुभव करना कि वह भी दूसरे पर आश्रित है, इकला नहीं रह सकता, धर्म की भावना को उत्पन्न करता है। आख़िर, धर्म वही आश्रय है जो सब का आधार है। आधारों के आधार, परमात्मा की खोज इस बात की साक्षी है कि मनुष्य सामूहिक-भावना (Gregarious instinct) के बिना नहीं रह सकता क्योंकि समूह की भावना का भी आधार यही है कि मनुष्य बिना आधार, बिना सहारे के नहीं रह सकता।

ट्रौटर के इस विचार के आलोचकों का कहना है कि केवल एक 'सहज-प्रवृत्ति' को सम्पूर्ण सामाजिक-व्यवहार का आधार बताना ठीक नहीं प्रतीत होता। 'सामूहिक-प्रवृत्ति' (Gregarious instinct) का तो सिर्फ़ इतना अर्थ निकलता है कि प्राणी एक-साथ रहें, समूह में रहें, परन्तु समूह में रहकर वे एक-दूसरे का अनुकरण भी करें, एक-दूसरे के निर्देश से भी चलें, एक-दूसरे के साथ समवेदना भी प्रकट करें—यह सब 'सामूहिक-प्रवृत्ति' में कहाँ आ जाता है? 'सामूहिक-प्रवृत्ति' के कारण सामाजिक-व्यवहार नहीं उत्पन्न होता, 'सामूहिक-प्रवृत्ति' से तो प्राणी इकट्ठे होते हैं, उसके बाद अनुकरण (Imitation), निर्देश (Suggestion) तथा समवेदन (Sympathy) आदि अन्य प्रवृत्तियों के कारण सामाजिक-व्यवहार उत्पन्न होता है। इनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

३. फ्रॉयड का विचार

जैसे ट्रौटर ने 'सामूहिक-प्रवृत्ति' (Gregarious instinct) पर जोर दिया है, वैसे फ्रॉयड न 'काम-भावना' (Libido) तथा 'आक्रमण' (Aggression) पर जोर दिया है। फ्रॉयड का कहना है कि सामाजिक-व्यवहार का आधार दो तत्त्व हैं—'प्रेम' (Love) तथा 'घृणा' (Hate)। 'प्रेम' को 'काम-वासना' (Libido) तथा 'घृणा' को 'आक्रमण' (Aggression) कहा जा सकता है। उसका कथन है कि 'घृणा' तथा 'प्रेम' के सन्तुलन से सामाजिक-व्यवहार उत्पन्न होता है। एक जन्तु होता है जिसके शरीर पर बड़े-बड़े दस-दस इंच के काँटे होते हैं। इसे सेह कहते हैं। सर्दी से बचने के लिए सेह एक-दूसरे के साथ सिकुड़ने लगते हैं, परन्तु जितना नज़दीक सिकुड़ते हैं, उतने ही उन के काँटे एक दूसरे को चुभने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि वे एक-दूसरे के इतने ही निकट आते हैं जितने से उनके काँटे एक-दूसरे को न चुभें। यही अवस्था मनुष्य-समाज की है। हम एक-दूसरे से घृणा करते हैं, हर-एक अपना स्वार्थ पूरा करना चाहता है, परन्तु निरे स्वार्थ के रास्ते पर चलने से स्वार्थ भी सिद्ध नहीं होता। अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए दूसरे के स्वार्थ को सिद्ध करना ज़रूरी है, हर-एक कहता है मुझे जितना दोगे उतना ही मुझ से ले सकोगे। 'घृणा' तथा 'प्रेम' के इस संघर्ष में हमें पता चल जाता है कि एक-दूसरे से कितनी दूरी पर रहने पर हमें एक-दूसरे के काँटे भी न्हीं चुभेंगे, और हम सर्दी से भी बच जायेंगे। 'प्रेम' तो हम उस मनोभावना को कहते हैं जो समाज में दीख पड़ता है, असल में, प्रारम्भिक-अवस्था में, इसका रूप 'काम-वासना' (Libido) कहलाता है; इसी प्रकार 'घृणा' उस मनोभावना का नाम है जो समाज में दिखाई देती है, प्रारम्भिक-अवस्था में इस भावना का रूप 'आक्रमण' (Aggression) है। अगर 'घृणा की प्रवृत्तियाँ' (Aggressive tendencies) प्रबल हो जाँय, तो समाज टुकड़े-टुकड़े हो जाय, इसलिए 'प्रेम की प्रवृत्तियों' (Libidinal tendencies) का रहना ज़रूरी है, अगर 'प्रेम' प्रबल हो जाय, तो भी समाज का व्यवहार न चले, सब अपने को लुटाने लगें।

भिन्नता में ही तो समाज का व्यवहार चलता है, विषमता ही समता को लाने के लिए समाज को प्रगतिशील बनाती है। इसलिए जहाँ 'घृणा' पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है, वहाँ 'प्रेम' पर भी प्रतिबन्ध लगाया जाता है। दूसरों के साथ घृणा न करो, प्रेम करो, परन्तु प्रेम इतना न करो कि अपनेपन को ही खो दो। हर-एक जाति, देश अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखना चाहता है—यह 'आक्रमण' (Aggression) की प्रवृत्ति का परिणाम है, पृथक् अस्तित्व जब बहुत प्रबल हो जाता है, तब लड़ाई शुरू हो जाती है। पृथक् अस्तित्व रखता हुआ भी हर-एक दूसरे से मिलकर रहना चाहता है—यह 'काम-भावना' (Libido) की प्रवृत्ति का परिणाम है, परन्तु मेल और एकता जब बहुत प्रबल हो जाती है, देश अपना अस्तित्व दूसरे में खोने लगता है, तब देश के लिए वैसा ही ख़तरा हो जाता है, जैसा ख़तरा लड़ाई से पैदा होता है। यह 'काम-भावना' (Libido) जब बहुत संकुचित-क्षेत्र में काम करती है, तब इसे 'यौन-सम्बन्ध (Sex relation) कहते हैं, परन्तु 'काम-भावना' (Libido) का अर्थ फ्रॉयड की परिभाषा में यौन-सम्बन्ध ही नहीं है।

जैसा हमने ट्रौटर के विचार के विषय में कहा था कि केवल एक भावना को मानव-समाज के सम्पूर्ण विषम-व्यवहार का आधार बताना ठीक नहीं है, वैसे फ्रॉयड के विचार के विषय में भी कहा जा सकता है कि सामाजिक-व्यवहार का यह एक कारण तो हो सकता है, सम्पूर्ण सामाजिक-व्यवहार इसके अन्तर्गत नहीं कहा जा सकता।

४. चौथा विचार

हमने देखा कि मैक्डूगल सामाजिक-व्यवहार का आधार भिन्न-भिन्न प्राथमिक सहज-प्रवृत्तियों को कहता है, ट्रौटर तथा फ्रॉयड विशेष-विशेष सहज-प्रवृत्तियों को कहते हैं। अन्य मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) में अन्धापन है, सुजाखापन नहीं है, इनके द्वारा मनुष्य अन्धा व्यवहार कर सकता है, बुद्धि-पूर्वक व्यवहार नहीं कर सकता। सहज-प्रवृत्तियों के सुजाखा बनाने का काम जिन प्रवृत्तियों का है, उन्हें 'सामान्य-प्रवृत्तियाँ' (General tendencies) कहा जाता है। वे भी प्राणि-मात्र में हैं, परन्तु उनमें और 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) में यह भेद है कि 'सामान्य-प्रवृत्तियाँ' (General tendencies) अधिक व्यापक हैं, 'सहज-प्रवृत्तियाँ' (Instincts) उतनी व्यापक नहीं हैं; 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (General tendencies) के साथ 'उद्वेग' (Emotion) नहीं रहता, 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) के साथ 'उद्वेग' रहता है; 'सामान्य-प्रवृत्तियाँ' तीन-चार ही हैं, 'सहज-प्रवृत्तियाँ' बारह-चौदह हैं। इन लोगों का कहना यह है कि 'सहज-प्रवृत्तियाँ' मनुष्य के वैयक्तिक व्यवहार का आधार तो हो सकती हैं, मनुष्य के सामाजिक-व्यवहार का आधार नहीं हो सकतीं। मनुष्य के सामाजिक-व्यवहार का आधार 'सहज-प्रवृत्तियाँ' (Instincts)

नहीं, 'सामान्य-प्रवृत्तियाँ' (General tendencies) हैं। हम अगले अध्याय में सामाजिक-व्यवहार की आधारभूत इन 'सामान्य-प्रवृत्तियों' का वर्णन करेंगे। वे हैं—'संकेत' (Suggestion), 'अनुकरण' (Imitation) तथा 'सहानुभूति' (Sympathy)। अगले अध्याय में इन तीनों का वर्णन होगा।

प्रश्न

१. 'सामाजिक-व्यवहार कुछ आधार-भूत प्राथमिक-सहज-प्रवृत्तियों के सम्मिश्रण (Inter-play of Primary Instincts) से बनता है'—मैक्डूगल के इस कथन की व्याख्या करते हुए उसकी आलोचना कीजिए।

२. 'दया की भावना' (Tender emotion) से 'परोपकार' (Altruism) एवं 'दैन्य' (Submission) तथा 'आत्म-प्रदर्शन' (Self-assertion) की भावना से 'सदाचार' (Moral conduct) बनता है—मैक्डूगल के इस कथन की आलोचना कीजिए।

३. ट्रौटर समाज को किस प्रकार 'सामूहिक-भावना' (Gregarious instinct) का परिणाम कहता है? उसके कथन की आलोचना कीजिए।

४. फ्रॉयड किस प्रकार 'काम-भावना' (Libido) तथा 'आक्रमण' (Aggression) की भावना से सामाजिक-व्यवहार का समाधान करता है?

३७

संकेत, अनुकरण तथा सहानुभूति

(SUGGESTION, IMITATION AND SYMPATHY)

मानसिक-प्रक्रिया के तीन पहलू होते हैं—'ज्ञान' (Knowing), 'इच्छा' (Feeling) तथा 'कृति' (Willing)। पहले हमें किसी बात का ज्ञान होता है, ज्ञान होने के बाद अगर अच्छी बात है, तो उसके अनुकूल-भावना, और बुरी बात है, तो प्रतिकूल-भावना होती है, उसके बाद हम क्रिया करते हैं, अनुकूल को ग्रहण और प्रतिकूल को त्याग देते हैं। 'ज्ञान' का सूचक 'संकेत' (Suggestion) है, 'इच्छा' की सूचक 'सहानुभूति' (Sympathy) है, और 'क्रिया' का सूचक 'अनुकरण' (Imitation) है। 'सामाजिक-व्यवहार' की आधार ये तीन प्रक्रियाएँ हैं। हम इस अध्याय में इन तीनों का वर्णन करेंगे।

'सहज-प्रवृत्ति' तथा 'सामान्य-प्रवृत्ति' में भेद

(DIFFERENCE BETWEEN INSTINCT AND GENERAL TENDENCY)

इससे पहले कि हम इन तीन प्रवृत्तियों के विषय में कुछ लिखें, इनका तथा 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) का भेद क्या है, यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है। हमने पिछले अध्याय में देखा कि कुछ लोग 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) को सामाजिक-व्यवहार का कारण मानते हैं, कुछ लोग किसी एक 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) को सामाजिक-व्यवहार का कारण मानते हैं, और कुछ लोग 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (General tendencics) को सामाजिक-व्यवहार का कारण मानते हैं। परन्तु 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) तथा 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) में भेद क्या है ? मैक्डूगल ने मानसिक-शक्तियों के दो भाग किये हैं जिन्हें उसने क्रमशः 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) तथा 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (General tendencies) का नाम दिया है। 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) के साथ 'उद्वेग' (Emotion) जुड़ा रहता है, 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) के साथ नहीं जुड़ा रहता। मैक्डूगल के अनुसार 'सहज-प्रवृत्तियाँ' (Instincts) चौदह के लगभग हैं, और कम व्यापक हैं, 'सामान्य-प्रवृत्तियाँ' (General tendencies) तीन-चार हैं, और पहलों की अपेक्षा अधिक व्यापक हैं। उदाहरणार्थ, एक बच्चा बैठा मट्टी का घर बना रहा है, उसकी देखादेखी दूसरे भी बनाने लगते हैं। यहाँ, घर

बनाना 'विधायकता की सहज-प्रवृत्ति' (Instinct of Constructiveness) है, परन्तु क्योंकि बच्चा दूसरे की देखादेखी घर बना रहा है, इसलिए 'अनुकरण' (Imitation) की 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) मट्टी का घर बनाने में सहायक सिद्ध हो रही है। एक बालक पुस्तक उठा कर उसके चित्र देख रहा है, उसकी देखादेखी दूसरा भी आकर उसके साथ चित्र देखने लगता है। यहाँ पहले बालक का चित्र देखना 'जिज्ञासा की सहज-प्रवृत्ति' (Instinct of Curiosity) है, दूसरे को देखादेखी आ बैठना, 'अनुकरण' (Imitation) की 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) है। इन दोनों दृष्टान्तों में 'अनुकरण' की 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) 'विधायकता' तथा 'जिज्ञासा'—इन दोनों 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) में मौजूद है, इसलिए इन दोनों से अधिक व्यापक है। 'अनुकरण' की 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) चौदह-की-चौदह 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) में हो सकती है, और इसी प्रकार 'संकेत' तथा 'सहानुभूति' का भी व्यापक रूप हो सकता है। सामाजिक-व्यवहार व्यक्ति तक सीमित नहीं, सारे समाज को छूता है। 'सहज-प्रवृत्ति' तो केवल व्यक्ति को छूती है, 'सामान्य-प्रवृत्ति' सारे समाज को छूती है, इसलिए सामाजिक-व्यवहार का आधार 'सहज-प्रवृत्ति' न होकर 'सामान्य-प्रवृत्ति' है। 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) तथा 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) में यही मौलिक भेद है। अब हम तीनों 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (General tendencies) के विषय में यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि वे सामाजिक व्यवहार को कैसे प्रभावित करती हैं।

१. संकेत (Suggestion)

मैक्डूगल के शब्दों में 'संकेत' उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को विचार देता है, और जिसे विचार दिया जाता है वह व्यक्ति, विचार के युक्ति-संगत होने की तरफ़ ध्यान न देकर, उस विचार को बिलकुल ठीक स्वीकार कर लेता है। 'संकेत-ग्राहकता' (Suggestibility) मन की शान्त-ग्राहकता (Passive receptivity) ही है। जिसको 'संकेत' दिया जाता है, उसके मन में ऐसी क्रिया-शील प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप व्यक्ति के मन में दो विचार, अर्थात् द्विविधा नहीं रहती, और जो 'संकेत' दिया जाता है, चेतना का सारा वेग उसी विचार पर केंद्रित हो जाता है। 'संकेत' द्वारा मन में ऐसी 'सहज-प्रवृत्तियाँ' (Instincts) जाग उठतीहैं, जिनके साथ जुड़ा 'उद्वेग' (Emotion) 'सहज-प्रवृत्ति' के वेग को इतना प्रबल कर देता है कि उस प्रवृत्ति से भिन्न दूसरी कोई प्रवृत्ति चेतना में रहती ही नहीं। 'संकेत' स्वयं कोई 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) नहीं है, परन्तु 'सहज-प्रवृत्ति' को दिशा बतलाने-वाली, उसे जगा देने वाली, उसे सोते से उठा देने वाली प्रवृत्ति है। अगर यह 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) होती, तो सब प्राणियों की संकेत ग्रहण करने की

योग्यता एक-सी होती। ऐसा न होता कि कोई संकेत को ग्रहण करता है, कोई नहीं। 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) में तो सब प्राणी एक-सा व्यवहार करते हैं, 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) म नहीं। 'संकेत' में एसा नहीं होता, अतः 'संकेत' को 'सहज-प्रवृत्ति' नहीं, 'सामान्य-प्रवृत्ति' कहा जाता है।

'संकेत' को ग्रहण करने में तीन बातें होती हैं—(१) अगर किसी बात को बार-बार दोहराया जाय, तो व्यक्ति उस 'संकेत' को ग्रहण कर लेता है, (२) 'संकेत' देने वाला जितने विश्वास से, आत्म-बल से 'संकेत' देता है, लेने वाला उसे उतना ही अधिक ग्रहण करता है, और (३) संकेत देने वाले का जितना रौब-दाब होता है, उतना ही उसका 'संकेत' ग्रहण कर लिया जाता है। नेताओं की बात कैसी भी हो, जनता उनके रौब के कारण उनकी बात मान जाती है। आपस में लोग लड़ते हैं, नेता के पास आकर वह जो-कुछ कहता है, उसे मान आते हैं। हर-एक व्यक्ति की संकेत ग्रहण करने की योग्यता भिन्न-भिन्न होती है। थका हुआ आदमी हर बात में हाँ-हाँ कर देता है, स्वस्थ व्यक्ति इतनी जल्दी काबू में नहीं आता। मूर्ख व्यक्ति को जो-कुछ कहा जाय, मान लेता है, पढ़े-लिखे, समझदार लोग अपनी चलाते हैं।

'संकेत' चार प्रकार के हैं। 'प्रभाव-संकेत (Prestige suggestions) वे हैं जो माता-पिता, शिक्षक आदि की तरफ़ से दिय जाते हैं। किसी जाति के पुरखा, बूढ़े व्यक्ति जो बात कहते हैं दूसरे लोग उन बातों को प्रायः मान लेते हैं। बहु-संख्याक-संकेत' (Mass suggestions) वे हैं जब कोई व्यक्ति बहुमत को देख कर कुछ करने लगता है। अगर यह उड़ा दिया जाय कि अमुक व्यक्ति को वोट पड़ रहे हैं, तो न भी पड़ रहे हों, तो पड़ने लगते हैं। 'आत्म-संकेत' (Auto-suggestions) वे हैं जो मनुष्य अपने को दिया करता है। अक्सर लड़के अच्छे-भले मास्टरजी को—'आप बीमार दीखते हैं'—कहकर बीमार कर देते हैं। लड़कों के संकेत से मास्टरजी अपने को बीमार समझने लगते हैं। 'विरुद्ध-संकेत' (Contra-suggestions) वे हैं जिनको सुनकर व्यक्ति उल्टा करने लगता है। अगर चुनाव के समय कोई दल यह कहने लगे कि जो उनको वोट नहीं देगा उसको लूट लिया जायगा, तो इस 'संकेत' का उलटा असर होगा, देने वाला भी नहीं देगा।

२: अनुकरण (Imitation)

(क) 'उद्वेग' का स्वाभाविक-अनुकरण—मैक्डूगल का कथन है कि जब कोई प्राणी दूसरे प्राणी की सहज-प्रवृत्ति को उत्तेजित हुआ देखता है, तो वह भी उसी प्रकार का उत्तेजित व्यवहार करने लगता है। लड़तों को देख कर लड़ पड़ना, भागतों को देख कर भाग खड़े होना प्रतिदिन का अनुभव है। मक्डूगल के इस कथन के आलोचकों का कहना है कि लड़तों को देख कर लड़ पड़ना लाजमी नहीं है। हो सकता है, एक लड़ाके को देखकर हमें आश्चर्य होन लग, अगर वह हमारे

शत्रु से लड़ रहा है, तो उसके प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाय। माता अपने बच्चे को जब पुचकारती है, तो देखने वालों के हृदय में वैसी ही भावना का उत्पन्न हो जाना जरूरी नहीं है। जिसके भीतर वैसी भावना होगी, वह 'अनुकरण' करेगा, दूसरा नहीं करेगा। एक ही दृश्य को देख कर दो व्यक्तियों में पारस्परिक विरुद्ध-भावना पैदा हो सकती है, और एक ही भावना वाले दो व्यक्तियों में, 'अनुकरण' से नहीं, परन्तु स्वतंत्र रूप से एक-सी या एक-दूसरे के विपरीत भावना पैदा हो सकती है। इसलिए मैक्डूगल का उक्त कथन कुछ अंश तक तो ठीक ह, सब अंशों में ठीक नहीं है।

(ख) व्यक्ति द्वारा आदर्श का अनुकरण—कभी-कभी दूसरे के अनुरूप बनने की भावना से भी प्राणी 'अनुकरण' करता है। बच्चे प्रायः इसी कारण 'अनुकरण' करते हैं। कई बालक तो अपने अध्यापक की बिलकुल प्रतिलिपि होने का यत्न करते हैं। अध्यापक के लिए आदर्श बनना कितना आवश्यक है यह इसी से स्पष्ट हो जाता है। बालक अपने बड़ों का यूँ ही अनुकरण नहीं करते। जिस अध्यापक के विषय में उनके हृदय में श्रद्धा बैठ जाय, जिसकी योग्यता के वे कायल हो जाँय, उसी का अनुकरण करते हैं। समाज में नेताओं के फ़ैशन का भी लोग अनुकरण करते हैं, परन्तु सिर्फ़ ऐसे नेताओं का जिनके विषय में उनके हृदय में श्रद्धा हो, जिसे वे आदर्श समझें। उदाहरणार्थ, लोग जवाहर-कट कुर्ती बनवाते हैं, जवाहर-कट इसलिए क्योंकि उनकी जवाहरलाल जी में श्रद्धा है, आस्था है।

(ग) समाज द्वारा आदर्श का अनुकरण—तीसरा अनुकरण वह होता है जिसमें कोई व्यक्ति या देश दूसरे व्यक्ति या देश की अच्छाई को देख कर उसे ग्रहण करने के लिए उसका अनुकरण करता है। जापान ने युरोप के देशों का अनुकरण किया, इसलिए किया क्योंकि जापान उन-जैसा उन्नत होना चाहता था। आज हम रूस की पंचवर्षीय-योजनाओं का अनुकरण कर रहे हैं, इसलिए अनुकरण कर रहे हैं क्योंकि रूस जैसी तेजी से उन्नति करना चाहते हैं।

'संकेत' तथा 'अनुकरण' के सम्बन्ध में बेजहौट (Bagehot) तथा टार्डे (Tarde) का सिद्धान्त प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त को 'समाज का संकेत-अनुकरण का सिद्धान्त' (Suggestion-Imitation Theory of Society) कहा जाता है। इस सिद्धान्त को पहले-पहल बेजहौट ने १८७३ में प्रतिपादित किया जिसे दार्शनिक रूप पीछे से टार्डे ने दिया। समाज के व्यवहार को समझने के लिए इस सिद्धान्त को समझ लेने से मदद मिलती है, इसलिए 'संकेत' तथा 'अनुकरण' के विषय में लिखते हुए इस पर भी कुछ प्रकाश डाल देना असंगत नहीं है।

३. बेजहौट तथा टार्डे का 'संकेत-अनुकरण-संबंधी' सिद्धान्त

(क) बेजहौट का 'संकेत-अनुकरण-सम्बन्धी' सिद्धान्त—बेजहौट का कथन है कि प्राथमिक-समाज में 'अनुकरण' का बड़ा भारी स्थान है। प्राणी जो-कुछ बनता है, 'अनुकरण' द्वारा ही बनता है। प्राथमिक तथा वन्य-जातियों में क्या, वर्त्तमान समाज के विकास में भी इसका स्थान कम नहीं है। समाज में अकस्मात्,

अचानक कोई नई चीज़ हो जाती है। इस नई चीज़ का अत्यन्त प्रबल आकर्षण होता है। सब लोग इसका 'अनुकरण' करने लगते हैं। इस नई चीज़ का अकस्मात् होना एक ऐसा 'संकेत' (Suggestion) है, जिसको सब एकदम पकड़ लेते हैं; और 'अनुकरण' (Imitation) करने लगते हैं। क्योंकि इस प्रक्रिया में 'संकेत' और 'अनुकरण' दोनों काम करते हैं, इसी लिए इसे 'संकेत-अनुकरण' (Suggestion-Imitation) कहा जाता है। 'अनुकरण' इस नई बात को स्थिर रखने का काम देता है। सब लोग नकल करने लगते हैं, इसलिए जिस बात का 'अनुकरण' किया जाता है, वह अपने-आप जड़ पकड़ लेती है। परन्तु, फिर, समाज में केवल स्थिरता ही दीखनी चाहिए, नवीनता नहीं होनी चाहिए। इसका उत्तर देते हुए बेजहौट का कहना है कि स्थिरता के रहते हुए भी समाज में परिवर्त्तन इसलिए होता है क्योंकि समाज हर बात पर बहस किया करता है। 'बहस' के परिणामस्वरूप नई बात निकल आती है, वह फिर 'अनुकरण' से टिक जाती, स्थिर हो जाती है।

(ख) टार्डे का 'संकेत-अनुकरण-सम्बन्धी' सिद्धान्त—टार्डे ने बेजहौट के विचार को दार्शनिक रूप देने का प्रयत्न किया है। टार्डे का कहना है कि जो भी 'प्रक्रिया' (Process) होती है, उसका स्वरूप 'अन्तःक्रिया' (Inter-action) है। जब दो पदार्थ मिलेंगे, तो उनकी आपस की क्रिया होगी, यही 'अन्तःक्रिया' (Inter-action) है। इस 'अन्तःक्रिया' के, अर्थात् एक-दूसरे के सम्पर्क में आने के तीन रूप हैं—'पुनरावृत्ति' (Repetition), 'विरोध' (Opposition) तथा 'अनुकूलन' (Adaptation)। हर-एक वस्तु का विरोधी गुण उसके साथ रहता है, उन दोनों के मेल से एक तीसरा गुण पैदा हो जाता है। उदाहरणार्थ, 'प्रेम' का विरोधी गुण 'द्वेष' है, परन्तु प्रेम-द्वेष के मेल से 'सहिष्णुता' पैदा होती है। प्रत्येक सामाजिक-सम्बन्ध में दो विरोधी भाव होते हैं, जिनसे उनके 'अनुकूलन' द्वारा एक तीसरा तत्त्व पैदा होता है। जब मनुष्य 'अधिकार-प्रदर्शन' (Assertion) करने लगता है, तो उसका विरोधी गुण 'अधिकार-निरोध' (Resistance) पैदा हो जाता है। पहला गुण 'पुनरावृत्ति' (Repetition) से पैदा होता है, बार-बार अधिकार जतलाने से 'अधिकार-प्रदर्शन' पैदा होता है, सिर्फ़ एक बार 'अधिकार-प्रदर्शन' किया जाय, तो उसे 'अधिकार-प्रदर्शन' कोई नहीं कहता; दूसरा गुण, अर्थात् 'अधिकार-निरोध' पुनरावृत्ति का 'विरोध' (Opposition) करने से पैदा होता है। इसके बाद एक तीसरी नवीन चीज़ पैदा होती है। यह तीसरी चीज़ 'पुनरावृत्ति' तथा 'विरोध' का समन्वय है, दोनों का एक तीसरे नवीन तत्त्व में 'अनुकूलन' (Adaptation) है, जिसमें इनका आपस का विरोध नहीं रहता। इसके बाद इस तीसरे तत्त्व की फिर 'पुनरावृत्ति' से उसका 'विरोधी' तत्त्व उत्पन्न हो जाता है। फिर इन दोनों के समन्वय से 'अनुकूलन' द्वारा एक तीसरा तत्त्व उत्पन्न होता है। यह प्रक्रिया लगातार आगे-आगे चलती चली जाती है। 'पुनरावृत्ति'-'विरोध'-'अनुकूलन'—फिर उस

अनुकूलन से पैदा हुए तत्त्व की 'पुनरावृत्ति'-'विरोध'-'अनुकूलन', और इसी प्रकार आगे-आगे यह प्रक्रिया चलती चली जाती है, चलती चली जाती है।

टार्डे ने 'पुनरावृत्ति' को 'जड़', 'चेतन' तथा 'समाज'—इन तीनों में घटाया है। 'पुनरावृत्ति' का एक रूप भौतिक जड़-जगत् में दीख पड़ता है। शब्द, प्रकाश आदि की 'लहरें' (Undulations or Waves) एक-के-बाद-एक चलती चली जा रही हैं, उनकी पुनरावृत्ति होती ह, इसी से शब्द सुनाई पड़ता है, वस्तु दिखाई पड़ती है। भौतिक-जगत् में लहरों की 'पुनरावृत्ति' न हो, तो वस्तु की सत्ता ही नहीं हो सकती। प्राणि-जगत् में एक प्राणी अपने-जैसे दूसरे प्राणी को उत्पन्न करता है। यह सन्तति-से-सन्तति का होना 'वंशानुसंक्रमण' कहलाता है। 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) प्राणि-जगत् में 'पुनरावृत्ति' के नियम का ही दूसरा नाम है। प्राणि-जगत् के बाद सामाजिक-जगत् में भी 'पुनरावृत्ति' का नियम काम कर रहा है। सामाजिक-जगत् में 'पुनरावृत्ति' के नियम को ही 'अनुकरण' (Imitation) कहा जाता है। समाज में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से 'अनुकरण' द्वारा ही सीखता है। जैसे 'पुनरावृत्ति' जड़-जगत्, प्राणि-जगत् तथा सामाजिक-जगत् में पायी जाती है, वैसे 'विरोध' भी इन जड़-जगत्, प्राणि-जगत् तथा सामाजिक-जगत् में पाया जाता है। मनुष्य-जगत् में विरोध की प्रक्रिया को लड़ाई, झगड़ा, संघर्ष, युद्ध आदि शब्दों से पुकारा जाता है। संसार के व्यवहार की असली प्रक्रिया तो 'पुनरावृत्ति' तथा 'अनुकूलन' ये दो ही हैं, 'विरोध' का काम तो सिर्फ़ 'अनुकूलन' को उत्पन्न करना है। जब दो बातों में 'विरोध' होता है, तभी उनका समन्वय होने के बाद 'अनुकूलन' होता है। 'पुनरावृत्ति' का काम तो एक ही वस्तु को उसी रूप में स्थिर बनाये रखना है, 'विरोध' का काम इस स्थिरता को भंग कर, 'अनुकूलन' द्वारा, एक नवीन-तत्त्व, नवीन-'आविष्कार' को जन्म देना है। इसी प्रकार उन्नति होती है। जब 'पुनरावृत्ति' तथा 'विरोध' का 'अनुकूलन' होने से एक तीसरे नवीन-तत्त्व का, नवीन-आविष्कार का जन्म हो जाता है, तब फिर 'पुनरावृत्ति'-'विरोध'-'अनुकूलन' की प्रक्रिया जारी हो जाती है, और इस प्रकार नये-नये आविष्कार होते चले जाते हैं, और समाज की उन्नति का यह चक्र आगे-आगे बढ़ता चला जाता है। इसी प्रक्रिया का हम पहले 'अन्वय' (Thesis), 'व्यतिरेक' (Antithesis) तथा 'समन्वय' (Synthesis) के नाम से वर्णन कर आये हैं।

नवीन-आविष्कार के बाद 'पुनरावृत्ति', 'विरोध' तथा 'अनुकूलन' की प्रक्रिया फिर भी आगे-आगे चलेगी, या नहीं चलेगी—इसका निश्चय इस बात से होता है कि वह नवीन-आविष्कार 'तर्क-संगत' (Logical) है या 'तर्क-विरुद्ध' (Illogical) है। अगर वह 'तर्क-संगत' होता है, जिसे टार्डे ने 'तर्कातिरेक-युक्त' (Extra-logical) कहा है, तो प्रक्रिया आगे चलती है, 'तर्क-संगत' नहीं होता, तो प्रक्रिया आगे नहीं चलती। उदाहरणार्थ, अगर कोई नवीन-आविष्कार विकास के सिद्धान्त के प्रतिकूल है, तो उसके आगे उक्त प्रक्रिया नहीं चलेगी,

क्योंकि जो बात विकास के सिद्धान्त के प्रतिकूल है वह तर्क-संगत नहीं है। अगर आविष्कार 'तर्क-संगत' है, अर्थात् तर्क-विरुद्ध नहीं ह, तो आगे उसके तीन प्रकार हो सकते हैं। 'तर्क-संगत' का मतलब है कि नया आविष्कार, अर्थात् 'अनुकूलन' की प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होने वाला नवीन-तत्त्व, तर्क-विरोधी नहीं है, और उसकी आगे 'अनुकरण' (Imitation) द्वारा 'पुनरावृत्ति'-'विरोध'-'अनुकूलन' की प्रक्रिया चल सकती है। ऐसी हालत में, अर्थात् ऐसी हालत में जब कोई नई बात तर्क के विरुद्ध नहीं है, 'अनुकरण' तीन प्रकार का होगा। पहला प्रकार यह होगा कि 'अनुकरण' भीतर से बाहर हो जायगा। उदाहरणार्थ, जब कोई देश किसी दूसरे देश का 'अनुकरण' करने लगता है, तब पहले उसके विचारों का 'अनुकरण' करता है, विचार जो भीतर की चीज़ है, फिर दूसरे देश के रीति-रिवाज का, बाहर की चीज का 'अनुकरण' करता है। 'अनुकरण' में दूसरी चीज रौब है। जो रौब में बड़ा होता है, उसका दूसरे लोग 'अनुकरण' करते हैं। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः'—जो बड़े आदमी करते हैं वही छोटे करने लगते हैं। 'अनुकरण' में तीसरी चीज़ 'प्राचीनता' है। जो चीज़ पुरानी है, उसके प्रति लोगों की विशेष श्रद्धा-भक्ति होती है। पुराने रीति-रिवाज, कायदे-कानून का ख़ास तौर पर 'अनुकरण' किया जाता है। संक्षेप में, टार्डे की 'अनुकरण' के सम्बन्ध में यही विचार-धारा है। इसे 'संकेत-अनुकरण' (Suggestion-Imitation) इसलिए कहा है क्योंकि 'अनुकूलन' (Adaptation) द्वारा जो नवीन-तत्त्व उत्पन्न होता है, वह एक 'नवीन-संकेत' (New Suggestion) का द्योतक है, और 'अनुकरण (Imitation) तो इस विचार-धारा की जान है ही, इसलिए 'संकेत' तथा 'अनुकरण' के मिल जाने से इस प्रक्रिया को 'संकेत-अनुकरण' (Suggestion-Imitation) कहा जाता है।

४. सहानुभूति (**Sympathy**)

जब कोई हँस रहा होता है, तो उसे देख कर हम हँसने लगते हैं, रो रहा होता है, तो उसे देख कर हमारी आँखों में भी आँसू आ जाते हैं। इस प्रकार दूसरे की 'अनुभूति' (Feeling) के साथ 'अनुभूति' करने को 'सहानुभूति' कहते हैं। मैक्डूगल ने 'अनुभूति' के सम्बन्ध में एक नियम का प्रतिपादन किया है। इसे 'उद्वेग के आगमन का नियम' (Law of Sympathetic Induction of Emotion) कहते हैं। 'उद्वेग' और 'अनुभूति' एक ही बात है। मैक्डूगल का कथन है कि जब किसी प्राणी में कोई 'उद्वेग' होता है, तो दूसरे प्राणी के लिए यह 'उद्दीपक' (Stimulus) का काम करता है, और इस 'उद्दीपक' को देखकर, इस दूसरे प्राणी में 'प्रतिक्रिया' (Response) होती है। इस 'प्रतिक्रिया' का रूप इस दूसरे प्राणी में उसी 'उद्वेग' का उत्पन्न हो जाना है। काम को देख कर काम, क्रोध को देख कर क्रोध, लोभ को देख कर लोभ, मोह को देख कर मोह उत्पन्न होता है। 'समूह' में रहन वाले प्राणियों म तो यह नियम विशेष रूप से काम करता

है। इसका काम अनेकता में एकता, विषमता में समता स्थापित करना है। व्याख्याता इसी के सहारे जनता को किधर-का-किधर ले जाता है, अध्यापक इसी के सहारे विद्यार्थियों को जैसा चाहे बना देता है।

मैक्डूगल के आलोचकों का कहना है कि यह नियम अटूट नहीं है। बच्चे को डरा हुआ देख कर हम में डर नहीं पैदा होता, उस पर दया आती है। जहाँ हम कहते हैं कि एक-दूसरे को देख कर लोग डर रहे हैं, वहाँ भी देख-भाल की जाय, तो पता चलेगा कि कई बार लोग एक-दूसरे को देख कर नहीं डर रहे होते, अपितु एक ही वस्तु को देख कर कुछ लोग डर रहे होते हैं; कुछ लोग जिज्ञासा कर रहे होते हैं, कई उस वस्तु से बिलकुल भी नहीं डर रहे होते। जिन-जिन का जैसा पिछला अनुभव होता है, वे वैसी प्रतिक्रिया कर रहे होते हैं।

५. परिणाम

हम इन पिछले अध्यायों में सामाजिक-व्यवहार के कारण की तलाश में लगे रहे हैं। हमारा प्रश्न यह था कि सामाजिक-व्यवहार का आधार क्या है? हमने देखा कि एडम-स्मिथ तथा कार्ल-मार्क्स सिर्फ़ धन-दौलत को, 'अर्थ' को, 'धन-संग्रह' (Acquisition) को सम्पूर्ण व्यवहार का आधार मानते थे, फ्रॉयड 'काम-वासना' (Sex) को, मैक्डूगल 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) को, ट्रौटर 'सामूहिक-भावना' (Gregariousness) को, बेजहौट तथा टार्डे 'संकेत' तथा 'अनुकरण' (Suggestion and Imitation) को सामाजिक-व्यवहार का आधार मानते थे। यह भी हमने देखा कि इनमें से कोई एक सामाजिक-व्यवहार का आधार नहीं है, ये सब मिल कर ही सामाजिक-व्यवहार को बनाते हैं। जब हम किसी एक बात को लेकर सामाजिक-व्यवहार का विश्लेषण करने लगते हैं, तो दूसरी बातें स्वयं सामने आ खड़ी होती हैं, उनको न माना जाय तो सिर्फ़ अर्थ, काम-भावना, सहज-प्रवृत्ति, सामान्य-प्रवृत्ति, सामूहिक-भावना, संकेत, अनुकरण या सहानुभूति से सब सामाजिक-व्यवहारों का समाधान नहीं हो सकता, अतः इन सब के मेल से ही सामाजिक-व्यवहार बनता है।

प्रश्न

१. 'संकेत' (Suggestion) किसे कहते हैं, इसका सामाजिक-व्यवहार के निर्माण में क्या हाथ है, इसके कितने प्रकार हैं?

२. 'अनुकरण' (Imitation) के विषय में मैक्डूगल, बेजहौट तथा टार्डे के विचार क्या हैं?

३. 'संकेत-अनुकरण-सिद्धान्त' (Suggestion-Imitation theory) क्या है? टार्डे की विचार-धारा का विस्तार से वर्णन कीजिए और बतलाइये कि भौतिक-जगत्, प्राणि-जगत् और सामाजिक-जगत् में 'पुनरावृत्ति' (Repetition) क्या-क्या रूप धारण कर लेती है?

४. मैक्डूगल का 'उद्वेग के आगमन का नियम' (Law of Sympathetic Induction of Emotion) क्या है? इसकी आलोचना कीजिए।
५. अर्थ, काम-भावना, सहज-प्रवृत्ति, सामान्य-प्रवृत्ति, सामूहिक-प्रवृत्ति, संकेत, अनुकरण, सहानुभूति में से सामाजिक-व्यवहार को कौन बनाता है?

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. अनुकरण किस प्रकार कार्य करता है? इसकी प्रत्येक प्रक्रिया का उदाहरण दीजिए। (आगरा, १९५३)
२. 'संकेत-अनुकरण-सिद्धान्त' की व्याख्या कीजिए। (आगरा, १९५५)
३. टार्डे के अनुकरण के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए और संक्षेप में समालोचना कीजिए। (राजपूताना, १९५३)
४. सुझाव पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (राजपूताना, १९५३)

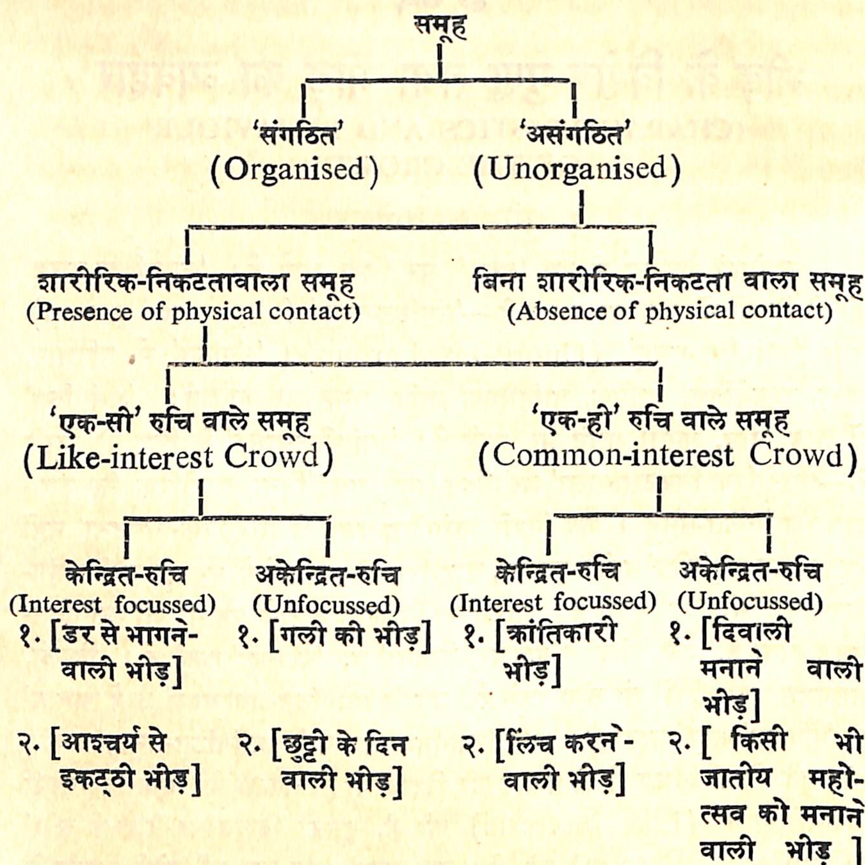
३८

भीड़ के विशेष-गुण तथा भीड़ का व्यवहार
(CHARACTERISTICS AND BEHAVIOUR OF THE CROWD)

१. भीड़ का वर्गीकरण

उन्नीसवें अध्याय में हम 'समूह' पर लिख आये हैं। 'सामाजिक-समूह' को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है--'संगठित-समूह' (Organised group) तथा 'असंगठित-समूह' (Unorganised group)। 'संगठित' में परिवार, स्कूल, राजनैतिक, आर्थिक, साहित्यिक आदि समूह आ जाते हैं; 'असंगठित' में रेवड़, भीड़, जनता आदि आ जाते हैं। 'असंगठित-समह' के फिर दो हिस्से हैं--'शारीरिक निकटतावाला' असंगठित-समूह, तथा 'बिना शारीरिक निकटता-वाला असंगठित-समूह । जब किसी असंगठित-समूह में शारीरिक-निकटता नहीं रहती, तब वह 'भीड़' नहीं कहलाता, शारीरिक-निकटता होने पर ही कोई असंगठित-समूह 'भीड़' कहलाता है। शारीरिक-निकटता न होने पर भी जो असंगठित-समूह होता है, उसे 'भीड़' न कहकर, 'जनता' या 'पब्लिक' कहते हैं। दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई में जो लोग रहते हैं, उनकी असंगठित-अवस्था में उन्हें 'जनता' या 'पब्लिक' कहा जाता है। शारीरिक-निकटता वाले असंगठित-समूह, अर्थात् भीड़ की, किसी विषय में दो प्रकार की दिलचस्पी हो सकती है। एक दिलचस्पी 'एक-सी रुचि' (Like interests) की है, दूसरी दिलचस्पी 'एक-ही-रुचि' (Common interests) की है। एक जगह आग लग गई, कोई मकान से गिर पड़ा, लोग खड़े तमाशा देख रहे हैं। सब की 'एक-सी' दिलचस्पी है, परन्तु 'एक-ही' नहीं है, अगर वे ही लोग आग बुझाने लगें, तो 'एक-सी' का स्थान 'एक-ही' दिलचस्पी ले लेती है। ये दोनों समूह 'भीड़' कहलाते हैं। यह आग बुझाने का काम अगर भीड़ के स्थान में फ़ायर ब्रिगेड करने लगे, तो 'असंगठित-समूह' के स्थान में 'संगठित-समूह' काम करने लगता है, जो भीड़ नहीं है। 'एक-सी' तथा 'एक-ही' रुचिवाले असंगठित-समूहों में, जिन्हें हमने 'भीड़' का नाम दिया है, 'रुचि' या तो किसी एक विषय पर 'केन्द्रित' (Focussed) होती है, या किसी एक विषय पर केन्द्रित नहीं होती, जो विषय सामने आ जाता है, उसी पर ध्यान चला जाता है, आगे चल पड़ने पर ध्यान ही हट जाता है। इस प्रकार 'भीड़' के चार भेद हुए--'केन्द्रित तथा एक-सी रुचि वाली भीड़' (Focussed and Like-interest

Crowd); 'अकेन्द्रित तथा एक-ही रुचि वाली भीड़' (Unfocussed and Like-interest Crowd); 'केन्द्रित तथा एक-ही रुचि वाली भीड़' (Focussed and Common-interest Crowd); 'अकेन्द्रित तथा एक-ही रुचि-वाली भीड़' (Unfocussed and Common-interest Crowd)। चित्र में यह सब-कुछ उदाहरणों के साथ इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं :—



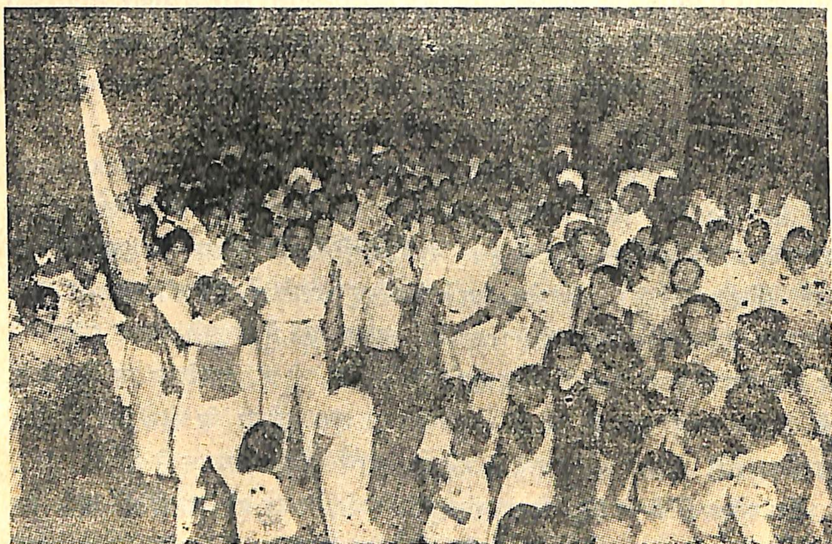
(क) केन्द्रित तथा एक-सी रुचिवाली भीड़' (Focussed and Like-interest Crowd)—एक मकान में आग लगी हुई है, चारों तरफ़ लोग खड़े तमाशा देख रहे हैं। ये सब लोग जानना चाहते हैं, किसके मकान में आग लगी, कौन बचा, कौन जल गया, कितने सामान का नुकसान हो गया। इन सब का ध्यान आग पर केन्द्रित है, परन्तु इन सब का मिलकर कोई एक उद्देश्य नहीं है। सब अपनी-अपनी जिज्ञासा को अलग-अलग शान्त करना चाहते हैं, अगर इतनी भीड़ न हो, तो इनकी जिज्ञासा अधिक आसानी से शान्त हो सकती है। भीड़ के ज्यादा होने के कारण कुछ ठीक-ठीक पता नहीं चलता। दूसरों की उपस्थिति के कारण जिज्ञासा में तीव्रता जरूर आ गई है, जितने अधिक लोग होंगे उतनी जिज्ञासा बढ़ जायगी, परन्तु अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए उसे

अन्यों की आवश्यकता नहीं है। 'एक-सी' की जगह अगर 'एक-ही' रुचि वाले लोगों की भीड़ होगी, तो इकले व्यक्ति से काम नहीं चल सकता, दूसरों की आवश्यकता होती है। आग को सब मिलकर बुझाने लगें, तो 'एक-सी' (Like) रुचि के स्थान में, 'एक-ही' (Common) रुचि आ जायगी, और तब दूसरों की उपस्थिति के बग़ैर काम न चलेगा। जो लोग खड़े तमाशा देख रहे हैं, सब का ध्यान आग पर केन्द्रित ह, परन्तु केन्द्रित होते हुए भी, सब के ध्यान में 'एक-सी' (Like) बातें तो आ रही हैं, परन्तु 'एक-ही' (Common) बात नहीं आ रही। यह बात तब और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है, जब सैकड़ों आदमी गाड़ी की प्रतीक्षा में प्लेट-फ़ार्म पर बैठे होते हैं। गाड़ी आ गई, हर-एक गाड़ी पर एक-दूसरे से पहले चढ़ना चाहता है, 'एक-सी' बात पर तो ध्यान है, 'एक-ही' बात पर नहीं, हर-एक को यह फ़िक्र तो है कि वह गाड़ी पर चढ़ जाय, दूसरे भी चढ़ें, इसका ख्याल नहीं। हाँ, अगर एक बरात जा रही है, तो सब का 'एक-सी' के स्थान में 'एक-ही' स्वार्थ हो जाता है। बरातियों का यह स्वार्थ होता है कि हर-एक गाड़ी पर चढ़ जाय, कोई भी पीछे न छुटे। अगर किसी थियेटर में आग लग जाय, तो हर-एक अपनी जान बचाने को भागता है। उस समय हर-एक का 'एक-सा' स्वार्थ तो होता है, 'एक-ही' स्वार्थ नहीं होता। हर-एक चाहता है कि वह बच जाय, दूसरा भले ही बचे, या न बचे। उस थियेटर में अगर एक परिवार है, तो उनका 'एक-सा' स्वार्थ न होकर 'एक-ही' स्वार्थ हो जाता है। 'एक-सी रुचिवाली भीड़' (Like-interest Crowd) भीड़ के तौर पर कुछ नहीं कर सकती क्योंकि सब का अपना-अपना अलग-अलग स्वार्थ होता है, अगर कोई भीड़ कुछ करना चाहती है, तो उसे 'एक-सी' के स्थान में 'एक-ही' स्वार्थ वाली भीड़ के रूप में बदल जाना होगा। थियेटर में आग लग गई, सब अपनी-अपनी जान बचाकर भागते हैं। कोई निकल सकता है, कोई नहीं निकल सकता। उस समय समझदारी इस बात में है कि सब को क्रम-पूर्वक निकाल लिया जाय। यह तभी हो सकता है अगर 'एक-से' की जगह 'एक-ही' का भाव उत्पन्न हो जाय।

(ख) 'अकेन्द्रित तथा एक-सी रुचि वाली भीड़' (Unfocussed and Like-interest Crowd)—बाजार में भीड़ उमड़ी पड़ रही है, नदी के प्रवाह की तरह लोग आ-जा रहे हैं। यहाँ किसी विशेष चीज पर इस भीड़ का ध्यान केन्द्रित नहीं है। सब सैर-सपाटे के लिए निकले हैं, सब की 'एक-सी' रुचि है, परन्तु सब का मिलकर कोई 'एक-ही' लक्ष्य नहीं है। इसी प्रकार छुट्टी का दिन है, सैकड़ों-हजारों आदमी बाजार में आ-जा रहे हैं, इनके ध्यान का केन्द्र कोई विशेष वस्तु नहीं है, न ही सब मिलकर एक उद्देश्य के पीछे जा रहे हैं। हजारों आदमी बाजार में दिखाई दे रहे हैं, इतने में एक मकान से गोली छूटी, यह भीड़ जो नदी के प्रवाह की तरह बह रही थी, खड़ी हो जाती है, सब का ध्यान किसी एक तरफ़ चला जाता है, यह भीड़ जिसका ध्यान 'अकेन्द्रित' था, उसका ध्यान एकदम 'केन्द्रित' हो जाता है। यह भीड़, इस दूसरी श्रेणी से,

पहली श्रेणी का रूप धारण कर लेती है, और 'अकेन्द्रित' (Unfocussed) से 'केन्द्रित' (Focussed), एक-सी रुचिवाली भीड़ हो जाती है।

(ग) 'केन्द्रित तथा एक-ही रुचिवाली भीड़' (Focussed and Common-interest Crowd)—समाजशास्त्र की दृष्टि से 'एक-सी' रुचि-वाली भीड़ (Like-interest Crowd) की अपेक्षा 'एक-ही' रुचिवाली भीड़ (Common-interest Crowd) का अधिक महत्त्व है। 'एक-सी' (Like) रुचि में भीड़ का हर-एक आदमी अपनी तरफ़ ही देखता है, इसलिए भीड़ कुछ कर नहीं पाती; 'एक-ही' (Common) रुचि में भीड़ का हर-एक आदमी अपने को विशाल समुदाय का अंग समझता है, इसलिए 'एक-ही' रुचिवाली भीड़ कुछ कर जाती है। 'एक-ही' रुचिवाली भीड़ का ध्यान जब किसी एक बात पर केन्द्रित हो जाता है, तब अच्छे या बुरे बड़े-बड़े काम कर डालती है। राजनैतिक भीड़ प्रायः 'एक-ही' रुचि वाली भीड़ होती है, जिसका ध्यान किसी एक बात पर केन्द्रित हो जाता है। जब किसी मिल के मजदूर हड़ताल कर देते हैं, और बिना किसी के भड़काये ऐसा कर देते हैं, तब उन सब असंगठित मजदूरों का 'एक-ही' उद्देश्य होता है, और एक ही बात पर उनका ध्यान केन्द्रित होता है। स्कूलों-कालेजों में विद्यार्थियों के कई आन्दोलन उठ खड़े होते हैं, उनमें भी सब का 'एक-ही' स्वार्थ होता है, और एक ही बात की तरफ़ सब का ध्यान लगा होता है। अमरीका का लिंचिग भी इसी प्रकार की भीड़ों द्वारा होता है। ऐसी भीड़ अचानक उठ खड़ी होती है। देश में दुर्भिक्ष पड़ गया, लोग भूखे मरने लगे, भीड़ ने अन्न के गोदाम लूट लिये। यह लूट पहले से किये किसी निश्चय के कारण नहीं होती। महात्मा गान्धी की एक ब्राह्मण कहलाने वाले मूर्ख ने हत्या कर दी, पूना में ब्राह्मणों



'केन्द्रित' तथा 'एक-ही' रुचि वाली भीड़

के घर जला दिये गये। इन भीड़ों का कोई संगठन नहीं करता, ये आप-से-आप बन जाती हैं, घटनाओं का धक्का इन भीड़ों का निर्माण कर देता है। अन्य प्रकार की भीड़ें उतने महत्त्व की नहीं हैं जितन महत्त्व की ये तीसरे प्रकार की भीड़ें हैं, क्योंकि ये अच्छा या बुरा कुछ काम तो कर डालती हैं। इन भीड़ों में कानून को ताक में रख दिया जाता है, प्रचलित सामाजिक-व्यवहार की भी पर्वाह नहीं की जाती। कभी-कभी प्रचलित कानून के प्रति भीड़ इतने क्रोध में उठ खड़ी होती है कि सब कानूनों के चीथड़े उड़ाती हुई आगे बढ़ जाती है। मनुष्य की कानून के बन्धन से मुक्त होने की भावना इस अवसर का लाभ उठा कर अपना नंगा नाच खेलने लगती है।

(घ) 'अकेन्द्रित तथा एक-ही रुचिवाली भीड़' (Unfocussed and Common-interest Crowd)--दिवाली के उत्सव में सब-लोग बाजार देखने के लिए जाते हैं, अगर किसी ख़ास रोशनी को देखने जाँय तब तो वह केन्द्रित रुचि वाली भीड़ कहलायेगी, परन्तु अगर सिर्फ़ रोशनी देखने जाँय, तो रुचि तो एक-ही है, दिवाली देखना ही सब का लक्ष्य है, परन्तु रुचि किसी एक चीज़ पर 'केन्द्रित' न होकर, 'अकेन्द्रित' है। इसी प्रकार १५ अगस्त के स्वतंत्रता महोत्सव को देखने के लिए दिल्ली के लाल किले पर उमड़ रही भीड़ की रुचि तो 'एक-ही' है, परन्तु ध्यान 'केन्द्रित' न होकर 'अकेन्द्रित' है। दिवाली देखने वाली भीड़ अगर आर्य-समाज मन्दिर में जाकर व्याख्यान सुनने लगे, तो उसका ध्यान 'अकेन्द्रित' न रहकर 'केन्द्रित' हो जायगा, इसी प्रकार स्वतंत्रता का महोत्सव देखने वाली भीड़ अगर पं० जवाहरलाल जी का भाषण सुनने लगे, तो वह भी 'अकेन्द्रित' से 'केन्द्रित' हो जायगी।

२. भीड़ का लक्षण

ऊपर के वर्गीकरण से भीड़ का लक्षण बहुत-कुछ स्पष्ट हो गया होगा। भीड़ मनुष्यों के उस समूह का नाम है जिसमें कुछ 'शारीरिक-निकटता' हो, जिसमें कुछ देर के लिए लोग 'असंगठित' तौर पर, एक-दूसरे के सम्पर्क में आये हों। भीड़ झट-से पैदा हो सकती है, और झट-से ही समाप्त हो सकती है। संसार के संगठित-संगठनों में भीड़ सब से बड़ा असंगठित-संगठन है। चलते-फिरते मित्रों का मिल जाना, गली-कूचे में पाँच-सात का खड़े होकर बातें करने लगना भीड़ में शामिल नहीं है। भीड़ के लिए संख्या का अधिक होना आवश्यक है। अगर पहले से सूचना देकर किसी जगह हजारों की तादाद में व्याख्यान सुनने के लिए लोग इकट्ठे हों, तो वह भी भीड़ नहीं है। भीड़ में पहले से सूचना नहीं दी जाती। व्याख्यान सुनने वाले तो 'जनता' हैं; इधर-उधर आकर खड़े हो जाने वाले 'भीड़' हैं। भीड़ में लोग अचानक इकट्ठे हो जाते हैं। इन अचानक आकर इकट्ठे हो जाने वालों में जो लोग सुनने के लिए नहीं, तमाशे के लिए इकट्ठे हो जाते हैं, वे 'भीड़' हैं, जो सब के साथ आकर व्याख्यान सुनने के लिए बैठ जाते हैं, वे 'भीड़' से निकल कर 'जनता' में शामिल होते जाते हैं, जो आते तो तमाशा

देखने के लिए हैं, परन्तु आकर सब के साथ बैठते तो नहीं, खड़े-खड़े व्याख्यान सुनने लगते हैं, वे 'भीड़' और 'जनता' की बीच की श्रेणी में ह। भीड़ में कोई नियम काम नहीं कर रहा होता, कन्धे-से-कन्धा भिड़ा कर सब एक-दूसरे से आगे निकलने का यत्न करते हैं। किसी उत्सव को देखन के लिए हजारों की संख्या में लोग इकट्ठे होते हैं, इनमें शारीरिक-निकटता है, पहले से किसी के किसी को मिलने की कोई सूचना नहीं, कोई संगठन नहीं, कोई नियम या व्यवस्था नहीं, इनकी संख्या भी बहुत अधिक है--मनुष्यों का यह जमघट भीड़ कहलायेगा, परन्तु अगर यही मिलकर एक जुलूस बनाकर निकलने लगे, तो यह भीड़ नहीं रहेगी। इस जुलूस के देखने वाले भीड़ कहलायेंगे, जुलूस में से निकल कर जो देखने वालों में शामिल होता जायगा वह भीड़ का, और भीड़ से निकल कर जो जुलूस में शामिल होता जायगा वह जुलूस का अंग बनता जायगा। व्याख्यान सुनने वाली जनता में गोली छूट पड़ने पर उस जमघट में भगदड़ पड़ जायगी, और यह सारी-की-सारी संगठित 'जनता' एकदम 'भीड़' बन जायगी।

३. भीड़ के विशेष-गुण

मनोवैज्ञानिकों ने भीड़ के कुछ 'विशेष-गुण' (Characteristics) देखे हैं, जो भीड़ को कुछ महत्त्व देते हैं। ये गुण मानसिक हैं, और निम्न हैं :--

(क) विचार का ह्रास--भीड़ का अंग हो जाने के बाद हर-एक व्यक्ति की विचार-शक्ति कुछ कम हो जाती है। भीड़ से बाहर रहकर वह जिस स्पष्टता से हर-एक विषय पर सोच सकता है, भीड़ में शामिल होने के बाद वह वैसा स्पष्ट नहीं सोचता। रस्किन ने ठीक कहा है--'भीड़ किसी भी बात को ठीक मान सकती है। जैसे जुकाम एक से दूसरे को लगता है, वैसे भीड़ में विचार भी मानो छूत की बीमारी की तरह फैलता है। भीड़ का अंग होकर तिल को ताड़ बनते और भीड़ के छंट जाने पर ताड़ को तिल बनते देर नहीं लगती।' भीड़ की विचार-शक्ति कम क्यों हो जाती है, इसके विद्वानों ने पाँच कारण कहे हैं :--

(i) भीड़ में सब तरह के व्यक्ति होते हैं, परन्तु अधिक संख्या ऐसे लोगों की होती है जिनकी विचार-शक्ति कम होती है। व्याख्याता भी बड़ी-बड़ी युक्तियों से काम नहीं लेता, कम विचार-शक्ति की जनता को सामने देख कर उनकी समझ के अनुरूप युक्तियों से काम लेता है। भीड़ का अंग होकर व्यक्ति की विचार-शक्ति भी कुछ देर के लिए वैसी ही निम्न-स्तर की बन जाती है।

(ii) भीड़ का अंग होते ही मनुष्य बहस नहीं कर सकता। दूसरा जो कहे वही उसे सुनना होता है। भीड़ का नेता ही बोलता है, दूसरों को चुप कर जाना होता है। वाद-विवाद न होने से विचार-शक्ति काम ही नहीं करती।

(iii) भीड़ में 'बुद्धि' से नहीं, 'उद्वेग' (Emotion) से काम लिया जाता है। भीड़ या तो प्रेम से मस्त हो रही है, या क्रोध से पागल हो रही है। 'उद्वेग' के विषय में हम पहले लिख आये हैं कि यह एक से दूसरे में आग की तरह फैलता है।

सत्संगों में भक्ति के गीत सुनकर नास्तिक-से-नास्तिक का भी सिर झूमने लगता है। लड़कों के स्ट्राइक करने पर शहर के लोग सरकारी बसों को जलाने लगते हैं। 'बुद्धि' से काम लें, तो भीड़ भीड़ न रहे, और वे ऐसे काम न करें।

(iv) 'उद्वेग' का काम मनुष्य को अन्धा बना देना है। प्रेम तथा क्रोध से लोग अन्धे हो जाते हैं, दूसरे के दृष्टि-कोण को देख ही नहीं सकते। भीड़ को जिस 'उद्वेग' ने पकड़ रखा है, उससे विरोधी भावना को भीड़ सुन ही नहीं सकती, उस 'उद्वेग' के अनुकूल जो बात होगी, उसे भीड़ झट ग्रहण कर लेगी। जितना 'उद्वेग' बढ़ेगा, उतना 'बुद्धि' लकवा खा जायगी। यही कारण है कि भीड़ में आदमी अन्धा होकर ऐसे काम कर बैठता है जिनके लिए पीछे पछताता है।

(v) भीड़ में 'संकेत-ग्रहण-योग्यता' (Suggestibility) तथा 'अनुकरण' (Imitation) बहुत बढ़ जाता है। लोग हँस रहे हों, तो हम हँसने लगते हैं, रो रहे हों, तो हमारे भी आँसू निकल आते हैं, डर के मारे भाग रहे हों, तो हम भी भागने लगते हैं, लूट रहे हों, तो बहुत-से भलेमानस भी लूट में शामिल हो जाते हैं।

(ख) उद्वेग की वृद्धि--भीड़ का पहला गुण 'विचार-शक्ति' (Intelligence) का कम हो जाना है, तो दूसरा गुण 'उद्वेग-शक्ति' (Emotionalism) का बढ़ जाना है। 'उद्वेग' की अवस्था में मनुष्य की सब भावनाएँ उबल कर बाहर निकलती हैं, इसलिए भीड़ में लोग बोलते नहीं चिल्लाते हैं, एक-दूसरे के पास ही खड़े नहीं होते, एक-दूसरे को घसीटते हैं, शोर-हो-हुल्ला मचाते हैं, तालियाँ पीटते हैं, कोई टीम जीत जाय, तो कैप्टन को कन्धे पर चढ़ा लेते हैं। कहने का मतलब यह कि भीड़ में 'उद्वेग-शक्ति' इतनी बढ़ जाती है कि भीड़ का व्यवहार साधारण तथा शान्त नहीं रहता, असाधारण हो जाता है। जब साधारण दुनिया का भी मनुष्य की इन्द्रियों पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है, तब इतने जबर्दस्त प्रदर्शन का उस पर बहुत ही गहरा असर क्यों नहीं पड़ेगा? इसी का परिणाम होता है कि मनुष्य भीड़ में मिलकर भीड़ का हो जाता है, और उसकी दबी हुई भावनाएँ, भीड़ में खुल जाती हैं।

(ग) शक्ति की भावना--भीड़ में मनुष्यों की संख्या बहुत अधिक होती है। इतनी भीड़ का अंग होने पर मनुष्य अपने में भीड़ की शक्ति अनुभव करने लगता है, और समझने लगता है कि अब मेरा मुकाबिला कौन कर सकता है? भीड़ अपने को सर्व-शक्तिमान् समझती है। राजाओं के महलों को इकला आदमी नहीं जला सकता, परन्तु भीड़ का अंग होने पर, वही आदमी जो इकला भाग खड़ा होता है, पुलिस के सामने महलों को दियासलाई लगाकर फूंक देता है। नेता लोग भीड़ को देख कर जो बातें कह जाते हैं, वे भीड़ की शक्ति न होने पर नहीं कह सकते, वे अपने में भीड़ की शक्ति देखने लगते हैं, इसी लिए अपने को सर्व-शक्तिमान् समझने लगते हैं।

(घ) उत्तर-दायित्व-हीनता--भीड़ में हर-एक जानता है कि भीड़ जो-कुछ करेगी उसका उत्तरदायित्व किसी एक व्यक्ति पर नहीं आयेगा, हर बात की

जिम्मेदारी सैंकड़ों-हजारों लोगों में बँट जायगी। इसके अतिरिक्त भीड़ में कोई किसी को जानता नहीं, इसलिए भी किसी को किसी बात का डर नहीं रहता। जिन व्यक्तियों में नैतिक भावना बहुत अधिक बढ़ी होती है, वे ही भीड़ में आकर भी अपना सन्तुलन नहीं खो देते, दूसरे लोग नैतिकता का चोला उतार कर परे फेंक देते हैं। जिस देश या जाति के व्यक्तियों में जितनी अधिक नैतिक-भावना होती है, जितनी अधिक उत्तरदायित्व की भावना होती है, वहाँ लोग भीड़ में रहते हुए भी उतना ही अपने पर काबू रखते ह। भारत में भीड़ बाग़-बग़ीचे को नष्ट कर देती है, इंग्लैण्ड में सम्राट् जार्ज की रजत-जयंती के अवसर पर राज-महल के सामने बड़ा भारी समारोह हुआ, परन्तु बग़ीचे के एक फूल को भी किसी ने हाथ नहीं लगाया।

(ङ) सहज-विश्वास—क्योंकि भीड़ किसी भी 'संकेत' को झट ग्रहण कर लेती है, इसलिए इसकी 'विश्वास-योग्यता' (Credulity) बढ़ जाती है। भीड़ में जो अफवाह फैला दी जाती है, वह आग की तेज़ी की तरह सारी भीड़ को व्याप लेती है। भीड़ में लोग निराधार बातों को सच्ची मान कर उत्पात मचाने लगते हैं।

(च) अस्थिरता—व्यवहार में 'अस्थिरता' (Instability) भीड़ का विशेष गुण है। अभी जिसे भीड़ सिर पर चढ़ा रही है, अगले ही क्षण उसका ख़ून भी बहा सकती है। आक्रमण के लिए आती हुई भीड़ पर गोली चल जाय, तो सब पाँव सिर पर रख कर भाग खड़े होते हैं। भीड़ के काँटे को इधर-से-उधर फेरने में देर नहीं लगती। भीड़ जिस आदमी को लूटने के लिए उमड़ पड़ी हो, वही आदमी अपने एक शब्द से उस पर ऐसा जादू डाल सकता है कि भीड़ उसका जुलूस निकालने लगे।

(छ) आवेगात्मकता—भीड़ 'आवेग' (Impulse) के पीछे चलती है। न यह अच्छी होती है, न बुरी, इसे जैसा बनाया जाय, बन जाती है। व्याख्याता भीड़ को लूट-मार के लिए भी प्रेरित कर सकता है, लूट-मार करती हुई भीड़ को इन बातों से रोक भी सकता है। भीड़ पर सामूहिक-निर्देश का असर होता है। यह कहना ग़लत है कि भीड़ सदा अनैतिकता की तरफ़ ही जाती है। भीड़ तो एक तैयार मसाला है, इससे अच्छी-बुरी दोनों प्रकार की रचना की जा सकती है।

(ज) सामाजिक-सौकर्य—जब भीड़ में अनेक आदमी इकट्ठे होते हैं, तब हर-एक व्यक्ति की काम करने की शक्ति बढ़ जाती है, वह कठिन काम को भी आसानी से कर सकता है। इस प्रक्रिया को समाज-शास्त्री 'सामाजिक-सौकय' (Social facilitation) कहते हैं। भीड़ में कन्धे-से-कन्धा भिड़ता है, लोग गर्दनें लम्बी करके, आँखें फाड़ कर, कानों पर जोर डालकर हर बात को जानने, देखने और सुनने का यत्न करते हैं, इसलिए भीड़ में हर-एक इन्द्रिय की कार्य-शक्ति बढ़ जाती है, 'सामाजिक-सौकर्य' का यही कारण है, हर इन्द्रिय की कार्य-शक्ति जो उस समय बढ़ी हुई होती है।

(झ) नेता का रौब—भीड़ का एक नेता होता है, भीड़ के कारण नेता की शक्ति होती है, वह भीड़ का आदर्श, भीड़ का हीरो होता है। भीड़ का प्रत्येक व्यक्ति नेता के साथ अपनी 'अभिन्नता' (Identification) स्थापित कर लेता है, अतः नेता की शक्ति भीड़ का प्रत्येक व्यक्ति अपने में देखने लगता है। नेता भी भीड़ के प्रत्येक व्यक्ति में अपना 'विस्तार' (Projection) देखने लगता है, इस-लिए सब की मिली हुई शक्ति को अपनी शक्ति देखने लगता है। ये दोनों प्रक्रियाएँ, 'अभिन्नता' (Identification) तथा 'विस्तार' (Projection) नेता के रौब के कारण होती हैं। नेता का रौब 'प्रभाव-संकेत' (Prestige suggestion) द्वारा भीड़ को जिधर चाहता है, मोड़ देता है।

(ञ) एक-दूसरे से वेग ग्रहण करना—भीड़ में हर-एक व्यक्ति दूसरे को वेग देता है। जैसे ध्वनि-विस्तारक-यन्त्र द्वारा ध्वनि फैल जाती है, वैसे भीड़ में एक-दूसरे के सम्पर्क में हर बात में तेजी आ जाती है। संकीर्तन में ताल देने और सामूहिक भजनों से वेग बढ़ जाता है। वेग को बढ़ाने के लिए ही बाजे, ढोल, घंटे बजाये जाते हैं, नारे लगाये जाते हैं, जय-घोष किये जाते हैं। जब कहीं से कोई भीड़ नारे लगाती हुई आगे बढ़ती है, तब सोते उठ बैठते हैं, बैठे हुए भाग कर सड़क पर आ खड़े होते हैं, जो नारे लगा रहे हैं, उनके जोश का तो कहना ही क्या है? धार्मिक तथा राजनैतिक नेता संकीर्तनों, जुलूसों तथा नारों का महत्त्व खूब जानते हैं।

४. भीड़ का व्यवहार

भीड़ के वर्गीकरण में हम देख चुके हैं कि भीड़ चार किस्म की होती है। 'एक-सी' तथा 'एक-ही' रुचि के 'केन्द्रित' तथा 'अकेन्द्रित' होने के कारण भीड़ के चार प्रकार हैं। जिस भीड़ का ध्यान या रुचि 'अकेन्द्रित' है, उसका मनोवैज्ञानिक या सामाजिक महत्त्व कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ, गली-कूचे में, छुट्टी के समय, दीवाली मनाने के लिए या अन्य कोई जातीय-महोत्सव मनाने के लिए फिर रही भीड़ का ध्यान किसी विशेष बात पर केन्द्रित नहीं होता। ऐसी भीड़ का कोई सामूहिक-व्यवहार नहीं होता। हमारे अध्ययन के लिए आवश्यक वह भीड़ है जिसका ध्यान या जिसकी रुचि किसी विशेष बात पर केन्द्रित होती है। ऐसी भीड़ दो ही हो सकती हैं—'केन्द्रित तथा एक-सी रुचिवाली भीड़' (Focussed and Like-interest Crowd) और 'केन्द्रित तथा एक-ही रुचिवाली भीड़' (Focussed and Common-interest Crowd)। इन दोनों में 'केन्द्रित'-शब्द तो दोनों में समान है, भेद सिर्फ़ 'एक-सी' (Like) और 'एक-ही' (Common) में है। इसका यह मतलब हुआ कि भीड़ का व्यवहार तभी हो सकता है जब उसका ध्यान या रुचि किसी बात पर 'केन्द्रित' हो जाय, अगर ध्यान या रुचि 'अकेन्द्रित' हो गई, तो भीड़ का कोई व्यवहार नहीं हो सकता। ध्यान 'केन्द्रित' होन पर भी 'एक-सी' और 'एक-ही' का भेद ध्यान देने योग्य है।

जब किसी भीड़ की 'एक-सी' रुचि होती है, तब सब का व्यवहार अलग-अलग होता है, एक-समान व्यवहार के लिए 'एक-सी' के स्थान में 'एक-ही' रुचि का होना आवश्यक है। भीड़ के व्यवहार के लिए 'एक-सी' की जगह 'एक-ही' रुचि का महत्त्व है। बाज़ार में इधर-उधर फिर रही भीड़ की रुचि का कोई केन्द्र नहीं है, इतने में कोई विशेष घटना हो जाती है, कहीं आग लग जाती है, सब का ध्यान केन्द्रित हो जाता है, परन्तु सब की अपनी-अपनी जिज्ञासा है, 'एक-सी' जिज्ञासा तो है, 'एक-ही' जिज्ञासा नहीं है। आग की लपटें बढ़ने लगती हैं, इतने में पता चलता है कि घर में एक छोटा-सा बच्चा आग में घिर गया है। भीड़ में कुछ उत्साही युवक हैं, वे सब मकान में घुस पड़ते हैं, बच्चे को बचाने का यत्न करते हैं, इन सब का यत्न 'एक-सा' न रहकर 'एक-ही' हो जाता है। जब किसी भीड़ का 'एक-ही' उद्देश्य हो जाता है, तब उसकी शक्ति अपरिमित हो जाती है। 'एक-सी' इच्छावाली भीड़ में दूसरों की मौजूदगी हर व्यक्ति की इच्छा के पूर्ण होने में रुकावट का काम करती है, 'एक-ही' इच्छा वाली भीड़ में दूसरों की मौजूदगी हर व्यक्ति की इच्छा की पूर्त्ति में सहायक का काम करती है। रेलगाड़ी पर चढ़ने की सब मुसाफ़िरों की 'एक-सी' इच्छा है, परन्तु हर-एक चाहता है दूसरा न होता तो अच्छा था ताकि वह स्वयं आसानी से चढ़ सकता, परन्तु उसी रेल गाड़ी पर चढ़ने वाले एक ही बरात के आदमी यह चाहते हैं कि जितने बराती हों, उतना ही अच्छा है ताकि सब एक-दूसरे को गाड़ी पर चढ़ने में मदद करें, वे मदद इसलिए करते हैं क्योंकि उन सब की 'एक-ही' इच्छा है। 'एक-ही' इच्छा वाली भीड़ में कोई उद्देश्य होता है जो सब को एक-दूसरे के साथ बाँधे रखता है, वे सब अपने को 'मैं' न कहकर 'हम' कहते हैं। 'हम' की भावना को लेकर जब भीड़ उठ खड़ी होती है, तब बड़े-बड़े राजाओं के सिंहासन डोल जाते हैं, उस समय जनता वास्तव में जनता-जनार्दन का रूप धारण कर लेती है, इसी को 'आवाज़-ए ख़लक नक्कारये ख़ुदा' (Vox Populi Vox Dei) कहते हैं। भीड़ के व्यवहार में वे सब नियम काम करते हैं, जिनका हम भीड़ के 'विशेष-गुणों' में वर्णन कर आये हैं। भीड़ में बुद्धि से काम नहीं होता, भावना से, उद्वेग से काम होता है, भावना आग की लपट की तरह फैलती है, हर-एक आदमी की भावना दूसरे की मौजूदगी से तीव्र हो जाती है, और जब 'भीड़' (Crowd) किसी काम को कर गुज़रने पर आमादा हो जाती है, तब उसी को 'मौब' (Mob) कहा जाता है।

५. भीड़ के व्यवहार का आधार

भीड़ में मनुष्य असाधारण-व्यवहार करने लगता है। भीड़ के इस असाधारण-व्यवहार को समझने के लिए विद्वानों ने भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की हैं। उनमें से कुछ कल्पनाएँ निम्न हैं :—

(क) 'समूह-मानस' की कल्पना (Group-mind Thesis)—ले बौन (Le Bon) तथा मकडूगल (McDougall) आदि मनोवैज्ञानिकों का विचार

था कि समूह का व्यक्ति से अतिरिक्त एक अलग मन होता है। 'समूह' में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की पृथक्-सत्ता को खो देता है, उसे खोकर एक सामूहिक-चेतना उत्पन्न हो जाती है, हर व्यक्ति का अलग-अलग मानस दूसरे व्यक्ति के मानस के साथ घुल-मिल जाता है, इनके मिलने से जो मानस उत्पन्न होता है, वह समूह का शासन करता है। 'समूह' का मानस और 'भीड़' का मानस एक ही बात है, 'समूह' संगठित वस्तु है, 'भीड़' संगठित नहीं है। प्रत्येक 'समूह' में, प्रत्येक 'भीड़' में झट-से समूह का मानस उत्पन्न हो जाता है, वह व्यक्ति के मानस से भिन्न होता है, और क्योंकि वह व्यक्तियों के मानस के मिलने से बनता है, इसलिए उसमें समूह का-सा अपरिमित बल होता है। ३०वें अध्याय में 'समाज तथा व्यक्ति' पर लिखते हुए हम दर्शा आये हैं कि व्यक्तियों से अलग समाज की कोई पृथक् सत्ता नहीं है, व्यक्ति ही समाज या समूह बनाते हैं, इसलिए 'समूह-मानस की कल्पना' ठीक कल्पना नहीं है।

(ख) 'निरुद्ध-प्रेरणाओं' की कल्पना (Repressed Drives Thesis)--फ्रॉयड (Freud) तथा उसके अनुयायियों का कहना है कि भीड़ के व्यवहार में व्यक्तियों की निरुद्ध-इच्छाओं के ऊपर पड़ा हुआ प्रतिबन्ध हट जाता है, इसलिए व्यक्तियों की सब दबी हुई इच्छाएँ प्रकट हो जाती हैं। मनुष्य समाज में पला है। समाज में कुछ बातें ठीक, और कुछ बुरी मानी जाती हैं। जिन बातों को समाज बुरा मानता है, उन्हें व्यक्ति दबा देता है। परन्तु अन्दर दबकर भी वे दबती नहीं, निकलने का मौका देखती रहती हैं। इन इच्छाओं को दबाने वाला एक पहरेदार हर समय मन पर बैठा रहता है। इसे 'प्रतिबन्धक' (Censor) कहते हैं। सोते समय मनुष्य विचार नहीं कर सकता, उस समय 'प्रतिबन्धक' (Censor) मानो हट जाता है, इसी लिए जिन इच्छाओं को मनुष्य जागते में समाज के भय से पूरा नहीं करता उन्हें स्वप्नों में पूरा करता है। जैसे, स्वप्न में, मनुष्य की निरुद्ध-प्रेरणाएँ (Repressed desires) पूरी होती हैं, वैसे भीड़ में भी किसी का डर नहीं रहता, सामाजिक-प्रतिबन्ध हट जाता है, समाज ही मानो व्यक्ति को खुल कर खेल लेने की छुट्टी दे देता है, इसलिए भीड़ में व्यक्ति का व्यवहार असाधारण हो जाता है। कभी-कभी पुलिस के आदमी भी जनता पर खुल कर गोलियों की बौछार करते हैं। वे भी तो मनुष्य हैं, उनकी भी 'निरुद्ध-प्रेरणाएँ' हैं, कहने को वे कहते हैं उन्होंने अपनी रक्षा के लिए गोली चलाई, परन्तु पुलिस का उत्पात भीड़ के उत्पात का-सा होता है, और क्योंकि उस के हाथ में शस्त्र होता है, अतः वह उत्पात भीड़ के उत्पात को मात कर देता है।

(ग) 'सांस्कृतिक-पर्यावरण' की कल्पना (Cultural-conditions Thesis)--एक कल्पना यह है कि किसी देश या समूह की संस्कृति भीड़ के व्यवहार पर बहुत भारी प्रभाव डालती है। प्राथमिक-जातियों में कई ऐसे समूह हैं, जो समय-समय पर जो जी में आये वह सब कर लेने की छूट देते हैं, कई ऐसे समूह हैं, जो किसी प्रकार की छूट नहीं देते। अगर कोई समाज एसा है जिसमें

व्यक्ति की अन्तरात्मा तक यह बात प्रवेश पा गई है कि बड़ों का अनादर ठीक नहीं, तो वह क्रोध में भी और सब-कुछ कर जायगा, बड़ों का अनादर नहीं करेगा। १९३८ में एच० जी० वेल्स के एक उपन्यास के आधार पर मार्स-नक्षत्र से आक्रमण को आधार बना कर रेडियो से एक कथानक का विस्तार किया गया। लोग सचमुच समझने लगे कि मार्स-नक्षत्र से आक्रमण होने वाला है, घबड़ा गये, परेशान हो गये। ऐसा व्यवहार उन्होंने क्यों किया? इसलिए, क्योंकि उन दिनों यूरोप में लड़ाई के बादल मंडरा रहे थे, अपने समय के सामाजिक या सांस्कृतिक पर्यावरण के परिणाम-स्वरूप उनका ऐसा व्यवहार हो सकना संभव हुआ। अगर लड़ाई के बादल चारों तरफ़ न छाये होते, तब ऐसा थोड़े ही हो सकता। १९३४ में फ्रांस में राजनैतिक दंगे हुए, सम्पत्ति का महानाश हुआ, परन्तु जान एक की भी न गई, इसलिए न गई क्योंकि फ्रांस के कैथोलिक लोगों की रग-रग में हत्या करना भारी पाप था। जिन देशों की सभ्यता, संस्कृति में ऐसी भावना नहीं होती, उनमें राजनैतिक दंगा हुआ नहीं कि ख़ून की नदियाँ बही नहीं। सांस्कृतिक-पर्यावरण भीड़ का व्यवहार निश्चित करता है।

(घ) भाव-संचार की कल्पना (Mimesis-Thesis)—समूह अथवा भीड़ के असाधारण व्यवहार की अन्तिम कल्पना यह है कि समूह में नेता के 'ज्ञान', 'इच्छा' तथा 'क्रिया' का भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में 'भाव-संचार' (Mimesis) हो जाता है। यह भाव-संचार निम्न प्रकार होता है :—

(i) 'समूह' में पहुँच कर हम अपने 'ज्ञान' (Knowing) को मानो खो-सा देते हैं, 'समूह' के विचारों में ही मानो बहने लगते हैं। व्याख्याता जो विचार हमें देता जाता है उन्हें हम प्यासे की तरह पीते जाते हैं, उनका हम में 'संचार' होता चला जाता है। इस प्रकार 'समूह' या 'भीड़' में नेता के विचारों को लेते चले जाना 'निर्देशों' (Suggestions) द्वारा होता है। 'निर्देश' के विषय में हम ३६वें अध्याय में विस्तार-पूर्वक लिख आये हैं।

(ii) जिस प्रकार 'समूह' में हम अपने विचारों को खो देते हैं, इसी प्रकार 'समूह' में हम अपनी 'इच्छा' (Feeling) को खोकर दूसरे की 'इच्छा' में लीन कर देते हैं। कोई दुःखी हो रहा है, तो हम दुःखी होने लगते हैं, कोई सुखी है, तो हम सुखी होते हैं, दूसरों की 'इच्छा' का हममें 'संचार' हो जाता है। इस-प्रकार 'समूह' या 'भीड़' में नेता के भावों, उसकी इच्छाओं, उसकी उमंगों को लेते चले जाना 'सहानुभूति' (Sympathy) के द्वारा होता है। 'सहानुभूति' के विषय में हम ३६वें अध्याय में विस्तार-पूर्वक लिख आये हैं।

(iii) 'विचार' तथा 'इच्छा' के विषय में जो-कुछ कहा गया, वही 'क्रिया' (Action) के विषय में समझ लेना चाहिए। 'समूह' में पहुँच कर हम वैसा ही करने लगते हैं, जैसा 'समूह' के दूसरे लोग करते हैं, दूसरों की 'क्रिया' का हममें 'संचार' हो जाता है। इस प्रकार 'समूह' या 'भीड़' में नेता के पीछे चलकर जैसा

वह करता है वैसा करते चले जाना 'अनुकरण' (Imitation) के द्वारा होता है। 'अनुकरण' के विषय में भी हम ३६वें अध्याय में विस्तार-पूर्वक लिख आये हैं।

'निर्देश' (Suggestion), 'सहानुभूति' (Sympathy) तथा 'अनुकरण' (Imitation)—ये तीनों 'भाव-संचार' (Mimesis) की प्रक्रिया द्वारा समूह या भीड़ के व्यवहार को बनाते हैं।

६. श्रोता-लोग (Audience)

(क) भीड़ तथा श्रोता—समूह के हमने दो भाग किये थे—'संगठित' (Organised) तथा 'असंगठित' (Un-organised)। इनमें से असंगठित-समूह को भीड़ कहते हैं, और उसी की हमने अब तक व्याख्या की। 'संगठित-समूह' कई तरह के हो सकते हैं—सभा, समिति, समुदाय, परिवार, और न जाने क्या-क्या। इन्हीं संगठित-समूहों में एक समूह वह है जिसका सम्बन्ध भीड़ के साथ तो है, परन्तु वह भीड़ की तरह का असंगठित-समूह नहीं है। इस समूह को 'श्रोता-लोग' (Audience) कहते हैं। श्रोता-लोग भी एक तरह की भीड़ ही होते हैं, परन्तु उनमें भीड़ की-सी अव्यवस्था, असंगठन नहीं होता। भीड़ का कोई समय निश्चित नहीं होता, कोई पूर्व-निश्चित स्थान नहीं होता, श्रोता-लोगों के इकट्ठे होने का समय निश्चित होता है, कहाँ वे लोग इकट्ठे होंगे—यह स्थान भी निश्चित होता है, परन्तु इस प्रकार संगठित होता हुआ भी वह भीड़ से ही मिलता-जुलता होता है।

(ख) श्रोताओं का वर्गीकरण—श्रोता-लोगों को किंबल यंग ने तीन भागों में बाँटा है—जिज्ञासु श्रोता (Information seeking), मनोरंजन चाहन वाले श्रोता (Recreation seeking) तथा वाद-विवाद करने वाले श्रोता (Conversational audience)। इन तीनों का अर्थ इन के नामों से स्पष्ट है।

(ग) श्रोताओं की विशेषता—किसी नेता का व्याख्यान है, तो किसी निश्चित उद्देश्य से श्रोताओं को सभा में बुलाया जायगा, सभा के समय की, स्थान की सूचना पहले से दी जायगी। सभा का स्थान श्रोताओं की संख्या के अनुसार निर्धारित किया जायगा। बहुत आदमी होंगे, तो बड़ा स्थान, थोड़े होंगे तो छोटा स्थान चुना जायगा। रोशनी का प्रबन्ध होगा। व्याख्याता को ऐसी जगह बैठाया जायगा जहाँ से वह सब को दीख सके। व्याख्याता का पुष्प-माला आदि से सम्मान किया जायगा ताकि श्रोताओं पर उसका पहले से ही प्रभाव पड़ जाय, उसकी प्रशंसा की जायगी। वक्ता को भी भाषण इस तरह देना होगा जिसका श्रोताओं पर प्रभाव पड़े, श्रोताओं के मानसिक-स्तर के अनुसार वक्ता को चलना होगा। गाँव वालों के सामने दार्शनिक बातें और दार्शनिक श्रोताओं के सामने गाँव की-सी बातें नहीं करनी होंगी।

प्रश्न

१. भीड़ का वर्गीकरण कीजिए और इस वर्गीकरण में चारों प्रकार की भीड़ के रूप को स्पष्ट तौर पर समझाइये।

२. भीड़ के कौन-कौन-से 'विशेष-गुण' (Characteristics) होते हैं ?

३. भीड़ के व्यवहार के विषय में आप क्या जानते हैं ?

४. भीड़ के व्यवहार के विषय में क्या-क्या कल्पनाएँ हैं ?

५. 'भीड़' तथा 'श्रोताओं' का भेद स्पष्ट कीजिए।

परीक्षाओं में आये हुए प्रश्न

१. भीड़ की परिभाषा कीजिए। भीड़ में 'विचारों' की अपेक्षा 'भावना' क्यों अधिक तेज़ी से फैलती है ? (आगरा, १९५४)

२. भीड़ में मनुष्य का व्यवहार जब वह भीड़ में नहीं होता उस समय के व्यवहार से भिन्न क्यों होता है ? (आगरा, १९५५)

३. जिस किसी भीड़ को देखने का आप को अवसर मिला हो उसका विस्तृत वर्णन कीजिए। (आगरा, १९५५)

४. भीड़ के व्यवहार में सामाजिक-पर्यावरण से सम्बन्ध रखने वाले कौन-कौन से मनोवैज्ञानिक तत्त्व काम कर रहे होते हैं ? (राजपूताना, १९५४)

GLOSSARY AND WORD-INDEX

(शब्द-सूची तथा शब्दानुक्रमणिका)

नामानुक्रमणिका

(NAME INDEX)

अशुद्धि-शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१४	२६	'समान-रुधिर-परिवार'	'मातृसत्ताक-परिवार' में 'समान-रुधिर-परिवार'...
५७७	१५,३०	'काम-वासना'	'काम-भावना'

सहायक-ग्रन्थ-सूची

जो विद्यार्थी इस विषय का विस्तृत तथा गहराई से अध्ययन करना चाहें उनके लिये यहां उन पुस्तकों की सूची दी जा रही है जो 'समाज-शास्त्र' के अध्ययन में सहायक हो सकती हैं :—

1. GENERAL BOOKS ON SOCIOLOGY

Bernard, L.L. : Introduction to Sociology
Bugardus : Sociology
Cuber, John F. : Sociology
Davis and Burnes : Sociology
Ellwood, Charles A. : Social Psychology
Fairchild, H.P. : Dictionary of Sociology
Gurvitch and Moore : 20th Century Sociology
Gillin and Gillin : Cultural Sociology
Ginsberg, M. : Sociology
Groves and Moore : An Introduction to Sociology
Hankins, F.H. Introduction to the Study of Society
Hayes : Sociology
Hiller : Principles of Sociology
Howard W. Odhum : Understanding Society
Kailashnath Sharma : समाज-शास्त्र के मूल-सिद्धान्त
La Piere, Richard T. : Sociology
Leopold and Becker : Systematic Sociology
Lundberg, G.A. : Foundations of Sociology
MacIver, R.M. : Society
Ogburn and Nimkoff : Handbook of Sociology
Park and Burgess : Introduction to the Science of Sociology
Ram Behari Singh : समाज-शास्त्र की रूप रेखा
Rivers : Social Organisation
Ross, Edward A. : New Age Sociology
Sumner and Keller : Science of Society
Saligman and Johnson : Encyclopaedia of Social Sciences
Sutherland and Woodward : Introductory Sociology
Wallis and Willey : Readings in Sociology
Young, Kimball : Sociology

2. PRIMARY CONCEPTS

Barnes, H. E. : An Introduction to the History of Sociology
Barnes, H. E., Becker, H. : Social Thought from Lore to Science
Eubank, E. E. : The Concepts of Sociology
Eubank, E. E. : Contemporary Social Theory
Gurvitch and Moore : 20th Century Sociology
Panunzio, C. : Major Social Institutions

Saligman and Johnson : Encyclopaedia of Social Sciences
Sumner, W.G. : Folkways
Sumner and Keller : Science of Society
Thomas, W.I. : Primitive Behaviour

3. GEOGRAPHY AND SOCIETY

Huntington, E. : Civilization and Climate
—World Power and Evolution
—Main Springs of Civilization
Mills, C.A. : Climate Makes the Man
Semple, E.C. : Influence of Geographic Environment
Taylor, G. : Environment and Race
Vidal De La Blache P. : Principles of Human Geography
Wright, J.K. : The Geographical Basis of European History

4. URBAN AND RURAL LIFE AND ECOLOGY

Alihan, Milla A. : Social Ecology
Altekar, A. S. : History of Village Communities in India
Bews, J.W. : Human Ecology
Chase Stuart : Democracy Under Pressure
Gillette, J.M. : Rural Sociology
Gist, Noel P. and L.A. Halbert : Urban Society
Kolb, J. H. and E. De S. Brunner : A study of Rural Sociology
Morgan, A. : The Small Community
Mulford, H. : Country Planning
Mumford, Lewis : The Culture of Cities
Sanderson, D. L. : The Rural Community
Sims, Newell L. : Elements of Rural Sociology
Taylor, C. C. : Rural Sociology
Zimmerman, C. C. : The Changing Community

5. HEREDITY AND ENVIRONMENT

Dunn and Dobzhansky : Heredity, Race and Society
Hogbern L. : Nature and Nurture
Holmes, S. J. : Human Genetics and its Social Import
Jennings, H.S. : The Biological Basis of Human Nature
Klineberg, O. : Social Psychology
Newman, H., : Twins : A Study of Heredity and Environment
Pearson, K. : Eugenics : Laboratory Lecture Series
Schienfeld, A. : You are Heredity
Schwesinger, G. C. : Heredity and Environment
Woodworth, E. S. : Heredity and Environment
Young K. : Personality and Problems of Adjustment

6. PRIMITIVE LIFE AND RACES

Bawden, Arthur T. : Man's Physical Universe
Guha, B.S. : Racial Elements of Population
Hooton, E.A. : Up from the Ape

Howells, William : Mankind So far
Montagu, M.F. Ashley : Introduction to Physical Anthropology
MacCurdy, G.C. : Editor, Early Man
Majumdar, D.N. : The Matrix of Indian Culture
Majumdar, D.N. : Races and Culture of India
Snider, Luther C. : Earth History

7. BIOLOGICAL FACTORS OF SOCIAL CHANGE

Boas, F. : The Mind of Primitive Man
Carr-Saunders, A.M. : The Biological Basis of Human Nature
Carr-Saunders, : World Population
Darwin, C. : The Origin of Species
Hankins, F. H. : The Racial Basis of Civilization
Hogbern, L. : Nature and Nurture
Huxley, J. : Essay of a Biologist
Huxley, T.H. : Evolution and Ethics
Jennings, H.S. : The Biological Basis of Human Nature
Morgan, C. L. : Habit and Instinct
Morgan, T.H. : The Scientific Basis of Evolution

8. TECHNOLOGICAL FACTORS OF SOCIAL CHANGE

Beard, W. : Government and Technology
Chase, S. : Men and Machines
Giedon, S. : Mechanization Takes Command
Gilfillan, S. C. : The Sociology of Invention
Marx and Engels : The Communist Manifesto
McKee and Rosen : Technology and Society
Mumford, L. : Technics and Civilization
Ogburn, W. F. : Social Change
Ogburn and Nimkoff : Sociology
Usher, A.P. : A History of Mechanical Inventions

9. CULTURAL FACTORS OF SOCIAL CHANGE

Barnes, H.E. : Society in Transition
Benedict, R. : Patterns of Culture
Chapin, F.S. : Cultural Change
MacIver, R.M. : Social Causation
Northrop, F.S.C. : The Meeting of East and West
Ogburn, W. F. : Social Change
Schneider, J. : "Cultural lag, What Is It" in American Sociological Review (1954), 786-791.
Sorokin, P.A. : Social and Cultural Dynamics
Toynbee, A.J. : Civilization on Trial
Weber, M. : The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism

10. SOCIAL CHANGE

Cooley, C.H. : Sociological Theory and Social Research (Chap.ix)
Ellwood, C.A. : Methods in Sociology
Lundberg, G.A. : Foundations of Sociology

Lundberg, G.A. : Can Science Save Us
MacIver, R. M. : Social Causation
Sorokin, P.A. : Social and Cultural Dynamics (Vol. I, Chap, I and Vol. iv, Chap.).

11. SOCIAL PROGRESS

Becker, C. : "Progress" (Encyclo. of Social Sciences)
Bury, J.B. : The Idea of Progress
Folsom J.K. : Culture and Social Progress
Huxley, J. : Essays of a Biologist
Morgan, C.L. : Emergent Evolution
Sims, N.L.R. : The Problem of Social Change
Todd, A.J. : Theories of Social Progress

12. SOCIAL EVOLUTION

Lowie, R.H. : The Origin of the State
MacIver, R.M. : Social Causation
Tozzer, A.M. : Social Origins and Social Continuities

13. FAMILY

Baber, Ray E. : Marriage and the Family
Briffault, R. : The Mothers
Burgess and Locke : The Family
Elmer, M.C. : The Sociology of the Family
Folsom, J.K. : The Family and Democratic Society
Foster, Robert G. : Marriage and Family Relationships
Goodsell, W. : A History of Marriage and Family
Howard, G.E. : History of Matrimonial Institutions
Lichtenberger, J.P. : Divorce
Waller, W.W. : The family
Westermarch, E.A. : Future of Marriage in Western Civilization
Zimmerman, Carle C. : Family and Civilization

14. GROUPS

Bernard, L.L. : Social Control
Cooley, C.H. : Social Organisation
Cooley, C. H. : Human Nature and the Social Order
Ginsberg, M. : The Psychology of Society
Ginsberg, M. : Sociology
MacIver, R.M. : Society
MacIver, R.M. : Community
Shaler, N.S. : The Neighbour
Sumner, W.G. : Folkways
Sumner and Keller : The Science of Society

15. POLITICAL ASSOCIATIONS [OR INSTITUTIONS]

Collinwood, R.G. : The New Leviathan
Commons, J.R. : A Sociological View of Sovereignty
Fowler, W.W. : The City State of the Greeks and Romans

Laski, H.J. : A Grammar of Politics
Laski, H.J. : The State in Theory and Practice
Lasswell, H.D. : Politics : Who gets What, When, How
Lindsay, A.D. : The Modern Democratic State
Lowie, R.H. : The Origin of the State
MacIver, R.M. : The Modern State
Marriott, Sir J.A.R. Dictatorship and Democracy
Michels, R. : Political Parties
Maxwell, Bertram W. : The Soviet State

16. ECONOMIC ASSOCIATIONS [OR INSTITUTIONS]

Arnold, Thurman W. : Cartels or Free Enterprise
Beaglehole, E. : Property, A study in Social Psychology
Bowman, D.O. : Public Control of Labour Relations
Burns, C.D. : Industry and Civilization
Commons, J.R. : The Legal Foundations of Capitalism.
Green, William : Labour and Democracy
Hicks, J.R. : The Social Framework
Hobson, T.A. : Property and Impropriety
Lauterbach, Albert : Economic Security and Individual Freedom
Lokanathan, P.S. : Industrialization
Mehta, Asoka : Socialism and Peasantry
Mehta, Asoka : Democratic Socialism
Mukerjee, R.K. : Indian Working Class
Neugroschel, A. : The Control of Industrial Combinations
Patterson, S.H. : Social Aspects of Industry
Schumpeter, J. : Socialism, Capitalism and Democracy
Thurnwald, R. : Economics in Primitive Community
Veblen, T. : The Theory of Business Enterprise
Vijayaraghvachari Sir T. : Land and its Problem
Williams, G. : The Price of Social Security

17. RELIGIOUS ASSOCIATIONS [OR INSTITUTIONS]

Durkheim, E. : Elementary Forms of Religious Life
Eddy, Sherwood : Religion and Social Justice
Freud, S. : The Future of an Illusion
Hough, Horace T. : What Religion Is and Does
Lowie, R.H. : Primitive Religion
Radin, P. : Primitive Religion
Taylor, Graham : Religion in Social Action
Wach, Joachim : Sociology of Religion
Yinger, J. Milton : Religion in the Struggle for Power

18. CULTURAL ASSOCIATIONS [OR INSTITUTIONS)

Calverton, V.F. : The Making of Man
Chapin, F. Stuart : Cultural Change
Ellwood, Charles A. : Cultural Evolution
Folsom, G.K. : Culture and Social Progress

Kroeber, A.L. : Configurations of Culture Growth
Linton, Ralph C. : The Cultural Background of Personality
Lowie, Robert H. : Are We Civilized?
Mookerji, D. P. : Modern Indian Culture
Malinowski, B. M. : The Dynamics of Culture Change
Natarajan, S. : Social Problems
Rodin Paul : Social Anthropology
Reuter, E. B. Editor : Race and Culture Contacts
Smith, G. Elliott, and others : Culture

19. SOCIAL DISORGANISATION

Barnes, Harry and Teeters : New Horizons in Criminology
Bossard, J.H.S. : Social Change and Social Problems
Brown, L.G. : Social Pathology
Carr-Saunders, Manuheim and Rhodes : Young Offenders
Coyle, Grace : Group Experience and Social Values
Elliott, Mabel and Francis Merrill : Social Disorganisation
Faris, Robert E.L. : Social Disorganisation
Frank, Lawrence K. : Society as the Patient
Gillin, John M. : Social Pathology
Hall, J. : Theft, Law and Society
Mowrer, E.R. : Disorganisation, Personal and Social
Mannheim, K. : Man and Society in an Age of Reconstruction
Malinowski, B. : Crime and Custom in Savage Society
Queen Bodenhafer and Harper : Social Organisation and Disorganisation
Queen and Gruener : Social Pathology
Slavson, S.R. : An Introduction to Group Therapy
Von Hentig, Hans : Crime, Causes and Conditions

20. COLLECTIVE BEHAVIOUR

Bogardus, Emory S. : Fundamentals of Social Psychology
Cooley, C.H. : Social Organisation
Dewey, J. : Human Nature and Conduct
Doob, L.W. : Propaganda
Ginsberg, M. : The Psychology of Society
Jennings, Helen H. : Leadership and Isolation
La Piere, R.T. : Collective Behaviour
Lasswell, H.D. : Propaganda Technique in the World War
Lazarsfeld, P.F. : Radio and the Printed Page
Le Bon G. : Crowd—A Study of the Popular Mind
Lippmann, W. : Public Opinion
Ross, E.A. : Social Control
Sorokin, P. : Social Mobility
Tead, Ordway : The Art of Leadership
Young K. : Sourcebook of Social Psychology

University of Agra
B. A. EXAMINATION
Papers on Elements of Sociology
(1951)

(1) Explain and illustrate briefly the meaning of *five* of the following expressions:—

(*a*) Role.
(*b*) Endogamy.
(*c*) Cultural lag.
(*d*) Folkways.
(*e*) Race.
(*f*) Primary Group.
(*g*) Social Mobility.

(2) What are the social consequences of the heterogeneous population and the impersonality of social relations in the urban community?

(3) "Social groups are held together by common values and mutual obligations and expectations." Illustrate and explain the meaning of the statement.

(4) Outline a plan of study of a contemporary Indian Social movement, showing what problems you would pose, what kinds of data you would try to get, and what results you would expect.

(5) Explain briefly the following phenomena:

(*a*) Propaganda is more effective among the urban masses than among a stable agricultural population.

(*b*) The persecution and proscription of religious sects or new political parties appears on the whole to strengthen rather than weaken them.

(*c*) In times ef crisis men are notoriously ready to follow demagogues.

(*d*) A "saint cult" emerges in every enduring and persisting social movement.

(*e*) The speed with which a fashion runs its course has greatly increased with modern civilization.

(6) Discuss the concept of Status. How is it determined? What is its significance for the individual? or

"Society is less interested in the individual than in the position that he occupies." Discuss this statement.

(7) Does heredity have the same significance for physical appearance, intelligence and personality? Give reasons for your opinion.

(8) Why is an understanding of a person's life-situations necessary to an understanding of his personality?

(9) What do you consider the five most important achievements of prehistoric man?

(1952)

1. Describe the economic incentives in the life of early man. Which of them persist to-day?

2. Name four instincts and their corresponding emotions. Mention which you consider the most powerful, giving reasons.

3. Distinguish carefully between primary and secondary groups in their influence on the individual.

4. "Society is a moving equilibrium of integration and differentiation". What do you understand by this statement?

5. What are the latest conclusions regarding 'race'? What other term is preferable, and why?

6. Explain *either* natural selection *or* the struggle for existence.

7. What are the basic needs of man, and how are they met by social institutions?

8. What is the *content* of culture? Give a framework for facts regarding the culture of any group you wish to study.

9. State the ecological factors which influence the life of persons in your town or village.

10. "Sociology is concerned, among other things, with the quantity and quality of the populations which are its raw material." Discuss this statement.

11. What factors, in your judgement, are making for social disorganisation at the present time.

(1953)

1. What exactly do you mean by community? Distinguish it from society.

2. Evaluate the comparative role of rivers and mountains in the determination of social forms and processes.

3. What is social inheritance? Bring out the importance of language in this connection.

4. Discuss the relation between economic and religious factors. Give Indian examples.

5. Is there a conflict between the caste system and democracy? If so, how is it to be resolved?

6. How does imitation work? Illustrate each process.

7. Describe the duties of the Probation Officer in the treatment of juvenile crime.

8. Analyze the causes of unemployment, if any, in Indian agriculture. Suggest major remedies.

9. What makes up a nation? Is there a national character?

10. Write notes on *any two* of the following:—

(*a*) Urbanization.
(*b*) Race.

(1954)

1. Discuss fully the influence of geographical environment on food habits, dress patterns, religious practices and forms of Government.

2. What are the social causes of group conflicts? Illustrate a conflict between two groups of similar strength.

3. Define a crowd. Why do feelings run through a crowd more readily than ideas?

4. What are the qualities and social implications of good leadership? Is youth reared in wealthy homes or in poor homes the more likely to become good leaders?

5. Distinguish between culture and civilisation? Mention some quantitative as well as qualitative measurements of cultural progress.

6. What, in human nature, is the basis of religion? Mention the advantages and disadvantages inherent in religious institutions.

7. Explain social disorganisation. What is your view of the present status of women as related to the disorganisation of the joint family in India?

8. Define a village community. Mention the regional, economic and social factors which contribute to the growth of permanent village communities.

9. Bring out clearly the distinction between : (*a*) Community and society, (*b*) Caste and race, (*e*) Country and nation.

10. Explain and illustrate from your own experience any two of the following:—

(*a*) Social reform must be sympathetic.
(*b*) Human nature is a group nature.
(*c*) Not heredity but environment conditions social change.

(*d*) Economic poverty is the result of social incompetence.

(*e*) Scientific method is inapplicable to the study of human society.

(1955—Old Scheme)

1. How can Sociology be scientific when the laboratory method can seldom or never be applied? Give reasons.

2. Indicate contrasts of urban and rural life.

3. Distinguish between physical adaptation and social adjustment. Illustrate your answer with examples.

4. "Society is co-operation crossed by conflict." Explain and illustrate.

5. Define 'culture'. What is the difference between a culture-trait and a culture-complex.

6. 'Disorganization of the family as a primary group is an unavoidable consequence of modern civilization'. Comment.

7. Describe the main charcteristics of caste. What cultural and economic conditions are favourable to the maintenance of caste, and what others tend to weaken it?

8. Describe in as great detail as possible the behaviour of any crowd which you have had the opportunity of witnessing.

9. Point out some characteristic differences between the sentiment of community and the sentiment of class.

10. Give reasons for conceiving the State as an agency of the community.

11. Write short notes on *any two* of the following:—

(*a*) Acculturation and assimilation.

(*b*) Accommodation.

(*c*) Social control.

(*d*) Race.

(1955—Part I, First Paper)

1. Compare Sociology with other Social sciences which you have studied, as to method and subject-matter.

2. What is the influence of Geographical factors on the growth and decay of civilizations ?

3. Compare city life and village life as to where the association process is most rapid or slowest.

4. What are the essentials of a community? How would you distinguish between a neighbourhood and a community ?

5. What is meant by Social change ? Mention the causes and results of Social change.

6. Compare and contrast urban life with rural life.

7. 'Man must always adapt to nature'. As a student of Sociology, what can you say for and against this proposition ?

8. What conditions are conducive to Social progress ? What tests of progress would you suggest ?

(1955—Part I, Second Paper)

1. Explain how family is the primary and fundamental unit of society.

2. Discuss briefly the merits and demerits of the joint family system.

3. Define 'Caste'. How does it differ from class, clan and tribe ?

4. Write short notes on some of the major social institutions with which you are conversant.

5. What are 'Customs' ? What are the other forms of social control ?

6. What do you understand by the term 'Social Disorganisation' ? Discuss at length.

7. Bring out the relationship between poverty, unemployment and crime.

8. What is the role of suggestion and imitation in social life ?

9. What are the chief characteristics of the crowd ? Discuss.

10. How does crowd behaviour differ from individual behaviour ?

(1956—Part I, First Paper)

1. Distinguish clearly between the following :—

(*a*) association and institution ;

(*b*) association and community ;

(*c*) institution and community.

2. What is meant by heredity ? How do heredity and environment influence the growth of an individual in society?

3. Examine the relationship of sociology with anthropology and economics. What common problems can be studied jointly by the three sciences?

4. 'Society is a system of usages and procedures, of authority and mutual aid, of many groupings and divisions, of controls of human behaviour and of liberties.' Explain.

5. A man from a city wants to get a glimpse of rural life and seeks your help as his 'Sociological guide'. Explain the main features of rural life to your visitor.

6. Distinguish between 'Natural selection' and 'Social selection'. How does the process of 'Social selection, work in human society?

8. Explain clearly how—

(a) technological changes bring about cultural changes.

(b) cultural situation influences the direction and character of technological changes.

9. Write short notes on *any three of the following*:—

(a) Social heritage.

(b) Consciousness of the kind.

(c) Case study.

(d) Diffusion.

(e) 'Technological lag'.

(f) Participant observation.

10. Discuss the role that sociologists can play as 'social engineers' in making social changes come smoothly in Indian society.

(1956—Part I, Second Paper)

1. "Secondary groups represent that "cold world" into which parents in the rural community always thought of their young people going when they leave home." Why?

Distinguish between primary and secondary groups.

2. Define 'nation'. Is sentiment of nationality a curse to international peace?

3. "It would be better when speaking of human races to drop the term "race" altogether and speak of "ethnic groups." Comment.

4. What are the economic institutions of capitalism? Analyze their social results, with special reference to India.

5. Compare and contrast religion and morals as agencies of social control. Discuss their priority and conflict.

6. "More good men have been turned into embittered advocates of social revolution by unemployment than by any other single cause."

Discuss the above statement with reference to the present Indian situation and describe measures the Indian Government is taking to remove it.

7. What are the factors responsible for the increase of crime in India? What solutions would you offer for this problem?

8. 'Forget that you are peasants, workers, businessmen, scientists, wives or mothers and remember only that you are

citizens. Forget all other claims upon you, for none of them compare with mine (State's)."

Do you think it is true reflection of the powers and functions of the State?

9. Is McDougall's concept of 'instinct' tenable? How is it related with emotions and intelligence?

10. Write short notes on *any two* of the following:—

(*a*) Endogamy and exogamy, (*b*) Band, (*c*) Hypergamy in India, (*d*) Poverty.

(1957—Part I, First Paper)

1. 'The laboratory of sociology is the world of everyday living, and the student of sociology should not restrict the concepts of his study to the formal class-meeting or the study hour.' Explain this remark fully and show how some of the concepts can be studied outside the class.

2. Explain *any two* of the following remarks:—

(*a*) 'Society involves both likeness and difference.'

(*b*) 'We belong to associations but not to institutions.'

(*c*) The city is no more artificial than the village.'

(*d*) 'Natural-selection acts solely through the death rate.'

3. What is "community sentiment"? How is it changing in the modern world?

4. How far do you think that Biology and Anthropology can be of help in the study of society? Discuss the inter-relationship of Sociology with Biology and Anthropology.

5. What is the reality about 'Social evolution'? Explain the concept with special reference to *any one* example.

6. Analyze the factors of social change and explain their inter-relationship.

7. Write a short essay on 'cultural lag'.

8. How have the geographical factors (*a*) helped and (*b*) checked the growth of civilization in the region to which you belong?

9. Give a broad picture of the differences that a villager would notice most when he becomes an industrial worker in a city.

(1957—Part I, Second Paper)

1. What are the chief chracteristics of Tribe? Distinguish it from Horde and Caste.

2. How can you distinguish family from other associations? Classify the functions of family and point out the recent changes in its organization.

3. What changes are taking place in India's caste system? How far are they related to industrialization?

4. Distinguish between law and custom and discuss their conflict and interdependence.

5. Explain the relationship between the individual and society.

6. 'The causes of crime in India are primarily socio-economic and rarely psychological.' Elucidate.

7. Define 'crowd'. How does an audience turn into a crowd?

8. Distinguish between imitation and suggestion and explain their various types.

9. What do you understand by social disorganization? Is the modern family in the process of getting disorganized?

(1958—Part I, First Paper)

1. Write short notes on *any three* of the following :—

(*a*) Progress; (*b*) institution; (*c*) sociometry; (*d*) social selection; (*e*) diffusion of culture; (*f*) Jukes and Edwards.

निम्नलिखित में से किन्हीं तीन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

(क) प्रगति (उन्नति); (ख) संस्था; (ग) समाज-मिति; (घ) सामाजिक चुनाव (निरसन); (ङ) संस्कृति का प्रसार; (च) ज्यूक तथा एडवर्ड परिवार।

2. Point out clearly some of the common problems studied by—

(*a*) economics and sociology,

(*b*) political science and sociology.

कुछ ऐसी समस्याओं को स्पष्ट कीजिए जो कि—

(क) अर्थ-शास्त्र व समाज-शास्त्र, तथा

(ख) राजनीति-शास्त्र व समाज-शास्त्र

में सम्मिलित रूप से अध्ययन के अंतर्गत आती हैं।

3. Point out the sociological importance of cities and villages for our society.

हमारे समाज के लिए गाँवों व नगरों का समाज-शास्त्रीय महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

4. Distinguish clearly between the following:—

(*a*) Culture and civilization.

(*b*) Evolution and progress.

निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट-रूप से विभेद कीजिए:—

(क) संस्कृति व सभ्यता।

(ख) विकास व प्रगति।

5. Explain the following statement :—

'Society is the organization of human relationships, built, sustained, and forever being changed by human beings.'

निम्नलिखित कथन को समझाइए :—

"समाज मानवीय सम्बन्धों का वह संगठन है जो मानव द्वारा निर्मित, संचालित तथा सदा परिवर्तित किया जाता है।

6. How do climate and topography influence the life of a people in any region ?

किसी भी प्रदेश के निवासियों के जीवन पर जलवायु तथा भू-रचना का क्या प्रभाव पड़ता है ?

7. Discuss the influence of mode of production on economic, political and moral processes of life.

उत्पादन-प्रणाली के जीवन की आर्थिक, राजनैतिक तथा आचरण-सम्बन्धी प्रक्रियाओं पर पड़नेवाले प्रभावों का विवेचन कीजिए।

8. What is the meaning of social change? Classify and explain various processes of social change.

सामाजिक परिवर्तन का क्या अर्थ है ? सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न स्वरूपों का वर्गीकरण तथा स्पष्टीकरण कीजिए।

9. What is the need for studying sociology in India ? Suggest some of the cases where the knowledge of the subject can be helpful in solving some of the problems facing the country.

भारत में समाज-शास्त्र के अध्ययन की क्या आवश्यकता है ? कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत कीजिए जिनसे देश की कुछ समस्याओं के हल करने में विषय का ज्ञान सहायक हो सके।

10. Explain *any two* of the following statements in not more than *three* pages each :—

(*a*) An association is not a community, but an organization within a community.

(b) Society is abstract.

(c) Sociology is neither the handmaid nor the mistress of other social sciences, but their sister.

निम्नलिखित वक्तव्यों में से किन्हीं दो को तीन-तीन पृष्ठों की सीमा में ही स्पष्ट कीजिए :—

(क) समिति समुदाय नहीं है, वरन् समुदाय के अंतर्गत एक संगठन है।

(ख) समाज अमूर्त है।

(ग) समाज-शास्त्र अन्य सामाजिक शास्त्रों का न दास है, न स्वामी, वरन् उनका बन्धु है।

(1958—Part I, Second Paper)

1. What is meant by poverty ? Why is there so much poverty in a 'land of plenty'? Give its underlying causes.

निर्धनता का क्या अर्थ है ? "बहुतायत के देश" में इतनी निर्धनता क्यों है ? इसके कारण बतलाइये।

2. Explain the meaning and significance of the statement that 'Social disorganization is the breakdown of consensus' and differentiate between social organization and disorganization.

इस मत के अर्थ तथा महत्व की व्याख्या कीजिये कि सामाजिक बिघटन ऐकमत्य का समाप्त हो जाना है तथा सामाजिक संघटन एवं विघटन में भेद बतलाइये।

3. Define the primary group and show why it is regarded as primary, and distinguish it from the secondary and quasi-primary groups.

"प्राथमिक समूह" की परिभाषा कीजिये और यह बतलाइये कि इसे प्राथमिक क्यों माना जाता है ? द्वैतीयक एवं प्राथमिकाभास (quasi-primary) समूहों से इसका भेद करिये।

4. What do you understand by the sentiment of nationality ? Under what conditions can it be accommodated to the necessities of an international order ? Does *Panchshila* provide such an accommodation ?

आप "राष्ट्रीयता की भावना" से क्या समझते हैं ? इसका एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की आवश्यकताओं के साथ किन दशाओं में सामञ्जस्य किया जा सकता है ? क्या "पञ्चशील" में इस प्रकार का सामञ्जस्य है ?

5. Distinguish between the institutional complexes of Capitalism and Communism.

पूंजीवाद एवं साम्यवाद के संस्था-संकुलों के भेदों पर प्रकाश डालिये।

6. Show with illustrations how the conservative tendencies of religion create difficulties of social adjustment in a changing society like ours.

उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट कीजिये कि धर्म की रूढ़िवादी प्रवृत्तियाँ हमारे जैसे परिवर्त्तनशील समाज में सामाजिक अनुकूलन की समस्याएँ किस प्रकार उत्पन्न करती हैं।

7. Discuss the view that the crowd liberates emotions which are suppressed in normal social life.

"भीड़ उन उद्वेगों को स्वतन्त्र कर देती है, जो सामान्य सामाजिक जीवन में दबे रहते हैं।" स्पष्ट कीजिये।

8. Differentiate morals from religion and customs. Show why it is necessary to make a distinction between religion and morals.

नैतिक आचरणों का धर्म तथा प्रथाओं से भेद बतलाइये। यह स्पष्ट करिये कि धर्म एवं नैतिक आचरणों में भेद करना क्यों आवश्यक है।

9. Answer *any two* of the following questions :—

(*a*) Why is it that conflict is apt to occur in the family circle between the generations ?

(*b*) How has the modern stress on romantic love affected the stability of the marriage relationship ?

(*c*) Why is industrialism disruptive of family life ?

निम्नलिखित प्रश्नों में किन्हीं दो के उत्तर दीजिये :—

(क) एक परिवार में विभिन्न पीढ़ियों के व्यक्तियों में संघर्ष होने की संभावना क्यों रहती है ?

(ख) रोमान्टिक प्रेम की आधुनिक महत्ता ने वैवाहिक सम्बन्ध की स्थिरता को कैसे प्रभावित किया है ?

(ग) उद्योगवाद पारिवारिक जीवन का विघटक क्यों है ?

(1959—Part I, First Paper)

1. Define 'Sociology' and discuss its subject-matter.

समाजशास्त्र की परिभाषा कीजिये तथा उसके विषयवस्तु की विवेचना कीजिये।

2. Indicate clearly the relationship of sociology with other social sciences.

समाजशास्त्र का सम्बन्ध अन्य सामाजिक शास्त्रों के साथ स्पष्टरूप से बताइये।

3. What are the principal methods of sociology?

समाजशास्त्र की अध्ययन-विधियाँ कौन कौन-सी हैं ?

4. What do you understand by 'society'? Distinguish it clearly from 'community' and 'association'.

आप समाज के बारे में क्या समझते हैं ? समाज तथा समुदाय तथा समिति के भेद को स्पष्ट कीजिये ।

5. Describe the interplay of heredity and environment, and trace their influence upon social development.

पर्यावरण तथा वंशानुक्रमण के अन्तर्खेल का वर्णन कीजिये । इनका समाज के विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है ? बताइये ।

6. Discuss the merits and limitations of the geographical school in sociology.

समाजशास्त्र में भौगोलिकवाद की विशेषताओं तथा त्रुटियों की विवेचना कीजिये ।

7. Compare and contrast clearly between rural and urban life, and show how far they influence the ideas of rural and urban people.

ग्रामीण तथा नागरिक जीवन की तुलना कीजिये तथा यह भी बताइये कि ये ग्राम तथा नगरवासियों के विचारों को किस प्रकार प्रभावित करते हैं।

8. Describe the various stages of change from primitive to civilized society.

आदिम समाज से सभ्य-समाज तक की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिये ।

9. Analyze technological factors of social change. Is every change progress?

सामाजिक परिवर्तन के प्रौद्योगिक कारणों की व्याख्या कीजिये । क्या प्रत्येक परिवर्तन को आप उन्नति कहेंगे ?

10. Write short notes on *any two* of the following:—
(*a*) Technological lag. (*b*) Natural selection.
(*c*) Cultural growth. (*d*) Social change.

नीचे लिखे हुए किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :—
(अ) प्रौद्योगिक विलम्ब । (ब) प्राकृतिक चुनाव ।
(स) सांस्कृतिक विकास । (द) सामाजिक परिवर्त्तन ।

(1959—Part I, Second Paper)

1. What is meant by unemployment? State in brief the measures taken by the Indian Government to remove it.

बेकारी का क्या अर्थ है ? भारत-सरकार इसे दूर करने के लिये क्या उपाय ले रही है वे संक्षिप्त में लिखिए ।

2. Explain the terms 'social organization' and 'disorganization' and give the main causes of social disorganization.

सामाजिक संघटन और विघटन का अर्थ स्पष्ट कीजिए और सामाजिक विघटन के मुख्य कारण बतलाइए ।

3. What is a group? Explain in detail the classification of groups as given by MacIver.

समूह क्या है? मेकाइवर कृत समूहों का वर्गीकरण सविस्तार स्पष्ट करें।

4. Define 'society' and state the role of society in developing the personality of an individual.

समाज की व्याख्या करें और व्यक्ति की व्यक्तिमत्ता का विकास करने में समाज का क्या भाग है यह दिखावें।

5. Show with illustrations the distinction between institution and association, and state the functions of any association which you know.

उदाहरणों के साथ संस्था और समिति का भेद दिखावें और किसी ज्ञात समिति के कार्यों का विवरण लिखें।

6. What are the means of social control? Evaluate the role of law in controlling the behaviour of an individual in society.

सामाजिक नियंत्रण के क्या साधन हैं? समाज में व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करने में कानून का क्या भाग है? इसका मूल्यांकन करें।

7. What do you understand by instinct? Distinguish intelligence and emotion from instinct.

सहज प्रवृत्ति (instinct) का क्या अर्थ है? बुद्धि (intelligence) और भाव (emotion) का सहज प्रवृत्ति से भेद स्पष्ट करें।

8. 'Criminals are made, not born.' Discuss this statement, keeping Indian conditions in view.

"अपराधी जन्मता नहीं है बनाया जाता है।" उपरोक्त कथन की चर्चा हिन्द की परिस्थिति को ख्याल में रख के करें।

9. Explain in detail *any two* of the following:—

(*a*) Distinguish in brief the terms 'Clan', 'Tribe' and 'Caste'.

(*b*) Discuss the types of family in India.

(*c*) State the main characteristics of crowd.

निम्नलिखित प्रश्नों में से किन्हीं दो के उत्तर दीजिए :—

(अ) गोत्र (clan), कबीला (tribe) और जाति (caste) का भेद संक्षेप में बतलाइए।

(ब) हिन्द के परिवार के प्रकार की चर्चा कीजिए।

(स) भीड़ के मुख्य लक्षण लिखें।